PATANJAL YOGADARSHAN

BY

DR.RAMSHANKAR BATTACHARYA

पातञ्जलयोगदर्शनम्

श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य



जब हम एकतान भाव से मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य ज्ञानों का निरोध करते हैं वह योग कहलाता है। वह आत्मदर्शन का साधन है। योग के सूक्ष्म तत्त्वों को जानने के लिए महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्र षड्दर्शनों में प्राचीन कृति है। इस पर महर्षि व्यास का भाष्य भी मिलता है।

स्वामी हरिहरानन्द का 'बंगला योगदर्शन' इसी योगसूत्र के व्यासभाष्य का बंगला अनुवाद है, जिसके साथ स्वामी जी ने बंगला में व्याख्या भी जोड़ दी है। इसका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद स्वामी जी के शिष्यों ने किया था। किन्तु उसमें कई त्रुटियाँ रह गई थीं। प्रस्तुत कृति उस हिन्दी अनुवाद का संशोधित संस्करण है जिसमें मनीषी संस्कर्ता डाक्टर रामशंकर भट्टाचार्य ने आवश्यक परिवर्धन और परिवर्तन भी कर दिये हैं।

मूलग्रंथ चार पादों में विभाजित है (१) समाधि (२) साधना (३) विभूति (४) कैवल्य। प्रत्येक पाद में कई सूत्र हैं जिनमें योग के सूक्ष्म तथ्यों का निरूपण किया गया है। व्यासभाष्य में इन सूक्ष्म तथ्यों का और भी स्पष्ट विवेचन हुआ है। स्वामी हरिहरानन्द ने अपनी व्याख्या में योग के कई अद्भुत रहस्य प्रकट किये हैं। प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में सम्पूर्ण सामग्री व्यवस्थित रूप में मिलेगी।

अन्त में काल और देश पर एक विस्तृत परिशिष्ट है। पश्चात् विशिष्ट शब्दों और विषयों की अनुक्रमणी भी जोड़ दी है।

मूल्य रु० ५५ (सजिल्द)
३५ (अजिल्द)

पातञ्जल योगदर्शन

व्यासभाष्य, उसका हिन्दी-अनुवाद तथा सुविशद हिन्दी व्याख्या

व्याख्याकार

सांख्ययोगाचार्य

श्रीमत्-स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

सम्पादक

डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : पटना : वाराणसी

मोतीलाल बनारसीदास

भारतीय संस्कृति साहित्य के प्रमुख प्रकाशक एवम् पुस्तक विक्रेता
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–११०००७
शाखाएँ : चौक, वाराणसी–२२१००१
: अशोक राजपथ, पटना–४ (बिहार)

प्रथम संस्करण : लखनऊ, १९५३
द्वितीय संशोधित संस्करण : वाराणसी, १९७४
तृतीय संशोधित एवम् परिवर्धित संस्करण : दिल्ली, १९८०

मूल्य : रु० ३५ (अजिल्द) 35/=
५५ (सजिल्द)

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड जवाहर नगर, दिल्ली–७ द्वारा प्रकाशित एवम् भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराणसी में मुद्रित
३०/४-८०

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

सम्पादकीय (तृतीय संस्करण) V
सम्पादकीय (द्वितीय संस्करण) VI
भूमिका XV

पातञ्जलयोगदर्शनम्

प्रथम पाद : समाधिपाद

शास्त्रारम्भ तथा योगस्वरूपादि (सूत्र १-४) १
चित्तवृत्तियां (सूत्र ५-११) १५
वृत्तिरोध-उपाय अभ्यास-वैराग्य (सूत्र १२-१६) ३६
योगद्वैविध्य तथा स्थितिलाभ के विभिन्न उपाय (सूत्र १७-२२) ४३
ईश्वर के प्रणिधान, स्वरूप आदि (सूत्र २३-२९) ६७
विक्षेप एवं उसके प्रतीकारोपाय (सूत्र ३०-३२) ९३
चित्तपरिकर्म (सूत्र ३३-४०) १०६
समापत्तियाँ तथा सबीज-निर्बीज समाधि (सूत्र ४१-५१) ११९

द्वितीय पाद : साधनपाद

क्रियायोग एवं क्लेशों का विवरण (सूत्र १-११) १४६
कर्म, कर्मविपाक, दुःख (सूत्र १२-१५) १६३
हेय-हेयहेतु-हान-हानोपाय रूप चतुर्व्यूहों का विवरण (द्रष्टा, दृश्य आदि पदार्थों के विवरण के साथ) (सूत्र १६-२७) १८१
योगाङ्ग एवं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार की सिद्धियाँ (सूत्र २८-५५) २३८

तृतीय पाद : विभूतिपाद

धारणा-ध्यान-समाधि रूप अन्तरङ्ग योगाङ्ग; संयम (सूत्र १-४) २८७
चित्त एवं भूतेन्द्रिय के परिणाम (सूत्र ५-१५) २९६
प्रधानतः ज्ञानरूप सिद्धियों का विवरण (सूत्र १६-३७) ३३४
प्रधानतः क्रियारूप सिद्धियों का विवरण (सूत्र ३८-४८) ३७२
सर्वज्ञतादि उच्चतम सिद्धियों का विवरण तथा कैवल्यरूप सिद्धि (सूत्र ४९-५५) ३८९

चतुर्थ पाद : कैवल्यपाद

सिद्धिभेद, जात्यन्तरपरिणाम, तथा निर्माणचित्त (सूत्र १-६) ४०७
कर्म एवं वासना (सूत्र ७-११) ४१६
वस्तु; वस्तुचित्तसंबन्ध (सूत्र १२-१७) ४२६
चित्तस्वरूप (सूत्र १८-२४) ४४१
कैवल्यभागीय चित्त तथा कैवल्यस्वरूप (सूत्र २५-३४) ४५६

परिशिष्ट

१. काल और देश या अवकाश ४७४
२. ज्ञानयोग ५१२
३. कर्मप्रकरण ५२९
४. योगदर्शन की विषय सूची ५६२
शुद्धिपत्र ५७५

सम्पादकीय

तृतीय संस्करण

यह हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण ५-६ वर्षों में समाप्त हो गया। इसमें द्वितीय संस्करण की कुछ साधारण-सी अशुद्धियों का संशोधन कर दिया गया है, साथ ही कुछ सूत्रों की टीकाओं में नवीन सामग्री भी संयोजित की गई है। ग्रन्थकार स्वामीजी के कुछ मतों का स्पष्टीकरण करने के लिए लगभग २५० सम्पादकीय टिप्पणियाँ दी गई हैं—आशा है इन टिप्पणियों से पाठकों को सांख्ययोग-विद्या-संबन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त होगा।

इस संस्करण में परिशिष्ट के रूप में ग्रन्थकार के दो निबन्ध संयोजित हुये हैं। ये दो निबन्ध सांख्य-योगविद्या की मूलभूत दृष्टि को समझने के लिए अत्युपयोगी सिद्ध होंगे।

ग्रन्थ समाप्त हो जाने के बाद तत्काल ही प्रकाशक महोदय ने तृतीय संस्करण को प्रकाशित करने के लिए जो उद्यम किया है, तदर्थ हम उनको धन्यवाद देते हैं* । इति–

गुरुपूर्णिमा, संवत् २०३७
२७ जुलाई, १९८०

विद्वज्जनानुचर
रामशंकर भट्टाचार्य

---

*इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी मत के विषय में यदि पाठक पत्र-व्यवहार करें तो मुझको प्रसन्नता होगी। पत्रव्यवहार सेक्रेटरी, कापिल मठ, मधुपुर, बिहार (PIN 815353) के पते से करना चाहिये।

सम्पादकीय

द्वितीय संस्करण

ओम् नमः परमर्षये

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्नि-मूर्तये ।
दुःखत्रयाग्नि-सन्तापशान्तये गुरवे नमः ॥
अशेषसांख्ययोगार्थ-प्रवक्त्रेऽमितमेधसे ।
श्रीमद्-हरिहरानन्दस्वामिने यतये नमः ॥

भगवान् पतञ्जलिविरचित योगसूत्र पर जो व्यासभाष्य है प्रस्तुत ग्रन्थ इस भाष्य का व्याख्यान-भूत है। इस व्याख्यान का सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें योगशास्त्र के मतों को न्यायप्रयोग से उपपन्न किया गया है; साथ-साथ यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार आज भी योग-साधनेच्छु व्यक्ति इस विद्या का योग्यतानुसार अनुशीलन करके शास्त्र-निर्दिष्ट फलों को प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने जीवन को कृतकृत्य कर सकते हैं। सामान्यतः दर्शन-शास्त्रजिज्ञासु और विशेषतः योगविद्याप्रेमी सज्जन इस ग्रन्थ को पढ़कर अवश्य ही यह अनुभव करेंगे कि हमारी परम्परागत योगविद्या कथमपि अन्धश्रद्धा का विषय नहीं है। यह एक ऐसी न्यायदृढ़ विद्या है जिसके सभी तथ्य प्रयोग-परीक्षण पर प्रतिष्ठित हैं—आधुनिक परिभाषा में यह विद्या 'Science' (विज्ञान) है।

अध्यात्मविद्या के पदार्थों के स्वरूप का अत्यधिक स्पष्टीकरण इस व्याख्यान में पाठकों को सर्वत्र मिलेगा। अन्तःकरण, प्राण, बाह्यकरण भूत, तन्मात्र आदि के विषय में जो प्रचलित धारणाएँ हैं, वे बहुत कुछ भ्रमपूर्ण हैं—यह इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होगा। ग्रन्थकार आचार्य-चरण स्वामी हरिहरानन्द आरण्य[1] के दीर्घकालीन तपःसंभृत मनन-निदिध्यासन का फलभूत यह ग्रन्थ योगविद्या के क्षेत्र में 'युगान्तर' लाने वाला सिद्ध होगा—इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इस ग्रन्थ के अध्ययन का

---

१. दशनामी संन्यासियों के संप्रदाय में 'अरण्य' यही उपाधि प्रचलित है, आरण्य नहीं। किस हेतु से 'अरण्य' के स्थान पर आरण्य नाम प्रचलित हुआ—यह ज्ञात न हो सका। मठाम्नाय के किसी-किसी पाठ में आरण्य शब्द प्रयुक्त हुआ है (अरण्ये वसते नित्यम्···विश्वमारण्यः परिकीर्त्यते)। अतः प्रतीत होता है कि 'अरण्य' एवं 'आरण्य' दोनों ही प्रचलित थे। दशनामियों में अरण्य-आरण्य उपाधियाँ बहुत अधिक दृष्ट नहीं होतीं।

एक आनुषङ्गिक फल भी है; वह है—योगस्वरूपसम्बन्धी प्रचलित अनेक भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण।

यह बहुत ही दुःख की बात है कि आजकल हमारे इस योगीजन-पदरेणुपूत देश में योगविद्या बहुत कुछ अमर्यादित स्थिति में है। कितने ही लोग हैं जो इस विद्या को शारीरयन्त्रविकासक क्रीडाविशेष के रूप में ही समझते हैं। कुछ लोग इस विद्या को रोगनाशक व्यायाम-विशेष ही मानते हैं। यूरोप-अमेरिका-निवासी मेरे कई मित्रों ने यह कहा है कि उनके देशों में योग शब्द से शरीरमात्रसम्बन्धी हठयोगीय पद्धति ही समझी जाती है। योगशास्त्रोक्त इडापिङ्गला आदि नाड़ियों को तथा चक्रों को मांसादिमय पदार्थमात्र समझने की मनोवृत्ति योगस्वरूपसम्बन्धा भ्रान्त धारणा का ही फल है। हमारा यह कहना नहीं है कि हठयोगशास्त्र-संमत शारीर-व्यापारों का कोई भी संबन्ध आधुनिक शारीरविज्ञानशास्त्र से नहीं है। अवश्य ही इन स्थूल विषयों में प्रचलित शारीरविज्ञानशास्त्र उपकारक है तथा इस शास्त्र से कहीं-कहीं प्राचीनशास्त्र के मतों को समझने में सुविधा भी होती है। दोनों शास्त्रों की पद्धति पृथक् है, यह जानकर यदि विचार किया जाए तो पदार्थों के बाह्य सादृश्य के कारण जो भ्रान्त एकत्वबुद्धि उत्पन्न होती है, उसकी सदोषता ज्ञात होगी। समाधि की विकृत व्याख्या भी इस असमीचीन दृष्टि का ही फल है[1]। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो योग को जादू-टोना-जातीय कर्म ही समझते हैं। यहाँ तक कुछ लोग कहते हैं कि नशीली चीजों के ग्रहण से योगाभ्यास में उत्कर्ष[2] होता है। योग से नैतिकता का सम्बन्ध नहीं है—ऐसा भी एक मत है[3]।

---

१. प्रसिद्ध Surgeon Dr. N. C. Paul ने स्पष्टतया कहा है कि समाधि hibernation ही है (द्र० *A treatise on the Yoga philosophy*)। यह दृष्टि असमीचीन है।

२. तुल०—It [alcohol] makes him for the moment one with truth (William James : *Varieties of religious experience, p.* 387)। आजकल के कुछ 'योगी' ईदृश मतों का प्रचार करते हुए देखे जाते हैं।

३. द्र० "An ethical purpose and practice is not logically demanded by the goal of yoga. For honesty, friendliness etc. are irrelevant to one who seeks utter detachment and isolation" (*Journal of Philosophy*, XVI, No. 8, p. 200; *Indian Philosophy, vol. II*, p. 364). "It has also been said that Kapila's

चतुर्थ पाद : कैवल्यपाद

सिद्धिभेद, जात्यन्तरपरिणाम, तथा निर्माणचित्त (सूत्र १-६) ४०७

कर्म एवं वासना (सूत्र ७-११) ४१६

वस्तु; वस्तुचित्तसंबन्ध (सूत्र १२-१७) ४२६

चित्तस्वरूप (सूत्र १८-२४) ४४१

कैवल्यभागीय चित्त तथा कैवल्यस्वरूप (सूत्र २५-३४) ४५६

परिशिष्ट

१. काल और देश या अवकाश ४७४

२. ज्ञानयोग ५१२

३. कर्मप्रकरण ५२९

४. योगदर्शन की विषय सूची ५६२

शुद्धिपत्र ५७५

सम्पादकीय

तृतीय संस्करण

यह हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण ५-६ वर्षों में समाप्त हो गया। इसमें द्वितीय संस्करण की कुछ साधारण-सी अशुद्धियों का संशोधन कर दिया गया है, साथ ही कुछ सूत्रों की टीकाओं में नवीन सामग्री भी संयोजित की गई है। ग्रन्थकार स्वामीजी के कुछ मतों का स्पष्टीकरण करने के लिए लगभग २५० सम्पादकीय टिप्पणियाँ दी गई हैं—आशा है इन टिप्पणियों से पाठकों को सांख्ययोग-विद्या-संबन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त होगा।

इस संस्करण में परिशिष्ट के रूप में ग्रन्थकार के दो निबन्ध संयोजित हुये हैं। ये दो निबन्ध सांख्य-योगविद्या की मूलभूत दृष्टि को समझने के लिए अत्युपयोगी सिद्ध होंगे।

ग्रन्थ समाप्त हो जाने के बाद तत्काल ही प्रकाशक महोदय ने तृतीय संस्करण को प्रकाशित करने के लिए जो उद्यम किया है, तदर्थ हम उनको धन्यवाद देते हैं* । इति—

गुरुपूर्णिमा, संवत् २०३७ — विद्वज्जनानुचर
२७ जुलाई, १९८० — **रामशंकर भट्टाचार्य**

---

*इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी मत के विषय में यदि पाठक पत्र-व्यवहार करें तो मुझको प्रसन्नता होगी। पत्रव्यवहार सेक्रेटरी, कापिल मठ, मधुपुर, बिहार (PIN 815353) के पते से करना चाहिये।

सम्पादकीय

द्वितीय संस्करण

ओम् नमः परमर्षये

अज्ञानगहनालोकसूर्यसोमाग्नि-मूर्तये ।
दुःखत्रयाग्नि-सन्तापशान्तये गुरवे नमः ॥
अशेषसांख्ययोगार्थ-प्रवक्त्रेऽमितमेधसे ।
श्रीमद्-हरिहरानन्दस्वामिने यतये नमः ॥

भगवान् पतञ्जलिविरचित योगसूत्र पर जो व्यासभाष्य है प्रस्तुत ग्रन्थ इस भाष्य का व्याख्यान-भूत है। इस व्याख्यान का सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें योगशास्त्र के मतों को न्यायप्रयोग से उपपन्न किया गया है; साथ-साथ यह भी दिखाया गया है कि किस प्रकार आज भी योग-साधनेच्छु व्यक्ति इस विद्या का योग्यतानुसार अनुशीलन करके शास्त्र-निर्दिष्ट फलों को प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने जीवन को कृतकृत्य कर सकते हैं। सामान्यतः दर्शन-शास्त्रजिज्ञासु और विशेषतः योगविद्याप्रेमी सज्जन इस ग्रन्थ को पढ़कर अवश्य ही यह अनुभव करेंगे कि हमारी परम्परागत योगविद्या कथमपि अन्धश्रद्धा का विषय नहीं है। यह एक ऐसी न्यायदृढ़ विद्या है जिसके सभी तथ्य प्रयोग-परीक्षण पर प्रतिष्ठित हैं—आधुनिक परिभाषा में यह विद्या 'Science' (विज्ञान) है।

अध्यात्मविद्या के पदार्थों के स्वरूप का अत्यधिक स्पष्टीकरण इस व्याख्यान में पाठकों को सर्वत्र मिलेगा। अन्तःकरण, प्राण, बाह्यकरण भूत, तन्मात्र आदि के विषय में जो प्रचलित धारणाएँ हैं, वे बहुत कुछ भ्रमपूर्ण हैं—यह इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होगा। ग्रन्थकार आचार्य-चरण स्वामी हरिहरानन्द आरण्य[1] के दीर्घकालीन तपःसंभृत मनन-निदिध्यासन का फलभूत यह ग्रन्थ योगविद्या के क्षेत्र में 'युगान्तर' लाने वाला सिद्ध होगा—इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इस ग्रन्थ के अध्ययन का

१. दशनामी संन्यासियों के संप्रदाय में 'अरण्य' यही उपाधि प्रचलित है, आरण्य नहीं। किस हेतु से 'अरण्य' के स्थान पर आरण्य नाम प्रचलित हुआ—यह ज्ञात न हो सका। मठाम्नाय के किसी-किसी पाठ में आरण्य शब्द प्रयुक्त हुआ है (अरण्ये वसते नित्यम्···विश्वमारण्यः परिकीर्त्यते)। अतः प्रतीत होता है कि 'अरण्य' एवं 'आरण्य' दोनों ही प्रचलित थे। दशनामियों में अरण्य-आरण्य उपाधियाँ बहुत अधिक दृष्ट नहीं होतीं।

एक आनुषङ्गिक फल भी है; वह है—योगस्वरूपसम्बन्धी प्रचलित अनेक भ्रान्त दृष्टियों का निराकरण।

यह बहुत ही दुःख की बात है कि आजकल हमारे इस योगीजन-पदरेणुपूत देश में योगविद्या बहुत कुछ अमर्यादित स्थिति में है। कितने ही लोग हैं जो इस विद्या को शारीरयन्त्रविकासक क्रीडाविशेष के रूप में ही समझते हैं। कुछ लोग इस विद्या को रोगनाशक व्यायाम-विशेष ही मानते हैं। यूरोप-अमेरिका-निवासी मेरे कई मित्रों ने यह कहा है कि उनके देशों में योग शब्द से शरीरमात्रसम्बन्धी हठयोगीय पद्धति ही समझी जाती है। योगशास्त्रोक्त इडापिङ्गला आदि नाड़ियों को तथा चक्रों को मांसादिमय पदार्थमात्र समझने की मनोवृत्ति योगस्वरूपसम्बन्धा भ्रान्त धारणा का ही फल है। हमारा यह कहना नहीं है कि हठयोगशास्त्र-संमत शारीर-व्यापारों का कोई भी संबन्ध आधुनिक शारीरविज्ञानशास्त्र से नहीं है। अवश्य ही इन स्थूल विषयों में प्रचलित शारीरविज्ञानशास्त्र उपकारक है तथा इस शास्त्र से कहीं-कहीं प्राचीनशास्त्र के मतों को समझने में सुविधा भी होती है। दोनों शास्त्रों की पद्धति पृथक् है, यह जानकर यदि विचार किया जाए तो पदार्थों के बाह्य सादृश्य के कारण जो भ्रान्त एकत्वबुद्धि उत्पन्न होती है, उसकी सदोषता ज्ञात होगी। समाधि की विकृत व्याख्या भी इस असमीचीन दृष्टि का ही फल है[1]। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो योग को जादू-टोना-जातीय कर्म ही समझते हैं। यहाँ तक कुछ लोग कहते हैं कि नशीली चीजों के ग्रहण से योगाभ्यास में उत्कर्ष[2] होता है। योग से नैतिकता का सम्बन्ध नहीं है—ऐसा भी एक मत है[3]।

---

१. प्रसिद्ध Surgeon Dr. N. C. Paul ने स्पष्टतया कहा है कि समाधि hibernation ही है (द्र० *A treatise on the Yoga philosophy*)। यह दृष्टि असमीचीन है।

२. तुल०—It [alcohol] makes him for the moment one with truth (William James : *Varieties of religious experience, p.* 387)। आजकल के कुछ 'योगी' ईदृश मतों का प्रचार करते हुए देखे जाते हैं।

३. द्र० "An ethical purpose and practice is not logically demanded by the goal of yoga. For honesty, friendliness etc. are irrelevant to one who seeks utter detachment and isolation" (*Journal of Philosophy*, XVI, No. 8, p. 200; *Indian Philosophy, vol. II*, p. 364). "It has also been said that *Kapila's*

योग पर अश्रद्धा, अविश्वास और हेय दृष्टि उत्पन्न हो, इस उद्देश्य से कुछ कृपार्ह अनध्यात्मविद् व्यक्तियों ने अत्यन्त सूक्ष्म कौशलपूर्ण प्रचेष्टा की है, जिसका उदाहरण निम्नोक्त ग्रन्थों को देखने से प्राप्त होगा—(१) Religions of India; (२) Yoga: Hindu delusions; (३) Yoga unexpurgated; (४) Nacked they pray; (५) The lotus and robot. मौलिक योग तथा योगभेदों पर आजकल जो अज्ञतापूर्ण व्याख्यान-ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, उनके कारण योगसम्बन्धी भ्रान्त धारणा का होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अज्ञों द्वारा लिखित हठयोगाभ्यासपरक ग्रन्थों के अध्ययन के कारण ही J. P. Muller ने कहा है—The greatest part of the yogi philosophy consists of words, words, words. (*My breathing system*, *p.* 48)। अज्ञ मूलर को पता नहीं कि योगशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जिसमें प्रयोजन की तुलना में अत्यन्त अल्प शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। हठयोगशास्त्र के मत सत्य हैं या नहीं, कोई भी व्यक्ति यथा-विधि एक वर्ष पर्यन्त अभ्यास करके इसका निर्णय कर ही सकता है।

इस देश में परम सूक्ष्म योगविद्या किस लाञ्छित स्थिति में है यह इससे भी विज्ञात होगा कि अनेक संस्थाओं में योग का अन्तर्भाव खेलकूद (sports) और मनोरञ्जन (amusements) में किया जाता है। कुछ संस्थाओं के इस हेय दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष अनुभव मुझको है। योग के विषय में एक उपहासजनक मत यह भी है कि योगाभ्यास आत्मज्ञान का विरोधी है। योग के स्वरूप के विषय में अज्ञता ही इन सब असत् मतों का हेतु है।

योग के प्रकृत स्वरूप को जानने के लिए इस ग्रन्थ के अन्तर्गत 'योग क्या है और क्या नहीं है' (भूमिका के अन्त में मुद्रित) प्रकरण द्रष्टव्य है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि सभी योगशास्त्र के विचार्य विषय अवश्य हैं, पर कैवल्य-मोक्षरूप परम शान्ति ही योग का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस लक्ष्य

---

system is not only without a God but likewise without any morality." (Max Müller : *S. S. I. P.* p. 398); प्रसंगत: Farquhar का मत देखें—"There is practically no ethical philosophy within the frontiers of Hindu thinking." (*Hibbert Journal*, Oct. 1921, p. 24)। प्रकृत योगियों का कहना है कि यम-नियम (जिनमें नैतिक आचरण सर्वोच्च रूप में विद्यमान है) का आत्यन्तिक पालन किये बिना अन्य उच्चतर योगाङ्गों का अभ्यास प्रायेण व्यर्थ ही है (शाश्वती चित्तशान्ति रूप लक्ष्य की प्राप्ति यदि अभीष्ट हो)।

की प्राप्ति के लिए ही दृश्य पदार्थों का विश्लेषण किया गया है (अपवर्ग की दृष्टि से; भोग की दृष्टि से नहीं)। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से योग-संबन्धी प्राचीन दृष्टि का परिज्ञान होगा जिसके अनुसार कहा जाता है— **अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्** (याज्ञ० स्मृति १।८)।

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य स्वामीजी कृत व्यास-भाष्य की बंगला व्याख्या (जो विभिन्न संस्करणों में क्रमशः उपबृंहित हुई है) का हिन्दी रूपान्तर है। इस बंगला ग्रन्थ (जिसमें भाष्यव्याख्या के अतिरिक्त कई परिशिष्ट भी हैं) के अब तक पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इसका प्रथम संस्करण ई० १९११ और द्वितीय संस्करण ई० १९२५ में मठ के द्वारा प्रकाशित हुआ था। तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय के द्वारा यथाक्रम ई० १९३८, १९४९ एवं १९६७ में प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ व्यासभाष्य की व्याख्या का ही हिन्दीरूपान्तर है। बंगला ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर परिशिष्टान्तर्गत निबन्धों का निर्देश है; इस हिन्दी ग्रन्थ में (उन परिशिष्टभूत सभी निबन्धों के न रहने पर भी) भी वे निर्देश रखे गये हैं, जिससे पाठक यह जान सकें कि ग्रन्थगत विचारों को यथार्थरूप से समझने के लिए इन परिशिष्टान्तर्गत निबन्धों का अध्ययन अत्यावश्यक है। हम आशा करते हैं कि इन निबन्धों का हिन्दीरूपान्तर यथाशीघ्र प्रकाशित होगा।

बंगला योगदर्शन (कापिलाश्रमीय पातञ्जलयोगदर्शन नाम से प्रसिद्ध) के चतुर्थ संस्करण के आधार पर ही प्रस्तुत हिन्दी-अनुवाद स्वामीजी के शिष्यों ने किया था। यह अनुवाद लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग के कतिपय विद्वानों द्वारा संशोधित होकर विश्वविद्यालय द्वारा १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण के समाप्त हो जाने के कारण प्रस्तुत संस्करण की आवश्यकता प्रतीत हुई। मोतीलाल बनारसी दास के प्रख्यात प्रकाशनसंस्थान से इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए जो सफल प्रयास माननीया अध्यापिका डॉ० सुरमा दाशगुप्ता ने किया तदर्थ वे अवश्य ही धन्यवादार्हा हैं।

योगविद्या के क्षेत्र में मेरे गुरु स्वामी धर्ममेघ आरण्य (कापिलमठ के वर्तमान अध्यक्ष) ने मुझे कृपापूर्वक आदेश दिया कि मैं लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ का पुनर्निरीक्षण करके इसकी भाषा का आवश्यक संशोधन करूँ। लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद अवश्य ही एक स्तुत्य कार्य था, पर उसमें कई कारणों से (विशेषतः बंगला शब्दों को कहीं कहीं ठीक रूप से न समझने के कारण) भाषासंबन्धी

कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं, जिनका संशोधन करना आवश्यक था। मुझे कहीं कहीं कुछ वाक्यांश जोड़ने पड़े हैं या परिवर्तित करने पड़े हैं। अनेक स्थलों में पदक्रमों में परिवर्तन करना पड़ा है; कुछ स्थलों में वाक्यों को नूतन रूप से लिखना भी पड़ा है।

यह संशोधन-कार्य अत्यल्प समय में मुझे करना पड़ा, अतः अत्यन्त आवश्यक स्थलों में ही संशोधन किया जा सका। मैं समझता हूँ कि इस संशोधित रूप से यह ग्रन्थ अधिक स्वच्छ और सुबोध बन गया है। फिर भी यदि कहीं ग्रन्थ के वाक्य अस्पष्ट एवं भ्रामक प्रतीत हों तो पाठक इसकी सूचना देने की कृपा करेंगे—यह निवेदन करना चाहता हूँ, जिससे आगामी संस्करणों में वे अस्पष्ट स्थल स्पष्टीकृत हो जाएँ। इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं बंगला की वाग्विधि का दर्शन हो सकता है, जो एक स्वाभाविक बात है।

हिन्दी योगदर्शन के प्रकाशित हो जाने पर (लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा) अनेक हिन्दीभाषी विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ पर आकृष्ट हुआ जैसा कि मुझे समय-समय पर प्राप्त पत्रों से ज्ञात होता है। योगदर्शन पर लिखे गए कई ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का उपयोग अल्पाधिक मात्रा में विभिन्न ग्रन्थकारों ने किया है—जैसा कि ग्रन्थकारों के वचनों से ज्ञात होता है। पञ्चविंशति तत्त्व तथा तत्त्वनिर्मित पदार्थों के स्वरूपनिर्धारण में स्वामीजी के जो विचार हैं, वह इतना न्यायदृढ एवं प्रामाणिक है कि योगविद्या पर कार्य करने वाले प्रत्येक विद्वान् को इन विचारों की सहायता लेनी ही होगी—यह मैं दृढतापूर्वक कह सकता हूँ।

यह तो सभी जानते ही हैं कि सांख्ययोगविद्या जीवित शिक्षकों के अभाव से दीर्घकाल तक मृतवत् ही रही है। आज शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति है जो इस विद्या के अनुसार मोक्षलाभ के लिए साधन करते हों। इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन भी अत्यन्त स्थूल रूप से ही होते हैं।[१]

१. H. H. Wilson ने (१ जुलाई १८३७ ई० के भाषण में) स्वीकार किया था कि उन्हें सांख्यमत के विशेषज्ञ के रूप में एक ही ब्राह्मण मिला था : "The subject indeed is little cultivated by the pandits and during the whole of my intercourse with learned natives I met with but one Brahmin who professed to be acquainted with the writings of this school." (द्र० हीरेन्द्रनाथदत्त-कृत सांख्यपरिचय, पृ. १४, बंगला ग्रन्थ)। मैक्स मुलर कहते हैं—"Prof. Bhandarkar states that the very name of सांख्यप्रवचन was unknown on his side of India." (*S.S.I.P.*, p. 298).

इस प्रसंग में हम पाठकों को यह सूचना देना आवश्यक समझते हैं कि भारत-विद्याप्रेमी J. N. Farquhar महोदय ने भी स्वीकार किया है कि जब उन्होंने विभिन्न आध्यात्मिक मार्गों के साधकों का अन्वेषण किया, तो उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थकार आचार्य स्वामीजी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं मिला जो इस विद्या का अनुशीलनकारी था। वे कहते हैं—"Samkhya sannyasins are so rare that it is of interest to know that as early as 1912 a learned Samkhyayati named Swami Hariharananda was alive and teaching in Calcutta." (*The religious quest of India*, p. 289).

पूज्यपाद आरण्य स्वामीजी की जीवनी के रूप में कुछ भी कहना निषिद्ध है। त्रिलोकी आरण्य नामक कोई संन्यासी उनके गुरु थे, जिनसे उन्होंने संन्यास लिया था। निर्जनगुहा, अरण्य आदि में दीर्घकालतक 'एकाकी यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः' के रूप में रहकर स्वामीजी ने बीजरूप से प्राप्त इस विद्या का अन्तरङ्ग मनन-निदिध्यासन किया और त्रिवेणी तीर्थ (जिला हुगली, पश्चिम बङ्ग) में कुछ काल रहकर व्यास-भाष्य की विस्तृत व्याख्या बंगला में लिखी। उनके और भी कुछ योगादिपरक ग्रन्थ एवं निबन्ध इस तीर्थस्थान में ही लिखे गए थे।

स्वामीजी को पालिभाषा का भी उत्कृष्ट ज्ञान था[1] जो उनके पालि धर्मपद के संस्कृत श्लोकमय अनुवाद से ज्ञात होता है। इस पद्यानुवाद की प्रशंसा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी की थी; [द्र० वङ्गदर्शन पत्रिका (नवपर्याय) १३१२ ज्यैष्ठ संख्या]।

धर्मपद के प्रचलित संस्कृत रूपान्तरों में स्वामीजी कृत रूपान्तर ही सर्वप्रथम है। इस ग्रन्थ का प्राचीन संस्कृत रूपान्तर चिरकाल से नष्ट हो चुका है और अप्राप्य है। धर्मपद का गद्यमय संस्कृत अनुवाद चारुचन्द्र वसु ने स्वसंपादित धर्मपद में किया था जो १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ था, स्वामीजी का ग्रन्थ १९०५ ई० में प्रकाशित हुआ है।

जीवन का अन्तिमांश स्वामीजी ने बिहार के अन्तर्गत मधुपुर नगर में बिताया। यहाँ नगर के बाहर उन्होंने एक कृत्रिमगुहा का निर्माण कराकर उसमें (आजीवन रहने के लिए) प्रविष्ट हुए (१४-५-१९२६ ई० में)

१. स्वामीजी ने कई पालिभाषामय कथाओं का बंगला में अनुवाद किया था, जो तत्कालीनज्ञ बंगला पत्रिकादि में (भारती, ब्रह्मविद्या आदि में) प्रकाशित हुई थीं। इन कथाओं का एक बंगला संस्करण प्रकाशित भी हो चुका है।

और देहत्याग पर्यन्त उस गुहा में ही अवरुद्ध रहे। उनके देहत्याग का दिनांक १९-४-१९४७ (५ वैशाख १३५४-वङ्गीय संवत्) है। उनका मर्त्यदेह लगभग ७८ वर्ष तक जीवित रहा (जन्मदिवस ४।१२।१८६९)। व्यासभाष्य की सुविख्यात भास्वती टीका (संस्कृत में) इस गुहा में ही लिखी गई थी।

ग्रन्थकार स्वामीजी द्वारा प्रणीत (एवं प्रकाशित) ग्रन्थ तथा विशिष्ट निबन्धों की एक अपूर्ण सूची देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। अधिकांश ग्रन्थों के एकाधिक संस्करण हो चुके हैं।

(१) व्यासभाष्य की भास्वतीटीका। टीका का बंगला अनुवाद (धर्ममेघ आरण्यकृत) भी है।
(२) योगकारिका—योगसूत्र की कारिकात्मक टीका तथा उसकी सरला नामक व्याख्या। इसका बंगला अनुवाद भी है।
(३) सांख्यतत्त्वालोक:—इसका अंग्रेजी संस्करण भी है।
(४) पञ्चशिखादीनां सांख्यसूत्रम् (प्राचीन सांख्याचार्यों के उद्धृत कुछ वचनों की संस्कृतटीका)—इसका बंगलासंस्करण भी है।
(५) परभक्तिसूत्रम्—सांख्ययोगसंमत २६ सूत्रमय ग्रन्थ तथा इसकी संस्कृत-टीका; बंगला में व्याख्या भी है।
(६) Sāṁkhyasūtras of Pañcaśikha and other ancient sages.
(७) Sāṁkhya catechism तथा सांख्यीय प्रश्नोत्तरमाला (बंगला में)
(८) कापिलाश्रमीय स्तोत्रसंग्रह: (स्वामीजी द्वारा विरचित संस्कृतस्तोत्र; तत्त्व-ईश्वरादि विषयक); बंगला अनुवादसहित।
(९) सरलसांख्ययोग (सांख्यकारिका की बंगला में व्याख्या)।
(१०) श्रुतिसार (उपनिषद्-वचनों की सांख्ययोगपरक बंगला व्याख्या)।
(११) कर्मतत्त्व (कर्मसिद्धान्तप्रतिपादक बंगलाग्रन्थ)।
(१२) बोधिचर्यावतार (बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित-कृत) की बंगला में अनुवाद (इसकी अतिविस्तृत भूमिका में आर्षदर्शन एवं बौद्धदर्शन की अन्तरङ्ग तुलना की गई है)।
(१३) धर्मपद (पालिश्लोकों का संस्कृत पद्यानुवाद तथा बंगला में अनुवाद)।
(१४) निबन्धग्रन्थावली (२ भागों में; बंगला ग्रन्थ)।
(१५) सांख्यीय प्राणतत्त्व (बंगला में प्रकरण ग्रन्थ)।
(१६) शाङ्करदर्शन और सांख्य (सांख्य के खण्डन के लिए शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त युक्तियों का उत्तर) (बंगला)।

(१७) गीता, गीता का मत ।
(१८) पञ्चभूत ।
(१९) सत्य और उसका अवधारण ।
(२०) पुरुष या आत्मा ।
(२१) मस्तिष्क और स्वतन्त्र जीव । (१७–२१ बंगला में)

अन्त में पाठकों से एक अनुरोध करना है । योगविद्या इतनी सूक्ष्म है कि किसी एक ग्रन्थ के द्वारा उसके सभी गूढ़ तथ्य पूर्णतया समझाए नहीं जा सकते, अतः यह स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ के पाठकों को ग्रन्थप्रतिपादित कुछ मत अस्पष्ट से प्रतीत हों । ग्रन्थगत इन स्थलों का स्पष्टीकरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही बंगला भाषा में रचित कई निबन्धों में कर दिया है (इस प्रकार के कुछ निबन्ध बंगला योगदर्शन के परिशिष्टों में संकलित हुए हैं) इन निबन्धों का हिन्दी में प्रकाशन हम भविष्य में करना चाहते हैं ।

यह कहना अनावश्यक है कि योगविद्या के सूक्ष्म तथ्यों को समझने के लिए इस मार्ग में पदार्पण करना पड़ता है और तभी समाधानों का स्वारस्य भी भली-भाँति समझ में आता है । सूक्ष्म जगत् के अनेक ऐसे गुण-क्रिया-स्वभाव हैं जो सहसा बहिर्मुख दृष्टि से समझ में नहीं आते, पर धैर्यपूर्वक अनुशीलन करते रहने से वे सूक्ष्म नियम जिज्ञासु के हृदय में स्वतः ही विज्ञात हो जाते हैं—यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है ।

पाठकों से अनुरोध है कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी भी मत के विषय में यदि वे पत्रव्यवहार* करें तो मुझे प्रसन्नता होगी ।

निवेदक—
रामशंकर भट्टाचार्य

मकरसंक्रान्ति, (उत्तरायण संक्रान्ति)
माघकृष्ण ६, विक्रम २०३०
सोमवार १४।१।१९७४

—: o :—

*** पत्रव्यवहार सेक्रेटरी, कापिल मठ, मधुपुर, (एस० पी०) (Pin–815353) बिहार के पते से करना चाहिए ।**

(प्रथम संस्करण का 'निवेदन' अंशतः संशोधित)

भूमिका

१. भारतीय मोक्ष-दर्शन

शास्त्रग्रन्थों का पौर्वापर्य

बहुत वर्षों से पृथ्वी पर मनुष्यों का निवास रहा है, इस तथ्य को भारतीय शास्त्रकार भली-भाँति जानते थे। परन्तु इस सत्य को जानकर भी उन्होंने कल्पना का योग करके इस तथ्य का समुचित प्रयोग नहीं किया है; उधर पाश्चात्त्य विद्वानों ने अपने संकीर्ण संस्कारवश[१] ईस्वी पूर्व के दो-तीन हजार वर्षों के भीतर ही संस्कृत-साहित्य के उद्गम की कल्पना की है। फलतः काल-गणना के सम्बन्ध में भारतीय पुराणकारों की कल्पनाएँ जितनी असम्भव हैं, पाश्चात्त्य विद्वानों की कल्पनाएँ उतनी ही संकीर्ण हैं और इसलिए दोनों ही दोषपूर्ण हैं। अतः सत्य के अनुसंधान करनेवालों के

---

१. पाश्चात्त्य विद्वानों में विद्यमान इस संकीर्णता का हेतु है। १६५४ ई० में आर्च विशप James Usher (डबलिन् विश्वविद्यालय के अध्यापक) ने अपने ग्रन्थ *Annals* (१६५० में प्रकाशित) तथा *Chronologia Sacra* (१६६० में प्रकाशित) में यह घोषणा की थी कि सृष्टि ईसापूर्व ४००४ में हुई थी। यह आश्चर्य है कि तत्कालीन विद्वत्समाज ने इस मत को सादर स्वीकार किया था। जैसा कि J. Angus कृत 'आंग्रेजी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ से ज्ञात होता है (सन्दर्भ ३१७)। इस विषय में *Historians history of the world*, Vol. I, p. 626, (ed. 1908) भी द्र० तथा H. D. Anthony कृत *Science and its background*, p. 2 भी। Dr. Draper कहते है—'It was generally admitted that the earth was about 4000 years old at the birth of Christ (*Hisory of the conflict of religion and science*)। कालसम्बन्धी इस संकीर्ण धारणा के प्रभाव के विषय में A. S. Sayce का लेख द्रष्टव्य है—"To a generation which has been brought to believe that in 4004 B. C. or thereabout the world was being created, the idea that man himself went back to 100,000 years ago both incredible and inconceivable" ('Antiquity of civilized man', *Journal of the Royal Anthropological Institute of Great Britain and Ireland*, vol. 60, July-Dec. 1930) [सम्पादक]

लिए यही युक्तिसंगत है कि वे संस्कृत-साहित्य के प्रादुर्भावकाल के संबन्ध में किसी निश्चित निर्णय का हठ न करें।[१]

यथार्थ काल-निर्णय के अभाव में भी वैदिक और लौकिक संस्कृत के आधार पर कालक्रम का निर्धारण किया जा सकता है। परन्तु यह भी सर्वत्र मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक परवर्ती ग्रन्थों की रचना प्राचीन भाषा के अनुकरण पर हुई है और साथ ही अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भी कालान्तर में बहुत से प्रक्षिप्त अंश समाविष्ट हो गए हैं।

वेदों के ही मन्त्र और ब्राह्मण अंशों में भाषा के तीन-चार रूप देखने को मिलते हैं। उनमें ऋचाएँ यजुः मन्त्रों से प्रायः प्राचीन हैं। ऋचाओं के भी कालक्रम से तीन भाग—प्राचीन, अप्राचीन और मध्यम—किए जा सकते हैं।[२] विस्तार-भय से इस विषय के उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं। दार्शनिक मतों का पूर्वापर-सम्बन्ध भी इसी प्रकार निश्चित किया जा सकता है।

अनेक युक्तियों के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुरुक्षेत्र का युद्ध ईसा से ढाई हजार वर्ष से भी पहले हुआ था[३] और इसलिए यह भी

---

१. मैक्स मुलर ने कहा है "All this is very discouraging to students accustomed to chronological accuracy, but it has always seemed to me far better to acknowledge our poverty and the utter absence of historical dates in the literary history of India, than to build up systems after systems which collapse at the first breath of criticism or scepticism."—*The six systems of Indian philosophy*. (1899) p. 158.

२. मन्त्र-ब्राह्मणरूप वेद के विभिन्न अंशों में कालिक पौर्वापर्य है, इस तथ्य का प्रतिपादन प्राचीन शैली के असाधारण वेदज्ञ सत्यव्रत सामश्रमी ने 'त्रयीपरिचय' ग्रन्थ के आरम्भिक अंश में किया है। द्र० "आदौ मन्त्रकालः, ततस्तादृश-प्रवाद-श्रुतिकालः, ततो गाथाकालः, ततश्च ब्राह्मणकालः" (पृ० ८)। [**सम्पादक**]

३. भारत-युद्धकाल के विषय में (भारत या महाभारत ग्रन्थ की रचना के काल के विषय में नहीं) मतभेद हैं। प्राचीन ज्योतिषियों के अनुसार ६५३ कल्यब्द (२४४९ ई० पू०) में महाभारतयुद्ध हुआ है। प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त आदि विद्वान् ई० पू० २४४९ को ही युद्धकाल मानते हैं। अन्य आधुनिक विद्वान् ई० पू० १४३२-३१ इस युद्ध का काल मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह काल कथमपि १५८२ ई० पू० से पहले और ११३२ ई० पू० के बाद नहीं हो सकता।

मानना पड़ता है कि महाभारत के कृष्ण, युधिष्ठिर आदि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान थे। वेद उनसे भी बहुत पहले के हैं। विशेष रूप से वेदों का मन्त्रभाग तो उनसे बहुत पूर्व का है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु ब्राह्मण और उपनिषद् में महाभारत-कालीन व्यक्तियों के आख्यान मिलने के कारण यह वेदभाग महाभारतकाल के बाद की रचना है, यह प्राथमिक दृष्टि में उचित प्रतीत हो सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है:— **'एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारीक्षितमभिषिषेच'**, इत्यादि। (८ प० । २१); तथा शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है— **'एतेन हेन्द्रोतो दैवापः शौनकः जनमेजयं पारीक्षितं याजयाञ्चकार,'** इत्यादि। (१३।५।४।१)। छान्दोग्य उपनिषद् ३।१७।६ में भी देवकीनन्दन कृष्ण का उल्लेख मिलता है।

परन्तु युधिष्ठिर आदि नामों के उल्लेख के कारण इन वेदभागों के सभी अंश महाभारतकाल के बाद लिखे गए हैं, ऐसा मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक युक्ति-संगत होगा कि केवल उतने ही अंश प्रक्षिप्त हैं, जिनमें वे नाम आये हैं। **'चतुर्विंशति-साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारतमुच्यते बुधैः॥'** (आदिपर्व १।१२०)—महाभारत-आदिपर्व के इस कथन से ज्ञात होता है कि व्यास जी की मूल रचना में पहले चौबीस सहस्र श्लोक-मात्र थे। लेकिन धीरे-धीरे उसमें जैसे एक लाख से अधिक श्लोक समाविष्ट हो गए वैसे ही हजारों वर्षों की कण्ठ-परम्परा के कारण तथा अनेक प्रतिभाशाली आचार्यों के अध्यापन के फलस्वरूप वेदांश-समूह का कलेवर बढ़ता गया, यह कहना अधिकतर संगत है। महाभारत की रचना का प्रथम नाम जय (आदिपर्व ६२।१०), तत्पश्चात् भारत और तदुपरान्त महाभारत हुआ—ऐसी प्रसिद्धि है[1]।

यह भी विशेष रूप से जानना चाहिए कि व्यास, याज्ञवल्क्य इत्यादि

कई आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में C. V. Vaidya महोदय द्वारा निर्धारित ३१०२ ई० पू० काल ही भारतयुद्ध का काल है; श्री V. B. Athavale का लेख (*J. G. N. Jha R.I.*, Vol IV. 2 में प्रकाशित) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। जो इस युद्ध का काल ९५० ई० पू० (पर्जिटर आदि) या ८५० ई० पू० (राय चौधुरी आदि) समझते हैं, उनका मत बहुलतया कल्पना पर आधृत है। [सम्पादक]

[1] महाभारत के इन तीन रूपों का संकेत आदिपर्व १।५२ में मिलता है—ऐसा किसी-किसी का मत है (मन्वादि भारतं केचिद् आस्तीकादि तथा परे। तथोपरिचाद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते)। विस्तार के लिए द्र० सातवलेकरकृत 'महाभारत की समालोचना' (पृ० २०--२५। [सम्पादक]

नामों के व्यक्ति एक से अधिक थे। इस अनुमान के लिए भी अवकाश है कि याज्ञवल्क्य-स्मृति का याज्ञवल्क्य तथा शतपथ-ब्राह्मण के संग्राहक याज्ञवल्क्य दो भिन्न व्यक्ति हैं। याज्ञवल्क्य शतपथ ब्राह्मण का संग्राहक भी हैं और उसी शतपथ ब्राह्मण में ही अनेक स्थलों पर दूसरे व्यक्तियों से याज्ञवल्क्य का (अन्य पुरुष के रूप में) संवाद भी है। पतञ्जलि नाम के शास्त्रकार भी एक से अधिक व्यक्ति थे। पतञ्चल एक वंश का नाम है, बृहदारण्यक से यह विदित होता है[1]। पतञ्जलि नामक एक व्यक्ति इलावृतवर्ष या भारतवर्ष के उत्तर में स्थित हिमवान् प्रदेश के निवासी थे[2] और महाभाष्यकार पतञ्जलि भारत के मध्य-देश के निवासी थे[3], इसका आभास महाभाष्य को देखने से मिल सकता है।

इस प्रकार विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न अंश प्रक्षिप्त होने से तथा एक नाम के अनेक व्यक्तियों-द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में शास्त्र की रचना होने के कारण[4] किसी ग्रन्थ का पौर्वापर्य निःसंशय रूप से नहीं ठहराया जा

---

१. मैकस् मुलर कहते हैं कि शतपथ में काव्य पातञ्चल नाम है (*S. S. I. P.* p. 402); यह अनवेक्षणजनित दोष है। माध्यन्दिन शतपथ में पतञ्चल नाम ही है (१४।६।३।१, १४।६।७।२ तथा अन्यत्र)। काण्व बृहदारण्यक में (३।३। १; ३।७।१) भी पतञ्चल शब्द है। यह कपिगोत्र का व्यक्ति है : पतञ्चलो नामतः कपिगोत्रस्य (शांकरभाष्य)। मत्स्यपुराण के गोत्र-प्रवर-सूची में 'आङ्गिरस पतञ्जलि' नाम है (१९६।२५)। पाणिनि के उपकादिगण (२।४।६९) में पतञ्जलि शब्द है। गणरत्नमहोदधिकार 'पतञ्जल' शब्द पढ़ते है और कहते हैं— 'भोजस्तु पतञ्जलिशब्दमिकारान्तं मन्यमानः पतञ्जलयः पातञ्जलाः' (२।२८)। कोई-कोई बृहदा० ३।७ में पतञ्जल शब्द पढ़ते हैं (N. Bhasacharya : *The age of Patanjali*, p. 1.), पर यह अनुचित है। [**सम्पादक**]

२. पतञ्जलि हिमवान्-प्रदेश के निवासी थे—ग्रन्थकार स्वामीजी के इस मत का आधार क्या है, यह ज्ञात न हो सका। [**सम्पादक**]

३. महाभाष्यकार ने (६।३।१०९ भाष्य द्र०) कहा है कि आर्यावर्तस्थ शिष्ट लोग संस्कृत-शब्द-प्रयोग में प्रमाण हैं। महाभाष्य में आर्यावर्त का जो परिचय दिया गया है वह वस्तुतः मनुसंहितोक्त मध्यदेश का परिचय है (मनूक्तमध्यदेश एवात्र भगवतोऽभिमत इत्यन्ये—उद्द्योत)। संभवतः इस दृष्टि से ही ग्रन्थकार ने पतञ्जलि को मध्यदेशनिवासी कहा है। [**सम्पादक**]

४. इतिहास-पुराणोक्त नामों में एकरूपता के कारण भ्रान्त मत उद्भूत होते हैं, विस्तार के साथ इस विषय का प्रतिपादन Pargiter ने *Ancient Indian*

सकता। इस पर विचार करना हमारा उद्देश्य भी नहीं है। हम इस भूमिका में केवल धर्ममत के—विशेषतः मोक्षधर्म मत के –उद्भव, विकास और परिणाम के विषय पर विचार करेंगे।

आर्षधर्म

हिन्दूधर्म का प्रकृत नाम आर्षधर्म है। मनु (१२।१०६) ने कहा है—**'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'**॥ बौद्ध लोग भी सनातन धर्म को इसिमत या ऋषिमत तथा जटी और संन्यासियों को 'ऋषिप्रव्रज्या में दीक्षित' कहते थे। हिन्दूधर्म के मूल जो वेद हैं वे सब ऋषि-वाक्य ही हैं। जो वेदमन्त्र के द्रष्टा या रचयिता हैं वे ही ऋषि हैं। ऋषिगण साधारण मनुष्यों की कोटि के भीतर नहीं आते। जिनमें अलौकिक शक्ति थी, वे ही ऋषियुग में ऋषि होते थे। प्राचीनकाल में अत्यन्त पूज्य के अर्थ में ऋषि शब्द का व्यवहार किया जाता था। इसलिए बौद्ध लोग भी बुद्ध को 'महेसि या महर्षि' कहते थे। फलतः उस युग में अलौकिक ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ऋषि होते थे। स्त्रियों[१] और शूद्रों ने भी ऋषि-पद को प्राप्त किया था।

ऋषिप्रणीत या ऋषिदृष्ट शास्त्र ही वेद है। कोई कोई कहते हैं कि वेद ईश्वर-प्रणीत है। किन्तु इसका कोई प्रमाण वेद में नहीं मिलता। दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वरप्रणीत होने से वेद पौरुषेय हो जाता है, अतः वेद ईश्वर-प्रणीत नहीं है'। कुछ आधुनिक वेदान्ती भी कहते हैं कि वेद ईश्वर से निःश्वासरूप में उत्पन्न हुआ, अतः वह ईश्वरजात होने पर भी पौरुषेय नहीं, क्योंकि निःश्वास पौरुषेय क्रिया के रूप में मान्य नहीं हो सकता। **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥** (बृहदा० २।४।१०)—इस श्रुति के आधार पर वेदान्तियों ने उक्त काल्पनिक व्याख्या खड़ी की है[२]। वस्तुतः यह श्रुति रूपकार्थ में ही संगत बैठती है। जो शास्त्र लोक में रचे गए हैं वे मानों उस

---

historical tradition ग्रन्थ में किया है (द्र० अ० ५, अ० ११ तथा अन्यत्र)। द्र० "We know too little about the history of Sanskrit proper names to be able to say whether the same name implies the same person. (*S. S. I. P.* p. 410). [**सम्पादक**]

१. ऋषिकाओं के नामों के लिए बृहद्देवता २।८४—८६ द्र०; आर्यविद्यासुधाकर (पृ. ३१) भी द्रष्टव्य है। [**सम्पादक**]

२. द्र० पुरुषनिःश्वासवद् अप्रयत्नोत्थितत्वात् (शांकरभाष्य)। [**सम्पादक**]

अन्तर्यामी के निःश्वासरूप हैं। इस प्रकार का अर्थ ही यहाँ पर संगत है; नहीं तो ईश्वर के निश्वास फेंकने से ही वेदादि सभी शास्त्र बन गए, ऐसी कल्पना नितान्त अयुक्त और बालोचित ही कही जा सकती है।

वेद को 'ऋषिदृष्ट' कहने की एक और भी व्याख्या है जिसके अनुसार वेद का अस्तित्व नित्य है। अनादिकाल से अस्तित्व रखनेवाले उस वेद को देखकर ऋषियों ने गद्य तथा पद्य-समूह में उसे व्यक्त किया। इन सब मतों का कोई भी श्रौत प्रमाण नहीं है। **'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नुतनैरुत'** (**ऋग्वेद १।१।२**)—इत्यादि वैदिक शब्दावली अनादिकाल से विद्यमान है,[१] यह नितान्त अयुक्त कल्पना ही है। ऋषियों ने अपने अलौकिक दृष्टि-बल से सत्य का साक्षात्कार करके उसे प्रचलित भाषा में श्लोकादि की रचना-द्वारा व्यक्त किया है, यही मत इस विषय में समीचीन है।

ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं कि वेद असभ्य मनुष्य के गीत हैं[२]। यह भी अयुक्त कुसंस्कार है। वस्तुतः समग्र वेद में जो सब धर्म-चिन्तन विद्यमान हैं, आज के सुसभ्य मनुष्य उनसे कुछ भी अधिक उन्नत चिन्ता नहीं करते। परमार्थ-विषय में वेद में जो उन्नत चिन्ताएँ और सिद्धान्त हैं पाश्चात्त्य[३] सभ्य

---

१. वैदिक शब्दानुपूर्वी की नियतता के लिए भामती का 'सर्वज्ञोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वपुर्वसर्गानुसारेण वेदान् विरचयन्न स्वतन्त्रः' (१।१।३) वाक्य द्रष्टव्य है। [**सम्पादक**]

२. द्र० Large number of Vedic hymns are childish in the extreme : tedious, low, commonplace'' (Max Müller : *Chips from a German workshop*. p. 27, second edition). The Veda is full of childish, silly, even to our minds monstrous conceptions, who could deny. (M. Müller : *India : what can it teach us*, p. 97) । वेद के ब्राह्मणग्रन्थ के प्रसंग में मैकस् मुलर कहते हैं—"These works deserve to be studied as the physician studies the twaddle of idiots and the raving of madmen. (*Ancient Sanskrit literature* p. 389) [**सम्पादक**]

३. पाश्चात्त्यसभ्यपुरुष की दृष्टि देखिये। Schopenhauer की उपनिषद्-प्रशंसा (जैसे उपनिषद् सर्वोच्च मानवप्रज्ञा का फलभूत है, इत्यादि) को Winternitz ने 'wild exaggeration' कहा है। ऐसे लोग 'आर्षज्ञान के तलडेश में पिपीलिका के समान विचरण करते हैं'—यह ग्रन्थकार-वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। द्र० *Some problems of Indian literature*, p. 61, ed. 1925.) [**सम्पादक**]

मनुष्य के लिए उनके निकट पहुँचने में अब भी बहुत देर है। ईश्वर, परलोक, निर्वाण-मुक्ति आदि के विषय में वेद में जो कथन हैं, उनसे उन्नत चिन्तन मनुष्य अब तक नहीं कर सका। F. W. H. Myers, Sir Oliver Lodge[1] आदि वैज्ञानिक आज भी जो तथ्य परलोक के संबंध में प्रकट हुए कहते हैं, वे भी वेदोक्त मत के अन्तर्गत ही हैं।

उपनिषद् में है—**'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे'** (ई० १०) जिन्होंने यह कहा है उन्होंने अन्य किसी धीर ऋषि से सुनकर इस श्लोक की रचना की है। अतः श्रुति के ही प्रमाण से श्रुति मनुष्य के द्वारा रचित है। जिनके द्वारा श्रुति रचित हुई वे ही ऋषि थे।

ऋषिगण दो प्रकार के हैं; प्रवृत्तिधर्म के ऋषि तथा निवृत्तिधर्म के ऋषि। जो कर्मकाण्ड के प्रवर्तक तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता हैं वे प्रवृत्तिधर्म के ऋषि हैं। **इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः'** (**ऋग्वेद १०।१४।१५; अथर्ववेद १८।२।२**) इत्यादि वेदमन्त्रों के ऋषि ही प्रवृत्तिधर्म के पथिकृत् ऋषि हैं। और जो मोक्ष-मार्ग का साक्षात्कार करके उस मार्ग का प्रवर्त्तन कर गए हैं वे ही निवृत्तिधर्म के ऋषि हैं। संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् में जो मोक्षधर्म-विषयक अंश हैं उनके द्रष्टा राजर्षिगण तथा ब्रह्मर्षिगण निवृत्तिधर्म के ऋषि हैं, जैसे वाग् आम्भृणी, जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य इत्यादि। परमर्षि कपिल मोक्षधर्म के प्रधान ऋषि हैं[2]—यह बात प्राचीन भारत के धर्मयुग में प्रसिद्ध थी, द्र० महाभारत **"ऋषीणामाहुरेकं यं कामादवसितं नृषु···यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षि प्रजापतिम्।'** (शान्तिपर्व २१८।८-९)।

---

१. द्र० Lodge कृत *The reality of a Spiritual World* तथा *Why I believe in Personal Immortality* ग्रन्थ; Myers कृत *Human personality and its survival of bodily death* ग्रन्थ। इस विषय में वैज्ञानिक गणितज्ञ आदि के द्वारा लिखित कुछ ग्रन्थों के लिये A. R. Wallace कृत *Miracles and modern spirrtuality* ग्रन्थ तथा B. L. Atreya कृत *Parapsychology* ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। [**सम्पादक**]

२. कपिल की ऐतिहासिक सत्ता के विषय में पूर्वाचार्यों में कोई मतभेद नहीं था। वे मनुष्यदेहधारी थे; यही कारण है कि 'मनुष्य-तर्पण' में उनका नाम लिया गया है (त्रिकण्डिकासूत्र द्र०)। स्मरणातीत काल से प्रवर्तमान तर्पणक्रिया में (कपिल श्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा) स्मर्यमाण कपिल काल्पनिक पुरुष नहीं हो सकते, यद्यपि उनको mythical कहने की प्रवृत्ति पाश्चात्त्य विद्वानों में

योगधर्म में सिद्ध वे ऋषिगण, जिनके प्रवर्तित धर्म के अनुसार धर्माचरण करके आज तक संसार के अधिकांश मानव सुख-शान्ति प्राप्त कर रहे हैं, विश्वसम्बन्धी सम्यग् दर्शन-रूप जो ज्ञानस्तूप स्थापित कर गए हैं, आजकल के बाहरी दृष्टिवाले तथा अपने को सभ्य समझने वाले पण्डितगण उसके तलदेश में ही पिपीलिका के समान विचरण कर रहे हैं।[1]

धर्म के दो भेद—धर्म दो प्रकार का है, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म या मोक्षधर्म। जिस धर्म से इहलोक और परलोक में सर्वाधिक सुखलाभ होता है, वही प्रवृत्तिधर्म है; एवं जिसके द्वारा निर्वाण या शान्ति-लाभ होता है, वह निवृत्तिधर्म है। निवृत्तिधर्म भारत में ही आविष्कृत हुआ है, प्रवृत्तिधर्म पृथ्वी पर सर्वत्र है।[2]

देखी जाती है—"Kapila is, as we have seen, not a human personage at all (A. B. Keith : *The Samkhya system* p. 15)। इस विषय में मैक्स मुलर की दृष्टि बहुत ही स्पष्ट है। कपिल नामधारी कोई ऐतिहासिक व्यक्ति सांख्य-प्रवक्ता के रूप में आविर्भूत हुए थे या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर मैक्स मुलर देते हैं—"I see no evidence for it." (*S. B. E.* vol. 15, Intro. p. XL)।

१. आधुनिक काल में प्रचलित विचारों की स्थूलता एवं व्यर्थता इस उपमा के द्वारा ग्रन्थकार स्वामीजी ने दिखायी है। योगविद्या या अध्यात्मविद्या का स्थूल रूप है बाह्य आचरण में संयम, अर्थात् यम-नियम। सार्वभौम यम-नियम से अधिक सूक्ष्म सदाचार की कल्पना विश्व के किसी भी नीतिशास्त्रकार ने नहीं की है। इसी बाह्यसंयम का ही एक रूप है—आश्रमव्यवस्था। आधुनिककाल के किसी भी सभ्य मनीषी ने इससे अधिक संगत किसी व्यवस्था की चिन्ता भी नहीं की है। इस व्यवस्था को लक्ष्यकर एक पाश्चात्त्य मनीषी कहते हैं—"The whole history of mankind has not much that equals the grandeur of this thought." (*Encyclopedia of religion and ethics* में Deussen का लेख द्र०) Gouph ने भी इस मत की प्रतिध्वनि की है। (*Philosophy of the Upaniṣads*, p. 367)। आश्रम का संकर अत्यन्त दूषणीय है।
[**सम्पादक**]

२. इस कथन में हेतु वह है कि उपनिषद् में ही निर्गुण आत्मज्ञान का प्रतिपादन है; प्रकृत निर्गुण आत्मज्ञान का प्रतिपादन उपनिषद् या उपनिषद्मूलक परवर्तीकाल के किसी ग्रन्थ के अतिरिक्त कहीं भी नहीं है। उपनिषद् भारत में ही प्रणीत हुआ था। जो ग्रन्थ उपनिषद्-मूलक नहीं है, उसमें क्वचित् निर्गुणशब्द प्रयुक्त

प्रवृत्तिधम के मूल दो आचरण हैं, (१) ईश्वर या महापुरुष की अर्चना तथा (२) दान, परोपकार, मैत्री आदि पुण्य कर्मों का आचरण। इनमें अर्चना की प्रणाली मूलतः इस प्रकार है—स्तुति और शृङ्गार, धूप, दीप एवं नैवेद्य। वैदिक युग से आज तक प्रचलित समस्त प्रवृत्ति-धर्मों के अन्तर्गत ये ही मूल आचरण देखे जाते हैं। कर्मकाण्ड (ritual) की प्रणाली अनेक प्रकार की हो सकती है। किन्तु ये मूल आचरण सभी धर्मों में समान हैं[1]। वैदिक काल में अग्नि में हव्य की आहुति देकर देवार्चना की जाती थी; उसके साथ दान दिया जाता था और सोमादि नैवेद्य रूप में समर्पित होते थे। यहूदियों में भी पशुमांस अग्नि में डालकर देवता की अर्चना की पद्धति थी। ईसाइयों की सैक्रामेण्ट (Sacrament[2]) एवं आहार्य के ऊपर Grace[3] पाठ तथा मुसलमानों द्वारा कुर्बानी और नमाज भी नैवेद्य-समर्पण का ही रूप है।

इस प्रकार के प्रवृत्तिधर्म-द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह वेद में देखा जाता है। **'यत्र ज्योतिरजस्रं ××× त्रिनाके त्रिदिवे दिवः'** (९।११३।७-९) इत्यादि वेदमन्त्र में यही कहा गया है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि भी ऐसे कर्मों के इसी प्रकार के फल में विश्वास करते हैं।

मिलता, है, पर उसका अर्थ 'तामसगुणहीन' 'दुर्गुणहीन' है, जैसा कि रामानुजादि के ग्रन्थों में देखा जाता है; निवृत्तिधर्म के मूल में निर्गुण आत्मज्ञान है। [**सम्पादक**]

१. ग्रन्थकार स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है कि बाह्यपूजा के तीन अंग हैं—वलि (पुष्पादि उपहार से पूजा), स्तुति (गीतावाद्य की सहायता से या उसके बिना भी इष्टदेवगुण-प्रकाशक मनोज्ञपदों का उच्चारण) तथा परिचर्या (परभक्ति-सूत्रम् ३।१५ टीका द्र०) [**सम्पादक**]

२. सैक्रामेन्ट एक प्रतीकरूप धार्मिक कृत्य है, जिसका अधिक संबन्ध Baptism के साथ है। 'मानस उपासना का एक बाह्य रूप' इस अर्थ में भी इसका प्रयोग बाद में हुआ है। इसके बहुविध प्रकारों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में है; आजकल रोमन और ग्रीक चर्चों में सैक्रामेन्ट के सात प्रकार सुप्रचलित हैं (*The Modern cyclopedia* के आधार पर)। "A solemn religious rite in the Christian Church, the Lord's Super." (*Chambers's etymological dictionary*) [**सम्पादक**]

३. ग्रेसपाठ—खाद्यग्रहण करने से पहले पाठ्य मन्त्रविशेष, जिसमें ईश्वर की करुणा का प्रतिपादन किया गया है। [**सम्पादक**]

स्वर्ग और नरक-सम्बन्धी सत्य जानने के लिए अलौकिक दृष्टि की आवश्यकता है। हमारे ऋषि और ईसाइयों आदि के पैगम्बर (Prophet) अलौकिक दृष्टि वाले व्यक्ति थे। धर्माचरण करने के लिए मनुष्यों को किसी न किसी प्रकार की कर्मकाण्ड-पद्धति ग्रहण करनी पड़ती है। ऋषिगण यागयज्ञ पद्धति का तथा ईसाई-इस्लाम-धर्मी कर्मकाण्ड की किसी न किसी पद्धति या रिचुअल (ritual) का अवलम्बन करके धर्माचरण करते रहे हैं। किन्तु अलौकिक शक्ति-सम्पन्न धर्मप्रवर्त्तक महापुरुषों की अर्चना तथा दान आदि कर्म सामान्यतया सर्वत्र ही मिलते हैं।

आर्ष प्रवृत्तिधर्म कितने प्राचीन काल से आविष्कृत होकर चला आ रहा है, इसकी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। पाश्चात्त्य लोग आपातकाल के मोह[1] से जो चार पाँच हजार वर्ष का अनुमान लगाते हैं वह संकीर्ण कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

निवृत्तिधर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं, आर्ष तथा अनार्ष। आर्ष सम्प्रदाय सांख्य, वेदान्त आदि और अनार्ष सम्प्रदाय बौद्ध, जैन आदि। यद्यपि आर्ष सम्प्रदाय सबका मूल है तथापि बौद्ध आदि द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकों को ही मूल[2] मानने के कारण बौद्ध आदि अनार्ष कहे जाते हैं।

१. पाश्चात्त्य विद्वान् एवं उनके अनुयायियों के ग्रन्थों से इस संकुचित मनोवृत्ति के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—A. A. Macdonell ने मनुस्मृतिरचनाकाल के रूप में १३०० ई० पू० एवं १००० ई० पू० को fantastic views कहा है (*India's past*, pp. 167-168); David Diringer ने तिलकसंमत वेदमन्त्रकाल (७००० ई० पू०) को तथा बालकृष्ण-दीक्षित-संमत ब्राह्मण-ग्रन्थकाल (२८०० ई० पू०) को fantastic theories कहा है (*The Alphabet*, *p*. 333); R. G. Bhandarkar ने याज्ञवल्क्यस्मृति को 'not earlier than the sixth century' कहा है (*Vaiṣnavism* etc. p. 148)। Radhakrishnan वेदकाल के विषय में कहते हैं—"We assign the hymns to the fifteenth century B. C. and trust that our date will not be challenged as being too early." (*I. P. vol. I*, p. 67) [**सम्पादक**]

२. बुद्धवचनों में कहीं-कहीं 'मैंने स्वयं साक्षात्कार किया है' इस भाव के शब्द मिलते हैं। बौद्धगण कहते हैं कि 'स्वयम्' कहने का अभिप्राय यह है कि 'बुद्ध ने ही प्रथमतः किसी के उपदेश के बिना' उन उन अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धों की दृष्टि में बुद्ध बुद्धभाषित मतों के मूल आचार्य हैं। प्राचीनतर मूल (अर्थात् ऋषिरूप मूल) न मानने के कारण

निवृत्ति धर्म का मूल मत और आचरण ये हैं :—पुण्य-द्वारा स्वर्ग-लाभ होने पर भी स्वर्ग-लाभ चिरस्थायी नहीं होता क्योंकि उससे भी जन्म-परम्परा की निवृत्ति नहीं होती। सम्यक् दर्शन जन्म-परम्परा या संसार की निवृत्ति का कारण है। सम्यक् योग अर्थात् चित्तस्थैर्यरूप समाधि, तथा सम्यक् वैराग्य सम्यक् दर्शन या प्रज्ञा के कारण हैं। सम्यक् दर्शन के द्वारा दुःखमूल अविद्या का नाश होता है, अतएव दुःखमय संसार की निवृत्ति हो जाती है।

सांख्य, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, जैन प्रभृति समस्त निवृत्तिधर्मवादियों का यही मत है। जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मवादियों में धर्म-पद्धति का भेद रहता है, उसी प्रकार निवृत्तिधर्मवादियों के बीच दर्शन तथा सम्यक् योग में भी भेद है। आर्ष सम्प्रदाय के निवृत्तिवादियों में आत्मज्ञान तथा अनात्मविषय के प्रति सम्यक् वैराग्य—यही दो सामान्य धर्म हैं। बौद्ध लोग केवल वैराग्यवादी हैं और जैन तथा वैष्णव आदि वैराग्य एवं एक न एक प्रकार के आत्मज्ञानवादी हैं।

आत्मज्ञान के दो भेद

निर्गुण तथा सगुण भेद से आत्मज्ञान दो प्रकार का है। सांख्य के अनुयायी निर्गुण पुरुषवादी हैं; वेदान्तियों के अनुसार आत्मा निर्गुण तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न सगुण दोनों ही हैं[1]। तार्किक आत्मा को सगुण मानते हैं किन्तु सभी मतों में योग या अभ्यास-वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध आत्म-साक्षात्कार एवं शाश्वत शान्ति का उपाय है।

बौद्धमत में आत्मज्ञान के स्थान में अनात्मज्ञान अर्थात् 'पञ्चस्कन्ध आत्मा शून्य है' यह ज्ञान ही सम्यक् दर्शन है। इसके साथ सम्यक् तृष्णा-शून्यता या वैराग्य ही निर्वाण है[2]। जैनों का भी कथन है कि वैराग्ययुक्त

बौद्धों को अनार्ष कहा जाता है। द्र० बुद्धवचन 'सयं······अभिसञ्ञाय' (ब्रह्मजालसुत्त; धम्मसंगणि)। [**सम्पादक**]

१. संसार के आदि-अन्त नहीं हैं। सदैव असंख्य ब्रह्माण्ड लीन होते और उत्पन्न होते रहते हैं। एक-संख्यक आत्मा (ब्रह्म) ही सृष्टिकर्ता भी है—यह वेदान्ती कहते हैं, अतः आत्मा युगपत् सगुण भी है, निर्गुण भी है। सगुणभाव पारमार्थिक न होने पर भी उसके साथ सदैव योग आत्मा का रहता है, अतः आत्मा की उपर्युक्त द्विरूपता सदैव ही रहेगी। एकसंख्यक चित्स्वरूप ब्रह्म ही है, कोई भी ब्रह्माण्ड नहीं है—ऐसी स्थिति कभी भी होने को नहीं है। अतः असंख्य सृष्टि से पहले एक ब्रह्म ही था—यह वेदान्ति-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञामात्र है। [**संपादक**]

२. वाण (=तृष्णा) से निर्गमन = निर्वाण—यह कोई-कोई बौद्ध कहते हैं (अभिधम्मत्थसंगहो, पृ० ७२१, संस्कृत वि० वि० संस्क०)। [**संपादक**]

समाधिविशेष उनके मत में मोक्ष है। वैष्णवों में विशिष्टाद्वैतवादी भी वैराग्य और समाधि को मोक्ष का उपाय मानते हैं।

श्रुति में आत्मा परम गति कहलाता है। वस्तुतः प्राचीन ऋषिगण परम पदार्थ के लिए बहुधा 'आत्मा' नाम का व्यवहार किया करते थे। वे इन्द्रादि देवताओं एवं प्रजापति हिरण्यगर्भ नामक सगुण ईश्वर की उपासना करते थे। हिरण्यगर्भ देव ही कालक्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन नामों से त्रिरूप में विभक्त हुए हैं। ब्रह्माण्ड के अधीश्वर प्रजापति हिरण्यगर्भ का अन्य नाम अक्षर आत्मा है[1]। वे ऐश्वर्य से सम्पन्न फलतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं। **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** (१०।१२१।१) इत्यादि ऋचा में उन्हीं की स्तुति की गई है।

प्रजापति हिरण्यगर्भ या अक्षर आत्मा के अतिरिक्त निर्गुण पुरुष भी श्रुति में हैं। वे **'अक्षरात्परतः परः'** (मुण्डक २।१।२) इत्यादि रूप से कथित हुए हैं। वे ऐश्वर्य से निर्मुक्त, हैं अतएव उन्हें सर्वज्ञ, सर्वव्यापी आदि विशेषणों से विशेषित नहीं किया जा सकता।

आत्मा को अक्षर पुरुष रूप से जानना और निर्गुण रूप से जानना—यह उभय प्रकार का ज्ञान ही आत्मज्ञान है। उनमें निर्गुण पुरुष ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है—यह सांख्य की दृष्टि है। वेदान्ती लोग आत्मा को ईश्वर भी कहते हैं और निर्गुण भी।[2] सांख्य के मत में पुरुष बहुसंख्यक है। उसी प्रकार न्यायवैशेषिक भी ज्ञानाश्रय आत्मा को एवं वैष्णवादि भी अणुचिद्रूप

---

१. सृष्टिकर्ता प्रजापति के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग मुण्डक में है—'यथोर्णनाभिः सृजते''''''तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् (१।१।७)। सांख्यसंमत इस प्रजापति हिरण्यगर्भ का भूतादि-अहंकार ही व्यक्त ब्रह्माण्ड के मूलभूत तन्मात्रों का उपादान है। ऐश्वर्यसंस्कार के कारण प्रजापति का यह भूतादि ग्राह्योभूत होकर असिद्ध प्राणियों का विषयभूत होता है और उस व्यक्त भूतादि को विषय रूप में पाकर प्राणीगण प्रकाशन-आहरण-विधारण रूप व्यापारों का निष्पादन करते रहते हैं। सृष्टि-संस्कार रहने के कारण यह प्रजापति मुक्तपुरुष नहीं है। अक्षरशब्द अन्य अर्थों में भी श्रुति में प्रयुक्त हुआ है। [**संपादक**]

२. आत्मा एकसंख्यक है तथा बद्ध एवं मुक्त द्विविध आत्मा सदैव वर्तमान हैं—इस दृष्टि से आत्मा की गुणातीतता एवं त्रैगुणिक ऐश्वर्य नित्य विद्यमान होते हैं। ऐश्वर्य की सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से नित्य न होने पर भी वह सदैव विद्यमान रहता है—किसी भी काल में उसका सर्वथा अभाव नहीं होता, यह ज्ञातव्य है। **[संपादक]**

जीवात्मा को बहुसंख्यक ही मानते हैं। सांख्यमत में पुरुष स्वरूपतः निर्गुण हैं। **अन्तःकरण की विशुद्धि के अनुसार पुरुष ईश्वर, अनीश्वर होते हैं।** निर्गुण पुरुष के सम्पर्क में माया किस प्रकार आती है, इसे वेदान्ती लोग स्पष्ट समझा नहीं सकते, इसलिए उनका मत उतना विशद नहीं है।

सगुण (अर्थात् ईश्वरतायुक्त या सत्त्वप्राधान्ययुक्त आत्मा) तथा निर्गुण आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान ऋषि समाज में प्रथम आविर्भूत हुआ था। याग-यज्ञादि प्रवृत्तिधर्म का आचरण सर्वप्रथम है। उसके बाद सगुण-आत्म-विषयक ज्ञान के द्रष्टा कोई कोई ऋषि प्रादुर्भूत हुए थे। आम्भृणी वाक् नामक ऋषिका इसका उदाहरण है। '**अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः**' इत्यादि ऋचा (१०।१२५ सूक्त) में उपर्युक्त ऋषि ने सर्वज्ञता, सर्वव्यापित्व आदि ऐश्वर्य से युक्त सगुण आत्मविषयक ज्ञान का प्रकाश किया है। वेद के संहिताभाग में और भी अनेक स्थलों पर ऐसा सगुण आत्मज्ञान देखा जाता है।

बाद में परमर्षि कपिल ने निर्गुण आत्मज्ञान को प्रकाशित किया। वह क्रमशः ऋषियुग के मनीषी ऋषिवृन्दों में प्रचारित होकर श्रुति में समाविष्ट हुआ। संहिता की अपेक्षा उपनिषद् में ही यह ज्ञान अधिक स्पष्ट रूप में दृष्ट होता है।[1] महाभारतकार सांख्यज्ञान के लिए कहते हैं—'**ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे। यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥**' (शान्तिपर्व ३०१।१७८) अर्थात् हे नरेन्द्र, जो महान् ज्ञान महान् व्यक्तियों में, वेदों के भीतर तथा योगशास्त्रों में देखा जाता है और पुराण में भी विविध रूपों में पाया जाता है वह सांख्य से आया है।

अतएव परमर्षि आदि-विद्वान् कपिल द्वारा प्रकाशित निर्गुण पुरुष उपनिषद् में भी प्रतिपादित हुआ है।

> **"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
> **मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।**
> **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।**" (कठ १।३।१०-११)

---

१. चूँकि प्रत्येक वैदिक संहिता यथाकाल संस्कृत होती हुई आ रही है, अतः यह सर्वथा संभव है कि किसी आचार्य ने स्तुति-प्रधान संहिता में निर्गुण-आत्मज्ञान-परक कोई एक-दो वचन समाविष्ट किये हों। वि मे कर्णा (ऋग् ६।९।६) मन्त्र निर्गुण आत्मा की सत्ता का ज्ञापक है—ऐसा कुछ लोगों का कहना है। वैदिक-संहितागत सभी मन्त्र कर्म में विनियुक्त नहीं हैं—यह तथ्य इस प्रसंग में विचार्य है। **[संपादक]**

इत्यादि श्रुति में सांख्यीय सुमहान् निर्गुण आत्मज्ञान उपदिष्ट हुआ है। वर्तमान श्रुतियाँ वेदान्तियों के अनेकांश में अनुकल होने के कारण लुप्त नहीं हुई हैं, क्योंकि प्रायः हजार डेढ़ हजार वर्षों तक तो वेदान्तियों का ही निरन्तर प्रभाव रहा; किन्तु इससे बहुत सी सांख्य की अनुकूल श्रुतियाँ लुप्त हो गईं। व्यासभाष्यकार ने ऐसी श्रुति को उद्धृत किया है जो वर्तमान श्रुतिग्रन्थों में नहीं मिलती, जैसे **'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरिति श्रुतेः'** (२।२३)

यह श्रुति काललुप्त किसी शाखा में रही होगी। प्रचलित कुछ श्रुति-ग्रन्थों में सगुण तथा निर्गुण आत्मज्ञान निर्विशेष रूप से[1] उल्लिखित हुए हैं। और इस प्रकार उनका भेद स्पष्ट न होने के कारण बहुत से साधारण बुद्धि के लोग विभ्रान्त हो जाते हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पहले कर्मकाण्ड का उद्भव हुआ और बाद में सगुण आत्मज्ञान और उसके बाद सांख्यीय निर्गुण पुरुषज्ञान प्रकट हुआ। सम्पूर्ण आत्मज्ञान-प्रकाशन का यही अविर्भावक्रम है। महर्षि पञ्चशिख ने जिस सांख्यदर्शन का प्रणयन किया था और जो अब लुप्त हो गया है (जिसका कुछ अंशमात्र व्यासभाष्य में उद्धृत होने के कारण लुप्त होने से बच सका) उसमें लिखा है कि **"आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"** (१।२५ भाष्य)। निर्गुण ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति का निर्देश करनेवाला यह कथन उपयुक्त है। यह पौराणिकों की काव्यमय काल्पनिक[2] आख्यायिका नहीं है, प्रत्युत एक दार्शनिक का ऐतिहासिक वाक्य है।

---

१. 'निर्विशेष रूप से' कहने का तात्पर्य यह है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन इस प्रकार मिश्रित रूप से इन ग्रन्थों में किया गया है कि अनेक स्थलों में विवेक करना कठिन हो जाता है, जिसका फल यह हुआ कि किसी भी उपनिषद्-वाक्य से किसी भी भाव की व्याख्या करना साम्प्रदायिक आचार्यों के लिए सहज हो गया है। दार्शनिक ग्रन्थों में जिस प्रकार स्पष्ट तथा विषयविभाग-पूर्वक विचार किया जाता है, वैसी पद्धति उपनिषदों में शायद ही स्पष्टतया कहीं मिलती हो। मैक्स मुलर को भी Unsystematic character of the Upaniṣads कहना पड़ा है। (*Vedanta philosophy*, p. 22) **[संपादक]**

२. 'काव्यमय काल्पनिक' कहने का तात्पर्य यह है कि पुराणों में अतिरञ्जित रूप से अंशतः मिथ्या का आश्रय करके भी प्राचीन घटनाओं का विवरण दिया गया है। पुराणों पर गवेषणा करने वाले सभी विद्वान् इस तथ्य से परिचित हैं। यों 'कपिल के

धर्मयुग की कल्पना—परमर्षि कपिल के आविर्भाव के बाद भारत में धर्मयुग का प्रवर्त्तन हुआ। मोक्षधर्म में सुलभा और जनक के संवाद में है :—

'अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥'

(शान्तिपर्व ३२०।७)[1] इस धर्मयुग की अनुस्मृति से बाद में पौराणिक सत्ययुग कल्पित हुआ है। उस धर्मयुग में मिथिला में ब्रह्मविद्या का अत्यधिक प्रचार था। जनकवंशीय जनदेव, धर्मध्वज, कराल आदि नृपतिगण आत्मज्ञानी थे (द्र० विष्णुपु० ४।५।१४; देवीभागवत ६।१५।३०)। उस समय महर्षि पञ्चशिख संन्यास लेकर विदेहादि देशों में विचरण करते थे। महाराज जनदेव जनक ने उनसे ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त की थी (द्र० शान्तिपर्व २१८।२२–२१९।५२); इधर काशीराज अजातशत्रु भी आत्मज्ञानी थे। किन्तु मिथिला की इस प्रकार की ख्याति थी कि जिज्ञासु तथा विद्वान् लोग प्रायः विदेहराज्य में जाते थे। कौषीतकी उपनिषद् में अजातशत्रु ने कहा है—'**जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति** (४।१; द्र० बृहदा० २।१।१) अर्थात् आत्मविद्या के निमित्त 'जनक जनक' पुकारते हुए लोग मिथिला को दौड़ते हैं।

सांख्यसूत्र

उस धर्मयुग में महर्षि पञ्चशिख ने कपिल के उपदेशों का अवलम्बन करके सांख्यसूत्र का प्रणयन किया। मोक्षधर्म के मनन या युक्तिपूर्वक निश्चय करने के लिए ही मोक्ष-दर्शन है। A History of civilization in ancient India ग्रन्थ में रमेशचन्द्र दत्त ने जो कहा है कि 'पृथ्वी पर सांख्य-दर्शन ही सबसे प्राचीन दर्शन ज्ञात होता है'[2]—यह सर्वथा सत्य है। महर्षि पञ्चशिख का वह ग्रन्थ यद्यपि सम्पूर्ण नहीं मिलता, फिर भी उसके जो

द्वारा आसुरि के प्रति सांख्यज्ञान का उपदेश' पुराणों में उक्त हुआ ही है; द्र० भागवत १।३।१०; गरुड-पुराण १।१।१८ (भागवत का अनुरूप वचन); पद्मपुराण (लघुभागवतामृत-धृत) इत्यादि। [संपादक]

१. 'परिव्रज्या लेकर विहरण करना' स्त्रियों के लिए कोई अप्रसिद्ध कर्म नहीं है; यह शिष्टानुमोदित है। 'विप्रव्राजिनी' शब्द सुलभा-सदृश महिलाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है (आश्वलायन, १।५; गार्हस्थ्यकाण्ड, पृ० २४ में उद्धृत)। [संम्पादक]

२. The Samkhya philosophy—the first closely reasoned system of mental philosophy known in the world." (vol. I, P, 13; ed. 1899) [संम्पादक]

वाक्य उपलब्ध हैं उन्हींमें समग्र सांख्यदर्शन का संग्रह हुआ है। विशेषत: सांख्यकारिका में सांख्य-संबन्धी प्राय: सभी मत संगृहीत हुये हैं। सांख्य युक्तिपूर्ण दर्शन होने के कारण आदिवक्ता की बात के ऊपर ही उसका सब कुछ निर्भर नहीं करता। यही कारण है कि सांख्य का मूलग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी हानि नहीं है।

प्रचलित षडध्यायी सांख्यदर्शन प्राचीन प्रासाद के सदृश[1] है। प्रासाद जैसे समय समय पर संस्कार-परिवर्तन-द्वारा भिन्नभिन्न आकार धारण करता है किन्तु भित्ति आदि अनेक अंश यथावत् रहते हैं, षडध्यायी सांख्यदर्शन भी वैसा है[2]। कारिका और सांख्य-दर्शन छोड़कर तत्त्वसमास या कापिल सूत्र नामक जो ग्रन्थ है उसे अनेक लोग प्राचीन मानते हैं। मैक्स मुलर ने उसमें कुछ अप्रचलित पारिभाषिक शब्द देखकर उसे प्राचीन माना था[3]। वह कुछ

१. 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' सांख्यदर्शन का यह सूत्र बोधिचर्यावतार की पञ्जिका टीका में उद्धृत देखा जाता है। यह पुस्तक ईसवी दशम शताब्दी से पहले, शायद बहुत पहले, रची गई थी, क्योंकि नैपाल में जिस पोथी के आधार पर यह मुद्रित हुई है वह नेपाली संवत् के १९८ वें साल या ई० सन् १०७७ से भी पुरानी पोथी है। (**सम्पादक**—Louis de la Vallee Poussin; प्रकाशक Asiatic Society of Bengal, Calcutta).

२. यह निश्चित है कि षडध्यायी के कुछ सूत्र प्राचीनतर ग्रन्थों से आहृत हुए हैं। सायण से भी प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा षडध्यायी के वाक्य उद्धृत हुए हैं, यह पं. उदयवीर शास्त्री जी ने दिखाया है (द्र० सांख्यदर्शन का इतिहास; 'वर्तमान सांख्यसूत्रों के उद्धरण'--प्रकरण)। मेरा यह युक्तिदृढ़ विश्वास है कि इस षडध्यायी में पञ्चशिख, वार्षगण्य, विन्ध्यवासी आदि अनेक सांख्याचार्यों के वचन संगृहीत हुए हैं, साथ ही कालक्रमानुसार अभिनव वचनों का भी समावेश (प्रचुरमात्रा में) किया गया है। इसके अनेक वाक्य प्राचीन, प्राचीनतर होने पर भी सज्जीकृत ग्रन्थ के रूप में यह बहुत प्राचीन नहीं है। इस विषय में मैक्स मुलर ने उचित ही कहा है—Sūtras of the Sāṁkhya philosophy contain some of the most ancient as well as the most modern sūtras (*S. S.I. P*, p. 280)। जो यह कहते हैं कि विज्ञानभिक्षु ने भी कुछ सूत्रों का प्रक्षेप प्रचलित सांख्यसूत्र में किया है, उनको यह जानना चाहिए कि भिक्षुप्राचीन अनिरुद्ध ने भी उन सब सूत्रों की व्याख्या की है जिसकी व्याख्या भिक्षु ने की। [**सम्पादक**]

३. द्र० *S. S. I. P.* pp. 294--300; तथा—'This large number of technical terms is certainly surprising. Some of them, as, for

प्राचीन अवश्य है पर अधिक प्राचीन नहीं[1]; उसकी सभी टीकाएँ अत्यन्त आधुनिक हैं। अप्रचलित पारिभाषिक शब्द उसकी प्राचीनता नहीं, वरन् आधुनिकता ही प्रमाणित करते हैं। तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्द के प्राचीन होने से उन्हें अधिक प्रचलित रहना चाहिए था; पर जब ऐसा नहीं देखा जाता तब नूतन पारिभाषिक शब्द अप्राचीनता का ही सूचक है—ऐसा समझना चाहिए।

सांख्ययोगसम्प्रदाय

प्राचीन भारत में मुमुक्षु सम्प्रदाय के भीतर सांख्य तथा योग ये दो सम्प्रदाय बहुत काल तक प्रचलित रहे। सगुण आत्मज्ञान के आविर्भूत

---

instance, सुची, पद, अवधारित, etc., are not mentioned either in the Kārikās or in the sūtras and thit, which has been taken for a sign of their more recent date, seems to me, on the contrary, to speak in favour of an early and independent origin of the *Tattvasamāsa* and its commentary. If these technical terms were modern inventions, they would occur more frequently in modern works ont he Sāṁkhya philosophy, but as far as I know, they do not." (*S. S. I. P.* p. 354)। मुलर के इस सन्दर्भ में जो तीन शब्द (सूची आदि) उदाहरण के रूप में उपन्यस्त हुये हैं, वे तत्त्वसमास की किसी भी टीका में प्रयुक्त नहीं हुये हैं। सिद्धि-तुष्टियों एवं उनके विपरीत असिद्धि-अतुष्टियों के अनेक अप्रचलित पारिभाषिक नाम इन टीकाओं में हैं, पर ये नाम उनमें नहीं मिलते। या तो इन नामों की आनुपूर्वी को लिखने में मुलर को भ्रम हुआ है अथवा उनके पास जो हस्तलेख थे उनमें ये नाम थे। हमारी दृष्टि में प्रथम पक्ष ही अधिक संभावित है। [सम्पादक]

1. तत्त्वसमाससूत्र की प्राचीनता के विषय में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य है। भगवदज्जुकीयम् नाम के ग्रन्थ (बोधायनकवि-कृत) में तत्त्वसमास का उद्धरण है; यह ७०० ई० के पूर्व का ग्रन्थ है (द्र० T. R. Chintamani का लेख. *J. O. R.* Madras. vol. II, pp. 145-147)। इस प्रकार यह ग्रन्थ ७-८ शताब्दी के शंकराचार्य से भी प्राचीन सिद्ध होता है। युक्तिदीपिकाटीका (२९ का) में इस ग्रन्थ का 'पञ्च कर्मयोनयः' सूत्र उद्धृत है; सम्भवतः सूत्र की कोई व्याख्या भी उद्धृत है (यह व्याख्या युक्तिदीपिकाकारकृत नहीं है)। 'तत्त्वसमास' सांख्यकारिका से अर्वाचीन है--यह कीथ ने कहा है (*Samkdya System*, p. 83). [सम्पादक]

होने पर उसके साथ योग भी अवश्य आविष्कृत हुआ था। कारण यह है कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन या समाधि के बिना किसी प्रकार का आत्मज्ञान साध्य नहीं है। निर्गुण तत्त्व का आविष्कार होने से योग का भी उसके अनुरूप संस्कार हुआ था। परमर्षि कपिल से जिस प्रकार निर्गुण आत्मा का ज्ञान प्रवर्तित हुआ उसी तरह निर्गुण पुरुष को प्राप्त करनेवाला योग भी प्रवर्त्तित हुआ। उदर और पृष्ठ जैसे अन्योन्याश्रित हैं, सांख्य और योग भी वैसे ही हैं। इसलिए प्राचीन शास्त्र में सांख्य तथा योग को एक ही समझने के लिए अनेक उपदेश मिलते हैं।

जो केवल तत्त्वनिदिध्यासन तथा वैराग्य का अभ्यास करके आत्म-साक्षात्कार करते थे वे सांख्यमतावलम्बी थे; एवं जो तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूप क्रियायोग के क्रम से आत्मसाक्षात्कार करते थे वे योगसम्प्रदाय के थे। महाभारत के सांख्ययोगसम्बन्धी कई एक संवादों का यही सारभूत मर्म है। वस्तुतः सांख्य मोक्षधर्म का तत्त्वकाण्ड है तथा योग साधनकाण्ड है।

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' (योगियाज्ञवल्क्य १२।५; शान्ति० ३४९।६५) इत्यादि वाक्यों से जान पड़ता है कि योग का आदिवक्ता हिरण्यगर्भदेव है। हिरण्यगर्भदेव ने किसी स्वाध्यायशील ऋषि में योगविद्या को प्रकाशित किया था, उसीसे संसार में योगविद्या का प्रचार हुआ; अथवा 'हिरण्यगर्भ' यह शब्द कपिल ऋषि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, यह कहा जा सकता है।

'यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षि प्रजापतिम् (शान्ति० २१८।९)
तथा **'विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम्।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६९ ॥
हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि सुष्टुतः।**
(शान्तिपर्व ३३९।६९-७०)

इत्यादि भारत-वाक्यों[1] से जान पड़ता है कि कपिल ऋषि प्रजापति कहलाते थे तथा हिरण्यगर्भ नाम से उनकी स्तुति की जाती थी।

कपिल ऋषि के प्रादुर्भाव के विषय में और भी दो प्रकार के मत हैं। एकमत (सांख्यमत) के अनुसार उन्होंने पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारबल

---

१. ईदृश सन्दर्भ अन्यत्र भी मिलता है—विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम्। कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ९५ ॥ हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः। (शान्ति ३४२।९५–९६) Max Müller इस दृष्टि

से ज्ञानवैराग्यादि से सम्पन्न होकर[1] जन्म लिया और अपनी प्रतिभा के बल से परम पद को प्राप्त कर संसार में उसका प्रचार किया। दूसरे मत (योगमत) के अनुसार उन्होंने ईश्वर (सगुण ईश्वर या हिरण्यगर्भ) से ज्ञान प्राप्त किया था। **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति'** इत्यादि श्वेताश्वतर उपनिषद् (५।२)[2] के वाक्य में यह मत प्रकट हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् प्राचीन योगसम्प्रदाय का ग्रन्थ है।

फलत: कपिल के पहले जैसा सगुण आत्मज्ञान का प्रचार था, वैसा योग का भी था। कपिल ने निर्गुण पुरुषविद्या तथा कैवल्यप्रापक योग का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने पूर्वसंस्कार से ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न होकर जन्मग्रहण किया और साधनबल से ईश्वरानुग्रह अथवा आत्मशक्ति के द्वारा

को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं—"हिरण्यगर्भ कपिल may have given birth to Kapila, the hero of the Sāṁkhya philosophy, but Kapila, a real human person, was never changed into Hiraṇyagarbha Kapila." (*S. B. E.*, Vol 15, Intro. p XI) **[सम्पादक]**

१. सांसिद्धिक (नामान्तर प्राकृतिक) भावों से अन्वित पुरुषों के उदाहरण में कपिल का नाम लेकर पूर्वाचार्य इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (द्र० सांख्य-कारिका ४३ की टीकाएँ) **[सम्पादक]**

२. शंकराचार्य ने 'ऋषिं प्रसूतम्…' इत्यादि श्वेताश्वतरवाक्य का उद्धरण देकर (द्र० शारीरकभाष्य २।१।१) कहा है कि 'कपिल' इस सामान्य शब्द के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह मन्त्र सांख्यवक्ता कपिल को लक्ष्य करता है। यह युक्ति ठीक है (ऋषि शब्द भी कपिलवर्ण हिरण्यगर्भ को लक्ष्यकर प्रयुक्त हो ही सकता है), पर इससे इस वाक्य की सांख्याचार्य-कपिल-परता का निराकरण नहीं हो जाता—दो प्रकार से ही व्याख्या की जा सकती है। यह ज्ञातव्य है कि विष्णुसहस्रनाम-गत 'महर्षिः कपिलाचार्यः' के शांकरभाष्य में भी यह वाक्य उद्धृत हुआ है, जहाँ इसको सांख्यवक्ता-कपिल-परक ही माना गया है। उपनिषद्-आरण्यकों में ऐतिहासिक ऋषियों के नामादि हैं—यह अनपलाप्य है। यदि उपनिषदादि में कथित चरित ऐतिहासिक न माने जाते तो इन व्यक्तियों के आचरण को देखकर आचरण करने का उपदेश न दिया जाता; द्र० ब्रह्मसूत्र 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्' (३।४।२८)। श्वेताश्व० ५।२ के शांकरभाष्य से भी ज्ञात होता है कि इस वाक्य का सांक्यवक्ता कपिल परक अर्थ भी प्रचलित था।] **संपादक]**

परमपद-लाभ करके उसका प्रकाश किया था। उसीसे प्रचलित सांख्य-योग का प्रवर्तन हुआ है।

योगसूत्र तथा व्यासभाष्य—योगसूत्र प्रचलित षड्दर्शनों में सबसे प्राचीन हैं। उसमें किसी दार्शनिक मत का उल्लेख या खण्डन नहीं है, केवल अपने पक्ष के सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए शङ्काओं का समाधान किया गया है। उदाहरणार्थ '**न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्**' (४।१९) इस सूत्र में उस शङ्का का निराकरण किया गया है जो स्वभावत: उठती है। ऐसी शङ्का दूसरे किसी सम्प्रदाय का मत नहीं भी हो सकती है।

भाष्यकार ने सूत्र के द्वारा अनेक स्थलों पर बौद्धमत का परिहार किया है, किन्तु सूत्रकार ने केवल स्वाभाविक न्यायदोष का ही निराकरण मात्र किया है। कहीं पर भी उन्होंने बौद्धादि मतों का निराकरण नहीं किया। केवल '**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्**' इस सूत्र (४।१६) में बौद्ध मत का (यह बौद्धों द्वारा उद्भावित मत नहीं भी हो सकता) आभास पाया जाता है, किन्तु यह सूत्र भाष्य का ही अङ्ग था—ऐसा जान पड़ता है। भोजराज ने इसे सूत्ररूप में स्वीकार नहीं किया। अत: बौद्धमत का प्रचार होने से भी पहले पातञ्जल योगदर्शन रचा गया था, ऐसा अनुमान हो सकता है।

व्यासभाष्य सभी प्रचलित दर्शनों के भाष्यों से अधिक प्राचीन है[1]। पर वह बौद्ध-मत के प्रचार के बाद रचा[2] गया। उसकी सरल प्राचीन भाषा—प्राचीनतम बौद्ध ग्रन्थ की भाषा की भाँति भाषा—और न्यायादि अन्य दर्शनों के मतों का अनुल्लेख, उसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। यह व्यास जी द्वारा रचित है[3]। अवश्य ही ये व्यास महाभारतकार

१. ग्रन्थकार स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है कि व्यासभाष्य ईसापूर्व चतुर्थ या पञ्चम शती में रचित हुआ था (प्रज्ञापारमिता की भूमिका, पृ० २५; बंगला ग्रन्थ)। त्रिपिटक रचना के पूर्व जब बौद्धदार्शनिक विचार प्रारम्भिक अवस्था में था पर उसकी चर्चा खूब हो रही थी तब यह भाष्य रचा गया—ऐसा उनका मत है। **[संपादक]**

२. व्यासभाष्य बौद्धमत के बाद प्रणीत हुआ—इस मत के लिए सर्वबलिष्ट युक्ति है—भाष्य में बौद्धसंप्रदाय के नामों का उल्लेख। द्र० क्षणिकवादी (४।२०) तथा वैनाशिक (४।२१,२४) शब्द। **[संपादक]**

३. सम्पादक के मत में व्यासभाष्यशब्दान्तर्गत व्यासशब्द से व्यास-उपाधिधारी किसी व्यक्ति का निर्देश नहीं है। योगसूत्र की किसी लघु व्याख्या के आधार पर यह

कृष्णद्वैपायन व्यास नहीं हैं। बुद्ध के कुछ काल[1] के बाद जो व्याज जो थे उन्हीं के द्वारा यह भाष्य रचा गया। अतिदीर्घजीवी एक व्यास की कल्पना करने की अपेक्षा अनेक व्यासों को स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है। प्रत्येक कल्प में व्यास का आविर्भाव होता है, यह प्रवाद वास्तव में व्यास की अनेकता का द्योतक है। पुराण में यह भी मिलता है कि २८ व्यास हुए हैं[2]। न्याय के प्राचीन वात्स्यायन भाष्य में व्यासभाष्य[3] उद्धृत हुआ है। कनिष्क

भाष्य बाद में लिखा गया। अतः यह 'व्यासभाष्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। मूल में 'व्यासेन उक्तं भाष्यम्' (व्यासेन=विस्तरेण) कहा जाता था; बाद में व्यासशब्द से व्यास-उपाधि का भ्रम होने के कारण 'व्यासेन' का अर्थ 'व्यास-नामक व्यक्ति के द्वारा' समझा गया। विस्तार के साथ इस मत के प्रतिपादन के लिए मेरा भविष्य में प्रकाश्य *Vyāsabhāṣya—A study* ग्रन्थ द्रष्टव्य है। **[संपादक]**

१. बुद्ध के काल के विषय में मतभेद है। विलियम जोन्स ने तिब्बती-चीनी स्रोतों के आधार पर बुद्ध का काल १०२७ ई० पू० माना था। अन्यों के अनुसार यह काल १६३१ ई० पू० है। बुद्धजन्मकाल प्रायः ५६७ ई० पू० के आस पास माना जाता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ४८३ ई० पू० एवं ६४३ ई० पू० भी माना है। कइयों का मत है कि बुद्ध का जन्म ईसा-पूर्व ५८२ में और निर्वाण ५०२ में (ई० पू० ५०१, अप्रिल १५) हुआ। इस मत के सयुक्तिक एवं सविस्तार प्रतिपादन के लिए मुनि श्री नगराज जी कृत 'महावीर और बुद्ध की समसामयिकता' लेख द्रष्टव्य (जैन भारती, वर्ष ११।४–११।१० अङ्क)। बुद्ध को ई० पू० १४८६ के आसपास आविर्भूत मानने की जो परम्परा है, वह यदि वस्तुतः सत्य प्रमाणित हो तो त्रिपिटक का रचनाकाल भी प्राचीनतर सिद्ध होगा। इस प्रकार की दृष्टि रखने वालों में भी अवान्तर मतभेद है। किसी के अनुसार बुद्ध की मृत्यु १८०७ ई० पू०, अन्य के अनुसार १८५१ ई० पू०। इस दृष्टि के मानने वाले कहते हैं कि अलेकजन्डर (सिकन्दर) का युद्ध जिस चन्द्रगुप्त से हुआ था वह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त था, मौर्यवंशीय नहीं। **[संपादक]**

२. पुराणों में विभिन्न मन्वन्तरों में होने वाले २८ व्यासों के नाम मिलते हैं (द्र० कूर्मपु० १।५२।१–१०; विष्णुपु० ३।३; लिङ्गपु० १।७ आदि) जिनमें कृष्णद्वैपायन २८ वाँ है। **[संपादक]**

३. वात्स्यायन भाष्य (१।२।६) का वाक्य हैं—"यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते। अपेतोऽपि विकारोऽस्ति, विनाशप्रतिषेधात्; सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतु र्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्ति इत्यनेन

के समय के भदन्त धर्मत्रात आदि ने भी व्यास-भाष्य का उल्लेख किया है। (देखिये शान्तरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत टीका, त्रैकाल्य-परीक्षाप्रक०)।

योगसूत्र तथा व्यासभाष्य के जैसे विशुद्ध तर्कसम्मत, गम्भीर और पूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ संसार में नहीं है। सूत्रकार के न्यायानुसारी लक्षण, युक्ति-शृङ्खला तथा प्राञ्जलता, सभी अतुलनीय हैं। उनकी गम्भीर और निर्मल मेधाशक्ति की थाह पाना कठिन है। व्यासभाष्य की भाँति सारवान् विशुद्ध न्यायपूर्ण तथा गम्भीर दार्शनिक पुस्तक दूसरा नहीं है। यह प्राचीन भारत के दार्शनिक गौरव का अवशिष्ट सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

सांख्ययोग एवं बौद्ध-जैनधर्म

पहले ही कहा गया है कि सांख्ययोग का प्रचलित ग्रन्थ अपेक्षाकृत आधुनिक होने पर भी सांख्य-योग-विद्या बहुत पुरानी[1] है। जिस प्रकार

स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते॥" व्यासभाष्य का वाक्य है—तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, कस्मात् नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् (३।१३)। यह आश्चर्य है कि न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि-टीका में भाष्यवाक्य की व्याख्या के प्रसंग में यह नहीं कहा गया है कि भाष्यसन्दर्भ का लक्ष्य व्यासभाष्य है, यद्यपि टीकाकार तथा परिशुद्धिकार दोनों ही व्यासभाष्य से परिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वार्षगण्य के सम्प्रदाय में यह मत प्रचलित था, क्योंकि युक्तिदीपिका में कहा गया है—"तथा च वार्षगणाः पठन्ति--तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम्, सौक्ष्म्याच् च अनुपलब्धिः (१० कारिकाटीका)। न्यायभाष्यकार का लक्ष्य कौन ग्रन्थ है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर उनके लिए वार्षगण्य के ग्रन्थ की अपेक्षा व्यासभाष्य से ही इस मत को जानना अधिक संभव प्रतीत होता है। विरुद्ध हेत्वाभास के उदाहरण के रूप में वात्स्यायन ने उपर्युक्त वाक्य कहा है। इस मत में विरुद्ध नामक हेत्वाभास वस्तुतः नहीं होता, यह विवरण-टीका में दिखाया गया है (द्र० विवरण ३।१३ गत सन्दर्भ—तदेतदनिर्ज्ञाय पराभिप्रायम्…पृ० २४९)। [**संपादक**]

१. सांख्यं च योगञ्च सनातने द्वे (शान्ति० ३४९।७३)। कभी सांख्ययोग के विशद विवेचन-कारक प्राचीन ग्रन्थ थे, जो बाद में संक्षिप्त किए गए हैं। देवल का कथन है—एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युवितत: समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्य उद्देशतो वक्ष्यन्ते……(याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१०९ अपरार्क टीका)। [**संपादक**]

उसका ज्ञान उच्चतम है, उसका न्याय जिस प्रकार विशुद्धतम तथा अन्ध-विश्वास के कलङ्क से पूर्णतः शून्य है, उसी प्रकार उसका शील भी विशुद्धतम है। अहिंसा-सत्यादि की अपेक्षा विशुद्ध शील और मैत्री-करुणादि की अपेक्षा अधिक पवित्र भावना नहीं हो सकती। बौद्ध लोगों ने इस सांख्ययोग-संमत शील का भलीभाँति ग्रहण किया है[1] और उसका प्रचार साधारण जनप्रिय (popular) कहानियों के रूप में करने के कारण वे दुनिया भर में पूजित हो रहे हैं।

बुद्ध ने पहले कालाम गोत्र के अराड़ (अलारकालामो-पालि)[2] मुनि से शिक्षा प्राप्त की। बुद्ध-चरितकार अश्वघोष, जिन्होंने पूर्वप्रचलित सुत्तसमूह से अपने महाकाव्य की रचना की थी, इस बात से परिचित थे कि अराड़ मुनि[3] सांख्यमतावलम्बी आचार्य थे। अराड़ ने कहा है— **प्रकृतिश्च विकारश्च जन्ममृत्यू जरैव च। (१७), तत्र च प्रकृतिर्नाम विद्धि प्रकृतिकोविदः। (१८), पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च।** इत्यादि।

---

१. भारतीय अध्यात्मज्ञान-परम्परा में अज्ञ होने के कारण पाश्चात्य मनीषी प्रायः बुद्धपूर्वभव योगसाधनों को बौद्धों द्वारा (या बुद्ध द्वारा) प्रथमतः अनुष्ठित रूप से समझते हैं। मैत्त्र्यादि चार शीलों के विषय में Rhys Davids कहते हैं — 'which are certainly distinctively Buddhistic.' (*Buddhist India* p. 197)। इन पाश्चात्त्य विचारकों को यह ज्ञात नहीं कि बुद्धपूर्व रूप से स्वीकृत जो उपनिषदें (बृहदारण्यक आदि) हैं उनमें इन साधनों का विशद प्रतिपादन है। मैक्स मुलर सदृश व्यक्ति ने भी संहिता-ब्राह्मणारण्यकगत उपनिषदों को बुद्धपूर्व माना है (*S. B. E.* vol. I, Introduction p. 72). **[संपादक]**

२. अलार कालाम एवं रुद्रक रामपुत्र के परिचय के लिए द्र० : अरियपरियेसन सुत्त (मज्झिमनिकाय), बोधिराजकुमारसुत्त (वहीं); सङ्गारवसुत्त (वहीं); संयुक्तनिकाय, जातकान्तर्गत निदानकथा, मिलिन्द पन्ह, बुद्धचरित (१२ वाँ सर्ग), अट्ठशालिनी, महापरिनिब्बान सुत्त (दीघनिकाय)। इन ग्रन्थों में अराड कालाम के गभीरध्यान का विवरण भी कहीं-कहीं दिया गया है। 'कालाम' गोत्रनाम है, यह बुद्धचरित में स्पष्टतया कहा गया है— स कालामसगोत्रेण (१२।२)। यह किसी संस्कृत गोत्रनाम का अपभ्रष्ट रूप प्रतीत होता है। **[संपादक]**

३. ललितविस्तर (पृ० १७४) में अराडकालाप नाम है। ये वैशालीनिवासी थे। अश्वघोष के अनुसार इनका निवास विन्ध्यकोष्ठ में था। बहुतों के अनुसार इस नाम का संस्कृतरूप है—आडार कालाप। **[संपादक]**

अन्यत्र—ततो रागाद् भयं दृष्ट्वा वैराग्यं परमं शिवम्। निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः श्रमे।' (४८) अन्यत्र—जैगीषव्योऽपि जनको वृद्धश्चैव पराशरः। इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः (६७)।

निश्चय ही अश्वघोष को सांख्यसंबन्धी जिस प्रकार का ज्ञान था उन्होंने उसी रूप में अराड़ के मुँह से उसे कहलाया है और पीछे बुद्ध के मुँह से शुद्ध बौद्धमत कहलाया है। प्राचीन (ईसवी से पहले) बौद्ध लोग दूसरों के मत बहुत कम जानते थे अथवा बहुत कम जानने की चेष्टा करते थे। बुद्ध के समकालीन सम्प्रदाय आजीवक आदि के मत पालि में कतिपय वाक्यों में ही निहित हैं। वे ही सब ग्रन्थों में उद्धृत देखे जाते हैं और वे अत्यन्त अस्पष्ट हैं। अतः अराड़ तथा गौतम का वार्तालाप कवि का काव्यरूप ही है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु इससे यही तथ्य जाना जाता है कि अश्वघोष के समय में तथा उनसे बहुत पूर्व यह प्रसिद्ध था कि अराड़ मुनि सांख्यमतावलम्बी थे।

बुद्धचरित के अंग्रेजी अनुवादक कोवेल (E. B. Cowell) का विचार है कि अराड़ एक प्रकार के सांख्यमत के आचार्य थे। यथार्थ में अश्वघोष ही सांख्यमत को उक्त प्रकार के कुछ विकृतरूप में समझते थे। वह अश्वघोष की ही बात थी, अराड़ की नहीं।[1] अश्वघोष के काव्यानुसार अराड़ से बुद्ध की शिक्षा आधे दिन में ही सम्पन्न हुई थी। परन्तु बुद्ध की पालिभाषामय जीवनी से ज्ञात होता है वे छह वर्षों तक शिक्षाग्रहण करने के बाद साधन के लिए उरुविल्व को गए। अराड़ के पास शिक्षा-ग्रहण करके विशेष शिक्षा

---

१. अश्वघोषकृत सांख्यमत-वर्णन में त्रिगुण का कोई उल्लेख नहीं है, यह देखकर Keith ने यह अनुमान किया था कि अराडमुखोक्त सांख्य प्रसिद्ध सांख्य से विलक्षण कोई मत है (*Sāṁkhya System* : in it might perhaps be seen evidence of the existence of a Sāṁkhya which did not know the guṇas, p. 27)। यह संपूर्ण बालोचित चिन्ता है। सांख्यशास्त्र (तथा अन्यान्य शास्त्र) के प्रसंग में इस प्रकार की उच्छृङ्खल चिन्तायें पाश्चात्त्य विद्वानों के ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिल जाती हैं। परिणाम के विषय में E. H. Johnston ने ऐसी ही एक बात कही है—"The epic does not use the word परिणाम, which belongs to a later stage of philosophical development and need not have originated in the Sāṁkhya school at all" (*Early Sāṁkhya*, p. 33). **[संपादक]**

के लिए वे रुद्रक रामपुत्र (उद्दक रामपुत्त-पालि) के निकट[1] गए और वहाँ शिक्षा की समाप्ति करके साधन में प्रवृत्त हुए थे।

सांख्य का साधन योग या समाधि है तथा बुद्ध ने भी आसन, प्राणायाम आदि के साथ समाधि-साधना की थी। अतः रुद्रक योगाचार्य थे। काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास का दमन करके ध्यान-मग्न होना सांख्ययोग का साधन है।[2] बुद्ध ने भी ठीक ऐसा ही किया था। मारविजय का अर्थ ही काम, क्रोध तथा भय को जीत लेना है। मार लोभ, भय और त्रास दिखाकर उन्हें चञ्चल नहीं कर सका; और सात दिन तक निराहार पूर्वक निरोध समापत्ति में रहने का अर्थ श्वास तथा निद्रा को जीतना है।

बौद्ध लोग तथा कुछ आधुनिक व्यक्ति भी कहते हैं कि बुद्ध ने योग का कठोर आचरण करने पर भी उससे कुछ फल होता न देखकर मध्यममार्ग का अवलम्बन किया था। यह सम्पूर्ण भ्रान्ति है। सांख्ययोग में व्यर्थ की कठोर साधना निषिद्ध है।[3] श्रुति भी कहती है—

'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः॥'

(शतपथ १०।५।४।१५)

---

१. उद्दको रामपुत्तो (पालि)। ललितविस्तर के अनुसार उद्रक रामपुत्र का आश्रम राजगृह में था (पृ० १७४)। बुद्ध कहते हैं कि इनसे उन्होंने नेवसञ्ञानासञ्ञायतन ध्यान (अष्टमसमापति) सीखा था (मज्झिमनिकाय)। मिलिन्द पञ्ह (मिलिन्द प्रश्न) से ज्ञात होता है कि ये बुद्ध के पञ्चम आचार्य थे और पूर्वोक्त अराड़ कालाम चतुर्थ आचार्य। **[संपादक]**

२. कापिल सांख्यों के द्वारा इन पाँच दोषों का नाश कैसे किया जाता था, इसका एक सारवान् विवरण शान्तिपर्व ३०१।५४-५८ में द्रष्टव्य है। **[संपादक]**

३. ज्ञानेनैव विमुक्तास्ते सांख्याः संन्यासकोविदाः। शारीरं तु तपो घोरं सांख्याः प्राहुर्निरर्थकम्॥ (महाभारत अनुशा. १४५ अ० के बाद दाक्षिणात्यपाठ, पृ० ६०१३ गीताप्रेस संस्करण)। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ सांख्यविद् को संन्यासकोविद कहा गया है। सांख्यविद्या के साथ संन्यास का निकटतम संपर्क है। भगवान् पञ्चशिख के लिए प्रयुक्त 'सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये' (शान्तिपर्व २१८।७) वाक्य इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। सांख्याचार्य देवल और हारीत के संन्यासी-धर्मपरक जो वचन मिलते हैं (निबन्धग्रन्थों में उद्धृत) वे भी सांख्यज्ञान के साथ संन्यासधर्म के निकट संबन्ध को सिद्ध करते हैं। **[संपादक]**

अर्थात् अविद्वान् या ब्रह्मविद्या से वर्जित, केवल कायिक तपस्या करने वाले वहाँ नहीं जा सकते हैं। व्यासभाष्य में भी है—**'चित्तप्रसादनमबाधमानमनेन आसेव्यमिति'** (२।१३)। परन्तु बौद्धों के पधान सुत्त में है—**'लोहिते सुस्समानम् हि पित्तं सेम्हञ्च सुस्सति। मंसेसु खीयमानेसु भीय्यो चित्तं पसीदति। भीय्यो सति च पञ्ञा च समाधि चुपतिट्ठति।'** अर्थात् साधन श्रम से खून सुख जाने पर पित्त तथा स्नेह सूख जाते हैं। उसके उपरान्त मांस के क्षीण होने पर चित्त सम्यक् प्रसन्न होता है और भलीभाँति स्मृति, प्रज्ञा तथा समाधि उपस्थित होती हैं। इसमें कठिन तपस्या की ही बात कही गई है। भोजन-लोलुप, वीर्यहीन, परवर्ती बौद्ध लोग ही सुख का मार्ग ग्रहण करने में तत्पर थे।

जैनों के सर्वप्रामाण्य कल्पसूत्र-ग्रन्थ में एवं अन्यान्य प्राचीन सूत्रों में भी "षष्टितन्त्र" (सट्टितंतं) का उल्लेख है (अनुयोगद्वारसूत्र, पृ० ९२)। बुद्ध के समसामयिक महावीर (पालि के निग्गन्थ[1] नाटपुत्त) इन सब विद्याओं में पारंगत थे, यथा—**'रिउव्वेय जजुव्वेय सामव्वेय अहव्वणव्वेय इतिहास पंचमाणं निघण्टु छट्टाणं सट्ठितंत विसारए संखाणे सिक्खा कप्पे वागरणे छन्दे निरुते जोइसामयणे'** (भगवतीसूत्र २।१। २०) अर्थात् महावीर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, निघण्टु, षष्टितन्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष—इन सब विद्याओं में व्युत्पन्न थे। देखा जाता है कि इसमें षडङ्ग वेद तथा सांख्य शास्त्र में व्युत्पन्न होने की बात है, न्याय-वेदान्त आदि अन्य शास्त्रों का उल्लेख नहीं है। इस पर पाठक ध्यान दें। जैनों के योग के भी प्रधान पाँच साधन पाँच यम हैं।

बुद्ध के काल में अराड़ तथा रुद्रक के सम्प्रदाय के श्रमण अवश्य ही थे; विरोधी संप्रदाय होने से उनका उल्लेख निश्चित ही मिलना चाहिए था किन्तु प्राचीन सूत्र में निर्ग्रन्थ, आजीवक, पुराणकाश्यप प्रभृति छह सम्प्रदायों की

---

१ जैनधर्म-प्रवर्तक महावीर के लिए 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र—महावीर ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय थे) शब्द दीघनिकाय में प्रयुक्त हुआ है। 'अयं देव निगंठो नातपुत्तो संघी चैव गणी च···अनुपत्तात्ति' वाक्य में महावीर का परिचय दिया गया है। संयुत्तनिकाय के दहरसुत्त (३।१।१) में तथा दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त (१।१) में यह नाम है (महावीर के लिए)। अनेक जैन विद्वानों की दृष्टि में महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ सितम्बर १३ है। ४९८ ई०पू० में इनका निर्वाण हुआ था—यह मत भी सुप्रचलित है। [संपादक]

चात ही है[1]। पर दीघनिकायान्तर्गत ब्रह्मजाल सूत्र में (जो बुद्ध से कम से कम सौ वर्ष के पश्चात् रचित हुआ है, कारण उसमें लोकधातुकम्पन प्रभृति काल्पनिक बातें हैं) जिन शाश्वतवादों का उल्लेख है उनमें से एक सांख्य को शायद लक्ष्य करता है; यथा "जो तर्क-युक्ति से आत्मा को शाश्वत कहते हैं" इत्यादि। इस वाद का सांख्य मत होना सम्भव है[2]। इस समय के बौद्धगण बुद्ध के मौलिकत्व की स्थापना करने के लिए सचेष्ट थे।

चाणक्य के समय में भी सांख्य, योग और लोकायत ये तीनों ही आन्वीक्षिकी या न्यायोपजीवी दर्शन थे, न्याय, वैशेषिक आदि नहीं थे; द्र० कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (१।२) **'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी'**[3]। सांख्य के प्राचीनत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार की चिरंतन प्रख्याति रहने पर भी कोई कोई आधुनिक ऐतिहासिक सांख्य की प्राचीनता के विषय में संशय करते हैं[4]। यह सर्वथा निस्सार है। द्र० **'सांख्यं विशालं परमं पुराणम्'** (शान्ति० ३०१।११४); इस विषय में संशय करने का कोई भी कारण नहीं है।

---

१. द्र० दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त १।२; यहां ये छह नाम हैं—पूरणकस्सप, मक्खलिगोसाल, अजितकेशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नाथ पुत्त। (महापरिनिब्बानसुत तथा अन्यत्र भी ये नाम हैं; ये पालिशब्द हैं और प्रत्येक शब्द ओकारान्त हैं, तथा पूरणो कस्सपो, अजितो केशकम्बलो इत्यादि)। ईशानचन्द्रघोष कृत जातक-ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के परिशिष्टभाग में (बंगला ग्रन्थ) इन छह आचार्यों का परिचय दिया गया है। **[सम्पादक]**

२. ब्रह्मजाल के शाश्वतवाद के साथ योगशास्त्रीय शाश्वतवाद का संबन्ध नहीं है, यह सत्य है। पर 'तर्कयुक्ति के द्वारा' ऐसा कहने से यह ध्वनित होता है कि वक्ता सांख्यीय दृष्टि के विषय में कुछ न कुछ जानते थे। **[सम्पादक]**

३. आधुनिक कुछ विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि अर्थशास्त्र के इस वचन के अन्तर्गत योग का अर्थ न्यायवैशेषिक शास्त्र है (द्र० फणिभूषण तर्कवागीशकृत न्यायपरिचय, भूमिका, पृ. ३७)। अर्थशास्त्र-व्याख्या जयमङ्गला में योग का अर्थ 'षडैश्वर्यफल चित्तवृत्तिनिरोध' किया गया है। इस अर्थ में कोई भी दोष नहीं है। यदि योग का अर्थ न्याय-वैशेषिक माना जाये तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सांख्यीय तत्त्वों की उपलब्धि का प्रतिपादन करना ही योग का मुख्य विषय है, अतः सांख्य में योग का अन्तर्भाव हो जाता है। **[सम्पादक]**

४. सांख्यीय परिभाषिक शब्दों का प्राचीन उपनिषदों में प्रयुक्त न होना, उन शब्दों का अर्थान्तर में प्रयुक्त होना तथा 'सांख्य' इस शब्द का प्राचीनतम ग्रन्थों का प्रयुक्त

सांख्य की महत्ता—फलतः महर्षि कपिल प्रवर्त्तित ज्ञान और शील के द्वारा आज तक पृथ्वी के जितने मनुष्य आलोकित तथा साधुशील हुए हैं, उतने और किसी धर्मप्रवर्तक के द्वारा नहीं हुए। सांख्य के सत्त्व, रजः और तमः से वैद्यकशास्त्र भी भारतवर्ष में उद्भूत हुआ है। महाभारत में है— **'शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः ॥ तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते। सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय आत्मगुणाः स्मृताः ॥'** (अश्व० १२।३-४)। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के आधार पर शरीर के वात, पित्त और कफ आविष्कृत हुए और इस प्रकार वैद्यकविद्या प्रवर्त्तित हुई एवं व्याप्त हुई। अतएव सांख्य से जगत् जिस प्रकार धर्मविषय में ऋणी है उसी प्रकार बाह्य विषयों में भी ऋणी है (३।२९ योगसूत्र की टीका द्रष्टव्य है)।

सांख्ययोग से अन्यान्य मोक्षशास्त्र उद्भूत हुए हैं। उनमें से अनार्ष दर्शनों में बौद्धदर्शन प्रधान तथा प्राचीन है। और आर्ष दर्शनों में आन्वीक्षिकी या न्याय प्राचीन है, किन्तु वेदान्त प्रधान है। बौद्धदर्शन के विषय इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर विवृत हुए हैं। वेदान्त के विषय भी स्वतन्त्र प्रकरण में आलोचित हुए हैं[1]। तर्कदर्शन (अर्थात् न्याय तथा वैशेषिक) मोक्षदर्शन होने पर भी कभी मुमुक्षु सम्प्रदायों ने उसका आश्रय ग्रहण किया था, ऐसा प्रकट नहीं होता[2]। इन दोनों के मत में योग ही मोक्ष का साधन है, और साधनलभ्य तत्त्वज्ञान मोक्ष का उपाय है। इनके मत में तत्त्व का

न होना—ये तीन हेतु संशयकारी देते हैं। शब्दव्यवहार-संबन्धी प्राचीन नियमों को देखने से उपर्युक्त हेतु सर्वथा हेत्वाभास ही सिद्ध होते हैं। 'आयुर्वेद' शब्द किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं है; क्या इससे यह कहा जायेगा कि यह शास्त्र उस समय सर्वथा अविद्यमान था। प्राचीन उपनिषद् दार्शनिक दृष्टिप्रधान नहीं हैं, अतः उनमें सांख्यीय विचारपद्धति का होना संभव नहीं है। आत्मज्ञान का प्रतिपादन अदार्शनिक पद्धति से तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न करके भी किया जा सकता है। **[सम्पादक]**

१. 'स्वतन्त्रप्रकरण' का तात्पर्य है 'शाङ्कर दर्शन ओ सांख्य' शीर्षक निबन्ध, जो बंगला योगदर्शन में है। **[सम्पादक]**

२. चूँकि न्याय-वैशेषिक में यह स्वीकार किया गया है कि शरीरातिरिक्त आत्मा है तथा अपवर्गरूप एक अवस्था है जिसमें सभी दुःखों (इन दो शास्त्रों के अनुसार दुःख २१ प्रकार का है) का पुनः-उत्पत्तिहीन ध्वंस होता है, इसलिए इन दोनों शास्त्रों को गौण दृष्टि से 'मोक्षदर्शन' माना गया है। पर इतिहास-पुराण आदि

लक्षण यह है—'सतः सद्भावः असतश्च असद्भावः'[1] (वात्स्यायन भाष्य १।१।१)। न्यायमत के अनुसार षोड़श पदार्थों के द्वारा अन्तर्बाह्य सब समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है, किन्तु सूक्ष्म तत्त्वज्ञान में योग की अपेक्षा रहती है[2]। वैशेषिक के अनुसार छह पदार्थों के द्वारा तत्त्व समझा जाता है। न्याय की अपेक्षा वैशेषिकों की युक्तिप्रणाली अधिक विशुद्ध है।[3]

में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जिससे ध्वनित होता है कि किसी ने इन दोनों शास्त्रों में उपदिष्ट मार्ग से अपवर्ग का अधिगम किया है। अपवर्गाधिगम की प्रक्रिया का विशद विवरण भी इन शास्त्रों में नहीं मिलता। न्यायशास्त्र (१।१।१) में जिस 'निःश्रेयस' का उल्लेख है, उसका अर्थ है—तत् तत् विद्या के द्वारा होने वाला सर्वोच्च कल्याण (द्र० न्यायवार्त्तिक आदि)। यह निःश्रेयस अपवर्ग (मोक्ष) नहीं है। [सम्पादक]

१. इस वाक्य का तात्पर्य यह है- भाव पदार्थ का सद्भाव और अभाव पदार्थ का असद्भाव—यही तत्त्व है। असत्पदार्थ वह है जो 'नहीं है' इस बोध का विषय होता है। यह ज्ञातव्य है कि असत् भी पदार्थ है, अतः वह सर्वथा अलीक नहीं हो सकता। भाव पदार्थ में भावसाधक प्रमाण का जो विषयत्व है वही उसका सद्भाव या भावत्व है और यही सत् पदार्थ का तत्त्व है। अभाव पदार्थ में अभाव-साधक प्रमाण का जो विषयत्व है वही असद्भाव है और वही असत् पदार्थ का तत्त्व है। सत् पदार्थ को 'सत्' इस प्रकार से एवं असत् पदार्थ को असत् इस प्रकार से समझना ही तत्त्वज्ञान है। (फणिभूषण तर्कवागीशकृत व्याख्या द्र०)। [सम्पादक]

२. द्र० अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः (न्यायसू० ४।२।४२); तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः (४।२।४६) [सम्पादक]

३. ग्रन्थकार ने क्या समझकर ऐसा कहा है, यह स्पष्ट नहीं है। अनुमानसंबन्धी विचार के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में वैशेषिकशास्त्र का विचार न्यायशास्त्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण, गम्भीर एवं विशद है—यह देखा जाता है। (उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं 'जाति' के विषय में वैशेषिक शास्त्र की सभी विशेष बातें न्यायशास्त्र में सर्वथा स्वीकृत होती हैं, यद्यपि न्यायशास्त्र में जातिसंबन्धी वे सभी बातें नहीं मिलतीं जो वैशेषिक शास्त्र में मिलती हैं। न्यायभाष्य में वैशेषिक के छह पदार्थों का स्पष्टतया अनुमोदन भी किया गया है। चूँकि प्रमेयसंबन्धी ज्ञान का उत्कर्ष वैशेषिक में है, अतः यह भी सिद्ध होता है कि वैशेषिक की युक्तिप्रणाली न्यायशास्त्र की प्रणाली के अपेक्षा अधिकतर विशद है। [संपादक]

सांख्यमत एवं अन्यान्य दर्शन

इसके अनन्तर हम सर्वप्राचीन सांख्यदर्शन के साथ अन्यान्य दर्शनों का सम्बन्ध दिखाकर इस संक्षिप्त विवरण का उपसंहार करेंगे। सांख्य के मूल मत ये हैं :—

(१) त्रिविध दुःखों की निवृत्ति मोक्ष है।
(२) मोक्षावस्था में हमारे अन्तर्वर्त्ती जो निर्गुण अविकारी पुरुष नामक तत्त्व है, उसमें स्थिति होती है।
(३) मोक्ष में चित्त निरुद्ध होता है।
(४) चित्तनिरोध का उपाय समाधिजन्य प्रज्ञा तथा वैराग्य है।
(५) यमादि शील और ध्यानादि-साधन समाधि के उपाय हैं।
(६) मोक्ष होने से जन्म-परम्परा की निवृत्ति होती है।
(७) जन्म-परम्परा अनादि है, वह अनादि कर्म से होती है।
(८) प्रकृति एवं बहु पुरुष यथाक्रम मूल उपादान और हेतु हैं।
(९) पुरुष तथा प्रकृति असृष्ट नित्य पदार्थ हैं।
(१०) ईश्वर अनादि-मुक्त पुरुष-विशेष हैं।
(११) ईश्वर जगत् की अथवा हमारी सृष्टि नहीं करते हैं।
(१२) प्रजापति हिरण्यगर्भ वा 'जन्य ईश्वर'[1] ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं; वे अक्षर हैं, उनके प्रशासन से ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है। ('सांख्येर ईश्वर' निबन्ध[2] द्रष्टव्य है।)

इनमें से बौद्धों ने (१), (३),(४),(५), (६), (७) और(११)मतों को संपूर्ण लिए हैं और (२) मत का आंशिक रूप से ग्रहण किया है; उन्होंने पुरुष

---

१. 'जन्य ईश्वर' में जो 'जन्य' शब्द है, उसका तात्पर्य है—किसी काल में सृष्टिकर्ता होना—ब्रह्माण्ड-सर्जन-सामर्थ्य रूप विभूति (मुख्यतः यत्रकामावसायित्वरूप विभूति जो अणिमादि-अष्टसिद्धियों की अन्तिम सिद्धि है) से युक्त होना। इस कालावच्छिन्नता को दिखाने के लिए 'जन्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसा चित्त भी अन्यान्य चित्त की तरह अनादि है—केवल सिद्धियुक्तता सादि है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यह 'जन्येश्वर' शब्द अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता; सांख्यसूत्र ३।५७ के भिक्षुभाष्य में इसका प्रयोग है। 'कार्यब्रह्म' शब्द से जन्येश्वर ही अभिहित होते हैं; यह शब्द अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों में सुप्रचलित है। **[संपादक]**

२. यह निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। **[संपादक]**

के स्थान पर अंशतः पुरुष-लक्षण-सम्पन्न 'शून्य' नामक अविकारी एवं गुणशून्य पदार्थ लिया है[1]।

महायान बौद्ध आदि-बुद्ध नामक जिन ईश्वर को स्वीकार करते हैं, वे सांख्य के अनादि-मुक्त ईश्वर के तुल्य पदार्थ हैं। महायान और हीनयान दोनों प्रकार के बौद्ध प्रजापति ब्रह्मा को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी अधीश्वरता को उतना स्वीकार नहीं करते हैं।[2]

वेदान्तियों ने इन मतों में से प्रायः सभी का ग्रहण किया है, केवल पुरुष और ईश्वर के सम्बन्ध में वे भिन्न मत रखते हैं। उनके मत में पुरुष तथा ईश्वर वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं; पुरुष अनेक नहीं हैं; हिरण्यगर्भादि के रूप में ईश्वर सृष्टि करते हैं। प्रकृति को ईश्वर की माया या इच्छा कहते हैं; यह अनिर्वचनीय भाव से ईश्वर में रहती है। अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनादिकाल से ईश्वर ने ही अपने को जीव के रूप में प्रकटित किया है। उपर्युक्त विषयों में सांख्य से वेदान्ती पृथक् हैं।

तार्किकों ने प्रायः वे सभी मत ग्रहण किये हैं। पर वे अपने सोलह या छह पदार्थों के अन्तर्गत करके उन्हें समझना चाहते हैं। वे निर्गुण पुरुष का तत्त्व उतना नहीं समझते हैं; वे आत्मा को सगुण मानते हैं। तर्क-दार्शनिक भी सांख्य के समान पूर्णतः युक्तिवादी हैं। बौद्ध-वैदान्तिक आदि मूलतः अन्धविश्वासवादी हैं।[3]

---

१. शून्य के ये लक्षण विचार्य हैं—प्रपञ्चनिवृत्तिस्वभावायां शून्यतायाम् (चन्द्रकीर्तिकृत वृत्ति २४।७); परमार्थमजरममरमप्रपञ्चं निर्वाणं शून्यस्वभावम्···(मूलमध्यमक ५।८); अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, नागार्जुनकृत धर्मसंग्रह आदि में शून्य का जो विवरण दिया गया है, उससे शून्य दृश्यधर्मशून्य भावपदार्थ सिद्ध होता है, जिसमें धर्मधर्मीदृष्टि अप्रयोज्य होती है। शून्य अभावपदार्थ नहीं है, इसके लिए चन्द्रकीर्तिकृतवृत्ति २४।७ द्रष्टव्य है (न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यता-शब्दार्थः)। **[संपादक]**

२. बौद्धशास्त्र में ब्रह्मा (प्रजापति) का उल्लेख बहुत्र मिलता है। 'मैं ब्रह्मा, ब्रह्म-लोक तथा ब्रह्मलोकगामी को जानता हूँ' ऐसा बुद्ध-वचन मज्झिमनिकाय के सुभसुत्त में मिलता है। ब्रह्मा के साथ सालोक्यप्राप्ति के मार्ग का उपदेश यहाँ है। अङ्गुत्तरनिकाय में अजेय सर्वदर्शी ब्रह्मा का उल्लेख है। ब्रह्मजालसुत्त में तथा मज्झिमनिकाय के २४ वें सूक्त में प्रजापति हिरण्यगर्भ सदृश महान् पुरुष का विवरण मिलता है। **[संपादक]**

३. बाह्य एवं आन्तर जगत् की घटनाओं के विश्लेषण करने के समय वाक्यविशेषों का

वैष्णव दार्शनिक भी—विशेषतः विशिष्टाद्वैतवादी—प्रायः उन सभी मतों को ग्रहण करते हैं। सांख्य के समान उनके मत में भी जीव तथा ईश्वर पृथक् पृथक् पुरुष हैं, दोनों के बीच नित्य स्वामी-सेवक का सम्बन्ध है—यह उनका विशिष्ट मत है। जीव तथा ईश्वर नित्य हैं, अतः जीव इनके मत में असृष्ट हैं। पर सांख्य-सम्मत जन्य-ईश्वर के समान इनके ईश्वर विश्व के रचयिता हैं। सांख्य की तरह उनके मत में भी योग के द्वारा ईश्वरवत् हुआ जा सकता है; केवल सम्पूर्ण ईश्वरत्व प्राप्त नहीं होता। मुक्त ईश्वर स्वीय प्रकृति या माया के द्वारा सृष्टि करते हैं, यह मत वेदान्त के पक्ष में है और सांख्य का प्रतिकूल है।[1]

सर्वमूल सांख्य-योग का आश्रय ग्रहण करके कालक्रम से इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मोक्षदर्शन उत्पन्न हुए हैं। मौलिक विषय में ये सांख्य मत का ही आश्रय ग्रहण करते हैं, पर अवान्तर विषयों में इन्होंने अनेक भिन्न दृष्टियों का अवलम्बन किया है।

सांख्ययोग का ह्रास

भारत में आर्ष काल में जब धर्मयुग था, तब मनीषी ऋषिवृन्द सांख्ययोगमत के अनुसार तत्त्वदर्शन करते थे[2]। उस समय मोक्षविषय

प्रधानतः आश्रय करने के कारण, साथ ही प्रयोग-परीक्षण-युक्ति पर पर्याप्त बल न देने के कारण इन दोनों वादियों को अन्धविश्वासवादी कहा गया है। बौद्धों को जिस प्रकार 'यथा तथागत आह' कहकर अपने मतों को उपपन्न करना पड़ता है, वेदान्तियों को भी उसी प्रकार 'इति श्रुतेः' कहना पड़ता है। शब्दादिगुणमय बाह्य जगत् एवं वृत्ति-संस्कारमय आन्तर जगत् के विषय में इन दोनों वादियों ने ऐसे बहुसंख्यक मत कहे हैं, जिनसे सूचित होता है कि साधारण प्रयोग-परीक्षण-शक्ति का भी अभाव इनमें है। [संपादक]

१. सांख्य का कहना है कि जो चित्त वस्तुतः मुक्त है, उसमें सृष्टि-संकल्प नहीं रहता। सृष्टिकारी प्रजापति मुक्तपुरुष नहीं हैं; उनमें विवेक के साथ यथोपयोगी अविवेक भी है। सृष्टि-संकल्प को निरुद्ध करने की शक्ति उनमें नहीं होती, अतः प्राकृतिक नियम के अनुसार उनके अहंकार से ब्रह्माण्ड व्यक्त होता है। [संपादक]

२. कभी ऋषिसमाज में सांख्ययोगानुसारी तत्त्वदर्शन ही प्रचलित था, आजकल प्रचलित विभिन्न-दर्शन-संप्रदायानुसारी दर्शन अस्वीकृत थे, इस विषय में विचारकों को निम्नोक्त तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए—(१) सांख्ययोग के सभी पारिभाषिक शब्द इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, उपनिषद में मिलते हैं; अन्य किसी संप्रदाय के सभी शब्द नहीं मिलते। (२) अध्यात्मज्ञान का नाम लेकर

में कुसंस्कार रूप मल उत्पन्न नहीं हुआ था। उस समय के मुमुक्षु ऋषिगण विशुद्ध न्यायसंगत ज्ञान और विशुद्ध शील का अवलम्बन करते थे। कालक्रम से सांख्ययोग तथा भारतीय लोकसमाज के विकृत हो जाने पर बुद्ध आविर्भूत हुए और उन्होंने पुन: मोक्षधर्म में बल का संचार किया। बुद्ध की महानुभावता के द्वारा सांख्य-योग तथा मोक्षधर्म अधिक परिमाण में जन-साधारण में प्रचारयोग्य हुए। कालक्रम से बौद्धधर्मावलम्बियों के भी विकृत होने पर आचार्य-प्रवर शंकर ने मोक्षधर्म के क्षीण देह में पुन: बल-प्रदान किया।

शंकराचार्य के उपरान्त भारत क्रमश: अध:पतन की चरम सीमा में पहुँचा। अध:पतित अज्ञानाच्छन्न तथा हीनवीर्य भारत के अन्धविश्वास-मूलक युक्तिहीन मोक्षधर्मविरोधी मतसमूहों को ही उपयोगी बताकर उनका प्रचार किया गया। स्वपक्ष-समर्थन के लिए यह कहा जाने लगा कि कलियुग में इस प्रकार का धर्म ही जीव का उद्धार कर सकता है[1]।

सांख्ययोग वा प्रकृत मोक्षधर्म को मानव समाज के अत्यन्त अल्प-संख्यक मनुष्य ही ग्रहण कर सकते हैं। बुद्धदेव ने भी कहा है—**'अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः। इतरा तु प्रजा चाथ तीरमेवानुगच्छति ॥'** (धर्मपद, पण्डितवर्ग १०)। सांख्ययोगी होने के लिए परमार्थोन्मुखी बुद्धि, सम्यक् न्यायकुशल मेधा और विशुद्ध चरित्र परमावश्यक हैं। इन सबों का एक साथ मिलना दुर्लभ है।

जैसे समुद्र सुदूर होने पर भी उसका वाष्प महादेश के अभ्यन्तर को सरस करके प्रजा को संजीवित रखता है, उसी प्रकार सांख्ययोग साधारण मनुष्यों के अगम्य होते हुए भी, उसकी स्निग्ध छाया ने मानव के धर्म-जीवन को संजीवित कर रखा है। साधारण-जन सत्य तथा न्याय के साथ बहुत कम सम्बन्ध रखते हैं। सत्य की अत्यन्त अस्पष्ट छाया के साथ अत्यधिक मिथ्या कल्पनाओं को मिश्रित कर देने पर उनके हृदय उस मिश्रण की

उसका जो विवरण उपर्युक्त शास्त्रों में, विशेषकर इन शास्त्रों के प्राचीन-प्राचीनतर ग्रन्थों में दिया गया है, वह सर्वथा सांख्ययोगानुसारी है; द्र० शान्तिपर्व अ० २४७, २८५, इत्यादि; (३) पुरुष को पञ्चविंश मानने पर यह दृष्टि सांख्यीय ही होती है; यह दृष्टि निरुक्तसदृश ग्रन्थ में मिलती है—सांख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम् (१४।६)। **[सम्पादक]**

१. कुछ जुगुप्सित तान्त्रिक कर्मों के विषय में प्रश्न करने पर अनेक तान्त्रिक यही उत्तर देते हैं कि कलियुग के लोगों के लिए यह मार्ग ही प्रशस्त है। **[सम्पादक]**

ओर कुछ आकृष्ट होते हैं। यदि कहा जाए, **'सत्यं ब्रूयात्'** तो किसी के हृदय में नहीं बैठेगा; किन्तु यदि कल्पना मिलाकर कहा जाए **'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते'** ॥ (आदिपर्व ७४।१०३) तब अनेकों के हृदय आकृष्ट होंगे ।

वस्तुतः साधारण मनुष्यों में, वे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों, जो धर्मज्ञान है वह अत्यधिक मिथ्या कल्पनाओं से मिश्रित सत्य है । हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि धर्म के सम्बन्ध में जो कल्पना करते हैं, उसका यदि एकतम मत सत्य हो तो अन्य सब मिथ्या होंगे । इससे ही समझा जा सकता है कि संसार में कितने मनुष्य भ्रान्त हैं । फलतः "ईश्वर तथा परलोक हैं एवं सत्यादि सत्कर्मों का फल अच्छा होता है" इन दोनों सत्यों की नींव के ऊपर प्रभूत मिथ्या कल्पनाओं का महल निर्माण करके जनता तृप्त है ।

"ईश्वर ने हमारा सृजन किया है" इत्यादि ईश्वर सम्बन्धी अनेकानेक प्रमाणशून्य अन्धविश्वासमूलक कल्पनाओं में जनता भूली रहती है[1] । इसके उदाहरण के लिए बौद्धधर्म का इतिहास देखना चाहिए । बुद्ध का निर्वाण-धर्म भी जन-साधारण में असंख्य काल्पनिक कहानियों में ही फैला, जिनमें अत्यल्प अंश ही सत्य है और अधिकांश भाग मिथ्या है । साधारण बौद्धों का प्रमुख धर्मज्ञान इन्हीं में सीमित था । हमारे अप्राचीन पौराणिक महाशयों ने भी इसी रीति से ही धर्म का प्रचार किया है । परन्तु बुद्ध के प्रभाव से सामान्य बौद्ध निर्वाण धर्म की श्रेष्ठता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, किन्तु सामान्य हिन्दू उसे भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है[2] । परलोक के विषय में भी नाना संप्रदायों की नाना प्रकार की कल्पनायें हैं ।

फलतः बुद्ध, ईसा आदि महापुरुषगण यदि लौट आयें तो जगत् में अपना धर्ममत ढूँढकर भी नहीं पाएँगे; पाने पर भी चकित होकर देखेंगे कि उनके कट्टर भक्तों ने उनके नाम का किस प्रकार से दुरुपयोग किया है ।

जो कुछ भी हो, सांख्ययोग जिस प्रकार की विशुद्ध, न्याय्य एवं मिथ्या-कल्पना-शून्य तथा अन्धविश्वासहीन आन्वीक्षिकी की प्रणाली में है, वह

---

१. घटादिपदार्थों की तरह प्राणी का भी निर्माण किया जाता है—ऐसा मानने-वाले धर्मसंप्रदाय भी अनेक हैं; द्र० A. R. Gordon कृत *The Early traditions of genesis* ग्रन्थ । [**सम्पादक**]

२. तात्पर्य यह कि हिन्दू जनता के सभी सम्प्रदायों में निम्नोक्त मत स्वीकृत नहीं होते हैं कि 'निर्विकार अपरिणामी कोई पदार्थ है', 'परमतत्त्व शरीरादिहीन है',

सर्वसाधारण में अधिक प्रचारयोग्य नहीं हो सकता[1]। बुद्ध अथवा बौद्धों तथा पौराणिकों के द्वारा वह सर्वसाधारण में प्रचारित हुआ था, किन्तु उसका क्या परिणाम हुआ, यह बताया जा चुका है। मनुष्यों का चित्त स्वभावतः ऐसा कल्पना-विलासी है कि विशुद्ध न्याय की अपेक्षा अविशुद्ध कल्पना-मिश्रित न्याय ही उनको कर्मों (सत् या असत्) में अधिकतर प्रेरित करता है। यदि विशुद्ध सत्य धर्म कहा जाए तो प्रायः कोई भी उसे स्वेच्छा से ग्रहण करने के लिए उद्यत न होगा। किन्तु यदि सत्य के साथ अनेक कल्पनाएँ और अत्युक्तियाँ मिला दी जाएँ तो उन्हें सुनने के लिए लोग उमड़ पड़ेंगे।

उपसंहार में वक्तव्य है कि जिनकी ऐसी बुद्धि है कि मोक्षधर्म के मूल-पर्यन्त ग्रहण करने में कहीं पर भी अन्धविश्वास की सहायता नहीं लेनी पड़ती है तथा जिनकी मेधा ऐसी न्यायनिष्ठ है कि न्यायानुसार जो सिद्ध होगा उसी में निश्चितमति होकर कर्त्तव्यमार्ग पर बढ़ने को तैयार होते हैं, कर्त्तव्यमार्ग में चलने के लिए जिन्हें भय, लोभ अथवा अन्धविश्वास से प्रयोजन नहीं होता, जिनके हृदय स्वभाव से ही अहिंसा, सत्य आदि विशुद्ध-शील के पक्षपाती हैं, वे ही सांख्ययोग के अधिकारी हैं[2]।

२. योग क्या है और क्या नहीं है

इस दर्शन की दृष्टि से योग क्या है और क्या नहीं है, यह संक्षेप में कहा जा रहा है। अभ्यास और वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही यथार्थ मोक्षप्रापक योग है। चित्तवृत्ति-निरोध का अर्थ है—मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य सभी ज्ञानोंका निरोध (सम्प्रज्ञात)

'आत्मा का वस्तुतः दैशिक और कालिक अवयव नहीं है', 'कैवल्य रूप सर्वोच्च पद त्रिगुणातीत है' आदि। इन धारणाओं के अभाव में कूटस्थस्थिति रूप निर्वाण का स्वीकार नहीं हो सकता है। [सम्पादक]

१. स्वयं मैक्स मुलर को भी स्वीकार करना पड़ा कि शुद्ध सांख्यीय चिन्ताधारा (जो तत्त्वसमास सूत्रों में प्रतिपादित है) एक dry system है (*S. S. I. P.*, p. 361)। इस प्रकार की चिन्ताधारा वस्तुतः साधारण में प्रचारयोग्य होती नहीं है। [सम्पादक]

२. सांख्ययोग के अधिकारी कौन हैं, इसका निरूपण वसिष्ठ के सांख्योपदेश में (करालजनक के प्रति) मिलता है; द्र० शान्तिपर्व ३०८।३२–३६। भागवतीय कपिलोक्त सांख्योपदेश के अन्त में भी ऐसी चर्चा है (३।३२।२९–४२)। [सम्पादक]

अथवा सर्व व्यावहारिक ज्ञानों का (निद्राज्ञान का भी) निरोध (असम्प्रज्ञात)। अभ्यास का अर्थ है—पुनः पुनः चेष्टा करना। अतएव बार बार चेष्टा वा इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति-निरोध है, वही योग कहलाता है।

चेष्टा न करके अथवा स्वतः वा इच्छा के अनधीन रूप से यदि कदाचित् चित्त का स्तब्धभाव हो भी जाए **तो उसको योग नहीं कहा जा सकता।** देखा भी जाता है कि किसी किसी मनुष्य के चित्त में अकस्मात् स्तब्धभाव आ जाता है। वह अनुभव करता है कि 'उस समय मुझे कोई ज्ञान नहीं था'। इस प्रकार के शारीरिक लक्षणों (यथा सिर झुक जाना, अथवा सीधे बैठे रहने पर भी कुछ निद्रित के से श्वास-प्रश्वास चलना आदि) से स्पष्ट होता है कि यह निद्रा की भाँति एक अवस्था है। अतः उक्त लक्षण के अनुसार यह अवस्था योग नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त मूर्च्छा, हिस्टिरिया प्रभृति में भी इस प्रकार का स्तब्धभाव होता है। यह भी सत्य है कि किसी किसी में स्वाभाविक रूप से थोड़े बहुत दिनों तक रक्तसंचार को रोक रखने एवं निराहार रहने की शक्ति रहती है। **यह भी योग नहीं है।** आसन-मुद्रादि के द्वारा प्राणों को प्रकार-विशेष से थोड़े बहुत दिनों तक रुद्ध कर रखना भी प्रकृत योग नहीं है, क्योंकि उस प्रकार के व्यक्तियों में किसी भी एक अभीष्ट विषय में स्वेच्छापूर्वक चित्त को स्थिर रख सकने की सामर्थ्य नहीं दिखाई देती है।

एक ही ज्ञान को स्थिर रखकर अन्य को रुद्ध करना रूप योग का तारतम्य है। जब एकतान भाव से कुछ काल तक एक ही ज्ञानवृत्ति स्थिर रखी जा सकती है तब उसे ध्यानरूप योगाङ्ग कहते हैं और जब वही एकतानता इतनी प्रगाढ़ होती है कि और सब भूलकर यहाँ तक कि अपने को भी भूलकर, केवल ध्येय विषय में चित्त को स्थिर रखा जाता है तब तादृश **स्वेच्छाधीन स्थैर्य को समाधि कहते हैं।** समाधि का यह लक्षण सम्यक्-रूप से समझना चाहिए। अज्ञ लोग अनेक प्रकार के स्तब्ध भावों को या आविष्टभावों को अथवा बाह्यज्ञानशून्य भाव को अथवा उसी प्रकार के अन्य किसी भाव को जो समाधि समझ बैठते हैं, **उनके साथ योग का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।**

विषयभेद से समाधि भी अनेक प्रकार की होती है; यथा—रूपरसादि-ग्राह्य-विषयक समाधि, अहंकारादि-ग्रहण-विषयक समाधि, अहंभावमात्र-गृहीतृ-विषयक समाधि। इन सबों का नाम सबीज समाधि है। सबीज समाधि का सर्वोच्चभाव अस्मितामात्र में या अहंभाव मात्र में समाहित होना है। अवश्य ही प्रथमतः ध्येय विषय की धारणा का अभ्यास करना

पड़ता है, अनन्तर वह ध्यान में परिणत होता है, और उस ध्यान का अभ्यास करते करते जब ध्यान प्रगाढ़तम होता है तभी उस विषय में समाधि होती है। यथा अंहभावमात्र में समाधि करने के लिए सर्वप्रथम विचार तथा मानसिक प्रक्रिया-विशेष के द्वारा अहंभाव मात्र की धारणा करनी पड़ती है, तदनन्तर उसे एकतान करके ध्यान करना पड़ता है, तत्पश्चात् उसके प्रगाढ़ होने पर अहंबोध-मात्र में समाहित हुआ जा सकता है। तब केवल अहंभावरूप-बोधमात्र ही निर्भासित रहता है और शरीरादि की कठिनतम पीड़ा से भी योगी विचलित नहीं होते (**यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते—गीता** ६।२३)।

अवश्य हो यह समाधि दीर्घकाल तक निरन्तर, यथार्थज्ञानपूर्वक अभ्यास का सापेक्ष है, एवं समस्त बाह्य विषयों में वैराग्य न होने से यह साध्य नहीं होती। समाधि की शक्ति चित्त में आविर्भूत होने से ग्राह्य, ग्रहण, तथा ग्रहीता इनमें से किसी भी विषय में समाहित हुआ जा सकता है। किन्तु अभ्यास के समय जिससे शीघ्र आनन्द लाभ हो, ऐसे विषय लेकर ही ध्यान करने के लिए साधकगण विज्ञ उपदेष्टा के द्वारा उपदिष्ट होते हैं, क्योंकि शब्दरूपादि ग्राह्य विषयों का ध्यान करके शीघ्र आनन्दलाभ नहीं होता एवं सूक्ष्म ग्रहीता आदि विषयों की उपलब्धि भी दूर हो पड़ती है।

साधन करते करते अथवा किसी किसी को स्वतः ही अल्पाधिक आनन्द लाभ होता है; अथवा 'मैं व्यापी हूँ' इत्यादि अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। साधन के फलस्वरूप उस प्रकार की कुछ अनुभूति होने से उसे लेकर धारणा की जा सकती है एवं दीर्घकाल में वह धारणा ध्यान में परिणत हो सकता है। पर जिनकी स्वतः ही वैसी कोई अनुभूति कदाचित् आ जाती है, इच्छापूर्वक नहीं आती, **उसका कोई विशेष फल नहीं होता।** वैसा भाव आने से ही हम उसे धारणा, ध्यान या समाधि की अवस्थाएँ नहीं कह सकते, कारण कि ऐसी दशा में उस स्वभाव के चित्त में आनन्द, व्यापित्व आदि भाव आने पर भी उसमें नाना-वृत्तिप्रवाह चलता रहता है और एकवृत्तिता नहीं आती; **अतएव यह योग के लक्षण में नहीं आता।** उस अनुभूति को लेकर धारणा करने पर ही योगाभ्यास हो सकता है।

समाधि सिद्ध होने से ज्ञान और इच्छाशक्ति का सम्यक् उत्कर्ष होता है। जिसमें यह उत्कर्ष नहीं है, उसकी समाधि-सिद्धि भी नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। कहा जा सकता है कि कोई समाधिसिद्ध योगी यदि ज्ञान की अथवा शक्तिप्रयोग की इच्छा न करे तो उनकी ज्ञानशक्ति का प्रत्यक्ष न होने पर भी तो वे समाधिसिद्ध हो सकते हैं; यह सत्य है, **पर ज्ञान तथा**

शक्ति का बहुस्थलों में प्रयोग करने का प्रयत्न करके भी जो अकृतकार्य हो रहे हैं वे यदि अपने को समाधिसिद्ध कहते हैं, तो उनका यह कथन मिथ्या अथवा भ्रान्त ही समझना चाहिए।

चित्त की सात्त्विक, राजस और तामस, त्रिविध अवस्थाएँ हो सकती हैं। राजस चञ्चलता घटने से ही सात्त्विक स्थिति नहीं आ जाती, तामस अवस्था भी हो सकती है। स्तब्धता उसी प्रकार की चाञ्चल्यहीन अवस्था है, पर वह तामस अवस्था है। केवल वृत्तिरोध ही योग नहीं है, पूर्वोक्त ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता आदि किसी तत्त्व में इच्छापूर्वक स्थिति करके वृत्तियों का जो रोध होता है, वही योग है। स्तब्धता में चित्त इच्छापूर्वक किसी तत्त्व में स्थित नहीं होता। क्लोरोफार्म आदि के फल से भी चित्त की गति रुद्ध होती है, किन्तु उसको लोग अज्ञान अवस्था ही कहते हैं। हिस्टिरिया स्तब्धभाव आदि मानस रोग-विशेष भी उसी प्रकार के हैं। ये सब विवश और जड़ अवस्थाएँ हैं, परन्तु योग स्ववश तथा पूर्ण चेतत अवस्था है। बाह्य दृष्टि से दोनों में कुछ सादृश्य रहने के कारण लोग विभ्रान्त होते हैं, पर ये दोनों चित्तावस्थाएँ तथा परिणाम अन्धकार और आलोक की भाँति विभिन्न तथा विपरीत हैं।

योग का फल है—त्रिविध दुःखों की निवृत्ति। सम्यक् रूप से चित्त स्थिर करके बाह्याभिमान, शरीर-अभिमान, और इन्द्रियाभिमान के ऊपर इच्छामात्र से ही उठने की शक्ति होने पर दुःख-मुक्त हुआ जा सकता है। अतः उक्त पद्धति से चित्त को स्थिर करके सूक्ष्मतम विषयों में न जा सकने पर एवं 'मात्रास्पर्श' (इन्द्रियाभिमान) के त्याग किये बिना दुःखातीत अवस्था में नहीं जाया जा सकता है। **अतएव जो इच्छामात्र से उस प्रकार की अवस्था में नहीं जा सकते, परन्तु अपने को जीवन्मुक्तादि कहते हैं, उनका कहना मिथ्या अथवा भ्रान्त है।** हिस्टिरिया आदि प्रकृति वालों को भी कभी-कभी स्पर्शबोध नहीं रहता, किन्तु यह योग का लक्षण नहीं है—यह पहले ही कहा गया है।

प्रकृत योग दो प्रकार का है, सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार समाधिसिद्ध न होने से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात कोई भी योग नहीं हो सकता। सम्प्रज्ञात योग के लिए चित्त की एकाग्रभूमिका आवश्यक है। ईश्वर-प्रणिधान, सर्वदा ग्रहीता आदि का ध्यान, विशोका प्रभृति का ध्यान द्वारा जब अनायास ही चित्त को एक विषय में स्थिर रखा जा सकता है, और अन्य भाव नहीं आते तब उस प्रकार की चित्तावस्था को एकाग्रभूमिका कहते हैं।

विक्षिप्त भूमिका में कभी-कभी चित्त स्थिर होने पर भी अन्य समय विवश होकर वह कार्य करता है, अतएव उस प्रकार की विक्षिप्त भूमि में सामयिक समाधि कर सकने पर भी स्थायी चित्त-शान्ति नहीं होती, इस कारण एकाग्र-भूमिका की आवश्यकता है। एकाग्रभूमिक चित्त में यदि समाधि हो और उस समाधि के द्वारा प्रज्ञा यदि पूर्ण हो, तब वह प्रज्ञा चित्त में सर्वदा स्थायी रूप से रह सकेगी। इस अवस्था को समापत्ति कहते हैं।

इस रूप से समापन्न होने की शक्ति का लाभ करने के पश्चात् सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव की (ग्रहीता या महान् आत्मा की) उपलब्धि करके उसमें समापन्न हुआ जाए, तो व्यावहारिक जगत् की सर्वोच्च अवस्था में पहुँचा जा सकता है। तत्पश्चात् विवेकज्ञानपूर्वक परवैराग्यबल से जब उस भाव को भी रुद्ध किया जाता है तब **चित्तेन्द्रिय की सम्यक् शान्ति होती है और केवल परम पुरुष रह जाता है।** यही योग का परम फल अर्थात् शाश्वती शान्ति या कैवल्यमोक्ष है।

—: ० :—

पातञ्जलयोगदर्शनम्

ॐ नमः परमर्षये

पातञ्जलयोगदर्शनम्

समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

भाष्यम् । अथेत्ययमधिकारार्थः । योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः । स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तम् एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः ।

तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

१ । अथ योग अनुशिष्ट हो रहा है । सू०

भाष्यानुवाद—(१) 'अथ' शब्द अधिकारार्थक है। योगानुशासन रूप शास्त्र (२) आरम्भ हुआ है, यह जानना चाहिए (३)। योग का अर्थ है समाधि (४); वह चित्त का सार्वभौम धर्म है (अर्थात् चित्त की सभी भूमियों में समाधि हो सकती है)। क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये चित्त की पाँच भूमियाँ हैं (५)।

उनमें (६) विक्षिप्त चित्त में उत्पन्न जो समाधि है, उसमें विक्षेपसंस्कार प्रतिष्ठित रहने के कारण वह समाधि अप्रधानीभूत हो जाती है (७)। अतः वह योग के पक्ष में (योग के लिए उपयोगी) नहीं होती (८)। किन्तु जो समाधि एकाग्रभूमि चित्त में समुद्भूत होकर सत् स्वरूप अर्थ को (९) प्रकर्ष के साथ प्रकट करती है, अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेशों को क्षीण करती है (१०), कर्मबन्धन या पूर्वसंस्कार-पाश को ढीला करती है (११) और निरोधावस्था को उपस्थित करती है, उसको सम्प्रज्ञात योग (१२) कहते हैं। यह सम्प्रज्ञात योग वितर्कानुगत, विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत होता है, जैसा कि आगे (१।१७ सूत्र में) भलीभाँति कहा जाएगा। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर जो समाधि उत्पन्न होती है, वह असंप्रज्ञात है।

टीका। १ म सूत्र (१)

यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय
प्रक्षीण-क्लेशराशिर्विषमविषधरोऽनेकवक्त्रः सुभोगी।
सर्वज्ञानप्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्य नित्यं
देवोऽहीशः स वोऽव्यात् सितविमलतनुर्योगदो योगयुक्तः॥

जगत् पर अनुग्रह करने के लिए जो अपना आदिरूप त्यागकर बहुधा अवतीर्ण होते हैं, जिनकी अविद्यादि क्लेशराशि प्रकृष्टरूपसे क्षीण हैं, जो विषम-विषधर, बहुवक्त्र, सुभोगी और सब ज्ञान के प्रसूतिस्वरूप हैं, जिन्हें भुजंगम-सम्पर्क नित्य प्रीति प्रदान करता है, वे श्वेतविमलतनु योगदाता और योगयुक्त अहीश (नागपति) देव तुम्हारा पालन करें।

यह श्लोक भाष्य के किसी-किसी पाठ में मिलता है, किन्तु यह क्षेपक है। वाचस्पतिमिश्रने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। विज्ञानभिक्षु ने इसकी व्याख्या की है, इसलिए यह वाचस्पतिमिश्र के परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ है। ऐसा छन्द भाष्य जैसे किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता।[1]

१ (२) शिष्ट का शासन=अनुशासन। इन सब सूत्रों में प्रतिपादित योगविद्या हिरण्यगर्भ और प्राचीन महर्षियों के उपदेशों पर आश्रित है। यह सूत्रकार का कोई नूतन आविष्कृत शास्त्र नहीं है।

योगशास्त्र केवल दार्शनिक-युक्तिपूर्ण शास्त्र नहीं है; यह अनुभवसिद्ध पुरुषों द्वारा आविष्कृत और उपदिष्ट हुआ है। यह तथ्य इस प्रकार प्रमाणित होता

---

१. छन्दःशास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ पिङ्गलछन्दः सूत्र में स्रग्धरा छन्द का लक्षण मिलता है (७/२५) तथा भरतकृत नाट्यशास्त्र में स्रग्धरा छन्दस्क-श्लोक प्रयुक्त हुआ है (अ० १६)। इससे स्रग्धरा छन्द की प्राचीनता ज्ञात होती है। ऐसा होने पर भी भाष्यसदृश प्राचीन किसी दार्शनिक ग्रन्थ में स्रग्धराछन्दस्क मङ्गलाचरण श्लोक नहीं मिलता। ग्रन्थादि में मङ्लपरक श्लोक लिखने की पद्धति प्राचीनतम ग्रन्थों में प्रायः दृष्ट नहीं होती, अतः इस भाष्य के आरम्भ में (ग्रन्थकार स्वामीजी के अनुसार जिसका काल ईसा-पूर्व पाँचवी या चौथी शती है) मङ्गलश्लोक अवश्य था—यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह श्लोक शंकर नामक एक अप्रसिद्ध आचार्यकृत महाभाष्यटीका का मङ्गलाचरण श्लोक है (द्र० वरेन्द्र रिसर्च म्युजियम द्वारा प्रकाशित परिभाषावृत्ति, पृ० १२० Appendix)। यह अप्राचीन टीका है। अधुनाप्रकाशित भाष्यविवरणटीका में भी यह श्लोक उल्लिखित नहीं हुआ है। **[सम्पादक]**

है—चित्, असम्प्रज्ञात समाधि आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान इस समय हमें अनुशासन द्वारा सिद्ध होता है, किन्तु सर्वप्रथम इस प्रकार के अनुमान के लिए अनुमेय की प्रतिज्ञा अथवा प्रमेय-विषय-निर्देश की आवश्यकता होती है, क्योंकि अनुमेय का प्राथमिक परिचय यदि न हो तो अनुमान नहीं किया जा सकता। चितिशक्ति आदि का निर्णय-ज्ञान हम लोगों (गुरुशिष्यादि) की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली द्वारा हो सकता है; किन्तु जो आदिम गुरु हैं, जिन्हें किसी ने भी इनकी शिक्षा नहीं दी, वे इन अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान अनुमान द्वारा कैसे कर सकते हैं ? अतएव यही मानना ठीक है कि आदि गुरु ने इन सब विषयों का अवश्य ही प्रत्यक्ष अनुभव किया था। इस विषय पर सांख्य का दृष्टान्त है—**इतरथा अन्धपरम्परा** (सांख्यसू० ३।८१); अर्थात् यदि जीवन्मुक्त या चरम-तत्त्व के साक्षात्कारी पुरुषों द्वारा मोक्षशास्त्र उपदिष्ट न हो तो यह अन्ध-परम्परा के समान होगा। जिस तरह अन्धपरम्परागत उपदेश में दृष्टिगोचर कुछ भी नहीं रह सकता, उसी तरह अप्रत्यक्षदर्शी के उपदेश में कुछ भी प्रत्यक्ष-ज्ञान-साध्य उपदेश नहीं रह सकता। यह कहा जा चुका है कि चित्, मुक्ति आदि विषयों का ज्ञान अतीन्द्रिय होने के कारण या तो शिक्षणीय होगा अथवा साक्षात्करणीय। आदिम गुरु के लिए वह ज्ञान शिक्षणीय नहीं हो सकता, इसलिए आदिम उपदेष्टा का वह प्रत्यक्षानुभव है।

ये विषय काल्पनिक अथवा प्रतारणामात्र नहीं हैं, यह अनुमानप्रमाण द्वारा निश्चित होता है। आदिम उपदेशकों द्वारा अनुभूत विषयों को प्रमाणित करने के लिए दर्शनशास्त्र रचित हुआ है। शास्त्र में लिखा है—**श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः**[1] ॥ अर्थात् श्रुतिवाक्यों से सुनना चाहिए, युक्तियों से मनन करना चाहिए; मनन के बाद निरंतर ध्यान करना चाहिए। ये सब (श्रवण, मनन, ध्यान) दर्शन या साक्षात्कार के हेतु हैं। इनमें से श्रुति में कहे हुए विषयों का मनन करने के लिए ही सांख्यशास्त्र का आरम्भ हुआ है। सांख्यप्रवचनभाष्य के रचयिता विज्ञानभिक्षु ने भी यही कहा है—**तस्य श्रुतस्य मननार्थं मथोपदेष्टुम्** इत्यादि (मङ्गलाचरण-श्लोक २)। महाभारत में भी कहा गया है—**सांख्यं वै मोक्षदर्शनम् (शान्तिपर्व ३००।५)**।

१ (३) अर्थात् 'अथ' शब्द के द्वारा यही समझाया गया है कि इस सूत्र के द्वारा योगानुशासन का अधिकार या आरम्भ किया गया है।

१ (४) योग शब्द के अनेक पारिभाषिक, यौगिक और रूढ़ अर्थ हैं, जैसे, जीवात्मा और परमात्मा की एकता, प्राण और अपान का संयोग आदि। किन्तु

---

१. 'श्रोतव्य······'श्लोक मानव उपपुराण नामक एक अमुद्रित उपपुराण का है; द्र० विवरणप्रमेयसंग्रह की सम्पादकीय टिप्पणी, पृ. २। [**सम्पादक**]

इस शास्त्र में योग का अर्थ समाधि समझना चाहिए। यह अर्थ द्वितीय सूत्रोक्त लक्षण द्वारा स्पष्ट होगा।

१ (५) 'चित्त की भूमि' का अर्थ है—चित्त की सहज या स्वाभाविक अवस्था। चित्तभूमियाँ पाँच प्रकार की हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें जो चित्त स्वभावतः अत्यन्त अस्थिर है, जिस चित्त में अतीन्द्रिय विषयों की विचारणा के लिए जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है उतनी नहीं है, और जिस चित्त को सम्पूर्ण तत्त्वों की सत्ता अचिन्त्य प्रतीत होती है, वह चित्त क्षिप्तभूमिक है। प्रबल हिंसा आदि प्रवृत्तियों के वश में आकर ऐसे चित्त में भी कभी-कभी समाधि हो सकती है। महाभारत की कथा में जयद्रथ इसका दृष्टान्त है। पाण्डवों से हार कर प्रबल द्वेष के कारण इसका चित्त शिव में समाहित हुआ था, ऐसा वर्णन है (वनपर्व २७१।२५–३०)।

दूसरी भूमि 'मूढ़' है। जो चित्त किसी इन्द्रियविषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्वचिन्तन करने में अयोग्य हो जाता है, वह मूढ़भूमिक चित्त है। क्षिप्त की अपेक्षा यह चित्त मोहक विषय में सहज ही समाहित (लवलीन) हो जाता है, इसलिए यह द्वितीय है। लोग कामिनी-कांचन के अनुराग से इन विषयों में ध्यानमग्न हो जाते हैं, ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। ये मूढ़चित्त में समाहित होने के दृष्टान्त हैं।

तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' है। विक्षिप्त का अर्थ है—जो क्षिप्त से विशिष्ट हो। अधिकांश साधकों के चित्त विक्षिप्तभूमिक होते हैं। जिस अवस्था में चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है और कभी-कभी चंचल हो जाता है, वह विक्षिप्त है। क्षणिक स्थिरता के कारण विक्षिप्त-भूमिक चित्त श्रवण-मनन आदि द्वारा तत्त्वों के स्वरूप का अवधारण करने में समर्थ होता है। मेधा और सद्वृत्तियों की न्यूनता या अधिकता के कारण विक्षिप्तचित्तवाले मनुष्यों के असंख्य भेद हैं। विक्षिप्त चित्त में भी समाधि हो सकती है किन्तु वह सदाकाल-स्थायी नहीं होती, क्योंकि इस भूमि की प्रकृति कभी स्थिर और कभी अस्थिर होती है।

चतुर्थ 'एकाग्रभूमि' है। जिस चित्त का अग्र वा अवलम्बन एक है उसे एकाग्रचित्त कहते हैं। सूत्रकार ने कहा है—**शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः** (३।१२ सूत्र) अर्थात् एक वृत्ति निवृत्त होने पर यदि उसके बाद ठीक तदनुरूप वृत्ति उठे और उसी तरह की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे, तो ऐसे चित्त को एकाग्रचित्त कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता जब चित्त का स्वभाव हो जाती है, जब दिन रात में अधिकांश समय चित्त

एकाग्र रहता है, यहाँ तक कि स्वप्नावस्था में भी एकाग्र स्वप्न होता है,[1] तब ऐसे चित्त को एकाग्रभूमिक कहते हैं। एकाग्रभूमि वशीकृत होने पर संप्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि ही वस्तुतः योग या कैवल्य की साधक है। श्रुति कहती है—**यो हैनं पाप्मा मायथात्सरति न हैनं सोऽभिभवति** (**शतपथ ब्रा० ११।१।६।१२**) अर्थात् अज्ञात या अवश भाव से जो पाप मन में आते रहते हैं, वे ऐसे ज्ञानवान् अर्थात् सम्प्रज्ञानवान् को अभिभूत नहीं कर सकते।

पाँचवीं चित्तभूमि का नाम 'निरुद्धभूमि' है। यह शेष अवस्था है। निरोध समाधि के (१।१८ सूत्र देखिए) अभ्यास द्वारा जब चित्त का चिरस्थायी निरोध वशीकृत हो जाता है, तब चित्त की उस अवस्था को निरोधभूमि कहते हैं। निरोध-भूमि द्वारा चित्त विलीन होने पर कैवल्य होता है। संसार में जितने भी जीव हैं उन सब के चित्त साधारणतया इन पाँच अवस्थाओं में ही रहते हैं। इनमें कौन भूमि समाधि के लिए उपादेय और कौन भूमि समाधि के लिए अनुपादेय है, भाष्यकार इसी का विवेचन कर रहे हैं।

१ (६) उनमें=भूमियों में। क्षिप्तभूमिक और मूढ़भूमिक चित्त में क्रोध, लोभ, तथा मोह आदि से भी कहीं-कहीं जो समाधि हो जाती है वह समाधि कैवल्य को सिद्ध नहीं करती। विक्षिप्तभूमिक चित्त में भी इसी कारण कैवल्य नहीं होता है।

१ (७) जिस अस्थिर चित्त को समय-समय पर समाहित किया जा सकता है, उसे विक्षिप्त चित्त कहा गया है। जिस समय स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है उस समय अस्थिरता दबी रहती है। पुराणों में अनेक समाहित-चित्त ऋषियों को अप्सराओं द्वारा तपोभ्रष्ट होने का जो वर्णन है, वह ऐसे अप्रधान विक्षेप के कारण ही होता है।

१ (८) योग के पक्ष में=कैवल्य के पक्ष में। समाधि टूटने पर विक्षेपों का फिर उदय होता है, इसलिए समाधि से प्राप्त प्रज्ञा चित्त में भलीभाँति ठहरने नहीं पाती। अतएव जब तक ये सब विक्षेप दूर होकर चित्त में सदा के लिए एकाग्रता नहीं आ जाती, तब तक वह एकाग्रता कैवल्य की साधक नहीं हो सकती।

१ (९-१२) जिस योग के द्वारा बुद्धि से लेकर भूतपर्यन्त समस्त तत्त्वों का सर्वतोमुखी और प्रकृष्ट या सूक्ष्मतम ज्ञान होता है और जिस ज्ञान के पश्चात्

---

१. जागरित अवस्था के संस्कार से स्वप्न होता है। जागरित अवस्था में यदि बहुत समय तक सहज ही चित्त एकाग्र रहे तो स्वप्न में भी वैसा ही रहेगा। एकाग्रता का लक्षण है—ध्रुवा-स्मृति अथवा सर्वदा आत्म-स्मृति। उसके संस्कार से स्वप्न में भी आत्मविस्मरण नहीं होता, केवल शारीरिक स्वभाव से इन्द्रियाँ जड़ रहती हैं।

उस विषय में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता, वही सम्प्रज्ञात योग है। एकाग्रभूमि में समाधि होने पर ही सम्प्रज्ञात योग होता है। एकाग्रभूमि में चित्त को सहज ही अभीष्ट वस्तु में ईप्सित समय तक संलग्न रखा जा सकता है। पदार्थ का जो सत्य ज्ञान है उसे सदा चित्त में रखना ही मनुष्य मात्र के लिए अभीष्ट है, कारण सत्य ज्ञान को चित्त में स्थिर रख सकने पर कोई भी मिथ्या ज्ञान नहीं चाहता है। विक्षिप्त भूमि में संयम द्वारा सूक्ष्म ज्ञान होने पर भी विक्षेप के उदित होने पर वह ठहरता नहीं। इसलिए एकाग्रभूमिक चित्त में ही चिरन्तन समाधिज्ञान हो सकता है।

जो ज्ञान चिरस्थायी है (अर्थात् बुद्धि के अवस्थानकाल तक रहने वाला है) और जिसकी अपेक्षा कोई सूक्ष्मतर ज्ञान नहीं हो सकता तथा जो अभिभूत नहीं होता वही चरम सत्य ज्ञान है। उस सत्य ज्ञान का ज्ञेय-विषय सद्रूप है। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि एकाग्रभूमि-जात समाधि से सत्स्वरूप अर्थ प्रकाशित होता है; इस कारण उस समय जिस क्लेशवृत्ति को या कर्म को ज्ञान-वैराग्य के द्वारा त्याग दिया जाता है, उसका त्याग सदा के लिए होता है। इसलिए इस अवस्था में क्लेशों का क्षय भी होता है और कर्मबन्धन भी शिथिल पड़ जाते हैं। सभी ज्ञेय वस्तुओं का चरम ज्ञान होने पर वैराग्य के द्वारा जब ज्ञानवृत्ति को भी अवलम्बनहीन कर क्षीण किया जाता है तब उसको 'निरोध-समाधि' कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग में पदार्थ का अन्तिम (सम्पूर्ण) ज्ञान या सम्प्रज्ञान होता रहता है, इसलिए यह योग निरोधावस्था को सामने उपस्थित कर देता है।

एकाग्रचित्त की समाधि के चार कार्य हैं: सत्स्वरूप अर्थ का प्रकाश, क्लेश-क्षय, कर्म-बन्धन-शैथिल्य और निरोधावस्था की समुपस्थिति। इसकी प्रक्रिया यह है—समाधि द्वारा भूत का स्वरूप या तन्मात्र ज्ञात होता है (देखिये सूत्र १।४४)। तन्मात्र में सुख, दुःख और मोह नहीं हैं। अर्थात् जो योगी तन्मात्र का साक्षात्कार करते हैं वे तन्मात्र (बाह्यजगत्) से सुखी, दुःखी या मुग्ध नहीं होते। समाधि की अवस्था में विक्षिप्तभूमिक चित्त में इसी प्रकार का ज्ञान होता है, किन्तु जब दबा हुआ विक्षेप फिर उदित होता है तब वह चित्त पुनः सुखी, दुःखी और मुग्ध हो जाता है। किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त में ऐसा नहीं होता। उसमें समाधिप्रज्ञा दृढ़ हो जाती है। अतः विक्षिप्त भूमि में समाधि द्वारा पदार्थ का प्रज्ञान तो हो सकता है, पर एकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञान (या सर्वतोभाव से प्रज्ञान) चिरस्थायी होता है। क्लेश आदि के विषय में भी ठीक इसी तरह समझना चाहिए।

उदाहरणार्थ—किसी को धन के विषय में अनुराग या आसक्ति है; यदि उसी विषय के विराग-भाव में चित्त की समाधि हो जाए तो उतने समय के लिए हृदय से वह राग हट-सा जाता है; परन्तु चित्त एकाग्रभूमिक होने पर वह वैराग्य चित्त में भली-भाँति बैठ जाता है। राग आदि के क्षय होने पर उनसे उत्पन्न होने वाले कर्म भी एक-एक कर सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। इस क्रम से निरोधावस्था आ जाती है।

यह ध्यान रहे कि संप्रज्ञात योग समाधिमात्र नहीं है। चित्त में समाधि-प्रज्ञा का भली-भाँति स्थिर हो जाना ही सम्प्रज्ञात योग कहलाता है।

●

भाष्यम्—तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रम्प्रववृते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत् परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः।

चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि; तदवस्थं संस्कारोपगं भवति, स निर्बीजः समाधिः; न तत्र किंचित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः। द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त द्विविध योग का लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र रचा गया है—

२। चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है (१)। सू०

सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण न करने से (अर्थात् "सर्वचित्तवृत्तियों का निरोध योग है" ऐसा न कह कर केवल "चित्तवृत्ति का निरोध योग है" इस प्रकार कहने से) संप्रज्ञात को भी 'योग' कहा गया है। प्रख्या या प्रकाशशीलत्व, प्रवृत्तिशीलत्व और स्थितिशीलत्व इन तीन स्वभावों के कारण चित्त (सत्त्व, रजः और तमः इन तीन गुणों का विकार स्वरूप) त्रिगुणात्मक है (२)।

प्रख्यारूप चित्तसत्त्व में (३) यदि रजः और तमोगुण का संसर्ग रहे तो उसे ऐश्वर्य और विषय प्रिय लगते हैं। वही चित्त यदि केवल तमोगुण के साथ ही संलग्न हो तो उसकी प्रवृत्ति अधर्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य में होती है(४)। चित्त का मोह रूप आवरण पूर्णतया हट जाने पर ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य, इन तीन विषयों की पूर्ण प्रज्ञा उदित होती है। और इस अवस्था में रजोगुण द्वारा कुछ अभिभूत (५) होने पर चित्त में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। जब रजोगुण का यह अस्थिरतारूप मल लेशमात्र भी नहीं रहता तब चित्त स्वरूप-स्थित (६) हो जाता है। उसमें केवल बुद्धि और पुरुष का भेदज्ञान रहता है और तब शीघ्र ही धर्ममेघसमाधि सिद्ध हो जाती है। (इसकी व्याख्या ४।२९ में की गई है)। ध्यायी जन इसे 'परम-प्रसंख्यान' कहते हैं।

चितिशक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शितविषया, शुद्धा और अनन्ता है (७) और यह विवेकख्याति सत्त्वगुणात्मिका (८) है, इसीलिए यह चितिशक्ति के विपरीत है। अतः विवेकख्याति की समलता के कारण विवेकख्याति में भी विरक्त होकर चित्त उसको निरुद्ध कर देता है। इस अवस्था में चित्त संस्कारोपगत रहता है। यही निर्वीज समाधि है। इसमें किसी प्रकार का सम्प्रज्ञान न होने के कारण इसे असम्प्रज्ञात (९) भी कहते हैं। इसलिए चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग दो प्रकार का है।

टीका २ (१) चित्तवृत्ति का निरोध या योग सर्वश्रेष्ठ मानसिक बल है। शान्तिपर्व ३१६।२ में लिखा है—**'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्'**; सांख्य जैसा ज्ञान नहीं है और योग जैसा बल नहीं है। वृत्ति के निरोध को मानसिक बल क्यों कहा गया है इसकी व्याख्या यह है—वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना अर्थात् अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को किसी विषय में स्थिर रखने का नाम योग है। स्थिरता और ध्येय विषय के भेद के अनुसार योग के अनेक अंगभेद होते हैं। विषय घटपटादि बाह्य द्रव्य ही नहीं हैं, मानसिक भाव भी ध्येय विषय हो सकता है। जब चित्त में स्थिरताशक्ति उत्पन्न होती है तब कोई भी मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रखी जा सकती है। अतएव हमारी सब से बड़ी दुर्बलता यही है कि हम अपने चित्त में सदिच्छा को स्थिर नहीं रख पाते। किन्तु वृत्ति स्थिर होने पर सब सदिच्छाएँ मन में स्थिरता प्राप्त कर सकती हैं, इसलिए ऐसे पुरुष में मानसिक बल विद्यमान रहेगा। इस स्थैर्य की जितनी वृद्धि होगी उतना ही मानसिक बल भी बढ़ेगा। स्थिरता की अन्तिम सीमा का नाम समाधि (अपने को भूले हुए की तरह इच्छित विषय पर चित्त को स्थिर रखना) है।

श्रुति और दार्शनिक युक्ति द्वारा दुःख का कारण और शाश्वत शान्ति का उपाय समझ लेने पर भी हम केवल मानसिक दुर्बलता के कारण दुःख से मुक्त नहीं हो पाते। तैत्तिरीय २।४।१ श्रुति का उपदेश है—**'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'** (अर्थात् ब्रह्मानन्द को जानने वाले किसी से नहीं डरते); ऐसा जानकर और मरण-भय की अज्ञानता समझ कर भी केवल मानसिक दुर्बलता के कारण हम निर्भय नहीं हो पाते। किन्तु जिन्हें समाधि-बल प्राप्त हो जाता है वे शक्तिसम्पन्न और स्वतन्त्र पुरुष पूर्णरूप से शुद्धि प्राप्त कर त्रिताप से मुक्त हो सकते हैं। इसलिए शास्त्र कहता है—**'विनिष्पन्न-समाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्'**॥ (विष्णु-पुराण ६।७।३५)। समाधिसिद्ध होने पर उसी जन्म में ही मुक्ति हो सकती है। श्रुति में भी इसलिए श्रवण और मनन के पश्चात् निदिध्यासन (ध्यान या समाधि) के अभ्यास का उपदेश है।

पूर्वोक्त कथन से सहज ही समझा जा सकता है कि समाधि के विना कोई मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति समाधिबल से प्राप्त करने के योग्य परम धर्म है। श्रुति में कहा है—**'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'**[1]। (कठोप० १।२।२४); याज्ञवल्क्यस्मृति में है—**'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'** (१।८) अर्थात् योग के द्वारा जो आत्मदर्शन होता है वही परम (सर्वश्रेष्ठ) धर्म है। धर्म का फल सुख है; आत्मदर्शन की अवस्था में या मुक्तावस्था में दुःखनिवृत्ति की या इष्ट भाव की अन्तिम कोटि रूप शान्ति का लाभ होता है, इसलिए आत्मदर्शन परम-धर्म कहलाता है।

संसार में जो लोग मोक्षधर्म का आचरण कर रहे हैं वे सभी उसी परम-धर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं। ईश्वर की उपासना का प्रधान फल चित्त की स्थिरता है। दान आदि कर्मों और संयम-मूलक कर्मों का फल भी परम्परासम्बन्ध से चित्त की स्थिरता ही है। अतएव संसार के समस्त साधक, जानकर या अनजाने ही, इस सार्वजनीन चित्तवृत्ति-निरोधरूप परम-धर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं।

२ (२) प्रकाश, क्रिया और स्थिति इन तीन धर्मों का विशेष विवरण २।१८ सूत्र की टिप्पणी में देखिए। भाष्यकार दिखा रहे हैं कि क्षिप्त आदि चित्तों में कौन-से गुणों की प्रबलता होती है और कौन-से विषय प्रिय लगते हैं।

२ (३–४) चित्त-रूप में परिणत जो सत्त्वगुण है, वही चित्तसत्त्व अर्थात् विशुद्ध ज्ञानवृत्ति है। वही चित्तसत्त्व जब रजः और तमोगुण द्वारा अनुविद्ध

---

१. अर्थ—जो दुराचरण से विरत नहीं है, अशान्त है, असमाहित है एवं अशान्तमानस है, वह केवल ज्ञान से आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। [सम्पादक]

होता है अर्थात् जो चित्त चांचल्य और आवरण के कारण प्रत्यग्-आत्मा के ध्यान में निविष्ट नहीं होता, वह ऐश्वर्य और शब्दादि-विषयों में अनुरक्त रहता है। उसी तरह क्षिप्त-भूमिक चित्त आत्म-ध्यान और विषय-वैराग्य में सुखी नहीं होता। वह प्रायः ऐश्वर्य से अथवा इच्छापूर्त्ति द्वारा शब्दादि विषयों के ग्रहण से सुखी होता है। ऐसे व्यक्तियों (यदि वे साधक हों) के मन में अणिमा आदि सिद्धियाँ अथवा (असाधकों को) लौकिक ऐश्वर्य की कामनाएँ प्रबल भाव से उठती हैं और वे पारमार्थिक तथा लौकिक विषयों के उपदेश, शिक्षा और आलोचना आदि करके सुखी होते हैं। सत्त्वगुण का उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव और इतर गुणों का पराभव जितना होता जाता है उतना ही वाह्य विषयों को छोड़ कर आन्तरिक भाव में स्थिति प्राप्त कर वे सुखी होते हैं। विक्षिप्त-भूमिवाले पुरुष प्रकृत निवृत्ति या शान्ति नहीं चाहते किन्तु शक्ति का उत्कर्षमात्र चाहते हैं।

जिस चित्त में चित्तसत्त्व प्रबल तमोगुण द्वारा अभिभूत है, ऐसे चित्तवाले लोग (मूढ़-भूमिक) प्रायः अधर्म अर्थात् परिणाम में अधिकतर दुःखप्रद कर्म का आचरण करते हैं और वे अज्ञान या विपरीत (परमार्थ-विरोधी) ज्ञान से युक्त होते हैं। वे वाह्य विषयों के बड़े अनुरागी होते हैं तथा प्रधानतः मोह के वश में आकर ऐसा आचरण करते हैं जिसका फल अनैश्वर्य या इच्छा की अप्राप्ति होती है।

२ (५) रजोगुण का काम चांचल्य अर्थात् एक भाव से दूसरे भाव को प्राप्त करना है। मोहरहित चित्त को ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यरूप त्रिविध विषयों की प्रज्ञा होती रहती है। इसी से उस चित्त में भी कुछ चंचलता रहती है अर्थात् अभ्यास और वैराग्यरूप साधन में तत्पर रहना रूप चंचलता रहती है।

२ (६) लेशमात्र रजोगुणरूप मल के हटने पर अर्थात् सत्त्वगुण के चरम विकास होने पर चित्तसत्त्व अपने स्वरूप में स्थित होता है, अर्थात् पूर्णरूप से सात्त्विक प्रसाद-गुण प्राप्त करता है, जैसे अग्नितप्त निर्मल कांचन मलजनित विकृत वर्ण को त्याग कर निजी रूप धारण कर लेता है। साथ ही वह पुरुष-स्वरूप में अथवा पुरुष-विषयक प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होता है। इसको विवेक-ख्याति-विषयक समापत्ति कहते हैं। इस प्रकार का चित्त विवेक-ख्याति में अर्थात् बुद्धि और पुरुषस्वरूप के भेदज्ञान में लगा रहता है। जब विवेक-ख्याति 'सर्वथा' होती है, अर्थात् जब विवेकख्याति अपने वाह्यफल सर्वज्ञत्व और सर्वाधिष्ठातृत्व में विरक्त होकर विप्लव (=मिथ्याज्ञान) से शून्य हो जाती है, तब उसे धर्ममेघ-समाधि कहते हैं (४।२९ सूत्र देखिये)।

परम प्रसंख्यान का अर्थ है—पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार अथवा विवेकख्याति। व्युत्थान को सम्यक् रूप से निरुद्ध करने के लिए यही उपाय है। धर्ममेघ समाधि द्वारा क्लेश की पूर्णतया निवृत्ति होने के कारण और इस अवस्था में सर्वज्ञतादि विवेकज-सिद्धियों में भी वैराग्य होने के कारण इसे ध्यायी लोग परम प्रसंख्यान कहते हैं।

२ (७) चितिशक्ति के पाँच विशेषण हैं—शुद्धा, अनन्ता, अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा और दर्शितविषया। दर्शितविषया—सब विषय जिसके निकट (बुद्धि द्वारा) दर्शित होते हैं; अर्थात् जिसकी सत्ता से बुद्धि के चेतनायुक्त होने पर बुद्धिस्थित विषयों का प्रतिसंवेदन[1] होता है। यह स्वप्रकाश शक्ति समस्त विषयों को प्रकाशित करने के कारण कुछ क्रियाशील अथवा विकृत नहीं हो जाती, अतएव कहते हैं, 'अप्रतिसंक्रमा' अर्थात् प्रतिसंक्रम (=संचार-कार्य अथवा विषय में संक्रान्त होना) से रहित अर्थात् निष्क्रिय और निर्लिप्त। अपरिणामिनी अर्थात् विकारशून्य। शुद्धा का अर्थ सात्त्विक प्रकाश के समान आवरण-शील चंचल नहीं, अपितु वह चितिशक्ति पूर्ण और स्वप्रकाश है, यह भाव इससे ज्ञापित होता है। इसी प्रकार अनन्ता का अर्थ है—'अन्त' पदार्थ के साथ जिसका संयोग ही न हो सके। असंख्य परिमित अवयवों की समष्टि द्वारा जो अनन्तता होती है, वह चिति में कल्पित नहीं की जा सकती।

२ (८) अर्थात् विवेकबुद्धि सत्त्वगुण-प्रधान है। प्रकाशक के सम्बन्ध से जो प्रकाश आविर्भूत होता है और जो अपने नित्य-सहचर रजः और तमोगुण के द्वारा न्यूनाधिक आवृत और चंचल है उसी को सात्त्विक प्रकाश या बुद्धि का प्रकाश कहते हैं। इसीलिए बुद्धि द्वारा प्रकाश्य होने वाले विषय (शब्दादि और विवेक) परिच्छिन्न और नश्वर हैं। इस कारण स्वप्रकाश चितिशक्ति से बुद्धि भिन्न है, यह समझा जाता है। समाधि द्वारा बुद्धि का साक्षात्कार करके निरोध-समाधि द्वारा चैतन्यमात्र का अधिगम होने पर बुद्धि और चैतन्य के पार्थक्य का बोध करने वाली प्रज्ञा को विवेकख्याति वा बुद्धि और पुरुष का भेद-ज्ञान कहते हैं (देखिए सूत्र २।२६)। विवेकख्याति द्वारा परम वैराग्य और तत्पश्चात् चिरस्थायी चित्तनिरोध होने पर उसे कैवल्यावस्था कहा जाता है।

२ (९) समस्त ज्ञेय विषयों का सम्प्रज्ञान हो जाने पर वैराग्य के फल-स्वरूप यह सम्प्रज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है, इसलिए इस समाधि का नाम असम्प्रज्ञात है। पहले सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त किए बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती।

---

१. प्रतिसंवेदन योगविद्या का एक पारिभाषिक शब्द है; द्र० १।७, २।२० आदि सूत्रों का भाष्य। **[सम्पादक]**

भाष्यम्—तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव इति—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये, व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—चित्त द्वारा उस प्रकार की निरोधावस्था प्राप्त किये जाने पर विषयों के अभाव से बुद्धि-बोधात्मक (१) पुरुष का स्वभाव कैसा होता है ?

३। उस अवस्था में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। सू०

उस समय चितिशक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है। जिस प्रकार कैवल्यावस्था में रहती है उस प्रकार इसमें भी रहती है (२)। चित्त की व्युत्थान-अवस्था में चितिशक्ति (परमार्थतः) उस प्रकार की (स्वरूप में प्रतिष्ठित) होने पर भी (व्यवहारतः) वैसी नहीं रहती (क्यों ? इसका उत्तर निम्न सूत्र में कहा गया है)।

टीका ३ (१) बुद्धिबोधात्मक—विषयाकार में परिणत बुद्धि का बोद्धा या साक्षीस्वरूप। प्रधान बुद्धि अहं-प्रत्यय है।

३ (२) अर्थात् इस अवस्था की तरह वृत्ति की सम्यक् निरुद्धावस्था ही कैवल्य है। निरोधसमाधि चित्त का लय है और कैवल्य चित्त का प्रलय है। द्रष्टा की 'स्वरूपस्थिति' तथा वृत्तिसारूप्य रूप 'अस्वरूपस्थिति'—ये दो केवल बाह्य दृष्टि से कहने के लिए ही हैं। यह केवल कहने के लिए ही कहा जाता है, जो प्रतीतिमात्र है। निरोधावस्था के सम्बन्ध में १।१८ की टीका देखिए।

भाष्यम्—कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वात्।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः; तथा च सूत्रम् 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति।

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—क्यों ?—दर्शितविषयत्व ही इसका कारण है (१)।

४। दूसरी (विक्षेप) अवस्था में वृत्तियों के साथ (पुरुष का) सारूप्य (प्रतीत) होता है। सू०

व्युत्थान-अवस्था में जो भी चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं, उनके साथ पुरुष का अविशिष्ट-रूप से वृत्ति या ज्ञान होता है। इस विषय में (पञ्चशिखाचार्य का) सूत्र प्रमाण है, यथा—'एक ही दर्शन, ख्याति ही दर्शन है (२) [अर्थात् लौकिक भ्रान्त-दृष्टि से 'ख्याति या बुद्धिवृत्ति ही दर्शन है', इस प्रकार बुद्धिवृत्ति के साथ दर्शन (बुद्धि से अतिरिक्त पौरुषेय चैतन्य) एकाकार की तरह प्रतीत होता है]।

चित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के समान निकटस्थ होने पर ही उपकारक है (३), वह दृश्यत्व गुण के द्वारा स्वामी पुरुष का 'स्व' स्वरूप होता है (४)। इसीलिए पुरुष के साथ अनादि संयोग ही चित्तवृत्ति के उपदर्शन का कारण होता है (५)।

टीका ४ (१) दर्शितविषयत्व पहले ही (१।२ सूत्र) कहा जा चुका है। बुद्धि और पुरुष के एक प्रत्यय के अन्तर्गत हो जाने के कारण अत्यन्त निकट से चित्स्वभाव पुरुष के द्वारा बुद्धि में आरूढ़ विषयों का प्रकाश होता है। इस रूप से बुद्धिगत विषयों के प्रकाश का हेतु-स्वरूप होने के कारण, पुरुष बुद्धिवृत्ति से अभिन्न की तरह प्रतीत होता है।

४ (२) पञ्चशिख एक अतिप्राचीन सांख्याचार्य थे। पुराणों में कहा गया है कि कपिल मुनि के शिष्य आसुरि के शिष्य पञ्चशिख थे। पञ्चशिखाचार्य ने ही सर्वप्रथम सांख्यशास्त्र को सूत्रशैली में रचा। भाष्यकार ने अपने मतों की पुष्टि के लिए पञ्चशिखाचार्य की जिन उक्तियों को उद्धृत किया है, वे सब अमूल्य रत्न हैं। जिस ग्रन्थ में से ये उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, वह आजकल अप्राप्य या लुप्त हो गया है।

पञ्चशिख के सम्बन्ध में महाभारत में कहा है—

[1]'सर्वसंन्यास-धर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः॥

---

१. अर्थ—पञ्चशिख सम्पूर्ण संन्यास धर्म के ज्ञाता और तत्त्वज्ञान के निर्णय में एक सुनिश्चित सिद्धान्त के पोषक थे। उनके मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे। उन्हें ऋषियों में अद्वितीय बताया जाता है। वे कामना से सर्वथा शून्य थे। वे मनुष्य के हृदय में अपने उपदेश द्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुख की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। सांख्य के विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिल का ही स्वरूप बताते थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्चशिख के रूप में आकर लोगों को आश्चर्य में डाल रहे हैं (गीताप्रेस—संस्करण का अनुवाद)। [सम्पादक]

ऋषीणामाहुरेकं यं कामादवसितं नृषु ।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥
यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥[१]

इत्यादि (शान्तिपर्व २१८।७-९) । पञ्चशिखवाक्यस्थ 'दर्शन' शब्द का अर्थ चैतन्य है और 'ख्याति' शब्द का अर्थ बुद्धिवृत्ति या बौद्ध प्रकाश है।

४ (३) विज्ञानभिक्षु ने इस दृष्टान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) शरीर-विद्ध लौह कील को अपनी ओर खींच कर उपकार करता है, और इसके द्वारा भोगसाधन हो जाने के कारण अपने स्वामी का 'स्व' स्वरूप हो जाता है, उसी तरह चित्त भी विषयरूप लौहकील को अपनी ओर खींचकर दृश्यत्वरूप उपकार द्वारा अपने स्वामी पुरुष का भोग-साधक होने के कारण 'स्व' स्वरूप होता है ।

४ (४) 'मैं देखूँगा', 'मैं सुनूँगा', 'मैं संकल्प करता हूँ', 'मैं विकल्प करता हूँ' इत्यादि समस्त वृत्तियों में जो अहम्भाव है, वह साधारण है । इस अहंभाव का जो ज्ञातास्वरूप मौलिक लक्ष्य है, वही द्रष्टा पुरुष है । द्रष्टा पुरुष चैतन्यरूप है । द्रष्टा-रूप चैतन्य के द्वारा बुद्धि चेतन की तरह होकर विषयों को प्रकाश करती है । जो प्रकाशित होता है या हम जिसे जानते हैं, वह दृश्य है । रूप, रस आदि बाह्य दृश्य हैं । चित्त के द्वारा उनका ज्ञान होता है । विषयज्ञान में 'मैं' ज्ञाता वा ग्रहीता, चित्त (इन्द्रिययुक्त) ज्ञान-करण वा दर्शनशक्ति और सारे विषय दृश्य वा ज्ञेय होते हैं । साधारणतः अनुव्यवसाय द्वारा हमें चित्तविषयक ज्ञान होता है । इसलिए हम चित्त की ज्ञानवृत्ति को उसके उदय होने के समय अनुभवपूर्वक, और बाद में अनुस्मरण द्वारा उसका दुबारा अनुभव करके विचार आदि करते हैं ।

---

१. सांख्याचार्य पञ्चशिख के संन्यासाचरण की बात शान्तिपर्व में कही गई हैं। शंकराचार्य कहते हैं—'यत्तु सांख्यैः कर्मत्यागोऽभ्युपगम्यते ···· तन्मृषा (छान्दोग्य २।२३।१) । शंकराचार्य के मत की युक्तता की परीक्षा विद्वानों को करनी चाहिये। प्रसिद्ध सांख्याचार्य देवल एवं हारीत के संन्यासचर्या-परक सूत्रग्रन्थ थे—यह निश्चित है (प्रामाणिक ग्रन्थों में इन ग्रन्थों के वाक्य उद्धृत होने के कारण) । सांख्याः संन्यास-कोविदाः' यह वाक्य महाभारत में मिलता है । (अनुशासन० १४५ अ० के बाद दाक्षिणात्य पाठ का श्लोक, पृ० ६०१३, गीताप्रेस संस्क०) । शंकराचार्य का 'एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न उच्यते' यह वाक्य भी (बृहदा० ४।५।१५ पर) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है । [संपादक]

विषयज्ञान के सम्बन्ध में यद्यपि चित्त करणस्वरूप होता है, तथापि अवस्था-भेद से वह दृश्यस्वरूप भी होता है। चित्त का उपादान अस्मिता-नामक अभिमान है। चित्तगत विषय-ज्ञान इसी अभिमान के विशेष-विशेष प्रकार का विकारमात्र है। जब चित्त को स्थिर करने की शक्ति होती है, तब अहंकार या अभिमान का साक्षात्कार किया जाता है। शुद्ध परिणामी अहंकार-भाव में स्थिति होने पर उसके विकार-स्वरूप चित्तगत विषय-ज्ञान की उससे जो भिन्नता है, उसका अनुभव होता है। उस समय विषय-साक्षात्कारी चित्त (अर्थात् विषयाकार सभी चित्त-वृत्तियाँ) दृश्य हो जाता है और अहंकार या शुद्ध अभिमान दर्शनशक्ति अर्थात् करण हो जाता है। किन्तु जब अभिमान को समेट कर शुद्ध 'अस्मि' भाव में अवस्थान (सास्मित ध्यान) किया जाता है तब 'अभिमानात्मक अहंकार' पृथक् या त्याज्य है, यह समझ में आ जाता है।

इस बुद्धि की विकारशीलता और जड़ता आदि विशेषता को जान कर जब समाधिप्रज्ञा के द्वारा बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुष की सत्ता का निश्चय होता है, तब यह विवेकज्ञान केवल पुरुष की सत्ता को विज्ञापित करता रहता है। जब यह विवेकज्ञान भी समाप्त हो जाए और पर-वैराग्य द्वारा विषयाभाव में लीन हो जाए अर्थात् जब ज्ञातृभाव का अस्मितारूप सीमाकारक तत्त्व भी नष्ट हो जाए, तब द्रष्टापुरुष को केवल अथवा स्वरूपस्थ कहा जाता है। इस अवस्था में बुद्धि पृथक् हो जाती है, अतः वह भी दृश्य होती है।

इस प्रकार बुद्धिपर्यन्त सभी दृश्य होते हैं। जिसके प्रकाश के लिए किसी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा है, वही दृश्य है। जिसका ज्ञान होने के लिए किसी अन्य बोध कराने वाले की आवश्यकता नहीं, वह स्वयंप्रकाश चित् है। द्रष्टा पुरुष स्वयंप्रकाश होता है; बुद्धि आदि दृश्य अथवा प्रकाश्य हैं जो पौरुषेय चेतनता के द्वारा चेतन-से जान पड़ते हैं। यही द्रष्टृत्व और दृश्यत्व है। द्रष्टा स्वामी-स्वरूप है और दृश्य 'स्व' स्वरूप है। बुद्धि आदि का साक्षात्कार आगे कहा जाएगा।

४ (५) शान्त-घोर-मूढ़-अवस्थागत सभी चित्तवृत्तियों के दर्शन अथवा पुरुष-कृत प्रतिसंवेदन का हेतु है—अविद्याकृत अनादि संयोग (२।२३ सूत्र देखिए)।

भाष्यम्—ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकार-विरोधिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः; क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति।

तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति; एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते । तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ॥ ५ ॥

भाष्यानुवाद—चित्त की निरोध करने योग्य वे वृत्तियाँ बहुत होने पर भी—

५। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। सू०

(अविद्यादि) क्लेशों से उत्पन्न (१) समस्त कर्मसंस्कारों की क्षेत्रीभूत (२) वृत्तियाँ क्लिष्टा हैं; विवेकज्ञानविषया और गुणाधिकार-विरोधिनी (३) वृत्तियाँ अक्लिष्टा हैं। क्लिष्टा वृत्तियों के प्रवाह में पड़ी हुई (४) वृत्तियाँ भी अक्लिष्टा होती हैं। क्लिष्ट छिद्र में (५) भी अक्लिष्टा वृत्ति और अक्लिष्ट छिद्र में भी क्लिष्टा वृत्ति उत्पन्न (६) होती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों द्वारा क्लिष्ट और अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार (निरोध-समाधि तक) वृत्ति और संस्कार का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है। गुणाधिकार का अवसान हो जाने पर अर्थात् विक्षेप-बीज से हीन हो जाने पर निरुद्ध चित्त स्व-रूप में अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है; अथवा (परमार्थ-सिद्धि में) वह विलीन हो जाता है (७)।

टीका ५ (१) जिन वृत्तियों के मूल में अविद्यादि पाँच क्लेश (२। ३ —९ सूत्र देखिए) रहते हैं, वे क्लेशमूलिका हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इनमें किसी भी एक क्लेश जिस वृत्ति का हेतु है, वही क्लिष्टा वृत्ति कही जा सकती है, क्योंकि ऐसी वृत्ति से जो संस्कार संचित होता है वह विपाक को प्राप्त होकर फिर क्लेशमयी वृत्ति पैदा करता है। दुःख देने के कारण ये क्लेश कहलाते हैं।[1]

५ (२) ऊपर कहे हुए कारण से ही क्लिष्टा वृत्ति को सब कर्मसंस्कारों का क्षेत्रभूत कहा गया है। "जिससे जो जीवित रहता है वही उसकी वृत्ति है—जैसे ब्राह्मण की वृत्ति याजनादि है" (विज्ञानभिक्षु)। चित्तवृत्ति का अर्थ है—ज्ञानरूप सभी अवस्थाएँ। उन अवस्थाओं का अभाव हो जाने पर चित्त लीन होता है, इसलिए ये 'वृत्तियाँ' कही जाती है।

५ (३)देह आदि पुरुष की उपाधियों का अविद्यादि के वश में सदा विकारशील भाव में अथवा लीन भाव में वर्तमान रहना, अर्थात् संसृतिप्रवाह ही गुणविकार है। ज्ञान के द्वारा अविद्यादि का नाश होने के कारण ज्ञान-विषयक वृत्तियाँ गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियाँ होती हैं। जैसे देहाभिमान या

---

१. चूँकि 'क्लिश सन्तापे' धातु से क्लेश शब्द व्युत्पन्न होता है, इसलिए क्लेश का अर्थ है—दुःख देने वाला। [सम्पादक]

'मैं ही देह हूँ' इस प्रकार की भ्रान्ति और उसके अनुगमन करने वाले कर्म से उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ अविद्यामूलिका क्लेशवृत्ति हैं। 'मैं देह नहीं हूँ' ऐसे ज्ञानमय ध्यानादि से या उक्त भाव के अनुगामी आचरण से उत्पन्न चित्तवृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्ति हैं। अन्त में ऐसी वृत्तिपरम्परा से देहादिधारण (अतएव अविद्यादि) नष्ट हो सकता है, अतः उन वृत्तियों को 'गुणाधिकारविरोधिनी अक्लिष्टा' कहा जाता है। विवेक के द्वारा अविद्या नष्ट होने पर विवेकख्यातिरूप जो वृत्ति उठती है, वही मुख्य अक्लिष्टा वृत्ति है। विवेक का साक्षात्कार जब तक नहीं होता तब तक श्रवण-मनन-पूर्वक विवेक का अनुभव करना गौण अक्लिष्टा वृत्ति होती है।

५ (४-५) यह शंका हो सकती है कि जीव तो प्रायः क्लिष्टवृत्ति वाले ही अधिक होते है, अतः उनमें अक्लिष्टवृत्ति पैदा होने की संभावना ही कहाँ है और बहुत-सी क्लिष्टवृत्तियों के अन्दर उत्पन्न और विलीन होती हुई अक्लिष्टवृत्ति कार्य करने में समर्थ कैसे होगी? भाष्यकार इसका समाधान करते हैं कि क्लिष्टप्रवाह के अन्दर रहने पर भी अर्थात् उसी में उत्पन्न होने पर भी अंधेरे कमरे में झरोखों से आए हुए प्रकाश की भाँति अक्लिष्टा वृत्ति पृथक् रूप से रहती है।

क्लिष्टवृत्ति के अभ्यास-वैराग्यरूप जो छिद्र हैं उनमें भी अक्लिष्टवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। उसी प्रकार अक्लिष्ट-वृत्ति के छिद्रों में भी क्लिष्ट वृत्ति रह सकती है। सभी वृत्तियों के संस्कारभाव में रहने के कारण क्लिष्ट प्रवाह में पड़ी हुई अक्लिष्ट वृत्ति धीरे-धीरे बलवती होकर क्लेशप्रवाह को रोक सकती है।

५ (६) क्लिष्ट या अक्लिष्ट वृत्ति से उसके अनुरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। चित्त में अनुभूत विषय का अलक्ष्यरूप से रहना संस्कार है। इसलिए क्लिष्ट वृत्ति से क्लिष्ट-संस्कार और अक्लिष्ट से अक्लिष्ट संस्कार होता है। आगे कही जाने वाली प्रमाणादि वृत्तियों में कौन-सी वृत्ति क्लिष्टा और कौन-सी अक्लिष्टा है, यह कहा जा रहा है। विवेक के अनुकूल समस्त प्रमाण-ज्ञान अक्लिष्ट प्रमाण हैं और उनके विपरीत प्रमाण क्लिष्ट प्रमाण हैं। विवेककाल में या निर्माण-चित्त-ग्रहण के समय जो अस्मितादि रहते हैं और जो विवेक के साधक हैं, ऐसे अस्मिता-रागादि अक्लिष्ट विपर्यय होते हैं और जो उनसे विपरीत हैं, वे क्लिष्ट हैं। जिन वाक्यों के द्वारा विवेक सिद्ध होता है उन वाक्यों से उत्पन्न विकल्प अक्लिष्ट है; उसके विपरीत विकल्प क्लिष्ट है।

विवेक की और विवेक के साधक ज्ञानमय आत्मभावादि की स्मृति अक्लिष्टा होती है और इससे भिन्न स्मृति क्लिष्टा है। विवेकाभ्यास तथा विवेक के अनुकूल ज्ञानमय आत्मस्मृति आदि के अभ्यास से अथवा सत्त्वसंसेवन के द्वारा क्षीयमाण

निद्रा अक्लिष्टा निद्रा है और साधारण निद्रा क्लिष्टा निद्रा होती है। जिस निद्रा के पहले और पीछे आत्मस्मृति रहती है तथा जो आत्मस्मृति द्वारा क्षीण हो रही है अथवा जो साधनावस्था में स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होती है, वह निद्रा अक्लिष्टा कहलाती है।

५ (७) जो 'सत्' है उसका विनाश नहीं होता, इसलिए दर्शनसंगत लौकिक दृष्टि से हमें जो सत् के रूप में प्रतीयमान होता है, वह जब तक लौकिक दृष्टि रहेगी तब तक सत्-रूप में प्रतीत होगा। प्राकृतिक सभी पदार्थ विकारशील हैं। वे सदा एक ही रूप में 'सत्' या विद्यमान नहीं रहते हैं। उनकी सत्ता अलग अलग रूप धारण करती है। जैसे-'मिट्टी है,' 'मिट्टी घड़ा बन गई'। घटावस्था में मिट्टी का ध्वंस नहीं हुआ, परन्तु मिट्टी पहले के पिण्ड रूप का त्याग करके घट के रूप में 'विद्यमान' हो गई। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से प्रतीयमान सभी द्रव्य रूपान्तर ग्रहण करके विद्यमान रहते है। उनका पूर्ण अभाव हम कभी नहीं सोच सकते हैं।

वस्तु का यह जो रूपान्तर-परिणाम है, इसमें जो पूर्वरूप में स्थित है उसे पर-रूप-प्राप्त वस्तु का 'अन्वयी कारण' कहा जाता है। यथा-घट का अन्वयी कारण है—मिट्टी। द्रव्य के कारणरूप में लौट आने को 'नाश' कहा जाता है। अतएव नाश का अर्थ है-कारण में लीन हो जाना। अतएव लौकिक दृष्टि से मुक्त-चित्त अपने उपादान अव्यक्त में लीन है, ऐसा अनुमान होता है। दुःखप्रहाण की दृष्टि से अर्थात् परमार्थ सिद्ध होने पर जब त्रिविध दुःख की सम्पूर्ण निवृत्ति होती है, तब पुनः चित्तके कथमपि भी व्यक्तभाव होने की संभावना नहीं रहती है, इस कारण चित्त प्रलीन या अभाव-प्राप्त-सा हो जाता है। उस समय चित्त त्रिगुणसाम्यरूप में रहता है, दुःख के कारण द्रष्टा-दृश्य-संयोग का ही अभाव होता है। द्र० ४।१४ (२)।

धर्ममेघ ध्यान में चित्त-सत्त्व अपने यथार्थ स्वरूप में अर्थात् रजस्तमो-मल-हीन विशुद्ध सत्त्वस्वरूप में रहता है और कैवल्य में स्वकारण में लीन रहता है। रजस्तमो-मलहीन शब्द का अर्थ रजस्तमः से शून्य नहीं, किन्तु 'विवेकविरोधी अन्य प्रकार के मालिन्य से हीन' है।

भाष्यम्—ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः—

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥ ६ ॥

भाष्यानुवाद—वे क्लिष्टा और अक्लिष्टा वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, (यथा)—६। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (१)। सू०

टीका ६ (१) यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि निद्रा को वृत्तियों में परिगणित किया गया है तो जाग्रत और स्वप्न को और संकल्पादि को क्यों

छोड़ दिया गया है ? इसका उत्तर यह है कि जाग्रत-अवस्था प्रमाणप्रधान है और उसमें विकल्पादि भी रहते हैं; स्वप्नावस्था भी वैसी ही विपर्ययप्रधान है; उसमें विकल्प, स्मृति और प्रमाण भी रहते हैं। अतएव प्रमाण आदि चारों वृत्तियों के उल्लेख से ये अवस्थाएँ भी कह दी गई हैं।

इन चारों वृत्तियों के निरोध से जाग्रत आदि का भी निरोध हो जाता है, अतः इनको पृथक् नहीं गिना गया। इसी प्रकार संकल्प भी ज्ञान-वृत्ति-पूर्वक उदित होता है और उसके निरोध से निरुद्ध होता है, अतएव यह भी अलग नहीं कहा गया। पाँच विपर्ययों के द्वारा संकल्प भी सूचित होता है क्योंकि रागद्वेषादि-पूर्वक ही संकल्पादि होते हैं। फलतः यहाँ सूत्रकार ने निरोध करने योग्य मूलभूत वृत्तियों का ही उल्लेख किया है। सुखदुःखादिरूप वेदनाओं या अवस्थावृत्तियों को भी यहाँ छोड़ दिया गया है। सुखदुःखादि पृथक् रूप से निरोध करने योग्य नहीं होते; प्रमाणादि के निरोध से ही उनका भी निरोध हो जाता है। विज्ञानभिक्षु ने भी योगसार-संग्रह में कहा है—**'इच्छा-कृत्यादि-रूपवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोधो भवति'** (पृ० २)।

योगशास्त्र की परिभाषा में प्रत्यय को अर्थात् परिदृष्ट चित्तभाव या बोधसमूह को ही वृत्ति कहा गया है। उनमें प्रमाण=यथाभूत बोध; विपर्यय=अयथाभूत बोध; विकल्प=प्रमाण-विपर्यय से अन्य अवस्तुविषयक बोध; निद्रा=रुद्धावस्था का अस्फुटबोध और स्मृति=अनुभूत भाव का पुनः अनुभव है। समस्त प्रवृत्ति और स्थिति वृत्तियाँ बोधपूर्वक होती हैं तथा बोध सब प्रकार की वृत्तियों में मुख्य होता है, अतः बोध-वृत्तिसमूह के निरोध से समग्र चित्त निरुद्ध होता है। इसलिए योग द्वारा निरोध-योग्य वृत्तियाँ ज्ञानवृत्ति वा प्रत्यय कहलाती हैं। योगी लोग चित्तनिरोध के लिए समस्त ज्ञानवृत्तियों को निरुद्ध करके सफल होते हैं। ज्ञानवृत्ति का अवलम्बन करके चित्त-निरोध करना ही यथार्थ वैज्ञानिक उपाय है।

योग की वृत्ति चित्तसत्त्व या प्रख्या का भेद है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा गृहीत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषयविज्ञान, पाँच कर्मेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य का चालन या देशान्तर में गमन और गमनीयता का बोध, पाँच प्राणों के द्वारा ग्राह्य के जड़त्व-धर्म का बोध तथा करणगत सुखादि भावों का अनुभव, इन सब को ले कर जो आन्तर शक्ति संमिश्रितबोध करती है, चेष्टा करती है, धारण करती है, वही चित्त है। उदाहरणार्थ, मानो किसी ने एक हाथी देखा; इस हस्तीदर्शन में आँख से केवल एक विशेष कृष्णवर्णमय आकारमात्र जाना जाता है, किन्तु हाथी के जो अन्यान्य गुण हैं वे सिर्फ आँख से नहीं जाने जाते हैं। हाथी

की भारवाहिनी शक्ति, गमन-शक्ति, भोजनशक्ति, उसके शरीर की दृढ़ता, उसकी चिंघाड़ आदि गुण पहले ही अन्य इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होकर अन्तःकरण में विधृत हो जाते हैं। हस्तीदर्शन-काल में इन सबों का समन्वय करके जो आन्तर शक्ति 'यह हाथी है' ऐसा ज्ञान कराती है वही चित्त है; और हस्तीदर्शन की इच्छा की पूर्ति होने से जो आनन्द होता है, वह भी चित्त की क्रिया है। अन्तःकरणगत अनुकूल हस्तीदर्शन की अवस्था का बोधमात्र ही उस आनन्दानुभव का स्वरूप है।

वृत्ति के द्वारा चित्त की वर्तमानता अनुभूत होती है और उसके बिना चित्त लीन हो जाता है। ये सब वृत्तियाँ त्रिगुण के अनुसार कई प्रकार के मूल भागों में विभक्त हो सकती हैं। उनमें योग के लिए निरोधयोग्य मूलभूत वृत्तियों को सूत्रकार ने पाँच श्रेणियों में बाँटा है। पाठकों को चित्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों का स्मरण रखना चाहिए।

प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति-धर्म से विशिष्ट अन्तःकरण चित्त है। प्रख्या और प्रवृत्ति का अर्थ है-ज्ञान और चेष्टा भाव; स्थिति का अर्थ है-संस्कार। प्रत्यक्षादि-बोध, संस्कार-बोध (स्मृतिरूप), प्रवृत्ति-बोध, सुखादि के अनुभव का विशेष बोध, ये सभी बोध चित्तवृत्ति या प्रत्यय हैं। इच्छादि चेष्टाएँ भी दृष्ट धर्म होने के कारण प्रत्ययरूप हैं। संस्कार अपरिदृष्ट धर्म है। अतएव चित्त प्रत्यय तथा संस्कार इन दो धर्मों से युक्त वस्तु है। उनमें प्रत्ययों का नाम चित्तवृत्ति है। साधारणतया इस शास्त्र में सभी वृत्तियाँ चित्त नाम से ही गृहीत होती हैं। ज्ञान-स्वरूप होने के कारण वृत्तियाँ सत्त्वपरिणाम बुद्धि के अनुगत परिणाम हैं। इस-लिए चित्त और बुद्धि ये दो शब्द अनेक स्थलों पर अभिन्न रूप से व्यवहृत होते हैं। यह बुद्धि बुद्धितत्त्व नहीं है; इसी प्रकार चित्तवृत्ति भी बुद्धिवृत्ति कहलाती है।

बहुत जगह पर चित्त और मन शब्द एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं, किन्तु वास्तव में मन छठा इन्द्रिय है। अर्थात् भीतरी चेष्टा, बाह्येन्द्रिय का प्रवर्त्तन और चित्तवृत्ति अथवा मानस भाव के चैत्तिक विज्ञान के लिए जिस आलोचन का प्रयोजन होता है वह—ये तीन मन के कार्य हैं। बाह्य करण की तरह अन्तःकरण में भी पहले आलोचनज्ञान होता है, बाद में उसका विज्ञान होता है। मानस-प्रत्यक्ष उस आलोचन के साथ होता है, जैसे, चक्षु से चाक्षुष ज्ञान होता है। अतः प्रवृत्तिरूप संकल्पक इन्द्रिय या मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्दियों का आभ्यंतरिक केन्द्र है और चित्तवृत्ति केवल विज्ञान है। मन के द्वारा गृहीत, कृत अथवा धृत विषय के विशेष प्रकार का ज्ञान ही विज्ञान या चित्तवृत्ति होता है। प्राचीन विभाग ऐसा ही है, यह स्मरण रखना चाहिए।

———

भाष्यम्—तत्र—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः।

अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः।

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याऽश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

(७) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (इन तीन प्रकारों से साधित यथार्थ ज्ञान का नाम) प्रमाण (१) हैं। सू०

इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से चित्त का बाह्य-वस्तु-जनित उपराग होने के कारण (२) बाह्यविषया एवं सामान्य तथा विशेष विषयों में विशेषावधारण-प्रधाना (३) जो वृत्ति होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। बुद्धि के साथ अविशिष्ट, पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध ही (विज्ञानभूत वृत्ति का) फल (४) है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी (५) है, यह आगे प्रतिपादित किया जाएगा (२।२० सूत्र)।

अनुमेय के साथ तुल्यजातीय वस्तु में अनुवृत्त और भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त (धर्म ही) सम्बन्ध (=लिङ्ग) कहलाता है (६)। इसी सम्बन्ध को विषय बनाकर (अर्थात् तन्निबन्धन) जो सामान्यावधारण-प्रधाना वृत्ति होती है, वह अनुमान है। यथा—देशान्तर-प्राप्ति के कारण चन्द्रमा और तारकाएँ सचल हैं, जैसे चैत्र आदि। विन्ध्य को चूँकि अन्य-देश-प्राप्ति नहीं होती, अतः वह गतिमान् नहीं है।

आप्त पुरुष से दृष्ट तथा अनुमित जो अर्थ वा विषय है, जब दूसरे व्यक्ति को उसका बोध कराने के लिए आप्त पुरुष उसका उपदेश करते हैं तब उससे जो अर्थ-विषया वृत्ति (श्रोता में) उत्पन्न होती है वह श्रोता पुरुष का आगम रूप प्रमाण (७) होता है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय अथवा वंचक पुरुष है और जिसका अर्थ (वक्ता के द्वारा) दृष्ट वा अनुमित नहीं हुआ, वह आगम मिथ्या है (अर्थात् वहाँ आगम प्रमाण नहीं होता)। जो विषय मूल वक्ता के द्वारा या आप्त के द्वारा दृष्ट तथा अनुमित होता है उस विषय का आगमप्रमाण विप्लव से रहित अर्थात् सत्य होता है (८)।

टीका ७ (१) प्रमा = अर्थ में व्याप्त होने वाला बोध जो विपर्यय के द्वारा अबाधित है; प्रमा का करण = प्रमाण। पहले से अप्राप्त सत् या यथाभूत विषय के सत्तानिश्चय का नाम प्रमाण है। दूसरे शब्दों में अज्ञात विषय की प्रमा की प्रक्रिया का नाम प्रमाण है। यह जो प्रमाणलक्षण है इसमें ऐसा संशय हो सकता है कि अनुमान से 'आग नहीं है' ऐसी असत्ता का जब निश्चय होता है तब यह प्रमाण-लक्षण ऐसे अनुमान में नहीं घटता। इसका उत्तर यह है कि 'असत्ता का बोध' वास्तव में जिसकी असत्ता है उसके अतिरिक्त अन्य-पदार्थ का बोध-पूर्वक विकल्पवृत्तिमात्र है। **'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया'**[१] अर्थात् अभाव यथार्थ में दूसरा एक भाव पदार्थ है; किसी एक विषय की अपेक्षा से ही दूसरी वस्तु का अभाव कहा जाता है।

वस्तु के नास्तिता-ज्ञान के विषय में श्लोकवार्त्तिक में लिखा है—**'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया'** (अभाव परि० २७)। अर्थात् सद्वस्तु को ग्रहण करके और प्रतियोगी (जिसका अभाव हो वह) का स्मरण करके मन-ही-मन (विकल्पवृत्ति से उत्पन्न) नास्तिता-ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी स्थान में यदि घट नहीं दिखाई दे तो उस

---

१. श्लोक का उत्तरार्ध है—भावान्तरादभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्। यह मीमांसक-प्रभाकर-मत का प्रदर्शक है। सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत रामानुजदर्शन-प्रकरण में यह उद्धृत है। "भावो घटादिः पदार्थः, अन्यो भावो भावान्तरम्। तदेव च कयाचिद् व्यपेक्षया तदीयासद्रूपप्रतिपिपादयिषया अभावशब्देन व्यवह्रियते। न तु अभावो नाम भावान्तरादतिरिक्तः कश्चन पदार्थः, तस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्" (दर्शनाङ्कुरटीका)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भूतल में घट का अत्यन्ताभाव = केवल भूतल। घट का प्रागभाव = मिट्टी। घट का ध्वंस = खपरा। घटभेद = पट आदि वस्तुएँ। सत् पदार्थ भूतल आदि परकीय रूप से असत् कहे जाते हैं। अध्यासभाष्य-भामती में भी इस श्लोक का पूर्वार्ध उद्धृत है—"यद्यप्युच्येत नाभावो नाम भावादन्यः कश्चिदस्ति, अपितु भाव एव भावान्तरात्मनाऽभावः, स्वरूपेण तु भावो यथाहुः—'भावन्तरमभावो हि···'। इस श्लोक के साथ निम्नोक्त श्लोक भी पठनीय है—स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके। वस्तुनि ज्ञायते रूपं किञ्चित् कैश्चित् कदाचन।। घटादि सभी वस्तुएँ स्वकीय रूप से सत् और परकीय रूपसे असत् हैं। एक ही वस्तु दृष्टिभेद से सत् या असत् रूप से प्रतिभात होती हैं। आम्र में रूप-रस-गन्धादि रहने पर भी सभी गुणों का सदैव ज्ञान नहीं होता; कभी केवल रूप का ज्ञान होता है, रस का ज्ञान नहीं होता। घट जब स्वरूप से व्यवहृत होता है तब भावरूप होता है; जब पटभिन्नत्वेन व्यवहृत होता है तब अभावत्व का व्यवहार होता है। **[सम्पादक]**

स्थान का तथा आलोकमय अवकाश का रूपज्ञान आखों से होता है, तत्पश्चात् मन में 'घटाभाव' शब्द के द्वारा विकल्पवृत्ति होती है (१।९ सूत्र देखिए)। फलतः विषयहीन ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान होने का अर्थ है—सत्ता का निश्चय होना। शास्त्र कहता है—'**यदि चानुभवरूपा सिद्धिः सत्तेति कथ्यते। सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥**' (द्र० विज्ञानभिक्षुकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।४) अर्थात् अनुभव-सिद्धि को ही यदि सत्ता कहा जाए तो सब पदार्थों की सत्ता संवेदन को छोड़कर दूसरा कुछ हो नहीं सकती।

जितने प्रकार के सद्विषयक बोध हैं वे मूलतः द्विविध हैं, प्रमाण और अनुभव। इनमें प्रमाणरूप बोध करण-बाह्य-पदार्थ-विषयक अथवा करण-बाह्य-रूप में व्यवहृत पदार्थविषयक होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों का ही यह साधारण लक्षण है। अनुभव करणगत-भाव-विषयक होता है; यथा—स्मृति का अनुभव, सुख का अनुभव आदि। अनधिगत तत्त्व का बोध प्रमा है, यह प्रमा का दूसरा अर्थ होता है; उसका करण=प्रमाण। प्रमाण के इस लक्षण के द्वारा स्मृति से उसका भेद सूचित होता है।

इस शास्त्र में कुछ अनुभवों को मानस-प्रत्यक्षस्वरूप में ग्रहण करके प्रमाणों में परिगणित किया गया है; परन्तु स्मृति का अनुभव मानस-प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि वह अधिगत विषय का पुनः अनुभव है। इसीलिए प्रमाण से स्मृति पृथक् है।

७ (२) बाह्य वस्तु की भिन्नता से चित्त विभिन्न-भाव धारण कर लेता है, इस कारण चित्त का बाह्य-वस्तु-जनित उपरंजन होता है। इन्द्रियप्रणाली से विषय के संपर्क में आकर चित्त उपरंजित या विकृत होता है। चित्तसत्त्व के एक-एक प्रकार का परिणाम ही एक एक ज्ञान है। छह प्रकार की इन्द्रियप्रणाली से चित्त के साथ विषय का संपर्क होता है। पाँच बाह्येन्द्रियाँ तथा एक अन्तरिन्द्रिय मन—ये छह इन्द्रियाँ इस शास्त्र में मानी जाती हैं। इन्द्रिय से आलोचन ज्ञान ही होता है अर्थात् ग्रहणमात्र होता है। केवल कान आदि इन्द्रियों से जो जाना जाता है, वही आलोचन ज्ञान है। यथा, कौओं के टेरने से 'का' 'का' ध्वनि मात्र का जो बोध होता है वह आलोचनज्ञान है। इसके बाद अन्तः करण में विद्यमान अन्य वृत्तियों के सहारे 'यह 'का' 'का' ध्वनि कौओं की है' इस प्रकार का जो विज्ञान होता है वही चैत्तिक प्रत्यक्ष है।

मानस विषय का प्रत्यक्ष होने पर अनुभव का विज्ञान होता है अथवा यह कहा जा सकता है कि करण-स्थित भाव ग्रहण-पूर्वक अनुभव का विज्ञान होता है। सुखादि वेदना की अनुभूतिमात्र मानस आलोचन है; पीछे उसका भी जो विज्ञान होता है वही मानस-विषय का प्रत्यक्ष है। बाह्य इन्द्रिय की तरह

(इन्द्रियाधीश) मन के द्वारा भी मानस विषय पहले गृहीत होता है, तदनु मन के द्वारा चित्त के उपरंजित होने पर उसका चैत्तिक प्रत्यक्ष होता है। अतएव सभी चैत्तिक प्रत्यक्षों में पहले ग्रहण होता है, पीछे उसका प्रत्यक्षप्रमाण होता है। अतएव 'करणबाह्य भाव का निश्चय प्रमाण है' यह लक्षण विविध प्रत्यक्ष प्रमाणों में संगत होता है।

७ (३) मूर्ति और व्यवधि (बाह्य विषय की) का नाम विशेष है। प्रत्येक द्रव्य के जो अपने विशेष (या दूसरे से अलग) शब्द-स्पर्शादि गुण हैं वे ही उसकी मूर्त्ति हैं; व्यवधि का अर्थ है—आकार। एक ईंट का टुकड़ा लें; उसके जो अपने रङ्ग और आकार हैं उन्हें हजारों शब्दों की सहायता से भी ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। किन्तु उस ईंट को देखने से तत्काल ही उन गुणों का ज्ञान हो जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रधानतः विशेष-विषयक होता है। 'प्रधानतः' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष में सामान्य का ज्ञान भी रहता है, किन्तु विशेष के ज्ञान की ही प्रधानता होती है। जो बहुतों में साधारण पदार्थ (पद अथवा Common Term का अर्थ) है वही सामान्य है। अग्नि, जल आदि प्रायः सभी शब्द सामान्य अर्थों में ही संकेतित हैं। आकार और प्रकार के भेद से अग्नि असंख्य प्रकारों की हो सकती है, परन्तु उनका सामान्य नाम अग्नि ही है। सत्ता रूप पदार्थ सर्व-वस्तु-साधारण होने से सामान्य है। प्रत्यक्ष में ऐसे सामान्य का ज्ञान भी अप्रधान-भाव से रहता है; किन्तु अनुमान और आगम प्रमाण के (जिनको आगे बताएँगे) विषय सामान्य-मात्र होते हैं, क्योंकि वे शब्द से या अन्य आकारादि के संकेत से सिद्ध होते हैं।

यदि कहा जाए क 'चैत्र है' ऐसा ज्ञान यदि अनुमान या आगम के द्वारा सिद्ध हो तब तो चैत्र नाम के विशेष पदार्थ का ज्ञान हुआ—पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अगर चैत्र पूर्वदृष्ट हो तो चैत्र शब्द के द्वारा केवल स्मरण-ज्ञान ही होगा, और 'अमुक स्थान पर है,' केवल इतना अंश ही प्रमाण होगा। चैत्र यदि पहले से अदृष्ट है तो चैत्रसम्बन्धी विशेषज्ञान की कोई बात ही नहीं है; एक-एक सामान्य अंश का ज्ञान ही अनुमान या आगम के द्वारा हो सकेगा।

७ (४) फल = प्रत्यक्ष रूप व्यापार का फल। विज्ञानभिक्षु ने कहा है—"वृत्ति-रूप करण का फल"। 'पौरुषेय चित्तवृत्ति-बोध' के उदाहरण में विज्ञानभिक्षु कहते हैं–'मैं घड़ा जान रहा हूँ' ऐसा बोध। किन्तु ऐसा बोध दो प्रकारों से हो सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में 'यह घड़ा' या 'घड़ा है' ऐसा बोध होता है। किन्तु उसमें भी ज्ञातृभाव रहने के कारण 'मैं घड़ा देख रहा हूँ' ऐसे वाक्य से विश्लेषण कर उसे व्यक्त किया जा सकता है, और घट देखते-देखते, मन में 'मैं घट देख रहा हूँ' यह चिन्तन होता है। पहला (घट है–ऐसा ज्ञान)

व्यवसायप्रधान है, दूसरा (मैं घट जान रहा हूँ—ऐसा ज्ञान) अनुव्यवसाय-प्रधान है। पहला अर्थात् 'यह घट' अथवा 'घट है' यही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

इस प्रत्यक्ष में 'मैं' 'घट' 'देख रहा हूँ' ये तीन भाव रहते हैं। किन्तु घट के प्रत्यक्ष काल में केवल 'घट है' यह बोध होता है अर्थात् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की पृथक् उपलब्धि नहीं होती। 'मैं द्रष्टा हूँ' यह ज्ञान न रहने के कारण तथा केवल 'घट है' ऐसा बोध होने के कारण अहंभाव के अन्तर्गत द्रष्टा पुरुष और ग्राह्य घट अविशिष्ट या अविभागापन्न-सा अर्थात् अभिन्नवत् होते हैं। चौथे सूत्र में यह कहा गया है। कोई एक प्रत्यक्ष वृत्ति क्षणमात्र में उदित होती है और बाद में उसका प्रवाह चल भी सकता है; किन्तु जिस क्षण में एक 'घट-प्रत्यक्ष वृत्ति' उदित होती है उसी क्षण में 'मैं घट देख रहा हूँ' ऐसा विभागापन्न भाव नहीं होता है; 'घट है' इसी प्रकार का एक मात्र भाव होता है। घट-बोध में उस बोध का द्रष्टा मूल में है। अतः वह द्रष्टा घट-बोध के साथ अविशिष्टभाव से (पृथक् होने पर भी अपृथक् रूप से) रहता है, ऐसा कहना होगा।

हम इस विषय को दूसरे ढंग से भी समझ सकते हैं। समस्त ज्ञान करणात्मक अभिमान का विकारमात्र ही हैं। उनमें प्रत्यक्षज्ञान बाह्य-क्रिया-जनित अभिमानविकार है। अतएव घटबोध वस्तुतः अभिमान या अहंभाव का विकार-विशेष होता है। किन्तु 'मैं' इस भाव के अन्तर्गत द्रष्टा भी है। घट-प्रत्यक्ष में घट-ज्ञान-रूप अहंभाव का विकार और द्रष्टा अभिन्न से होते हैं। अनुव्यवसाय के द्वारा विचारपूर्वक द्रष्टा और घट की भिन्नता का बोध हो सकता है। परन्तु घट-प्रत्यक्षरूप व्यवसाय-प्रधान-वृत्ति में ऐसा नहीं हो सकता।

'पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध' का अर्थ है वह चित्तवृत्ति जिसका साक्षी पुरुष है, अथवा पुरुष द्वारा उपदृष्ट चित्तवृत्ति या ज्ञान का प्रकाश। पुरुष यदि नाना वृत्तियों का प्रकाशक है, तो वह भी नानात्व से युक्त अथवा परिणामी होगा — यह शंका निर्मूल है; कारण, नानात्व पुरुष में नहीं प्रत्युत इन्द्रिय और अन्तःकरण में ही रहता है। समस्त विषयों का यदि विश्लेषण किया जाए तो क्षण-क्षण में उदित और विलीन होने वाली सूक्ष्मक्रिया मात्र का बोध होता है। इससे अहंभावरूप बुद्धि का नानात्व-रूप क्षणिक परिणाम होता है। इस एकरूप पर क्षणिक विकारशील अहंभाव का प्रकाशक ही पुरुष है। विकार शान्त होने पर केवल पुरुष रहता है और विकार व्यक्त होने पर बुद्धि रहती है। अतः ये विकार पुरुष तक नहीं पहुँच सकते।

योगी वस्तुतः इसी पद्धति से ही पुरुषतत्त्व के निकटस्थ होते हैं। वे पहले नील, पीत, अम्ल, मधुर आदि नानात्व में रूपमात्र, रसमात्र आदि तन्मात्रों का

साक्षात्कार करते हैं। तदनु तन्मात्रतत्त्व का (क्रमेण सूक्ष्मतर ध्यान के द्वारा) अस्मिता में विलीन होना अनुभव करते हैं। यह अति-सूक्ष्म तन्मात्रतत्त्व कैसे अस्मिता का विकार है, इसकी उपलब्धि करके अस्मिता-मात्र में स्थित होते हैं और इसके बाद विवेकख्याति के द्वारा पुरुषतत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विकार का निरोधपूर्वक पुरुषतत्त्व में स्थिति होती है।

७ (५) "पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है," पुरुष के इस लक्षण का बहुत गंभीर अर्थ है। जिस प्रकार प्रतिफलन का अर्थ है किसी दर्पणादि-फलक में लगकर दूसरी ओर जाना, इसी प्रकार प्रतिसंवेदन का अर्थ है किसी संवेदक में जाकर दूसरा संवेदन उत्पन्न करना अथवा दूसरे संवेदन रूप से प्रतीत होना। रूपादि प्रतिफलन के जिस प्रकार दर्पणादि प्रतिफलक रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि या व्यावहारिक अहंभाव का वर्त्तमान क्षण में जो संवेदन होता है वही संवेदन उत्तर क्षण में पुनः अहंभाव के रूप में प्रतिसंविदित होता है। इसी प्रतिसंवेदन का जो केन्द्र है वही बुद्धि का प्रतिसंवेदी है। 'मैं हूँ' ऐसा चिन्तन कर सकना भी प्रतिसंवेदन का फल होता है।

समस्त निम्न शारीर-बोधों या वैषयिक बोध के प्रतिसंवेदन का केन्द्र बुद्धि या उसकी अधीनस्थ स्थूल करण-शक्तियाँ हैं; किन्तु बुद्धिरूप सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव का जो प्रतिसंवेदी है वह बुद्धि से अतीत है; वही निर्विकार चिद्रूप पुरुष है। इस प्रकार प्रतिसंवेदन भाव की सहायता से ही पुरुषतत्त्व का अधिगम करना पड़ता है। समाधि के बल से बुद्धितत्त्व का साक्षात्कार किया जाता है। विचारानुगत ध्यान के द्वारा प्रतिसंवेदन भाव का अवलम्बन करके प्रतिसंवेदी पुरुष की उपलब्धि की जाती है। यही वस्तुतः विवेकख्याति है।

७ (६) अर्थात् सहभाव और असहभाव यह द्विविध सम्बन्ध है। सहभाव= तत्सत्त्व में सत्त्व (किसी के रहने पर रहना) एवं तदसत्त्व में असत्त्व (किसी के न रहने पर न रहना)। असहभाव=तत्सत्त्व में असत्त्व एवं तदसत्त्व में सत्त्व। स्थूलतः इस प्रकार के सम्बन्धों को जान कर सम्बध्यमान वस्तु का एकांश जानकर अन्यांश के ज्ञान का नाम अनुमान है। जिस स्थल पर अनुमेय वस्तु के असत्त्व का निश्चय होता है उसका अर्थ है–उससे अतिरिक्त अन्य भाव का निश्चय। यह पहले (७।१) ही कहा जा चुका है। निर्विषयक वा अभावविषयक प्रमाणज्ञान इस शास्त्र में निषिद्ध माना गया है।

७ (७) सिर्फ शब्द अर्थात् शब्दमय क्रियाकारकयुक्त वाक्य से शब्दार्थ का बोध होता है, किन्तु उस अर्थ का अबाधित यथार्थ निश्चय सब स्थलों पर नहीं होता है। किसी स्थल में तद्विषयक संशय होता है तो कहीं पर अनुमान के द्वारा संशय को हटाकर निश्चय किया जाता है; जैसे–'अमुक मनुष्य

विश्वासपात्र है; वह कह रहा है तो सत्य है'। पठन से भी इसी प्रकार निश्चय होता है; यह अनुमान-प्रमाण ही है।

इस विषय में बहुतों का यह विचार है कि आगम प्रमा का एक स्वतन्त्र करण वा प्रमाण नहीं है। यह ठीक नहीं। आगम नाम से एक प्रकार का स्वतन्त्र प्रमाण है। कितनों की स्वभावतः ऐसी शक्ति देखी जाती है कि वे दूसरे के मन की बात जान सकते हैं, और दूसरे के मन में अपनी चिन्ताधारा डाल सकते हैं; वे अंग्रेजी में Thought reader या परचित्तज्ञ कहलाते हैं। उनमें चिन्ताक्षेपक (Thought transference) शक्ति भी रहती है। Telepathy[1] भी इसी प्रकार की है। उनके पास जाकर आप मन में सोचें कि 'अमुक स्थान में पुस्तक है'; उसी समय उनके मन में वह चिन्ता उठेगी अर्थात् उनमें 'उस स्थान पर पुस्तक का सत्त्वज्ञान' वा प्रमाण होगा। ऐसे परचित्तज्ञ व्यक्ति की प्रमाणरूप चित्तवृत्ति कैसे होती है? साधारण प्रत्यक्ष से नहीं। किसी के मन ही मन उच्चारित शब्द तथा उनके अर्थ का निश्चयज्ञान अन्य के मन में संक्रान्त हुआ, उसी से उस दूसरे व्यक्ति को भी निश्चय ज्ञान हुआ—यह प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त दूसरे ही प्रकार का प्रमाण है, यह मानना पड़ेगा।

साधारण मनुष्य की परचित्तज्ञता कम रहने के कारण स्फुट रूप से शब्द उच्चारित न हो तो उनको निश्चयज्ञान नहीं होता। प्रायः हम लोग समस्त मनोभाव शब्दों के द्वारा ही प्रकाशित करते हैं, अतएव एक का मनोभाव दूसरे में संक्रान्त करना शब्द या वाक्य द्वारा ही सम्भव होता है। ऐसे बहुत आदमी हैं जिनके द्वारा प्रत्यक्षीकृत या अनुमित निश्चयज्ञान किसी दूसरे से कहने पर उस व्यक्ति में प्रत्यय वा उनके समान निश्चय नहीं होता है। ऐसे भी बहुत लोग हैं जो किसी से किसी विषय पर अवधारण करने के लिए कुछ कहें तो तत्काल उसका वैसा ही निश्चय हो जाता है। उनमें ऐसी शक्ति रहती है जिससे उनके मनोभाव वाक्य से वाहित हो कर एक दूसरे व्यक्ति के मन में भलीभाँति बैठ जाते हैं। प्रसिद्ध वक्ता लोग इसी प्रकार के हैं। जिनके वाक्य से इस प्रकार अविचारसिद्ध निश्चय होता है वे ही श्रोताओं के लिए आप्तपुरुष हैं। आप्तों का वाक्य सुनने पर उनका निश्चयज्ञान पूर्णतया श्रोता के मन में जाकर स्वसदृश निश्चयज्ञान उत्पादन करता है; यही आगमप्रमाण होता है।

सभी शास्त्र सर्वप्रथम तत्त्वसाक्षात्कारी आप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण आगम नाम से विख्यात होते हैं। किन्तु वे शास्त्र वास्तव में आगमप्रमाण नहीं हैं। आगमप्रमाण में वक्ता और श्रोता की आवश्यकता है। जिस प्रकार

१. टेलिपैथी=लोक में सुविज्ञात पद्धति से भिन्न पद्धति, जिससे चिन्ता, अनुभव, वेदना आदि को एक मन से अन्य मन में संचारित किया जाता है। [सम्पादक]

अनुमान और प्रत्यक्ष कभी-कभी दोषयुक्त होते हैं, आप्त में दोष रहने से आगम भी उसी प्रकार दुष्ट होता है। केवल शब्दार्थ का ज्ञान ही आगम नहीं होता। आप्तोक्त शब्दार्थ के सहारे किसी अनिश्चित विषय को निश्चित करना ही आगमप्रमाण होता है। अभिनवगुप्त ने इस को पौत्रिकी (सस्नेह) शक्तिपात कहा है[१]। Plato ने भी कहा है—

No philosophical truth could be communicated in writing at all; it was only by some sort of immediate contact that one soul could kindle the flame in another—*Burnet*.

७ (८) सम्बन्ध इत्यादि के दोष से जिस प्रकार अनुमान दुष्ट होता है, तथा इन्द्रिय-वैकल्यादि रहने से जिस प्रकार प्रत्यक्ष का दोष होता है, उसी प्रकार उनके सजातीय आगम प्रमाण का भी दोष होता है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—स कस्मान्न प्रमाणम्? यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्, तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति; एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति; एते चित्तमलप्रसंगेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

८। विपर्यय अतद्रूपप्रतिष्ठ (१) मिथ्याज्ञान है। सू०

भाष्यानुवाद—विपर्यय क्यों नहीं प्रमाण होता है?—कारण, वह प्रमाण के द्वारा बाधित (निराकृत) होता है, क्योंकि प्रमाण भूतार्थ-विषयक होता है (अर्थात् प्रमाण का विषय यथाभूत, है, किन्तु विपर्यय का विषय उसके विपरीत होता है)। प्रमाण से अप्रमाण का बाध देखा जाता है, जैसे—द्विचन्द्रदर्शन (-रूप विपर्यय) सद्विषय एकचन्द्रदर्शन (-रूप प्रमाण) के द्वारा बाधित होता है, इत्यादि। यह विपर्यय नामक अविद्या, पञ्च-पर्वा अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से युक्त है। इस शास्त्र में ये तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहलाते हैं। चित्तमलप्रसंग में इनकी व्याख्या की जाएगी।

टीका ८ (१) अतद्रूपप्रतिष्ठ अर्थात् वास्तव ज्ञेय से भिन्न कोई ज्ञेय विषय जिसका है, वह। प्रमाण यथारूप-विषयप्रतिष्ठ है; विपर्यय अयथारूपविषयप्रतिष्ठ

१. अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोक (आह्निक १३) तथा तन्त्रसार (अ० ११) में काश्मीरशैवागम की दृष्टि के अनुसार शक्तिपात की सुविशद चर्चा की गई है।

[सम्पादक]

है; विकल्प अवास्तवविषयवाची-शब्दप्रतिष्ठ है; निद्रा तम (=) जड़ता-प्रतिष्ठ है; स्मृति अनुभूतविषयमात्र-प्रतिष्ठ है। प्रतिष्ठा-भेद के अनुसार वृत्तियों में ऐसा भेद होता है।

चित्त के यथार्थ विषय की प्रकाश-शीला शक्ति प्रमा होती है। समाधिजात प्रज्ञा ही प्रमा का चरम उत्कर्ष है। प्रमा से जो अज्ञान (या वस्तु के अन्य प्रकार का ज्ञान)—समूह निरुद्ध होते हैं, उनका साधारण नाम विपर्यय है। अविद्या आदि पाँच विपर्यय हैं (२।३–९ सूत्र देखिए); इन सभी का साधारण लक्षण—अयथाभूतज्ञान है और ये सब यथार्थ ज्ञान से निरुद्ध हो सकते हैं। भ्रान्तिज्ञानमात्र का नाम विपर्यय है। अविद्यादि क्लेश विपर्यय हैं, पर वे केवल परमार्थ (दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के साधन) के सम्बन्ध में परिभाषित विपर्यय ज्ञान हैं। कोई भी भ्रान्ति-ज्ञान विपर्ययवृत्ति कही जा सकती है; पर योगी लोग जिन विपर्ययों को दुःख की जड़ जानकर उनको निरोध करने योग्य समझते हैं, उनका नाम क्लेश-रूप विपर्यय है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च, वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा—चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति; यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते, भवति च व्यपदेशे वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति। तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति; गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथा अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति; उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९॥

९। विकल्पवृत्ति शब्दज्ञान के अनुपाती और वस्तुशून्य [अर्थात् अवास्तव पदार्थ (पदका अर्थमात्र) - विषयक अथच व्यवहार्य] एक प्रकार का ज्ञान है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—विकल्प न तो प्रमाणान्तर्गत है और न विपर्ययान्तर्गत। कारण, वस्तुशून्य होने पर भी शब्द-ज्ञान-माहात्म्य-जन्य व्यवहार विकल्प से होता है। जैसे—'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है'; जब चितिशक्ति ही पुरुष है तब यहाँ कौन विशेष्य किससे व्यपदिष्ट वा विशेषित हो रहा है? व्यपदेश वा विशेष्य-विशेषण-भाव रहने से वाक्यवृत्ति होती है, जैसे 'चैत्र की गाय' (२)। उसी प्रकार दूसरा उदाहरण है—पुरुष प्रतिषिद्ध-(पृथिव्यादि-) वस्तु-धर्म, और निष्क्रिय है; (लौकिक उदाहरण यथा—) बाण चलता नहीं है; चलेगा नहीं, चला नहीं; इसमें जो गति-निवृत्ति है उससे 'स्था' धातु के अर्थमात्र का ज्ञान

होता है। (और दृष्टान्त दिया जाता है, यथा—) 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष' यहाँ पुरुषान्वयी किसी धर्म का ज्ञान नहीं होता, केवल उत्पत्तिधर्म का अभावमात्र जाना जाता है, इसीलिए यह धर्म विकल्पित होता है। उसके (विकल्प के) द्वारा (उक्त वाक्य का) व्यवहार होता है।

टीका ९ (१) ऐसे अनेक पद और वाक्य हैं, जिनका वास्तविक अर्थ नहीं है। ऐसे पद और वाक्य सुनकर एक प्रकार की अस्फुट ज्ञानवृत्ति हमारे चित्त में उठती है। वही विकल्प वृत्ति कहलाती है। जो जीव भाषा की सहायता से मनोभाव व्यक्त करते हैं उनको बहुधा विकल्पवृत्ति की सहायता लेनी पड़ती है। उदाहरणार्थ 'अनन्त' एक वैकल्पिक पद है। इसका व्यवहार हम बहुत करते हैं और एक प्रकार का अर्थ भी समझ लेते हैं। 'अनन्त' पद का वास्तविक अर्थ हमारी धारणा में नहीं आता। 'अन्त' पद के अर्थ का अवधारण हम कर सकते हैं, उसे लेकर 'अनन्त' पद के अर्थ के विषय में एक प्रकार की अलीक, अस्फुट धारणा हमारे चित्त में उठती है। यह दूसरी बात है कि 'अनन्त' 'असंख्य' आदि शब्द अन्य अर्थ में भी व्यवहृत होते हैं। जैसे—जिसका परिमाण अथवा संख्या करते हुए हम अन्त नहीं पाते उसे 'अनन्त' अथवा 'असंख्य' कहते हैं। इस अर्थ में 'अनन्त' आदि शब्द वैकल्पिक नहीं होते। किन्तु एक समग्र पदार्थ समझ कर 'अनन्त' का व्यवहार करने से वह व्यवहार वैकल्पिक होगा; कारण यह है कि 'समग्र' समझते ही वह सान्त हो जायेगा।

योगी लोग जब समाधि-साधन-पूर्वक प्रज्ञा के द्वारा बाह्य और आभ्यंतर पदार्थ का यथा-भूत ज्ञान पाने के लिए यत्न करते हैं तब उनको विकल्पवृत्ति त्याग देनी पड़ती है, क्योंकि विकल्प एक प्रकार की अयथार्थ चिन्ता है। ऋत-म्भरा नामक प्रज्ञा (१।४८ सूत्र) सब विकल्पों की विरोधिनी है। वस्तुतः चिन्तन से यदि समस्त विकल्प न हट जाएँ तो ऋत का (साक्षात् अधिगत सत्य का) चिन्तन नहीं होता है।

विकल्प को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। वस्तुविकल्प, क्रिया-विकल्प और अभावविकल्प। पहले के उदाहरण हैं—'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है', 'राहु का शिर है'। इन स्थलों पर दोनों वस्तुओं की एकता न रहने पर भी व्यवहार-सिद्धि के लिए उनको भिन्न कहना वैकल्पिक व्यवहार है। जहाँ अकर्ता व्यवहार-सिद्धि के लिए कर्त्ता के समान प्रयुक्त होता है, वहाँ क्रियाविकल्प होता है। जैसे, "बाणस्तिष्ठति"; स्था धातु का अर्थ है गतिनिवृत्ति। बाण उस गति-निवृत्ति रूप क्रिया का कर्त्तृरूप से व्यवहृत होता है। वस्तुतः बाण में गतिनिवृत्ति अनुकूल कोई कर्त्तृत्व नहीं रहता। जो पद और वाक्य अभावार्थक हैं उन पर श्रित चित्तवृत्ति अभावविकल्प है। जैसे, 'पुरुष उत्पत्तिधर्म से शून्य है'।

शून्यता अवास्तविक पदार्थ है, उसके द्वारा किसी भावपदार्थ की स्वरूपोपलब्धि नहीं होती; इसलिए इस वाक्य पर आश्रित चित्तवृत्ति का विषय वास्तव नहीं होता। जब तक भाषा की सहायता से चिंतन किया जाता है, तब तक विकल्प-वृत्ति की सहायता लेनी पड़ती है।[१]

विकल्प के अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं, जैसे (१) उपर्युक्त विकल्प-वृत्ति; (२) "वा" अर्थ में प्रयुक्त (Alternative) जैसे—"ईश्वरप्रणिधानाद् वा"; (३) प्रपञ्च, जैसे—वेदान्तियों को निर्विकल्प समाधि; (४) कल्पना-पूर्वक आरोपित होना, जैसे—अस्मिता का वैकल्पिक रूप।

९ (२) 'चैत्र की गाय' इस अविकल्पित उदाहरण में विशेष्य-विशेषण-भाव से युक्त वाक्य की वृत्ति जिस प्रकार की होती है, 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस विकल्प-उदाहरण का वास्तव अर्थ न रहने पर भी शब्द-ज्ञान-माहात्म्य के कारण वैसी वाक्यवृत्ति (अर्थात् चित्त के वाक्यजनित एक प्रकार का बुद्ध-भाव) होती है। इस विकल्प वृत्ति को समझना कुछ कठिन है, अतएव भाष्यकार ने कई उदाहरण दिये हैं। वस्तुतः इसको नहीं समझने से निर्विचार समाधि समझना संभव नहीं है। विपर्यय से व्यवहारसिद्धि नहीं होती, पर विकल्प से व्यवहार-सिद्धि सदा चलती है।[२]

---

१. चूँकि सभी वृत्तियाँ परस्पर सहायक हैं, इसलिए विकल्प के साथ प्रमाणादि-वृत्तियाँ भी संयुक्त रहती हैं—इस तथ्य का प्रतिपादन ग्रन्थकार ने अन्यत्र किया है, द्र० दार्शनिक निबन्धावली, पृ० १८ (बंगलाग्रन्थ) [सम्पादक]

२. 'शश-शृंग' 'आकाशकुसुम' प्रभृति पद वैकल्पिक होते हैं या नहीं, ऐसी शंका उठ सकती है। इसका उत्तर यह है कि विकल्प का विषय अवस्तु है। वह वस्तु-रूप से धारणा या मानसिक रचना करने योग्य नहीं है, जैसे—'राहु का शिर'; जब जो राहु है वही शिर है, तब दोनों को अलग करके उनका मानस अथवा बाह्य प्रत्यक्ष करने की संभावना नहीं है; और यहाँ सम्बन्ध भी मिथ्या है। वैसे ही 'बाण नहीं चल रहा है' इस वाक्य में 'बाण' और 'नहीं चल रहा है,' उसकी यह 'क्रिया' पृथक् नहीं है। अतः कारक का क्रिया-विकल्प है। किन्तु 'शशशृंग' ऐसा नहीं है। शशक तथा उसके मस्तक पर शृंग इन दोनों की योजना करके हम मानस-प्रत्यक्ष या कल्पना कर सकते हैं, अतः यह कल्पना है; और, यहाँ 'शशक का शृंग' यह जो सम्बन्ध कहा जाता है वह दो वस्तुओं का है; इसीलिए विकल्प भी नहीं होता। यह सम्बन्ध मिथ्या तो है ही, पर हम उस अलीकता को दिखाने के लिए ही ऐसा कहते हैं, व्यवहार-सिद्धि के लिए नहीं। मिथ्या को मिथ्या कहना विकल्प नहीं होता। अतः 'शशशृंग' या 'आकाशकुसुम' का अर्थ है—'असंभव'।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

भाष्यम्—सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथम्, सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति,[1] दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं (अलमिति पाठान्तरम्) मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

१०। (जाग्रत तथा स्वप्न के) अभाव के प्रत्ययस्वरूप अथवा हेतुभूत तमः (जड़ताविशेष) का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है। सू०

भाष्यानुवाद—जागने के बाद उसका स्मरण होने के कारण निद्रा प्रत्यय या वृत्ति-विशेष है, ऐसा सिद्ध होता है। किस प्रकार? यथा 'मैं सुख की नींद सोया था, मेरा मन प्रसन्न हो रहा है तथा मेरी प्रज्ञा को स्वच्छ कर रहा हैं।' अथवा "मैं दुःख से सोया था, मेरा मन चंचलता से अस्थिर और अकर्मण्य हो रहा है और इधर-उधर भटक रहा है' अथवा 'मुग्ध भाव से मैं प्रगाढ़ निद्रा में था, मेरा देह भारी है और चित्त सुस्त और थका है, मानों दूसरे से अपहृत होकर स्तव्ध-सा हो गया है।' यदि निद्राकाल में प्रत्यय (तामस भाव) का अनुभव नहीं होता तो अवश्य ही जागरित व्यक्ति को ऐसा प्रत्यवमर्श वा अनुस्मरण नहीं होता और चित्ताश्रित स्मृतियाँ भी प्रत्ययाश्रित (निद्रा-विषयक) न होतीं। अतः निद्रा प्रत्ययविशेष है और समाधिकाल में अन्य प्रत्ययों के साथ उसका भी निरोध करना चाहिए (१)।

टीका १० (१) जाग्रतकाल में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चिन्ताधिष्ठान (मस्तिष्क का भाग-विशेष) चेतन भाव से चेष्टा करते हैं; स्वप्नकाल में कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय जड़ रहती हैं, केवल चिन्ताधिष्ठान चेष्टा करता है। सुषुप्ति में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चिन्तास्थान सभी जड़ हो जाते हैं पर प्राणों की क्रिया चलती रहती है। निद्रा के पहले शरीर में जो आच्छन्नभाव मालूम

---

१. विशारदी करोति—यह असमस्त पद है। च्विप्रत्ययान्त शब्द के साथ तिङन्त पद का समास नहीं होता, अतः दो पदों के रूप में यहाँ रखा गया है। इस प्रकार के जितने शब्द भाष्य में प्रयुक्त हुये हैं—सर्वत्र उनको दो पदों के रूप में पढ़ना चाहिये। भाष्य के प्रायः सभी संस्करणों में सम्पादकों के अनवधान से ऐसे शब्द एक पद की तरह मुद्रित हुये हैं; द्र० खिली क्रियते (१।१२), आलम्बनी क्रियते (१।१८)। [**सम्पादक**]

पड़ता है, वही जड़ता या तमः होता है। उत्स्वप्न वा Nightmare नामक अस्वाभाविक निद्रा में कभी-कभी ज्ञानेन्द्रियाँ जागरूक होती हैं, किन्तु कर्मेन्द्रियाँ जड़ रहती हैं। वह व्यक्ति उस समय कुछ-कुछ सुन और देख सकता है, किन्तु हाथ-पैर चला नहीं सकता; ऐसा अनुभव होता है कि हाथ-पैर आदि जम गए हैं। इस प्रकार का जम जाना अथवा जड़भाव ही तमः है। यह तमः जिस वृत्ति का विषयीभूत होता है वही निद्रा है।

निद्रा में तमसाच्छन्न होने के कारण चूँकि क्रियाशीलता रुक जाती है इसलिए उस समय एक प्रकार की स्थिरता होती है, परन्तु वह समाधिकाल की स्थिरता से पूर्णतः विपरीत है। निद्रा अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है; समाधि स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु अधिक कीचमय जल निद्रा है तथा स्थिर और अत्यन्त निर्मल जल समाधि है।

भाष्यकार ने क्रमशः सात्त्विक राजस और तामस निद्रा का उदाहरण देकर निद्रा के त्रिगुणत्व तथा वृत्तित्व को प्रमाणित किया है। निद्रा में भी एक प्रकार का अस्फुट अनुभव होता है, अतः निद्रा का भी स्मरण-ज्ञान होता है। वस्तुतः निद्रा आते समय हम पूर्वानुभूत निद्रा-भाव का ही स्मरण करते हैं। जाग्रत और स्वप्न की तुलना में निद्रा तामस वृत्ति है, यथा––**सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्। प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु सन्ततम्॥**" (भागवत ११।२५।२०)। ऐसे शास्त्र-वचनों से निद्रा का तामसत्व ही प्रमाणित होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति का अर्थ ज्ञानविशेष है। सुषुप्तिकाल में जो जड़, आच्छन्न करण-भाव होता है, निद्रावृत्ति उसी का विज्ञान है। जाग्रत और स्वप्न में प्रमाणादि-वृत्तियाँ होती हैं, सुषुप्ति में नहीं।

निद्रा-वृत्ति का निरोध करने के लिए सर्वप्रथम शरीर को स्थिर रखने का अभ्यास करना चाहिए। इसके द्वारा शरीर की क्षयजनित प्रतिक्रिया रूप निद्रा की आवश्यकता नहीं होती। शरीर स्थिर रहने पर भी मस्तिष्क की शान्ति के लिए एकाग्रता अथवा ध्रुवा स्मृति आवश्यक है। निद्रारोध के लिए यही प्रधान साधन है। इसको 'सत्त्वसंसेवन' (**सत्त्वसंसेवनान्निद्राम्**––महाभा० शान्ति० २४०।६) कहते हैं। निरंतर जिज्ञासा या ज्ञानेच्छा अथवा 'अपने को भूलूँगा नहीं' ऐसा संप्रजन्यरूप ज्ञानाभ्यास ही इसका साधन है (**ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम्**'––शान्तिपर्व २१६।३) दिन-रात इस साधन में स्थिर होने की शक्ति होने पर निद्रा वश में आती है और ऐसी एकाग्रभूमि होने पर सम्प्रज्ञात योग होता है। सम्प्रज्ञात के बाद सम्प्रज्ञान को त्याग देने पर असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

साधारण अवस्था में जिस प्रकार किसी भी असाधारण शक्ति का विकास हो जाता है, उसी प्रकार निद्राहीनता भी (अनिद्रा रूप बीमारी नहीं) आ

सकती है। अन्य अवस्थाओं में भी ऐसा हो सकता है; किन्तु अन्य वृत्तियों के निरोध न होने के कारण ये सब योग नहीं हैं। स्मृतिसाधन करते-करते प्रतिक्रिया-वश किसी किसी का चित्त स्तब्ध या सुषुप्त होता है; इस प्रकार के उदाहरण बहुत मिलते हैं। इस समय किसी का सिर झुक जाता है; किसी के शरीर और शिर ठीक रहते हुए भी निद्रित व्यक्ति के समान उसकी साँस चलती है; प्रायः निरायास-जनित अस्फुट आनन्दबोध उनमें रहता है और दूसरे किसी विषय का स्मरण नहीं रहता। ये सब भी पूर्वोक्त सत्त्वसंसेवन द्वारा हटाए जा सकते हैं।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्विद् विषयस्येति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः; सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाऽभावितस्मर्तव्या च; स्वप्ने भावितस्मर्तव्या जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति।

सर्वाः स्मृतयः प्रमाण-विपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः, सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति। एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति, असम्प्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

११। अनुभूत विषय का असम्प्रमोष (१) अर्थात् तदनुरूप आकार से युक्त वृत्ति स्मृति है। सू०

भाष्यानुवाद—क्या चित्त पूर्वानुभव-रूप प्रत्यय का स्मरण करता है अथवा विषय का (२) ? ग्राह्योपरक्त होने पर भी प्रत्यय ग्राह्य तथा ग्रहण इन दोनों के स्वरूप को निर्भासित वा प्रकाशित करता है और उसी प्रकार के संस्कार को भी उत्पन्न करता है। यह संस्कार अपने व्यंजक के द्वारा (उपलक्षण आदि के द्वारा) उद्‌बुद्ध होता है (३) और स्वकारणाकार (अर्थात् अपने अनुरूप) ग्राह्यात्मक तथा ग्रहणात्मक स्मृति ही उत्पन्न करता है। (यहाँ स्मृति का अर्थ है—मानस शक्ति का विकास; अधिगत विषय का विकास है स्मृति और ग्रहणशक्ति का विकाश है प्रमाणरूप बुद्धि)। उनमें बुद्धि ग्रहणाकार-पूर्वा और स्मृति ग्राह्याकार-पूर्वा होती है। यह स्मृति दो प्रकार की है— भावितस्मर्तव्या तथा अभावितस्मर्तव्या। स्मृति स्वप्न में भावितस्मर्तव्या (४) और जाग्रत काल में अभावितस्मर्तव्या होती है।

सम्पूर्ण स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति के अनुभव से होती हैं। (उपर्युक्त) सब वृत्तियाँ सुख-दुःख-मोहात्मिका हैं। क्लेशों की विवेचना के साथ सुख, दुःख और मोह (५) की व्याख्या की जाएगी। राग सुखानुशयी है, द्वेष दुःखानुशयी है और मोह अविद्या है। ये सब वृत्तियाँ निरोध-योग्य हैं। इनका निरोध होने पर सम्प्रज्ञात या असंप्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है।

टीका ११ (१) असम्प्रमोष=अस्तेय अथवा निजस्वमात्र का ग्रहण, परस्व का अग्रहण। तात्पर्य यह है कि स्मृतिकाल में पूर्वानुभूत विषयों का ही पुनः अनुभव होता है, और किसी अननुभूत भाव की स्मृति नहीं होती है।

११ (२) क्या घट रूप ग्राह्यमात्र की स्मृति होती है अथवा केवल प्रत्यय (अनुभवमात्र अथवा घट-ज्ञान) की ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने यह सिद्धान्त दिखाया है कि इन दोनों का ही स्मरण होता है। यद्यपि प्रत्यय ग्राह्योपरक्त अर्थात् ग्राह्याकार है तथापि उसमें ग्रहणभाव अनुस्यूत रहता है। अर्थात् केवल घट का ज्ञान नहीं होता, परन्तु 'मैंने घट जाना' ऐसा ग्रहण-भाव-युक्त घटाकार प्रत्यय भी होता है। अनुभूत विषय का असम्प्रमोष ही अर्थात् पूर्वानुभूत ग्राह्य विषयमात्र का अनुभव ही स्मृति कहलाता है। किन्तु उस तरह की ग्राह्य-स्मृति में ग्रहण या 'मैं जान रहा हूँ' या 'मैंने जाना' ऐसा एक नवीन ज्ञान भी रहता है। नवीन का अर्थ है जो पूर्वानुभूत न हो; किन्तु स्मृति रूप में जो घटना नये रूप में घटती है वह नूतन ही मानी जाती है। स्मरण-ज्ञान में जब उस प्रकार का ज्ञान भी रहता है तब स्मरण-ज्ञान में (१) पूर्वानुभूत विषय का ज्ञान, और (२) 'मैंने जाना' ऐसी नयी मानसिक घटना दोनों ही हैं, यही कहना होगा। इनमें पहला है अधिगत विषय का ज्ञान और दूसरा है अनधिगत विषय का ज्ञान। इनमें पहला स्मृतिलक्षण में आएगा और दूसरा प्रमाण में आएगा। यही प्रमाण-रूप बुद्धि है।

सभी अनुभवों के भीतर ग्राह्य भी रहता है ग्रहण भी, तथा उन दोनों के ही संस्कार होते हैं। सुतरां उन दोनों से ही प्रत्यय होता है। इनमें ग्राह्य-संस्कार-जनित प्रत्यय स्मृति है। ग्रहण-संस्कार-जनित जो प्रत्यय है वह क्रिया अर्थात् मानस क्रिया या जानने की शक्ति है, अतः वह संस्कार ही जानने की शक्ति है। ज्ञानशक्ति से जो मानस क्रिया होती है वह पूर्णतया पूर्ववत् नहीं होती; वह नवीन ज्ञान रूप एक प्रत्यय है, अतः यही प्रमाण है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार ग्रहणाकारपूर्वा का तात्पर्य है—प्रधानतः अनधिगत विषय का ग्रहण या आदान करनेवाली बुद्धि। (वस्तुतः बुद्धि और ग्रहण एकार्थक हैं, यहाँ विकल्पित भेद कर बुद्धि का कार्य समझा दिया

गया है)। स्मृति प्रधानतः ग्राह्याकारा है अर्थात् वह अन्य वृत्ति द्वारा ज्ञात विषय का अवलम्बन करती है, दूसरे शब्दों में अधिगतविषयाकारा है।

११ (३) स्वव्यंजकांजन—स्वव्यंजक = स्वकारण, अंजन = आकार है जिसका; अथवा व्यंजक = उद्बोधक, अंजन = फलाभिमुखीकरण है जिसका (वाचस्पति मिश्र)।

११ (४) भावितस्मर्त्तव्या अर्थात् उद्भावित या कल्पित तथा विपर्यस्त प्रत्यय के अनुगत विषयों का स्मरण करनेवाली; जैसे—'मैं राजा हुआ हूँ' इस कल्पित प्रत्यय के सहभावी प्रासाद, सिंहासन आदि स्वप्नगत स्मृति के विषय हैं। जाग्रत काल में इसका विपरीत होता है, अर्थात् उस समय प्रधानतः अनुद्भावित प्रत्यय और ग्राह्य इन दोनों का समष्टिरूप विषय ही स्मरणीय होता है।

११ (५) वस्तुतः जिस बोध में सुख तथा दुःख के स्पष्ट ज्ञान की शक्ति नहीं रहती वही मोह है; जैसे अत्यन्त पीड़ा-बोध के बाद दुःख-ज्ञान से शून्य मोह होता है। तमःप्रधान होने के कारण मोह अविद्या का अत्यन्त समीप है। चित्त के सभी बोध सुख-दुःख-मोह के साथ होते हैं; अतः इन्हें चित्त की बोधगत अवस्था-वृत्तियाँ कही जा सकती हैं। चित्त की समस्त चेष्टाएँ राग, द्वेष और अभिनिवेश के साथ होती हैं; इस कारण इनको चेष्टागत अवस्था वृत्ति भी कहते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति धार्यगत (धार्य = शरीर) अवस्थावृत्ति हैं (सांख्यतत्त्वालोक[1] ३८-३९ प्रकरण देखिए)।

भाष्यम्—अथास्य निरोधे क उपाय इति—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते—इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद—इन (वृत्तियों) के निरोध का क्या उपाय है?

१२। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उनका निरोध होता है। सू०

चित्त नामक नदी दोनों दिशाओं में बहती है। वह कल्याण की ओर भी बहती है और पाप की ओर भी। जो विवेक-विषयरूप निम्न मार्ग से

---

१. यह ग्रन्थकारकृत ग्रन्थ है।

जाती है और कैवल्य-रूप उच्चभूमि तक बहती है वह कल्याण-वहा है; और जो अविवेकविषय-रूप निम्नमार्ग से जाती है और संसारप्राग्भार तक बहती है वह पापवहा है। इनमें वैराग्य द्वारा विषयस्रोत मन्द या कम हो जाता है और विवेक-दर्शन के अभ्यास द्वारा विवेकस्रोत उद्घाटित होता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति-निरोध इन दोनों के अधीन है। (१)।

टीका १२ (१) अभ्यास और वैराग्य मोक्षसाधन के साधारणतम उपाय हैं। अन्य सब इनके अंतर्गत हैं। योग के ये दो तत्त्व गीता (६।३५) में भी प्रतिपादित हुए हैं, यथा—**"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"**। मुख्य होने के कारण विवेकदर्शन के अभ्यास का ही उल्लेख भाष्यकार ने किया है। परन्तु साधन-सहित समाधि ही अभ्यास का विषय होती है। जितना अभ्यास किया जाएगा उतना ही फल प्राप्त होगा; मार्ग की दुर्गमता देखकर निराश नहीं होना चाहिए। यथासाध्य यत्न करते जाना चाहिए।

अनेक व्यक्ति साधन की कठिनाई देखकर और दुर्दम प्रकृति को अधीन न कर सकने के कारण 'ईश्वर के द्वारा नियोजित होकर प्रवृत्ति मार्ग पर चल रहे हैं' ऐसा तत्त्व स्थिर कर मन को आश्वासन देने की चेष्टा करते हैं। किन्तु ईश्वर के द्वारा हो या जिस किसी प्रकार से हो, पापाभ्यास करने पर उसका फल भोगना ही पड़ेगा। और कल्याण करने पर सुखमय फल होगा, यह ध्यान में रखना चाहिए। पक्षान्तर में यह भी सोचना चाहिए कि 'ईश्वर द्वारा नियुक्त होकर समस्त कार्य कर रहा हूँ,' यह भाव भी अभ्यसनीय ही है। प्रत्येक कर्म में इस प्रकार सोचने से यह उक्ति यथार्थ और कल्याणकर होती है। किन्तु उच्छृंखल प्रवृत्तिमार्ग में विचरण करने के लिए इस दृष्टि को तर्क या प्रमाण बनाने से सिवाय दुःख के और क्या फल मिलेगा ? प्रयत्न के बिना यदि मोक्ष-लाभ होता तो इतने दिनों में सभी को मोक्ष का लाभ हो जाता।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

भाष्यम्—चित्तस्य अवृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

१३। उन दोनों में (अभ्यास और वैराग्य में) स्थिति-विषयक यत्न का नाम अभ्यास है। सू०

भाष्यानुवाद—अवृत्तिक (वृत्तिशून्य) चित्त की 'प्रशान्तवाहिता' (१) अर्थात् निरोध के प्रवाह का नाम स्थिति है। उसी स्थिति के लिए जो प्रयत्न

या वीर्य या उत्साह है अर्थात् उसी स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से उसके साधन का जो बार-बार अनुष्ठान किया जाता है, वह अभ्यास है।

टीका १३ (१) निरुद्ध अवस्था अथवा सर्ववृत्तिनिरोध के प्रवाह का नाम 'प्रशान्तवाहिता' है। वही चित्त की चरम स्थिति है; अन्य स्थैर्य गौण स्थिति है। साधन के उत्कर्ष से स्थिति का भी उत्कर्ष अवश्य ही होता है। प्रशान्तवाहिता पर ध्यान रखकर जो साधक जैसी स्थिति को प्राप्त करते हैं उसी को उदित रखने के यत्न का नाम अभ्यास है। जितने उत्साह और वीर्य से कोई साधक यत्न करेगा, वह उतनी ही जल्दी अभ्यास में दृढ़ता प्राप्त करेगा। श्रुति भी कहती है—**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' (मुण्डक ३।२।४)**।[1]

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४॥

भाष्यम्—दीर्घकालासेवितो निरन्तरासेवितस्तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येव अनभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

१४। वही अभ्यास बहुत समय तक निरन्तर तथा अत्यन्त आदर के साथ आसेवित होने से दृढ़भूमि होता है। सू०

भाष्यानुवाद—दीर्घकाल तक आसेवित, निरन्तर आसेवित तथा (सत्कारयुक्त अर्थात्) तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक सम्पादित होने से उस अभ्यास को सत्कारवान् कहा जाता है एवं वह अभ्यास दृढ़भूमि होता है अर्थात् अभ्यास का स्थैर्यरूप विषय व्युत्थानसंस्कार के द्वारा शीघ्र अभिभूत नहीं होता (१)।

टीका १४ (१) निरंतर अर्थात् प्रात्यहिक अथवा कर सकने पर प्रत्येक क्षण का जो स्थैर्याभ्यास है, तथा जो अभ्यास उसके विपरीत अस्थैर्याभ्यास के द्वारा अंतरित वा भग्न नहीं होता, वही 'निरन्तर अभ्यास' है।

तपस्या = विषय-सुख का त्याग। शास्त्र (शान्तिपर्व २१९।१८) में कहा है—**'सुखत्यागे तपोयोगं सर्वत्यागे समापनम्'** अर्थात् सुखत्याग तप है

---

१. अनुवाद—आत्मसाक्षात्कारोपयोगी वीर्य से शून्य व्यक्ति इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रमाद के वश रहने पर तथा प्रकृतसंन्यासहीन शब्दाश्रित ज्ञान के द्वारा भी आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। वीर्य अप्रमाद आदि उपायों से जो चेष्टा करते हैं, उनका आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होता है। [**सम्पादक**]

और सर्वत्याग रूप निःशेष-त्याग ही योग है। विद्या=तत्त्वज्ञान। तपस्यादि-पूर्वक अभ्यास करते रहने पर यह अभ्यास यथार्थ सत्कारपूर्वक ही किया जा रहा है, यह सुनिश्चित होता है। इस प्रकार अभ्यास करते रहने से यह दृढ़ और अपराजेय होता है। श्रुति में कहा गया है—**'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्भवति'** (छान्दोग्य १।१।१०)—जो युक्ति-युक्त ज्ञान से, श्रद्धा तथा सारयुक्त शास्त्रज्ञान के साथ अर्थात् वास्तविक प्रणाली से किया जाता है वही अधिकतर वीर्यवान् होता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—स्त्रियो ऽन्नपानम् ऐश्वर्यम् इति दृष्टविषयवितृष्णस्य, स्वर्ग-वैदेह्य-प्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलाद् अनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

१५। दृष्ट और आनुश्रविक विषय में वितृष्ण चित्त का जो वशीकार ज्ञान है, वही वैराग्य है। सू०

भाष्यानुवाद—स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य आदि दृष्ट विषय हैं। स्वर्ग, विदेह-भाव (१) और प्रकृतिलयत्व आदि आनुश्रविक विषय हैं। इन सबमें वितृष्ण और दिव्यादिव्य-विषयों की उपस्थिति होने पर भी उनमें विषयदोषदर्शी चित्त की प्रसंख्यान की सहायता से जो अनाभोगात्मक (२) हेयोपादेय-शून्य वृत्ति (या निर्विकल्पक बुद्धिविशेष) होती है, वही वशीकार-संज्ञा (या वश में की हुई अपरिवर्त्तनशील ज्ञानावस्था) वैराग्य है (३)।

टीका १५ (१) विदेहदेव और प्रकृतिलय के विषय में १/१९ वें सूत्र की टिप्पणी देखिए।

१५ (२) प्रसंख्यान=विवेकसाक्षात्कार। अनाभोग—पूर्णरूप से विषय में चित्त का रहना आभोग है। समाधि के समय ध्येयरूप विषय में चित्त जिस भाव में रहता है, वह आभोग का उदाहरण है। अनाभोग इसका विपरीत-भाव है। विक्षेपकाल में साधारण क्लेशजनक विषय में चित्त का आभोग रहता है। जिस विषय में अधिक राग रहता है या इच्छा के कारण जिस विषय पर चित्त को लगाया जाता है, उसी में आभोग होता है। राग हट जाने से चित्त का अनाभोग होता है अर्थात् उस विषय से चित्त का व्यापार निरस्त हो जाता है। उस समय उस विषय का स्मरण या उस विषय में प्रवृत्ति का अभाव रहता है।

१५ (३) जब विषय का त्रिताप-जनकतारूप दोष प्रसंख्यान की सहायता से विशेषतः जान पड़ता है तब अग्नि से जले हुए शरीर में जलन के समान उसका साक्षात् अनुभव होता है। 'अग्नि जलन पैदा करती है' यह जानना और जलन का अनुभव करना इन दोनों में जो भेद है वही भेद श्रवण-मनन द्वारा विषय-दोष का ज्ञान और प्रसंख्यान द्वारा उसका साक्षात् अनुभव–इन दोनों में है। प्रसंख्यान के द्वारा समस्त विषयों के दोषों का साक्षात् अनुभव करने पर विषयों में चित्त का जो सम्यक् अनाभोग होता है, चित्त की यही वशीकारसंज्ञा अर्थात् वशीकृततारूप ज्ञान या मनोभाव ही वैराग्य है।

वशीकार एक बार में ही सिद्ध नहीं हो जाता है। उससे पहले वैराग्य की तीन अवस्थाएँ हैं—(१) यतमान (२) व्यतिरेक और (३) एकेन्द्रिय। इन तीन अवस्थाओं के बाद वशीकार सिद्ध होता है। 'विषयों की ओर इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं कराऊँगा'—इस प्रकार की चेष्टा करते रहना यतमान वैराग्य है। यतमान वैराग्य स्वल्पाधिक मात्रा में सिद्ध हो जाने पर जब किसी-किसी विषय से राग हट जाता है और किसी-किसी में क्षीण होता रहता है तब व्यतिरेक के साथ अथवा पृथक् करके कहीं-कहीं वैराग्यावस्था दृढ़ करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है; यह व्यतिरेकवैराग्य कहलाता है। अभ्यास के द्वारा इसको आयत्त करने पर जब सभी इन्द्रियाँ बाह्य विपयों से भली-भाँति निवृत्त हो जाती हैं, पर उत्सुकता के रूप में मन में कुछ अनुराग अवशिष्ट रहता है, तब उस अवस्था को एकेन्द्रिय कहा जाता है, क्योंकि वह केवल मनोरूप एक ही इन्द्रिय में रहता है। इसके बाद जब जितेन्द्रिय योगी को इच्छापूर्वक राग को निवृत्त नहीं करना पड़ता तथा चित्त और सभी इन्द्रियाँ लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयों से अपने आप ही निवृत्त हो जाती हैं, तब उसे अपर वैराग्य का पूर्णतारूप अर्थात् हेयोपादेय या त्याग-ग्रहण से शून्य वशीकारवैराग्य कहते हैं। इस अवस्था में विषयों की ओर परम उपेक्षा होती है।

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात् तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति।

तद् द्वयं वैराग्यम्; तत्र यदुत्तरं तज् ज्ञानप्रसादमात्रम्। यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते–"प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्य अविच्छेदाज् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते", इति। ज्ञानस्यैव परा काष्ठा वैराग्यम्; एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

१६। पुरुषख्याति होने के पश्चात् गुणवैतृष्ण्य रूप वैराग्य ही परवैराग्य कहलाता है। सू०

भाष्यानुवाद—दृष्टादृष्ट-विषय-दोष-दर्शी, विरक्त-चित्त योगी द्वारा पुरुष का दर्शनाभ्यास करते-करते तद्विषयक दर्शन की शुद्धि या सत्त्वैकतानता उत्पन्न होती है। इस शुद्ध दर्शन से उत्पन्न प्रकृष्ट विवेक (१) के द्वारा आप्यायित योगी (दूसरे शब्दों में उत्कृष्ट-बुद्धि या तृप्त-बुद्धि योगी) व्यक्ताव्यक्त-धर्मक गुण-समूह में (२) विरक्त (३) होते हैं। अतएव वैराग्य दो प्रकार का है, जिनमें अन्तिम अर्थात् परवैराग्य ज्ञानप्रसादमात्र (४) होता है। यह वैराग्य होने पर प्रत्युदित-ख्याति (आत्मज्ञानी) योगी इस प्रकार सोचते हैं:—प्राप्य को प्राप्त हो चुका हूँ, क्षेतव्य (क्षीण करने योग्य) सभी विषय क्षीण हो चुके हैं, श्लिष्टपर्व या अविरल भव-संक्रम (जन्ममरण-प्रवाह) छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, जिसके छिन्न-भिन्न न होने से जीवगण आवागमन में फँसे रहते हैं। ज्ञान की परा काष्ठा वैराग्य है और कैवल्य वैराग्य का अविनाभावी है (अर्थात् वैराग्य के बिना मोक्ष होना असंभव है)।

टीका १६ (१) (२) प्रविवेक का अर्थ ज्ञान की परा काष्ठा है। केवल चित्त के निरुद्ध होने से ही कैवल्य-सिद्धि नहीं होती। परवशता या अपनी इच्छा की अनधीनता के कारण निरोध का (प्राकृतिक नियम से) जो भंग होता है, वह जब पुनः नहीं होता तब उसको कैवल्य कहा जाता है। भङ्गहीन निरोध के लिए वैराग्य आवश्यक होता है। यह भी ज्ञातव्य है कि वैराग्य के लिए तत्त्वज्ञान (पुरुष भी एक तत्त्व है) आवश्यक है। वशीकार वैराग्य के द्वारा चित्त को विषय से निवृत्त कर पुरुषख्याति की सहायता से निरोधसमाधि का अभ्यास करना पड़ता है। पुरुषख्याति के समय चित्त बाह्य-विषयशून्य होता हुआ केवल विवेकविषय से सम्बन्धित रहता है।

जो वशीकार-वैराग्यपूर्वक बाह्य-विषय से चित्त-निरोध करके बुद्धि और पुरुष की भेदख्याति (विवेकख्याति) नहीं साधते हैं और केवल अव्यक्त या शून्य को चरम तत्त्व जानकर उसी में समाहित होते हैं (जैसे कि कुछ बौद्धसम्प्रदाय), उनका वैराग्य पूर्ण नहीं होता, इसलिए उनका चित्तनिरोध भी शाश्वतिक-सार्वकालिक नहीं होता है। हेतु यह है कि उनका वैराग्य वस्तुतः व्यक्त विषय पर (इहामुत्र विषय पर) सिद्ध हो जाता है, किन्तु अव्यक्त विषय में सिद्ध नहीं होता। अतः वे प्रकृति में लीन रहकर पुनः उठते हैं। इसके अतिरिक्त अव्यक्त तथा पुरुष की भेदख्याति न होने के कारण उनका सम्यक्-दर्शन भी सिद्ध नहीं होता। उस सूक्ष्म अज्ञानबीज से ही उनका पुनरुत्थान होता है। इस कारण योगी लोग वशीकारवैराग्य-सम्पन्न होकर पुरुषदर्शन के

अभ्यास के साथ चेतन-सी बुद्धि से चिद्रूप पुरुष का भेद साक्षात् कर सब विकारों के मूलस्वरूप अव्यक्त में भी वितृष्ण होते हैं अर्थात् वे तीनों गुणों की व्यक्त या अव्यक्त (शून्यवत्) सभी अवस्थाओं में विरक्त होते हैं।

१६ (३) राग बुद्धि (अन्तःकरण) का धर्म है। अतः वैराग्य भी उसी का धर्म है; राग से प्रवृत्ति होती है और वैराग्य से निवृत्ति। जिस बुद्धि के द्वारा पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार होता है उसे 'अग्र्या बुद्धि' कहते हैं। श्रुति कहती है, **"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"**[1] (कठ १।३।१२)। पुरुषख्याति होने से उसके द्वारा आप्यायित होकर बुद्धि फिर अव्यक्त में वा शून्य में समाहित होने के लिए अनुरक्त नहीं होती, किन्तु द्रष्टा के स्वरूप में सम्यक् स्थिति के लिए प्रवृत्त होकर शाश्वती शान्ति को पाती है या प्रलीन होती है। उस समय गुण और गुणविकार से सम्यक् वियोग हो जाता है। पर-वैराग्य एवं निर्विप्लवा पुरुषख्याति अविनाभावी होते हैं। उसी के द्वारा ही चित्तप्रलयरूप कैवल्य सिद्ध होता है।

१६ (४) 'ज्ञान-प्रसाद' का अर्थ ज्ञान की चरम शुद्धि है। मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान ही दुःखनिवृत्ति का प्रमुख अथवा गौण कारण होता है। जिस ज्ञान से दुःख की एकान्त तथा अत्यन्त निवृत्ति होती है वही चरम ज्ञान होता है। उससे अधिक और कुछ ज्ञातव्य नहीं रह जाता। पर-वैराग्य से दुःख की एकान्त तथा अत्यन्त निवृत्ति होती है। अतः परवैराग्य ही ज्ञान की चरम अवस्था या चरम शुद्धि है; यह परवैराग्य ज्ञान-स्वरूप होता है। क्योंकि उसमें किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति नहीं रहती। प्रवृत्ति के अभाव में चित्त समाहित रहता है और केवल पुरुषख्याति ही अवशिष्ट रहती है, अतः प्रवृत्तिशून्य ज्ञानप्रसादमात्र होता है। जो चित्तस्थिति प्रवृत्तिहीन अथवा जाड्यहीन है वह प्रकाश या ज्ञान है। 'प्राप्य को प्राप्त कर चुका हूँ'—इत्यादि वाक्य के द्वारा भाष्यकार ने प्रवृत्तिशून्यता तथा ज्ञानप्रसाद-मात्रता दिखाई हैं। पर-वैराग्य के विषय में श्रुति का कथन है—**'अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते'** (कठोपनिषद् २।१।२)[2]।

---

१. अनुवाद : सूक्ष्मदर्शी मनीषी अग्र्या बुद्धि के द्वारा इस आत्मा की उपलब्धि करते हैं। [**सम्पादक**]

२. अनुवाद : ज्ञानी व्यक्ति नित्य अमृतत्व को जानकर अनित्य वस्तुओं में से कुछ भी सार वस्तु की आकांक्षा नहीं करते हैं (अर्थात् वे परवैराग्य से युक्त होते हैं)। [**सम्पादक**]

भाष्यम्—अथ उपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते संप्रज्ञातः समाधिरिति ?—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क श्चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगः; सूक्ष्मो विचारः; आनन्दो ह्लादः; एकात्मिका संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्वे एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद—उपायद्वय के (अभ्यास तथा वैराग्य के) द्वारा निरुद्धचित्त वृत्ति योगी में जो सम्प्रज्ञात समाधि (१) होती है वह किस प्रकार से कही जाती है ?

१७। वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता इन चार भावों का अनुगत होकर (इन चार पदार्थों के ग्रहण या अतिक्रमण के साथ होना ही अनुगत भाव से होना है) जो समाधि होती है, वह संप्रज्ञात कहलाती है। सू०

(प्रथम है) वितर्क अर्थात् किसी आलंबन में समाहित (२) चित्त के उस आलंबन का स्थूल-रूप-विषयक आभोग अर्थात् स्थूल रूप की साक्षात्कारिणी प्रज्ञा। (द्वितीय है) विचार=सूक्ष्म आभोग (३)। (तृतीय है) आनन्द ह्लाद से युक्त आभोग (४)। (चतुर्थ है) अस्मिता=एकात्मिका संविद् (५)। इनमें प्रथम सवितर्क समाधि चतुष्टयानुगत है। द्वितीय सविचार समाधि वितर्क-विकल (६) है। तृतीय सानन्द समाधि विचारविकल (७) है। चतुर्थ आनन्दविकल अस्मितामात्र (८) है। ये सब समाधियाँ सालम्बन (९) हैं।

टीका १७ (१) प्रथम सूत्र के भाष्य तथा टिप्पणी में संप्रज्ञात योग का जो विवरण है, पाठक उसे स्मरण रखें। एकाग्रभूमिक चित्त में समाधिसिद्धि होने पर क्लेशों के मूल की नाशकारिणी जो प्रज्ञा होती है, वही सम्प्रज्ञात योग है। जिन समाधियों से यह साक्षात्कारवती प्रज्ञा उत्पन्न होती है उनके वितर्क आदि चार प्रकार के भेद हैं। विषयगत भेदों के अनुसार वितर्क आदि भेद होते हैं। सवितर्क और निर्वितर्क या सविचार और निर्विचार-रूप जो समापत्ति-भेद हैं, वे समाधि के विषय और प्रकृति के भेदों से होते हैं (१।४१-४४ सूत्र देखिए)।

१७ (२) शब्द, अर्थ, ज्ञान और विकल्प से युक्त चित्तवृत्ति यदि स्थूलविषयक हो तो उसे वितर्कान्वयी वृत्ति कहते हैं। साधारण इन्द्रियों के द्वारा जो गौ, घट, नील-पीतादि विषय गृहीत होते हैं, वे ही स्थूल विषय हैं। तात्त्विकदृष्टि से यह कहना होगा कि स्थूलग्राहक इन्द्रियों के द्वारा जब शब्द-रूपादि विविध इन्द्रिय-ग्राह्य धर्म संकीर्ण-भाव से गृहीत होकर 'एक' द्रव्य के रूप में ज्ञात

होते हैं, वही स्थूलता का साधारण लक्षण है। उदाहरणार्थ गौ को ही लीजिए; गौ का स्थूल-ज्ञान इन्द्रिय-ग्राह्य बहुविध-धर्म-समष्टि के संकीर्ण ग्रहण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार का स्थूल विषय जब शब्दादिपूर्वक अर्थात् शब्द-वाच्यरूप में समाधिप्रज्ञा का विषय होता है तब उसको सवितर्क कहते हैं और वितर्कहीन समाधि को निर्वितर्क कहते हैं। ये दोनों ही वितर्कानुगत संप्रज्ञात हैं (१।४२ सूत्र देखिए)।

१७ (३) स्थूलविषयक समाधि वशीकृत होने पर उस समाधि के अनुभव के साथ विचारविशेष से सूक्ष्मतत्त्व का सम्प्रज्ञान होता है। यही 'सविचार' सम्प्रज्ञात है। शब्द की सहायता के विना विचार नहीं होता, अतः यह भी शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से अनुविद्ध है; पर यह (विचार) सूक्ष्म विषय से सम्बन्धित होता है। चित्तगत (अर्थात् ध्यानकालीन) विचार-विशेष इसका विशेष लक्षण होता है। अतः यह वितर्क-विकल है अर्थात् वितर्करूप अंग से हीन होता है। सूक्ष्म ग्राह्य और ग्रहण इस समाधि के विषय हैं। साथ ही इसमें विचारपूर्वक सूक्ष्म ध्येय के प्राप्त होने के कारण इसका नाम सविचार है।

यह और 'निर्विचार' दोनों ही 'विचार'-पदार्थ ग्रहण करके ही सिद्ध होते हैं, इसलिए दोनों ही विचारानुगत समाधि हैं। विकृति से प्रकृति में जिस विचार के द्वारा जाया जाता है, वह यही विचार है; तथा हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय इन विषयों का ज्ञान जिस समाधि के द्वारा सूक्ष्मतर या स्फुटतर होता है, वह भी 'विचार' है। तत्त्व और योग विषयक सूक्ष्मभाव इस प्रकार के विचार के द्वारा उपलब्ध होते हैं, अतः सूक्ष्मविषयक समाधि का नाम विचारानुगत-समाधि है।

१७ (४) आनन्दानुगत समाधि वितर्क तथा विचार से हीन होती है। वह स्थूल और सूक्ष्म भूतविषयक नहीं है। स्थिरता-विशेष से उत्पन्न, चित्तादिकरणों में व्याप्त सात्त्विक सुखमय भावविशेष इस समाधि का आलम्बन होता है। शरीर चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों का अधिष्ठानस्वरूप होता है। अतः वह आनन्द सम्पूर्ण शरीर का सात्त्विक स्थैर्य है या स्थैर्य का स्वाभाविक बोधस्वरूप है; फलतः सानन्द समाधि वस्तुतः करणविषयक या ग्रहणविषयक है।

करणसमूह के विषयव्यापार की अपेक्षा उनकी शान्ति ही परम आनन्द-दायक है, ऐसा सम्प्रज्ञान आनन्दानुगत समाधि का फल होता है। इस सम्प्रज्ञान से आनन्दित योगी करणसमूह को सदा के लिए शान्त करने में प्रयत्नशील होते हैं। प्राणायामविशेष के द्वारा अथवा नाड़ीचक्ररूप शारीरिक मर्मस्थान के ध्यान से शरीर के सुस्थिर होने पर शरीर में व्याप्त जिस सुख का अनुभव

होता है, केवल उसी के सहारे ध्यान करते-करते आनन्दमय करण-प्रसाद-रूप भाव की प्राप्ति होती है। यही सानन्द समाधि का साधन है। वाचस्पति मिश्र सास्मित समाधि की तुलना में सानन्द को अस्मिता का स्थूलभाव कहते हैं, क्योंकि चित्तादि सभी करण अस्मिता क विकार या स्थूल अवस्था हैं।

वितर्क में जिस प्रकार वाचक शब्द की सहायता से चित्त में प्रज्ञा होती है, सानन्द में उस प्रकार किसी शब्द की उतनी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वह अनुभूयमान आनन्द-विषयक है। किसी शब्द की यदि अपेक्षा हो भी, तो आनन्द-शब्द की ही अपेक्षा होगी; किन्तु यह निरर्थक है। भूत से तन्मात्र में जाने के लिए जिस विचारपूर्वक ध्यान की आवश्यकता होती है, इसमें उस ध्यान की भी आवश्यकता नहीं होती। विचारानुगत संप्रज्ञात का विषय जो सूक्ष्मभूत है उसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए यह वितर्क-विचार-विकल होता है। समापत्ति की दृष्टि से यह निर्विचारा समापत्ति का विषय है।

इस विषय पर मोक्षधर्म में कहा गया है—"**इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्। एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥१०॥ एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्। संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥१९॥ स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत। पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ न तत् पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित्। सुखमेष्यति तत्तस्य यदेवं संयतात्मनः ॥२१॥ सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि**" ।२२। (शान्तिपर्व १९५ अ०) अर्थात् अभ्यास के द्वारा इन्द्रियसमूह को विषयहीन करके मन में पिण्डीभूत करने से (ग्रहणतत्त्वमात्र का अवलंबन करने से) जो उत्तम सुख का लाभ होता है, वह दैव अथवा इहलौकिक दूसरे किसी पुरुषकार से प्राप्त विषय से नहीं हो सकता है। इस सुख से संयुक्त होकर योगी ध्यानरूप कर्म में रमण करता है।

१७ (५-८) वितर्क एवं विचार की अनुगत बाह्यावलम्बी समाधि ग्राह्य-विषय से सम्बन्धित होती हैं। आनन्दानुगत समाधि ग्रहणविषय से और अस्मितानुगत समाधि ग्रहीतृविषय से संबधित होती हैं। ग्रहीतृ-विषयक अर्थात् 'मैं आनन्द का ग्रहीता हूँ' इस प्रकार केवल अहं-विषयक होने के कारण यह समाधि आनन्दविकल है। आनन्द-विकल का अर्थ है आनन्द से अतीत, किन्तु निरानन्द नहीं; यह आनन्द की अपेक्षा अभीष्ट शान्तिस्वरूप है। सानन्द के ध्यान में सर्वकरणगत आनन्द ध्येय विषय होता है। आनन्दविकल सास्मित ध्यान में वह आनन्द विषय नहीं होता, किन्तु आनन्द का ग्रहीता ही विषय होता है। यही सानन्द और सास्मित का भेद है।

पुरुष वस्तुतः इस समाधि के विषय नहीं होते, प्रत्युत अस्मितामात्र या 'अहम्' ऐसा बोधमात्र ही इस समाधि का विषय होता है। इस आत्मभाव का नाम ग्रहीतृपुरुष है। पुरुष के आश्रय से यह व्यक्त होता है। इस समाधि का विषय ग्रहीतृपुरुष है, इसलिए सास्मित समाधि को ग्रहीता से संबंधित कहा जाता है। सास्मित समाधि का आलम्बन स्वरूप-द्रष्टा नहीं है, परन्तु विरूप द्रष्टा, अर्थात् व्यावहारिक ग्रहीता अथवा महान् आत्मा ही उसका आलम्बन होता है। सांख्यशास्त्र में इसे महत्तत्त्व कहा गया है। यह पुरुषाकारा बुद्धि या 'मैं स्वयं का ज्ञाता हूँ' पुरुष के साथ ऐसी एकात्मिका संविद् होती है। संविद् का अर्थ चित्तभाव का या बुद्धि का बोध है।

इस विषय में व्याख्याकारों में मतभेद हैं। विज्ञानभिक्षु का मत सारवान् नहीं है। भोजराज कहते हैं—"जिस दशा में अंतर्मुखता के कारण प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा चित्त प्रकृतिलीन होने से सत्तामात्र अवभात होता है, वही शुद्ध अस्मिता होती है।" यह कथन गंभीर होने पर भी लक्ष्य-भ्रष्ट है, क्योंकि प्रकृतिलीन चित्त का विषय नहीं रह सकता; व्यक्त चित्त का ही विषय होता है। सास्मित समाधि सालम्बन है इसलिए अव्यक्तताप्राप्त चित्त का वह धर्म नहीं हो सकती है।[1] सास्मित समाधिप्राप्त व्यक्ति अन्तर्मुख होकर जब विषयग्रहण नहीं करते तब उनका चित्त प्रकृतिलीन हो जाता है; किन्तु उस समय सास्मित समाधि नहीं रहती, तब भवप्रत्ययरूप निर्बीज समाधि हो जाती है और योगी 'कैवल्यपद' के सदृश पद का अनुभव करते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने यथार्थ व्याख्या की है—**"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत्संप्रजानीते"** (१।३६), भाष्योद्धृत इस पञ्चशिखाचार्य के वचन से सास्मित समाधि और बुद्धितत्त्व का स्वरूप प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः 'मैं' इस प्रकार का प्रत्यय मात्र अथवा आन्तरभाव ही बुद्धितत्त्व होता है। 'मैं ज्ञाता हूँ' 'मैं कर्त्ता हूँ' इत्यादि प्रत्ययों से यह सिद्ध होता है कि अहम्भाव सभी करण-व्यापारों का मूल या शीर्षस्थानीय है। बुद्धितत्त्व भी व्यक्त तत्त्वों में सर्वप्रथम है। ज्ञान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, ज्ञान रहने से ज्ञाता अवश्य रहेगा; ज्ञान का सम्यक् निरोध होने से ज्ञेयज्ञातृत्व अथवा व्यावहारिक अहम्भाव का निरोध होगा। तत्पश्चात् द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति होगी। श्रुति में भी कहा है, **"ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि"**

---

१. अव्यक्ता प्रकृति को छोड़ कर अन्य प्रकृति (अर्थात् बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्र) में लीन रहने से चित्त का आलम्बन रह सकता है; उस अर्थ में भोजराज की उक्ति ठीक है।

(कठ १।३।१३)।[1] अतएव यह महान् आत्मा या महत्तत्त्व या बुद्धितत्त्व एवं अहंभाव-मात्र बोध एक ही हुए।

बुद्धि का विकार अहंकार है, अतएव अहम्प्रत्यय का 'मैं अमुक वस्तु का ज्ञाता या कर्ता हूँ' इत्यादि जो अन्यथा-भाव है, वही अहंकार है। शास्त्र भी कहता है—**'अभिमानोऽहंकारः'** (सां० का० २४)। भोजराज का कथन है—**"अहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहंकारः"**। यह 'अहम्' अस्मितामात्र नहीं किन्तु अभिमानरूप होता है। सूत्रकार ने दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति की एकता को अस्मिता कहा है। बुद्धि के साथ ही पुरुष की सूक्ष्मतम एकता है। विवेकख्याति के द्वारा उसका अपगम होने से बुद्धि लीन होती है। अतः सास्मित समाधि चरम अस्मितास्वरूप बुद्धितत्त्व का साक्षात्कार है। वही अस्मि-प्रत्ययरूप व्यावहारिक ग्रहीता है।

१७ (९) संप्रज्ञात समाधियों में चित्त व्यक्तधर्मक (अर्थात् असम्यक् निरुद्ध) रहता है। इसलिए उनका आलम्बन रहना अविनाभावी है। फलतः ये सालम्बन समाधियाँ हैं। आगामी सूत्र में उक्त असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन होती है। सालम्बन समाधि को भली-भाँति न समझने से निरालम्बन समाधि को समझना कठिन होता है, पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

—— o ——

भाष्यम्—अथासंप्रज्ञातसमाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ?—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः; तस्य परं वैराग्यमुपायः। सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनी क्रियते; स च अर्थशून्यः, तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीति एष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञातः ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—असम्प्रज्ञात समाधि किस उपाय द्वारा साध्य है और उसका स्वरूप क्या है ?

१८। विराम (सब प्रकार की सालम्बन वृत्तियों का निरोध) के कारण-भूत परवैराग्य के अभ्यास द्वारा साध्य जो संस्कार-शेष-रूप समाधि है वह असम्प्रज्ञात है। सू०

---

१. अनुवाद : प्रज्ञावान् व्यक्ति ज्ञानात्मा (मैं संकल्पहीन होकर जान रहा हूँ—यह ज्ञानात्मा का स्वरूप है) को महदात्मा (अस्मीतिमात्र बुद्धितत्त्व—शुद्ध अहंबोध) में एवं महदात्मा को शान्त (उपाधिहीन) आत्मा में संयत करें। [सम्पादक]

सब वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार-शेष-रूप (१) समाधि असम्प्रज्ञात कही जाती है। इसका साधन पर-वैराग्य है, क्योंकि सालम्बन अभ्यास इसका साधन नहीं हो सकता। विराम का कारण (२) परवैराग्य वस्तुहीन आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है, (अर्थात् उसमें कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नहीं रहता है)। वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्बन और अभावापन्न-सा होता है। इस प्रकार की निर्बीज समाधि (३) ही असम्प्रज्ञात कही जाती है।

टीका १८ (१) संस्कारशेष=संस्कारमात्र जिसका स्वरूप है, वह। निरोध प्रत्ययात्मक नहीं अर्थात् नील-पीतादि की भाँति ज्ञानवृत्ति नहीं; किन्तु वह प्रत्यय-विच्छेद का संस्कारमात्र है, इसलिए वह संस्कारशेष है। चित्त के दो धर्म हैं—प्रत्यय और संस्कार। निरोधकाल में प्रत्यय नहीं रहता किन्तु प्रत्यय पुनः उठ सकता है। इस कारण प्रत्यय होने का या व्युत्थान का संस्कार उस समय चित्त में रहता है, यह स्वीकार्य है। अतएव संस्कारशेष का अर्थ व्युत्थान और निरोध इन दोनों का संस्कार-शेष (=संस्कार-मात्र का रहना) है।

निरोधसंस्कार व्युत्थानसंस्कार का विच्छेद-स्वरूप होता है, अतः 'संस्कार-शेष' पद का 'विच्छिन्न हुए व्युत्थान-संस्कार का शेष' ऐसा अर्थ भी हो सकता है। कोई व्यक्ति यदि एक घण्टा तक निरोध कर सके तो वस्तुतः उनका व्युत्थानसंस्कार (प्रत्यय के साथ) एक घण्टा के लिए दबा रहता है। अतएव निरोध विच्छिन्न-व्युत्थान है। निरोध को अव्यक्त अवस्था मानने से संस्कार-शेष का अर्थ 'विच्छिन्न-व्युत्थान का संस्कार-शेष' होगा और निरोध को व्यक्त-अवस्था-स्वरूप मानने से संस्कार-शेष का अर्थ होगा 'निरोध-संस्कार-शेष' और 'व्युत्थान-संस्कार-शेष'। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था में निरोध-संस्कार के कारण व्युत्थान-संस्कार प्रत्यय उत्पन्न नहीं करता वही संस्कारशेष या संस्कार-मात्र-रूप में रहना है।

१८ (२) इस समाधि का उपाय है "विराम–प्रत्ययाभ्यास" अर्थात् विराम के प्रत्यय[1] या कारण परवैराग्य का अभ्यास या बारंबार भावना। परवैराग्य द्वारा किस प्रकार विराम होता है, यह प्रदर्शित किया जारहा है। सम्प्रज्ञात योग में स्थूलतत्त्व को भली-भाँति जान कर क्रमशः महत्तत्त्वरूप अस्मिभाव में निश्चल स्थिति होती है। अस्मिभाव में स्थूल इन्द्रियजनित

---

१. भोजराज ने "विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति" ऐसा अर्थ किया है। यहाँ भी प्रत्यय का अर्थ कारण ही माना जाएगा। प्रत्यय का अर्थ साधारणतः ज्ञानवृत्ति है। किन्तु भाष्यकार ने सब वृत्तियों के अभाव को विराम कहा है। अतएव यहाँ प्रत्यय का अर्थ है साक्षात् कारण। यही अर्थ स्पष्ट है।

ज्ञान नहीं रहता है, किन्तु वह सुसूक्ष्म विज्ञान का अनुभवकारी होता है (बौद्धों की भाषा में, 'नैव संज्ञा नासंज्ञायतनम्')[1]। वह सत्त्वगुणमय सर्व-शीर्ष-भाव है। 'ऐसे अस्मिभाव को भी नहीं चाहता' ऐसा विचार कर निरोधवेग ले आने से फिर कोई भी चित्तवृत्ति नहीं उठ सकती। तब चित्त लीन या अभावापन्न-सा होता है, अथवा अव्यक्तावस्था में आ जाता है। इसे निरोधक्षण भी कहते हैं। यह अवस्था ही द्रष्टा की स्वरूपस्थिति है। उस समय ज्ञ-मात्र[2] का निरोध नहीं होता, अनात्मा का ज्ञान निरुद्ध होता है। अतएव अनात्मभाव का ज्ञाता अस्मिभाव भी रुद्ध हो जाता है, किन्तु उसमें भी परवैराग्य का कर्त्ता या निरोध का कर्त्ता निष्पन्नकृत्य होकर वेदयिता-मात्र होकर रहेगा।

विषय को विश्लिष्ट कर हम विज्ञान को रुद्ध कर सकते हैं, पर उसमें विज्ञाता का अभाव नहीं हो सकता। ज्ञान का कारण विषयसंयोग है; संयोग के लिए दो पदार्थों की आवश्यकता होती है। एक तो विषय है, किन्तु दूसरा कौन है? बौद्ध कहेंगे कि वह विज्ञानधातु है। किन्तु विज्ञानधातु क्या है? बौद्ध इसका ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं। वे धातु का अर्थ करते हैं—'निःसत्त्व-निर्जीव[3]।' निःसत्त्व-निर्जीव का अर्थ यदि चेतयिता-शून्य वा impersonal हो, तो विज्ञानधातु का अर्थ होगा—'चेतयिता-शून्य विज्ञानावस्था' अर्थात् 'अन्य विज्ञाताहीन विज्ञान-अवस्था' या 'जो विज्ञान वही विज्ञाता।' वह हमारे दर्शन की चितिशक्ति का निकट पदार्थ होता है। निःसत्त्व-निर्जीव का अर्थ यदि 'शून्य' हो तथा शून्य का अर्थ यदि असत्ता हो, तो बौद्धों का विज्ञानधातु प्रलाप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

१८ (३) निर्बीज समाधि होने से ही वह असम्प्रज्ञात नहीं हो जाती। जिस प्रकार सालम्बन समाधिमात्र ही सम्प्रज्ञात नहीं है, किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त की समाधि-प्रज्ञा चिरस्थायी होने पर उसको सम्प्रज्ञात कहा जाता है,

---

१. आठ विमोक्षों में सप्तम विमोक्ष यह है (पालि—नेवसञ्ञानासञ्ञायतन)। इसके बाद सञ्ज्ञावेदयितृनिरोध (पालि—सञ्ञावेदयितनिरोध) है। पालि का वेदयित शब्द संस्कृत में 'वेदयितृ' हो सकता है। कुछ लोग वेदयित को वेदना का पर्याय समझते हैं। इन विमोक्षों का विवरण महापरिनिब्बान सुत्त आदि में मिलता है। [**सम्पादक**]

२. 'ज्ञ' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है अर्थात् यह ज्ञाता अपरिणामी निष्क्रिय है, इसे दिखाने के लिए ही ज्ञातृ-शब्द का प्रयोग न करके 'ज्ञ' शब्द का प्रयोग किया गया है। [**सम्पादक**]

३. 'निःसत्त्वनिर्जीव' के लिए बुद्धघोषकृत अट्ठकथा द्रष्टव्य। [**सम्पादक**]

उसी प्रकार सम्प्रज्ञानपूर्वक निरोधभूमिक चित्त की समाधि को असम्प्रज्ञात कहते हैं। तब निरोध ही चित्त का स्वभाव हो जाता है। यह भेद विशेषरूप से समझ लेना चाहिए। असम्प्रज्ञात कैवल्य का साधक होता है, पर निर्बीज कैवल्य का साधक नहीं भी हो सकता है; यह दूसरे सूत्र में कहा गया है। विज्ञानभिक्षु ने असम्प्रज्ञात और निर्बीज का भेद न समझ कर कुछ गड़बड़ की है[1]।

निरोध का स्वरूप भली भाँति समझना चाहिए। प्रत्ययहीनता ही निरोध है। प्रथमतः निरोध दो प्रकार का है, सभंग या संस्कार-शेष और शाश्वत या जो संस्कार-हीनता से होता है। पुनः सभंग-निरोध भी द्विविध है; यथा—(क) एक प्रत्यय का भंग होकर निरुद्ध होना या संस्कार में जाना। यह नियत क्षण-क्षण में होता रहता है और व्युत्थान-अवस्था का यही स्वरूप है; यह निरोध लक्षित नहीं होता। (ख) समाधि के द्वारा जो कुछ काल तक सम्यक् प्रत्ययहीनता होती है, वही निरोधसमाधि नाम से प्रसिद्ध है।

सभंग निरोध केवल प्रत्यय का निरोध है, उसमें प्रत्यय संस्काररूप में जाता है। शाश्वत निरोध या कैवल्य का स्वरूप है—संस्कारक्षय होने पर सम्यक् प्रत्यय-निरोध तथा समग्र चित्त का (प्रत्यय तथा संस्कार का) स्वकारण त्रिगुण में प्रलय या प्रतिप्रसव। व्युत्थानदशा में नियतरूप से, संस्कार से प्रत्यय उठता रहता है, अतः प्रत्ययहीनता अलक्ष्य होती है; ऐसा जान पड़ता है, मानों प्रत्यय-प्रवाह अविरल होकर चल रहा है। समाधि की कुशलता से जब संस्कार की उदयशीलता क्षीण होती है तथा प्रत्यय की लीयमानता का प्रवाह चलता है, तब उसी को निरोधसमाधि कहा जाता है।

इस अवस्था में व्युत्थान का विपरीत भाव होता है अर्थात् व्युत्थान में प्रत्यय की अविरलता प्रतीत होती है और निरोध में संस्कार की अविरलता रहती है। प्रत्यय की अविरलता की प्रतीति रहने से संस्कार की अविरलता के प्रतीत होने की सम्भावना स्वाभाविक है। संस्कारों के सूक्ष्म मानस-क्रिया-स्वरूप होने पर भी उस समय वे विराम-प्रत्यय के अभ्यासबल से अभिभूत या शक्तिहीन होकर कुछ काल तक प्रत्ययभाव को प्राप्त नहीं होते हैं। सभंग निरोध में प्रत्यय का

---

१. भिक्षु के अनुसार असम्प्रज्ञात के दो भेद हैं—उपायप्रत्यय तथा भवप्रत्यय (द्र० १।१९ योगवार्त्तिक का आरम्भिक अंश)। ग्रन्थकार स्वामीजी के अनुसार निर्बीज द्विविध है— असंप्रज्ञात और भवप्रत्यय। असंप्रज्ञात के अवान्तर भेद नहीं हो सकते; वह अवश्य ही कैवल्य का प्रापक है—यह स्वामीजी का मत है। [सम्पादक]

अभिभव होने पर भी संस्कार के भली भाँति बलहीन न होने के कारण पुनरुत्थान की सम्भावना जाती नहीं है, अतः वह संस्कारशेष है।

यह भी ज्ञातव्य है कि संस्कार प्रान्तभूमि प्रज्ञा के द्वारा विनष्ट होने पर प्रत्यय-संस्कार-आत्मक समग्र चित्त ही अव्यक्तता या गुणसाम्य को प्राप्त करता है। जब प्रत्यय तथा संस्कार ये दोनों धर्म ही भंगुर हैं, तब समग्र चित्त भी भंगुर ही है। समग्र चित्त की जो भंगावस्था है, वह गुणसाम्यप्राप्ति ही है।

पहले अन्य वृत्तियों का निरोध कर के एक ही वृत्ति में स्थिति करनी चाहिए, उसके सम्पूर्ण होने पर सर्ववृत्तियों का निरोध होता है। पहली बात तो यह है कि सभी वृत्तियों का जो निरोध है वह भंगुर होगा ही, क्योंकि व्युत्थान-संस्कार एकाएक नष्ट नहीं होता। निरोध-अभ्यास से या निरोध-संस्कार से क्रमशः उसके नष्ट होने पर दुबारा प्रत्ययोत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं रहती, अतएव उस समय संस्कार-प्रत्यय-हीन शाश्वत निरोध या प्रतिप्रसव होता है। चित्त-भूत उस गुणवैषम्य का केवल साम्य होता है, किसी का अत्यंत नाश नहीं होता।

संस्काररूप में रहना अपरिदृष्ट अवस्था है, वह गुणसाम्यरूप अव्यक्त अवस्था नहीं है। तरंग के साथ उपमा देने पर समतल जल होगा गुणसाम्य, उस समतल-रेखा का ऊपरी भाग होगा प्रत्यय और निम्न-भाग संस्कार। प्रत्यय से संस्कार में तथा संस्कार से प्रत्यय में जाने के लिए उस 'समतल रेखा' को लाँघना होगा। यही समग्र चित्त का भंग या गुणसाम्य है। जिस प्रकार कोई दोलनशील वस्तु एक ओर से दूसरी ओर जाती हुई एक ऐसी जगह पर ठहरेगी, जो न इधर जाना है, न उधर जाना, अतएव वह स्थिति है, उसी प्रकार चित्त की भी धर्मान्तरता का मध्यस्थल सम्यक् भंग होता है। वृत्ति की अभिव्यक्ति क्षणमात्र होती है और दूसरे क्षण ही उसका भंग हो जाता है। यही कारण है कि उसके अनुरूप संस्कार भी क्षण-क्षण में नष्ट होते रहते हैं। अतः सम्पिण्डित संस्कारसमूह का तथा उनके फलरूप प्रत्ययों का उक्त प्रकार से प्रतिक्षण भंग होता रहता है।

जिसके द्वारा तरंग होती है उस क्रिया को बहुत अधिक बार करने से जिस प्रकार तरंगप्रवाह अविरल-सा प्रतीत होता है और भंग रहने पर भी वह दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार चित्त के व्युत्थान-काल में प्रत्यय अभंग-सा प्रतीत होता है। निरोधजनक क्रिया घनीभूत होने से निरोध-तरंगों का प्रवाह (प्रशान्तवाहिता) एकरूप-सा प्रतीत होता है। वही निरोधक्षण है। (यहाँ संस्कारात्मक निरोध को समतल जल के निम्नस्तर के साथ एवं प्रत्ययात्मक व्युत्थान को समतल जल के ऊपर की तरंगों के साथ उपमित किया गया

है, ऐसा समझना चाहिए)। तरंगजनक क्रिया न करने से जल जिस प्रकार समतल रहता है, व्युत्थानजनक क्रिया न करने से अर्थात् उस निष्क्रियता के द्वारा व्युत्थान-संस्कार का नाश होने से चित्त में तरंगें उसी प्रकार नहीं रहतीं, गुण-साम्य-रूप समतलता ही रहती है; यही कैवल्य है।

व्यापी कालज्ञान प्रत्यय का संख्यामात्र होता है। अनेक वृत्तियाँ उठने पर दीर्घकाल मालूम होता है। अतः निरुद्ध चित्त का स्थिति-काल उस चित्त के लिए एकक्षणमात्र है अर्थात् साधारण प्रत्यय अथवा भंग के समान केवल एक-क्षणव्यापी होता है, यद्यपि वही काल अनेक वृत्तियों के अनुभवकर्त्ता के पास दीर्घकाल-सा प्रतीत हो सकता है। अतएव प्रातिक्षणिक भंग जिस प्रकार क्षण-मात्र होता है, दीर्घकालव्यापी निरोध भी निरुद्ध चित्त के लिए उसी प्रकार क्षणमात्र अर्थात् कालज्ञान-हीन होता है। केवल संस्कार की उदयशीलता का ही चय अथवा विनाश होता है।

संस्कार शक्तिरूप होने पर भी व्यक्तशक्ति है, क्योंकि वह हेतुमान् और अव्यापी है। गुणत्रय अहेतुमान् और सर्वव्यापी शक्ति होने के कारण अव्यक्त शक्ति है। वर्तमान काल क्षणमात्र होने के कारण जो वर्तमान है, वह क्षणमात्र-व्यापी है; वह यदि भंगुर हो तो क्षणभंगुर होगा।

क्षण-भङ्ग-वादी बौद्धों के मत में प्रतिक्षण समग्र चित्त (प्रत्यय तथा संस्कार) निरुद्ध हो रहा है। यह सांख्य के मत में भी है। किन्तु उनका यह कहना कि चित्त निरुद्ध होकर 'शून्य' हो जाता है तथा उस 'शून्य' से पुनः 'भाव' उठता है, युक्तिहीन है, क्योंकि चित्त का कारण शून्य नहीं हो सकता। त्रिगुण तथा पुरुष ही चित्त के कारण होते हैं।

सभङ्ग निरोध में संस्कार रहता है, अतएव ऐसे निरोध की भङ्गुरता की अनुभूति के बाद ही निरोध होता है और निरोधभङ्ग की भी अनुभूति होती है। इसी से 'मेरा चित्त निरुद्ध था' ऐसी अनुभूति होती है। 'मैंने निरोध-प्रयत्न के द्वारा प्रत्यय को रुद्ध किया था, वह फिर जाग गया है' ऐसा स्मरण ही निरोध की अनुस्मृति है। प्रत्येक क्रिया (मानस क्रिया भी) सभङ्ग है। वह अपनी भङ्ग अवस्था में स्वकारण में लीन होकर व्यक्तित्व खो बैठती है। व्यक्तित्व खो बैठने का अर्थ है तुल्यबल जड़ता के द्वारा क्रिया का अभिभव होना अर्थात् प्रकाशित या ज्ञानगोचर न होना। अतः वह उस वस्तुगत प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति का साम्य है। जब समग्र अन्तःकरण ऐसी अवस्था में जाता है तब उसके मूल कारण त्रिगुण की सम्यावस्था हो जाती है।

प्रत्यय प्रख्या और प्रवृत्तिस्वरूप है, अतः प्रत्ययसंस्कार का अर्थ है—ज्ञान और चेष्टा का संस्कार। अतएव व्युत्थान का अर्थ है—कोई ज्ञान और

उसकी उत्थानरूप चेष्टा। जिस प्रकार प्रत्यय के रहते चित्त - प्रत्यय या परिदृष्ट धर्म के धर्मी-रूप में रहता है उसी प्रकार प्रत्यय का निरोध होने पर चित्त संस्कारगत होकर रहता है। प्रत्यय तथा संस्कार दोनों ही त्रैगुणिक चित्त-भाव हैं। उनमें परिदृष्ट को प्रत्यय और अपरिदृष्ट को संस्कार कहते हैं।

क्या प्रत्यय के बिना संस्कार रह सकता है—ऐसे प्रश्न का यथार्थ अर्थ है—परिदृष्ट भाव के बिना केवल अपरिदृष्ट भाव से क्या चित्त रह सकता है? इसका उत्तर है—हाँ, निरोध की कुशलता से ऐसा हो सकता है। 'मैं कुछ नहीं जानूँगा'—समाधि के बल से ऐसे निरोध-प्रयत्न के द्वारा यदि विषय न जाना जाए तो विषय का ग्रहीतृत्व भी (मैं विषय का ग्रहीता हूँ, इस प्रकार का भाव भी) रुद्ध हो जायेगा। ऐसे निरोध का यदि भंग हो जाए, तो कहना होगा कि प्रत्ययोत्थान का जो चेष्टारूप संस्कार था, उसके द्वारा भंग हुआ; अतएव उस समय चित्त संस्कारगत रहता है, ऐसा कहा जाता है। प्रत्यय तथा संस्कार एक ही वस्तु के दो पृष्ठ हैं। एक पृष्ठ देखने से दूसरा पृष्ठ अपरिदृष्ट रहता है; आँखें मूँदने पर अर्थात् निरोधावस्था में दोनों पीठ ही अपरिदृष्ट होते हैं (चित्त में केवल संस्कार या संस्कारशेष रहता है); तव कुछ भी परिदृष्ट (प्रत्यय) नहीं रहता है।

निरोध के समय सम्यक् चित्तकार्य-रोध होने पर शरीर, मन और इन्द्रियों के कार्य भी पूर्णतया अवरुद्ध हो जाते हैं। शरीर रुद्ध हो जाने पर भी अनेक समय इन्द्रियकार्य (अलौकिक दृष्टि आदि) रह जाते हैं, और मन स्तब्ध होने पर भी शरीर के कार्य श्वासप्रश्वास, रक्त का आवागमन तथा परिपाक आदि हो सकते हैं। निरोध होने पर इन क्रियाओं का कुछ भी नहीं रहेगा। प्रकृतिविशेष के व्यक्ति का मन स्तब्ध होने पर कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, इस कारण उस आदमी की अनुभूति की भाषा निरोधलक्षण के समान हो सकती है; पर वह प्रबल तामस भाव है, क्योंकि शरीर चलते रहने से वह चित्त से ही परिचालित होता है, निरुद्ध चित्त से शरीर परिचालित नहीं हो सकता।

निरोधकाल में सभी यान्त्रिक क्रियाएँ—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और हृत्पिण्डादि प्राणेन्द्रियों की क्रियाएँ—रुद्ध होंगी; कारण, अहंभाव ही उन यन्त्रों की संहत्यकारिता का मूल केन्द्र तथा प्रयोक्ता होता है। अतः निरोध के बाह्य लक्षणों को विचारने पर शारीरिक क्रिया-समूह का अवरोध ही प्रथम लक्षण है। स्वेच्छापूर्वक शरीर-निरोध न कर सकने पर कोई भी योग की निरोध-अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरा, अर्थात् आभ्यन्तर लक्षण है शब्दादि इन्द्रियविषयों का रोध। ग्रहण और ग्रहीता की उपलब्धि न होने

पर इनका सम्यक् रोध नहीं होता है। शरीर-क्रिया तथा इन्द्रिय-क्रिया को रुद्ध करके ग्रहीतृभाव में स्थिति करने से और उसमें समाहित होने से ही निरोधवेग वा सर्वक्रियाशून्यता के वेग के द्वारा चित्त को निरुद्ध या अव्यक्तता-प्राप्त किया जा सकता है। अतएव समाधिसिद्धि के बिना निरोध नहीं हो सकता।

समाधिसिद्धि होने से योगी किसी भी विषय पर समाहित हो सकते हैं, क्योंकि समाधि मन का स्वेच्छायत्त बलविशेष है; एक विषय में समाधि होगी, अन्य विषय में नहीं–ऐसा नहीं कहा जा सकता। रूप में समाहित हो सकने पर रस में भी समाहित हुआ जा सकता है।

यथार्थ निरोधकाल में मन के साथ शरीर के सभी यन्त्र अवश्य ही क्रियाहीन होंगे। यदि ऐसा न हो और केवल मन का स्तब्धीभाव ही हो, तो सुषुप्ति वा मोहविशेष होगा। शरीर के यन्त्रसमूह की क्रिया जब अस्मिता-मूलक है तब निरोध में उनकी सभी क्रियाओं का अवरोध आवश्यक है। निरोधकाल में जो संस्कार रहता है उस संस्कार के आधाररूप सभी शारीरिक धातुएँ यान्त्रिक क्रिया के अभाव से स्तम्भितप्राण (suspended animation अवस्था में रहती हैं।[१] सात्त्विकभावपूर्वक, या सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त आनन्दबोधपूर्वक, तथा आयासहीनता या निष्क्रियता (restfulness) से रुद्ध होने के कारण सब धातुएँ दीर्घकाल अविकृत भाव से रहती हैं। हठयोगी इसके उदाहरण हैं। निरोध-भंग होने पर शरीर में यान्त्रिक क्रिया लौट आने से धातुसमूह भी पूर्ववत् हो जाते हैं।

इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक समाधि-बल की सहायता से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का (अहंभाव का भी) रोध ही निरोध-समाधि है। इस निर्बीज समाधि के असंप्रज्ञात और भव-प्रत्यय-रूप जो भेद हैं, उनकी व्याख्या अगले सूत्र में देखिए।

---

१. पशुजगत् में भी इस प्रकार की अवस्था देखी जाती है—यह स्वामीजीने 'सांख्यीय-प्राणतत्त्व' नामक बंगला निबन्ध में सोदाहरण कहा है। इस अवस्था का नाम hibernation (शीतकालीन सुप्तवत् स्थिति) है। इस अवस्था का स्वरूप निम्नोक्त तथ्य से भलीभाँति विज्ञात होगा—'A hibernating animal sometimes lowers its body temperature to near freezing, its heart rate to four to ten beats per minute (from a normal of 250 beats in some cases) and its breathing to less than ten breaths per minute (Journal of the Yoga Institute, Vol IX, p. 161)।

[सम्पादक]

प्रकृतिविशेष के व्यक्तियों के चित्त सहज ही स्तब्ध हो जाते हैं। उस समय उन्हें कोई भी परिदृष्ट ज्ञान नहीं रहता। किन्तु श्वास-प्रश्वास आदि शारीर क्रियाएँ चलती रहती हैं, सुतरां निद्रावस्था के समान तामस प्रत्यय रहता है। वे योगशास्त्र में सुशिक्षित न होने से भ्रान्तिवश यह सोचते हैं कि उनको 'निर्विकल्प' निरोध आदि समाधियाँ हो चुकी हैं। १।३० (१) देखिए।

भाष्यम्—स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च; तत्र उपाय-प्रत्ययो योगिनाम्भवति—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन (मात्रोप-भोगेन इति पाठान्तरम्) चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति; तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥१९॥

भाष्यानुवाद—यह निर्बीज समाधि द्विविध है—उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय (१)। उनमें योगियों का उपायप्रत्यय है, तथा—

१९। विदेहों एवं प्रकृतिलीनों का भवप्रत्यय होता है ॥ सू० ॥

विदेह (२) देवताओं का (पद) भवप्रत्यय होता है; वे स्वकीय जाति के धर्मभूत (निरुद्ध वा अवृत्तिक) संस्कारोपगत चित्त द्वारा कैवल्य जैसी अवस्था का अनुभव करके उसी प्रकार के स्वीय संस्कार का विपाक या फल भोगते हैं। उसी प्रकार प्रकृतिलीन पुरुष (३) अपने साधिकार चित्त (४) प्रकृति में लीन होने के बाद कैवल्य-सदृश पद का अनुभव करते हैं, जब तक कि अधिकारवश उनके चित्त पुनरावर्त्तित न हों।

टीका १९ (१) उपायप्रत्यय (१।२० सूत्र में देखिए) का अर्थ है—विवेक के साधक श्रद्धादि उपाय जिसके प्रत्यय या कारण हैं वह; भवप्रत्यय शब्द का भव शब्द कई अर्थों में व्याख्यात हुआ है। मिश्र के मत में भव अविद्या है; भोजराज के मत में भव संसार है; भिक्षु के मत में भव जन्म है। प्राचीन बौद्ध शास्त्र में है—**'भवपच्चया जाति'** अर्थात् जन्म का साधक कारण भव है।[1]

---

१. भवप्रत्यया जातिः। जातिप्रत्ययाः जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति (प्रतीत्यसमुत्पादादिविभङ्गनिर्देशनामसूत्रम्; Adyar Library Bulletin, VIII. में N. Ayyaswami Sastri द्वारा संपादित)। चन्द्रकीर्ति कहते हैं (भव शब्द की व्याख्या में)—पुनर्भवजनकं कर्म समुत्थापयति कायेन वाचा मनसा च (माध्यमिकवृत्ति, पृ० ५६५ Poussin का संस्क.)। [**सम्पादक**]

वास्तव में ये सब भव शब्द के आंशिक अर्थ हैं। अविद्या के स्थान में भवशब्द-प्रयोग करने का अवश्य ही कुछ कारण है; अतः भव केवल अविद्या नहीं है। जो संस्कार सम्यक् रूप से नष्ट न हुआ हो अथवा जो संस्कार सूक्ष्म-अविद्यामूलक हो—जिससे विदेहादियों का जन्म वा अभिव्यक्ति होती है—वही भव कहलाता है।

आत्मभाव की पूर्वसंस्कारवश जो उत्पत्ति और अवच्छिन्न काल तक स्थिति और तदनु विनाश हैं, वे ही जन्म हैं। विदेहों का तथा प्रकृतिलीनों का पद भी इसलिए जन्म है। भाष्यकार कहते हैं कि स्वसंस्कार के उपयोग से उनको उस उस पद की प्राप्ति होती है। सांख्यसूत्र में है—प्रकृतिलीनों का पुनरावर्तन डूबे हुए के पुनरुत्थान के समान होता है (३।५४)। अतएव **जन्म का हेतुभूत अविद्यामूलक संस्कार ही भव है।** उस विदेह आदि जन्मों का कारण क्या है? प्रकृति और विकृति से आत्मा की पृथक् उपलब्धि न करना ही अर्थात् अविद्या ही उसका कारण है। समाधिसंस्कार के बल से वे इन अवस्थाओं को पाते हैं। अतएव सूक्ष्म-अविद्यामूलक जन्म का हेतु जो संस्कार है, वही विदेहादियों का भव है। सूक्ष्म अविद्या का अर्थ है वह अविद्या जो असमाहितों की अविद्या जैसी स्थूल नहीं है और जो विवेक-साक्षात्कार द्वारा सम्यक् नष्ट भी नहीं हुई है। क्लिष्ट कर्माशयरूप अक्षीणीभूत अविद्यामूलक संस्कार ही साधारण जीव का भव है।

१९ (२) विदेह-देव के विषय में भी व्याख्याकारों का मतभेद देखा जाता है। भोजराज कहते हैं—"सानन्द समाधि में (ग्रहणसमापत्ति में) धृति-युक्त होकर प्रधान तथा पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार जो नहीं करते हैं, वे देहाहंकार से शून्य होने के कारण विदेह-पदवाच्य होते हैं।" मिश्र कहते हैं—"भूत तथा इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मस्वरूप जानकर उसकी उपासना के संस्कार द्वारा जो देहान्त के पश्चात् उपास्य में लीन होते हैं, वे विदेह हैं।" यह कथन स्पष्ट नहीं है क्योंकि आत्मभाव से भूत की उपासना करके भूत में लीन होने से निर्बीज समाधि कैसे हो सकती हैं?

विज्ञानभिक्षु बिभूतिपाद के ४३वें सूत्र के अनुसार कहते हैं—"शरीर-निरपेक्ष जो बुद्धिवृत्ति है उससे युक्त महदादि देवताएँ विदेह हैं।" यह कल्पित अर्थ है।

फलतः व्याख्याकारों ने एक विषय पर ध्यान नहीं दिया है। सूत्रकार और भाष्यकार कहते हैं कि विदेहों की निर्बीज समाधि होती है। सानन्द समाधिमात्र ही निर्बीज नहीं होती। सानन्दसिद्ध योगी शरीरपात के बाद लोकविशेष में उत्पन्न होकर ध्यानसुख का भोग कर सकते हैं। विदेह और

प्रकृतिलीन किसी लोक के अन्तर्गत नहीं होते हैं। (३।२६ सूत्र का भाष्य देखिए)।

यह भी ज्ञातव्य है कि भूतों में समापन्न चित्त कभी निर्बीज नहीं हो सकता है। इस विषय में प्रकृत सिद्धान्त यह है :—स्थूलग्रहण में समापन्न योगी विषयत्याग से आनन्द पाकर यदि विषयत्याग को परमपद मानें[1] तथा शब्दादि-

---

१. हठयोगप्रणाली से जो अवस्था होती है वह भी विदेह के समान है। हठयोगप्रक्रिया में उड्डान, जालन्धर तथा मूल इन तीन बन्धों और खेचरी मुद्रा के द्वारा प्राणों का रोध करना पड़ता है। दीर्घकाल [२।३ महीने] तक रोध करना हो तो नेति, धौति, कपालभाति आदि के द्वारा शरीरशोधन पूर्वक 'हलचल' (वस्ति-जातीय क्रिया-विशेष) से अन्त्र को साफ करना पड़ता है। अधिक जल पीकर अन्त्र के भीतर उसको चला कर अन्त्र को धोना ही 'हलचल' कहलाता है। पश्चात् भावना-विशेष के साथ कुण्डली को दशवें द्वार पर या मस्तिष्क के ऊपर उठाकर रोकना पड़ता है। उससे शरीर काष्ठवत् हो जाता है और चिन्ता-यन्त्र-रूपी मस्तिष्क प्रक्रियाविशेष से रुद्ध हो जाने से चिन्ता या चित्तवृत्ति रुक जाती है और निरोध के समान विदेह [शरीर के सम्यक् रोध के कारण]—अवस्था की प्राप्ति होती है। चित्तरोध होने पर दुःख नहीं रहता अतः यह मोक्ष जैसी अवस्था होती है। किन्तु स्मृति-प्रज्ञादि पूर्वक-संस्कारक्षय तथा तत्त्वसाक्षात्कार न होने के कारण यह प्रकृत कैवल्य नहीं है। यह देखा भी जाता है कि ज्ञानशक्ति तथा निवृत्ति का समाधि-सिद्धिजनित जो उत्कर्ष होता है वह इनको नहीं होता। हरिदास योगी ने तीन मास तक ऐसी 'समाधि' [यह प्रकृत समाधि नहीं है] के पश्चात् माथे में गरम रोटी की सेंक से बाह्य ज्ञान पाकर पहले ही रणजित् सिंह जी से कहा था—"क्या अब आप मेरा विश्वास करते हैं ?" खेचरी आदि सिद्ध करने पर स्मृति के द्वारा एकाग्रभूमि का साधन करने का उपदेश है। जैसा कि योगतारावली में कहा गया है—"पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं संकल्पमुन्मूलय सावधानः" (१९) (आगामी सूत्र देखिए)। यही स्मृतिसाधन है और यही समाधि, एकाग्रभूमि, संस्कारक्षय और संप्रज्ञान का उपाय हैं जिसके द्वारा प्रकृत योगियों का उपाय-प्रत्यय—निरोध सिद्ध होता है।

[हरिदासयोगी की जिस घटना की बात ऊपर कही गई है, उसके लिये W.G. Osborne कृत The Court and Camp of Runjeet Singh तथा Dr. J. M. Honigberger कृत Thirty-five Years in the East ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। ग्रन्थकार स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त 'हलचल' शब्द देशज शब्द प्रतीत होता है (संस्कृत नहीं) जो हठयोगीय वस्तिजातीय क्रिया विशेष को लक्ष्य करता है। अन्त्र (intestine) की शुद्धि (मलनिष्काशन) के लिए इस शास्त्र में कई सार्थक उपाय कहे

ग्राह्य-विषयों में विरागयुक्त होकर शब्दादि-ज्ञान का अत्यन्त निरोध करें तो उस समय विषयसंयोग का अभाव होने के कारण करणवर्ग लीन हो जाएँगे, क्योंकि विषयों के बिना करणगण एक क्षण भी व्यक्त नहीं रह सकते। वे इस प्रकार विषयग्रहण का रोध या क्लेशहीन संस्कार का संचय करके देहान्त में विलीनकरण होकर निर्बीज समाधि को प्राप्त करते हैं और संस्कारबल के अनुसार अवच्छिन्न काल तक कैवल्य जैसी अवस्था का अनुभव करते हैं। वे ही विदेह देव होते हैं। दूसरे प्रकार के जो योगी सम्यक् विषयनिरोध का प्रयत्न न करके आनन्दमय सालम्बन ग्रहणतत्त्वध्यान में ही तृप्त रहते हैं, वे देहान्त होने पर यथायोग्य लोकों में उत्पन्न होकर दिव्य आयुष्काल तक इस ध्यानसुख को भोगते हैं (३।१६ द्रष्टव्य)।

परमपुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण विदेह देवों का 'अदर्शन' बीज रह जाता है। उसी से वे फिर लौटते हैं और शाश्वती शान्ति नहीं पाते।

१९ (३) प्रकृतिलय। **'वैराग्यात्प्रकृतिलयः'** इत्यादि सांख्यकारिका के (४५ संख्यक) भाष्य में आचार्य गौड़पाद जी कहते हैं "जिनको वैराग्य है, किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं है वे अज्ञान के कारण मृत्यु के बाद प्रधान, बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र इन अष्टप्रकृतियों में से किसी एक में लीन होते हैं" इस सूत्र में कहे गये प्रकृतिलय, प्रधान या मूला प्रकृति में लय–ऐसा समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि इसी में चित्त का लय होता है या निर्बीज समाधि होती है। अन्य प्रकृति में लीन होने से वैसा चित्तलय होने की संभावना नहीं है। कारण के साथ अविभाग-प्राप्ति लय कहलाती है। कार्य ही कारण में लय पाता है; कारण कार्य में लय नहीं पाता। 'तन्मात्रतत्त्व में कोई योगी लीन हुआ' ऐसा कहने से क्या समझा जाएगा ? यही कि योगी का चित्त तन्मात्र से अविभक्त हुआ। पर योगी के चित्त का कारण तन्मात्रतत्त्व नहीं है। अतः योगी का चित्त कभी भी तन्मात्र में लीन नहीं हो सकता। इसलिए योगी तन्मात्र में लीन होते हैं, यह कहना यथार्थ नहीं; परन्तु उसमें तन्मय होते हैं, यही कहना ठीक होगा।

परन्तु भूततत्त्व में वैराग्य होने का अर्थ है—भूततत्त्वज्ञान का तन्मात्रतत्व-ज्ञान में परिणत होना। तब योगी की अवस्था स्वरूपशून्य-सी, आत्म-विस्मृत-सी होती है और तन्मात्रतत्त्व ही ध्यान-गोचर रहता है। अतः यह सालम्बन समाधि हुई। अतएव केवल प्रधान में लय ही सूत्र तथा भाष्य में उक्त प्रकृतिलय है, यह समझना होगा। जब तत्त्वज्ञानहीन शून्यवत् समाधि अधिगत होती है, परन्तु परम पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण उसे ही चरम गति जाना

गये हैं; द्र० Yogendra : Yoga Hygiene Simplified, Chap. VII; Yoga Personal Hygiene, Vol. I.] [**सम्पादक**]

जाता है और अन्तर्मुख होकर वशीकार-वैराग्यद्वारा विषयवियोग होने के कारण अन्तःकरण लीन हो जाता है, तब प्रकृतिलय सिद्ध होता है।

इन प्रकृतिलयादि-पदों पर वायुपुराण के इन वाक्यों को वाचस्पति ने उद्धृत किया है :—"**दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वाभिमानिकाः॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः। पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥**"[1]

१९ (४) विवेकख्याति होने पर चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। अर्थात् उसी से चित्त की विषयप्रवृत्ति या व्यक्तावस्था का बीज सम्यक् दग्ध हो जाता है। अधिकारसमाप्ति का दूसरा नाम चरितार्थता है। भोग और अपवर्ग-रूप पुरुषार्थ अधिकारसमाप्ति में सम्यक् चरित या निर्वर्तित या निष्पन्न या समाप्त होता है। विवेकख्याति न होने से अधिकार समाप्त नहीं होता, अतएव चित्त प्राकृतिक नियम से आवर्त्तित होता रहता है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः; सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद् वस्तु जानाति; तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥२०॥

२०। (जिनका उपायप्रत्यय है उनको) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों के द्वारा असंप्रज्ञात योग सिद्ध होता है। सू०

भाष्यानुवाद—योगियों को उपाय-प्रत्यय (असंप्रज्ञात समाधि) होता है। श्रद्धा चित्त का संप्रसाद है (१); वह योगी को कल्याणी माँ के समान पालती है। इस प्रकार श्रद्धायुक्त विवेकार्थी में वीर्य (२) उत्पन्न होता है। वीर्यवान् की स्मृति उपस्थित होती है (३)। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल होकर समाहित होता है (४)। समाहित चित्त में प्रज्ञा का विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है। विवेक से (योगी) वस्तु का यथार्थज्ञान करते हैं। विवेक

---

१. वायुपुराण के किसी भी संस्करण में तथा शिवपुराण की वायवीयसंहिता में ये श्लोक नहीं मिलते हैं। मनु १।७८ के मेधातिथि-भाष्य में कहा गया है—'उक्तं हि पुराणकारेण-दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिनः॥ अहंकारचिन्तकाः। महात्मकाः सहस्राणि दश तिष्ठन्ति विज्वराः पूर्णं······चिन्तकाः। पुरुषं······विद्यते। [**सम्पादक**]

के अभ्यास से तथा उसके (उस चित्त के) विषयवैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि (५) उत्पन्न होती है।

टीका २० (१) श्रद्धा=चित्त का संप्रसाद या अभिरुचिमती निश्चय-वृत्ति। **"श्रत् सत्यं तद् अस्याम् धीयते इति श्रद्धा"** (निरुक्त ९।३१ की दुर्गटीका)। गीता (४।३९) में कहा गया है—**"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।"** श्रुति में कहा है—**"तपः श्रद्धेये ह्युपवसन्त्यरण्ये"** (मुण्डक १।२।११) इत्यादि। शास्त्र और गुरु से लब्ध ज्ञान बहुत व्यक्तियों की औत्सुक्य-निवृत्ति करता है। ऐसे औत्सुक्य का वशीभूत होकर जो जाना जाता है वह श्रद्धा नहीं होती। जिस जानना रूप क्रिया के साथ चित्त का संप्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है। श्रद्धाभाव रहने से लगातार श्रद्धेय विषयों के गुणसमूह के आविष्कार द्वारा प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।

२० (२) उत्साह या बल का नाम वीर्य है। चित्त के क्लान्त होने पर या विषयान्तर में दौड़ने पर जिस बल के द्वारा उसे पुनः साधन की ओर लौटाया जाता है, वही वीर्य होता है। श्रद्धा रहने पर ही वीर्य होता है। जिस प्रकार कष्टपूर्वक भारी बोझ उठाते-उठाते कसरती उसमें कुशल हो जाता है, उसी प्रकार जी-जान से आलस्य-त्याग और मानस स्थिरता का अभ्यास करते-करते वीर्य उन्मुक्त हो जाता है। 'विवेकार्थी' इस शब्द से विवेक-विषय में श्रद्धा, वीर्य आदि ही कैवल्य के उपाय-स्वरूप कहे गए हैं। दूसरे विषयों में श्रद्धादि रह सकते हैं पर ऐसा रहने पर भी योग या कैवल्य की सिद्धि नहीं होती।

२० (३) स्मृति। यही प्रधान साधन है। अनुभूत ध्येय भाव का बार-बार यथावत् अनुभव करते रहना तथा 'मैं जो अनुभव कर रहा हूँ और करूँगा' उसका भी अनुभव करते रहना स्मृतिसाधन कहलाता है। स्मृति साधित होने से स्मृति का उपस्थान होता है[1]। स्मृति एकाग्रभूमि का एकमात्र साधन है। सर्वदा के लिए स्मृति उपस्थित होने से ही एकाग्रभूमि सिद्ध होती है।

ईश्वर और तत्त्वसमूह ध्येय विषय होते हैं। स्मृति भी उनका अवलम्बन

---

१. 'स्मृत्युपस्थान' बौद्धशास्त्र में प्रसिद्ध है—निष्पन्नशमथस्यैव स्मृत्युपस्थानभावना (कोशस्थान ६। १४, तथा द्र० ६।१५–१६)। स्मृत्या उपतिष्ठते इति स्मृत्युपस्थानं प्रज्ञेति वैभाषिकीयोऽर्थः (स्फुटार्था)। स्वभाव, संसर्ग, आलम्बन एवं धर्म के भेद से स्मृत्युपस्थान चार प्रकार का होता है—ऐसा बौद्धशास्त्र में कहा गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३। १६०) में 'तत्त्वस्मृते रुपस्थानात्' कहा गया है। [सम्पादक]

करके साधने योग्य होती है। ईश्वरविषयक स्मृतिसाधन इस प्रकार होता है—प्रणव तथा ईश्वर के वाचक-वाच्य-सम्बन्ध की स्मृति का अभ्यास करने के बाद जब प्रणव उच्चारित (मन ही मन या व्यक्तभाव से) होने से मन में क्लेशादि-शून्य ईश्वरभाव आता है, तब वाच्य-वाचक की स्मृति सुस्थिर होती है। इसकी सिद्धि होने पर ईश्वर को हृदयाकाश में अथवा आत्मा में स्थित जानकर वाचकशब्द के जप से उनका स्मरण करना होगा एवं यह जो स्मरण किया जा रहा है और किया जाता रहेगा इस भाव को भी स्मरण में रखना होगा। पहले पहल एक पद के द्वारा स्मरण का अभ्यास न करके वाक्यमय मन्त्र के द्वारा स्मरण का अभ्यास करना उचित है।

इस प्रकार भूततत्त्व, तन्मात्रतत्त्व, इन्द्रियतत्त्व, अहंकारतत्त्व तथा बुद्धि-तत्त्व इन तत्त्वसमूह के अनुसार तद्गत भावों को चित्त में उदित करके स्मृति-साधन करना पड़ता है। विवेक-स्मृति ही मुख्य साधन है। चित्त को मानों सामने रखकर उसमें किसी प्रकार का संकल्प नहीं आने दूँगा तथा केवल गृह्यमाण विषय का द्रष्टा-स्वरूप होकर रहूँगा, इस प्रकार का स्मृतिसाधन आनु-व्यवसायिक कहलाता है। यह चित्तप्रसाद या सत्त्वशुद्धि की प्राप्ति का मुख्य उपाय है। योगतारावली में कहा गया है—'**पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं संकल्पमुन्मूलय सावधानः** (१९)।[1] यही श्रेष्ठ स्मृतिसाधन है।

स्मृतिसाधन के विना बोधपदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती। स्मृति सभी चेष्टाओं द्वारा सदा साध्य होती है। गमन, उपवेशन, शयनादि सभी अवस्थाओं में स्मृतिसाधन हो सकता है। कोई भी काम करते समय पार-मार्थिक ध्येय-विषय को मन में भलीभाँति जागरूक रखना चाहिए जिससे वह मन से न हट जाए। इस प्रकार सावधान होकर काम करना ही 'योगयुक्त कर्म' कहलाता है। तैलपूर्ण बर्तन लेकर सीढ़ी पर चढ़ने जैसा यह योगयुक्त कर्म है।

ऐसे भी व्यक्ति हैं जो मानसिक चिन्ता में इतने लीन रहते हैं कि बाह्य विषय को लक्ष्य नहीं कर पाते। इनके सामने कोई भी घटना घटे, ये अपनी चिन्ताओं में इतने मग्न रहते हैं कि उसपर ध्यान ही नहीं दे पाते हैं। पागल और नशेबाज लोग भी प्रायः इसी प्रकार 'एकाग्र' होते हैं। यह यथार्थ एकाग्रता

१. अनु० हे शिष्य, तुम प्रपञ्च को उदासीन दृष्टि से देखते हुए संकल्प का उन्मूलन करो। योगतारावली शंकराचार्यकृत है, ऐसी प्रसिद्धि है। पर शिवानन्दकृत योग-चिन्तामणि (पृ० १५) में इस ग्रन्थ का ६वां श्लोक नन्दिकेश्वर-तारावली के नाम से उद्धृत हुआ है। [संपादक]

नहीं है और समाधि की भी सम्यक् विरोधी अवस्था है। ऐसे लोगों को समाधि-साधक स्मृति कभी नहीं होती। ये मूढ़ या आत्मविस्मृत होकर चिन्ता की धारा पर चलते हैं और अपने चित्त-विक्षेप को समझ नहीं पाते हैं।

स्मृतिसाधन काल में चित्त में, जो भाव उठते हैं वे सर्वदा अनुभूत होने चाहिए एवं विक्षिप्त-भाव को त्याग कर अविक्षिप्त या संकल्पहीन भाव को स्मृतिगोचर रखना चाहिए। यही वास्तविक सत्त्वशुद्धि का या ज्ञानप्रसाद का उपाय है। इस स्मृति के प्रबल होने पर अर्थात् जब आत्मविस्मृति और नहीं होती तब उस आत्मस्मृतिमात्र में डूब कर जो समाधि होती है वही प्रकृत संप्रज्ञातयोग होता है।

स्मृतिरक्षा के लिए संप्रजन्य की आवश्यकता है। संप्रजन्य का साधन करते हुए जब सतर्कता सहज हो जाती है तभी स्मृति उपस्थित हो जाती है। 'योगकारिका'[1] के स्मृति-लक्षण में **"वर्त्ता अहं स्मरिष्यंश्च स्मराणि ध्येय-मित्यपि'** इसमें—**"वर्त्ता (=वर्तें) अहं स्मरिष्यन्**—संप्रजन्य है तथा **स्मराणि ध्येयम्'**—स्मृति है।

बौद्ध शास्त्र में भी इस स्मृति की प्रधानता स्वीकृत हुई है। वे भी कहते हैं कि स्मृति और संप्रजन्य (योगशास्त्र के सम्प्रज्ञान के साथ जिसका सादृश्य है) के बिना चित्त का ज्ञानपूर्वक रोध नहीं होता है। संप्रजन्य का लक्षण है—

"एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः॥"

(बोधिचर्यावतार' ५।१०८[2])

अर्थात् शरीर की तथा चित्त की जब जैसी अवस्था होती है उसकी प्रतिक्षण प्रत्यवेक्षा का नाम ही संप्रजन्य होता है। इससे आत्मविस्मृति नष्ट होती है एवं चित्त का अतिसूक्ष्म विक्षेप भी मालूम पड़ता है और उसे रोकने की शक्ति

---

१. यह योगकारिका ग्रन्थकार द्वारा प्रणीत है। [**संपादक**]

२. बौद्ध साहित्य में शान्तिदेव (सौराष्ट्रवासी, सप्तम शताब्दी) द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अभारतीय भाषा में इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं—L. D.Barnett कृत आंगल-अनुवाद; G. Tucci कृत इटाली-भाषा-अनुवाद; Schimdt कृत जर्मन-भाषानुवाद तथा Poussin कृत फ्रांसीसी-भाषानुवाद। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम एक भारतीय भाषा (अर्थात् बंगला) में अनुवाद ग्रन्थकार स्वामी जी ने किया था, जो बंगीय संवत् १३४० (=१९३३ ई०) में प्रकाशित हुआ था। [**संपादक**]

होती है। साथ ही विशेष करके आध्यात्मिक तत्वज्ञान में समापन्न होने की सामर्थ्य होती है। शङ्का हो सकती है कि चित्तेन्द्रिय में पहुँचे हुए विषय को देखते जाना एकाग्रता नहीं है, किन्तु अनेकाग्रता है—पर ग्राह्य विषय में वह अनेकाग्र होने पर भी ग्रहणविषय में वह एकाग्र ही है, क्योंकि 'मैं आत्मस्मृतिमान् हूँ तथा रहूँगा' ऐसी ग्रहणाकारा बुद्धि उसमें एक ही रहती है। यही एकाग्रता मुख्य एकाग्रता है, इसकी सिद्धि होने पर ग्राह्य की एकाग्रता सहज हो जाती है। केवल ग्राह्य की एकाग्रता से प्रतिसंवेत्ता से सम्बन्धित एकाग्रता नहीं भी आ सकती है।

जो अपने मन से हँसते हैं, रोते हैं, बड़बड़ाते हैं, अंगभंगी करते हैं ऐसे 'एकाग्र' या 'बाह्यवस्तु-प्रवणता से हीन' मूढ़ व्यक्तियों के लिए स्मृति और सम्प्रज्ञानसाधन असाध्य है— यह भली भाँति स्मरण रखना है। सदा सप्रतिभ रहना ही स्मृति का साधन है, ऐसा आचार्यों का उपदेश है।

इस प्रकार के साधन के समय योगीगण बाह्यज्ञानहीन नहीं होते हैं, किन्तु उपस्थित विषयों को संकल्पहीन चित्त के द्वारा देखते जाते हैं। चित्त आदि में जो विषय उपस्थित होते हैं वे उनके द्वारा अलक्षित नहीं होते (कारण, इनका अलक्षित होना और मोहवश अपने को भूलना एक ही बात है)। इस प्रकार के साधन के समय बाह्य शब्दादि प्रतिकूल नहीं होते हैं। इन्द्रियादि के द्वारा जो प्रभाव आत्मभाव के ऊपर पड़ते हैं उन आत्मगत प्रभावों को न देख सकना ही आत्मविस्मृति या मोह है।

इस प्रकार चित्तसत्त्व शुद्ध होने पर इन्द्रियादि जब स्थिर या पिण्डीभूत होते हैं तब बाह्य-विषय आत्मभाव को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। इस अवस्था में विषय का ज्ञान न होना आत्मविस्मृति नहीं, बल्कि विषयहीन आत्मस्मृति है, यही प्रकृत सम्प्रज्ञातयोग तथा प्रकृत समाधि है। यह आत्मस्मृति जितनी सूक्ष्म और शुद्ध होगी सूक्ष्मतत्त्व का अधिगम भी उतना ही होगा। विवेक ही इस आत्मज्ञान की सीमा है।

प्रबल विक्षिप्त चिन्ता में पड़कर बाह्य विषय पर ध्यान न देना और इन्द्रियों को इस प्रकार पिण्डीभूत करके ज्ञान तथा इच्छा से विषय-ग्रहण का रोध करना—इन दो अवस्थाओं का भेद साधकों को भली भाँति समझ लेना चाहिए। (स्मृतिसाधन की व्याख्या 'ज्ञानयोग'[1] प्रकरण में देखिए)।

स्वेच्छापूर्वक केवल बाह्येन्द्रिय को रुद्ध करके विषयग्रहण का रोध करने से ही चित्तरोध नहीं हो जाता। उस समय भी चित्त विषयधारा में तैर सकता

१. यह ग्रन्थकार द्वारा प्रणीत बंगला निबन्ध है जो कापिलाश्रमीय योगदर्शन में है।

है। आत्मस्मृति के द्वारा तब भी चित्त की प्रत्यवेक्षा करके उसे अमल और संकल्पशून्य करना पड़ता है। तदनु चित्त को भी पिण्डीभूत कर रोध करने पर सम्यक् चित्तरोध होता है।

परन्तु इस प्रकार सम्यक् चित्तरोध या निरोधसमाधि होने पर भी सफलता न मिल सकती है। पूर्वोक्त भवप्रत्यय-निरोध इस प्रकार का निरोध है। चित्त या आत्मभाव के प्रतिसंवेत्ता द्रष्टा पुरुष की स्मृति (अर्थात् विवेकज्ञान) प्राप्त कर जो सम्यक् निरोध होता है, वही कैवल्यमोक्ष का निरोध है।

२० (४) श्रद्धा से वीर्य होता है। जिस विषय में जिनकी अच्छी श्रद्धा नहीं रहती, उस विषय में वे वीर्य नहीं कर सकते हैं। वीर्य से अथवा बार-बार कष्ट सहन पूर्वक चित्त को एकाग्र करते रहने से चित्त में स्मृति होती है। स्मृति के ध्रुवा या अचला होने पर समाधि होती है। समाधि से प्रज्ञालाभ और प्रज्ञा के द्वारा हेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान (अर्थात् वियोग) होकर निर्विकार द्रष्टा पुरुष में स्थिति या कैवल्यसिद्धि होती है। ये मोक्ष के उपाय हैं। कोई किसी भी मार्ग पर चले, इन साधारण उपायों को छोड़ने की शक्ति किसी को भी नहीं है। श्रुति भी कहती है—**'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥'** (मुण्डक ३।२।४) अर्थात् बल (वीर्य), अप्रमाद (स्मृति) तथा संन्यासयुक्त ज्ञान (वैराग्ययुक्त प्रज्ञा) इन सब उपायों के द्वारा जो प्रयत्न वा अभ्यास करते हैं उनकी आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होती है।

बुद्धदेव भी कहते हैं (धम्मपद में)—शील, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और धर्मविनिश्चय (प्रज्ञा) इन सब उपायों द्वारा समस्त दुःखों का उपशम होता है (१०।१६)।[1]

२० (५) अनात्मविषय का कर्ता, ज्ञाता तथा धर्ता ये तीन भाव, अर्थात् ज्ञाता, कर्ता और धर्ता कहने से साधारणतः हृदय में जो उपलब्धि होती है वही महान् आत्मा है। बुद्धिरूप आत्मभाव भी पुरुष नहीं होता है, यह अति-स्थिर, समाधि-निर्मल चित्त द्वारा जानकर अन्य-ज्ञान-रोध कर पौरुष प्रत्यय में स्थिर होने की सामर्थ्य ही विवेक या विवेक-ख्याति है। विवेक द्वारा बुद्धि निरुद्ध होती है या निरोध-समाधि होती है, तथा विवेकज-ज्ञान नामक सर्वज्ञता भी होती है। इस विवेकज ऐश्वर्य में भी विराग करके उक्त विवेकमूलक निरोध का अभ्यास करते-करते जब यह निरोध संस्कार-बल से चित्त का स्वभाव हो

१. धर्मपदवाक्य का संस्कृत रूपान्तर (ग्रन्थकारकृत) 'श्रुतशीलवीर्यैश्च समाधिना च तथा च धर्मप्रविनिश्चयेन। संपन्नविद्याचरणास्तु दुःखं प्रतिस्मृता हास्यथ वायनल्पम्'॥ प्रतिस्मृताः=सातिकस्मृतिशीलाः। वै+अनल्पम्=वायनल्पम्। [सम्पादक]

जाता है तब उसे असंप्रज्ञात कहा जाता है। उसमें विवेक एवं नाना प्रकार के संप्रज्ञान भी निरुद्ध होते हैं, इस कारण उस निरोध का नाम असंप्रज्ञात होता है।

भाष्यम्—ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति; तद्यथा मृदूपायः, मध्योपायः, अधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधः, मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः, तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति। तत्राधिमात्रोपायानाम्—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र भेद से वे (श्रद्धा-वीर्य आदि साधनशील) योगी नौ प्रकार के हैं, जैसे—मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय। उनमें मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं—मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और अधिमात्रसंवेग (१)। मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय भी ऐसे ही हैं। इनमें अधिमात्रोपाय—

२१। तीव्रसंवेगवाले योगियों को (समाधि तथा समाधि-फल) आसन्न होते हैं। सू०

अर्थात् समाधिलाभ और समाधिफल-(कैवल्य)-लाभ आसन्न होते हैं।

टीका २१ (१) व्याख्याकारों ने संवेग शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। मिश्र जी संवेग का अर्थ वैराग्य कहते हैं। भिक्षु जी के अनुसार—उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता ही संवेग है। भोजदेव कहते हैं, क्रिया का हेतुभूत दृढ़तर संस्कार ही संवेग है। बौद्ध शास्त्रों में भी संवेग शब्द का प्रयोग (श्रद्धादि उपायों के साथ) है, यथा—"जैसे अश्व कशाघात द्वारा भद्र (वेगवान्) होता है, उसी प्रकार तुम भी आतापी (वीर्यवान्) और संवेगी होओ एवं श्रद्धादि के द्वारा अनेक दुःखों का नाश करो' (धर्मपद १०।१५)[१]। वस्तुतः संवेग योगविद्या का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ केवल वैराग्य नहीं है, किन्तु

---

१. धर्मपद के श्लोक का संस्कृत रूपान्तर (ग्रन्थकारकृत)—"भद्रो यथाश्वः कशया विमृष्टः आतापिसंवेगिन एव चेत" ॥ चेत=च+इत, इत=भवत (यूयम्)। बौद्ध अश्वघोष के काव्य में संवेग शब्द का बारबार प्रयोग मिलता है (सौन्दरनन्द १२।९)। सुत्तनिपात, विसुद्धिमग्गो (पृ० ३१, कोसाम्बिसम्पा०) आदि में संवेग शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। **[सम्पादक]**

वैराग्यमूलक साधनकार्य में कुशलता तथा तत्कृत अग्रसरभाव है। भोजदेव ने इसका यथार्थ लक्षण दिया है।[1]

गतिसंस्कार (momentum) भी संवेग होता है। बलवान् और क्षिप्रगति अश्व जिस प्रकार दौड़ते समय गतिसंस्कार-युक्त होकर शीघ्र ही अभीष्ट स्थान पर जा पहुँचता है, वैराग्यादि-संस्कारयुक्त साधक उसी प्रकार उन्मुक्तवीर्य होकर साधनकार्य में सदा उन्नति की ओर संवेग से चलता रहे तो उसे तीव्रसंवेगी कहा जाता है। विषय से विरक्त होकर 'मैं शीघ्र ही साधन करके कृतकृत्य होऊँगा'—इस भाव के साथ साधन में अग्रसर होना ही संवेग है। हिंस्र-पशु-सङ्कीर्ण कानन में चलते-चलते सन्ध्या होने पर रास्ता तय करने के लिए कोई भयभीत पथिक जैसी शीघ्रता करता है, संसार-कानन से उद्धार पाने के लिए वैसी शीघ्रता ही योगियों का संवेग है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

भाष्यम्—मृदुतीव्रः, मध्यतीव्रः, अधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपि विशेषः; तद् विशेषान्मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नः, ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥ २२॥

२२। मृदुत्व, मध्यत्व और अधिमात्रत्व के हेतु से (तीव्रसंवेग-सम्पन्न व्यक्तियों में भी) भेद होता है। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें मृदुतीव्र, मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र, ये भेद हैं। इस भेद के कारण मृदुतीव्रसंवेगयुक्त को समाधि और उसका फललाभ आसन्न होते हैं, मध्यतीव्रसंवेगयुक्त को आसन्नतर और अधिमात्र-तीव्रसंवेगी व्यक्ति (१) को आसन्नतम होते हैं।

टीका २२ (१) अधिमात्रोपाय=अधिक-प्रमाणक उपाय, यह विज्ञानभिक्षु का मत है। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा या जो श्रद्धा केवल समाधि-साधन के मुख्य उपाय पर प्रतिष्ठित है वह समाधिसाधन का अधिमात्रोपाय है। वीर्य भी वैसा ही है। अन्य विषयों को त्यागकर जो केवल चित्तस्थैर्य करने में लगा रहता है वह अधिमात्रोपायरूप वीर्य है। तत्त्व और ईश्वर सम्बन्धी स्मृति अधिमात्रस्मृति है। सबीजों में संप्रज्ञात तथा निर्बीजों में असंप्रज्ञात अधिमात्र होते हैं। समाधि के मुख्य फल कैवल्य के लाभ के लिए ये अधिमात्रोपाय हैं।

---

१. भोजसंमत लक्षण परम्परासमंत है। योगानन्दनाथ कृत आयुर्वेदसूत्र (४।३) में भी संवेग का यही लक्षण दिया गया है। [सम्पादक]

भाष्यम्—किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवति, अथास्य लाभे भवति अन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति—

ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण; तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलं च भवतीति ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—क्या इसी से ही (ग्रहीतृ–ग्रहणादि विषयों में समापन्न होने के लिए तीव्र संवेगसंपन्न होने से ही) समाधि आसन्न होती है अथवा इसकी प्राप्ति के लिए कोई दूसरा उपाय भी है या नहीं ?—

२३। ईश्वर-प्रणिधान से भी समाधि आसन्न होती है। सू०

प्रणिधान के द्वारा अर्थात् भक्तिविशेष के द्वारा (१) आवर्जित (=अभिमुखीकृत) होकर ईश्वर अभिध्यान के द्वारा उस योगी को अनुग्रह करते हैं। उनके अभिध्यान से भी (२) योगी को समाधि तथा उसका फलभूत कैवल्य का लाभ आसन्न होता है।

टीका २३ (१) पहिले ग्रहीता, ग्रहण, ग्राह्य इन तीन पदार्थों के ध्यान से चित्त को एकाग्र करके एकाग्रभूमिक संप्रज्ञात के साधन के लिए उपदेश किया गया है। इसके अतिरिक्त चित्त को एकाग्रभूमिक या स्थितप्राप्त करने के लिए जो अन्य उपाय हैं उन्हें अब बतलाया जा रहा है। प्रणिधान=भक्तिविशेष। आत्मा के अंदर अर्थात् हृदय के अन्तरतम प्रदेश में १।२४ सूत्रीय लक्षण से युक्त ईश्वर की सत्ता का अनुभव करके आत्मनिवेदनपूर्वक उसी पर निश्चिन्त रहना भक्ति का स्वरूप है। समस्त कार्य हृदयस्थ ईश्वर के द्वारा मानों (वास्तव में नहीं) प्रेरित होकर कर रहा हूँ—ऐसा दिनरात प्रतिक्षण अनुभव करना 'ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण' होता है। इस अनुभव से यह भक्ति साधित होती है। शास्त्रों में कहा है—**"कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्। तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥"** अर्थात् इच्छा से या अनिच्छा से मैं जो भी कर्म कर रहा हूँ उनका फलभूत सुख तथा दुःख को आप ही को समर्पित करता हूँ; अर्थात् मैं सुख-दुःख नहीं चाहता हूँ और उनसे विचलित भी नहीं होऊँगा। समस्त कर्म मानों आपके ही द्वारा साधित हो रहे हैं। इस प्रकार अपने को निष्काम करके ईश्वर-स्मरण पूर्वक कर्म करना ही सूत्रोक्त साधन है। इसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानशून्यता तथा ईश्वरसंस्था सिद्ध होती हैं।

२३ (२) अभिध्यान। सम्यक् शरणागत भक्त की भक्ति के द्वारा अभिमुख होकर ईश्वर 'इसका अभिमत सिद्ध हो', ऐसी जो इच्छा करते हैं, यही अभिध्यान है। ईश्वर जीवों के परम कल्याण (=मोक्ष) के लिए ही अभिध्यान

करेंगे, मायामय सांसारिक सुख की सिद्धि के लिए उनका अभिध्यान होना संगत नहीं होता और उनसे सांसारिक सुख की याचना करना भी उनके स्वरूप तथा परमार्थ-विषय में अज्ञान को ही प्रकट करता है। यह निश्चित है कि सांसारिक सुख प्रायः कुछ-न-कुछ परपीड़ा से उत्पन्न होता है। सांसारिक सुख-दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर-प्रणिधानरूप कर्म से ईश्वर की अभिमुखता प्राप्त करके उनके अनुग्रह से पारमार्थिक विशेष ज्ञान पाया जाता है, यही भाष्यकार का अभिमत है। मुक्त-पुरुष-ध्यान के समान ईश्वरध्यान करने पर भी साधारणतया चित्त समाधि-लाभ कर सकता है। समाधि-द्वारा प्रज्ञा प्राप्त होने पर योगी को परमार्थ सिद्ध होता है। इसमें ईश्वर के अभिध्यान की अपेक्षा नहीं होती; और, जो योगी ईश्वर पर सब कुछ समर्पण करके उनसे ही प्रज्ञालाभार्थ निश्चितबुद्धि हैं, वे ही ईश्वर के अभिध्यान-बल से उपकृत होते हैं, यह विशेषरूपेण ज्ञातव्य है।

अभिध्यान का अर्थ 'अभिमुख में ध्यान' ऐसा भी होता है। ऐसे ध्यान के द्वारा अभिमुख होकर ईश्वर अनुग्रह करते हैं और इस प्रकार के ध्यान से भी (तदभिध्यानात्) समाधिसिद्धि होती है। उपनिषद्[1] में अभिध्यान शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (श्वेताश्वतर १।१०)।

भाष्यम्—अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति; यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेन अपरामृष्टः, स पुरुषविशेष ईश्वरः।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः; ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य; यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तः, आहोस्विन्निर्निमित्त इति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम् ?

---

१. अभिध्यानम् आभिमुख्येन स्मरणम् (श्वेताश्व० १।१० की नारायण-टीका); अभिध्यानाद् अभितो ध्यानात् (विज्ञानभगवान् की टीका)। [सम्पादक]

प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः । एतस्माद् एतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति ।

तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्; न तावद् ऐश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्; तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति, कस्माद् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु—इत्येकस्य सिद्धौ इतरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्, द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात् । तस्माद् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रधान और पुरुष से व्यतिरिक्त वे ईश्वर कौन हैं (१) ?

२४। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं। सू०

क्लेश=अविद्या आदि; पुण्य और पाप कर्म अर्थात् कर्मों के संस्कार हैं; कर्म का फल ही विपाक है; तथा उस विपाक के अनुरूप (अर्थात् किसी एक विपाक के अनुभूत होने पर उस अनुभूति से उत्पन्न—अतः उस विपाक के अनुरूप) समस्त वासनाएँ आशय हैं। ये सब मन में वर्तमान रहकर पुरुष में व्यपदिष्ट वा आरोपित जान पड़ते हैं। इसी से पुरुष इस फल के भोक्ता-स्वरूप होते हैं। जैसे जय या पराजय वस्तुतः योद्धा सैनिकों में वर्तमान रहकर भी सेनापति में व्यपदिष्ट होती है। जो इस भोग के (भोक्तृभाव के) व्यपदेश के द्वारा (अनादिमुक्तता के कारण) अपरामृष्ट (अस्पृष्ट वा असंयुक्त) हैं वे पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं।

कैवल्य को प्राप्त बहुत-से केवली पुरुष हैं। वे तीनों बन्धनों को (२) काटकर कैवल्य पा चुके हैं। ईश्वर का यह सम्बन्ध न भूतकाल में था न भविष्य में होगा। मुक्त पुरुष की पूर्वबन्धकोटि (३) जानी जाती है, ईश्वर की नहीं। प्रकृतिलीनों की उत्तरबन्धकोटि की सम्भावना है; ईश्वर की नहीं। वे सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर हैं।

ईश्वर का यह प्रकृष्ट-बुद्धि-सत्त्वोपादान-हेतु (४) शाश्वतिक उत्कर्ष सनिमित्त (सप्रमाणक) है या निर्निमित्तक (निष्प्रमाणक) ? उनका निमित्त या प्रमाण शास्त्र ही है। शास्त्र का प्रमाण क्या है ? प्रकृष्टसत्त्व प्रमाण है। ईश्वर-सत्त्व में वर्तमान इस शास्त्र तथा उत्कर्ष का सम्बन्ध अनादि है (५), अतः (उक्त युक्तियों के अनुसार) यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ईश्वर और सदा ही मुक्त हैं।

उनका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से शून्य है। (कैसे ? उसे स्पष्ट कर रहे हैं) यह ऐश्वर्य अन्य किसी के ऐश्वर्य-द्वारा अतिक्रान्त नहीं होता है, क्योंकि जो ऐश्वर्य

अतिशय से मुक्त है, वही ईश्वर का ऐश्वर्य है। इस कारण जिस पुरुष में ऐश्वर्य की परा काष्ठा है, वही ईश्वर है। ईश्वर के ऐश्वर्य के समान दूसरा ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि समान ऐश्वर्यशाली दो पुरुषों के रहने पर दोनों पुरुष एक ही वस्तु के विषय में एक ही काल में यदि 'यह नूतन हो' तथा 'यह पुरानी हो' ऐसी विपरीत कामना करें तो एक की कामना सिद्ध होने पर दूसरे की प्राकाम्य-हानि होने से न्यूनता होगी। इस प्रकार दोनों पुरुषों के तुल्य ऐश्वर्यवान् होने पर किसी भी परस्पर-विरोधी अभिलषित अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। अतः (६) जिनका ऐश्वर्य साम्यातिशय से शून्य है, वे ही ईश्वर हैं; और वे पुरुषविशेष हैं।

टीका २४ (१) ईश्वर प्रधानतत्त्व तथा पुरुषतत्त्व नहीं हैं, इसको भलीभाँति जानना चाहिए। ईश्वर भी प्रधान-पुरुष-द्वारा 'निर्मित' होते हैं।[1] वे पुरुष-विशेष हैं और उनकी ऐश्वरिक उपाधि प्राकृत है। वस्तुतः पुरुष से उपदृष्ट जो प्राकृत उपाधि अनादिकाल से निरतिशय उत्कर्षयुक्त (सर्वज्ञता तथा सर्वशक्ति से युक्त) है, वही ऐश्वरिक उपाधि है। परमार्थ के साधक योगीगण केवल इस निर्मल, न्यायसिद्ध, ऐश्वरिक आदर्श में स्थिरबुद्धि होकर उनके प्रणिधान में तत्पर होते हैं। (२४ वें सूत्र में ईश्वर का न्यायसिद्ध लक्षण, २५ वें सूत्र में प्रमाण तथा २६ वें सूत्र में विवरण दिया गया है)।

२४ (२) प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षिण ये तीन बन्धन हैं। प्रकृतिलीनों

---

१. 'ईश्वर प्रधान-पुरुष-निर्मित हैं' इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रगत 'पुरुष-विशेष' शब्दान्तर्गत 'पुरुष' का अर्थ पुरुषतत्त्व नहीं है। यह वस्तुतः 'ग्रहीता' का वाचक है। ग्रहीता के लिए पुरुष का प्रयोग व्यासभाष्य में है—ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु (१।४१)। यदि ईश्वर असंहत पुरुषतत्त्वमात्र होते तो 'विशेष' कहना व्यर्थ होता। अनादिमुक्त चित्त तथा चित्तद्रष्टा पुरुष—इन दोनों के समष्टि-भूत पदार्थ का नाम ईश्वर है। 'ईश्वर प्रधान-पुरुष के अधिष्ठाता हैं, तथा प्रधान, पुरुष एवं ईश्वर परस्पर-भिन्न पदार्थ हैं'—यह सांख्ययोगमत है—ऐसा कुछ सांख्यसमालोचक कहते हैं (द्र० शारीरकभाष्य २।२।३७)। ग्रन्थकार स्वामीजी ने ईश्वर के विषय में जो सांख्ययोगमत १।२३–२९ सूत्रों की व्याख्या में कहा है, उससे उपर्युक्त मत की अशास्त्रीयता सिद्ध होती है। शंकर आदि समालोचक 'सांख्ययोगमत' के रूप में जिन मतों को कहते हैं, वे प्रायः सांख्ययोगमत नहीं होते—यह जानना चाहिये। ईश्वररूप नित्यमुक्त पुरुष-विशेष संख्या में एक ही होंगे, ऐसा नहीं कहा जा सकता; इस विषय में विशेष विचार १।२४ व्यासभाष्य पर ग्रन्थकारकृत भास्वती-टीका में द्रष्टव्य है। **[सम्पादक]**

को प्राकृतिक बन्धन होता है। विदेहों को वैकारिक बन्धन होता है क्योंकि वे मूला प्रकृति तक नहीं जा सकते; उनके चित्त उत्थित होने पर प्रकृति-विकार में ही रह जाते हैं। दक्षिणा आदि से निष्पाद्य यज्ञादि के द्वारा संजात लौकिक तथा पारलौकिक विषय के भोगियों का दाक्षिण बन्धन होता है।

२४ (३) जैसे कपिलादि ऋषि पहले बद्ध थे पीछे मुक्त हुए अथवा कई प्रकृतिलीन अब मुक्तवत् हैं किन्तु पीछे व्यक्त उपाधि लेकर ऐश्वर्य-संयोग से बद्ध होंगे, यह जाना जाता है, वैसे ईश्वर का न कोई बन्धन है न होगा। हम भूत और भविष्यत् रूप में जितने भी समय की कल्पना करते हैं उतने समय में जिन पुरुष का भूत और भावी बन्धन नहीं जाना जा सकता, वे ही ईश्वर हैं।

२४ (४) प्रकृष्ट या सबकी अपेक्षा उत्तम अर्थात् निरतिशय-उत्कर्षयुक्त। अनादि विवेकख्याति के फलस्वरूप अनादि सर्वज्ञता और सर्वभावाधिष्ठातृत्व से युक्त सत्त्वोपादान वा उपाधियोग—यही प्रकृष्टसत्त्व है। अनुमान द्वारा ईश्वर की सत्तामात्र का निश्चय होता है, किन्तु कल्प के आदिकाल में जो ज्ञान-धर्म का प्रकाशन है उसका विशेषज्ञान शास्त्र से ही होता है। कपिलादि ऋषिगण मोक्षधर्म के आदिम उपदेष्टा हैं। श्रुति है—"**ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति**" (श्वेताश्व० ५।२) इत्यादि; अर्थात् कपिल ऋषि ने ईश्वर से ज्ञान की प्राप्ति की है। ऋषियों द्वारा शास्त्र प्रवर्तित हुआ है (शास्त्र से यहाँ पर मुख्यतः मोक्षशास्त्र ही लेना चाहिए), अतः शास्त्र भी मूलतः ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। सर्गपरम्परा के अनादि होने के कारण 'ईश्वर से शास्त्र (मोक्षविद्या) और शास्त्र से ईश्वरज्ञान' यह निमित्तपरम्परा भी अनादि है।

२४ (५) ईश्वरचित्त में वर्तमान जो उत्कर्ष अर्थात् अनादि मुक्तता या सर्वज्ञता आदि हैं वे ही मोक्षशास्त्र के मूल में भी हैं। इनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी अनादि है, अर्थात् जैसे अनादिमुक्त ईश्वर हैं वैसा अनादि मोक्षशास्त्र भी है। यह कहना ठीक ही है कि ऐसे बहुत 'शास्त्रपदवाच्य ग्रन्थ' हैं जिनका सर्वज्ञ-ईश्वर द्वारा कृत होना तो दूर रहा, उनके निर्माता बुद्धिमान् और चरित्रवान् व्यक्ति भी नहीं हैं। अतएव केवल मोक्षविद्या को ही शास्त्रशब्दवाच्य करना संगत है।[1] सभी प्रचलित शास्त्र इस मोक्ष-विद्या का अवलम्बन करके ही रचे गए हैं।

---

१. भाष्य में जो 'शास्त्र' शब्द है, उसका अर्थ ऐशचित्त में विद्यमान 'मोक्षविद्या' ही है। भाष्यगत इस सन्दर्भ का अनुरूप विवरण लिङ्गपुराण, उत्तरार्ध अ० ९ में मिलता है। यहाँ भाष्यगत 'शास्त्र' शब्द के स्थान पर 'विज्ञान' शब्द प्रयुक्त

२४ (६) अर्थात् अनेक ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुष हैं; ईश्वर भी वैसे ही हैं; किन्तु ईश्वर के तुल्य या उनसे अधिक ऐश्वर्यशाली पुरुष रहने से ईश्वरत्व सिद्ध नहीं होता, अतः जिनका ऐश्वर्य निरतिशयता के कारण साम्यातिशयशून्य है, वे ही ईश्वर-पद के वाच्य हैं।

भाष्यम्—किंच—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बहु इति सर्वज्ञबीजम्, एतद्धि वर्द्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवदिति; यत्र काष्ठाप्राप्तिः ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या।

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच" इति ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—और भी

२५। उनमें सर्वज्ञ-बीज की निरतिशयता है। सू०

अतीत, अनागत और वर्तमान इनमें से व्यष्टि तथा समष्टिरूप में वर्तमान (अर्थात् अतीत आदि किसी एक विषय अथवा एकत्र बहुत विषयों का) जो (किसी जीव में) अल्प या (किसी जीव में) अधिक अतीन्द्रियज्ञान देखा जाता है, वही (१) सर्वज्ञबीज अर्थात् सार्वज्ञ्य का अनुमापक है।

यह ज्ञान (अल्प, अधिक, और भी अधिक इस प्रकार से) बढ़कर जिस पुरुष में निरतिशयता को प्राप्त करता है, वही सर्वज्ञ है। (इस विषय का न्याय इस प्रकार है)—

सर्वज्ञबीज काष्ठा को प्राप्त (या निरतिशय) हुआ है ;

सातिशयत्व हेतु (अर्थात् क्रमशः वर्द्धमानत्व हेतु) ;

परिमाण के समान (अर्थात् परिमाण जिस प्रकार क्रमशः बढ़ता हुआ

हुआ है (विज्ञानोत्कर्षयोः परः, ४८)। यह ऐश विज्ञान ही मोक्षशास्त्र है; यही लोकप्रचलित मोक्षशास्त्र का मूल स्रोत है। भाष्योक्त शास्त्र शब्दस्वरूप न होकर ज्ञानरूप है—यह अधुना प्रकाशित विवरणटीका से भी जाना जा सकता है।

[सम्पादक]

निरतिशय हो जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञबीज क्रमशः बढ़ता हुआ निरतिशय होगा) ;

जिस पुरुष में सर्वज्ञबीज की काष्ठाप्राप्ति हुई है, वही सर्वज्ञ है और पुरुष-विशेष भी।

(कोई सर्वज्ञ पुरुष है, इस प्रकार के) सामान्य का निश्चय होने पर अनुमान का कार्य समाप्त हो जाता है; वह विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता। अतएव ईश्वर के संज्ञादिविशेषों का ज्ञान आगम से जान लेना चाहिए।

उनके अपने उपकार का प्रयोजन न रहने पर भी 'कल्पप्रलय-महाप्रलयों में ज्ञानधर्म के उपदेश के द्वारा संसारी पुरुषों का उद्धार करूँगा' ऐसा जीवानुग्रह ही उनकी प्रवृत्ति का प्रयोजन (२) है। इस पर पञ्चशिखाचार्य कहते हैं— "आदिविद्वान् भगवान् परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त में अधिष्ठान करके पूछते हुए आसुरि से तन्त्र या सांख्यशास्त्र कहा था।"

टीका २५ (१) इसमें ईश्वरसिद्धि की अनुमान-प्रणाली कही गई है। उसे विशद करके कहा जा रहा है।

(क) यदि किसी अमेय (=अपरिमित) पदार्थ को अंशतः या खण्डशः लिया जाए तो वे अंश असंख्य ही होंगे। अर्थात् अमेय ÷ मेय = असंख्य।

उदाहरणार्थ अमेय काल को यदि मेय घंटे से भाग किया जाए तो भागफल असंख्य घंटे होंगे।

(ख) अगर किसी अमेय पदार्थ के अंशों को सातिशयी वा क्रमशः वर्द्धमान रूप में लिया जाए तो अन्त में वह एक निरतिशय बृहत् पदार्थ हो जाएगा; अर्थात् उसकी अपेक्षा और अधिक बृहत् पदार्थ की धारणा नहीं हो सकेगी। यही निरतिशय-महत्त्व है। अतएव—

मेय भाग × असंख्य = निरतिशय। अर्थात् असंख्य सान्त पदार्थ = निरतिशय बृहत्।

जैसे परिणाम के भागों को एक हाथ, एक कोस, ८००० कोस इत्यादि के समान यदि बढ़ा कर लिया जाए तो अन्त में ऐसे बृहत् परिणाम पर जाना होगा जिससे और अधिक बड़ा परिमाण धारणायोग्य नहीं होगा; यही निरतिशय बृहत् परिमाण है।

(ग) हमारी ज्ञानशक्ति का मूल उपादान जो प्रकृति है वह अमेय पदार्थ है। बहुतेरे जीवों में अल्प, अधिक, उससे भी अधिक इत्यादि की भाँति जो ज्ञानशक्ति देखी जाती है, वह उस अमेय प्रधान का खण्डरूप है। उपर्युक्त (क) के अनुसार अमेय पदार्थ के खण्डरूप गिनने पर असंख्य होंगे। अतः ज्ञानशक्तियाँ अर्थात् जीव असंख्य हैं।

(घ) कीड़े से मनुष्य तक जो ज्ञानशक्ति है, वह क्रमशः उत्कर्षप्राप्त है[1] अतएव सातिशय है। किन्तु (ख) के अनुसार जिन सब सातिशय पदार्थों का उपादान अमेय है वे अन्त में निरतिशय होते हैं।

सभी सातिशय ज्ञानशक्तियों का कारण अमेय है (जिससे बड़ा रहता है वह सातिशय होता है)।

अतः वे ज्ञानशक्तियाँ अन्त में निरतिशयत्व पा जाएँगी (जिससे बड़ा नहीं रहता वह निरतिशय होता है)।

(ङ) यह निरतिशय ज्ञानशक्ति जिनकी है, वे ही ईश्वर हैं।

सूत्रकार और भाष्यकार-द्वारा स्वीकृत इस अनुमान के द्वारा ईश्वर का सामान्यज्ञान अर्थात् ऐसे पुरुष हैं, इतना ही निश्चय होता है। आगम से अर्थात् जो व्यक्ति उनके प्रणिधान से उनके विषय में विशेषरूप से उपलब्धि कर चुके हैं उन व्यक्तियों के वाक्य से ईश्वर के संज्ञादिविशेष ज्ञातव्य हैं।

२५ (२) साधारण मनुष्य का चित्त पूर्वसंस्कार के कारण वशीभूत न रहकर निरन्तर प्रवृत्तियुक्त होता रहता है। उसको निवृत्त करने की इच्छा करने पर भी वह निवृत्त नहीं होता। विवेकसिद्ध योगी सब संस्कारों का नाश करके चित्त को सम्यक् निरुद्ध कर लेते हैं। यदि वे किसी प्रयोजन से 'इतने कालतक निरुद्ध रहूँ' ऐसा संकल्प कर चित्तनिरोध करते हैं तो ठीक उतने समय बाद उनका निरोध क्षीण होकर चित्त व्यक्त होगा।[2] उस समय जो चित्त उठेगा उसकी प्रवृत्ति का हेतुभूत अन्य कोई अविद्यामूलक संस्कार न रहने के कारण साधारण व्यक्ति के समान वह अवशभाव से नहीं उठेगा, बल्कि वह योगी की इच्छा के अनुसार विद्यामूलक होकर उठेगा। योगी उस चित्त के कार्यद्वारा बद्ध नहीं होते। यही कारण है कि उनका चित्त जिस प्रकार इच्छा करने से उठता है उसी प्रकार इच्छा से योगी उसे विलीन भी कर सकते हैं; ठीक वैसे ही जैसे कि नाटकीय राम का अभिनय करने में अभिनेता को 'मैं राम हूँ' ऐसी भ्रान्ति नहीं होती। ऐसे चित्त को निर्माणचित्त कहा जाता है। पर जो कृतकार्य योगी 'मैं अनन्त काल के लिए प्रशान्त होऊँगा' ऐसा संकल्प करके निरुद्ध होते हैं, उनका निर्माणचित्त होने की सम्भावना नहीं रहती।

---

१. सभी ज्ञानशक्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं। सत्त्व की अधिकता उनके उत्कर्ष का कारण है। गुणसंयोग के असंख्य भेद हो सकते हैं। सत्त्व का क्रमिक आधिक्य ही ज्ञान-शक्ति-समूह के क्रमिक उत्कर्षरूप सातिशयत्व का मूल कारण है।

२. 'जिस प्रकार कल अत्यन्त सवेरे उठूँगा' ऐसा दृढ़ संकल्प पूर्वक सोने पर उसी संकल्प के कारण तड़के ही नींद टूट जाती है, उसी प्रकार चित्त भी व्यक्त होता है' यह वाचस्पति मत यहाँ द्रष्टव्य है।

मुक्त पुरुषगण ऐसे निर्माणचित्तों के द्वारा कार्य कर सकते हैं, यह सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। भाष्यकार ने पञ्चशिख ऋषि का वचन उद्धृत करके इसको प्रमाणित किया है। ईश्वर भी ऐसे निर्माणचित्त के द्वारा ही जीवानुग्रह करते हैं। 'मुक्त पुरुष होने पर भी ईश्वर किस प्रकार भूतानुग्रह करते हैं' यह शङ्का इससे निराकृत हो जाती है। किसी प्रयोजन से कोई योगी निर्माणचित्त का विकास करते हैं। 'संसारी जीवों को संसारबन्धन से ज्ञानधर्मोपदेश के द्वारा मुक्त करूँगा' इस प्रकार का जीवानुग्रह ही ऐश्वरिक निर्माणचित्त के विकास का प्रयोजक होता है। कल्पप्रलय तथा महाप्रलय में भगवान् ऐसा ही निर्माणचित्त करते हैं, यह भाष्यकार का मत है। अतः जो केवल ईश्वर से ज्ञानधर्म पाने के लिए निश्चितबुद्धि हैं, वे प्रलयकाल में उसे पाएँगे। किन्तु ईश्वरप्रणिधानादि-उपायों से चित्त को समाहित कर प्रचलित मोक्षविद्या के द्वारा जो पार जाने की इच्छा करते हैं, उनके लिए कालनियम नहीं है। अनुग्रह का अर्थ 'अनिष्टनिवारणपूर्वक इष्टसाधन की इच्छा' है।[1] जिसका कुछ अनिष्ट नहीं है, उसका आत्मानुग्रह भी नहीं है।

सांख्यसूत्र-गत 'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२) सूत्र तथा योगसूत्र-गत ईश्वर-विषयक सूत्र के कारण **हमारे देश में एक भ्रान्त धारणा** उद्भूत हुई है। कोई-कोई सोचते हैं कि योग सेश्वर सांख्य है।[2] यह मत सांख्य के विपक्षियों द्वारा कहा जाता है।

---

१. ग्रन्थकार स्वामीजीने ईश्वर-अनुग्रह का जो स्वरूप दिखाया है, वह पूर्वाचार्य-संमत है। न्यायवार्तिक में इस अनुग्रह का स्वरूप इस प्रकार दिखाया गया है— जीव के जिस कर्म का जिस समय जिस रूप से फलभोग होगा उस समय उस कर्म का उस रूप से विनियोग करना (अर्थात् यथायथ रूप से फलाधान करना) ही कर्म के प्रति ईश्वरानुग्रह है (४।१।२१) "कोऽनुग्रहार्थः ? यद् यथाभूतं यस्य च यदा विपाककालः तत् तथा तथा विनियुङ्क्ते"। [**सम्पादक**]

२. योग सेश्वर सांख्य है (अर्थात् सांख्य निरीश्वर है)—ऐसा सोचने वाले अनेक आचार्य हैं; द्र० सर्वसिद्धान्तसंग्रह ९।१।२; सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत पातञ्जलदर्शन-प्रकरण (संप्रति सेश्वरसांख्यप्रवर्तक-पतञ्जलि……); सांख्यशास्त्रं द्विविधं सेश्वरं निरीश्वरं च (भास्करराय-कृत ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० ६३)। नागेशभट्ट ने भी स्थान स्थान पर सांख्यसिद्धान्त से पृथक् कर सेश्वरसांख्य-सिद्धान्त कहा है (द्र० उद्द्योत ४।१।३)। द्र० डा० राधाकृष्णन् कृत Indian Philosophy (thus meriting the title of सेश्वरसांख्य, Vol. II, p. 344)। प्रायः आधुनिक सभी विद्वान् यह दृष्टि रखते हैं। [**सम्पादक**]

वस्तुतः जगत् के उपादानभूत और (द्रष्टा-रूप) निमित्तभूत तत्त्वसमूह में ईश्वर नहीं हैं—सांख्याचार्य इस मत का प्रतिपादन करते हैं। योगशास्त्र का भी ठीक यही मत है। उपनिषद् भी ऐसा ही कहते हैं, यथा—"**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥**" (कठ० १।३।१०–११)। इसमें कहीं ईश्वर का उल्लेख नहीं है। महाभारत में भी तत्त्वों को समझाते समय श्रुति की ही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है; यथा, '**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः**' (शान्तिपर्व २४७।२); यहाँ पर भी ईश्वर का उल्लेख नहीं है।

प्रधान तथा पुरुष से समस्त जगत् हुआ है, यह मौलिक दृष्टि से सत्य होने पर भी एक विशेष सृष्टि-रूप रचना के लिए किसी महापुरुष का संकल्प (संकल्प का अर्थ यहाँ विश्व-शरीराभिमान है; अभिमान रहने से ही संकल्प-कल्पना आदि हो सकते हैं) आवश्यक है; किन्तु निर्गुण मुक्तपुरुष में संकल्प इच्छा आदि नहीं रह सकते। इस विषय में सांख्य तथा योग एकमत हैं। योगसूत्र और उसके भाष्य में कहीं पर भी ऐसा नहीं कहा गया है कि 'मुक्त ईश्वर की इच्छा से यह जगत् बना है'; पूर्वसिद्ध (३।४५ भा०) या हिरण्यगर्भ की अधीशता का ही उल्लेख है। ब्रह्माण्ड के अधिपति हिरण्यगर्भ या प्रजापति या जन्य-ईश्वर सांख्यसंमत हैं, परन्तु वे प्रकृतिसंभूत इच्छा के द्वारा ब्रह्माण्ड के रचयिता हैं, मूल उपादान के स्रष्टा नहीं। यह विश्व प्रकृति और पुरुष से उत्पन्न है, यह सांख्य, योग तथा उपनिषद् का सिद्धान्त है। सांख्य जिन सब युक्तियों से जगत्कर्ता मुक्तपुरुष ईश्वर की असिद्धि दिखाता है, योग के ईश्वर उनके द्वारा असिद्ध नहीं होते, प्रत्युत सांख्य की ओर से भी योग के ईश्वर सिद्ध होते हैं; यथा—

प्रधान और पुरुष अनादि हैं।

अतः प्रधान और पुरुष से जितने प्रकार की वस्तुएँ हो सकती हैं वे प्रकार भी अनादि हैं।

अतएव जिस प्रकार बद्धपुरुष (बद्धजातीय चित्त) अनादिकाल से वर्तमान हैं, मुक्तपुरुष (मुक्तजातीय चित्त) भी उसी प्रकार अनादिकाल से वर्तमान हैं।

सदा ही जो मुक्तपुरुष निरतिशय उत्कर्ष से संपन्न हैं और जो निर्माण-चित्तरूप विद्या से युक्त होकर भूतानुग्रह करते हैं, वे ही ईश्वर हैं।

अतएव निरतिशय उत्कर्ष-सम्पन्न अनादिमुक्त-पुरुष की सत्ता सांख्यदृष्टि से न्याय्य है; तथा मुक्तपुरुषगण भी निर्माणचित्त के द्वारा जो भूतानुग्रह करते हैं, यह भाष्यकार ने सांख्याचार्य का वचन उद्धृत करके दिखाया है। इसलिए '**सांख्य-**

योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥' (गीता ५।४) ।[1]

अनादिमुक्त पुरुष नित्यकाल तक (प्रलयकाल में भी) ज्ञानधर्मोपदेश करते रहेंगे—योगसंप्रदाय में यह जो मत प्रचलित था उसमें बहुतों को संशय होता है। यद्यपि यह संशय योग के अत्यन्त अनावश्यक विषय में है, तथापि यह विचार करने योग्य है। यह संशय जितना सरल जान पड़ता है, वास्तव में यह उतना सरल नहीं। संशयकर्ता का प्रश्न ही सदोष है। कोई जिसे अनादि-अनन्त-काल मानता है वह कार्यतः उसके पास सादि-सान्त ही होता है और सदा वह ऐसा ही रहेगा। अतः संशयकर्ता का यथार्थ प्रश्न है—'किसी एक निश्चित अवधियुक्त काल में कोई मुक्त पुरुष ज्ञानधर्म का प्रकाश करके जीवानुग्रह करते हैं या नहीं'—सीमाहीन काल की धारणा न कर सकने पर भी उसे धारणायोग्य समझ कर शङ्काकारी व्यक्ति ऐसी शङ्का या प्रश्न किया करते हैं, अतएव असंभव को संभव मान कर प्रश्न करने से प्रश्न को ही सदोष मानकर उत्तर देना पड़ेगा।

किसी एक नियत सीमायुक्त काल में कोई भी मुक्तपुरुष जीवानुग्रह कर सकते हैं, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। फिर भी यह आगम का विषय है, दर्शन का नहीं। भाष्यकार ने इसकी संभाव्यता ही दिखाई है, घटनीयता नहीं। कल्पप्रलय और महाप्रलय तक अपेक्षा करनी पड़ेगी—ऐसा कहकर इस अनुग्रह की आवश्यकता अत्यल्प ही है, यह भी भाष्यकार ने दूसरे शब्दों में कह दिया है।

और भी एक विषय ध्यान देने योग्य है। जो त्रिकालविद्, सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् हैं, वे भविष्य को वर्त्तमान ही देखते हैं तथा वह वर्त्तमान उनके लिए व्यवहार-योग्य भी होता है। ऐसा होने के कारण वे अपनी इच्छा से ऐसे

---

१. सांख्यदर्शन के 'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२) सूत्र का अर्थ क्या होगा—यह ग्रन्थकार स्वामीजी ने नहीं कहा। उनकी चिन्ता के अनुसार सोचने पर सूत्र का तात्पर्य यह प्रतीत होता है—'प्रतिपक्षी द्वारा चिन्तित ईश्वर (सांख्यदृष्टि से) असिद्ध है'। आक्षेपकारी ईश्वर-शब्द से यादृश पदार्थ को समझता है तादृश पदार्थ को सांख्य (अपनी दृष्टि से) असिद्ध समझता है। पराभिमत ईश्वर का खण्डन करने के कारण सांख्य निरीश्वरवादी नहीं हो जाता। वस्तुतः सांख्य ही एक मात्र दर्शन है जो ईश्वरता-धर्म के विषय में दार्शनिक दृष्टि से विचार करता है; सांख्यातिरिक्त कोई भी दर्शन ईश्वरता-धर्म का कुछ भी विश्लेषण—ईश्वरता धर्म के उपादान-हेतु पर विचार—नहीं करता। [**सम्पादक**]

कारण का संयोग कर सकते हैं अथवा उस भविष्य कारण-कार्य-धारा को इस प्रकार नियमित कर दे सकते हैं कि पीछे उनका ईशितृत्व न रहने पर भी जब वह भविष्य किसी के पास वर्तमान होगा तब वह उस नियन्त्रित कारण-कार्य के फल को ही देखेगा।

जिस प्रकार किसी गृह-निर्माता के मर जाने पर भी परवर्ती मनुष्य उसके मकान में वास कर सकते हैं, उसी प्रकार सर्वशक्तिमान् त्रिकालविद् व्यक्ति वर्तमानवत् किसी भी भविष्यकाल की घटना में—अर्थात् 'ऐसे विशेष जीव के अन्तःकरण में विवेक-ज्ञान प्रस्फुटिक हो' इसमें—कार्य-कारणधारा को इस प्रकार नियमित कर दे सकते हैं कि उस नियमन से उस जीव-विशेष में यथासमय कारण-कार्य-नियन्त्रण के फलस्वरूप आप-ही आप विवेक प्रस्फुटित हो जाएगा। जिस अवच्छिन्न काल को कोई अनादि-अनन्त मानता है उस काल में यदि यह संभव हो तो सब समय ही इसकी संभावना होगी—ऐसा कहना होगा। योगसंप्रदाय के आगम में इसका उल्लेख रहने के कारण इसी दृष्टि से इसकी उपपत्ति समझनी चाहिए। वास्तव अनुष्ठान के काल में जिनकी इसमें आस्था होगी वे इसी रीति से विवेकलाभ भी करेंगे। दूसरे लोग प्रकृत दार्शनिक उपाय से ही विवेक-ज्ञान का लाभ करते रहते हैं। स्वाभाविक नियम से समाधि तथा विवेकलाभ में ईश्वर-प्रणिधान एक सफल उपाय है, यही दर्शन का प्रतिपाद्य है और यही सूत्रकार ने प्रतिपादित किया है।

इस विषय पर ये सब ध्यान देने योग्य बातें हैं, यथा—

१. (सगुण या निर्गुण) ईश्वर से विवेक-ज्ञान ही लभ्य है, अन्य कुछ नहीं।

२. केवल ईश्वर से अथवा पूर्वोक्त ऐश नियमन-द्वारा ही विवेक प्राप्त करने की जिनकी इच्छा है वे ही इसे पाएँगे एवं केवल उन्हीं के लिए इस प्रकार का ऐश नियमन विहित हो सकता है। ब्रह्माण्ड में ऐसे अधिकारी कम ही हैं। अधिकांश अधिकारी स्वाभाविक नियमानुसार योग के द्वारा ही विवेकलाभ करते हैं।

३. ईश्वर को लोक-गोचर होकर ही विवेक का प्रकाश नहीं करना पड़ता है, किन्तु योगियों के हृदय में विवेक उनके योग्य अलौकिक नियम द्वारा ही प्रकटित होता है।

४. जिस प्रकार मुक्त पुरुष के सदैव रहने के कारण अनादिमुक्त ईश्वर की सत्ता को मानना पड़ता है और जिस प्रकार मुक्त पुरुष अनेक होने पर भी उनकी भिन्नता के अवधारण के लिए कोई उपाय न रहने के कारण 'एक अनादिमुक्त पुरुष' कहा जाता है, उसी प्रकार सदा इस प्रकार का कोई ऐश

नियमन भी हो सकता है जिससे अन्य पुरुष की सहायता से विवेक-लाभ के इच्छुक साधकों के अन्तःकरण में विवेक-ज्ञान उदित हो जाएगा।

५. अवश्य ही इस उपाय में साधक की उपयोगिता रहनी चाहिए, नहीं तो सभी के द्वारा वह प्राप्त हो जाता, और सभी की संसृति का उच्छेद हुआ करता। अतएव केवल उपयोगी साधक के लिए ही वैसा होना संभव है। यह उपयोगिता ईश्वरसमापन्नता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस समापन्नता के लिए यम-नियमादि आवश्यक हैं और केवल अपेक्षित विवेक ही इस प्रकार के ऐश-नियमन द्वारा प्राप्त होगा यदि साधक उसी उपाय पर ही स्थिरबुद्धि होकर रहते हों।

जगत्-स्रष्टा प्रजापति को ऐशचित्तयुक्त या सगुण ईश्वर कहा जाता है और अनादि मुक्तचित्त को निर्गुण ईश्वर कहा जाता है। इन निर्गुण ईश्वर के लक्षण में निर्माणचित्त का उल्लेख किया गया है (सूत्र एवं भाष्य में) तथा उनको सर्वज्ञ भी माना गया है। पुनः १।२९ भाष्य में बुद्धिप्रतिसंवेदी त्रिगुणातीत पुरुष के साथ उनका साम्य भी प्रतिपादित हुआ है। इसमें कुछ विरोधाभास है, जिसका समाधान यहाँ किया जा रहा है।

योगसूत्रोक्त ईश्वर अनादिकाल से ही चित्त के अनधीन हैं, पर वे प्रलय-काल में ईश्वरतायुक्त निर्माणचित्त का आश्रय करते हैं। यही कारण है कि वे पुरुषविशेष हैं—केवल पुरुषतत्त्व नहीं हैं, क्योंकि 'ईश्वर' कहने से ही ज्ञानैश्वर्ययुक्तचित्त की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है। निर्माणचित्त बन्ध का कारण नहीं है, यह बात ४।४ सूत्रभाष्य में कही गई है; अतः ईश्वर चित्त के अधीन नहीं हैं और वे सदैव मुक्त एवं निर्गुण हैं।

यहाँ यह बात विशेषरूप से लक्षणीय है कि 'अनादिमुक्त' 'सृष्टि के बाद प्रलय' (अतः देहधारी जीव का लय) आदि काल के अन्तर्गत नहीं हैं, सर्वज्ञ के पास अतीत-अनागत भेद भी नहीं है—उनकी दृष्टि में सभी वर्तमान हैं। भाषा का आश्रय करके इन विषयों पर आलोचना करने से वह आलोचना विकल्पवृत्ति हो जाती है (१।९ सूत्र द्र०), अतः भाषा की दृष्टि से कुछ असंगति होना अनिवार्य हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा (१।४८) के द्वारा भाषाश्रित चिन्ता का अतिक्रमण करने पर यह दोष नहीं रहता। 'शङ्कानिरास' के अन्तर्गत 'ऐश अनुग्रह' परक निबन्ध में तथा 'सांख्यीय ईश्वर' निबन्ध में इस पर अन्य आवश्यक विचार द्रष्टव्य है[1]।

———

१. ये दो निबन्ध बंगला योगदर्शन के परिशिष्ट में हैं। [**सम्पादक**]

भाष्यम्--स एषः

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते, यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्त-सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥

२६. भाष्यानुवाद—वे

(कपिलादि) प्राचीन गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि उनकी ऐश्वर्य-प्राप्ति काल से अवच्छिन्न नहीं होती। सू०

प्राचीन (ज्ञानधर्मोपदेष्टा, मुक्त, अतः ऐश्वर्यप्राप्त कपिलादि) गुरुगण काल के द्वारा अवच्छिन्न (१) हैं। जिनकी ईश्वरता के अवच्छेदक के रूप में काल नहीं आता, वे पूर्व गुरुओं के भी गुरु हैं। (२) वे जिस प्रकार वर्तमान सर्ग के आदि से ही उत्कर्षप्राप्त होकर अवस्थित हैं, उसी प्रकार अतिक्रान्त सर्गों के आदि में भी स्थित हैं, यह जानना चाहिए (३)।

टीका २६ (१), (२), (३) के लिए २४ वें सूत्र की (३), (४), (५) टीकाओं को देखिए।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वम्, अथ प्रदीप-प्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्तु ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति, यथा अवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते-अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते; संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

२७। उसका वाचक प्रणव या ओम्-शब्द है। सू०

भाष्यानुवाद—प्रणव का वाच्य ईश्वर है। क्या यह वाच्यवाचकभाव संकेत-कृत है अथवा प्रदीप-प्रकाश के समान अवस्थित है? यह वाच्यवाचक-सम्बन्ध अवस्थित है, परन्तु ईश्वर का संकेत उस अवस्थित विषय का ही अभिनय या प्रकाश करता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र का सम्बन्ध विद्यमान रहता है किन्तु उसको संकेत से प्रकाश किया जाता है, 'ये इनके पिता हैं, यह इनका पुत्र है' इसी प्रकार अन्यान्य सर्गों में भी (इस सर्ग में प्रयुक्त किसी शब्द या प्रणव के सदृश किसी शब्द के द्वारा) वाच्यवाचकशक्तिसापेक्ष संकेत किया जाता है (१)। संप्रतिपत्ति की नित्यता के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य (२) है, ऐसा आगमवेत्तागण कहते हैं।

टीका २७ (१) कोई-कोई पदार्थ ऐसा है जिसके नाम का संकेत किसी एक पद या शब्द के द्वारा किया जाता है किन्तु उस नाम के बिना भी उस पदार्थ के ज्ञान की कोई हानि नहीं होती; और कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो केवल शब्दमय चिन्तन के द्वारा अवगत होते हैं। उनके नाम का भी संकेत किया जाता है, पर उस नाम का अर्थ है—उस विषय से सम्बन्धित सभी शब्दमय चिन्तन। पहले प्रकार के उदाहरण हैं—चैत्र, मैत्र आदि। चैत्रादि नाम न रहने पर भी उन व्यक्तियों के बोध में कुछ हानि नहीं होती। दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं—पिता, पुत्र आदि। 'पुत्र जिनसे उत्पन्न होता है' इत्यादि प्रकार का शब्दमय चिन्तन 'पिता' शब्द का अर्थ है। 'चैत्र का पिता मैत्र है' इस वाक्य में चैत्र से सिर्फ चैत्र नामक मनुष्य का ज्ञान होगा। 'चैत्र' इस नाम को न जानने पर भी उसको देखने से वही ज्ञान होगा।

यह भी ज्ञातव्य है कि पहले देखे हुए चैत्र को 'चैत्र' इस नाम से स्मरणज्ञान में रखा जा सकता है। अथवा उसका नाम भूलने पर भी उसे स्मरण किया जाता है तथा स्मरण में रखा जाता है। किन्तु चैत्र तथा मैत्र का जो सम्बन्ध है अर्थात् 'पिता' इस शब्द का जो अर्थ है उसकी भावना किसी शब्द के बिना नहीं हो सकती है, क्योंकि शब्दस्पर्शादि-व्यवसाय की भावना वाचक शब्द के बिना भी हो सकती है, पर शब्द के बिना (या अन्य संकेत के बिना) प्रायः चिन्तनरूप अनुव्यवसाय की भावना करना साध्य नहीं। पिता-शब्दार्थ उसी प्रकार की चिन्ता का फल है, अतः उसकी भावना भी शब्द के बिना कठिन होती है। वस्तुतः पिता और पितृशब्दार्थ प्रदीप और प्रकाश के तुल्य हैं। प्रदीप होने से जिस प्रकार प्रकाश होता है, पिता कहने से (संकेत को जाने हुए व्यक्ति के पास) उसी प्रकार पितृ-शब्दार्थ का प्रकाश मन में होता है। शब्दमय चिन्तन या उसके किसी शाब्दिक संकेत के अभाव में वैसा अर्थ मन में प्रकाशित नहीं होता।

ईश्वर पद का अर्थ भी इसी प्रकार की शब्दमयी भावना है। कुछ शब्द-वाच्य पदार्थों की कल्पना किए बिना ईश्वर का बोध नहीं होता। ईश्वर-सम्बन्धी जो सब शब्दमय चिन्तन हैं (वाचक शब्दों के साथ जो चिन्तन अविनाभावी हैं) उन्हीं का संकेत ओम् शब्द के द्वारा किया गया है। इस प्रकार शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध अविनाभावी होने पर भी किसी एक शब्द के साथ एक ही अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्यगण इच्छानुसार संकेत करते हैं। धातुप्रत्ययों के योग से निर्मित या अन्य प्रकार से निर्मित बहुत से नये शब्दों के द्वारा नये संकेत भी किए जाते हैं। परन्तु टीकाकारों के मत में ओम् शब्द केवल इसी सर्ग में ही ईश्वरवाचक-रूप में संकेतित नहीं हुआ। पूर्व सर्गों में भी ऐसे संकेत के साथ ओम् शब्द का प्रयोग होता था। इस सर्ग

में सर्वज्ञ अथवा जातिस्मर पुरुषों के द्वारा पुनः यही संकेत प्रवर्तित हुआ है। यह भाष्यकार का भी मत हो सकता है। आर्षशास्त्र में ओम् शब्द के ऐसे आदर का विशिष्ट कारण यह है कि प्रणव के द्वारा चित्त की जैसी स्थिरता होती है वैसी और किसी दूसरे शब्द से नहीं।

व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण एकतान भाव से नहीं हो सकता, केवल स्वर वर्णों का एकतान भाव से उच्चारण होता है। किन्तु उसमें प्रचुर वाक्-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। केवल ओंकार अपेक्षाकृत सहजता से उच्चारित होता है, विशेष रूप से अनुनासिक मकार एकतान भाव से तथा अत्यल्प प्रयत्न से उच्चारित होता है। यह प्रश्वास के साथ एकतान भाव से ब्रह्मरन्ध्र (नासा-छिद्र का मूल या nasopharynx)[1] के स्वल्प प्रयत्न से ही उच्चारित होता है। इस कारण चित्त को एकतान करने के लिए ओम् शब्द का ही अधिक उपयोगिता है।

वस्तुतः यह ओम्ध्वनि मन-ही-मन उच्चारित होने से कण्ठ से मस्तिष्क की ओर एक प्रयत्न जाता है (योगी लोग जिसको कौशल से ध्यान की ओर लगाते हैं), किन्तु मुँह को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। एकतान शब्द के उच्चारण के विना आरम्भ में चित्त की एकतानता या ध्यान आयत्त नहीं होता। इस विषय में प्रणव सर्वथा उपकारी है। वस्तुतः 'सोऽहम्' शब्द भी ओ-कार तथा म्-कार भाव में ही प्रधानतः उच्चारित होता है। अतएव वह भी उत्तम तथा परमार्थ व्यञ्जक मन्त्र है।

भाष्यकार ने ईश्वर के संबंध में वाच्य-वाचक-संकेत आवश्यक कहा है। इससे यह भी स्वीकार किया गया कि ईश्वर प्रत्यक्षरूप से इन्द्रियग्राह्य नहीं है। पाञ्चभौतिक जन्म-मरणशील शरीरयुक्त जीव ही प्रत्यक्षयोग्य है, अतः उसको जानने के लिए वाचक संकेत अनावश्यक है।

योगियाज्ञवल्क्य (२।६१) में कहा गया है—**'अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः। तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति'** ॥[2] श्रुति भी ओंकार के

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जो ब्रह्मरन्ध्र शब्द प्रयुक्त हुआ है वह nasopharynx के लिए ही है। आयुर्वेद में ब्रह्मरन्ध्र (अथवा ब्रह्मतालुक) शब्द से Anterior Fontenelle गृहीत होता है; यह nasopharynx से भिन्न है। श्वासवायु nose—nasopharynx—glottis अथवा larynx—trachea....इस रूप से अन्तः प्रविष्ट होता है। [सम्पादक]

२. यह श्लोक वस्तुतः बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति का है (२।६१)। 'तस्योङ्कारः परं नाम' इस रूप से यह श्लोक कृत्यकल्पतरु-मोक्षकाण्ड में उद्धृत हुआ है (पृ. १९९)। ओंकार=ओम्-वर्ण तथा ओम्-उच्चारण (द्र० मेधातिथिभाष्य २।७५)। [सम्पादक]

लिए कहती है—'**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्**' (कठ० १।२।१७) अर्थात् परमार्थसाधन के आलम्बनों में प्रणव ही श्रेष्ठ और परम आलम्बन स्वरूप है ।

२७ (२) सम्प्रतिपत्ति=सदृश-व्यवहार-परम्परा। इसकी नित्यता के कारण शब्दार्थ-सम्बध भी नित्य है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि 'घट' शब्द और उसका अर्थ (मिट्टी का पिण्डविशेषरूप विषय) इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है। कारण, पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष की इच्छा के अनुसार एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा संकेतीकृत हो सकता है। ३। १६ सू० (२) (ज) टीका देखिए।

किन्तु जो अर्थ शब्दमय चिन्तन-द्वारा बोधगम्य होते हैं, उनके साथ किसी न किसी वाचक शब्द का सम्बन्ध रहना अवश्यम्भावी है। भाष्य के 'शब्द' पद का अर्थ है 'कोई एक शब्द'। 'गो' 'घट' आदि किसी विशेष नाम के साथ उसके अर्थ का जो सम्बन्ध है वह नित्य है, यह मत ठीक नहीं। 'करना' तथा 'do' इन दो क्रियावाचक शब्दों में वाचक का भेद है और कालक्रम से भेद हो भी जा सकता, है पर 'करना' तथा 'do' इन दो पदों का जो अर्थ है, कृ-धातु के समानार्थक किसी शब्द या संकेत के बिना उसके अवगत होने का अन्य उपाय नहीं है। इस प्रकार से ही संकेतभूत शब्द का एवं अर्थ का सम्बन्ध अविनाभावी होता है। सम्प्रतिपत्ति की नित्यता के कारण अर्थात् 'जब से मन है और जब तक मन रहेगा तब से वह शब्द से वाच्य पदार्थ का बोध करता रहा है और तब तक करता रहेगा" मन का यह समान रूप से व्यवहार करने वाला स्वभाव परम्पराक्रम से नित्य होने के कारण शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है। यह स्पष्ट है कि यह कूटस्थ नित्यता का उदाहरण नहीं है, इसे प्रवाह-नित्य कहा जाता है।

जो यह कहते हैं कि चूंकि अनादिपरम्पराक्रम से घटादिशब्द स्व-स्व अर्थों में सिद्धवत् प्रयुक्त होते आ रहे हैं, इसीलिए शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य है एवं 'सम्प्रतिपत्ति' शब्द के द्वारा वैसा अर्थ[1] प्रतिपादित करते हैं, उनका मत न्याय-संगत नहीं है।

भाष्यम्—विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

---

१. 'संप्रतिपत्ति' शब्द के अर्थ स्व-स्व पक्ष स्वीकार या निश्चय (न्यायभाष्य २।१।१;२।१।६), तथा अनुमति (सभापर्व ३।१४ देवबोधटीका) हैं; अतः सदृशव्यवहारपरम्परा रूप अर्थ संगत है। **[सम्पादक]**

प्रणवस्य जपः, प्रणवाभिधेयस्य च ईश्वरस्य भावना। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थञ्च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम्—"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् (स्वाध्यायमासते)। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते" ॥ (द्र० विष्णुपु० ६।६।२) ॥ इति २८ ॥

भाष्यानुवाद—वाच्यवाचकभाव जानकर योगी —

२८। उसका जप तथा उसकी अर्थभावना करें। सू०

प्रणव का जप तथा उसके अभिधेय ईश्वर की भावना कर्तव्य हैं। प्रणव-जपनशील तथा प्रणवार्थभावनशील इस योगी का चित्त एकाग्र (१) होता है। इस पर कहा गया है, "स्वाध्याय से योग का एवं योग से पुनः स्वाध्याय का उत्कर्ष करना चाहिये; स्वाध्याय और योग की सम्पत्तिसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं" (२)।

टीका २८ (१) ईश्वरतारूप अर्थ की धारणा करने के लिए जो भी शब्दमय चिन्तन करना पड़ता है वह ओम् शब्द के द्वारा संकेतित हुआ है। सुतरां ओम् शब्द का यथार्थ संकेत याद रहने से ईश्वर-विषयक भाव मन में प्रकाशित होता है। जब ओम् शब्द के उच्चारण से ही मन में ईश्वर-शब्द का अर्थ भलीभाँति प्रकाशित होता है, तब प्रकृत संकेत या वाच्य-वाचक-सम्बन्ध का ज्ञान हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। साधकों को पहले सावधानतया इस वाच्यवाचक-भाव को मन में जागृत करने का अभ्यास करना पड़ता है। ओम् शब्द का जप तथा उसकी अर्थभावना करते-करते मन इस भावना में अभ्यस्त हो जाता है। तत्पश्चात् प्रणव एवं उसके अर्थ की प्रतिपत्ति (सिद्धवत् ज्ञान) के चित्त में सहजतया उठते रहने पर प्रकृष्ट प्रणिधान होता है।

ग्रहणतत्त्व और ग्रहीतृतत्त्व हमारे आत्मभाव के अंगभूत हैं। अतः वे अनुभूत वा साक्षात्कृत हो सकते हैं। अतएव आरम्भ में शाब्दिक चिन्तन उनकी उपलब्धि का हेतु होने पर भी शब्द-शून्य भाव से भी उनकी भावना हो सकती है। निर्वितर्क तथा निर्विचार ध्यान इस प्रकार के ही हैं। किन्तु आत्मभाव के बहिर्भूत ईश्वर की भावना शब्दों के बिना नहीं हो सकती और वह भावना भी केवल कुछ गुणवाची वाक्यों का—अर्थात् जो क्लेशशून्य, जो कर्मशून्य इत्यादि का— चिन्तनमात्र है। किन्तु उस 'जो' की धारणा करने के लिए—उनमें चित्त स्थिर करने के लिए—उस प्रकार के नानाभावों का चिन्तन करना उस ध्यान के लिए अनुकूल नहीं होता।

किन्तु हम जिसकी धारणा कर सकते हैं, जिसको 'एक' सत्ता के रूप से अनुभव कर सकते हैं, वह ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य रूप त्रिविध तत्त्वों के भीतर

अवश्य होगा, अर्थात् रूपरसादिरूप में, बुद्धि-अहंकारादि रूप में (बुद्धि आदि ग्रहण-तत्त्व की धारणा करने के लिए अत्यन्त स्थिर ध्यानविशेष आवश्यक है) उसकी धारणा करनी ही पड़ेगी। बाह्य भाव की सहायता से धारणा करते समय रूपादियुक्त भाव लेकर एवं आत्मभाव के अङ्गरूप में—अर्थात् अन्तर्यामि-रूप में—धारणा करते समय बुद्धि आदि रूप लेकर धारणा करनी होगी। इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं है।

अतः बाह्यभाव से ईश्वर की धारणा करने के लिए रूपादियुक्त भाव में धारणा करना सङ्गत है। योग के प्रथम स्तर के साधक वैसा ही करते हैं। शास्त्र भी कहता है—**'योगारम्भे मूर्त्तहरिममूर्त्तमथ चिन्तयेत्'** (गरुडपुराण १।२२९।२५)।[1]

बुद्धि आदि आत्मभाव के रूप से ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अपनी बुद्धि आदि के बिना दूसरे की बुद्धि का साक्षात् अनुभव साधारण व्यक्ति नहीं कर सकते। अतएव आत्मभाव से ईश्वर की धारणा करनी हो तो 'वह मैं हूँ' (सोऽहम्) इसी प्रकार से वह धारणा करनी होगी। शास्त्र में कहा है कि **'यः सर्वभूत-चित्तज्ञो यश्च सर्वहृदि स्थितः। यश्च सर्वान्तरे ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत्'**।[2] लिङ्गपुराण २।९।५१ में भी योगदर्शनोक्त ईश्वरभावना वर्णित है—**"शंभोः प्रणववाच्यस्य भावना तज्जपादपि। आशु सिद्धिः परा प्राप्या भवत्येव न संशयः"**॥[3] **"एकं ब्रह्ममयं ध्यायेत् सर्वं विप्र चराचरम्। चराचरविभागं च त्यजेदहमिति स्मरन्**[4]॥" श्रुति भी कहती है—**'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्'**[5] (कठ० २।२।१९)।

---

१. अनुवादः हरि की कोई मूर्ति (निश्चित आकार) नहीं है, पर योगाभ्यास के आरम्भ में हरि के किसी साकाररूप की चिन्ता करनी चाहिये। **[सम्पादक]**

२. अनुवादः जो सर्वप्राणियों के चित्तों के ज्ञाता हैं, जो सभी के हृदयों में स्थित हैं तथा जो मन में ही ज्ञात होते हैं, उनका ध्यान 'मैं वही हूँ' इस रूप से करना चाहिये। **[सम्पादक]**

३. अनुवादः प्रणव-वाच्य शंभु की जो भावना जप से की जाती है, उससे शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। **[सम्पादक]**

४. अनुवादः हे विप्र, सभी चराचर वस्तुओं को 'एक ब्रह्ममय' के रूप में जानना चाहिये। अस्मीति-बोध में प्रतिष्ठित होने पर चराचर-विभाग का त्याग कर देना चाहिये। **[सम्पादक]**

५. अनुवादः उस आत्मा को जो आत्मस्थ (चित्तस्थ) समझते हैं, उनको ही शाश्वती शान्ति मिलती है, अन्यों को नहीं। **[सम्पादक]**

कार्यतः ईश्वर-प्रणिधान हृदय[1] में करना पड़ता है। नवीन साधक जो मूर्त्त ईश्वर का प्रणिधान सहज मानते हैं उन्हें हृदय में ज्योतिर्मय ऐश्वरिक रूप की कल्पना करनी पड़ती है। मुक्त ईश्वर जिस प्रकार स्थिरचित्त और परमपद में स्थित होने के कारण प्रसन्नवदन हैं अपनी ध्येयमूर्त्ति का उसी प्रकार चिन्तन करके उसमें अपने को ओत-प्रोत भाव से स्थित मानकर ध्यान करना होता है। प्रणवजप के द्वारा अपने को ईश्वरप्रतीकस्थ, स्थिर, निश्चिन्त, प्रसन्न ऐसा स्मरण करना होता है।

इसके अभ्यास से जब चित्त कुछ स्थिर, निश्चिन्त तथा ऐश्वरिक भाव में स्थिति करने में समर्थ हो जाए तब हृदय में स्वच्छ, शुभ्र, असीमवत् आकाश की धारणा करनी चाहिए। उस आकाश में सर्वव्यापी ईश्वर की सत्ता है, ऐसा जानकर उसमें 'अहंभाव ओत-प्रोत रूप से स्थित है' (मैं ही उस हृदयाकाशस्थ ईश्वर में स्थित हूँ) इस प्रकार ध्यान करना पड़ता है। हृदयाकाशस्थ ईश्वर-चित्त में अपने चित्त को मिलाकर निश्चिन्त, संकल्पशून्य एवं तृप्त भाव से रहने का अभ्यास करना होता है। एक श्रुति में यह प्रणाली भलीभाँति वर्णित है; यथा—**"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥"** (मुण्डक २।२।४) अर्थात् ब्रह्म या हृदयाकाशस्थ ईश्वर लक्ष्य है; प्रणव धनुष के समान तथा आत्मा या अहंभाव शर के समान है। अप्रमत्त वा सदा स्मृतियुक्त होकर उस ब्रह्मरूप लक्ष्य में आत्मारूप शर को वेधकर तन्मय होना पड़ता है, अर्थात् 'ओम्' पद के द्वारा 'मैं ही हृदयाकाशस्थ ईश्वर में स्थित हूँ' यह भाव स्मरण करते हुए ध्यान किया जाता है।

---

१. वक्षस्थल में जहाँ पर प्रीति वा सौमनस्य होने से सुखमय बोध होता है एवं दुःखभयादि से विषादमय बोध होता है, वह प्रदेश ही हृदय कहलाता है। वस्तुतः अनुभव का अनुसरण करके हृदयप्रदेश स्थिर करना चाहिए। स्नायु, रक्त, मांस इत्यादि विचार कर हृदयपुण्डरीक स्थिर करने पर उतना फल नहीं होता। हृदय में रागादि मानस भाव की प्रतिक्रिया (reflex action) होती है। प्रतिक्रियाजनित भाव का अनुभव हम हृदय में कर सकते हैं, किन्तु चित्तवृत्ति कहाँ पर होती है, इसका अनुभव नहीं कर सकते। अतः हृदयप्रदेश में ध्यान करके बोधप्रकाशक ज्ञाता को प्राप्त करना सरल है।

परन्तु हृदय प्रदेश ही दैहिक अस्मिता का केन्द्र है। मस्तिष्क चैत्तिक केन्द्र है, किन्तु कुछ समय तक चित्तवृत्ति रोध करने पर बोध होता है कि मानों अहंता हृदय में उतरा आ रहा है। हृदयदेश में ध्यान के द्वारा सूक्ष्म अस्मिता की उपलब्धि करके सूक्ष्मधाराक्रम से मस्तिष्क के अन्तरतम प्रदेश में पहुँचने पर अस्मिता का सूक्ष्मतम केन्द्र मिल जाता है। उस समय हृदय तथा मस्तिष्क एक हो जाते हैं।

यह ध्यान अभ्यस्त होने पर साधक ध्यान-काल में हृदय में आनन्द अनुभव करते हैं। उस समय ईश्वर-संस्थिति-जात आनन्दमय बोध ही 'मैं' हूँ, ऐसा स्मरण कर ग्रहणतत्त्व में जाना होता है। इसके अतिरिक्त सुस्थिर तथा प्रसन्न चित्त से अपने चित्त को क्लेशशून्य (अर्थात् निरुद्ध) एवं स्वरूपस्थ भाव में अर्थात् ऐश्वरिक भाव में भावित किया जाता है। सावधानतया बहुत दिनों तक निरन्तर तथा सत्कार-सहित इसका अभ्यास करने से ईश्वर-प्रणिधान का यथार्थ फल जो प्रत्यक्चेतनाधिगम है, वह प्राप्त होता है (अगला सूत्र देखिए)।

ईश्वर-वाचक प्रणव (प्रणव का अन्य अर्थ भी है) का जप करने के लिए 'ओ'-कार का थोड़े समय तक एवं 'म'-कार का प्लुत वा दीर्घ तथा एकतानभाव से उच्चारण करना चाहिए। पर प्रस्फुट उच्चारण की अपेक्षा पूर्णतः मानसिक उच्चारण ही श्रेष्ठ है। जिस जप में वाक्-इन्द्रिय अत्यल्प मात्रा में भी नहीं काँपती वही उत्तम जप होता है। और भी एक प्रकार का उत्तम जप है जिसको अनाहतनाद के साथ करना पड़ता है। ऐसा बोध होता है मानों अनाहत नाद ही मन्त्ररूप में सुनाई दे रहा है। तन्त्रशास्त्र में इसे मन्त्र-चैतन्य कहते हैं। तन्त्र कहता है—'**मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः। शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥**' 'सोऽहंभाव' ही सबसे उत्तम योनिमुद्रा है। वही योगियों द्वारा ग्रहणयोग्य योनिमुद्रा[1] है।

---

१. ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत 'मन्त्रार्थ…' श्लोक का आकर अनुसन्धेय है। प्राणतोषिणी में कहा गया है—मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः। न सिध्यति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि ॥ शतकोटिजपेनापि तस्य विद्या न सिद्धति। इति सरस्वतीतन्त्रे पाठः (पृ० २२२)। योनिमुद्रा के विषय में यह वाक्य द्रष्टव्य है—मन्त्राणां भावनास्थानं बीजानां च तथैव च। विभावनं सुधीनां च योनिमुद्रेति शांभवि ॥ ग्रन्थकार ने योनिमुद्रा के विषय में जो कहा हैं (सोहंभावपूर्वक जप) उसका मूल घेरण्डसंहिता प्रतीत होता है। श्लोक ये हैं—शिवशक्ति-समायोगाद् एकान्तं भुवि भावयेत्। आनन्दमानसो भूत्वा चाहं ब्रह्मेति संभवेत्। योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ॥ (३।४१-४२)। योनिमुद्रा द्वारा सोऽहंधारणा के अभ्यास के विषय में घेरण्डसंहिता के ये श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं-शक्तियमयो भवेत्। सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि॥ आनन्दमयः संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्। अहं ब्रह्मेति चाद्वैतसमाधिस्तेन जायते ॥ (७।१२-१३)। यहाँ जो श्रृङ्गार शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसको संकुचित अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यह सारतः वही श्रृङ्गाररस है जिसका विवरण भोज ने 'आनन्द-अहंकार-अभिमान-रस' इस रूप से किया है (श्रृङ्गारप्रकाश, अ० ११, द्र० अग्निपुराण

ईश्वर का प्रणिधान अवश्य ही भक्तिपूर्वक करना चाहिए। (भक्ति का तत्त्व 'परभक्तिसूत्र'[1] में देखिए)। ईश्वर-स्मरण में सुख-बोध होने पर जो सुखबोधमय और महत्त्वबोधयुक्त अनुराग होता है, वही भक्ति है। प्रियजन को स्मरण करने से जिस प्रकार हृदय में सुखबोध होता है और बार-बार स्मरण करने की इच्छा होती है, ईश्वर-स्मरण में भी जब उसी प्रकार का भाव उदित होगा तभी भक्तिभाव व्यक्त हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रियजन को स्मरण कर हृदय में सुखबोध होने पर उस सुखबोध को स्थिर रखकर प्रियजन के स्थान में ईश्वर को रखकर उसी सुखबोध के साथ उनका चिन्तन करते रहने से भक्तिभाव शीघ्र प्रकट तथा वर्द्धित होता है। प्रणवजप का दूसरा संकेत यह है :—'ओ'-कार के उच्चारणकाल में ध्येयभाव का स्मरण करना चाहिए और दीर्घ एकतान 'म'-कार[2] के उच्चारण काल में उस स्मरण किए हुए ध्येय-भाव में स्थिति करना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास कर, श्वास-प्रश्वास के साथ प्रणव-जप करने पर अधिकतर फल मिलता है। श्वास को सहजभाव में लेते-लेते 'ओ'-कार से ध्येय का स्मरण करना चाहिये और दीर्घ प्रश्वास के साथ 'म'-कार के मानसिक एकतान उच्चारण से ध्येयभाव में स्थिति करना चाहिये। इस प्रकार द्विविध प्रयत्न से चित्त एक ध्यान में संलग्न रहता है।

इस प्रकार भावना-सहित जप करने से चित्त एकाग्रभूमिक होता है। चित्त एकाग्र-भूमिक होने पर संप्रज्ञात-योग और उसके बाद असंप्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

३३८।१-४)। कुब्जिकातन्त्र के षष्ठ पटल में योनिमुद्रा का जो विवरण है वह सिद्धासन-नासाग्रदृष्टि-जालन्धर बन्ध आदि कतिपय आसन-मुद्रा-बन्ध का समाहारभूत है, जिसमें अवस्थित होकर साधक को ध्यान-विशेष का अभ्यास करना पड़ता है (षट्चक्रभेद-पूर्वक)। योनिस्थानमुद्रणाद् योनिमुद्रा (प्राणतोषिणी, पृ० ७०)। ऐसा विवरण शिवगीता (१६।५२) में भी मिलता है। [**सम्पादक**]

१. यह ग्रन्थकार द्वारा प्रणीत सूत्रमय संस्कृत ग्रन्थ है, जो संस्कृत टीका एवं बंगला-व्याख्या के साथ प्रकाशित हो चुका है। [**सम्पादक**]

२. ओंकार के अन्तर्गत म-वर्ण की जिस दीर्घता का उल्लेख यहाँ किया गया है—वह शब्दशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार नहीं, योगशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार है। ओंकार की चतुर्थ मात्रा के विषय में शिवगीता के टीकाकार लक्ष्मीनृसिंह (प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित के शिष्य) कहते हैं—यद्यपि नेदं व्याकरणानुगुणं तथापि आगमानुगुणमस्तीति ज्ञेयम् (१५।१५)। [**सम्पादक**]

२८ (२) इस गाथा[1] का अर्थ यह है :—स्वाध्याय की या अर्थ की भावना करके जप के द्वारा योगारूढ़ होना या चित्त को एकतान करना चाहिए। चित्त एकाग्र होने पर जप्य मन्त्र के सूक्ष्मतर अर्थ का बोध होता है। उस सूक्ष्मतर भाव की भावना करके पुनः जप करना चाहिए। तदनु और भी सूक्ष्म तथा निर्मल-भाव अधिगत होने से उसी पर दृष्टि रख कर पुनः जप करना चाहिए। इस तरह स्वाध्याय से योग तथा योग से स्वाध्याय विवर्द्धित होकर प्रकृष्ट योग निष्पादित होता है।

भाष्यम्—किंचास्य भवति—

ततः प्रत्यक्-चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति; स्वरूप-दर्शनमप्यस्य भवति–यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥२९॥

भाष्यानुवाद—और क्या होता है ?—

२९। उसी से प्रत्यक् चेतन का (१) साक्षात्कार होता है और सब विघ्न नष्ट होते हैं। सू०

व्याधि आदि जो सब अन्तराय हैं वे ईश्वर-प्रणिधान करते-करते नष्ट हो जाते हैं; साथ ही योगी को स्वरूप-दर्शन भी होता है। जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध (धर्माधर्मरहित), प्रसन्न (अविद्यादिक्लेश-शून्य), केवल (बुद्धि आदि से हीन), अतएव अनुपसर्ग (जाति, आयुः तथा भोग से शून्य) पुरुष है, उसी प्रकार इस (साधक की अपनी) बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष भी (२) है, इसी रूप से प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है।

टीका २९ (१) प्रत्यक् शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। हर वस्तु में जो सम्बद्ध है अर्थात् ईश्वर, वह प्रत्यक् है। प्रत्यक् का दूसरा अर्थ पश्चिम वा पुराण है, अत 'पुराण पुरुष' वा ईश्वर प्रत्यक् है। किन्तु यहाँ पर ऐसा अर्थ नहीं है। यहाँ प्रत्यक् का अर्थ 'विपरीत भाव का ज्ञाता' है। **'प्रतीपं विपरीतम् अञ्चति विजानाति इति प्रत्यङ्** (वाचस्पति);[2] अर्थात् आत्म-

---

१. भाष्योद्धृत श्लोक में जो 'परात्मा' शब्द है, उसका अर्थ है उपाधिसम्पर्कशून्य आत्मा। प्राचीन ग्रन्थों में परमात्मा या परात्मा शब्द का बाहुल्येन प्रयोग इसी अर्थ में होता है। [**सम्पादक**]

२. यद्यपि तत्त्ववैशारदी के प्रायः सभी मद्दृष्ट संस्करणों में 'इति प्रत्यक्' ऐसा ही पाठ है, पर यह शब्दशास्त्र की दृष्टि से असंगत है, प्रथमाविभक्ति के एकवचन में 'प्रत्यच्'

विपरीत अनात्मभाव का बोद्धा। इस प्रकार चेतना या चिति-शक्ति ही प्रत्यक्-चेतन या पुरुष है। केवल पुरुष कहने से मुक्त, बद्ध, ईश्वर आदि सभी का बोध होता है। किन्तु प्रत्यक्चेतन शब्द के द्वारा अविद्यावान् पुरुष की (अतः विद्यावान् पुरुष की भी) स्वरूपभूत चिद्रूप-अवस्था का बोध होता है, यह अर्थभेद ज्ञातव्य है। विषय के प्रतिकूल या आत्मा के अभिमुख जो चैतन्य या दृक्शक्ति है, वही प्रत्यक् चेतन है—प्रत्यक् शब्द का यह अर्थ भी होता है। किन्तु जो कहा गया है उसका निष्कर्ष वही होता है। बुद्धियुक्त पुरुष या भोक्तारूप प्रत्येक पुरुष ही प्रत्यक्-चेतन है। अतः 'अपना आत्मा' ही प्रत्यक् चेतन है।

२९ (२) वह २८ सूत्र की (१) टिप्पणी में समझाया गया है। ईश्वर स्वरूपतः चिन्मात्रभाव में प्रतिष्ठित हैं। अतः स्वरूप-ईश्वर में द्वैतभाव से (ग्राह्य भाव से) स्थित होने की योग्यता मन की नहीं है। कारण यह है कि चित् स्वबोध है; वह आत्मबहिर्भूत भाव से या अनात्मभाव से ग्राह्य नहीं है। जो आत्म-बहिर्भूत भाव से गृहीत होता है, वही ग्राह्य है। अतः चैतन्य को ऐसे भाव से यदि ग्रहण किया जाए तो वह चैतन्य नहीं होगा, रूपरसादि-युक्त व्यापी पदार्थ ही होगा। वस्तुतः पूर्वोक्त प्रणाली से भावना करते रहने पर जो स्वस्वरूप चिन्मात्र में स्थिति होती है, उसी का अर्थ है—ईश्वर को आत्मा में अवलोकन करना। 'आत्मा को आत्मा में अवलोकन करना' इसका अर्थ भी कार्यतः ठीक वैसा है। 'ईश्वर अविद्यादिशून्य, स्वरूपस्थ, चित्प्रतिष्ठ है'—ऐसी भावना करते करते इन वाक्यार्थों का प्रकृत बोध होता है। स्वसंवेद्य पदार्थ का प्रकृत बोध होने का अर्थ है स्वयं वैसा हो जाना। इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा स्वरूपाधिगम होता है।

निर्गुण मुक्त ईश्वर के प्रणिधान के द्वारा मोक्षलाभ किस रूप से होता है, यह सूत्रकार ने दिखाया है, क्योंकि वही कर्मयोग का प्रधान साधन है तथा सगुण ईश्वर का प्रणिधान भी उसी के अन्तर्गत है। सगुण ईश्वर का या हिरण्यगर्भ का प्रणिधान भी सांख्ययोगसंप्रदाय में प्रचलित था। सगुण ईश्वर के माध्यम से निर्गुण ईश्वर का अधिगम करना तथा साक्षात् रूप से निर्गुण आदर्श को प्राप्त करना—ये दो कार्यतः और फलतः एक ही हैं, क्योंकि सांख्ययोगियों के सगुण ईश्वर समाहित, शान्त, सास्मित-ध्यानस्थ महापुरुष हैं। अतः

प्रतिपादिक का रूप 'प्रत्यङ्' होगा, 'प्रत्यक्' नहीं; समस्तपद में प्रत्यच्—प्रत्यक्—प्रत्यग्+आत्मा='प्रत्यगात्मा' होगा। वाचस्पतिकृत भामती के कई मुद्रितसंस्करणों में 'प्रत्यङ्' पाठ है—प्रतीपं निर्वचनीयम् अञ्चति जानाति इति प्रत्यङ्, स चात्मेति प्रत्यगात्मा (अध्यासभाष्य पृ० ३७, निर्णयसागर)। [सम्पादक]

उनके प्रणिधान से भी समाधिसिद्धि तथा विवेकलाभ अवश्यंभावी हैं और कुछ अधिकारियों के लिए यही उपाय अनुकूल भी होता है।

फलतः दोनों प्रथाएँ एक ही हैं एवं ज्ञानयोग की ये दो प्रथाएँ वस्तुतः समान हैं। प्रथा को लेकर प्राचीन काल में साधक-संप्रदाय में भेद था किन्तु मत-भेद नहीं था (गीता देखिए)। हृदय में शान्त, ज्ञानमय, समाहित पुरुष का चिन्तन करते रहने से क्या फल होगा ?—साधक भी आत्मा में वैसी ही भावानुभूति करेंगे। ज्ञानमय आत्मस्मृति का प्रवाह चलते रहने से साधक शब्दरूपादि ग्राह्य का अतिक्रमण करके ग्रहणतत्त्व में आ पहुँचेंगे। किस प्रणाली से यह हो सकता है और इस मार्ग से किस रूप से विवेक-ज्ञान होता है, यह महाभारत में निम्नोक्त प्रकार से प्रदर्शित किया गया है (शान्तिपर्व ३०१)—

सगुण ब्रह्म के प्रणिधान-तत्पर कर्मयोगीगण एवं सगुणालम्बनध्यायी ज्ञानयोगीगण साधनविशेष के द्वारा रूप, रस, स्पर्श आदि विषयों को लाँघ कर आकाश के परम रूप या भूतादि के तामस-अभिमान में पहुँचते हैं; यथा—**'स तान्वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम्'** (३०१।७५) अर्थात् हे कौन्तेय, यह वायु उनको आकाश की परमा गति या शब्दतन्मात्र अथवा भूतादि रूप तामस अभिमान की श्रेष्ठ अवस्था में पहुँचा देता है। यह तमः रजोगुण की श्रेष्ठ गति अहंकार तत्त्व में पहुँचाता है, यथा—**'नभो वहति लोकेश रजसः परमां गतिम्'** (३०१।७६) अर्थात् हे लोकेश, नभ वा उक्त तमः योगी को रजोगुण की परम गति अहंकारतत्त्व में पहुँचाता है, क्योंकि तन्मात्रतत्त्व से अहंकारतत्त्व में जाना योगशास्त्र की अन्यतर शैली है। उसके बाद **'रजो वहति राजेन्द्र सत्त्वस्य परमां गतिम्'** (३०१।७६) अर्थात् हे राजेन्द्र, रजोगुण का परिणाम अहंकार सत्त्व की परमा गति अस्मीतिमात्र बुद्धिसत्त्व या महत्तत्त्व पर (योगी को) वाहित करके पहुँचा देता है, अर्थात् योगी अस्मीतिमात्र की उपलब्धि करते हैं। पुराणों में भी कहा गया है कि ईश्वरध्यान में अपने को ईश्वरस्थ चिन्तन कर 'मैं हूँ' ऐसा स्मरण कर चर-अचर-विभाग (स्थूलसूक्ष्म विभाग) को छोड़ दें (**'चराचरविभागं च त्यजेदहमिति स्मरन्'**) अर्थात् देशातीत आत्मा की ओर अभिमुख हो जायें।

उस अस्मीतिमात्र की उपलब्धि होने के बाद योगी को **'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (मनु १२।९१) इस सगुण ब्रह्मभाव का स्फुरण होता है। यह सगुण ब्रह्म नारायण का ही स्वरूप है। अतएव यह कहना संगत है कि **'सत्त्वं वहति शुद्धात्मन् परं नारायणं प्रभुम्'** (३०१।७७) अर्थात् हे शुद्धात्मन् (अथवा शुद्धात्मस्वरूप), सत्त्वगुण का जो श्रेष्ठ परिणाम महत्तत्त्व (अस्मीतिमात्र रूप) है, वह (योगी को) नारायण में वाहित करके पहुँचा देता है अर्थात् सगुण ब्रह्म नारायण के साथ योगी का तादात्म्य होता है।

उसके बाद **'प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना'** (३०१।७७) अर्थात् शुद्धात्मा प्रभु नारायण आत्मा के द्वारा ही परमात्मा को वाहित करते हैं अर्थात् वे विवेकज्ञानयुक्त होकर अवस्थान करते हैं। इस तरह योगी भी नारायण-सदृश होकर उनके विवेकज्ञान को प्राप्त करते हैं। योगभाष्यकार ने इसीलिए कहा है— **'यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति।**

विवेक के पश्चात् **'परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः। अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्त्तन्ति वा विभो॥ परमा सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्। सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम्॥'** (३०१।७८-७९); इन नारायण के साथ तादात्म्यसाधन प्राचीन सांख्यों का अन्यतम साधन था, यह आदिसांख्यसूत्र के रचयिता महर्षि पञ्चशिख के **'पञ्चरात्रविशारद'** इस महाभारतोक्त (शान्तिपर्व २१८।११) विशेषण से भी विज्ञात होता है। पञ्चरात्र का अर्थ विष्णुत्व-प्रापक क्रतु या यज्ञ होता है। **'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्याम् इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्'**—शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१।१) में कहे हुए इस सर्वव्यापी नारायण-प्रापक अर्थात् सगुण-ब्रह्म-प्रापक यज्ञ में वे विशारद थे।[1] और भी, सांख्यों का लक्षण है—**'समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते'** (शान्ति० २३६।३६) अर्थात् वे सर्वभूतों में समदर्शी होकर ब्रह्मा के अर्थात् हिरण्यगर्भ के अभिमुख में रहने वाले हैं, अर्थात् परमपुरुष-सम्बन्धी विवेकयुक्त नारायण ही सांख्यों के आदर्श होते हैं। इसलिए सांख्यों का अन्य नाम 'हैरण्यगर्भ' है।[2]

सांख्ययोगियों में से जो विवेक का आदर्श ग्रहण करके केवल ज्ञानयोग का साधन करते थे उनके इस साधन के विषय में मोक्षधर्म में इस प्रकार कहा गया है—क्रोध, भय, काम आदि दमन करने के बाद **'यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या**

---

१. श्रुति का पाठ माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१।१) के अनुसार मूल ग्रन्थ में रखा गया है। शान्तिपर्व २१८।११ की टीका में नीलकण्ठ ने इस वाक्य को शतपथ के नाम से उद्धृत किया है, जिसके पाठ में ईषद् भ्रंश है। [**सम्पादक**]

२. यद्यपि प्रचलित सांख्यग्रन्थों में सांख्यविद् के लिए हैरण्यगर्भ शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, पर सांख्यविद् हैरण्यगर्भ (ग्रन्थदर्शित अर्थ में) हैं—यह ग्रन्थोक्त युक्ति से निश्चयेन सिद्ध होता है। प्रजापति (अर्थात् हिरण्यगर्भ) को लक्ष्यकर शान्तिपर्व में कहा गया है—विरिञ्च इति यत् प्रोक्तं कापिलज्ञानचिन्तकैः (३४२।९४); महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यथ। सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः (२४०।१७)। विरिञ्चि या विरिञ्च हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) का नामान्तर है, अतः सांख्यविद् को हैरण्यगर्भ कहा ही जा सकता है। [**सम्पादक**]

तां यच्छेज् ज्ञानचक्षुषा। ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना (शान्तिपर्व २७४।१२); यह उपनिषदुक्त ज्ञानयोग के ठीक अनुरूप है—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥' (कठ० १।३।१३)।

किसी-किसी को यह संशय होता है कि ब्रह्माण्डाधीश हिरण्यगर्भदेव यदि सृष्टि नहीं करते तो जीवों का देहधारण और दुःख नहीं होता। यह शंका व्यर्थ है। मुक्त पुरुष ही उपाधि को सम्यक् विलुप्त कर सकते हैं, सगुण ईश्वर नहीं। अतः सगुण ईश्वर की उपाधि व्यक्त रहेगी ही और उसका आश्रय लेकर अन्य प्राणी अवश्य ही व्यक्त शरीर का धारण करेंगे (अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप)। हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा का आयुष्काल मनुष्य के एक महाकल्प के समान कथित हुआ है, यह भी स्मरण रखना चाहिए। उनके महामन का एक क्षण हमारे बहु-कोटि वर्षों का समान होता है, ऐसी कल्पना सम्यक् न्याय्य है।

भाष्यम्—अथ केऽन्तरायाः, ये चित्तस्य विक्षेपकाः; के पुनस्ते कियन्तो वेति ?—

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्या-विरति-भ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नव अन्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः सह एते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति; एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्; स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य; संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति; प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्; आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः; अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः; भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्; अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः; अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा; समाधिप्रतिलम्भे हि तदवस्थितं स्यात्। इत्येते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—चित्तविक्षेप करनेवाले अन्तराय कौन कौन हैं ? उनके नाम क्या हैं ? वे कितने हैं ?—

३० व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकता और अनवस्थितता—ये (नौ) चित्तविक्षेप हैं जो अन्तराय होते हैं।

ये नौ अन्तराय चित्त के विक्षेप हैं; चित्तवृत्तियों के साथ ये उत्पन्न होते हैं; इनके अभाव में पूर्वोक्त सब चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। व्याधि=धातु, रस

तथा इन्द्रियों की विषमता। स्त्यान = चित्त की अकर्मण्यता। संशय = उभय-दिक्स्पर्शी विज्ञान; जैसे 'यह ऐसा है या ऐसा नहीं है'। प्रमाद = समाधि के साधनसमूह की भावना न करना। आलस्य = शरीर तथा चित्त की गुरुतावश अप्रवृत्ति। अविरति = विषयसन्निकर्ष के लिए (अथवा विषयभोगरूपा) तृष्णा। भ्रान्तिदर्शन = विपर्ययज्ञान। अलब्धभूमिकता = समाधिभूमि का अलाभ। अनवस्थितता = उपलब्ध भूमि पर चित्त की अप्रतिष्ठा। समाधि का प्रतिलम्भ (निष्पत्ति) होने से चित्त भी अवस्थित होता है। इन नौ प्रकार के चित्तविक्षेपों को योगमल, योगप्रतिपक्ष या योगान्तराय कहा जाता है। (१)।

टीका ३० (१) अन्तराय नष्ट होना तथा चित्त का सम्यक् समाहित होना एक ही बात है। रुग्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न भली-भाँति नहीं हो सकता है। **'उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्'** (शान्तिपर्व २७४।८); अर्थात् कायिक उपद्रवों[1] तथा रोगों को हित, जीर्ण होने के बाद कृत, तथा परिमित आहार के द्वारा दूर करना चाहिए। व्याधि के नाश के लिए यही प्रकृष्ट उपाय होता है। ईश्वर की ओर प्रणिधान करने से सात्त्विकता और शुभबुद्धि आएगी, जिनसे योगी हित, जीर्ण और मिताशन करेंगे तथा ठीक-ठीक उपायों का अवलम्बन करेंगे, उनका बुद्धि-भ्रंश नहीं होगा।

उत्तम कर्तव्य-ज्ञान रहने पर भी अत्यन्त चञ्चलता के कारण चित्त को ध्यानादि साधन में प्रवृत्त न करने या प्रवृत्त न रखने की इच्छा होना ही स्त्यान है। अप्रीतिकर होने पर भी वीर्यपूर्ण प्रयत्न करते रहने से स्त्यान हट जाता है। संशय रहते हुए उपयोगी वीर्यपूर्ण प्रयत्न नहीं हो सकता। अत्यन्त दृढ़ता और वीर्यपूर्ण प्रयत्न के बिना योग में सिद्धि पाने की सम्भावना नहीं है; इसलिए निःसंशय होना आवश्यक है। श्रवण और मनन के द्वारा तथा स्थिर और संशयहीन उपदेष्टा के सहवास से संशय दूर होता है। समाधि के साधन-समूह की भावना न करना तथा आत्मविस्मृत होकर विषय में लिप्त रहना ही प्रमाद होता है। स्मृति इसका प्रतिपक्ष है। द्र० **'नायमात्मा बलहीनेन**

---

१. उपद्रव = मूल रोग के उत्पन्न होने पर जो उत्पन्न होते हैं, वे उपद्रव हैं। हम इनको complications तथा sequelae कह सकते हैं। "उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज् जायते इति उपद्रवसंज्ञः (चरक); यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः (सुश्रुत)। रोगारम्भक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला विकार उपद्रव है—यह भावप्रकाश का मत है। **[सम्पादक]**

लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्' (मुण्डक० ३।२।२)। बुद्धदेव भी धर्मपद में कहते हैं 'अप्रमाद अमृत-पद और प्रमाद मृत्युपद है (अप्रमादवर्ग १)।

आलस्य = कायिक तथा मानसिक गुरुताजनित आसन–ध्यानादि में अप्रवृत्ति। स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर-उधर घूमता है, अतएव साधन-कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता। चैत्तिक आलस्य में चित्त तमोगुण के प्राबल्य से स्तब्धवत् रहता है–दोनों में यही भेद है। मिताहार, जागरण और उद्यम के द्वारा आलस्य पराभूत होता है। विषयों से दूर रहकर वैषयिक संकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से अविरति नष्ट हो जाती है। **'कामं संकल्पवर्जनात्'** (शान्तिपर्व २७४।५)—यह शास्त्रवाक्य इस विषय में सारभूत है।

यथार्थ हान ओर हानोपाय को न जानकर निम्नपद को ऊँचा या श्रेष्ठपद मानना तथा श्रेष्ठपद को निम्नपद मानना भ्रान्तिदर्शन है। कोई साधन के समय ज्योतिर्मय पदार्थ दर्शन कर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो गया। कोई कुछ आनन्द पाकर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ है, क्योंकि ब्रह्म आनन्दमय है। कोई कुछ औपनिषद ज्ञान प्राप्त कर सोचते हैं कि उन्हें आत्मज्ञान हो गया है, अब यथेच्छाचार से कुछ भी हानि नहीं होगी। ये सब भ्रान्तिदर्शन हैं। ईश्वर तथा गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र के अध्ययन से तथा तदनुसार अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्तिदर्शन हट जाता है। श्रुति कहती है—**'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः'** ॥ (श्वेताश्वतर ६।२३)।

भ्रान्तिदर्शन अनेक प्रकार के हैं। कुछ लोग दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, भविष्य-कथन आदि कुछ सिद्धियाँ प्राप्त होने पर उन्हें ही प्रकृत योग समझते हैं। कुछ अन्य प्रकार के व्यक्ति हैं जो hysteric वा hypnotic[1] प्रकृति के होते हैं, वे कुछ साधन कर (कोई-कोई प्रथम अवस्था से ही एवं अर्थोपार्जन तथा गृहस्थी में लिप्त रहते हुए भी) कुछ काल के लिए स्तम्भित अवस्था पाते हैं (यह एक प्रकार की जड़ता है)। इस प्रकृति के लोगों की Supraliminal Consciousness वा परिदृष्ट चित्तक्रिया और Subliminal Consciousness वा अपरिदृष्ट चित्तक्रिया सहज ही पृथक् हो जाती हैं। स्तम्भित होने से प्रथमोक्त चित्तक्रिया के जड़ हो जाने पर किसी विषय का स्फुट-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु शेषोक्त चित्तक्रिया ज्यों-की-त्यों चलती रहती है तथा शरीर का कार्य भी चलता रहता

१. Hysteric प्रकृति Hysteria रोग (वातदोषजनित उन्माद-विशेष) से युक्त। Hypnotic प्रकृति—जो सहजतया hypnotism (यह एक प्रकार की कृत्रिम निद्रा है) से वशीभूत हो जाता है।

है। बन्दूक की आवाज सुनने पर भी यह स्तव्ध अवस्था नहीं टूटती, यह प्रायः देखा गया है।

इस प्रकृति के भ्रान्त साधक सोचते हैं कि उनको 'निर्विकल्प' या निरोध समाधि आदि हुआ करती हैं। वे 'देशकालातीत' प्रभृति शास्त्रीय वचनों से अपने मनोभावों को व्यक्त करते हैं, जिससे अन्य लोग भी भ्रान्त हो जाते हैं। आहार, निद्रा, भय, क्रोध प्रभृति के वशीभूत होकर भी ये प्रायः अपने को जीवन्मुक्त समझते हैं। यदि इन्हें पूछा जाए कि शास्त्र में इस समाधि के जो सिद्धि तथा निवृत्ति आदि फल और लक्षण उक्त हुए हैं, वे सब आप में कहाँ हैं ? तो वे लोग साधारणतः दो प्रकार का उत्तर देते हैं; कोई कहते हैं कि सिद्धि आदि साधारण बातों पर हम ध्यान नहीं देते, निवृत्ति भी हमारे अधीन है, सिद्धियाँ क्या इससे उच्चस्तर की है ?

दूसरे कहते हैं कि शास्त्र में जो सब अलौकिक सिद्धियों का कथन है, वह पूर्णतः मिथ्या या प्रक्षिप्त है; किंतु ये लोग इतना भी नहीं सोचते कि श्रोता तत्काल ही कहेंगे कि शास्त्र का इतना बड़ा अंश यदि झूठा है तो 'निर्विकल्प' समाधि, मोक्ष आदि भी झूठ हैं। वस्तुतः जिस प्रकार बृहत् हीरकखण्ड के अस्तित्त्व की संभावना रहने पर हीरक-चूर्ण के अस्तित्व में संशय करना ठीक नहीं, उसी प्रकार शाश्वत सर्वदुःख-निवृत्ति-रूप मोक्षसिद्धि की संभावना रहने पर उससे नीचे स्तर की दूसरी सिद्धियों को असंभव कहना मोक्षशास्त्र में अज्ञता प्रदर्शित करना है; क्योंकि यदि किसी को पञ्चभूतों को वशीभूत करने की शक्ति नहीं है, तो उसको अनन्तकाल के लिए पञ्चभूतातीत अवस्था प्राप्त हो सकेगी, यह कहना असंगत है। पर योगज सिद्धि को पाना और मुख्य उद्देश्य को त्याग कर उसी का व्यवहार करते रहना एक बात नहीं है (३।३७ सू० देखिए)।

Hysteric तथा hypnotic प्रकृति के व्यक्तियों का बाह्य ज्ञान सहजतया चला जाता है, किन्तु उस समय उनका मन स्थिर नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों में बहुत असामान्य शक्तियाँ और भाव आ सकते हैं (हमारे पास ऐसे बहुत से साधकों की अनुभूतियों के लिखित विवरण हैं); किन्तु यह न तो प्रकृत चित्तस्थैर्य है, और न तत्त्वदृष्टि है; पर जो साधक प्रकृत तत्त्वदर्शन के मार्ग पर चलते हैं, वे इस बाह्यरोधरूप स्वभाव के द्वारा कुछ स्फुट भाव से धारणा कर सकते हैं, यह देखा जाता है। किन्तु इनके द्वारा कुछ मानसिक उद्यम करने पर प्रतिक्रिया (reaction) के कारण इनमें स्तब्धभाव आता है और भ्रान्तिवश ये उसी को 'निर्विकल्प,' 'निरोध' आदि समझ लेते हैं। प्रकृत साधक को यह रोग क्लेशपूर्वक हटाना पड़ता है।

सम्भव है बहुतों को योग के निम्नाङ्गों का कुछ साक्षात्कार होता है और वे जो कुछ कहते हैं, वह स्वेच्छापूर्वक मिथ्या-भाषण नहीं, बल्कि योग का सम्यक् ज्ञान न रहने के कारण एक को दूसरा समझने की भ्रान्ति है; अतः ये जानकर झूठ नहीं बोलते, किन्तु 'भ्रान्त सत्य-कथन' किया करते हैं।

मधुमती आदि योगभूमि की अप्राप्ति ही अलब्धभूमिकता है। योग-भूमि का विवरण ३।५१ सूत्र के भाष्य में देखिए। भूमि-लाभ कर उसमें स्थित न होना अनवस्थितता है। लब्धभूमि में स्थित होने पर तत्त्वसाक्षात्काररूप समाधि की निष्पत्ति होनी चाहिए, नहीं तो उससे भ्रंश हो सकता है।

ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा ये सब अन्तराय दूर हो जाते हैं, क्योंकि जिस अन्तराय का जो प्रतिपक्ष है, ईश्वरप्रणिधान से वह प्रकट होकर उस अन्तराय को दूर कर देता है। ईश्वर-प्रणिधान से सात्त्विक निर्मल बुद्धि उगती है एवं योगी में इच्छाभिघात-शून्यतारूप ऐश्वर्य क्रमशः संचारित होता रहता है, उसी से साधकों के अभीष्ट अन्तरायाभाव तथा अन्तरायनाश की उपायप्राप्ति—ये दो सिद्ध होते हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

भाष्यम्—दुःखमाध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्। दौर्मनस्यमिच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः, यत् कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः; एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥

३१। दुःख दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास—ये विक्षेप के साथ साथ होनेवाले हैं। सू०

भाष्यानुवाद—दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक है। जिसके द्वारा उद्विग्न होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते हैं, वही दुःख होता है। दौर्मनस्य=इच्छा के अभिघात होने से चित्त का क्षोभ। अङ्गसमूह का कम्पन अङ्गमेजयत्व है। प्राण जो बाह्य वायु लेता है, वह श्वास है और जो भीतर की वायु निकालता है, वह प्रश्वास (१) है। ये विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं। विक्षिप्त चित्त में ही ये होते हैं, समाहित चित्त में नहीं।

टीका ३१ (१) श्वास और प्रश्वास से स्वाभाविक श्वास और स्वाभाविक प्रश्वास लेने चाहिए। अनिच्छा से अर्थात् अनजाने में ही आदमियों के जो श्वास-प्रश्वास हुआ करते हैं, वे समाधि के अन्तराय हैं; किन्तु समाधि के अङ्ग-भूत श्वास और प्रश्वास अर्थात् पूरण और रेचन, जो वृत्तिरोधकारी प्राणा-

यामिक प्रयत्न से किए जाते हैं, वे विक्षेप के सहजात नहीं भी हो सकते। समाधि में प्रायः रेचनपूरणादि का भी रोध अवश्य ही हो जाता है, किन्तु रेचनपूरणजनित आध्यात्मिक बोधों में और उस बोध की स्मृति के प्रवाह में सम्यक् अवहित होने पर भी उस विषय की सालम्बन समाधि हो सकती है।

भाष्यम्—अथ एते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत्।

यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्य एकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमिति, अतो न प्रत्यर्थनियतम्। योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्य यद्येकाग्रता प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्? अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्? कथंचित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति।

किंच स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति, कथम्? यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि, यच्च अस्प्राक्षं तत्पश्यामीति—अहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः; एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः; न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते, प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितञ्च चित्तम् ॥३२॥

भाष्यानुवाद—उक्त अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि के प्रतिपक्ष ये सब विक्षेप रोधयोग्य होते हैं। उनमें अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए (सूत्रकार) यह सूत्र कहते हैं—

३२। उसकी (विक्षेप की) निवृत्ति के लिए एकतत्त्वाभ्यास करना चाहिए। सू०

विक्षेप-नाश के लिए चित्त को एकतत्त्वालम्बन (१) कर अभ्यास करना चाहिए।

जिनके मत में चित्त (२) प्रत्यर्थनियत (क) अतः प्रत्ययमात्र अर्थात् आधारशून्य और केवल वृत्तिरूप और क्षणिक है, उनके मत में समग्र चित्त ही एकाग्र होगा; विक्षिप्त चित्त नामका कुछ भी नहीं रहेगा। किन्तु यदि सभी विषयों से प्रत्याहरण कर चित्त को एक ही अर्थ में समाहित किया जाए, तो वह एकाग्र होता है; इसलिए चित्त प्रत्यर्थनियत नहीं है (ख)। और जो सोचते हैं कि समान आकार के प्रत्यय-प्रवाह द्वारा चित्त एकाग्र होता है, उनके मत के अनुसार एकाग्रता को यदि प्रवाह-चित्त का धर्म कहा जाए तो वह भी संगत नहीं हो सकता है, क्योंकि (उनके मतानुसार) चित्त की क्षणिकता के कारण एक प्रवाह-चित्त की संभावना नहीं है। दूसरी बात यह है कि (एकाग्रता को) प्रवाह के अंशस्वरूप एक-एक प्रत्यय का धर्म कहने से वह प्रत्ययप्रवाह समानाकार प्रत्ययों का प्रवाह हो या असमानाकार प्रत्ययों का प्रवाह हो, प्रत्ययसमूह के प्रत्यर्थनियत होने के कारण सभी प्रत्यय एकाग्र हो जाएँगे, अतः वैसा होने पर विक्षिप्त चित्त की अनुपपत्ति होती है। इसलिए चित्त एक है तथा वह अनेक-विषय-ग्राही और अवस्थित (अर्थात् अस्मितारूप धर्मिभाव में अवस्थित) है।

यदि (आश्रयभूत) एक चित्त के साथ असंबद्ध, स्वतन्त्र, परस्पर भिन्न प्रत्ययसमूह उत्पन्न होते हैं (ग) तो एक प्रत्यय से दृष्ट विषय का स्मर्ता अन्य प्रत्यय कैसे होगा; उसी प्रकार एक प्रत्यय के द्वारा संचित संस्कारों का स्मर्ता तथा कर्माशय का उपभोक्ता भी अन्य प्रत्यय कैसे हो सकता है? जो हो; किसी प्रकार से समाधान कर लेने पर भी यह समाधान गोमयपायसीय न्याय (३) से भी अधिक अयुक्त होता है।

चित्त का एक-एक प्रत्यय संपूर्ण पृथक् है, यदि ऐसा कहा जाय तो स्वानुभव का अपलाप होता है (घ)। कैसे? जिस 'मैं' ने देखा था, वही 'मैं' स्पर्श कर रहा हूँ, तथा जिस 'मैं' ने स्पर्श किया था, वही 'मैं' देख रहा हूँ—इस प्रकार के अनुभव में प्रत्ययों का भेद रहने पर भी 'मैं' यह प्रत्ययभाग प्रत्ययी के निकट अभेद रूप से उपस्थित होता है। एक प्रत्यय का विषय, अभेदाकार अहम्प्रत्यय, अत्यन्त भिन्न चित्तांशों में वर्त्तमान होकर कैसे एक-प्रत्ययी का आश्रय ले सकता है? यह अभेदाकार अहंरूप-प्रत्यय स्वानुभवग्राह्य है। प्रत्यक्ष की महिमा अन्य प्रमाण से अभिभूत नहीं होती, अन्य सब प्रमाण प्रत्यक्षबल से ही व्यवहृत होते हैं। इस कारण चित्त एक, अनेकविषय-ग्राही और अवस्थित है (अर्थात् चित्त शून्य नहीं किन्तु एक अभंग सत्ता है)।

टीका ३२ (१) मिश्र जी एकतत्त्व का अर्थ ईश्वर कहते हैं; भिक्षु जी के अनुसार स्थूलादि कोई तत्त्व एकतत्त्व है; भोजराज के मत में कोई एक अभिमत तत्त्व एकतत्त्व है। वस्तुतः यहाँ ध्येय पदार्थ के स्वरूप-निर्देश के विषय में विवक्षा नहीं है (ध्येय के प्रकार की ही विवक्षा है); किन्तु ईश्वर आदि जो कुछ ध्येय हों, उनका 'एकतत्त्व' के रूप में आलम्बन करना चाहिए। ईश्वर आदि का ध्यान नाना-भावों से क्रमशः किया जा सकता है; जैसे, स्तोत्र की आवृत्ति करके उसका अर्थचिन्तन करने से चित्त ईश्वरविषयक नाना आलम्बनों में विचरता रहता है। एकतत्त्वालम्बन इस प्रकार का नहीं है। ईश्वर-सम्बन्धी किसी एक ही रूप के आध्यात्मिक भाव या धारणा में जब चित्त की स्थिति होती है, तब इस प्रकार के एकरूप आलम्बन में अवधान करने का अभ्यास ही 'एकतत्त्वाभ्यास' होता है। यह विक्षेप का विरोधी है, अतः इसके द्वारा विक्षेप दूर होता है। अन्य ध्येय विषयों के लिए भी ऐसा ही नियम है।

एकतत्त्वाभ्यास के आलम्बनों में ईश्वर तथा अहंभाव उत्तम हैं। प्रतिक्षण उदित होने वाली चित्तवृत्तियों के 'मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार अहंरूप एकालम्बन का स्मरण करते रहना अत्यन्त चित्तप्रसादकारक होता है। यही कठ० १।३।१३ में निर्दिष्ट ज्ञान-आत्मा की धारणा है।

केवल ईश्वर ही कहना होता तो सूत्रकार एकतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं करते। यह भी कहा गया है कि ईश्वर-प्रणिधान से अन्तराय दूर होता है, अतः एकतत्त्वाभ्यास उसी के अन्तर्गत उपायविशेष है। श्वासप्रश्वास आदि सभी शारीर क्रियाओं द्वारा एकस्वरूप चित्त-भाव का स्मरण होता है; यही एकतत्त्व है। इस भाव का ईश्वर-विषयक अथवा अहंतत्त्व-विषयक होना ही ठीक है। अन्यविषयक भी हो सकता है। वस्तुतः जो आलम्बन समष्टिभूत एक-चित्तभाव स्वरूप है, वही एकतत्त्वालम्बन है। उसके अभ्यास से चित्त सहज ही भलीभाँति स्थिर हो जाता है। श्वासप्रश्वास के साथ यह भाव अभ्यस्त होने पर स्वाभाविक श्वासप्रश्वास योगाङ्गभूत बन जाते हैं और यह अभ्यस्त होने पर देह और मन दुःख से सहसा अभिभूत नहीं होते हैं। यही सहज तथा सुखकर आलम्बन होता है, अतः इसी से दौर्मनस्य भी दूर हो जाता है। पुनः एक ही अवस्था को स्थिर रखने का प्रयत्न होते रहने के कारण अङ्गमेजयत्व भी कम होता रहता है। इस प्रकार क्रमशः स्थितिलाभ करने पर विक्षेप और विक्षेप के सहजात भावों का निवारण हो जाता है।

३२ (२) यह उपदिष्ट हुआ है कि विक्षिप्त चित्त को एकाग्र करना चाहिए। किन्तु क्षणिकविज्ञानवादियों के मत में इसका कोई संगत अर्थ नहीं होता है। क्षणिकविज्ञानवादी भी एकाग्र तथा विक्षिप्त चित्त की बात करते हैं; किन्तु

उनके मतानुसार एकाग्र तथा विक्षिप्त शब्द का तात्पर्य और संगति नहीं होती है—यह भाष्यकार दिखा रहे हैं ।

(क) इसको समझने से पहले क्षणिकवाद[1] जानना चाहिए । इस मत के अनुसार चित्त या विज्ञान प्रत्यर्थनियत है, अर्थात् प्रतिविषय में उत्पन्न और समाप्त होता है । और वह प्रत्ययमात्र[2] वा ज्ञातवृत्तिमात्र तथा निराधार, क्षणिक, या क्षणस्थायी है । जैसे—दश क्षण के लिए घट-विज्ञान होने पर उसमें दश भिन्न-भिन्न घट-विज्ञान उठेंगे तथा अत्यन्तनाश को प्राप्त होंगे । इनमें पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का प्रत्यय या हेतु होता है । उनका मूल शून्य है अर्थात् उन दोनों में ऐसा कोई एक भावपदार्थ अन्वित नहीं रहता जिस भावपदार्थ के वे विकार या भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हो सकें । बौद्धों की गाथा है[3]—**'सब्बे सङ्खारा अनिच्चा उप्पादव्ययधम्मिनो । उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वुपसमो सुखो ।।'** अर्थात् "सभी संस्कार (विज्ञान को छोड़कर सभी संचित आध्यात्मिक भाव) अनित्य हैं, वे उत्पाद-लयधर्मी हैं । वे उत्पन्न होकर निरुद्ध या विलीन होते हैं । उनका उपशम अर्थात् उदय-लय का विराम ही सुख या निर्वाण होता है" । संस्कार ही नहीं, उसका सहजात विज्ञान भी वैसा ही है । सांख्य-शास्त्र के मत में भी चित्तवृत्तियाँ परिणामी या अनित्य हैं, एवं उनका सम्यक् निरोध ही कैवल्य होता है । अतः प्रधानतः दोनों वादों में समानता है । किन्तु दोनों वादों के दर्शन में भेद है । सांख्य कहता है—चित्तवृत्तियाँ उत्पत्ति-लय-

---

१. क्षणभङ्गवाद या क्षणिकवाद में क्षण को 'अत्यल्पकालपरिमाण' समझना उचित नहीं है; इसका अर्थ है—उत्पत्ति के बाद ही नाश हो जाना रूप स्वभाव । इस क्षण से युक्त पदार्थ क्षणिक है (तत्त्वसंग्रह-कारिका ३८८) । **[सम्पादक]**

२. बौद्ध शास्त्र में प्रत्यय शब्द का अर्थ हेतु है । प्रत्ययमात्र='पर-क्षणिक विज्ञान का हेतु मात्र'—ऐसा अर्थ भी बौद्धों के अनुसार संगत हो सकता है; पर यहाँ प्रत्यय का अर्थ ज्ञानवृत्ति है ।

३. यह गाथा बौद्ध ग्रन्थों में बहुत्र उद्धृत मिलती है । महापरिनिब्बानसुत्त में कहा गया है कि देवराज इन्द्र ने यह गाथा (बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर) कही थी । गाथा का पाठ यह है—अनिच्चा वत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो । उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो ।। कोई कोई कहते हैं कि इस श्लोक के संस्कार शब्द का अर्थ है—'उत्पन्न वस्तु' । निर्वाण (मतान्तर में निर्वाण तथा आकाश) के अतिरिक्त सभी पदार्थ सृष्ट हैं । प्रसन्नपदाटीका (१।३) में इस कारिका का संस्कृतरूप इस प्रकार दिया गया है—"अनित्याश्चते (बत ?) संस्कारा···। उत्पद्य हि निरुध्यन्ते तेषां व्युपशमः सुखः" ।। (मिथिला इन्स्टिच्युट संस्क०) । **[सम्पादक]**

शील या संकोच-विकासशील होने पर भी वे वृत्तियाँ चित्तनामक एक ही पदार्थ के विकार या भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। जैसे सेर भर मिट्टी के गोले को प्रतिक्षण अनेक प्रकार के आकारों में परिणत किया जा सकता है, पर उन सब आकारों में एक सेर मिट्टी ही मिली हुई रहेगी, अतएव उस सेर भर मिट्टी के ही वे विकार हैं ऐसा कहना न्याय्य होता है। यही सत्कार्यवाद के अन्तर्गत परिणामवाद है। द्र० ३।१३ (६)।

बौद्ध यह नहीं मानते। जिस प्रकार प्रदीप में प्रतिक्षण नया नया तेल जलता जा रहा है फिर भी वह एक प्रदीप (=दीपशिखा रूप अग्नि)[१] ही प्रतीत होता है, आलयविज्ञान वा अहंभाव भी उसी प्रकार भिन्न भिन्न क्षणिक विज्ञानों द्वारा उत्पन्न होने पर भी एक-सा प्रतीत होता है।

बौद्धों के इस उदाहरण में न्यायदोष है। वस्तुतः लोग दीपशिखा शब्द का प्रयोग 'जो आलोकप्रदान करती है', इस अर्थ में करते हैं; एक ही प्रकार का आलोकदान रूप गुण देखकर लोग कहते हैं कि दीपशिखा एक है; आलोकदान रूप गुण बहुत नहीं है, किन्तु एक है। 'प्रतिक्षण जिसमें नूतन नूतन तैल दग्ध होता है, वही दीपशिखा' है, इस अर्थ में कोई भी दीपशिखा शब्द का व्यवहार नहीं करता है। यदि कोई करता है तो वह पहली और दूसरी दीपशिखा को एकरूप नहीं समझता है।

गङ्गाजल का अर्थ है गङ्गा के खात में जो जल रहता है, वह; कोई भी एक निर्दिष्ट जल गङ्गाजल नहीं है; दीपशिखा भी वैसा ही है। यह कहा जा सकता है कि वायुशून्य-स्थान में स्थित ह्रास-वृद्धि-हीन दीपशिखा एक-सी ज्ञात होने से भ्रान्ति होती है। यह हो सकता है; पर यह क्यों होता है ? प्रति मुहूर्त्त में दीपशिखा के समीप जो तैल आता है, वह पूर्व तैल का समानधर्मा होने के कारण।

इससे यह नियम सिद्ध होता है कि एकाकार बहुत से द्रव्य अलक्षित भाव से एक एक करके दृष्टि-गोचर होने पर एक-से प्रतीत होकर भ्रान्ति पैदा करते हैं; पर इससे परिणामवाद निरस्त नहीं होता। एकाकार बहुत से द्रव्य रहने पर एवं प्रकारविशेष से उनके बोधगम्य होने पर ही वैसी प्रतीति होती है। पर वे बहुत से द्रव्य एकाकार कैसे होते हैं, यह तथ्य सत्कार्यवाद दिखाता है।

---

१. 'प्रदीप' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) वह पात्र जिसमें तैल-वर्त्ति का ज्वलन होता रहता है; (२) दीपशिखा। प्रदीप का यह द्वितीय अर्थ ही दर्शनशास्त्र में बाहुल्येन प्रयुक्त होता है—'निविडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः' (शारीरकभाष्य २।३।२६); रूपविशेषस्यैव संस्थानं प्रदीपः (बृहदा. २।४।११ शां० भा०)। [**सम्पादक**]

दीपशिखा का उदाहरण पूर्वोक्त मृत्पिण्ड के उदाहरण का विपरीत नहीं है, वह पृथक् वस्तु है। इसलिए एक के द्वारा अन्य का बोध नहीं होता।

क्षणिकवादी न्याय्य शैली से यह नहीं दिखा सकते कि बहुसंख्यक आलय-विज्ञान किस प्रकार से होते हैं। पूर्व-प्रत्यय या हेतुभूत विज्ञान से उत्तर कार्य-भूत विज्ञान कैसे होता है, इसमें क्षणिक-विज्ञानवादी अत्यन्त असंगत उत्तर देते हैं। प्रत्ययभूत विज्ञान का संपूर्ण नाश हो गया, और अभाव से विज्ञान-रूप एक भावपदार्थ उत्पन्न हुआ––क्षणिकवादियों का यह मत नितान्त अन्याय्य है। असत् से सत् का उत्पन्न होना या सत् का असत् हो जाना मनुष्य के न्यायसंगत चिन्तन का विषय नहीं है। पाश्चात्त्य दार्शनिकगण कहते हैं ex nihilo nihil fit अर्थात् असत् से सत् नहीं बन सकता है। वैज्ञानिकों का Conservation of energy वाद भी सत्कार्यवाद की छाया है।

असत् से सत् बनने का वा सत् के असत् होने का उदाहरण संसार में नहीं मिलता। सभी कार्यों के ही उपादान तथा हेतु या निमित्त (बौद्धमत में 'पच्चय') ये दो कारण रहना अवश्यंभावी होता है। पूर्वविज्ञान उत्तर-विज्ञान का निमित्त हो सकता है किन्तु उत्तर विज्ञान का उपादान कौन है? तथा पूर्व विज्ञान का उपादान भी कहाँ जाता है? बौद्ध इसका उत्तर यों देते हैं कि पूर्व विज्ञान 'शून्य' हो जाता है, और उत्तर विज्ञान 'शून्य' से होता है। शून्य का अर्थ यदि साक्षात् अज्ञेय कोई सत्ता हो तो वह न्यायसंगत है एवं सांख्य के ही अनुसार है।

सांख्य कहता है कि सभी व्यक्तभावों का मूल उपादान अव्यक्त है अर्थात् व्यक्त रूप से धारणा के अयोग्य एक सत्ता है। सांख्य का निश्चित मत है कि बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों में कार्य और कारण के परम्पराक्रम से बुद्धितत्त्व या अहंमात्र-बोध सर्वोच्च व्यक्त कारण है। उसका उपादान अव्यक्त है।

बौद्धों के विज्ञान में सांख्य के बुद्धि आदि तत्त्व भी हैं। अतः इस विज्ञान के कारण के रूप में 'शून्य' नामक सत्ता को मानना सांख्य के अनुसार ही है। यह ठीक ऐसा ही अविरुद्ध है जैसा कि 'दही का कारण दूध, दूध का कारण गौ' ऐसा कहना और 'गोरस का कारण गौ' ऐसा कहना परस्पर अविरुद्ध हैं। ऐसा होने पर भी विज्ञान के भीतर विज्ञाता को लेकर विज्ञाता की अव्यक्तता का प्रदिपादन करना सर्वथा असंगत है।

सांख्ययोगी के शिष्य बुद्धदेव ने संभवतः 'शून्य' शब्द सत्ताविशेष के अर्थ में प्रयुक्त किया था, अतएव उनका धर्म दार्शनिक विचार से कुछ मुक्त हो गया था। यही कारण है कि सर्वसाधारण-द्वारा वह धर्म अधिक ग्राह्य हो गया था। अब भी ऐसे बौद्ध संप्रदाय हैं जो शून्य को अभावमात्र नहीं किन्तु सत्ताविशेष

समझते हैं[१]। शिकागो की धर्म-सभा में जापान के बौद्धों ने अपने मत का उल्लेख करते समय कहा था कि विज्ञान का भी एक सारतत्त्व (essence) है[२]। याम्य बौद्धों के कई व्यक्ति 'शून्य' को निर्वाण-धातु नामक एक सत्ता कहते हैं[३]। वस्तुतः शून्य का अर्थ अस्पष्ट है।

किन्तु भारत में प्राचीनकाल में ऐसे बौद्ध संप्रदाय[४] का प्रसार हुआ था जो 'शून्य' को अभावमात्र कहता था। यह मत संपूर्ण अयुक्त है—इसे भाष्यकार ने निम्नलिखित प्रकार से युक्ति द्वारा दिखाया है।

(ख) चित्त को क्षण-स्थायी पदार्थमात्र कहने पर क्षणिकवादी जो विक्षिप्त, एकाग्र आदि चित्तावस्थाओं के विषय में कहते हैं उसकी कोई भी प्रकृत अर्थ-संगति नहीं होती है, क्योंकि प्रत्येक चित्त यदि विभिन्न तथा क्षणमात्रस्थायी हो

---

१. 'हेतु से उत्पन्न है' इस अर्थ में 'भाव' है एवं जो हेतुजन्य नहीं है, वह 'अभाव' है—ऐसा बौद्ध आचार्य कभी-कभी कहते हैं। इस दृष्टि से शून्य सत्ताविशेष हो सकता है (प्रज्ञापारमिता की ग्रन्थकारकृत भूमिका, पृ. ६४, बंगलाग्रन्थ)। [सम्पादक]

२. Underlying the phenomena of mind there is an unchanging principle which we call the essence of mind. The fire caused by fagots dies when the fagots are gone but the essence of fire is never destroyed. The essence of mind is the entity without ideas and without phenomena and it is always the same. It pervades all things and is pure and unchanging (शिकागो सर्वधर्मसभा में पठित : Outlines of the Doctrine of the Māhāyāna Buddhists of Japan), द्र० प्रज्ञापारमिता, भूमिका, पृ. ७३ स्वामी हरिहरानन्द आरण्यकृत [सम्पादक]

३. शून्य अभाव नहीं है—ऐसा कथन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है—न पुनरभाव-शब्दस्य योऽर्थः स शून्यताशब्दार्थः……(माध्यमिककारिका २४।७ चन्द्रकीर्तिकृत वृत्ति) [सम्पादक]

४. अशोक के राज्यकाल में रचित कथावत्थु नामक पालिग्रन्थ में लिखा है कि उस समय बौद्धों में भी बहुत से भिन्न-भिन्न वादी थे। मोगलीपुत्र तिस्स ने पाटलीपुत्र (पटना) में अशोक की सभा में ई० पू० ३०० शताब्दी के मध्य कथा-वत्थु की रचना की थी। उसमें तिस्स ने २५० विभिन्न भ्रान्त बौद्ध मतों का निराकरण किया है (Vide Dialogues of the Buddha by T. W. Rhys Davids; Preface X-XI)

तो वे सब एकाग्र ही होंगे, क्योंकि क्षणस्थायी प्रत्येक चित्त का आलम्बन भी एक ही रहता है।

यदि कहो कि समानाकार विज्ञान-प्रवाह को ही एकाग्र चित्त कहा जाता है तो यह भी निरर्थक है, क्योंकि वह एकाग्रता किस चित्त का धर्म होगा? जब प्रत्येक चित्त ही पृथक् सत्ता है, तब प्रवाहचित्त नाम से एक सत्ता नहीं हो सकती। अतः एकाग्रता 'प्रवाहचित्त का धर्म है', ऐसा कहना ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चित्त जब पृथक्-पृथक् होता है तब चित्त का आलम्बन सदृश हो या विसदृश, चित्त तो पूर्णतया एकाग्र होगा। अतः विक्षिप्त चित्त नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं सकती।

(ग) प्रत्ययसमूह पृथक् तथा असंबद्ध होने से एक प्रत्यय के दृष्ट विषय का या कृत कर्म का स्मरणकर्ता वा फलभोक्ता अन्य प्रत्यय नहीं हो सकता। इस विषय में क्षणिकवादी कह सकते हैं कि संस्कार-संज्ञादि से सम्प्रयुक्त होकर विज्ञान उदित होता है और पूर्वक्षणिक विज्ञान उत्तरक्षणिक विज्ञान का हेतु होने के कारण उत्तर-विज्ञान पूर्वविज्ञान के कुछ-कुछ सदृश संस्कार आदि से सम्प्रयुक्त होकर उदित होता है। बौद्धमत में स्मृति और कर्म (चेतना-विशेष) संस्कार रूप होते हैं। इसलिए उत्तर विज्ञान में पूर्वविज्ञानसंयुक्त स्मृति आदि अनुभूत होती हैं। परन्तु इसमें पूर्वविज्ञान से उत्तर विज्ञान में कोई सत्ता जाती है, यह स्वीकार करना अनिवार्य है। किन्तु क्षणिकवाद में पूर्वविज्ञान का सब कुछ नष्ट या अभाव-प्राप्त हो जाता है। अतः प्रत्ययसमूह एक ही मौलिक चित्तपदार्थ के भिन्न-भिन्न परिणाम हैं, यह सांख्यीय दर्शन ही युक्तियुक्त होता है।

(घ) इस दर्शन के पक्ष में एक और युक्ति यह है कि 'जिस मैंने देखा था वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ; जिस मैंने स्पर्श किया था वही मैं देख रहा हूँ'—इस प्रकार के प्रत्यय में या प्रत्यभिज्ञा में हमको 'मैं' यह प्रत्ययांश एक है, ऐसा अनुभव होता है। (३ । १४)।

क्षणिकवादी कहेंगे यह एकत्वज्ञान 'एक ही दीपशिखा' इस ज्ञान के समान भ्रान्त है। किन्तु यह एकत्वज्ञान दीपशिखा के समान है, ऐसी कल्पना का हेतु क्या है? क्षणिकवादी केवल उपमारूप दृष्टान्त देते हैं, युक्ति नहीं। प्रत्युत 'शून्य' का अर्थ अभाव है इसको प्रतिपन्न करने के लिए ही ऐसी कल्पना करते हैं। अथवा 'जो सत् है वह क्षणिक है' इस अप्रमाणित प्रतिज्ञा को आधार या हेतु बनाकर—'अहंभाव सत् है अतः वह क्षणिक है,' ऐसा अयुक्त उपनय और विनिगमना करते हैं। किन्तु इस प्रकार की कल्पना से प्रत्यक्ष एकत्वानुभव बाधित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण सबसे अधिक बलवान् है।

कोई-कोई नवीन वेदान्तवादी भी 'सत् का अभाव होता है' ऐसा स्वीकार

कर मायावाद समझाने की चेष्टा करते हैं। वे कहते हैं कि 'जो घट टूट गया, वह तो पूर्णतया ही नष्ट हो गया, अतः यहाँ पर सत् का नाश स्वीकार्य है'। यह केवल वाक्यमय युक्त्याभास-मात्र होता है। वस्तुतः जो 'घट' इस नाम को नहीं जानता है, वह यदि एक घट को देखता हो और उस समय यदि कोई घट को तोड़ दे तो वह क्या देखेगा? वह देखेगा कि जो सब खपरे (=घटावयव) पहले एक स्थान पर थे, वे ही, बाद में दूसरे स्थान पर हैं। परन्तु किसी सत् पदार्थ का अभाव उसे दृष्टगोचर नहीं होगा।

३२ (३) गोमय-पायसीय न्याय। यह एक प्रकार का न्यायाभास या दुष्ट न्याय है। यथा—गोबर ही पायस (खीर) है क्योंकि गोबर (=गोमय) गव्य (=गो-विकार=गोजात) है तथा खीर (=पायस) भी गव्य है; अतएव दोनों एक ही द्रव्य हैं। इस प्रकार के 'न्याय' से ही अन्त में क्षणिक-विज्ञानवाद की संगति हो सकेगी।[1]

भाष्यम्—यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्?

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्मकेषु उपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते, ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—शास्त्र में चित्त के जो परिकर्म (चित्त को निर्मल करने की पद्धति) कहा गया है, वह कैसा होता है—

३३। सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान् प्राणियों में यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने पर चित्त प्रसन्न होता है।

भाष्यानुवाद—उनमें सुखसम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्रीभावना करनी चाहिए। दुःखित प्राणियों में करुणा, पुण्यात्माओं में मुदिता या प्रसन्नता तथा अपुण्यात्माओं में उपेक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार भावना करते-करते शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है जिससे चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है; प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थितिपद पाता है (१)।

---

१. 'किसी प्रकार से समाधान कर लेना' रूप क्रिया पर परिहास करने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है। जभी किसी सार्वजनीन अनुभव से समर्थित तथ्य का अपलाप किया जाता है, किसी न किसी कल्पना के बल पर, तभी यह न्याय प्रयुक्त होता है। **[संपादक]**

टीका ३३ (१) जिनके सुख में हमारा स्वार्थ नहीं रहता या जिनके सुख से हमारे स्वार्थ का व्याघात होता है उनको सुखी देखने से या उनका चिन्तन करने से साधारण चित्त प्रायः ईर्ष्यालु होते हैं। उसी प्रकार शत्रु आदि को दुःखी देखने से निष्ठुर हर्ष उमड़ता है। जो हमारे अपने मतानुसारी नहीं हैं पर पुण्यकर्मा हैं, ऐसे व्यक्तियों की प्रतिष्ठा आदि देखने से या चिन्तन करने से मन में असूया और अमुदित भाव आते हैं। और जो पुण्यकर्मा नहीं हैं उनके प्रति (यदि स्वार्थ नहीं रहे तो) अमर्ष या क्रुद्ध तथा पिशुन-भाव उठते हैं। इस प्रकार की इर्ष्या, निष्ठुर हर्ष, अमुदिता तथा क्रुद्ध-पिशुन-भाव मनुष्यचित्त को मथित करते हैं और उसको समाहित होने नहीं देते। अतएव मैत्री आदि की भावना-द्वारा चित्त को प्रसन्न अर्थात् राजस-मल से हीन और सुखी कर लेने पर वह एकाग्र होकर स्थिति को प्राप्त करता है। आवश्यकता होने पर साधक यह भावना करें।

मित्र के सुखी होने से किसी के मन में जैसा सुख होता है वैसे सुख को पहले स्मरण करना चाहिए। तदनु जिन लोगों के (शत्रु या अपकारक व्यक्तियों के) सुख से ईर्ष्या-द्वेष होते हैं, उनके सुखी होने पर 'मैं मित्र के सुखी होने जैसा सुखी हूँ' इस तरह भावना करनी चाहिए। **'सुखं मित्राणि चोष्यासुः विवर्द्धतु सुखं च वः'** इस वाक्य के द्वारा उक्त प्रकार की भावना करना सुगम है। शत्रु आदि के दुःखी होने पर निष्ठुर हर्ष होता है; किन्तु उनके भी दुःखी होने पर, प्रियजन के दुःख में जो करुणाभाव होता है, भावना द्वारा उसी का उनके तथा अन्य समस्त दुःखियों के प्रति प्रयोग करने का अभ्यास करना चाहिए।

सधर्मी हो या विधर्मी यदि वह पुण्यात्मा हो तो उनके प्रति भी वही मुदिता (प्रसन्नता) भाव रखना चाहिए, जो अपने या सहधर्मियों के पुण्यात्मा होने पर होता है। दूसरों के दोष (अपुण्य) में उदासीन रहना ही उपेक्षा है। यह कोई भावना नहीं है, क्योंकि अमर्ष आदि भावों का मन में न आना ही उपेक्षा है (३।२३ देखिए)। इन चार साधनों को बौद्ध लोग 'ब्रह्मविहार' कहते हैं;[1] वे कहते हैं कि इनसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और ये बुद्ध के पहले से ही वर्तमान थे।

———

१. विशुद्धिमार्ग में ४० कर्मस्थानों (=ध्यानविषय) का उल्लेख है; चार ब्रह्मविहार उनमें अन्यतम हैं। ग्रन्थकार बुद्धघोष ब्रह्मविहार शब्द के विषय में कहते हैं— "ब्रह्मा का चित्त विशुद्ध और निर्दोष है। मैत्री आदि अभ्यासों के द्वारा योगी ब्रह्मसम होकर निर्दोष चित्त से विहार करते हैं। यही कारण है कि मैत्री आदि को ब्रह्मविहार कहा जाता है" (विशुद्धमार्ग, परि० ९)। **[सम्पादक]**

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

३४। प्राण के प्रच्छर्द्दन तथा विधारण के द्वारा भी चित्त स्थिति पाता है। सू०

भाष्यानुवाद—भीतरी हवा को दोनों नासापुटों से प्रयत्नविशेष के साथ वमन करना प्रच्छर्द्दन (१) होता है। प्राणायाम या प्राण को संयत करके रखना विधारण है। इनसे भी मनकी स्थिति निष्पन्न हो सकती है।

टीका ३४ (१) चित्त की स्थिति के लिए चित्त का बन्धन आवश्यक है, सुतरां चित्तबन्धन की चेष्टा न करके केवल श्वास-प्रश्वास लेने का अभ्यास करने से चित्त कभी भी स्थिति प्राप्त नहीं करेगा। इसी कारण ध्यान के साथ प्राणायाम न करने पर चित्त स्थिर नहीं होता, अपितु अधिक चञ्चल ही होता है। महाभारत (शान्ति० ३१६।१०) में कहा है—**"यदयदृश्यति मुञ्चन्वै प्राणान्मैथिलसत्तम। वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात्तन्न समाचरेत् ॥"** अर्थात् बिना देखे या ध्यानशून्य प्राणायाम करने से वाताधिक्य वा चित्तचाञ्चल्य होता है, अतः हे मैथिलसत्तम, उसका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। इसलिए प्रत्येक प्राणायाम में श्वास के साथ चित्त को भी भावविशेष से एकाग्र करना पड़ता है। शास्त्र कहता है:—"**शून्यभावेन युञ्जीयात्**" (अमृनाद उप० ११) अर्थात् प्राण को शून्य भाव से युक्त करना चाहिए। अर्थात् रेचन आदि काल में मानों मन शून्यवत् वा निःसंकल्प रहे, ऐसी भावना करनी चाहिए। वैसी भावना के साथ रेचनादि करने पर ही चित्त स्थिति प्राप्त करता है; अन्यथा नहीं।

जिस प्रयत्नविशेष के द्वारा रेचन किया जाता है वह त्रिविध है। पहला—प्रश्वास दीर्घकाल तक करने का या धीरे-धीरे करने का प्रयत्न। दूसरा—उस समय शरीर को स्थिर तथा शिथिल रखने का प्रयत्न। तीसरा—उसके साथ मन को शून्यवत् वा निःसंकल्प रखने का प्रयत्न। इस तरह प्रयत्नविशेष के साथ रेचन या प्रच्छर्दन करना पड़ता है।

तदनु रेचन के पश्चात् वायु-ग्रहण न कर यथासाध्य उस प्रकार के निश्चल, शून्यवत् मनोभाव में अवस्थान करना ही विधारण होता है। इस प्रणाली में पूरण के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं रहता, सहज भाव से ही पूरण करना पड़ता है; किन्तु उस काल में भी मन शून्यवत् स्थिर ही रहे, इस पर ध्यान रखना चाहिए।

शरीर से आत्मबोध हट गया है और हृदयस्थ आत्मानुभव उस निःसंकल्प वाक्यहीन या एकतान प्रणवाग्र अवस्था में जाकर स्थित हो रहा है—इस

प्रकार की भावना रेचनकाल में ही होती है, पूरणकाल में नहीं। इसीलिए पूरण की बात नहीं कही गयी। प्रच्छर्दन में तथा विधारण में शरीर के मर्म शिथिल होने के कारण निःसंकल्प और निष्क्रिय मन में स्थिति करने का भाव निष्पन्न होता है, पूरण में ऐसा नहीं होता है।

इस पद्धति का अभ्यास करने से पहले दीर्घ-प्रश्वास (ऊपर कहे हुए प्रयत्न से) का अभ्यास करना चाहिए। समस्त शरीर और वक्षस्थल स्थिर रख कर और केवल उदर-चालना कर श्वास-प्रश्वास करना चाहिए। कुछ काल तक उत्तम रूप से इसका अभ्यास करने पर सर्वशरीरव्यापी सुख का बोध या लघुता का बोध होता है। उस बोध के सहारे यह अभ्यास करना पड़ता है। इसके अभ्यस्त हो जाने पर, प्रत्येक प्रश्वास या रेचन के पीछे विधारण न भी हो, तो भी बीच-बीच में विधारण किया जा सकता है; इसमें अधिक श्रम का बोध नहीं होता। अभ्यास के द्वारा क्रमशः प्रत्येक रेचन के बाद विधारण करना सुगम हो जाता है।

इस अभ्यास का कौशल यही है कि रेचन तथा विधारण में स्वतन्त्र प्रयत्न न करना पड़े और दोनों एक साथ मिल भी जाएँ। प्रच्छर्द्दनकाल में कोष्ठ के सम्पूर्ण वायु का रेचन न करने पर भी हानि नहीं होती। कुछ वायु रहते-रहते ही रेचन को सूक्ष्म कर विधारण में उसे मिला देना पड़ता है। सावधानी से यह आयत्त कर यह सावधानी से देखना चाहिए कि किस प्रकार प्रच्छर्द्दन और विधारण इन दो प्रयत्नों में (तथा सहज या अनतिवेग से पूरणक्रिया में) शरीर और मन का स्थिरशून्यवत्-भाव रहता है। अभ्यास के द्वारा जब यह दीर्घकाल तक निरन्तर किया जा सकेगा और जब इच्छा होगी तभी किया जा सकेगा तब चित्त स्थिति प्राप्त करता है। कहने का तात्पर्य है कि यह भी एक प्रकार की स्थिति है और इससे भी समाधि सिद्ध हो सकती है। श्वास के साथ एक ही प्रयत्न के द्वारा विक्षिप्त चित्त भी सहज रूप से ही आध्यात्मिक प्रदेश में बद्ध होता है; इसलिए यह स्थिति का एक विशेष उपाय है। चूँकि इस प्रकार के प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास किया जा सकता है, इसलिए यह स्थिति के लिए उपयोगी होता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित् सा गन्धप्रवृत्तिः, जिह्वाग्रे दिव्यरससंविद्, तालुनि रूपसंविद्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंविद्, जिह्वामूले शब्दसंविदित्येताः प्रवृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति,

समाधिप्रज्ञायां च द्वारी भवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति एतेषां यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिद्विशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशस्य प्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमपि आ अपवर्गात् सुश्रद्धीयते, एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते।

अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति, तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

३५। विषयवती (१) प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर भी मन की स्थिति होती है। सू०

भाष्यानुवाद—नासाग्र पर चित्तधारणा करने से जो दिव्य-गन्ध-संविद् (ह्लादयुक्तज्ञान) होता है, वह गन्धप्रवृत्ति है। (इसी प्रकार) जिह्वाग्र में धारणा करने से दिव्यरससंविद्, तालु में रूपसंविद्, जिह्वा के भीतर स्पर्शसंविद् और जिह्वामूल में शब्दसंविद् होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ (=प्रकृष्ट वृत्तियाँ) उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में दृढ़बद्ध करती हैं, संशय का अपनोदन करती हैं और ये समाधिप्रज्ञा की द्वारस्वरूप होती हैं। इसी रूप से चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप, रत्न प्रभृतियों में उत्पन्न प्रवृत्ति को भी विषयवती माना जाता है।

शास्त्र, अनुमान तथा आचार्योपदेश में यथाभूत-विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहने के कारण यद्यपि उनके द्वारा पारमार्थिक अर्थतत्त्व की अवगति होती है, तथापि जब तक उक्त उपायों से अवगत कोई एक विषय अपने इन्द्रियगोचर नहीं होता, तब तक सभी परोक्ष के समान (अदृष्ट, काल्पनिकवत्) ज्ञात होते हैं तथा मोक्षावस्था आदि सूक्ष्म विषयों में दृढ़-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। इसलिए शास्त्र, अनुमान और आचार्य द्वारा प्राप्त उपदेश में संशय दूर करने के लिए किसी विशेष विषय का प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। शास्त्रादि से उपदिष्ट विषय के एकांश का प्रत्यक्ष होने पर कैवल्य तक सूक्ष्म विषयों में भी अत्यन्त श्रद्धा हो जाती है। इसी कारण इस प्रकार का चित्त-परिकर्म निर्दिष्ट हुआ है।

अव्यवस्थित वृत्तियों में दिव्यगन्धादि प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर (साधारण गन्धादि के दोष का अवधारण होने से) गन्ध आदि विषयों में वशीकार-वैराग्य उत्पन्न होता है और (गन्धादि) विषयों के सम्यक् प्रत्यक्षीकरण (सम्प्रज्ञान)

के लिए चित्त समर्थ (उपयोगी) होता है। ऐसा होने से श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि ये साधक के चित्त में प्रतिबन्ध के बिना उत्पन्न होते हैं।

टीका ३५ (१) विषयवती=शब्द-स्पर्शादि विषयवती। प्रवृत्ति=प्रकृष्टा वृत्ति अर्थात् (दिव्य) शब्दस्पर्शादि विषयों की प्रत्यक्षस्वरूपा सूक्ष्मा वृत्ति। नासाग्र में धारणा करने पर श्वास-वायु में ही जो एक प्रकार का अभूतपूर्व सुगन्धानुभव होता है, सहज ही उसकी उपलब्धि की जा सकती है।

तालु के ऊपर ही आक्षिक स्नायु (optic nerve) है।[1] जिह्वा में स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुट भाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के सम्बन्ध से कान के साथ संबद्ध है। अतः इन स्थानों पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्म शक्ति प्रकट होती है।

चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण कर नेत्र मुद्रित करने पर भी यथावत् उनके रूपों का ज्ञान होता रहता है। उन्हीं का ध्यान करते-करते उन्हीं रूपों से संबन्धित प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ये भी विषयवती हैं, क्योंकि ये रूपादि के अन्तर्गत हैं। बौद्ध लोग इस प्रकार की प्रवृत्ति को 'कसिन'[2] कहते हैं। जल, वायु, अग्नि आदि के भेद से उन्होंने दस कसिनों का उल्लेख किया है। पर ये सब वस्तुतः शब्द आदि पाँच विषयों के अन्तर्गत हैं।

---

१. तालु एवं नेत्रनाडी के निकट सम्बन्ध के विषय में आयुर्वेदशास्त्र के असाधारण ज्ञाता म. म. गणनाथसेन का मत ज्ञातव्य है। "तालवस्थि नेत्र और नासाकुहर के पीछे है। यह खनित्र (=कुदाल) के आकार की तरह है। यह पत्रसदृश आकार वाली अस्थि द्वारा निर्मित है, तथा संख्या में दो है (Palate bones)। यह नेत्र-कोटर-भूमि के निर्माण में सहायक है। तालवस्थि का जो दीर्घपत्र अंश है वह नेत्र-कोटर के भीतर की ओर से तालुमूल पर्यन्त अवलम्बित है" (आयुर्वेद पत्रिका ४।९ में प्रकाशित बंगला लेख)। तालुमूल और ज्योति का संबन्ध श्रुति में कण्ठतः कहा गया है—तालुमूलोर्ध्वभागे महाज्योतिर्विद्यते (मण्डलब्राह्मण-उप० १।३)। सुषुम्ना और तालुमूल के सम्बन्ध के विषय में मत्री उपनिषद् ६।२१, तथा गीता ८।१२ पर भास्कर भाष्य द्रष्टव्य हैं। द्र० सुषुम्ना तालु भित्वैव ब्रह्मद्वारं प्रवर्तिता (शाङ्र्गधर-पद्धति-धृत योगरसायन ग्रन्थ)। [**सम्पादक**]

२. कसिण (पालि); अभिधम्मत्थसंगहो (परि० ९) में दस कसिणों के नाम ये हैं—पथवी, आपो, तेजो, वायो, नील, पीत, लोहित, ओदात (=अवदात), आकास और आलोक। विसुद्धिमग्ग (पालिग्रन्थ) में कसिणध्यानों का विशद विवरण मिलता है। ओदात का तात्पर्य श्वेतवर्ण से है। 'कासीणपरिकम्मं' शब्द वेणुक-जातक में प्रयुक्त हुआ है। कसिण को 'कृत्स्न' का अपभ्रंश समझा जाता है। [**सम्पादक**]

दो-एक-दिन तक निरन्तर ध्यान नहीं करने से इसमें फल नहीं मिलता। कुछ दिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करके बाद में कुछ दिनों के लिए कोई चिन्ता या उपसर्ग न हो ऐसी अवस्था में रहकर दो या तीन दिन अल्पाहार या उपवास करके उक्त नासाग्रादि प्रदेशों में ध्यान करने से विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार का साक्षात्कार होने से योग में जो दृढ़ श्रद्धा होती है तथा पार्थिव शब्दादि में वैराग्य होता है, यह भाष्यकार ने स्पष्ट समझा दिया है।

इस पर श्वेताश्वतर २।१२ श्रुति है—**'पृथ्व्यप् तेजोऽनिलखे-समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।'** इस श्लोक के 'शांकर'-भाष्य में यह वचन उद्धृत है—**'ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती पुरा। गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतस्रस्तु प्रवृत्तयः॥ आसां योगप्रवृत्तीनां यद्येकापि प्रवर्त्तते। प्रवृत्तयोगं तं प्राहुर्योगिनो योगचिन्तकाः॥'** अर्थात् ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती तथा गन्धवती ये चार प्रकार की[1] प्रवृत्तियाँ हैं। इन योगप्रवृत्तियों में से यदि कोई एक भी उत्पन्न हो जाए, तो उसे योगविचारक योगी 'प्रवृत्तयोग' कहते हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

भाष्यम्–प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंविद्; बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्, तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणि–प्रभारूपाकारेण विकल्पते; तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्ग-महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्–"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते" इति।

एषा द्वयी विशोका, विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते, यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३६॥

३६। अथवा विशोका ज्योतिष्मती [प्रवृत्ति उत्पन्न होकर (१) चित्त को स्थिति-प्राप्त कराती है]॥

भाष्यानुवाद—"प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थितिप्राप्त कराती है" इसकी अनुवृत्ति यहाँ है। हृदयपुण्डरीक में धारणा करने से बुद्धिसंविद् होती है। बुद्धिसत्त्व ज्योतिर्मय-आकाशकल्प है; उसमें विशारद स्थिति ही प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणि की प्रभा के रूपसादृश्य से बहुत प्रकार की

१. ध्यान देना चाहिए कि यहाँ चार प्रकार की ही प्रवृत्तियों का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्दवती प्रवृत्ति का अन्तर्भाव अनाहत नाद या इस प्रकार के किसी अन्य पदार्थ में किया गया है। [सम्पादक]

होती है। उसी प्रकार अस्मिता में (२) समापन्न चित्त निस्तरङ्ग महासागर जैसा शान्त, अनन्त, अस्मितामात्र होता है। इस विषय में यह कहा गया है—"उस अणुमात्र आत्मा का अनुवेदन करके 'मैं' इस भावमात्र की सम्यक् उपलब्धि (साधक) करता है"।

यह विशोका प्रवृत्ति दो प्रकार की है—विषयवती तथा अस्मितामात्रा; इन्हें ज्योतिष्मती कहा जाता है; इनके द्वारा योगी का चित्त स्थितिपद प्राप्त करता हैं।

टीका ३६ (१) विशोका का नामान्तर ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का अर्थ पहले [३५ (१) में] कहा जा चुका है। परम सुखमय सात्त्विक भाव अभ्यस्त होने पर उसके द्वारा चित्त अवसिक्त रहता है, अतः इसका नाम विशोका है ; और सात्त्विक प्रकाश या ज्ञानालोक के आधिक्य के कारण इसका नाम ज्योतिष्मती है। यहाँ ज्योतिः तेज नहीं है; किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट विषय का प्रकाशकारक ज्ञानालोक है। भाष्यकार ने अन्य स्थान पर (३।२५ सूत्र में) ऐसी प्रवृत्ति को 'प्रवृत्त्यालोक' कहा है। फिर भी ज्योति-पदार्थ के साथ इस ध्यान का जो संबन्ध रहता है उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

३६ (२) हृदय पुंडरीक [१।२८ (१) द्रष्टव्य] या ब्रह्मवेश्म में शुभ्र आकाशकल्प (=बाधा से हीन) ज्योति की भावना करके बुद्धिसत्त्व में क्रमशः पहुँचना चाहिए। बुद्धिसत्त्व ग्राह्यपदार्थ नहीं है, वह ग्रहणपदार्थ है; इसलिए केवल आकाशकल्प ज्योति का चिन्तन करने से बुद्धिसत्त्व की भावना नहीं होती। ग्रहणतत्त्व की धारणा करने के समय पहले पहल उसके साथ ग्राह्य की एक स्पष्ट परछाई धारणा में आती है। अस्मिता के ध्यान के साथ आभ्यन्तरिक श्वेत हार्दज्योति ही बहुधा ग्राह्य कोटि में उदित रहती है। ग्रहण पर चित्त सम्यक् स्थिर न होने से वह एक बार उस ज्योति में और फिर आत्मस्मृति में विचरता रहता है। इस कारण अस्मिता के काल्पनिक स्वरूप के रूप में यह ज्योति व्यवहृत होती है। सूर्य-चन्द्र आदि के रूप भी इस प्रकार अस्मिता का काल्पनिक स्वरूप होते हैं। श्रुति कहती है–**'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः'** (श्वेताश्वतर ५।८)।

> [1]**"नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।**
> **एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥"**
> (श्वेताश्वतर२।११)

---

१. श्वेताश्वतर के इस मन्त्र में नीहार, धूम अर्क, अनिल, अनल, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक और शशी (चन्द्र) का उल्लेख है। मैकस्मुलर ने नीहारधूम को एक पदार्थ समझकर 'misty smoke' रूप से अनुवाद किया है (S. B. E. Vol. 15, p.

रूपज्ञान के समान स्पर्श-स्वाद आदि का ज्ञान भी अस्मिताध्यान के लिए विकल्पक हो सकता है। ध्यानविशेष से मर्मस्थान पर (प्रधानतः हृदय पर) जो सुखमय स्पर्श-बोध उद्भूत होता है, उसी का अवलम्बन करके उस सुख के वोद्धा अस्मिता का अधिगम होता है।

इस ध्यान का स्वरूप यह है :—हृदय में अनन्तवत्, आकाशकल्प या स्वच्छ ज्योति की भावना करते हुए उसमें आत्मभावना करनी चाहिए; अर्थात् उसमें 'मैं' ओतप्रोत रूप से व्याप्त हूँ, ऐसी भावना करणीय है। इस प्रकार की भावना से अकथनीय सुख मिलता है।

स्वच्छ, आलोकमय, हृदय से मानो अनन्त प्रसारित–इस प्रकार के 'मैं' भाव का नाम विषयवती-विशोका या विषयवती-ज्योतिष्मती है। यह स्वरूप-बुद्धि या अस्मितामात्र नहीं है, यह वैकारिक बुद्धि है। क्योंकि स्वरूप-बुद्धि ग्रहण-रूप होती है, किन्तु यह वैकारिक बुद्धि पूर्णतया ग्रहण नहीं है। इसके द्वारा सूक्ष्म विषय प्रकाशित होता है। जिस विषय को जानना है उस पर इस हृद्गत सात्त्विक आलोक को न्यस्त कर योगी प्रज्ञालाभ करते हैं। अतः इस प्रकार के ध्यान में विशुद्ध ग्रहण मुख्य नहीं होता, किन्तु विषयविशेष ही मुख्य होता है। जो विशोका प्रवृत्ति अस्मितामात्र-विषयक है उसी में ही ग्रहण मुख्य है अर्थात् वह स्वरूप-बुद्धितत्त्व की समापत्ति है।

ऊपर कहे हुए हृदयकेन्द्र-व्यापी अहंभावरूप विषयवती का ध्यान आयत्त होने पर व्यापी विषयभाव को लक्ष्य न कर केवल अहंभाव को उद्देश्य करके ध्यान करने से अस्मिता-मात्र की उपलब्धि होती है। उससे व्यापित्वभाव अभिभूत या अलक्ष्य होकर उस व्यापित्व का बोधरूप भाव या सत्त्वप्रधान ज्ञानक्रियाशीलता कालिक धारा के क्रम से प्रतीत होती रहती है। क्रियाधिक्ययुक्त चक्षु आदि निम्न करण-समूह के ध्यान के समय जिस प्रकार की स्फुट कालिक धारा अनुभूत होती है, अस्मितामात्र के ध्यान में उस प्रकार की स्फुट कालिक धारा अनुभूत नहीं होती, क्योंकि उसमें क्रियाशीलता अत्यन्त कम और प्रकाशभाव अत्यधिक है। अतएव यह अस्मितामात्र स्थिर सत्ता-सी प्रतीत होती है, किन्तु इसके भी सूक्ष्म विकार-भाव का साक्षात्कार करके पौरुष सत्ता का निश्चय करना ही विवेकख्याति है।

---

242), जो असंगत हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक अध्यापक रानाडे धूमार्क को एक पदार्थ समझते हैं (The Bhagavadgita as Philosophy of God-realization, p. 20)—यह भी भ्रान्ति है। वे 'अशनि' शब्द पढ़ते हैं, जो किसी भी टीकाकार के द्वारा समर्थित नहीं है। [सम्पादक]

दूसरे उपायों से भी अस्मितामात्र में पहुँचा जा सकता है। सभी करणों में या शरीर में फैले हुए अभिमान का केन्द्र हृदय है। हृदयदेश को लक्ष्य कर सर्वशरीर को स्थिर कर सर्वशरीर पर व्याप्त उस स्थिरता के बोध या प्रकाश-भाव की भावना करनी पड़ती है। यह भावना अधिगत होने पर यह बोध अत्यन्त सुखमयरूप से प्रवाहित होती है। तब सभी करणों के विशेष विशेष कार्य स्थैर्य के द्वारा रुद्ध होकर उसी सुखमय अविशेष बोध-भाव में परिणत होते हैं। यह अविशेष बोध-भाव ही षष्ठ अविशेष रूप अस्मिता है। उसी अस्मिता को अर्थात् अस्मीति-भावमात्र को लक्ष्य करके भावना करने पर ही अस्मितामात्र में पहुँचा जाता है। आत्मविषयक बुद्धिमात्र का नाम अस्मिता है, यह भी स्मरणीय है।

इन दोनों प्रकार के उपायों से वस्तुतः एक ही पदार्थ में स्थिति होती है। स्वरूपतः अस्मितामात्र या बुद्धितत्त्व क्या है, यह महर्षि पञ्चशिख का वचन उद्धृत करके भाष्यकार ने दिखाया है। वह अणु अर्थात् देशव्याप्तिशून्य है और सब की (अर्थात् सभी करणों की) अपेक्षा सूक्ष्म है, और उसका अनुवेदन (या आध्यात्मिक सूक्ष्म वेदना का अनुसरण) पूर्वक केवल 'अस्मि' या 'मैं' इस प्रकार वह विज्ञात होता है।

अस्मितामात्र स्वरूपतः अणु होने पर भी उसको दूसरी दृष्टि से अनन्त कहा जाता है। वह ग्रहण-सम्बन्धी प्रकाशशीलता की चरम अवस्था है, अतः वह सब या अनन्त विषयों का प्रकाशक है। इसीलिए वह अनन्त वा विभु है। वस्तुतः पहले उपाय से इस अनन्त भाव की भावना करके पीछे उसके प्रकाशक अणु-बोधरूप अस्मिता में जाना होता है। दूसरे उपाय से स्थूल बोध से अणुबोध में जाना होता है—यही भेद है।

अस्मिता-ध्यान का स्वरूप न समझने से कैवल्यपद समझना कठिन है, इसलिए इसे कुछ विस्तार के साथ कहा गया है। अधिकार के अनुसार इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करने पर स्थिति-लाभ होता है। उसी से एकाग्र-भूमिका सिद्ध होकर क्रमेण सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होते हैं।

पहले (१।१७ सूत्र में) 'अस्मि'-रूप तत्त्व के ध्यान की बात कही गई है। यहाँ ज्योति या अनन्त आकाश स्वरूप अस्मिता का वैकल्पिक रूप ग्रहण करके स्थिति साधन की बात कही गई है।

———

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

३७। वीतराग चित्त की धारणा करने से भी स्थिति-लाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—वीतराग पुरुष के चित्त रूप आलम्बन में उपरक्त योगिचित्त स्थितिपद प्राप्त करता है (१)।

टीका—३७ (१) रागयुक्त चित्त-द्वारा वैषयिक चिन्तन (संकल्प-कल्पना आदि) सरलतया होते हैं, किन्तु चिन्ताहीन स्वस्थ भाव अत्यन्त दुष्कर होता है; पर वीतराग चित्त के लिए निवृत्त तथा निश्चिन्त रहना ही सहज पड़ता है। ऐसे वीतराग भाव का भलीभाँति अवधारण करके उस भाव का अवलम्बन करके चित्त को भावित करने से अभ्यासक्रम के अनुसार चित्त स्थिति लाभ करता है।

वीतराग महापुरुष की संगति में उनका निश्चिन्त, इच्छाशून्य भाव लक्ष्य करने पर सहज ही वीतराग भाव हृदयंगम होता है। कल्पना-पूर्वक हिरण्य-गर्भादि के वीतराग चित्त में अपने चित्त का स्थापन करके ध्यान करने से भी यह वीतराग भाव सिद्ध हो सकता है।

यदि अपने चित्त को रागहीन अतः संकल्पहीन किया जा सके तो उस चित्तभाव को अभ्यास-द्वारा आयत्त करने पर भी वीतराग-विषयक चित्त होता है। यही वस्तुतः वैराग्याभ्यास है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

३८। स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान का आलम्बन करके भावना करने पर चित्त स्थिति लाभ करता है। सू०

भाष्यानुवाद—स्वप्नज्ञान तथा निद्राज्ञान का आलम्बन करने वाला चित्त भी स्थितिपद पाता है (१)।

टीका ३८ (१) स्वप्नवत् अर्थात् स्वप्न-सवन्धी ज्ञान=स्वप्नज्ञान; निद्रा-ज्ञान भी वैसा ही है। स्वप्न-काल में वाह्य ज्ञान रुद्ध होता है एवं मानस-भावसमूह प्रत्यक्ष-से प्रतीत होते हैं। अतएव इस प्रकार के ज्ञान का आलम्वन करके ध्यान करना ही स्वप्नज्ञानालम्वन है। अधिकारी-विशेष के लिए यह उपाय अत्यन्त उपयोगी होता है। हमने यथायोग्य अधिकारी को ऐसे ध्यान का अवलम्वन कराकर उत्तम फल देखा है। कुछ ही दिनों में उस साधक में बाह्यज्ञानशून्य

ध्यान करने की शक्ति उत्पन्न हो गई। कल्पनाप्रवण लड़के तथा हिप्नटिक (hypnotic)[१] प्रकृति के[२] व्यक्ति इसके योग्य अधिकारी हैं।

यह तीन प्रकार के उपाय से साधित होता है। प्रथम—ध्येय विषय की मानस प्रतिमा गढ़ कर उसको प्रत्यक्षवत् देखने का अभ्यास करना होता है। द्वितीय–स्मरण का अभ्यास करने से स्वप्नकाल में भी 'मैं स्वप्न देख रहा हूँ' यह स्मरण होता है। तब अभीष्ट विषय का भावानुकूल ध्यान करना होता है और जाग कर तथा अन्य समय भी उसी प्रकार का भाव रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। तृतीय–स्वप्न में कोई उत्तम भाव प्राप्त होने पर जागरित अवस्था में तथा पीछे भी उसी भाव का ध्यान करना चाहिए; इन सभी में स्वप्नवत् बाह्यरुद्ध-भाव का आलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिए।

स्वप्न में बाह्यज्ञान रुद्ध होता है, किन्तु मानस भाव-समूह का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था में बाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषय तम से अभिभूत हो जाते हैं और केवल जड़ता का अस्फुट-अनुभव रह जाता है। बाह्य तथा मानस रुद्ध-भाव का आलम्बन करके उसका ध्यान करना निद्राज्ञानालम्बन है। पूर्वोक्त Hypnotic एवं अन्य प्रकृतिविशेष के कुछ व्यक्ति हैं, जिनका मन कभी-कभी शून्यवत् हो जाता है। पूछने पर वे कहते हैं कि उस समय उनके मन में कुछ क्रिया नहीं थी; इस प्रकार की प्रकृति के लोग योगेच्छु होकर अपनी इच्छा से ऐसे शून्यवत् अन्तर्बाह्यरोधभाव को अपने अधीन कर स्मृति की रक्षा करते हुए यदि ध्यानाभ्यास करें तो उनको इस उपाय से स्थिति पाना सहज होता है। १।१० (१) और १। ३० (१) देखिए।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

१. हिप्नसिस् (उपायविशेष से निष्पादित कृत्रिम-निद्रा-सदृश अवस्था) से युक्त स्थिति। [**सम्पादक**]

२. नासाग्रादि किसी लक्ष्य पर स्थिर भाव से ताकते रहने से विशेष प्रकृति के व्यक्ति का बाह्यज्ञान रुद्ध हो जाता है और अन्य लक्षण प्रकाशित होते हैं। ये ही हिप्नटिक् प्रकृति के व्यक्ति हैं। लड़के-लड़कियाँ स्फटिक, आईना, स्याही, तैल या किसी भी काली चमकती हुई चीज की ओर यदि ताकते रहें तो स्वप्नवत् नाना पदार्थ देख और सुन पाते हैं, उस समय देव-देवी आदि चाहे जो कुछ भी उनको दिखाया जा सकता है। [इसकी सत्यता के लिए Mc Dougall कृत An Outline of Abnormal Psychology, pp. 344-345 द्र०–**सम्पादक**]

३९। यथाभिमत ध्यान से भी चित्त स्थितिपद लाभ करता है। सू०

भाष्यानुवाद—जो भी अभिमत (अवश्य ही योग को लक्ष्य कर) है उसका ध्यान करें। उसमें स्थितिलाभ करने पर अन्यत्र भी स्थितिलाभ होता है (१)।

टीका ३९ (१) चित्त का ऐसा स्वभाव है कि वह किसी एक विषय पर यदि स्थैर्य लाभ करे तो अन्य विषय पर भी कर सकता है। घट में एक घंटे तक स्वेच्छापूर्वक चित्तको स्थिर रख सकने पर पर्वत में भी स्थिर रखा जा सकता है। अतएव यथाभिमत ध्यान द्वारा चित्तको स्थिर कर सम्पूर्ण तत्त्वों में समाहित होकर तत्त्वज्ञान के क्रम से कैवल्यसिद्धि हो सकती है।

———

परमाणु-परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति; स्थूले निवि-शमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याऽप्रतिघातः स परो वशीकार स्तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥

४०। परमाणु तक और परममहत्त्व तक (वस्तु में स्थिति सम्पादन करने पर) चित्त का वशीकरण होता है। सू०

भाष्यानुवाद—सूक्ष्म वस्तु में निविष्ट होता हुआ चित्त परमाणुपर्यन्त वस्तुओं में स्थितिपद पाता है। उसी प्रकार स्थूल वस्तु में निविष्ट होता हुआ चित्त परममहत्त्वपर्यन्त वस्तुओं में स्थितिपद पाता है। इन दोनों पक्षों का अनुधावन करते-करते चित्त का जो अप्रतिबद्ध भाव (जिसमें इच्छा हो उसी में लगाने की सामर्थ्य) होता है, वही परम वशीकार है। इसी वशीकार से चित्त परिपूर्ण (स्थिति-साधन की आकाङ्क्षा जिसमें समाप्त है) होता है; उस समय अन्य अभ्यास के द्वारा साध्य परिकर्म या परिष्कृति की अपेक्षा नहीं रहती (१)।

टीका ४० (१) शब्दादि गुणों के परमाणु तन्मात्र हैं। तन्मात्र शब्दादि-गुणों की सबसे सूक्ष्म अवस्था है। तन्मात्र की ग्राहिका करणशक्ति तथा तन्मात्र का ग्रहीता, ये सब परमाणु भाव हैं।

अस्मिता-ध्यान में जो अनन्तवत् भाव होता है वह (उसकी करणरूप बुद्धि) एवं महान् आत्मा (ग्रहीतृरूप)—ये परम महान् भाव हैं। पञ्च महाभूत भी परम महान् स्थूल-भाव हैं।

किसी एक विषय में स्थिति का अभ्यास करके स्थितिप्राप्त चित्त को योग की प्रणाली से परमाणु तथा परम महान् विषय पर धारण करने की अवस्था को वशीकार कहा जाता है। चित्त वशीकृत होने पर सबीज ध्यानाभ्यास समाप्त होता है और तब विरामाभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधिलाभ ही अवशिष्ट रहता है। किस प्रकार वशीकार की साधना होगी–इसे आगे कही हुई समापत्ति के द्वारा बतलाते हैं। ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य के महान् भाव तथा अणुभाव की उपलब्धि द्वारा समापन्न होकर वशीकार की साधना की जाती है, अतः समापत्ति का लक्षण १।४१ सूत्र में कहा जा रहा है।

भाष्यम्—अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः। अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्। यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते, भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति, तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति, तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति।

तथा ग्रहणेष्वपि इन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तदेवमभिजातमणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

भाष्यानुवाद—स्थितिप्राप्त (१) चित्त की जो समापत्ति होती है, उसका स्वरूप और विषय क्या है?

४१। शुद्ध स्फटिकमणि जिस प्रकार आश्रय के अनुसार विभिन्नरूपों को प्राप्त करता है, क्षीणवृत्ति चित्त की उसी प्रकार ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य में जो तत्स्थितता और तदञ्जनता होती है, वह समापत्ति है (२)। सू०

भाष्यानुवाद–क्षीणवृत्ति का अर्थात् (एक को छोड़कर अन्य) प्रत्यय अस्तमित हुआ है जिस चित्त का; 'अभिजात मणि' यह दृष्टान्त गृहीत हुआ है। जिस प्रकार स्फटिकमणि उपाधिभेद से उपाधि के रूप द्वारा उपरञ्जित होकर उपाधि के आकार से प्रकाशित होती है, उसी प्रकार ग्राह्यालम्बन में उपरक्त चित्त ग्राह्य में समापन्न होकर ग्राह्यस्वरूपाकार से भासित होता है (३)। सूक्ष्मभूतोपरक्त चित्त सूक्ष्मभूत में समापन्न होकर सूक्ष्मभूतस्वरूप का भासक होता है। इसी प्रकार स्थूल आलम्बन में उपरक्त चित्त स्थूलाकार में समापन्न होकर स्थूल स्वरूप का भासक होता है। इसी प्रकार विश्वभेद में उपरक्त चित्त विश्वभेद में समापन्न होकर विश्वभेद का भासक होता है।

इसी प्रकार ग्रहण में भी अर्थात् इन्द्रियों में भी जानना चाहिए—ग्रहण रूप आलम्बन में उपरक्त चित्त ग्रहण में समापन्न होकर ग्रहणस्वरूप के आकार से भासित होता है। उसी प्रकार ग्रहीतृपुरुष के आलम्बन में उपरक्त ग्रहीतृपुरुष में समापन्न चित्त ग्रहीतृपुरुषस्वरूप के आकार से भासित होता है। उसी प्रकार मुक्त पुरुष के आलम्बन में उपरक्त चित्त मुक्तपुरुष में समापन्न होकर मुक्तपुरुष के आकार से भासित होता है। इस प्रकार अभिजात मणि के समान चित्त की ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य में अर्थात् पुरुष-इद्रिय-भूतों में जो तत्स्थता-तदञ्जनता, अर्थात् उनमें अवस्थित होकर तदाकारताप्राप्ति है, उसे समापत्ति कहा जाता है।

टीका ४१ (१) स्थितिप्राप्त=एकाग्रभूमि-प्राप्त। जब पूर्वोक्त ईश्वर-प्रणिधान आदि साधनों के अभ्यास द्वारा चित्त को सरलता से सदा अभीष्ट विषय पर निश्चल रखा जाता है, तब उसे स्थितिप्राप्त चित्त कहा जाता है। स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि का नाम समापत्ति है। समाधि मात्र से समापत्ति का यही भेद है। समापत्तिरूप प्रज्ञा ही सम्प्रज्ञान या सम्प्रज्ञात योग है। बौद्ध भी समापत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं, पर ठीक इसी अर्थ में नहीं।

४१ (२) समापत्ति-प्राप्त चित्त के जितने भेद होते हैं या हो सकते हैं, उन्हें भगवान् सूत्रकार ने इस सूत्र में कहा है।

विषयभेद से समापत्ति तीन प्रकार की है :—ग्रहीतृविषय, ग्रहणविषय और ग्राह्यविषय। समापत्ति की प्रकृति के भेद से भी सविचारा आदि भेद होते हैं। योगी विभाग की बहुलता त्याग कर एक साथ प्रकृति तथा विषय के अनुसार समापत्तियों का विभाग करते हैं, जैसे—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार। इन समापत्तियों के भेद निम्नोक्त परिलेख में दिखाए जा रहे हैं—

प्रकृति	विषय	समापत्ति
१. शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्प-संकीर्ण	स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण)	सवितर्का (वितर्कानुगत)
२. ,, ,,	सूक्ष्म (ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीता)	सविचारा (विचारानुगत)
३. स्मृति की परिशुद्धि होने पर स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्र निर्भास	स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण)	निर्वितर्का(वितर्कानुगत)
४. ,, ,,	सूक्ष्म (ग्राह्य, ग्रहण ग्रहीता)	निर्विचारा (विचारानुगत) =सूक्ष्म, सानन्द, सास्मित

वितर्क-विचार का विषय पहले व्याख्यात हुआ है। निर्वितर्क आदि का विषय आगे कहा जाएगा।

जो चित्त सम्यक् निरुद्ध नहीं हुआ है, उसके द्वारा जितने प्रकार के ध्यान हो सकते हैं वे सभी इन समापत्तियों में गिने जाएँगे। कारण, ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता को छोड़कर और कुछ व्यक्त भावपदार्थ नहीं है, जिसका ध्यान हो सकेगा। वितर्क तथा विचार पदार्थ के अनुसरण के विना ध्यान की संभावना कथमपि नहीं होती है।

प्राचीनकाल से ही अनेक मतप्रस्थापक आचार्य नूतन-नूतन ध्यानों की उद्भावना का प्रयास करते आए हैं, किन्तु उनमें किसी के कृतकार्य होने की संभावना नहीं है। सभी को परमर्षिकथित इस ध्यान के अन्तर्गत ही रहना पड़ेगा।

बौद्ध आठ प्रकार की समापत्ति गिनते हैं;[1] यह विभाग इस प्रकार का

१. बौद्ध-संमत ८ समापत्तियाँ ये हैं—बुद्धमूर्ति आदि रूपों का अवलम्बन करके जो चार प्रकार का ध्यान किया जाता है वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान कहे जाते हैं; इसके बाद चार रूपातीत ध्यान हैं। यथा—आकाशानन्त्यायतन ध्यान, विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान, आकिञ्चन्यायतन ध्यान एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान। ये ही आठ समापत्तियाँ हैं। किसी-किसी के अनुसार नवम ध्यान सर्वोच्च है। इस मत में नौ समापत्तियाँ होती हैं। [**सम्पादक**]

न्यायानुसारी नहीं है। वे अपने निर्वाण की स्थापना उक्त समापत्तियों के ऊपर करते हैं, किन्तु सम्यक् दर्शन के अभाव से वैनाशिक बौद्ध प्रकृतिलीनता तक ही प्राप्त कर सकेंगे।

४१ (३) सूत्रकार तथा भाष्यकार ने समापत्ति (अर्थात् अभ्यास से ध्येय विषय में स्वाभाविक-सा तन्मय भाव) की विशद व्याख्या की है। भाष्यकार ने सभी समापत्तियों के उदाहरण दिए हैं। ग्राह्य-विषयक समापत्ति त्रिविध है–प्रथम, विश्वभेद अर्थात् भौतिक या गो-घट आदि असंख्य भौतिक पदार्थ-विषयक। द्वितीय, स्थूलभूत या क्षिति आदि पञ्चभूततत्त्वविषयक। तृतीय, सूक्ष्मभूत या शब्द आदि पञ्च-तन्मात्रविषयक।

ग्रहण-विषयक समापत्ति बाह्य-आभ्यन्तर-इन्द्रियविषयक है। उनमें बाह्येन्द्रियाँ तीन प्रकार की हैं—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, और प्राण। अन्तरिन्द्रिय = बाह्येन्द्रिय का नेता मन, जो संकल्पक है। ये सभी मूल अन्तःकरणत्रय के विकार-स्वरूप हैं। बुद्धि, अहंकार और हृदयाख्य मन ही मूल अन्तः करणत्रय हैं।

ग्रहीतृविषयक समापत्ति=पूर्वकथित सास्मित ध्यान। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सबीज समाधि का विषय जो ग्रहीता है, वह स्वरूपग्रहीता या पुरुषतत्त्व नहीं, वह बुद्धितत्त्व है। वह बुद्धि पुरुष के साथ एकत्वबुद्धि है **(दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता)**; इसलिए वह व्यावहारिक द्रष्टा या ग्रहीता होती है। चित्तेन्द्रिय संपूर्ण लीन न होने से पुरुष में स्थिति नहीं होती। अतः जब वृत्तिसारूप्य रहता है, उस समय का अविशुद्ध द्रष्टा-भाव ही व्यावहारिक द्रष्टा है। 'ज्ञान का ज्ञाता मैं हूँ' इस प्रकार का भाव ही उसका स्वरूप है। ज्ञान के सम्यक् निरुद्ध होने पर शान्तवृत्ति के जो ज्ञाता स्वस्वरूप में रहते हैं, वे ही पुरुष या स्वरूपद्रष्टा हैं।

इसके सिवाय ईश्वर-समापत्ति, मुक्तपुरुषसमापत्ति आदि जो सब समापत्तियाँ हो सकती हैं, वे ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता–इन तीन विषयों की समापत्तियों के अन्तर्गत होती हैं; ईश्वर आदि की मूर्ति अथवा मन या मैंपन का आलम्बन करके समापन्न हुआ जा सकता है, इससे भी यह समापत्ति यथोचित विभाग में परिगणित होगी।

———

भाष्यम्—तत्र—

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्। विभज्यमानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्ये अर्थधर्मा अन्ये

विज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः। तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

४२। शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से संकीर्ण या मिश्रित समापत्ति सवितर्का है (१)। सू०

जैसे—'गो' यह शब्द, 'गो' यह अर्थ, 'गो' यह ज्ञान—इन तीनों में विभाग रहने पर भी (साधारणतः) ये अभिन्नरूप से गृहीत होते रहते हैं। इनके विभज्यमान होने पर शब्दधर्म भिन्न है, अर्थधर्म भिन्न है और विज्ञानधर्म भिन्न है, इस प्रकार इनके विभिन्न मार्ग भी देखे जाते हैं। इनमें (विकल्पित गवादि अर्थों में) समापन्न योगी की समाधिप्रज्ञा में जो गवादि अर्थ समारूढ़ होते हैं वे यदि शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा अनुविद्ध होकर उपस्थित हों, तो उस संकीर्णा समापत्ति को सवितर्का कहा जाता है।

टीका ४२ (१) समापत्ति और प्रज्ञा अविनाभावी हैं। अतः समाधि-प्रज्ञा-विशेष को सवितर्का समापत्ति कहा जाता है। तर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है। वितर्क = विशेषतर्क। जिस समाधिप्रज्ञा में वितर्क रहता है, वही सवितर्का समापत्ति है।

तर्क या वाक्यमयी चिन्ता का विश्लेषण करके देखने से उसमें शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की संकीर्ण या मिश्र अवस्था मिलती है। मान लो 'गो' यह शब्द या नाम है। इसका अर्थ है–चतुष्पद जन्तु-विशेष। गो-पदार्थ का जो ज्ञान है वह हमारे मन में होता है। गाय के साथ उसका एकत्व नहीं है तथा गो इस नाम के साथ भी गो-ज्ञान और गो जन्तु का एकत्व नहीं है, क्योंकि कोई भी नाम गो-वाचक हो सकता है। अतएव नाम पृथक् है, अर्थ पृथक् है और ज्ञान (विज्ञान-धर्म) पृथक् है। किन्तु, साधारण अवस्था में जो नाम है वही नामी है तथा नाम-नामी का ज्ञान भी वही है–ऐसी प्रतीति होती है। वास्तविक एकत्व नहीं रहने पर भी 'गो' इस शब्द का ज्ञानानुपाती जो एकत्व-ज्ञान है (अर्थात् गो-शब्द, गो-अर्थ और गो-ज्ञान एक ही हैं—इस प्रकार गोशब्द की वाक्यवृत्ति का जो ज्ञान है, जो अलीक होने पर भी व्यवहृत होता है), वह विकल्प है (१।९ सूत्र द्रष्टव्य)। इसीलिए हमारा साधारण चिन्तन शब्दार्थ-ज्ञानविकल्प से संकीर्ण होता है। विकल्परूप व्यवहार्य भ्रान्ति से संबद्ध रहने के कारण ऐसा चिन्तन अविशुद्ध चिन्तन है और यह उन्नत ऋतम्भरा योगजप्रज्ञा के लिए उपयोगी नहीं है।

परन्तु पहले इसी प्रकार से ही योगज प्रज्ञा उपस्थित होती है। फलतः

साधारण शब्दमय चिन्तन की तरह चिन्तन की सहायता से जो योगज प्रज्ञा होती है, वह सवितर्का समापत्ति है।

निर्वितर्कादि समापत्तियों के साथ प्रभेद दिखाने के लिए यहाँ सूत्रकार ने (साधारण चिन्ता के समान) इस समापत्ति को विश्लेषण पूर्वक दिखाया है। गो-विषय में सवितर्का समापत्ति होने पर गो-संबंधी प्रज्ञा उत्पन्न होती है। ये प्रज्ञाएँ वाक्यसाध्यरूप से उद्भूत होंगी, जैसे—'यह अमुक की गाय है' 'इसके बदन पर इतने रोएँ हैं' इत्यादि।

यह विदित है कि समापत्ति-द्वारा योगीगण गवादि लौकिक विषयों का प्रज्ञामात्र लाभ नहीं करते हैं, तत्त्वविषयक प्रज्ञालाभ ही समापत्ति का मुख्य फल है। इसके द्वारा वैराग्य सिद्ध होता है और क्रमशः कैवल्यलाभ होता है।

भाष्यम्—यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैव अवच्छिद्यते, सा च निर्वितर्का समापत्तिः। तत् परं प्रत्यक्षम्, तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्, ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्; तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति। निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्याता। तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा अणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः। स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः, फलेन व्यक्तेनानुमितः, स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति, धर्मान्तरोदये च तिरो भवति, स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते; योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च, तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते।

यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य, तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति। तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद् विषयाभावाद्; यद् यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातम् (पाठा० आम्नातम्); तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयो भवति ॥ ४३ ॥

भाष्यानुवाद—शब्दसंकेत की स्मृति (१) अपनीत होने पर श्रुतानुमान-

ज्ञान-कालीन विकल्प से हीन जो समाधिप्रज्ञा होती है उसमें स्वरूपमात्र से अवस्थित विषय (जब) स्वरूपाकारमात्र से ही परिछिन्न होकर भासित रहता है, (तब) निर्वितर्का समापत्ति कही जाती है। वह परम प्रत्यक्ष है एवं वह श्रुतानुमान का बीज है, उसी से श्रुतानुमान प्रवर्तित होते हैं (२)। वह परम प्रत्यक्ष श्रुतानुमान का सहभूत नहीं है। अतः योगियों का निर्वितर्क समाधि से उत्पन्न दर्शन (प्रत्यक्ष को छोड़कर) अन्य प्रमाणों द्वारा संकीर्ण नहीं है। इस निर्वितर्का समापत्ति का लक्षण सूत्र द्वारा कहा जा रहा है—

४३। स्मृतिपरिशुद्धि होने पर स्वरूपशून्य-जैसी अर्थमात्रनिर्भासा (३) समापत्ति निर्वितर्का होती है। सू०

शब्दसंकेत की और श्रुतानुमान-ज्ञान की विकल्पस्मृति अपगत होने पर ग्राह्य-स्वरूप से उपरक्त जो प्रज्ञा अपने ग्रहणात्मक प्रज्ञास्वरूप को मानो त्याग कर पदार्थ-मात्र के आकार से ग्राह्यस्वरूप-प्राप्ति के अनुकूल हो जाती है, वह निर्वितर्का समापत्ति है। (सूत्रपातनिका में) ऐसा ही व्याख्यात हुआ है। उस (निर्वितर्का समापत्ति) के गवादि या घटादि विषय—एक बुद्धि के जनक, अर्थात्मक (दृश्यस्वरूप) और अणुप्रचय-विशेषात्मक (४) हैं। यह संस्थानविशेष (५) सभी सूक्ष्मभूतों का साधारणधर्म, आत्म-भूत अर्थात् सदैव सूक्ष्मभूतरूप, स्वकारण में अनुगत, (विषय के) अनुभव-व्यवहार आदिरूप व्यक्त कार्य द्वारा अनुमित तथा अपनी अभिव्यक्ति के हेतुभूत द्रव्य से व्यज्यमान होकर प्रादुर्भूत होता है। धर्मान्तर का उदय होने पर उसका (संस्थान-विशेष का) तिरोभाव होता है। इस धम को अवयवी कहा जाता है। जो अवयवी एक, बृहत् या क्षुद्र, इन्द्रियग्राह्य, क्रियाधर्मक और अनित्य है, उसके द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है।

जिनके मत में यह प्रचय-विशेष अवस्तुक है एवं उस प्रचय का सूक्ष्म (तन्मात्ररूप) कारण भी विकल्पहीन (निर्विचारा) समाधि-प्रत्यक्ष का अगोचर है (अवस्तुक है, इसलिए), उनके मत में ऐसा कहा जाएगा कि अवयव के अभाव से ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि वह अतद्रूप-प्रतिष्ठ (निरवयवीरूप-शून्यप्रतिष्ठ) है। इस तरह (६) प्रायः सभी ज्ञान मिथ्या-ज्ञान हो जाते हैं। ऐसा होने पर विषय के अभाव के कारण सम्यक् ज्ञान कौन-सा होगा ? क्योंकि जो भी इन्द्रिय से जाना जाता है वह अवयवित्वधर्म से युक्त है। इसीलिए महत्त्व आदि (वड़ा, छोटा) व्यवहार को प्राप्त तथा निर्वितर्का समापत्ति का विषय है, ऐसा अवयवी (धर्मी) है।

टीका ४३ (१) पहले यदि सवितर्क ज्ञान से निर्वितर्क ज्ञान का भेद समझ लिया जाए तो इस भाष्य को समझना सरल होगा।

साधारणतः शब्द (नाम)–ज्ञान के साथ अर्थ का स्मरण होता है, और अर्थज्ञान के साथ नाम (जातिगत वा व्यक्तिगत) का स्मरण होता है, अर्थात् शब्द और अर्थ का चिन्तन परस्पर अविनाभाव से होता है किन्तु शब्द और अर्थ की सत्ता परस्पर पृथक् है। केवल संकेतपूर्वक व्यवहार से उत्पन्न संस्कारवश ही दोनों का स्मृतिसांकर्य होता है। शब्द का त्याग कर केवल अर्थमात्र-चिन्तन करने का अभ्यास करते करते उस स्मृतिसांकर्य का नाश हो जाता है। उस समय बिना शब्द के भी अर्थ की चिन्ता होती है। इसको 'शब्द-संकेत-स्मृति-परिशुद्धि' कहते हैं; इसका अनुभव करना दुष्कर नहीं है।

इस प्रकार शब्द की सहायता के बिना जो ज्ञान होता है, वही यथार्थ (यथा-अर्थ)[1] ज्ञान है। कारण यह है कि सर्वदा हम 'सत्ता' कहकर भी शब्द द्वारा वस्तुतः अनेक असत्ताओं का व्यवहार करते हैं। उदाहरणार्थ हम कहते हैं– 'काल अनादि अनन्त है'। यह सत्यरूप से व्यवहृत होता है। किन्तु अनादि तथा अनन्त अभावपदार्थ हैं; उनका साक्षात् ज्ञान कभी नहीं हो सकता है और काल भी अधिकरणस्वरूप-मात्र है। अनादि, अनन्त, काल इत्यादि शब्दों से एक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् विकल्पवृत्ति) भले ही हो, किन्तु वस्तुतः उस ज्ञान के ज्ञेय के रूप में कोई भी वस्तु उसके मूल में नहीं रहती है। अतएव शब्दसहायक ज्ञान अधिकतर अलीक विकल्पमात्र है। अतः इस प्रकार का ज्ञान ऋत वा साक्षात् अधिगत सत्य नहीं होता, किन्तु सत्य का आभासमात्र होता है[2]।

आगम तथा अनुमान-प्रमाण शब्द-सहायक ज्ञान होते हैं, अतः आगम और अनुमान से प्रमित सत्य-समूह ऋत नहीं होते। मान लो कि आगम और अनुमान के द्वारा प्रमाणित हुआ **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। सत्य का अर्थ यथार्थ है। 'यथार्थ' 'अनन्त' इत्यादि शब्दों के अर्थ ऐन्द्रियिक तथा मानस प्रत्यक्ष के योग्य नहीं हैं। अतः इन शब्दों के अतिरिक्त 'अन्त न रहना' 'यथार्थ होना' इत्यादि रूप कोई अर्थ (ध्येय विषय) नहीं हैं, जिनका साक्षात्कार होगा। वस्तुतः इन

---

१. 'यथा-अर्थ' कहने का अभिप्राय यह दिखाना है कि इस ज्ञान में अर्थ यथाभूत हैं (यथाभूतः अर्थः यस्मिन् सः)। [**सम्पादक**]

२. ऋत तथा सत्य का भेद समझना चाहिए। ऋत का अर्थ है—गत या साक्षात् अधिगत। वह एक प्रकार का सत्य है किन्तु इसके सिवाय अन्य सत्य भी है जो वाक्यों के द्वारा व्यक्त होता है। यथा—'धूम के नीचे अग्नि है' इत्यादि प्रकार का सत्य। पक्षान्तर में अग्नि को साक्षात् करने के बाद जो ज्ञान होता है वह ऋत है। ऋत = Perceptual fact; सत्य=Conceptual fact.

शब्दों के साथ वाचक ब्रह्म का कुछ भी संपर्क नहीं है; उन शब्दों को भूलने पर ही ब्रह्मपदार्थ की उपलब्धि होती है।

अतएव श्रुतानुमानजनित ज्ञान तथा शब्दसहायकृत साधारण प्रत्यक्षज्ञान विकल्पहीन विशुद्ध ऋत नहीं हैं; पर जो शब्द-सहाय-शून्य केवल अर्थ-मात्र-निर्भासक निर्वितर्क ज्ञान है, वही प्रकृत ऋत ज्ञान होता है।[1]

४३ (२) निर्वितर्क और निर्विचार दोनों ही एक ही प्रकार के दर्शन हैं। परमार्थसाक्षात्कारी ऋषियों ने इस प्रकार का निर्विचार ज्ञान प्राप्त कर शब्दों के द्वारा (अर्थात् सवितर्क भाव से) उपदेश दिया था; इससे परमार्थ-विषयक एवं तत्त्वविषयक प्रतिज्ञा से युक्त और युक्ति से पूर्ण प्रचलित मोक्षशास्त्र प्रादुर्भूत हुआ है।

४३ (३) स्वरूपशून्य के समान='मैं जान रहा हूँ' इस प्रकार के भाव से शून्य के सामान अर्थात् इस प्रकार का भाव सम्यक् विस्मृत होकर। स्व+रूप =स्वरूप; स्व=ग्रहणात्मक प्रज्ञा; वह प्रज्ञा ही रूप=स्वरूप। अर्थात् प्रज्ञेय विषय में अत्यन्त स्थिति होने के कारण जब 'मैं प्रज्ञाता हूँ' या 'मैं जान रहा हूँ' ऐसे भाव की सम्यक् विस्मृति हो जाती है, तभी अर्थमात्र-निर्भासा स्वरूपशून्य-सी प्रज्ञा होती है।

शब्दादिपूर्वक विषय प्रज्ञात होते रहने पर बहुत से करणों की क्रियाएँ या क्रियाओं के संस्कार विद्यमान रहते हैं, अतः उस समय सम्यक् आत्मविस्मृति या स्वरूपशून्य-सा भाव नहीं होता है।

शङ्का हो सकती है कि जब समाधि **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव** (**३।३**) है, तब सवितर्का समापत्ति क्या समाधि नहीं है ? नहीं; सवितर्का समापत्ति समाधिमात्र नहीं है, वह समाधिज प्रज्ञा की स्थिति-रूप अवस्था

---

१. स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है कि वाक्य-सहायक ज्ञान सत्य हो सकता है पर वह सदैव ऋत नहीं होता—'आकाश अनन्त है' यह सत्य हो सकता है, पर आनन्त्य साक्षात्कारार्ह नहीं है, अतः यह ज्ञान ऋत नहीं है। साक्षात् विज्ञान रूप जो ऋत है, वह नाम या वाक्य का अतीत हो सकता है। यह निश्चित है कि ऋत और सत्य में अर्थभेद है। यही कारण है कि एक ही वाक्य में इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है —ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋग्० १०।१९०।१), ऋतधीतयः······सत्यधर्माणः (ऋग्० ५।५१।२), द्र० ऋग्० ९।११३।४ भी। तै० उप० १।१ में ऋत–सत्य एक ही वाक्य में प्रयुक्त हुए हैं। शंकराचार्य कहते हैं— ऋतं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं······सत्यमिति वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः ······। तै० उप० १।९।१ में भी इन दोनों का एकत्र प्रयोग है। [**सम्पादक**]

होती है। समाधि स्वरूप-शून्य के समान होने पर भी समाधिपूर्वक जो प्रज्ञा होती है, वह प्रज्ञा साधारण ज्ञान की तरह शब्दसहाया हो सकती है; फलतः उस शब्दसहायक समाधिप्रज्ञा के द्वारा जब चित्त सदा पूर्ण रहता है, तब उस अवस्था को सवितर्का समापत्ति कहा जाता है। और जब शब्दादि से निर्मुक्त समाधि के अनुरूप, स्वरूपशून्य के समान ज्ञानावस्था के सब संस्कार संचित होकर चित्त को पूर्ण करते हैं, तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहा जाता है। अतः समाधि की जिस अवस्था में वैसे संस्कारों का यथार्थरूप से आधान होता है, वह निर्वितर्का है; और समाधिज ज्ञान को भाषा की सहायता से अनुभव करते रहना सवितर्का है।

शब्द उच्चारित होने से भी विकल्पहीन निर्वितर्क और निर्विचार ध्यान हो सकते हैं; जैसे—जब शब्दार्थ का ज्ञान नहीं रहता और शब्द केवल ध्वनिमात्र-रूप से ज्ञात होता है, तब; अथवा अभ्यन्तर में शब्द का उच्चारण-जनित जो प्रयत्न होता है केवल उसी पर जब लक्ष्य होता है तब उसमें विकल्पहीन ग्राह्य-ध्यान हो सकता है। और यदि लक्ष्य केवल उस प्रयत्नज्ञान के ग्रहण में अथवा ग्रहीता में रहे, तो उस प्रकार के शब्दोच्चारण काल में भी विकल्पहीन ध्यान होता है।

४३ (४) निर्वितर्का समापत्ति का जो विषय है अर्थात् निर्वितर्का में स्थूल विषय का जिस प्रकार ज्ञान होता है, वही स्थूल का चरम सत्यज्ञान है। स्थूल विषय इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म रीति से नहीं जाने जा सकते। कारण, चित्त-इन्द्रिय को सम्यक् स्थिर कर तथा विकल्पशून्य कर निर्वितर्क ज्ञान होता है, अतः वह स्थूल-विषयक चरम सत्यज्ञान है। सांख्यमत में सभी दृश्य पदार्थ सत् हैं, पर विकारशील हैं। विकारशील होने के कारण वे भिन्न-भिन्न रूप से सत् होकर ज्ञात होते रहते हैं। वे कभी असत् नहीं होते तथा असत् थे भी नहीं; यही कारण है कि वे हैं—यह सदा के लिए ही सत्य है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर जो जिस परिस्थिति में सद्रूप से ज्ञात होता है, वह उस परिस्थिति में सत्य है। अर्थात् 'वे उस दशा में सत् हैं' यह वाक्य सत्य है।

किसी एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ समझना विपर्यय या मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ असत् नहीं। स्थूल पदार्थ ज्ञानशक्ति की जिस अवस्था में साधारणतः सत् रूप से ज्ञात होते हैं, वह अवस्था अत्यन्त चञ्चल तथा समल होती है; अतः साधारण अवस्था में प्रायः एक पदार्थ का अन्य रूप से ज्ञान होता है या मिथ्या ज्ञान होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधि स्थूलविषयिणी ज्ञानशक्ति की अत्यन्त स्थिर तथा स्वच्छ अवस्था है, अतः उसमें जो ज्ञान होता है वह तद्विषयक चरम सत्यज्ञान है।

अपेक्षाकृत सूक्ष्मज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान हटने पर ही, यह सूक्ष्म ज्ञान सत्य है और पहला ज्ञान मिथ्या था, ऐसा निश्चय होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधिज ज्ञान चूँकि (स्थूल विषय के सम्बन्ध में) सूक्ष्मतम ज्ञान होता है, इसलिए वह बाधित होने योग्य नहीं होता। यही कारण है कि वह उस विषय का चरम सत्य ज्ञान है।

सत्य का स्वरूप विचार्य है। जिस वाक्य और ज्ञान का विषय यथार्थ है, वह वाक्य या ज्ञान सत्य होता है। सत्य व्यवहारसम्बन्धी होने पर व्यावहारिक सत्य एवं परमार्थ-सम्बन्धी होने पर पारमार्थिक सत्य कहलाता है। दोनों ही सत्य आपेक्षिक भी हो सकते हैं, अनापेक्षिक भी। किसी अवस्था की अपेक्षा करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान और उस का प्रतिपादक वाक्य—ये दो आपेक्षिक सत्य हैं। उत्कृष्ट इन्द्रिय अर्थात् ज्ञानशक्ति और उसके अधिष्ठान की अपेक्षा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उत्कृष्ट सत्यज्ञान है। इसमें भी तत्त्वसम्बन्धीय ज्ञान चरमसत्य ज्ञान है। चूँकि समाधि में करणों का चरम स्थैर्य एवं निर्मलता होती है, इसलिये एकाग्रभूमि में जात समाधि से जो प्रज्ञा होती है, उसका उत्कर्ष ही चरम है। तत्त्वविषयक आपेक्षिक सत्य परमार्थ का उपायस्वरूप है, अतः उसको पारमार्थिक सत्य कहा जाता है। परमार्थ सत्य का जो उपेयभूत या लक्ष्य है, वह कूटस्थ अविकारी द्रष्टा पुरुष है, अतः तद्विषयक ज्ञान अनापेक्षिक है। यह अनापेक्षिक नित्यवस्तुविषयक ज्ञान भी दो प्रकार का है—परिणामी-नित्य-वस्तु-विषयक और अपरिणामी-नित्य-वस्तु-विषयक (प्रथम का सम्बन्ध त्रिगुण से और द्वितीय का सम्बन्ध द्रष्टा से है) [भास्वती टीका १।४३ के अनुसार]

जो वैनाशिक बौद्ध बाह्य पदार्थों को मूलतः शून्य वा असत् कहते हैं उनकी अयुक्तता भाष्यकार दिखा रहे हैं। पाठकों के स्पष्ट बोध के लिए पहले पदों के अर्थ व्याख्यात हो रहे हैं। एक-बुद्धयुपक्रम वा एक-बुद्ध्यारम्भक अर्थात् जो 'यह एक' इस प्रकार की बुद्धि का आरम्भक या ज्ञापक है; अर्थात् यद्यपि प्रत्येक विषय बहुत अवयवों का समष्टि-भूत है तथापि वह 'यह एक अवयवी है' इस प्रकार बोधगम्य होता है।

अर्थात्मा=दृश्यस्वरूप, अर्थात् विषय की पृथक् सत्ता है, यह इससे ज्ञात होता है। यह विषय वैनाशिकों के मतानुसार विज्ञान-धर्म-मात्र अथवा शून्यात्मा नहीं है। अणुप्रचयविशेषात्मा=प्रत्येक विषय अणुओं की एक-एक समष्टि है जो अन्य विषय से भिन्न है।

निर्वितर्का समापत्ति के विषय जो गो आदि (चेतन) या घटादि (अचेतन) हैं, वे उक्त त्रिविध लक्षणान्तर्गत सत् पदार्थ हैं; अर्थात् अणुओं का समष्टिभूत

एक-एक विषय जो निर्वितर्का द्वारा प्रज्ञात होता है वह (बौद्धमत के अनुसार) अलीक पदार्थ नहीं, पर सत्यपदार्थ है।

४३ (५) भूतसूक्ष्म का संस्थान-विशेष, आत्मभूत आदि विशेषणों के द्वारा भाष्यकार ने उपर्युक्त अवयवी के विषय को विशद किया है। इन सब हेतुगर्भ विशेषणों द्वारा इस सम्बन्ध के सभी भ्रान्त मत निराकृत हुए हैं।

घट का उदाहरण देकर इसकी व्याख्या की जा रही है। एक घट शब्दादि परमाणुओं का संस्थानविशेष-स्वरूप है और वह शब्दादि परमाणुओं का साधारण धर्म है अर्थात् शब्दस्पर्शादि प्रत्येक तन्मात्र का ही घटाकार धर्म है। घट के जो घटरूप, घटरस, घटस्पर्श आदि धर्म हैं, वे एक दूसरे के अनपेक्षित एक-एक तन्मात्र के धर्म हैं। रूपधर्म स्पर्शादि की अपेक्षा नहीं रखता है, उसी प्रकार स्पर्शधर्म भी शब्दादि तन्मात्र की अपेक्षा नहीं करता है, इत्यादि। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि वस्तुतः घट शब्दरूपादि परमाणुओं से उत्पन्न कोई सम्पूर्ण अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, परन्तु वह उन परमाणुओं का 'आत्मभूत' या अनुगत द्रव्य है अर्थात् शब्दादि गुण जिस प्रकार परमाणु में हैं, उस प्रकार घट में भी हैं [२।१६ (३) द्रष्टव्य]। अतः घट के धर्म सचमुच परमाणु-धर्मों के अनुगत हैं। पाषाणमय पर्वत तथा पाषाण में जो सम्बन्ध रहता है, घट में तथा परमाणु में भी वही सम्बन्ध रहता है। और यद्यपि घट शब्दादि-परमाणु-युक्त है, तथापि वह ठीक परमाणु नहीं, पर परमाणु का संस्थान-विशेष है, यह 'व्यक्त फल के द्वारा अनुमित होता है'; अर्थात् 'घट' इस प्रकार के अनुभव से तथा घट के व्यवहार-द्वारा यह अनुमान होता है कि घट परमाणु मात्र नहीं है।

यह भी ज्ञातव्य है कि घट अपने व्यञ्जक निमित्तों के द्वारा (जैसे कुलालचक्र, कुम्भकार आदि) अञ्जित या व्यक्तरूप से प्रादुर्भूत होता है एवं यथायोग्य निमित्त (जैसा कि चूर्णीकरण) के द्वारा अन्य चूर्णरूप धर्म का उदय होने पर व्यक्त नहीं रहता है।

अतएव घट नामक अवयवी को और उसके समान समस्त स्थूल पदार्थों को (अतः स्थूल शब्दादि गुणों को) निम्नलिखित लक्षण से लक्षित करना उचित है:—एक, महान् या अणीयान् (अर्थात् बड़ा या अपेक्षाकृत छोटा), स्पर्शवान् या चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय, क्रियाधर्मक या अवस्थान्तरताप्रापक क्रियाशीलता से युक्त (यह कर्मेन्द्रिय के सहायक अनुभव का विषय है), अतः अनित्य या आविर्भाव तथा तिरोभाव से युक्त पदार्थ।

इन सब लक्षणों से लक्षित पदार्थ ही स्थूल अवयवी के रूप में हमारे द्वारा व्यवहृत होता है। यही निर्वितर्का समापत्ति का विषय है। निर्वितर्का समाधि द्वारा अवयवी जिस रूप से विज्ञात होता है वही उस विषय में सम्यक् ज्ञान है।

४३ (६) वैनाशिक बौद्धमत में घटादि पदार्थ रूपधर्म-मात्र हैं, तथा रूपधर्म मूलतः शून्य है; अतः घट आदि मूलतः अवस्तु होते हैं। इस प्रकार का मत सत्य होने पर 'सम्यक् ज्ञान' कुछ भी नहीं रहता। बौद्ध कहते हैं—**'रूपी रूपाणि पश्यति शून्यम्'**[१] अर्थात समापत्ति में रूपी रूप को शून्य देखते हैं। इस शून्य का अर्थ अगर अवस्तु हो, तो रूप को न देखना ही (अर्थात् ज्ञानाभाव ही) सम्यक् ज्ञान हो जाएगा, किन्तु यह सर्वथा असंगत है; और शून्य यदि ज्ञेय पदार्थ-विशेष हो तो वह अवयवी-विशेष होगा। अतएव सांख्यीय दर्शन ही सर्वथा न्याय्य होता है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

भाष्यम्—तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते।

या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवंस्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मम्, एतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति; प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते।

तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता इति ॥ ४४ ॥

४४। इसके द्वारा ही सूक्ष्मविषया सविचारा और निर्विचारा नामक समापत्ति भी व्याख्यात हो गई। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें (१) अभिव्यक्तधर्मवाले सूक्ष्मभूत में देश, काल तथा निमित्त के अनुभव द्वारा अवच्छिन्न जो समापत्ति होती है, वह सविचारा है। इस समापत्ति में भी एक बुद्धिरूप से ग्रहणयोग्य उदित-धर्म-विशिष्ट सूक्ष्मभूत आलम्बनस्वरूप होकर समाधिप्रज्ञा में आरूढ़ होता है।

और शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य, इन तीन धर्मों द्वारा अनवच्छिन्न (२) सर्वधर्मानुपाती, सर्वधर्मात्मक (सूक्ष्मभूत में) एवं सर्वतः—इस प्रकार की जो सर्वथा (या सब तरह से) समापत्ति होती है, वह निर्विचारा है। सविचारा में 'सूक्ष्मभूत ऐसा है' 'इस तरह से वह आलम्बन-स्वरूप हुआ है'—इस प्रकार का शब्दमय विचार समाधि-प्रज्ञा-स्वरूप को उपरञ्जित करता है। और जब

---

१. द्र० रूपी रूपानि पस्सति। अयं पठमो विमोक्खो (महापरिनिब्बानसुत्त); रूपी रूपानि पस्सति (धम्मसंगणि, प्रक० २४८; सम्पा० वापट)। [सम्पादक]

वह प्रज्ञा स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्रनिर्भासा होती है, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहा जाता है।

उक्त समापत्तियों में महद्वस्तुविषया समापत्ति (३) सवितर्का तथा निर्वितर्का होती है एवं सूक्ष्मवस्तुविषया समापत्ति सविचारा तथा निर्विचारा होती है। इस प्रकार इस निर्वितर्का के द्वारा अपनी और निर्विचारा की विकल्पशून्यता व्याख्यात हुई है।

टीका ४४ (१) सविचारा क्या है वह पहले (१।४१) कहा जा चुका है। भाष्यकार ने यहाँ पर विशेषरूप से जो कुछ कहा है, वह व्याख्यात हो रहा है। अभिव्यक्तधर्मक = जो घटादिरूप से अभिव्यक्त है वह; जो शान्त होने के कारण अनभिव्यक्त है, वह नहीं। अतः सूक्ष्मभूत में समाहित होने के लिए घटादि अभिव्यक्त धर्मों का ग्रहण करना ही पड़ता है।

देश, काल तथा निमित्त—घटादिधर्मों को लेकर उसके कारण सूक्ष्मभूत की उपलब्धि करनी हो, तो घटादि-लक्षित देश भी ग्राह्य होगा और उस तन्मात्र की उपलब्धि उस देश-विशेष के अनुभव से अवच्छिन्न हो कर होगी। और वह केवल वर्तमानकाल में उदित धर्म के अनुभव से अवच्छिन्न हो कर होगी; तात्पर्य यह है कि वह अतीत तथा अनागत से—अर्थात् तन्मात्र से जो हुआ है तथा हो सकता है, एतद्-विषयक ज्ञान से—रहित होगी।

निमित्त = जिस धर्म को लेकर जिस तन्मात्र की उपलब्धि होती है, वही निमित्त है। अथवा धर्मविशेष के आश्रय से तन्मात्रविशेष में जाने का भाव ही निमित्त होता है। 'निमित्त से अवच्छिन्न' का अर्थ है 'किसी एक विशेष निमित्त से उपलब्ध'। प्रज्ञा सर्वधर्म के अनुपाती होने पर निमित्त से अवछिच्न्न नहीं होती है[1]।

सविचार समाधि में विषय एक बुद्धि द्वारा व्यपदिष्ट होता है जैसा कि

---

१. विज्ञानभिक्षु के अनुसार निमित्त = परिणामप्रयोजक पुरुषार्थ-विशेष। इस प्रकार के निमित्त के साथ इस विषय का कुछ संपर्क नहीं है। मिश्र-मत में निमित्त = पार्थिव परमाणु के गन्धतन्मात्र से प्रधानतः एवं रस आदि की सहायता से गौणतः उत्पत्ति इत्यादि। यह आंशिक व्याख्यान है।

भाष्यकार ने निर्विचार के लक्षण में देश, काल और निमित्त की अनवच्छिन्नता दिखाई है। इसी से उक्त तीन पदार्थ स्पष्ट हुए हैं। दैशिक अनवच्छिन्नता = सर्वतः। कालिक अनवच्छिन्नता = शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म से अनवच्छिन्न। निमित्त द्वारा अनवच्छिन्न = सर्व धर्मों के अनुपाती सर्वधर्मात्मक। अतएव यह प्रज्ञा सर्वथा है। अगले उदाहरण में यह स्पष्ट होगा।

सवितर्क में होता है। अर्थात् 'यह इतर से भिन्न एक या एक जातीय अणु है' इत्यादि रूप से ज्ञात होता है। सविचारा समापत्ति की प्रज्ञा शब्दार्थज्ञान-विकल्प से संकीर्ण होती है, क्योंकि वह शब्दमय विचार से युक्त है। उस विचार के द्वारा 'एक एक प्रकार का किन्तु फिर भी वर्तमान' जो सूक्ष्मभूत है, तद्विषयक प्रज्ञा होती है।

४४ (२) पहले निर्विचारा समापत्ति का विषय कहकर पीछे भाष्यकार ने उसका स्वरूप कहा है; शब्दादि-विकल्पशून्य, स्वरूपशून्य की तरह, सूक्ष्मभूत-मात्रनिर्भास समाधि का जो संस्कार है, यदि उससे या उसकी स्मृति से सूक्ष्मभूत-विषयक प्रज्ञा युक्त हो तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहा जाता है।

सविचार में जिस प्रकार देशविशेष से अवच्छिन्न विषय की प्रज्ञा होती हैं, इसमें उस प्रकार नहीं, पर सार्वदैशिक रूप से प्रज्ञा होती है। और, इस प्रकार वर्तमान कालमात्र में उदित ज्ञान-द्वारा अवच्छिन्न न होकर भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीन अवस्थाओं के क्रम के बिना ही प्रज्ञा होती है एवं किसी एक धर्मरूप निमित्तविशेष के द्वारा अवच्छिन्न न होकर प्रज्ञा सर्वधार्मिक होती है। निर्वितर्का समापत्ति जैसा शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्प से हीन है, विचार के अभाव से निर्विचार भी वैसा है। सर्वधर्मानुपाती=सूक्ष्म विषय के जितने परिणाम हो सकते हैं उन सब धर्मों में निर्बाध रूप से उत्पन्न होने की शक्ति से युक्त प्रज्ञा।

४४ (३) समापत्तियों के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

(प्रथम) सवितर्का समापत्ति :—सूर्य एक स्थूल आलम्बन है। इसमें समाधि लगाने से सूर्यमात्र-निर्भासा चित्तवृत्ति होगी तथा सूर्यसम्बन्धी सभी ज्ञान (उसके आकार, दूरत्व, उपादान आदि का सम्यक् ज्ञान) होंगे। वह ज्ञान शब्दादि से संकीर्ण होगा, यथा—सूर्य गोल है, उसका दूरत्व इतना है, इत्यादि। इस प्रकार के शब्दार्थज्ञान-विकल्प से संकीर्णा तथा स्थूल-विषयिणी प्रज्ञा के द्वारा जब चित्त पूर्ण रहता है–इस प्रकार के ज्ञान से चित्त जब सदा उपरञ्जित रहता है–तब उसे सवितर्का समापत्ति कहते हैं।

(द्वितीय) निर्वितर्का समापत्ति :—सूर्य में समाहित होने से सूर्य का रूपमात्र निर्भासित होगा। केवल वह रूपमात्र ज्ञान-गोचर रहने से सूर्यसम्बन्धी अन्य विषयों की (नाम आदि की) विस्मृति हो जाएगी। उसी प्रकार अन्य विषय से शून्य (अतः शब्द, अर्थ, ज्ञान तथा विकल्प की संकीर्णता से शून्य) सूर्यरूपमात्र को स्वरूपशून्य के समान होकर ध्यान करने पर ठीक जिस प्रकार का भाव होता है, वह भावमात्र निर्वितर्क प्रज्ञान है। सभी स्थूल पदार्थों को इस प्रकार देखने पर योगी बाह्य द्रव्य को केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन गुणों से युक्त ही देख पायेंगे। वाक्यमय चिन्तन से उत्पन्न जिन व्यावहारिक गुणों का

बाह्य पदार्थ में आरोप करके लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है, उसकी भ्रान्ति उस समय योगी को हृदयंगम होगी। स्थूल द्रव्यों में से केवल शब्दादि पाँच गुण विकल्पशून्य भाव से उस समय प्रज्ञारूढ़ होंगे। उस प्रकार की प्रज्ञा से पूर्ण चित्त की अवस्था को अर्थात् जो केवल उस प्रकार की प्रज्ञा के भाव से समापन्न हो, उस भाव को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। यही स्थूल भूत का चरम साक्षात्कार है। इसके द्वारा स्त्री, पुत्र, काञ्चन आदि से संबन्धित लौकिकमोहकर दृष्टि सम्यक्‌रूपेण हट जाती है। कारण यह है कि तब स्त्री आदि केवल रूपरस आदि के समावेश रूप में ही साक्षात्कृत होते हैं तथा सदा उपलब्ध होते रहते हैं। स्थूलविषयक वाक्यहीन चिन्तन निर्वितर्क ध्यान है। उस प्रकार के ध्यान से जब चित्त पूर्ण रहता है तव उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं।

(तृतीय) सविचारा समापत्ति :—निर्वितर्का के विकल्पशून्य ध्यान द्वारा सूर्यरूप का साक्षात् करके उसकी सूक्ष्म अवस्था की उपलब्धि करने की इच्छा से प्रक्रिया-विशेष द्वारा[1] चित्तेन्द्रियों को स्थिरतर से स्थिरतम करने पर योगी को सूर्यरूप की परम सूक्ष्मावस्था की उपलब्धि होती है। यही रूपतन्मात्र-साक्षात्कार होता है। आरम्भ में श्रुतानुमानपूर्वक 'भूत का कारण तन्मात्र हैं', यह जानकर, उस विचार के द्वारा चित्त को स्थिर करके सूक्ष्मभूत की उपलब्धि की ओर उसको प्रवर्तित करना पड़ता है; यही कारण है कि सविचारा समापत्ति शब्दार्थज्ञान-विकल्प से संकीर्ण है। यह देश, काल और निमित्त से अवच्छिन्न होकर होती है। अर्थात् सूर्य की स्थिति के देश में (सर्वत्र नहीं), सूर्य के वर्तमान या व्यक्त रूप-द्वारा (अतीत, अनागत रूप द्वारा नहीं) तथा सूर्य के चक्षु से ग्राह्य ज्योतिधर्म रूप निमित्त की सहायता से यह प्रज्ञा होती है।

रूपतन्मात्र का साक्षात्कार करने पर योगी नील, पीत आदि असंख्य रूपों में से केवल एकाकार रूप-परमाणु का ही प्रत्यक्षानुभव करते हैं। शब्दादि के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। बाह्य विषय से हमको जो सुख, दुःख तथा मोह होते हैं, वे स्थूल विषय के अवलम्बन से होते हैं; क्योंकि स्थूल विषय के नाना भेद हैं एवं उन भेदों से ही सुखकरत्व आदि उद्‌भूत होते हैं। यही कारण

---

१. दो प्रकार से सूक्ष्मावस्था में पहुँचा जाता है। प्रथम, ध्येय ग्राह्य विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अंश में चित्त का समाधान करके अन्त में परमाणु में पहुँचा जाता है। द्वितीय, इन्द्रियों को क्रमशः अधिकतर स्थिर करते-करते जब ये अत्यन्त स्थिर हो जाएँ—जिससे अधिक स्थिर होने पर बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है—तब सूक्ष्मतर से भी सूक्ष्मतम जिस विषय का ज्ञान होता है, वही परमाणु है। शब्दादि गुणों की सूक्ष्म अवस्था ही परमाणु है, यह स्मरण रखना चाहिए।

है कि एकाकार-सूक्ष्म विषय की उपलब्धि होने पर वैषयिक सुख, दुःख तथा मोह सम्यक् रूप से दूर हो जाते हैं।

'यह सुखादिशून्य तन्मात्र' 'इसकी इस प्रकार उपलब्धि करनी चाहिए' इत्यादि शब्दादिविकल्पों से संकीर्ण प्रज्ञा के द्वारा जब चित्त पूर्ण रहता है तब उस अवस्था को सूक्ष्म-भूत-विषयक सविचारा समापत्ति कहा जाता है।

केवल तन्मात्र ही सविचारा समापत्ति का विषय नहीं होता है। तन्मात्र, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त—ये सभी सूक्ष्म पदार्थ सविचारा के विषय हैं।

(चतुर्थ) निर्विचारा समापत्ति :—सविचारा में कुशलता होने पर जब शब्दादि की संकीर्ण स्मृति हट जाती है तब केवल सूक्ष्म विषयमात्र की निर्भासक समाधि होती है। इस प्रकार के विकल्पहीन ध्येयभावों में चित्त जब पूर्ण रहता है, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते हैं।

निर्विचारा देश, काल तथा निमित्त से अनवच्छिन्न होकर निष्पन्न होती है। अर्थात् वह सर्वदेशस्थ, सर्वकालव्यापी विषय की एवं साथ ही सर्वधर्मों की भी निर्भासक है। सविचारा में धर्मविशेष को निमित्त कर उसके नैमित्तिक-स्वरूप एक-विषय की प्रज्ञा होती है। निर्विचारा में सर्वधर्मों का एक साथ ज्ञान होने के कारण पूर्वोत्तर या निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं रहता। यही निमित्त से अनवच्छिन्न होने का अर्थ है।

सूक्ष्मभूतमात्र-निर्भासा निर्विचारा समापत्ति ग्राह्य-विषयिका है। इन्द्रियगत (मन को भी इन्द्रिय ही मानना पड़ेगा) प्रकाशशील अभिमान (अहंकार)-विषयिणी वा आनन्दमात्र-विषयिणी समापत्ति ग्रहणविषयिका है। इन्द्रिय के कारणभूत अस्मिता नामक अभिमान इसका विषय है और अस्मीतिमात्र (अस्मितामात्र)-भाव-विषयिणी समापत्ति ग्रहीतृविषयक निर्विचारा है।

अलिङ्ग वा अव्यक्त प्रकृति को ध्येय विषय कर निर्विचारा समापत्ति नहीं होती। कारण यह है कि अव्यक्त ध्येय आलम्बन नहीं होता है, प्रत्युत वह लीन अवस्था है। महाभारत में (अश्वमेधपर्व) कहा है—**'अव्यक्तं क्षेत्रलिङ्गस्थं गुणानां प्रभवाप्ययम्। सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च॥" (४३।३७)।'**

कोई समाधि 'अव्यक्तमात्र-निर्भास' नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की प्रज्ञा भी नहीं है। परन्तु प्रकृतिलय को 'अव्यक्ततापत्ति' कहा जा सकता है; पर वह समापत्ति के समान सम्प्रज्ञात योग नहीं होता, फिर भी वह अव्यक्त-विषयक सविचार समापत्ति हो सकती है। चित्त की सम्यक् लीनावस्था प्राप्त होने

---

१. 'अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं' ऐसा भी पाठ है। 'क्षेत्रलिङ्गस्थं' पाठ में क्षेत्र-लिङ्ग स्थूल-सूक्ष्मशरीर का वाचक है, ऐसा नीलकण्ठ कहते हैं। [**सम्पादक**]

पर उसकी अनुस्मृति से अव्यक्त-विषयक जो सविचारा प्रज्ञा होती है, वही अव्यक्तविषयक सविचारा समापत्ति है (सांख्यतत्त्वालोक के अन्तर्गत तत्त्व-साक्षात्कार प्रकरण देखिए)[1]।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रम्, तैजसस्य रूपतन्मात्रम्, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः, अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः, लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः, न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति।

नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति ? सत्यम्, यथा लिङ्गात् परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य; किन्तु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥४५॥

४५। सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्ग (१) या अव्यक्त में पर्यवसित होता है। सू०

भाष्यानुवाद—गन्धतन्मात्र (रूप अवस्था) पार्थिव अणु का (२) सूक्ष्म विषय होता है। रसतन्मात्र जलीय अणु का, रूपतन्मात्र तैजस का, स्पर्शतन्मात्र वायवीय का, और शब्दतन्मात्र आकाश का सूक्ष्म विषय है। अहंकार तन्मात्र का और लिङ्गमात्र (या महत्तत्त्व) अहंकार का सूक्ष्म विषय है। लिङ्गमात्र का सूक्ष्म विषय अलिङ्ग है। अलिङ्ग से और अधिक सूक्ष्म कोई नहीं है।

यदि कहो कि पुरुष उससे सूक्ष्म है ? ठीक है, पर लिङ्ग से अलिङ्ग की सूक्ष्मता जैसी है पुरुष की सूक्ष्मता वैसी नहीं; क्योंकि पुरुष लिङ्गमात्र का अन्वयीकारण (उपादान) नहीं होता, किन्तु उसका हेतु या निमित्त कारण (३) होता है। अतः प्रधान में ही सूक्ष्मता निरतिशयत्व को प्राप्त हुई है, इस प्रकार स्पष्टरूप से कहा गया है।

टीका ४५ (१) अलिङ्ग = जो किसी में लीन होता है, वह लिङ्ग है; जिसका लय नहीं है, वह अलिङ्ग होता है। अथवा जिसका कोई कारण न होने से जो किसी का भी (अपने कारण का) अनुमापक (ज्ञापक) नहीं होता है, वही अलिंग है। **'न किंचिल्लिङ्गयति गमयतीति अलिङ्गम्'** (चन्द्रिका)। प्रधान ही अलिङ्ग है।

---

१. सांख्यतत्त्वालोक ग्रन्थ के बंगला परिशिष्टों में 'तत्त्वसाक्षात्कार' एक प्रकरण है। इसमें तत्त्वों के साक्षात्कार के उपायों के साथ ही साक्षात्कारकालीन बोध के विषय में विशेष बात कही गई है। [**सम्पादक**]

४५ (२) पार्थिव अणु दो प्रकार का है। प्रथम प्रचित अवस्था है जो नाना प्रकार के गन्धरूप से अवभात होता है; दूसरी सूक्ष्म, नाना-भाव से शून्य, गन्धमात्र अवस्था है। अतः गन्धतन्मात्र ही पार्थिव अणु का सूक्ष्म विषय है। जल आदि अणुओं के विषय में भी इसी प्रकार का नियम है।

सभी तन्मात्र इन्द्रियगृहीत–ज्ञानस्वरूप होते हैं। इस प्रकार के ज्ञान का बाह्य हेतु विराट् पुरुष का भूतादि नामक अभिमान (अहंकार) है। किन्तु शब्द आदि वस्तुतः अन्तःकरण के विकार-विशेष हैं। तन्मात्रज्ञान कालिक प्रवाह-रूप है (क्योंकि परमाणु में दैशिक विस्तार स्फुट भाव से नहीं रहता है)। ज्ञान कालिकप्रवाहस्वरूप होने पर भी उसमें चित्तक्रिया स्फुट रूप से रहा करती है। अतः तन्मात्रज्ञान क्रियाशील अन्तःकरणमूलक या अहंकार-मूलक है। अतएव तन्मात्र का सूक्ष्म विषय अहंकार है। ज्ञान के विकार या अवस्थान्तर के प्रवाह का अवलम्बन करके अथवा मन के विकारप्रवाह के ज्ञान का अवलम्बन करके ('मैं जान रहा हूँ, जान रहा हूँ'–इस प्रकार) अहंकार की उपलब्धि करनी पड़ती है। अहंकार का सूक्ष्म विषय महत्तत्त्व या अस्मितामात्र है। महत् का सूक्ष्म विषय प्रकृति होता है।

४५ (३) अर्थात् प्रकृति जिस प्रकार विकार प्राप्त कर महदादि रूप में परिणत होती है, पुरुष उस प्रकार परिणत नहीं होते। परंतु पुरुष के द्वारा उपदृष्ट न होने पर प्रकृति का व्यक्त परिणाम नहीं होता, अतः पुरुष महदादि का निमित्तकारण है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः; तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धा उपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

४६। वे ही सबीज समाधि हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—वे चार प्रकार की समापत्तियाँ बहिर्वस्तुबीजा (१) हैं, अतएव वे समाधि होने पर भी सबीज समाधि हैं। इन चारों में स्थूल विषय पर सवितर्का तथा निर्वितर्का और सूक्ष्म विषय पर सविचारा तथा निर्विचारा—इस प्रकार समाधि के चार भेद गिने गए हैं।

टीका ४६ (१) बहिर्वस्तु=समस्त दृश्य वस्तु (ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य) या प्राकृत वस्तु। चूँकि समापत्तियाँ दृश्य पदार्थों का अवलम्बन करके उत्पन्न होती हैं, अतः वे बहिर्वस्तुबीज कहलाते हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते, तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोकस्तथा चोक्तम्—"प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यःशोचतो जनान्। भूमिष्ठानिव शैलस्थःसर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति" ॥ ४७ ॥

४७। निर्विचार का वैशारद्य होने से अध्यात्मप्रसाद (१) होता है। सू०

भाष्यानुवाद--अशुद्धि (रजस्तमो-बाहुल्य) रूप आच्छादकमल से मुक्त, प्रकाशस्वभाव बुद्धिसत्त्व का जो रजस्तम से अनभिभूत, स्वच्छ, स्थितिप्रवाह है, वही वैशारद्य है। जब निर्विचार समाधि में इस प्रकार का वैशारद्य उत्पन्न होता है, तब योगी का अध्यात्मप्रसाद होता है अर्थात् यथाभूत-वस्तु-विषयक, क्रमहीन या युगपत् सर्वप्रकाशक स्फुट प्रज्ञालोक या साक्षात्कार-जनित विज्ञानालोक होता है (२)। इस विषय में यह कहा गया है कि पर्वतस्थ पुरुष भूमिष्ठ व्यक्ति को जिस प्रकार देखते हैं, प्रज्ञारूप प्रासाद पर चढ़े हुए स्वयं अशोच्य, प्राज्ञ व्यक्ति समस्त शोकाकुल व्यक्तियों को उसी प्रकार देखते हैं।

टीका ४७ (१) (२) अध्यात्मप्रसाद। अध्यात्म=ग्रहण वा करणशक्ति; उसका प्रसाद या नैर्मल्य। रजस्तमोमल से शून्य होने पर बुद्धि में प्रकाशगुण का जो उत्कर्ष होता है, वही अध्यात्मप्रसाद है। बुद्धि ही प्रधानतया आध्यात्मिक भाव है, अतः उसका प्रसाद होने पर ही सभी करण प्रसन्न हो जाते हैं। ज्ञानशक्ति का चरम उत्कर्ष होने के कारण उस समय जो कुछ प्रज्ञात होता है, वह संपूर्ण सत्य होता है; और वह ज्ञान साधारण अवस्था के ज्ञान के समान क्रमशः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसमें ज्ञेय विषय के सभी धर्म एकसाथ प्रकाशित होते हैं। फिर भी यह प्रज्ञा श्रुतानुमानजात प्रज्ञा नहीं है, किन्तु साक्षात्कार-जनित है।

अनुमान और आगम का ज्ञान सामान्यविषयक है, यह कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष विशेषविषयक है; यह समाधिप्रत्यक्ष का चरम उत्कर्ष होता है; अतः इससे सभी चरम विशेषों का ज्ञान होता है। महर्षियों ने इस प्रकार की प्रज्ञा प्राप्त कर जो उपदेश किया है वही श्रुति है। पहले उस अलौकिक विषय का प्रज्ञान प्राप्त कर लौकिक दृष्टि से अनुमान द्वारा किस प्रकार अलौकिक विषय

---

१. शान्तिपर्व १७।२० तथा धर्मपद (अप्रमादवर्ग २) में यह श्लोक पाटभेद के साथ मिलता है। [सम्पादक]

का सामान्यज्ञान होता है, ऋषिगण यह भी प्रदर्शित कर गये हैं[1]; यही मोक्ष-दर्शन है।

निष्कर्ष यह है कि निर्विचारा समापत्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा श्रुत और अनुमान जनित साधारण प्रज्ञा अत्यन्त पृथक् पदार्थ हैं। पङ्किलजल और तुषारजात जल में जैसा भेद है, इन में भी वैसा भेद है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति; अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्त्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति। तथा चोक्तम्—"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥"[2] ॥ इति ॥ ४८ ॥

४८। उस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है उसका नाम ऋतंभरा है। सू०

भाष्यानुवाद—अध्यात्मप्रसाद होने से समाहितचित्त व्यक्ति को जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतंभरा या सत्यपूर्णा है। वह प्रज्ञा अन्वर्था (नामानुसारी अर्थ से युक्त) है। वह सत्य को ही धारण करती है, उसमें विपर्यास की गन्ध भी नहीं है। इस पर यह उक्त हुआ है—"आगम, अनुमान और आदरपूर्वक ध्यानाभ्यास–इन तीन प्रकारों से प्रज्ञा को भली भाँति उत्पन्न कर (योगी) उत्तम योग (वा निर्बीज समाधि) प्राप्त करते हैं" (१)।

टीका ४८ (१) श्रुति भी कहती है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन या ध्यान के द्वारा साक्षात्कार या दर्शन होता है (बृहदारण्यक २।४।५)। वास्तव में श्रवण करके यदि जान ले कि 'आत्मा बुद्धि से पृथक् होता है', अथवा 'समूचे तत्त्व ऐसे ऐसे हैं', अथवा 'इस प्रकार की अवस्था मोक्ष (दुःखनिवृत्ति) है' तो

---

१. ग्रन्थकार स्वामीजी का यह कथन एक मौलिक दृष्टिकोण का प्रकाशक है। जिस आत्मज्ञान का प्रतिपादन श्रुति में है आदर्शनिक पद्धति से, उसी आत्मज्ञान का प्रतिपादन दार्शनिक पद्धति से कपिल आदि ने किया है, अर्थात् आत्मज्ञान का कपिलादि द्वारा जो प्रतिपादन किया गया, वही 'मोक्षदर्शन' है। आत्मज्ञान के साधनकाण्ड का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन जिन ऋषियों ने किया, पतञ्जलि उनमें एक हैं। अतः औपनिषद मत एवं सांख्ययोगमत में तत्त्वतः कोई विरोध नहीं है। [**सम्पादक**]

२. इस श्लोक का आकरस्थल अज्ञात है। यह अनेक आचार्यों द्वारा उद्धृत हुआ है; द्र० न्यायकुसुमाञ्जलि की उदयनकृतटीका १।३। [**सम्पादक**]

उससे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। इस प्रकार के अनुमान द्वारा पुरुष और अन्य तत्त्वों की सत्ता का निश्चय होने पर भी केवल उसी से दुःखनिवृत्ति होने की कुछ भी आशा नहीं होती।

पर 'मैं शरीर आदि नहीं हूँ', 'बाह्य विषय दुःखमय तथा त्याज्य है', 'वैषयिक संकल्प करूँगा नहीं' इत्यादि विषयों की बारबार भावना या ध्यान करते करते जब उनकी सम्यक् उपलब्धि हो जाती है तभी मोक्ष का प्रकृत साधन होता है। 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसे यदि सौ युक्तियों से कोई जान भी जाए, और शरीर के दुःख-सुखों से वह विचलित हो उठे, तो उसके ज्ञान एवं अन्य अज्ञानी व्यक्तियों के ज्ञान में भेद ही क्या है ? दोनों ही समान रूप से बद्ध हैं।

निर्विचार समाधि के द्वारा विषय का जो ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा उत्तम ज्ञान और किसी से नहीं हो सकता। अतएव यह सम्पूर्णतया सत्यज्ञान होता है। ऋत का अर्थ वह सत्य है जो साक्षात् अनुभूत है। (१।४३)

———

भाष्यम्—सा पुनः—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वाद् ॥ ४९ ॥

श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम्, न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्, कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति। तथानुमानं सामान्यविषयमेव, यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न भवति गतिरित्युक्तम्।

अनुमानेन च सामान्येनोपसंहार स्तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति; न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्, न चास्य विशेषस्याप्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा, पुरुषगतो वा; तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४९ ॥

भाष्यानुवाद—और वह प्रज्ञा—

४९। विशेष-विषया होने के कारण श्रुत और अनुमान से जात प्रज्ञा से भिन्न-विषया है। सू०

श्रुत=आगमविज्ञान (१।७ सूत्र द्रष्टव्य) है, जो सामान्य-विषयक है। आगम से कोई विषय विशेषरूप से अभिहित नहीं हो सकता है, क्योंकि शब्द विशेष अर्थ में संकेत किया हुआ नहीं होता है। उसी प्रकार अनुमान भी सामान्यविषयक है; जहाँ (देशान्तर) प्राप्ति रूप हेतु मिलता है, वहीं गति (१) अनुमित होती है; और वह हेतु जहाँ नहीं मिलता, वहाँ गति का अनुमान नहीं

होता, यह पहले (१।७ भाष्य में) कहा गया है।[1] अतः अनुमान के द्वारा सामान्यमात्र का उपसंहार होता है। अतएव श्रुतानुमान का कोई भी विषय विशेष नहीं होता तथा इस सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का लोकप्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं होता है। किन्तु इस अप्रामाणिक (आगम, अनुमान और लोकप्रत्यक्ष इन तीन प्रमाणों से शून्य) विशेष रूप अर्थ की सत्ता नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सूक्ष्मभूतगत या पुरुषगत (ग्रहीतागत) यह विशेष समाधिप्रज्ञा-द्वारा पूर्णतया ग्राह्य होता है। अतएव विशेषार्थ के कारण (सामान्यविषया) श्रुतानुमान प्रज्ञा से वह (ऋतम्भरा प्रज्ञा) भिन्न विषयवाली है।

टीका ४९ (१) अर्थात् जितने अंश का हेतु मिलता है, उतने ही का ज्ञान होता है, अन्य अंश का नहीं। धूमरूप हेतु देखकर 'अग्नि है' इतने का ही ज्ञान होता है, पर अग्नि के आकार-प्रकार आदि जो विशेषताएँ हैं उनके आनुमानिक ज्ञान के लिए असंख्य हेतु जानना आवश्यक है। लेकिन उन्हें जानने की संभावना नहीं है, अतः अनुमान द्वारा अल्पांश मात्र का ही ज्ञान होता है।

श्रुतज्ञान तथा आनुमानिक ज्ञान शब्दों की सहायता से होते हैं। किन्तु सब शब्द, विशेषतः गुणवाची शब्द, जाति के या सामान्य के नाम हैं। अतः शब्दजन्य ज्ञान सामान्यज्ञान है।

भाष्यम्—समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते; व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति; प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते, ततःसमाधि-

१. अन्य व्याख्याकार भाष्यवाक्य का यह अर्थ करते हैं—जहाँ प्राप्ति (=देशान्तर संयोग) है, वहाँ गति है; जहाँ गति नहीं है, वहाँ प्राप्ति नहीं है—इस रूप से अनुमान प्रदर्शित होता है (पूर्णचन्द्रवेदान्त-चुञ्चुकृत अनुवाद; बंगला से अनूदित)। यह अनुवाद शुद्ध नहीं है। भाष्य का वाक्य समव्याप्ति के अनुसार है, विषयव्याप्ति के अनुसार नहीं, जब कि वेदान्तचुञ्चुजी का अनुवाद विषमव्याप्ति के अनुसार है। अर्वाचीन न्यायग्रन्थ में विषमव्याप्ति ही उदाहृत होती है और इसके संस्कार के कारण ही उन्होंने भाष्यवाक्य का असंगत अनुवाद किया है। भाष्यकार ने समव्याप्ति का उदाहरण क्यों दिया, इस पर विशद विचार के लिए मेरे प्रकाशनीय The Vyāsabhāṣya—A Study ग्रन्थ द्रष्टव्य है। [सम्पादक]

प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते; ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति।

कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति? न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेश-क्षयहेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति, चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति; ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

भाष्यानुवाद—समाधिप्रज्ञा प्राप्त होने पर योगी के प्रज्ञाकृत नये नये संस्कार उत्पन्न होते हैं—

५०। तज्जात संस्कार (१) अन्य संस्कारों का प्रतिवन्धी है ॥ सू०

समाधिप्रज्ञा से प्रसूत संस्कार व्युत्थान-संस्कार के आशय को रोकता है। व्युत्थान-संस्कार अभिभूत हो जाने पर उनसे जात प्रत्यय उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रत्ययों के निरुद्ध होने पर समाधि उपस्थित होती है। उसी से पुनः समाधि-प्रज्ञा और समाधि-प्रज्ञा से प्रज्ञा-कृत संस्कार (उत्पन्न होता है)। इस प्रकार नये-नये संस्काराशय उत्पन्न होते हैं। समाधि से प्रज्ञा और प्रज्ञा से प्रज्ञासंस्कार उत्पन्न होता है। संस्कार की यह अधिकता चित्त को अधिकार–विशिष्ट (२) क्यों नहीं करती? ये प्रज्ञाकृत संस्कार क्लेशक्षयहेतु होने के कारण चित्त को अधिकार-विशिष्ट नहीं करते हैं। वे चित्त को स्वकार्य से निवृत्त कर देते हैं। चित्तचेष्टा (विवेक-) ख्याति तक ही रहा करती है (३)।

टीका ५० (१) चित्त का कोई ज्ञान या चेष्टा होने से उस पर जो प्रभाव (छाप) या धृत-भाव (impression) रह जाता है उसे संस्कार कहा जाता है। ज्ञानसंस्कार के अनुभव का नाम स्मृति और क्रियासंस्कार के उत्थान का नाम स्वारसिक (=अपने आप होने वाली) चेष्टा (automatic action) है। प्रत्येक ज्ञायमान ज्ञान और क्रियमाण कर्म संस्कार की सहायता से उत्पन्न होते हैं। साधारण देही-द्वारा पूर्व-संस्कार को पूर्णतया त्याग कर किसी भी विषय को जानने की या कोई कर्म करने की संभावना नहीं है।

सभी संस्कार दो भागों में विभक्त होते हैं—क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट अर्थात् अविद्यामूलक तथा विद्यामूलक। विद्या अविद्या की शत्रु है, इसलिए विद्या-संस्कार अविद्यासंस्कारों का नाश कर देते हैं। संप्रज्ञात-समाधि-जात प्रज्ञासमूह विद्या का उत्कर्ष है, और विवेक-ख्याति विद्या की चरम अवस्था है। अतः समाधिज प्रज्ञा के संस्कार अविद्यामूलक संस्कारों का समूल नाश करने में समर्थ हैं। सभी अविद्यामूलक संस्कार के क्षीण होने पर चित्त की सभी चेष्टाएँ भी क्षीण होती हैं, क्योंकि राग-द्वेष आदि अविद्याभेद ही साधारण चित्त-चेष्टा के हेतु होते हैं।

"ज्ञान की पराकाष्ठा वैराग्य है" इसे भाष्यकार अन्यत्र (१।१६) कह चुके हैं। अतः सम्प्रज्ञात योग की प्रज्ञा (तत्त्वज्ञान) और विवेकख्याति से विषय-वैराग्य ही सम्यक् सिद्ध होता है। ऐसे परवैराग्य का संस्कार व्युत्थान-संस्कार का प्रतिबन्धी है।

५० (२) अधिकार=विषय का उपभोग या व्यवसाय। साधारणतः चित्त संस्कार की सहायता से विषयाभिमुख होता है, अतएव संशय हो सकता है कि सम्प्रज्ञात संस्कार भी चित्त को अधिकारयुक्त करेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता। सम्प्रज्ञात संस्कार का अर्थ है—जिससे चित्त के विषयग्रहण का रोध होता हो, ऐसा क्लेश-विरोधी सत्यज्ञान का संस्कार। ऐसा संस्कार जितना प्रबल होगा उतना ही चित्त का कार्य रुद्ध होगा।

५० (३) संप्रज्ञान की चरम अवस्था रूप विवेकख्याति के उत्पन्न होने पर चित्त का व्यवसाय सम्यक् निवृत्त हो जाता है। उसके द्वारा सर्वदुःखों की आधारस्वरूपा विकारशीला बुद्धि और पुरुष या शान्त आत्मा के पार्थक्य की उपलब्धि होती है और फिर परवैराग्यद्वारा चित्त प्रलीन होने पर द्रष्टा का कैवल्य सिद्ध होता है।

भाष्यम्—किञ्चास्य भवति—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजःसमाधिः ॥ ५१ ॥

स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति। कस्मात्? निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति। निरोधस्थिति-काल-क्रमानुभवेन निरोधचित्त-कृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्।

व्युत्थान-निरोधसमाधि-प्रभवैः सह कैवल्य-भागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्याम्प्रकृताववस्थितायाम्प्रविलीयते, तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्त्तते। तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठः, अतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने वैयासिके समाधिपादः प्रथमः।

भाष्यानुवाद—और उस प्रकार के चित्त का क्या होता है?—

५१। उसका (सम्प्रज्ञान का) भी [संस्कारक्षय होने के कारण] निरोध होने पर सर्वनिरोध हो जाने से निर्बीज समाधि उत्पन्न होती है (१)। सू०

वह (निर्बीज समाधि) केवल सम्प्रज्ञात समाधि की ही विरोधी नहीं अपितु प्रज्ञाकृत संस्कारों की भी प्रतिबन्धी है, क्योंकि निरोध-जात (या पर-वैराग्य-जात) संस्कार सम्प्रज्ञात-समाधि के संस्कारों का नाश कर देते हैं।

निरोध-स्थिति का जो कालक्रम है उसके अनुभव से निरुद्धचित्त-कृत संस्कार का अस्तित्व अनुमानयोग्य होता है।

व्युत्थान-निरोध रूप संप्रज्ञात समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों और कैवल्य-भागीय (२) संस्कारों के साथ चित्त अपनी अवस्थित या नित्य प्रकृति में विलीन होता है। इस कारण से प्रज्ञासंस्कार चित्ताधिकार के विरोधी होते हैं, किन्तु चित्त-स्थिति के हेतु नहीं होते। इसका हेतु यह है कि अधिकार शेष हो जाने से कैवल्य-भागीय संस्कारों के साथ चित्त निवृत्त हो जाता है। चित्त निवृत्त होने पर पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठ होते हैं, अतः उन्हें शुद्धमुक्त कहा जाता है।

श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रीय-वैयासिक-सांख्यप्रवचन के
समाधिपाद का अनुवाद समाप्त।

टीका ५१ (१) संप्रज्ञात समाधि का या संप्रज्ञान का संस्कार तत्त्वविषयक है। तत्त्वसमूह के स्वरूप की प्रज्ञा होने के बाद दृश्यतत्त्व से पुरुष की भिन्नता-ख्याति तथा दृश्य की हेयता की चरमप्रज्ञा होने से परवैराग्य के द्वारा दृश्य की प्रज्ञा और उसके संस्कार भी हेय-पक्ष में पड़ते हैं। अतएव निरोधसमाधि का संस्कार संप्रज्ञान और उसके संस्कार का विरोधी या निवृत्तिकारी है।

निरोध प्रत्ययस्वरूप नहीं होता इसलिए उसका संस्कार कैसे होता है ?— ऐसी शङ्का हो सकती है। इसका समाधान यह है— निरोध सचमुच भग्न-व्युत्थान है, उसी के संस्कार होते हैं। जैसे, जगह-जगह पर टूटी हुई एक सरल रेखा की जो छाप है, उसे एक रेखा की भग्नावस्था भी कहा जा सकता है अथवा अरेखा की भग्नता भी। परवैराग्य के भी संस्कार हो सकते हैं। उसका कार्य है केवल निरोध को ले आना। वह चित्त को उठने नहीं देता है। वृत्तियों के लय और उदय के बीच में जो क्षणिक निरोध सदा हो रहा है, वही निरोध समाधि में बढ़ जाता है। तब प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति रूप धर्मों का नाश नहीं होता परन्तु पुरुषोपदर्शनरूप हेतु से उनकी जो विषम क्रिया हो रही थी वह (उस हेतु अर्थात् संयोग के अभाव से) नष्ट हो जाती है।

एक बार असंप्रज्ञात निरोध होने से ही वह सदा के लिए स्थायी नहीं होता, किन्तु वह अभ्यास के द्वारा बढ़ता रहता है; अतः उसका भी संस्कार होता है। उस संस्कार से संपादित चित्तलय को निरोधक्षण कहा जाता है। वह चित्त की परवैराग्यमूलक लीन अवस्था है। दृश्य-विराग सम्यक् सिद्ध होने पर तथा सदाकालीन निरोध का संकल्प पूर्वक निरोध करने पर चित्त पुनःउत्थित नहीं होता है। इस प्रकार निरोध करने की सामर्थ्य होने पर भी जो निर्माण-चित्त (द्र० ४।४) द्वारा भूतानुग्रह करने के लिए चित्त को निर्दिष्ट काल तक

निरुद्ध करते हैं उनका चित्त उस काल के बाद निर्माणचित्त के रूप में उठता है। ईश्वर इस प्रकार कल्पव्यापी निरोध कर कल्प के अन्त में, ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा भक्त संसारी पुरुषों का उद्धार करते हैं, यह योगसंप्रदाय का मत है। इस विषय की व्याख्या पहले की गयी है।

५१ (२) व्युत्थान की या विक्षिप्त अवस्था की निरोधरूप जो समाधि है वह संप्रज्ञात समाधि है; उसका संस्कार कैवल्यभागीय संस्कार अर्थात् निरोध-जात संस्कार है। भोग तथा अपवर्ग रूप अधिकार का जनक चित्त साधिकार होता है। अपवर्ग हो जाने पर अधिकार की समाप्ति होती है।

संप्रज्ञातजात संस्कार व्युत्थान को नष्ट करता है। विक्षिप्त-अवस्था रूप व्युत्थान सम्यक् दूर होने पर भी चित्त में संप्रज्ञान या विवेकख्याति रहती है। प्रान्तभूमिता (२।२७ सू०) प्राप्त होकर विषयाभाव में सम्प्रज्ञान (तथा उसका संस्कार) विनिवृत्त हो जाता है। संप्रज्ञान की विनिवृत्ति ही निर्बीज असंप्रज्ञात है। इस प्रकार निरोध के संपूर्ण हो जाने पर चित्त के लीन हो जाने की अवस्था को कैवल्य कहा जाता है।

अतः प्रज्ञा और निरोधसंस्कार चित्त के अधिकार या विषय-व्यापार के विरोधी हैं। इन दोनों के बल के अनुसार चित्त निरुद्ध होता है। सम्यक् निरोध और चित्त का अपने कारण में सदाकाल के लिए प्रलय (विनिवृत्ति)—ये दो एक ही बात हैं।

यद्यपि द्रष्टा सुख तथा दुःख के अतीत अविकारी पदार्थ हैं, तथापि चित्त निरुद्ध होने पर द्रष्टा को शुद्ध कहा जाता है और चित्त-निरोध-जनित दुःखनिवृत्ति के कारण द्रष्टा को मुक्त कहा जाता है। पुरुष को जो शुद्धमुक्त कहा जाता है, वह चित्त की बन्धनमुक्त स्थिति को देखकर ही कहा जाता है। द्रष्टा द्रष्टा ही हैं तथा रहते हैं; चित्त व्युत्थान को पाकर उपदृष्ट होता है और शान्त होने से उपदृष्ट नहीं होता; चित्त के इस भेद को लेकर ही लौकिक दृष्टि से पुरुष को बद्ध और मुक्त कहा जाता है।

पहला पाद समाप्त

साधनपादः

भाष्यम्—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्; तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद—समाहितचित्त योगी का योग उक्त हो चुका है; अब व्युत्थितचित्त साधक भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकता है, यह बताने के लिए यह (वक्ष्यमाण) सूत्र रचा जा रहा है—

१। तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान—ये क्रियायोग हैं (१)। सू०

अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना के द्वारा विचित्र (अर्थात् सहजभावापन्ना) तथा विषय-जाल-युक्त जो अशुद्धि (या योगान्तराय चित्तमल) है, वह तपस्या के बिना सम्यक् भिन्न अर्थात् विरल या छिन्न नहीं होती है। इसलिए साधनों में तप का उल्लेख किया गया है। चित्तप्रसादकर विघ्न-रहित तपस्या ही (योगियों द्वारा) सेव्य है, ऐसा (आचार्य लोग) मानते हैं। प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा मोक्षशास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय है। ईश्वरप्रणिधान = परमगुरु ईश्वर को समस्त कर्मों का अर्पण अथवा कर्मफलाकाङ्क्षा का त्याग।

टीका १ (१) योग या चित्तस्थैर्य को उद्देश्य कर जो क्रियाएँ की जाती हैं अथवा जो क्रियाएँ वा कर्म योग के गौण साधक होते हैं वे ही क्रियायोग हैं। वे कर्म प्रधानतः तीन प्रकार के हैं—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान।

तपस्या—विषयसुख का त्याग अर्थात् कष्टसहन के साथ जिन कर्मों से आपाततः सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना तप है। ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिसके द्वारा शारीर धातु की विषमता न होती हो एवं जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाता है। तपस्या आदि का विवरण २। ३२ सूत्र में देखिए।

क्रियारूप योग = क्रियायोग। अर्थात् योग या चित्तनिरोध को उद्देश्य कर कर्म करना क्रियायोग है। सचमुच तपस्या आदि (मौन, प्राणायाम, ईश्वर को कर्मफल का अर्पण इत्यादि) सहज क्लिष्ट कर्मों के निरोध के लिए प्रयत्न-स्वरूप होते हैं। तपस्या शारीर क्रियायोग है। स्वाध्याय वाचिक और ईश्वरप्रणिधान मानस क्रियायोग हैं। अहिंसा आदि वस्तुतः क्रियायोग नहीं हैं, पर क्रिया का अकरण या क्रिया को न करने के समान हैं। उनके संपादन में जो कष्ट का सहन होता है वही तपस्या के अन्तर्गत है।

भाष्यम्—स हि क्रियायोगः—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

स ह्यासेव्यमानःसमाधिम्भावयति क्लेशांश्च प्रतनू करोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद— वह क्रियायोग—

२। समाधि की भावना तथा क्लेशों का क्षय करने के लिए (अनुष्ठेय) है। सू०

क्रियायोग भलीभाँति (१) आचरित होने पर समाधि-अवस्था को उत्पन्न करता है और सब क्लेशों को प्रकृष्टरूप से क्षीण करता है। वह प्रक्षीणीकृत क्लेशों को प्रसंख्यानरूप अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के समान उत्पादक-शक्तिहीन कर देता है। क्लेशों के क्षीण होने पर इनसे अपरामृष्ट (अनभिभूत), बुद्धि तथा पुरुष की भिन्नताख्यातिरूप, सूक्ष्म योगजात प्रज्ञा गुणचेष्टाशून्यत्व के कारण लीन होने में समर्थ होती है।

टीका २ (१) क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि सभी करणों की राजस चञ्चलता और तामस जड़ता है। अतः अशुद्धि के क्षय से चित्त समाधि के अभिमुख होता है। अशुद्धि ही क्लेश की प्रबल अवस्था है, अतः अशुद्धि क्षीण होने पर क्लेश क्षीण हो जाता है। क्लेशसमूह क्षीण होने पर नाश के योग्य होते हैं। सम्यक् क्षीणीकृत क्लेश प्रसंख्यान या संप्रज्ञान या विवेक के द्वारा उत्पादक-शक्ति से शून्य हो जाते हैं। दग्धबीज जैसे अङ्कुरित नहीं होता वैसे ही संप्रज्ञान द्वारा दग्धबीज क्लेश दुबारा चित्त में नहीं उठते। उदाहरणार्थ 'मैं शरीर हूँ' यह एक अविद्यामूलक क्लिष्टा वृत्ति है। समाधिबल से महत्तत्त्व का साक्षात्कार होने पर 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसकी सम्यक् उपलब्धि होती है। उसी से **'यस्मिन्**

स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' (गीता ६।२२) इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होती है। समापत्ति की अवस्था में इस प्रज्ञा से चित्त सदा समापन्न रहता है, तब 'मैं शरीर हूँ' यह क्लेशवृत्ति दग्धबीज-सी हो जाती है, क्योंकि उस समय 'मैं शरीर हूँ' ऐसी वृत्ति के संस्कार से संस्कारानुरूप चित्तवृत्ति नहीं होती। उस समय 'मैं शरीर हूँ' इस तरह के अभिमानमूलक समस्त भाव सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं।

'मैं शरीर हूँ' इसका संस्कार क्लिष्ट संस्कार है और 'मैं शरीर नहीं हूँ' इसका संस्कार अक्लिष्ट या विद्यामूलक संस्कार है। इसी का दूसरा नाम प्रज्ञा-संस्कार है। बुद्धि और पुरुष की भिन्नताख्याति-(विवेकख्याति-) पूर्वक पर-वैराग्य के द्वारा चित्त विलीन होने से ये प्रज्ञासंस्कार या क्लेशों के दग्धबीज भाव भी विलीन हो जाते हैं (१।५० और २।१० सूत्र देखिए)। दग्धबीज अवस्था ही क्लेशों की सूक्ष्म अवस्था है जो सम्प्रज्ञा द्वारा निष्पन्न होती है। क्लेश की क्षीण अवस्था क्रियायोग द्वारा निष्पन्न होती है।

उक्त उदाहरण में 'मैं शरीर नहीं हूँ' ऐसे समाधिलभ्य ज्ञान का हेतु समाधि है तथा क्लेश की क्षीणता उस ज्ञान की सहायिका है। समाधि का और क्लेश-क्षय का हेतु क्रियायोग है; अर्थात् तपस्या से शरीर-इन्द्रिय की स्थिरता, स्वाध्याय (श्रवण और मननजात प्रज्ञा का अभ्यास) से साक्षात्कार करने के लिए उत्सुकता एवं ईश्वरप्रणिधान द्वारा चित्तस्थिरता साधित होने पर समाधि भावित (उद्भूत) होती है और प्रबल क्लेश क्षीण होता है।

———

भाष्यम्—अथ के ते क्लेशाः कियन्तो वेति ?

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः; ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढ़यन्ति परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रा भूत्वा (०तन्त्री भूत्वेति पाठान्तरम्) कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

भाष्यानुवाद—उन क्लेशों के नाम क्या हैं। और वे कितने हैं ?—

३। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश— ये पाँच क्लेश हैं। सू-

क्लेश अर्थात् पाँच विपर्यय (१)। वे स्यन्दमान अर्थात् समुदाचारयुक्त या वृत्तिमान् होकर गुणाधिकार को दृढ़ करते हैं, परिणाम को अवस्थापित करते हैं, कार्य-कारण-स्रोत को उद्भावित करते हैं, परस्पर मिलकर या सहायता कर कर्मविपाक को निष्पन्न करते हैं।

टीका—२ (१) सब क्लेशों का साधारण लक्षण है—कष्टदायक विपर्यस्त ज्ञान। क्लेश का स्यन्दन अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होते रहने पर आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं होता, अतः गुणव्यापार सुदृढ़ रहता है। ये वृत्तियाँ परिणामक्रम से अव्यक्त-महत्-अहंकार इत्यादि कार्य-कारण-भाव को प्रवर्त्तित करती हैं अर्थात् प्रतिक्षण ये गुण महत् आदि के क्रम से परिणत होते रहते हैं। महदादि के क्रियारूप कर्म के मूल में सभी क्लेश एक साथ रहकर कर्मविपाक का निष्पादन करते हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विध-कल्पितानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्ति-मात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमस्तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः। प्रसंख्या-नवतो दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इत्यतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्ध-बीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति; सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानामप्ररोहश्च।

तनुत्वमुच्यते। प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः; कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति, रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति; नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्त इति; किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः।

सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति? उच्यते; सत्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादि-त्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति।

सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः; कस्मात्? सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाले उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

४। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार रूपों में विद्यमान, परपठित (अर्थात् २।३ में अविद्या के बाद पठित) अस्मितादि क्लेशों की प्रसवभूमि अविद्या है। सू०

भाष्यानुवाद—यहाँ अविद्या क्षेत्र या प्रसवभूमि है अन्य सबों की, अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार प्रकार के अस्मिता आदि की (१)। उनमें प्रसुप्ति क्या है? चित्त में शक्तिमात्ररूप से अवस्थित क्लेशों की जो बीजभावप्राप्ति है, वह प्रसुप्ति है। प्रसुप्त क्लेश का आलम्बन में (अपने विषय में) सम्मुखीभाव या अभिव्यक्ति ही प्रबोध है। प्रसंख्यानयुक्त का क्लेशबीज दग्ध होने पर वह सम्मुखीभूत-आलम्बन अर्थात् विषय-सन्निकृष्ट होने पर भी अङ्कुरित या प्रबुद्ध नहीं होता, कारण दग्धबीज अङ्कुरित कैसे हो सकता है? अतः क्षीणक्लेश योगी को कुशल, चरमदेह कहा जाता है (२)। उस प्रकार के योगियों की ही दग्धबीजरूप पञ्चमी क्लेशावस्था होती है; दूसरों की (विदेह आदियों की) नहीं। उस समय विद्यमान क्लेशसमूह की कार्योत्पादक सामर्थ्य भी दग्ध हो जाती है; अतएव विषयसन्निकर्ष से भी उनका प्ररोह नहीं होता। इस प्रकार की प्रसुप्ति और क्लेशों के दग्धबीजभाव के कारण जो प्ररोहाभाव होता है, वह व्याख्यात हुआ।

अब तनुत्व कहा जा रहा है—प्रतिपक्ष की भावना द्वारा आक्रान्त क्लेश तनु हो जाते हैं; और जो समय-समय पर विच्छिन्न होकर पुनः उसी रूप में वृत्ति लाभ करते हैं, वे विच्छिन्न हैं। किस प्रकार? जैसे— राग के समय क्रोध के अदर्शन होने के कारण, रागकाल में क्रोध वृत्तियुक्त नहीं होता; और राग किसी एक विषय पर देखा जाता है, इसलिए वह अन्य विषय पर नहीं रहता है, ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार चैत्र एक स्त्री में अनुरक्त होने के कारण दूसरी में विरक्त नहीं होता उसी प्रकार (यहाँ भी समझना चाहिए)। लेकिन उसमें (जिसमें अनुरक्त है) राग लब्धवृत्ति है और दूसरी में भविष्यद्वृत्ति है। उस समय वह प्रसुप्त या तनु या विच्छिन्न रहता है। विषय पर जो लब्धवृत्ति (वृत्तिमान्) है, वह उदार होता है।

ये सभी भेद क्लेश-जननयोग्यत्व का अतिक्रमण नहीं करते। (ये सब यदि एकमात्र क्लेश जाति के अन्तर्गत हों) तो फिर क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (ऐसा विभाग) क्यों है? इसका उत्तर यह है—ये एकमात्र क्लेशजाति के अन्तर्गत हैं यह ठीक है, किन्तु अवस्था की विशेषता से ही विच्छिन्न आदि विभाग किए गए हैं। ये जिस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना से निवृत्त होते हैं, उसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति के हेतु से प्रकट भी होते हैं।

अस्मितादि सभी क्लेश अविद्या के भेद हैं, क्योंकि इनमें अविद्या व्यापक रूप से रहती है। जो वस्तु अविद्या द्वारा आकारित या समारोपित होती है, अन्य क्लेश भी उसका अनुगमन करते हैं (३)। ये क्लेश विपर्यस्त-प्रत्यय-काल में उपलब्ध होते हैं, और अविद्या क्षीण होने पर क्षीण हो जाते हैं।

टीका ४ (१) वास्तव में अस्मिता आदि चारों क्लेश अविद्या के भेद हैं। अस्मितादि क्लेशों के चार अवस्थाभेद हैं, यथा—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। प्रसुप्ति=बीज या शक्तिरूप में स्थिति। प्रसुप्त क्लेश आलम्बन पाने पर पुनः उत्थित होता है। तनु=क्रियायोग द्वारा प्रक्षीण क्लेश। विछिन्न=अन्य क्लेश से विछिन्न भाव। उदार=व्यापारयुक्त, यथा—क्रोधकाल में द्वेष उदार है, राग विच्छिन्न है। वैराग्य के अभ्यास से दमित राग को तनु कहा जाता है। संस्कार-अवस्था ही प्रसुप्ति है। ज्ञायमान धर्म से हीन या अलक्ष्य जो संस्कार वर्तमान में फलवान् न होकर भविष्य में होंगे, वे प्रसुप्त क्लेश हैं। क्लेशावस्था का अर्थ है 'एक-एक क्लिष्ट वृत्ति की अवस्था'।

प्रसुप्त क्लेश तथा दग्धबीजकल्प क्लेश कुछ सादृश्ययुक्त हैं, क्योंकि दोनों ही अलक्ष्य हैं। किन्तु प्रसुप्त क्लेश आलम्बन पाने पर उदार हो जाते हैं और दग्धबीज क्लेश आलम्बन पाने पर भी कभी नहीं उठते हैं। भाष्यकार ने दग्धबीज-भाव को पाँचवीं क्लेशावस्था कहा है। यह इन चारों अवस्थाओं से सचमुच संपूर्णतया पृथक् अवस्था है।

इस विषय में शास्त्र में कहा है—**'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥** (शान्तिपर्व २११।१७) अर्थात् अग्निदग्ध बीज जिस प्रकार पुनः अङ्कुरित नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होने पर इन क्लेशों के द्वारा आत्मा पुनः क्लिष्ट नहीं होता।

४ (२) क्लेश दग्धबीजवत् होने से ही उस अवस्था के योगी जीवन्मुक्त होते हैं। इसी जन्म में ही चित्त को लीन करके ये केवली होते हैं; अतएव पुनर्जन्म के अभाव से उनका यह देह चरमदेह है।

४। (३) राग आदि कैसे अविद्यामूलक वा मिथ्याज्ञान-मूलक होते हैं यह आगे बतलाया जाएगा।

भाष्यम्—तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। ५ ॥

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिस्तद्यथा–ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः, उक्तञ्च— "स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः" ॥ इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति, कस्य केनाभिसम्बन्धः;

भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यय- (-र्यास० -पाठा०) प्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः।

तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति; तत्र सुखख्यातिरविद्या। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनसि, अनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम्—"व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचति आत्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः" इति।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद् वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्, यथा[1] नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नस्तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद् वस्त्वन्तरमेवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

---

१. भाष्य के सभी संस्करणों में 'यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः,' ऐसा ही पाठ है। स्वामीजी ने जो बंगला में अनुवाद किया है (द्र० इस वाक्य का हिन्दी में अनुवाद) उससे 'न अमित्रमात्रं' यही उनकी दृष्टि में पाठ होना चाहिये (बंगला संस्करण में न मित्रमात्रं—यह छपा पाठ है)। मैं 'न अमित्रमात्रं' इस पाठ को ही उचित समझता हूँ। भाष्यकार का कहना है कि जिस प्रकार 'अमित्र' कहने पर 'मित्र का अभाव' ऐसा नहीं समझा जाता; न यही समझा जाता है कि 'कोई भी घट-पट आदि वस्तु जो मित्र नहीं है, वह अमित्र है', बल्कि मित्रविरोधी मनुष्यविशेष अर्थात् शत्रु अमित्र है। घट आदि पदार्थ भी मित्र नहीं हैं, पर वे अमित्र नहीं कहे जाते, बल्कि शत्रु को ही अमित्र कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'न अमित्रमात्रम् किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः' (सपत्न=शत्रु) यही संगत पाठ है; (द्र० न्याय 'नञिवयुक्तं तत्सदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः', महाभाष्य ३।१।१९; द्र० अन्यस्मिन् तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते) 'न अमित्रमात्रम्' पाठ भाष्य के हस्तलेखों में भी क्वचित् मिलता है। यह बोडस-अभ्यंकर-सम्पादित भाष्य-तत्त्ववैशारदी से जाना जाता है (पृ० ६३, Bombay Sanskrit and Prakrit Series, No. 46)। इसी प्रकार 'न गोष्पदमात्रम्' के स्थान पर 'न अगोष्पदमात्रम्' पाठ मिलता है (ग्रन्थकार स्वामीजी का अनुवाद भी इसी पाठ का अनुसारी है)। 'एवमविद्या न···वाक्य का पाठ भी मेरी दृष्टि में ईषद् भ्रष्ट है। प्रचलित संस्कृत पाठ में मैंने कोई परिवर्तन नहीं किया-यह ज्ञातव्य है। मेरे प्रकाशनीय Vyāsabhāṣya—A Study ग्रन्थ में इस पर विशद चर्चा द्रष्टव्य है। [सम्पादक]

भाष्यानुवाद—उनमें से (इस सूत्र में) अविद्या का स्वरूप कहा जा रहा है–

५। अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा इन विषयों पर यथाक्रम नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मस्वरूपता की ख्याति अविद्या है। सू०

अनित्य कार्य में नित्यख्याति, जैसे—पृथ्वी ध्रुव है, चन्द्रतारकायुक्त आकाश ध्रुव है, देवगण अमर हैं आदि। "पण्डित व्यक्ति स्थान, बीज (१), उपष्टम्भ, निस्यन्द, निधन और आधेयशौचत्व के कारण शरीर को अशुचि कहते हैं।" (इन हेतुओं से शरीर को अशुचि कहा गया है)। ऐसे परम बीभत्स अशुचि शरीर में शुचिख्याति देखी जाती है; (यथा) इस नव शशिकला-सी कमनीय कन्या के अङ्ग-प्रत्यङ्ग मानो मधु या पीयूष-द्वारा निर्मित हैं; (प्रतीत होता है कि) मानो यह चन्द्रमा को भेद कर निकली हो, इसके नेत्र मानो नील-कमल-दल जैसे आयत हों, हावपूर्ण लोचनों (कटाक्ष) से मानो यह जीवलोक को आश्वासित कर रही है। इस प्रकार किस का किस के साथ सम्बन्ध (उपमा) दिखाया गया ? (अर्थात् विवक्षित साधर्म्य वस्तुतः नहीं है)। और इसी प्रकार अशुचि में शुचिरूप विपर्यास का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अपुण्य में पुण्यप्रत्यय और अनर्थ में (जिससे हमारी अर्थसिद्धि होने की सम्भावना नहीं है) अर्थप्रत्यय भी व्याख्यात होते हैं।

दुःख में सुखख्याति आगे कहेंगे (२।१५ सूत्र में); "परिणाम, ताप और संस्कारदुःखों के कारण तथा गुणवृत्तियों में परस्पर विरोध होने से विवेकी पुरुष की दृष्टि में सभी दुःखकर होते हैं।" इस प्रकार दुःख में सुखख्याति अविद्या है। उसी प्रकार अनात्मवस्तु में आत्मख्याति होती है, यथा—चेतन-अचेतन बाह्य उपकरण (पुत्र, पशु, शय्या आदि), भोगाधिष्ठान शरीर या पुरुष के उपकरण मन, इन सब अनात्म-विषयों में आत्मख्याति होती है। इस विषय में (पञ्चशिख आचार्य की) यह उक्ति है—"जो व्यक्त और अव्यक्त सत्त्व को (चेतन और अचेतन वस्तु को) आत्मरूप जानकर और उनकी सम्पदा को आत्मसम्पदा सोचकर हर्षित होते हैं, और उनकी विपत्ति को आत्मविपत्ति सोचकर विषण्ण होते हैं; वे सभी मूढ़ हैं।"

यह अविद्या चतुष्पाद होती है। यह क्लेशप्रवाह और सविपाक कर्माशय की जड़ है। 'अमित्र' या 'अगोष्पद' की तरह अविद्या में भी वस्तुत्व है। जिस प्रकार, 'अमित्र' 'मित्र का अभाव' नहीं है या 'मित्रमात्र नहीं ऐसी कोई भी वस्तु' नहीं है, पर 'मित्र से विरुद्ध शत्रु' है; और जैसे 'अगोष्पद' 'गोष्पद का अभाव' या 'गोष्पदमात्र नहीं ऐसी कोई भी वस्तु' नहीं, पर कोई बड़ा स्थान है जो उन दोनों से पृथक् वस्तु है; उसी प्रकार अविद्या न तो प्रमाण है और न प्रमाण का अभाव ही। पर विद्याविपरीत ज्ञानान्तर ही अविद्या (२) है।

टीका ५ (१) शरीर का स्थान—अशुचि जरायु; बीज—शुक्र आदि; उपष्टम्भ=भुक्त पदार्थों का संघात; निस्यन्द=प्रस्वेद आदि द्रव वस्तुएँ; निधन =मृत्यु; मृत्यु होने पर सभी शरीर अशुचि हो जाते हैं। आधेयशौचत्व—सदा शुचि या स्वच्छ रखने के कारण। इन सब कारणों से शरीर अशुचि होता है। ऐसे शरीर को शुचि, रमणीय, प्रार्थनीय और संगयोग्य सोचना विपरीत ज्ञान है।

५ (२) अविद्या के चारों लक्षणों में से अनित्य में नित्यज्ञान अभिनिवेश क्लेश में प्रधान है; अशुचि में शुचिज्ञान राग में प्रधान है; दुःख में सुखज्ञान द्वेष में प्रधान है, क्योंकि द्वेष दुःखविशेष होने पर भी द्वेषकाल में वह सुखकर लगता है; और अनात्मा में आत्मज्ञान अस्मिता क्लेश में प्रधान होता है।

भिन्न-भिन्न वादी अविद्या के अनेक लक्षण कहते हैं। उनमें से अधिकांश लक्षण तर्क तथा दर्शन के विरोधी हैं। योगोक्त यह लक्षण निर्विवाद सत्य है, यह पाठकमात्र को ही बोधगम्य होगा। रज्जु में सर्पज्ञान का कारण जो भी हो—यह एक द्रव्य में अन्य द्रव्य का ज्ञान है (अतद्रूपप्रतिष्ठ ज्ञान)—इसमें कोई भी 'न' नहीं कह सकता। यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान के विपरीत है, अतः अयथार्थज्ञान है। अतः 'यथार्थ' और 'अयथार्थ'—यह वैपरीत्य ही विद्या और अविद्या का अथवा ज्ञान और अज्ञान का वैपरीत्य होता है। इसमें विषय का वैपरीत्य नहीं होता। अर्थात् सर्प और रज्जु भिन्न-भिन्न विषय हैं, किन्तु विपरीत विषय नहीं हैं।

इसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान का या अविद्यामूलक वृत्ति का कारण—उस प्रकार के ज्ञान का संस्कार होता है। अतएव विपर्यय-ज्ञान और विपर्यय-संस्कारों का साधारण नाम अविद्या है। विपर्यासरूप अविद्या अनादि है। उसी प्रकार विद्या भी अनादि है। कारण यह है कि प्राणियों में जिस प्रकार अयथार्थ ज्ञान रहता है, उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान भी। साधारण अवस्था में अविद्या की प्रबलता और विद्या की दुर्बलता होती है। विवेकख्याति में विद्या की सम्यक् प्रबलता और अविद्या की अतिदुर्बलता होती है। चित्तवृत्ति के सिवाय अविद्या नाम का कोई एक अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। वास्तव में चित्त-वृत्तियाँ ही द्रव्य हैं[1]। अविद्या एक प्रकार की चित्तवृत्ति (विपर्यय) ही होती है, अतः 'अविद्या अनादि है' इसका अर्थ है चित्तवृत्ति का प्रवाह अनादि है।

---

१. चूँकि चित्त द्रव्यरूप है, अतः चित्तविकारभूत वृत्ति भी द्रव्यरूप ही होगी। धर्म भी धर्मी होता है, अतः चित्तवृत्तिरूप धर्म भी धर्मी हो सकता है (द्र० भाष्य ३।१३)। [सम्पादक]

जिस प्रकार आलोक और अन्धकार परस्पर-सापेक्ष हैं—आलोक में अँधेरे का भाग कम और अँधेरे में आलोक का भाग कम है, ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार वास्तव में प्रत्येक वृत्ति ही विद्या और अविद्या की समष्टि होती है। विद्या में अविद्या का अंश स्वल्प और अविद्या में विद्या का अंश स्वल्प है—यही दोनों में प्रभेद है। विद्या की परा काष्ठा विवेकख्याति है, उसमें भी सूक्ष्म अस्मिता रहती है। साधारण अविद्या में 'मैं हूँ, मैं जान रहा हूँ' इत्यादि द्रष्टासंबन्धी अनुभव भी रहता है। वास्तव में सम्पूर्ण ज्ञान ही अंशतः यथार्थ, और अंशतः अयथार्थ होता है। यथार्थता का आधिक्य देखने पर विद्या और अयथार्थता का आधिक्य देखने पर अविद्या कही जाती है।

शुक्ति में रजतभ्रम आदि भ्रान्तियाँ अविद्या के लक्षण में नहीं आतीं। वे विपर्यय-लक्षण के अन्तर्गत हैं। भ्रान्तिमात्र ही विपर्यय होती है, और पारमार्थिक या योगसाधनसम्बन्धी नाशयोग्य भ्रान्ति अविद्या है, यह भेद समझ लेना चाहिए[1]।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवाऽस्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूपप्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्—"बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन" इति ॥ ६ ॥

६। दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति का एकात्मता-ज्ञान (अभेदारोप) अस्मिता है। सू०

---

१. आधुनिक वेदान्ती अपने को अनिर्वचनीयवादी कहते हैं। वे कहते हैं कि मिथ्याज्ञान न प्रत्यक्ष (अर्थात् प्रमाण) है और न स्मृति ही, अतः वह अनिर्वचनीय है। फलतः अविद्या प्रमाण और स्मृति न होने के कारण, उसे विपर्यय नामक पृथक् वृत्ति कहा जाता है। और, सभी वृत्तियाँ जिस प्रकार परस्पर की सहायता से उत्पन्न होती हैं, विपर्यय भी उसी प्रकार प्रमाण तथा स्मृति आदि की सहायता से उत्पन्न होता है। वह अनिर्वचनीय नहीं परन्तु 'अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान है' इस प्रकार के निर्वचन से निर्वचनीय है। इस लक्षण का कोई अपलाप नहीं कर सकता। पहले ही कहा जा चुका है कि अविद्या आदि विपर्यय के प्रकारभेद हैं। जो मिथ्याज्ञान हमें क्लेश देते हैं या दुःखी करते हैं, वे ही अविद्या आदि क्लेश हैं। उनके नाश से ही परमार्थ-सिद्धि होती है।

भाष्यानुवाद—पुरुष दृक्शक्ति और बुद्धि दर्शनशक्ति है; इन दोनों की एकस्वरूपताख्याति को ही 'अस्मिता' क्लेश कहा जाता है। अत्यन्त विभक्त या भिन्न (अतएव) अत्यन्त असंकीर्ण भोक्तृशक्ति तथा भोग्यशक्ति जब अविभाग प्राप्त होने के समान होती हैं (१) तब वह भोग कहलाता है; और उन दोनों की स्वरूपप्रख्याति होने पर कैवल्य ही होता है, भोग फिर कहाँ रहता है। इस विषय में कहा भी गया है (पञ्चशिख आचार्य द्वारा)—"बुद्धि से पर जो पुरुष हैं उनको स्वीय आकार, शील, विद्या आदि के द्वारा विभक्त या भिन्न न देखकर (अज्ञ व्यक्ति) मोहपूर्वक उसमें (बुद्धि में) आत्मबुद्धि करते हैं" (२)।

टीका--६ (१) भोग्यशक्ति ज्ञानरूप और भोक्तृशक्ति चिद्रूप होती है। अतएव उनका अविभाग है— बोधसम्बन्धी अविभाग। जल और नमक (अर्थात् विषय) का अविभाग या संकीर्णता या मिश्रण जिस प्रकार का है, द्रष्टा और दर्शन का संयोग उस प्रकार का है, ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए। पुरुषसम्बन्धी बोध और दर्शनसम्बन्धी बोध का अपृथक् रूप से उदय ही यह अविभाग है। 'सत्त्व और पुरुष का प्रत्ययाविशेष भोग' इस प्रकार का वाक्य प्रयोगकर सूत्रकार (३।३५) ने बुद्धि और पुरुष के संयोग को दिखाया है। सुख तथा दुःख भोग्य हैं, वे अन्तःकरण में ही रहते हैं, अतः अन्तःकरण भोग्यशक्ति है।

करण में आत्मताख्याति ही अस्मिता है। बुद्धि प्रधान करण है, अतः वह स्वरूपतः अस्मितामात्र है। उसी की परिणामस्वरूप इन्द्रिय-समष्टि में जो आत्मताख्याति है, वह भी अस्मिता है। 'मैं चक्षु आदि शक्तिमान् हूँ' इस प्रकार अनात्मा में जो आत्मप्रत्यय है, वह अस्मिता का उदाहरण है।

अनात्मा में आत्मख्याति बहुत प्रकार की हो सकती है। यथा—(१) अव्यक्त में आत्मख्याति, जैसे किसी-किसी बौद्ध का 'मैं शून्य हूँ' ऐसा ज्ञान। प्रकृतिलीनों का भी ऐसा ही बोध होता है। (२) महत् में आत्मख्याति, जैसे आत्मा को सर्वव्यापी आनन्दमय ऐसा मानना, जो कोई-कोई वेदान्तवादी कहते हैं। (३) अहंकार में आत्मख्याति या परिच्छिन्न 'अहंभाव' की उपलब्धि, जैसे जैनमत में शरीर में अवस्थित निर्मल ज्ञानरूप आत्मा। इनके सिवाय तन्मात्राभिमानी और स्थूलभूताभिमानी देवताओं को भी किसी न किसी अनात्म-विषय में एक प्रकार की आत्मख्याति होती है।

६ (२) पञ्चशिख आचार्य के इस वाक्य के 'आकार' आदि शब्दों के अर्थ प्रचलित अर्थों से भिन्न हैं। दार्शनिक परिभाषा की रचना से पूर्ववर्ती वचन होने से इसमें आकारादि शब्दों का व्यवहार करके उनसे सम्पूर्ण पृथक् पदार्थ समझा दिए गए हैं। आकार=सदा विशुद्धि। विद्या=चैतन्य या चिद्रूपता।

शील=औदासीन्य वा साक्षिस्वरूपता। पुरुष के इन सब लक्षणों का विज्ञान न होने के कारण बुद्धि से उनका पृथक्त्व न जान कर मोह या अविद्या वश लोग बुद्धि में ही आत्मबुद्धि करते हैं, अर्थात् बुद्धि या अभिमानयुक्त अहंबुद्धि एवं शुद्ध ज्ञाता पुरुष—ये दोनों एक हैं, ऐसा विपर्यास करते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

७। सुखानुशयी क्लेशवृत्ति राग है। सू०

भाष्यानुवाद– सुखाभिज्ञ जीव का सुख की अनुस्मृतिपूर्वक सुख में या सुख के साधन में जो गर्द्ध (स्पृहा), तृष्णा या लोभ होता है, वही राग है (१)।

टीका ७ (१) सुखानुशयी=सुख के संस्कार से उत्पन्न आशय से युक्त। तृष्णा=पानी की प्यास के समान सुख के अभाव का अनुभव होना। लोभ = तृष्णाभिभूत होकर विषयप्राप्ति की इच्छा। लोभ से हिताहित ज्ञान प्रायः विपर्यस्त हो जाता है। अनुशयी का अर्थ है—जो अनुशयन कर अवस्थित हो अर्थात् संस्काररूप से हो; जो इस प्रकार निष्पादन से युक्त है वही अनुशयी है।

राग होने पर बिना वश के अथवा बिना जाने ही इच्छा इन्द्रिय तथा विषय की ओर चली आती है। इच्छा को ज्ञानपूर्वक संयत करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। अतः राग अज्ञान या विपरीत ज्ञान है। इसी से आत्मा इन्द्रिय तथा विषय के साथ बद्ध होता है। अनात्मभूत इन्द्रिय में स्थित सुख-संस्कार के साथ निर्लिप्त आत्मा की आबद्धता का ज्ञान ही यहाँ विपरीत ज्ञान है। इसके अतिरिक्त बुरे को भला समझना भी राग का स्वभाव है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥ ८ ॥

८। दुःखानुशयी क्लेशवृत्ति द्वेष है। सू०

भाष्यानुवाद—दुःखाभिज्ञ प्राणियों के दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक दुःख में वा दुःख के साधनों में जो प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा या क्रोध होता है, वही द्वेष है(१)।

टीका ८ (१) प्रतिघ=प्रतिघात करने या बाधा देने की इच्छा। जो अद्वेष्टा है उसके लिए सभी निर्बाध हैं, पर द्वेष्टा के लिए सदा बाधाएँ लगी रहती हैं।

मन्यु=मानसिक द्वेष, क्षोभ। जिघांसा=हनन करने की इच्छा। राग की तरह द्वेष से भी निर्लिप्त आत्मा के साथ अनात्मभूत दुःख-संस्कार का संगज्ञान और अकर्त्ता आत्मा में कर्तृत्वबोध होते हैं, अतएव यह भी विपर्यय है।

द्वेष और हिंसा का भेद ज्ञातव्य है। दुःख का अनुस्मरण होने पर किसी विषय के प्रति जो विरुद्ध भाव होता है, वह द्वेष है और इस द्वेष से जो आचरण होता है वह हिंसा है। द्वेष से जिघांसा, प्रतिघ और मन्यु या क्रोध होते हैं। जिघांसा का अर्थ है अपकार करने की इच्छा, वह वाचिक (आक्रोश से युक्त) हो सकती है, कायिक (अर्थात् प्राण का अतिपात और प्रहार करना आदि) हो सकती है, तथा मानसिक (परापकार की चिन्ता) भी हो सकती है। मन्यु= क्रोध। द्वेषवश जो परापकार रूप कर्म किया जाता है, वही हिंसा है। द्वेष से दुःख होता है। पर यह न समझकर द्वेषयुक्त होकर रहना ही विपर्यय ज्ञान है और वह क्लेशों में अन्यतम है।

दुःख का अनुस्मरण करके प्राणी-पीड़नादि न कर यदि कोई केवल आनन्द (हँसी खेल में) के लिए प्राणी-पीड़न करता है, साथ ही यदि यह बोध न रहे कि वह अन्याय कर रहा है तो उसका वह कर्म मोह का अन्तर्गत होगा। 'यह कर्म अन्याय है—ऐसा ज्ञान रहने पर भी यदि कोई व्यक्ति हँसी-खेल की वृत्ति का दमन करने की चेष्टा न करके (दमन करने पर जो दुःख होगा, उस दुःख का सहन न करने के कारण) प्राणी-पीड़न करता है तो वहाँ दुःखानुस्मृति पूर्वक या द्वेष पूर्वक हिंसा होगी, पर ऐसे स्थलों में मोह ही प्रबल होता है। मोह यदि अत्यधिक प्रबल हो तो लोग व्यर्थ ही प्राण का अतिपात (प्राणी-हत्या) करते हैं। ऐसे स्थलों में जिघांसा परिपुष्ट होती है और उसका कुफल भी अवश्यम्भावी है। स्याही से लिप्त कपड़े पर पुनः स्याही लगाने पर भले ही कपड़ा अधिकतर मलिन न प्रतीत हो, पर मलिनता की अधिकता तो होती ही है और उसका क्षालन करना भी अधिकतर कठिन हो जाता है—इस दृष्टान्त से यह समझना चाहिये।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, 'मा न भूवं भूयासम्' इति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः, एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य, प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।

यथा चायमत्यन्तमूढ़ेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः; कस्मात्, समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

९। जो सहजात क्लेश अविद्वान् की तरह विद्वान् में भी प्रसिद्ध है, वह अभिनिवेश (१) है। सू०

भाष्यानुवाद—नित्य ही सभी प्राणियों की यह आत्माभिलाषा रहती है कि 'मेरा अभाव न हो; मैं जीवित रहूँ।' पहले जिसने मरणत्रास का अनुभव नहीं किया, वह इस प्रकार का आत्माशीः नहीं कर सकता। इसी से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है। यह अभिनिवेश क्लेश स्वरसवाही है। यह जातमात्र कृमि में भी देखा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा असंपादित उच्छेदज्ञानस्वरूप मरणत्रास से पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख का अनुमान होता है (२)।

जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वान् में अर्थात् पूर्वापरकोटि ('कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा') के ज्ञाता व्यक्ति में भी देखा जाता है, क्योंकि (संप्रज्ञानहीन) कुशल और अकुशल इन दोनों में ही मरणदुःखानुभव के कारण यह वासना समान-रूप से रहती है।

टीका ९ (१) स्वरसवाही=सहज या स्वाभाविक के समान जो संचित-संस्कार से उत्पन्न होता है और स्वाभाविक के समान क्रियाशील रहता है। तथारूढ़=अकुशल या अविद्वान् और कुशल या श्रुतानुमानज्ञानसंपन्न विद्वान् दोनों को जो प्रभावित करता है, वह प्रसिद्ध (रूढ़) क्लेश।

राग सुखानुशयी है, द्वेष दुःखानुशयी है, और अभिनिवेश सुख-दुःख-विवेक-हीन या मूढ़भाव का अनुशयी होता है। शरीर-इन्द्रिय की सहज क्रिया से उस प्रकार का मूढ़भाव होता है। उसी से शरीरादियों में अहन्ता का भाव सदा जागरित रहता है; उस अभिनिविष्ट भाव की हानि होने पर या घटने का उप-क्रम होने पर जो भय होता है, वही अभिनिवेश क्लेश है। भय के रूप में वह क्लेश देता है।

वास्तव दृष्टि में 'मैं' अमर होने पर भी उसकी मृत्यु या नाश हो जाएगा, यह अज्ञानमूलक मरणभय ही प्रधान अभिनिवेश-क्लेश है। उससे किस प्रकार पूर्वजन्म का अनुमान होता है यह भाष्यकार ने दिखाया है। अन्यान्य भय भी अभिनिवेश क्लेश होते हैं। यह अभिनिवेश एक क्लेश है या परमार्थ-साधन-सम्बन्धी क्षय करने योग्य भावविशेष है। अन्य प्रकार के अभिनिवेश पदार्थ भी हैं।

९ (२) कोई विषय पहले अनुभूत होने पर भी बाद में उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वही विषय चित्त में विधृत रहता है और उसका पुनः बोध ही स्मृति होती है। मरणभय आदि की स्मृति देखी जाती है। इह जन्म में मरणभय अनुभूत नहीं हुआ है; अतः वह पूर्वजन्म में अनुभूत हुआ है, ऐसा कहना होगा। इस प्रकार अभिनिवेश से पूर्वजन्म सिद्ध होता है।

शङ्का हो सकती है, 'मरणभय स्वाभाविक है; अतः इसमें पूर्व-अनुभव का प्रयोजन नहीं है'। मरणस्मृति को स्वाभाविक कहा जाए, तो सभी स्मृतियों को ही स्वाभाविक कहना चाहिए। परन्तु स्मृति स्वाभाविक नहीं होती, वह निमित्त से उत्पन्न होती है। पूर्व अनुभव ही उसका निमित्त है। जब बहुशः स्मृति को निमित्तजात देखा जाता है, तब उसके एक अंश को (मरणभय आदि को) स्वाभाविक कहना संगत नहीं है। स्वाभाविक वस्तु कभी निमित्त से उत्पन्न नहीं होती है और स्वाभाविक धर्म वस्तु को कभी छोड़ता भी नहीं। मरणभय ज्ञानाभ्यास-द्वारा निवृत्त होता है, यह देखा जाता है। इसलिए अज्ञानाभ्यास (पुनः पुनः अज्ञानपूर्वक मरणदुःख का अनुभव) उसका हेतु है। इस प्रकार मरणभयादि से पूर्वानुभव—अतः पूर्वजन्म— सिद्ध होता है।

पुनः शङ्का हो सकती है, 'मरणभय एक प्रकार की स्मृति है इसमें प्रमाण क्या है ?' इसका उत्तर यह है—आगन्तुक विषय के साथ संयोग न होने पर भी जिस आभ्यन्तरिक विषय का बोध होता है, वह स्मृति कही जाती है। स्मृति उपलक्षण आदि द्वारा उठती है। मरणभय भी उपलक्षण के द्वारा अभ्यन्तर से उठता है, इसी से वह एक प्रकार की स्मृति है।

वस्तुतः मन किस समय से उद्भूत हुआ है, इस पर युक्तिपूर्वक विचार करने से उसका आदि नहीं मिलता है। जैसे असत् का उद्भव-दोष होने के कारण लोग 'मैटर' को अनादि कहते हैं, मन भी ठीक उसी कारण अनादि है। जिस प्रकार 'मैटर' का अनादि धर्म-परिणाम स्वीकार करना पड़ता है, उसी प्रकार अनादि मन का भी अनादि धर्म-परिणाम स्वीकार करना पड़ता है।

जन्म के साथ मन उद्भूत हुआ है, इस प्रकार कहने का हेतु कोई नहीं दिखा सकता है। सचमुच ऐसा कहना संपूर्णतया असंगत है। जो लोग यह कहते हैं कि मरणभय आदि सहजवृत्ति (Instinct) अर्थात् अशिक्षित क्रियाक्षमता (untaught ability) है, वे केवल इस जन्म की बात करते हैं, किन्तु सहज-वृत्ति (instinct) क्यों होती है, इसका कुछ भी उत्तर वे नहीं दे सकते।

यह instinct कैसे हुई, इसके दो उत्तर हैं। पहला उत्तर है—वह ईश्वर-कृत है, दूसरा उत्तर (या निरुत्तर) है—वह अज्ञेय है। मन ईश्वर-कृत है इसमें

अणुमात्र भी प्रमाण नहीं है यह किसी किसी संप्रदाय का अन्धविश्वासमात्र है। समस्त आर्षदर्शन के मत में मन ईश्वर-कृत नहीं, पर अनादि है।

जो मन के कारण को अज्ञेय कहते हैं, वे यदि कहें 'हम उसे नहीं जानते', तो कोई दोष नहीं है; पर यदि कहें 'इसको जानने का उपाय मनुष्यों के पास नहीं है' तो मन सादि अथवा अनादि इन दोनों में से कोई एक होगा, ऐसा कहना होगा।

मन के कारण को संपूर्णतया अज्ञेय कहने से मन को प्रकारान्तर से निष्कारण कहा जाता है, क्योंकि हमारे द्वारा जो संपूर्णतया अज्ञेय है, वह हमारे पास नहीं है। मन के कारण को संपूर्णतया अज्ञेय कहने का अर्थ यह हुआ कि 'मन का कारण नहीं है;' जिसका कारण नहीं है वह अनादि होता है। पूर्ववर्ती कारण से कोई वस्तु पैदा हो तो साधारणतः उसे सादि कहा जाता है। अतः निष्कारण वस्तु अनादि होती है। अज्ञेय कहने का वास्तविक तात्पर्य यह है कि वह है, किन्तु विशेषरूप से ज्ञेय नहीं है।

यह कहा जा चुका है कि चित्त वृत्तिधर्मक है। वृत्तियाँ उदित और लीन होती रहती हैं। वृत्तिसमूह का मूल उपादान त्रिगुण है। संमिश्रित तीन गुणों के एक एक प्रकार का परिणाम ही वृत्ति होती है। त्रिगुण निष्कारणता के कारण अनादि हैं, अतः उनके परिणामभूत वृत्तिप्रवाह भी अनादि होते हैं। मन कब और कहाँ से उत्पन्न हुआ है, इस प्रश्न का यह उत्तर ही सब से अधिक तर्कसंगत है। ४।१० (१) देखिए।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥ १० ॥

१०। सूक्ष्म क्लेश प्रतिप्रसव (१) या चित्तलय के द्वारा हेय या त्याज्य हैं। सू०

भाष्यानुवाद—योगी के चरिताधिकार चित्त के प्रलीन होने पर दग्धबीज-जैसे ये पाँचों क्लेश भी उसी के साथ विलीन हो जाते हैं।

टीका १० (१) प्रतिप्रसव = प्रसव का विरोधी ; अर्थात् प्रतिलोम परिणाम या प्रलय। सूक्ष्म क्लेश अर्थात् जो प्रसंख्यान नामक प्रज्ञा द्वारा दग्धबीज-जैसे हो चुके हैं। शरीरेन्द्रिय में जो अहन्ता है, वह शरीरेन्द्रिय से अतीत पदार्थ का साक्षात्कार करने पर प्रकृष्टरूप से अपगत हो सकती है। ऐसे साक्षात्कार से 'मैं शरीरेन्द्रिय नहीं हूँ' ऐसी प्रज्ञा होती है। अतः शरीरेन्द्रिय के विकृत होने पर

भी योगी का चित्त विकृत नहीं होता। वही प्रज्ञासंस्कार जब एकाग्रभूमिक चित्त में सदा उदित रहता है, तब उसे अस्मिता का विरोधी प्रसंख्यान कहा जाता है। उसके सदा उदित रहने के कारण अस्मिता की कोई भी वृत्ति नहीं उठ सकती। अतः उस समय अस्मिता-क्लेश दग्धबीज की भाँति अङ्कुरित होने में असमर्थ होता है। अर्थात् उस समय शरीरेन्द्रिय में अस्मिभाव तथा तज्जन्य चित्तविकार स्वतः नहीं हो सकते। इस प्रकार की दग्धबीज-सी अवस्था ही अस्मिताक्लेश की सूक्ष्म अवस्था है।

वैराग्य-भावना की प्रतिष्ठा से चित्त में विराग-प्रज्ञा होती है और उसके द्वारा राग दग्धबीज-सा सूक्ष्म हो जाता है। उसी प्रकार अद्वेष-भावना की प्रतिष्ठामूलक प्रज्ञा से द्वेष और देहात्मभाव की निवृत्ति से अभिनिवेश सूक्ष्मीभूत होते हैं।

ऐसे सम्प्रज्ञात संस्कार के द्वारा (१।५० सूत्र द्रष्टव्य) समस्त क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं। सूक्ष्म हो जाने पर भी वे व्यक्त होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार 'मैं शरीर हूँ' ऐसा प्रत्यय चित्त की व्यक्त अवस्था होती है उसी प्रकार 'मैं शरीर नहीं हूँ' (अर्थात् 'पुरुष अहंभाव का द्रष्टा है'—इस प्रकार का पौरुष प्रत्यय) ऐसा प्रत्यय भी व्यक्त अवस्थाविशेष है। दग्धबीज के साथ और भी सादृश्य है। दग्ध (भूने हुए) बीज जिस प्रकार बीज-जैसे ही रहते हैं पर वे अङ्कुरित नहीं होते, क्लेश भी उसी प्रकार सूक्ष्म अवस्था में रह जाते हैं, परन्तु और क्लेश-वृत्ति या क्लेश-सन्तति पैदा नहीं करते; अर्थात् क्लेश-मूलक प्रत्यय उस समय नहीं होता, विद्याप्रत्यय ही होता है। विद्याप्रत्यय के मूल में भी सूक्ष्म अस्मिता रहती है, अतः वह क्लेश की सूक्ष्म अवस्था होती है।

इस प्रकार सूक्ष्मीभूत क्लेश चित्तलय के साथ ही विलीन होता है। परवैराग्य पूर्वक चित्त जब अपने कारण में प्रलीन होता है तब सूक्ष्म क्लेश भी उसी के साथ अव्यक्तता पाते हैं। प्रलय या विलय का अर्थ है—पुनरुत्पत्ति-हीन लय।

साधारण अवस्था में क्लिष्ट वृत्तियाँ उदित होती रहती हैं और उनके द्वारा जाति, आयु तथा भोग (शरीर आदि) घटते रहते हैं। क्रियायोग द्वारा वे (क्लेशगण) क्षीण होते हैं। सम्प्रज्ञात-योग में शरीरादि के सहित सम्बन्ध रहता है, किन्तु वह 'मैं शरीरादि नहीं हूँ' इत्यादि प्रकार का प्रकृष्ट प्रज्ञा-मूलक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही क्लेश की सूक्ष्मावस्था है (इससे जाति-आयु-भोग की निवृत्ति होती है, यह कहना अनावश्यक है)। असम्प्रज्ञात योग में शरीरादि के सहित वह सूक्ष्म सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है, अर्थात् प्रकृतियों में विकृतियों के लयरूप प्रतिप्रसव में क्लेशों का सम्यक् प्रहाण होता है।

———

भाष्यम्—स्थितानान्तु बीजभावोपगतानाम्—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्याः, यावत्-सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा च वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वल्प-प्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

भाष्यानुवाद—पर बीजभाव से अवस्थित क्लेशों की—

११। वृत्तियाँ या स्थूल अवस्था ध्यान द्वारा हेय हैं। सू०

क्लेशों की (१) जो स्थूल वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग से क्षीण होने पर भी प्रसंख्यानध्यान से हातव्य होती हैं, जब तक कि वे सूक्ष्म, दग्धबीज की भाँति हो न जाएँ। जिस प्रकार वस्त्रों का स्थूल मल पहले ही धुल जाता है और सूक्ष्म मल यत्न तथा उपाय से दूर होता है, उसी प्रकार स्थूल क्लेशवृत्तियाँ स्वल्प-प्रतिपक्ष और सूक्ष्मक्लेश-वृत्तियाँ महाप्रतिपक्ष होती हैं।

टीका ११ (१) क्लेश की स्थूल वृत्ति=क्लिष्ट प्रमाणादि वृत्तियाँ।

ध्यानहेय=प्रसंख्यान या विवेकरूप ध्यान से उत्पन्न प्रज्ञा के द्वारा त्याज्य। क्लेश अज्ञान है, अतः वह ज्ञान द्वारा हेय या त्याज्य है। प्रसंख्यान ही ज्ञान का उत्कर्ष है, अतः प्रसंख्यान-रूप ध्यान से ही क्लिष्ट वृत्ति त्याज्य होती है। किस प्रकार प्रसंख्यान के द्वारा क्लिष्ट वृत्ति दग्धबीज के समान हो जाती है, यह ऊपर कहा गया है। क्रियायोग के द्वारा तनूभाव, प्रसंख्यान के द्वारा दग्धबीज-भाव तथा चित्तप्रलय के द्वारा सम्यक् प्रणाश—ये तीन क्लेशहानि के क्रम हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधप्रसवः। स दृष्टजन्म-वेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीत-व्याधित-कृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः, तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन

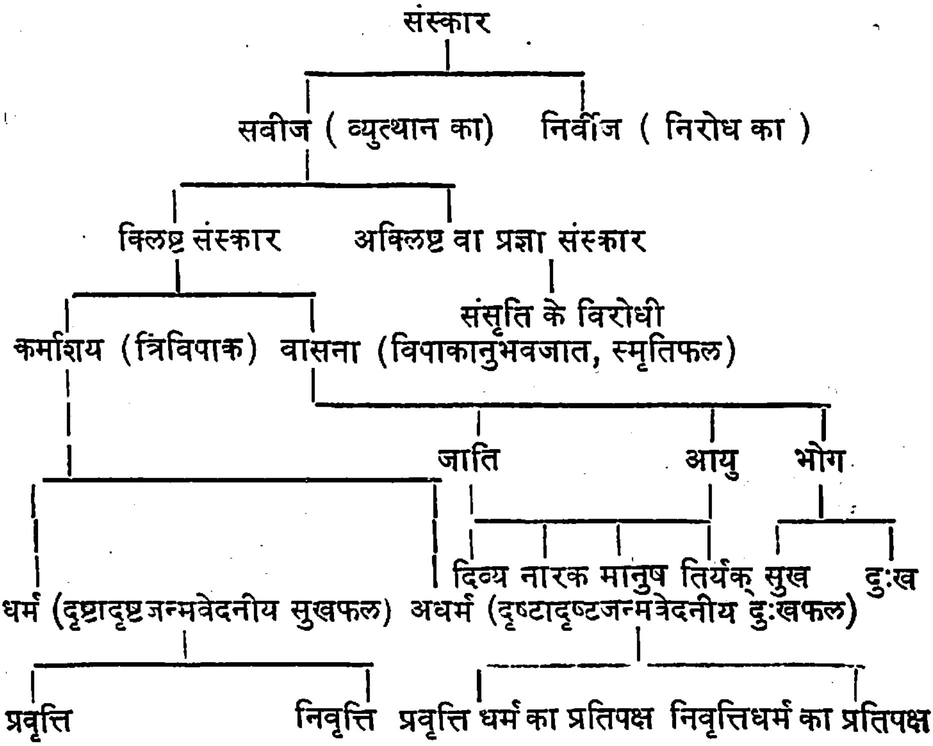
परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः, क्षीणक्लेशानामपि नास्ति अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति ॥ १२ ॥

१२। क्लेशमूलक कर्माशय दो प्रकार का है—दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय (१)। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें पुण्य-अपुण्यात्मक कर्माशय काम, लोभ, मोह और क्रोध से प्रसूत होते हैं। ये द्विविध कर्माशय (फिर) दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय हैं। तीव्र वैराग्य के साथ आचरित मन्त्र, तप और समाधि इन सबके द्वारा निष्पादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि तथा महानुभाव इनकी आराधना से परिनिष्पन्न जो पुण्य कर्माशय है, वह शीघ्र ही विपाक प्राप्त कर लेता है (अर्थात् फल प्रसव करता है)। उसी प्रकार तीव्र अविद्या आदि क्लेशपूर्वक भीत, व्याधित, कृपार्ह (दीन), शरणागत वा महानुभाव वा तपस्वी व्यक्तियों के प्रति बार-बार अपकार करने से जो पाप कर्माशय होता है वह भी शीघ्र ही विपाक प्राप्त कर लेता है। जैसे कि बालक नन्दीश्वर मनुष्य-परिणाम छोड़कर देवत्व में परिणत हुए एवं सुरेन्द्र (इन्द्रपद-प्राप्त) नहुष अपने दैव परिणाम को त्यागकर तिर्यक्त्व में परिणत हुए। उनमें नारकों को दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता तथा क्षीणक्लेशवाले पुरुषों को (जीवन्मुक्तों को) अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता (२)।

टीका १२ (१) कर्माशय=कर्मसंस्कार। धर्म और अधर्मरूप कर्मसंस्कार ही कर्माशय होता है। चित्त में कोई भाव होने से उसके अनुरूप जो स्थितिभाव (अर्थात् छाप लगा रहना) हो जाता है उसका नाम संस्कार है। संस्कार सबीज तथा निर्बीज दो प्रकार के हो सकते हैं। सबीज संस्कार भी द्विविध है—क्लिष्टवृत्तिज और अक्लिष्टवृत्तिज; अर्थात् अज्ञानमूलक संस्कार और प्रज्ञामूलक संस्कार। क्लेशमूलक सबीज संस्कारों का नाम कर्माशय है। शुक्ल, कृष्ण और शुक्लकृष्ण भेद से कर्माशय तीन प्रकार के होते हैं। अथवा धर्म और अधर्म, या शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार के हैं। प्रज्ञामूलक संस्कार का नाम अशुक्लाकृष्ण है।

कर्माशय के जाति, आयु तथा भोगरूप त्रिविध विपाक वा फल होते हैं। अर्थात् जिस संस्कार का उपर्युक्त प्रकार के विपाक होते हैं, वही कर्माशय है। विपाक होने पर उसका जो अनुभवमूलक संस्कार होता है, उसका नाम है वासना। वासना का विपाक नहीं होता, किन्तु किसी कर्माशय के विपाक के लिए यथायोग्य वासना रहनी चाहिए। कर्माशय बीजस्वरूप, वासना क्षेत्रस्वरूप, जाति वृक्षस्वरूप और सुख-दुःख फलस्वरूप होते हैं। पाठकों के सुखबोध के लिए संस्कार को वंशवृक्ष के क्रम से दिखाया जा रहा है—



संस्कार का नाश

१—निवृत्तिधर्म-द्वारा प्रवृत्तिधर्म क्षीण होता है।

२—उससे कर्माशय क्षीण होता है, अतः वासना प्रयोजनशून्य होती है।

३—उससे क्लिष्ट संस्कार क्षीण होता है; यही तनुत्व है।

४—प्रज्ञासंस्कार द्वारा क्लिष्टसंस्कार सूक्ष्मीभूत (दग्धबीजवत्) होता है।

५—सूक्ष्म क्लिष्टसंस्कार (सबीज) है; वह निर्बीज या निरोध-संस्कार द्वारा नष्ट होता है।

१२ (२) अविद्यादि-क्लेशपूर्वक आचरित जो कर्म हैं उनके संस्कार अर्थात् क्लिष्ट कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है या इस जन्म में फलवान् होता है; अथवा अदृष्टजन्मवेदनीय होता है या किसी भावी जन्म में फल देता है। संस्कार की तीव्रता के अनुसार फल का समय निकट होता है। भाष्यकार ने उदाहरण के साथ यह समझा दिया है।

नारकगण स्वकृत कर्म का फल भोगते हैं। नारकजन्म में भोगक्षय के बाद उनके अन्य प्रकार के परिणाम होते हैं। इस (नारक) जन्म में मनःप्रधान एवं प्रबल दुःख से क्लिष्ट होने के कारण उनमें स्वाधीन कर्म करने की सामर्थ्य

नहीं रहती। अतः उनके द्वारा दृष्टजन्मवेदनीय पुरुषकार होने की सम्भावना नहीं है; परन्तु रुद्धेन्द्रिय रहने के कारण और मन की अग्नि से ही जलते रहने के कारण वे ऐसा कोई अन्य अदृष्टाधीन सेन्द्रिय कर्म नहीं कर सकते जिसका फल उस नारक जन्म में विपक्व होगा। इसीलिए उनके नारक शरीर को भोग-शरीर कहा जाता है।

मनःप्रधान एवं सुख से अभिभूत देवताओं को भी दृष्टजन्मवेदनीय पुरुषकार प्रायः नहीं रहता। किन्तु, बात यह है कि देवताओं की इन्द्रियशक्ति सात्त्विक भाव से विकसित हुई है; अतः उनके द्वारा ऐसा अदृष्टाधीन सेन्द्रिय कर्म किया जा सकता है जिसके सुखादिविपाक दृष्टजन्म में ही हो जाते हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि समाधि-सिद्ध देवगणों का चित्त अपने अधीन होने के कारण दृष्टजन्म-वेदनीय कर्म रहता है; उसके द्वारा वे उन्नत होते हैं। जो योगी सास्मितादि-समाधि आयत्त कर उपरत होते हैं वे ब्रह्मलोक में अवस्थान कर अपने दैव शरीर से निष्पन्न ज्ञान द्वारा कैवल्य पाते हैं। अतः उनका दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय हो सकता है। दैव शरीर में ऐसा भेद रहने के कारण भाष्यकार ने उसे दृष्ट-जन्म-वेदनीयत्वहीन मान कर नारक के साथ उसका उल्लेख नहीं किया है।

मिश्रजी यह अर्थ करते हैं कि नारक या नरक-भोग के उपयुक्त कर्माशय का भोग मनुष्य-जीवन में नहीं होता है। दैव में भी तो ऐसा नहीं होता। अतएव भाष्यकार का वक्तव्य ऐसा नहीं है। भिक्षु जी ने ही ठीक व्याख्या की है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

भाष्यम्। सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेश-मूलः; यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा; तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपा-कस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति।

तत्रेदं विचार्यते—किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्, अथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति। द्वितीया विचारणा-किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्त्तयति, अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्त्तयतीति। न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्; कस्मात्, अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः साम्प्रतिकस्य च फल-क्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति। न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्; कस्मात्, अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारण-मित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति। न चानेकं

कर्मनैकस्य जन्मनः कारणम्; कस्मात्, तदनेकं जन्म युगपन्न सम्भवतीति क्रमेण वाच्यम्। तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः।

तस्माज्जन्म-प्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति, तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति। क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति। ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति।

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च। तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य; कस्मात्, यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः–कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति। तत्र कृतस्याऽविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य, यत्रेदमुक्तम्—"द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्त्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते"।

प्रधानकर्मण्यावापगमनम्, यत्रेदमुक्तम्—"स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्; कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापंगतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" इति।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्; कथमिति, अदृष्टजन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, नत्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य। यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति। तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति। न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरिति एकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति॥ १३॥

१३। क्लेश मूल में रहने के कारण कर्माशय के त्रिविध विपाक होते हैं—(१) जाति, आयु तथा भोग। सू०

भाष्यानुवाद—सभी क्लेश मूल में रहने से कर्माशय फलारम्भी होता है। क्लेशमूल उच्छिन्न होने पर ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार तुषबद्ध, अदग्ध-बीज-भाव शालिचावल में अङ्कुरित होने की सामर्थ्य रहती है, परन्तु तुषरहित, दग्ध-बीज-भाव चावल में नहीं रहती; इसी प्रकार क्लेशयुक्त कर्माशय विपाक-प्ररोहयुक्त होता है, परन्तु क्लेश-रहित या प्रसंख्यान से दग्धबीजभाव होने से नहीं होता। ऐसे कर्माशय का विपाक त्रिविध है—जाति, आयु तथा भोग।

इस विषय में (२) यह विचार्य है—क्या एक कर्म केवल एक ही जन्म का कारण होता है, या एक ही कर्म अनेक जन्मों का सम्पादन करता है ? इस पर दूसरा विचार है—क्या अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्म निष्पादन करते हैं अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म निष्पादन करते हैं ? एक कर्म कभी एक जन्म का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि काल से संचित, असंख्य अवशिष्ट कर्मों के और वर्तमान कर्मों के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने के कारण लोगों को कर्माचरण में कुछ आश्वासन नहीं रहता। अतः यह असम्मत है। और, एक कर्म अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक कर्मों में से एक-एक कर्म ही यदि अनेक जन्मों का निष्पादक हो जाए, तो अवशिष्ट कर्मों के लिए फलदान का समय नहीं रहेगा। अतः यह भी संगत नहीं है। अनेक कर्म अनेक जन्मों के भी कारण नहीं होते, क्योंकि वे अनेक जन्म तो एक साथ नहीं होते हैं। यदि कहो कि क्रम से होते हैं, तो भी पूर्वोक्त दोष आता है।

इसलिए यही मानना उचित है कि जन्म और मृत्यु के व्यवहित काल में विहित, विचित्र, प्रधान तथा उपसर्जनभाव में स्थित, पुण्यापुण्य कर्माशय-समूह मृत्यु के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं; और एक साथ, एक ही प्रयत्न से सम्मिलित होकर मरण-साधनपूर्वक सम्मूर्छित (=पिण्डीभूत) होकर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं। यह जन्म उस संचित कर्माशय से आयु पाता है एवं उसी आयु में उस कर्माशय के द्वारा भोग निष्पन्न होता है। वह कर्माशय चूँकि जन्म, आयु तथा भोग का हेतु है, इसलिए त्रिविपाक कहलाता है। इसी कारण कर्माशय को (पूर्वाचार्यों द्वारा) 'एकभविक' (एक भव=जन्म से सम्बन्धित) कहा गया है।

दृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्माशय केवल भोग का हेतु होने से एक-विपाकारम्भी, और आयु तथा भोग का हेतु होने से द्विविपाकारम्भी होता है जैसा कि नन्दीश्वर[1] एवं नहुष (द्विविपाक और एकविपाक) में देखा जाता है। क्लेश और कर्म-

---

१. मनुष्य नन्दीश्वर को सशरीर ही देवलोक की प्राप्ति हुई थी (द्र० भास्वती टीका (२।१३), अतः इनको मनुष्यप्रकृति देव माना जाता है (आप. ध. सू. १।२।११।३ टीका) । [**सम्पादक**]

विपाक के अनुभव से उत्पन्न वासना के द्वारा अनादिकाल से परिपुष्ट यह चित्त, चित्रीकृत पट के समान या सर्वत्र ग्रन्थियुक्त मत्स्यग्राही जाल के समान है। अतएव वासना अनेक-जन्मपूर्विका होती है। पर उक्त कर्माशय एकभविक है। जो संस्कार स्मृति उत्पादन करते हैं वे ही वासनाएँ हैं और वे अनादि-कालीन हैं।

यह एकभविक कर्माशय नियतविपाक और अनियतविपाक है। उनमें दृष्ट-जन्म-वेदनीय नियत-विपाक कर्माशय में ही एकभविकत्व रूप नियम संपूर्णतया लागू होता है, किन्तु अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में एकभविकत्व नियम संपूर्णतया नहीं घटता। कारण यह है कि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत-विपाक कर्माशय की तीन गतियाँ होती हैं; प्रथम—कृत अविपक्व कर्माशय का (प्रायश्चित आदि-द्वारा) नाश; द्वितीय—(अनियतविपाक) प्रधान कर्माशय के साथ विपाक प्राप्त कर उसके प्रबल फल के द्वारा क्षीण हो जाना; तृतीय—नियतविपाक प्रधान कर्माशय के द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक सुप्त रहना। उनमें कृत पर अविपक्व कर्माशय का नाश होता है—जैसे शुक्ल कर्म का उदय होने पर इसी जन्म में कृष्ण कर्म का नाश देखा जाता है। इस विषय में यह कहा गया है—"कर्म दो प्रकार के होते हैं। उनमें पाप-कर्म-राशि को पुण्य-कर्म-राशि नष्ट कर देती है। इसलिए सत्कर्म करते की इच्छा करो। वह सत्कर्म इसी लोक में आचरित होता है, कवियों (प्राज्ञों) ने तुम्हारे लिए यह प्रतिपादित किया है"[1]।

(अनियत-विपाक) प्रधान कर्माशय के साथ (सहकारिभाव से अप्रधान कर्माशय के) आवापगमन (या फलीभूत होना) के विषय में (पञ्चशिखाचार्य ने) यह कहा है—"(यज्ञादि से प्रधान पुण्य कर्माशय पैदा होता है, किन्तु उसके साथ पाप-कर्माशय भी जन्म लेता है। प्रधान पुण्य में वही पाप) स्वल्प, संकर (अर्थात् पुण्यके साथ मिश्रित), सपरिहार (अर्थात् प्रायश्चित आदि द्वारा परिहार्य), सप्रत्यवमर्ष (अर्थात् प्रायश्चित आदि न करने से बहुत सुख में भी वह कर्म-जनित दुःख से कर्मकारी को स्पर्श करता है [जैसे प्राणी अत्यन्त सुख में रहकर निराहार करने से उस दुःख से पीड़ित होता है] है, तो भी कुशल या पुण्य कर्माशय को क्षीण करने में वह असमर्थ होता है, क्योंकि मेरे अन्य बहुत

---

१. यह भिक्षुसम्मत व्याख्या है। मिश्र के मत में इस श्रुति का अर्थ यह है—पाप-कर्मराशि दो प्रकार की है—कृष्ण और कृष्णशुक्ल। इन दोनों कर्मराशियों को पुण्य-कर्म-राशि नष्ट कर देती है। यह पुण्य कर्म इसी लोक में आचरित होता है। कवियों ने तुम्हारे लिए ऐसी व्यवस्था की है।

कुशल कर्म हैं जिनमें यह (पापकर्माशय) आवाप (=विपाक) प्राप्त कर स्वर्ग में भी स्वल्प ही दुःख देगा।"[१]

नियतविपाक प्रधान कर्माशय के साथ अभिभूत होकर दीर्घकाल तक सुप्त रहना (जो तीसरी गति है) कैसा है, यही कहा जा रहा है। अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय के लिए मृत्यु को समान (साधारण) [अर्थात् बहुत से इस प्रकार के कर्मों का एक मात्र अभिव्यक्ति-कारण मृत्यु है; मृत्यु-द्वारा सभी कर्माशय व्यक्त होते हैं] अभिव्यक्ति-कारण कहा गया है। किन्तु, यह नियम (सम्पूर्णतया संघटित) नहीं होता है, क्योंकि मृत्यु ही अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्मों की सम्यक् अभिव्यक्ति का कारण है—ऐसी बात नहीं है। जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियत विपाक कर्म है, वह नष्ट होता है, या विपाक प्राप्त करता है अथवा दीर्घकाल तक सुप्त रहकर भी बीजभाव से स्थित रहता है, जब तक कि उसी के समान उसके अभिव्यञ्जन-हेतु कर्म उसे विपाकाभिमुख नहीं करते। उस विपाक के देश, काल तथा गति का अवधारण न होने के कारण कर्मगति विचित्र और दुर्विज्ञेय होती है। (उक्त स्थलपर) अपवाद होता है, पर इससे (एकभविकत्व रूप) उत्सर्ग की निवृत्ति नहीं होती। अतः 'कर्माशय एकभविक है' यही अनुज्ञात हुआ है।

टीका १३ (१) अविद्यादि अज्ञानवृत्तियाँ ही साधारण व्युत्थान-अवस्थाएँ हैं। ज्ञान-द्वारा उन सब अज्ञानों का नाश होने पर देहेन्द्रियादि से अभिमान सम्यक् हट जाता है, सुतरां चित्त भी निरुद्ध होता है। सम्यक् चित्तनिरोध होने से जन्म, आयु तथा सुखदुःख का भोग नहीं हो सकते क्योंकि वे विक्षेप के अविनाभावी होते हैं। अतः क्लेश मूल में रहने से अर्थात् कर्म क्लेशपूर्वक कृत होने से तथा उसके अनुरूप क्लिष्ट-कर्मसंस्कार संचित रहने से, और वह संस्कार उसके विपरीत विद्या द्वारा नष्ट न होने से जन्म, आयु तथा भोगरूप कर्मफल का प्रादुर्भाव होता है। जाति=मनुष्य, गो आदि देह। आयु=उस देह का स्थितिकाल। भोग=इस जन्म में जो सुख-दुःख-लाभ होता है, वह। इन तीनों का कारण कर्माशय है। कोई घटना निष्कारण नहीं घटती। आयुष्कर या उसके विपरीत कर्म करने से इस जीवन में ही आयुष्काल बढ़ा या घटा हुआ देखा जाता है। इसी जन्म के कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख भोग होना भी देखा जाता है। अनेक मनुष्य-शिशु वन्य पशुओं-द्वारा अपहृत तथा प्रतिपालित होकर प्रायः पशुरूप में परिणत हो गए हैं, ऐसे बहुत से उदाहरण हैं; अर्थात् दृष्टकर्म

१. यह किसी यज्ञकारी को लक्ष्य कर उसके वाक्य के रूप में कहा गया है। यही कारण है कि 'मे' (मेरे) इस पद का व्यवहार किया गया है। [**सम्पादक**]

के फल से—जैसे वृक का दूध पीना, अनुकरण करना इत्यादि के फल में—मनुष्यत्व से बहुत कुछ पशुत्व में परिणत होना देखा गया है।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि इस जन्म के कर्मों के संस्कार संचित होकर शारीरिक प्रकृति में दृष्टजन्मवेदनीय परिवर्त्तन करता है तथा आयु और भोगरूप फल देते हैं। अतएव कर्म ही जाति, आयु और भोग का कारण होता है।

अतः जो जाति, आयु तथा भोग इस जन्म के कर्म फल-रूप नहीं हैं, उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म होगा।

जाति, आयु तथा भोग का कारण क्या है? अभी तक मनुष्यों ने इनके तीन हेतुओं का आविष्कार किया है। प्रथम—ईश्वर का कर्त्तृत्व इनका कारण है। द्वितीय—इनका कारण अज्ञेय है अर्थात् मनुष्य के पास इन्हें जानने का उपाय नहीं है। तृतीय—कर्म ही इनका कारण हैं।

'ईश्वर इनका कारण हैं' इस मत का कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे ईश्वरवादी इसे अन्धविश्वास का विषय मानते हैं, युक्ति का विषय नहीं। उनके मत में ईश्वर अज्ञेय हैं फलतः जन्मादि का कारण भी अज्ञेय है। अज्ञेयवादी उस विषय को यदि 'हमारी दृष्टि में अज्ञात है' इस प्रकार कहें तो युक्तियुक्त बात होगी; पर वे जो 'मनुष्यमात्र के द्वारा अज्ञेय है' ऐसा कहते हैं इसके लिए प्रमाण नहीं देते। कर्मवाद ही उन दोनों वादों की अपेक्षा संगततर प्रतीत होता है।

१३ (२) कर्म-तत्त्व-विषयक कई साधारण नियमों की व्याख्या भाष्यकार ने की है। उन नियमों को समझने से भाष्य सुगम होगा। वे ये हैं—

क। एक कर्माशय अनेक जन्मों का कारण नहीं होता। क्योंकि, यदि वैसा हो तो कर्मफल को निष्पन्न होने का अवकाश नहीं रहता। चूँकि प्रत्येक जन्म में अनेक कर्माशय संचित होते हैं, इसलिए उनके फलों के लिए उचित समय मिलना असम्भव हो जाता है। अतः, एक पशु का वध करने से हजारों जन्म तक पशु होना पड़ेगा—इत्यादि नियम यथार्थ नहीं है।

ख। इसी प्रकार 'एक कर्म एक ही जन्म को निष्पन्न करता है' यह नियम भी यथार्थ नहीं हैं।

ग। अनेक कर्म भी एक साथ अनेक जन्मों का निष्पादन नहीं करते, क्योंकि एक साथ अनेक जन्म असम्भव हैं।

घ। अनेक कर्माशय एक ही जन्म घटाते हैं—यही नियम यथार्थ है। वास्तव में देखा भी जाता है कि एक जन्म में अनेक कर्मों के अनेक प्रकार के फल-भोग होते हैं; अतः अनेक कर्म एक ही जन्म के कारण हैं।

ङ। जिन कर्माशयों से एक जन्म होता है, वही जन्म उनसे आयु पाता है। और आयुष्काल में उन्हीं से सुख-दुःख का भोग होता है।

च। कर्माशय एकभविक है; अर्थात् प्रधानतः एक जन्म में संचित होता है। मान लो कि क = पूर्वजन्म, और ख = तत्परवर्ती जन्म है। ख-जन्म के कारण स्वरूप जो सब कर्माशय हैं वे प्रधानतः क-जन्म में संचित होते हैं। अतः कर्माशय 'एकभविक' है [एक भव या जन्म = एकभव; एक भव में निष्पन्न = एक-भविक] यह साधारण नियम है। इसका अपवाद आगे कहा जाएगा। एक जन्म से अवच्छिन्न सभी कर्माशय कैसे पर जन्म का साधन करते हैं, यह भाष्य में देखना चाहिए।

छ। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का फल तीन प्रकार का है—जाति, आयु तथा भोग। अतः वह त्रिविपाक है। किन्तु दृष्टजन्मवेदनीय कर्म के फल-स्वरूप जाति न होने के कारण अर्थात् उस जन्म में ही उस जन्म के संचित कर्मों का फलभोग होने के कारण या तो केवल भोग सिद्ध होता है, या आयु तथा भोग ये दो फल सिद्ध होते हैं। अतः दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय एकविपाक अथवा द्विविपाकमात्र हो सकता है।

ज। कर्माशय प्रधानतः एकभविक होता है, किन्तु वासना [२।१२ (१) टीका देखिए] अनेकभवनिष्पन्न है। अनादि काल से जो जन्म-प्रवाह चलता आ रहा है, उसमें जो जो विपाक अनुभूत हुए हैं तज्जनित संस्कार-स्वरूप वासना भी अनादि या अनेक-भव-पूर्विका होती है।

झ। कर्माशय नियतविपाक तथा अनियतविपाक होता है। जो अपने फल को सम्पूर्णतया उत्पन्न करता है, वह नियतविपाक है। और जो दूसरों से नियमित होने के कारण सम्पूर्णतया फलवान् नहीं हो सकता, वह अनियत-विपाक है।

ञ। एकभविकत्व नियम प्रधान नियम है। कुछ ही स्थलों में इसका अप-वाद रहता है।

ट। नियतविपाक दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में एकभविकत्व नियम सम्पूर्ण-तया लगता है, अर्थात् दृष्टजन्मवेदनीय जो नियतविपाक कर्माशय है, वह सम्पूर्ण रूप से एक जन्म में ही संचित होता है; अतः वह सम्पूर्णतया एकभविक है।

ठ। अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय में यह नियम सम्पूर्ण रूप से नहीं लगता, क्योंकि वैसे कर्म की तीन प्रकार की गति हो सकती हैं; यथा—

(१) अविपक्व कर्म का नाश। पुण्य पाप से नष्ट होता है, पाप पुण्य से। जैसे कि क्रोध के आचरण से उत्पन्न पापकर्माशय अक्रोधाभ्यास रूप पुण्य से नष्ट होता है। अतः कर्म करते ही उसका फल भोगना पड़ेगा—इस प्रकार का

नियम अपवादशून्य नहीं है। यदि वह कर्म विरुद्ध-कर्म से अथवा ज्ञान से नष्ट नहीं होता तो कर्म-फल अवश्य होता है।

जिस एक जन्म में कर्माशय संचित होता है (अर्थात् एक जन्म से अवच्छिन्न कर्माशय) वह उसी जन्म में कुछ नष्ट भी हो सकता है, अतः अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय का एकभविकत्व नियम (अर्थात् एक जन्म के सभी कर्मों की समाहार-स्वरूपता) सम्पूर्णतया लागू नहीं होता।

(२) प्रधान कर्माशय के साथ एकत्र विपक्व होने से अप्रधान कर्माशय का फल क्षीणभाव से अभिव्यक्त होता है, अतः उस स्थल पर भी एकभविकत्व नियम पूर्णतया नहीं लगता।

प्रधान कर्माशय=जो मुख्य या स्वतन्त्रता से फलदायक हो।

अप्रधान कर्माशय=जो गौण या सहकारिभाव से स्थित हो।

जो कर्म तीव्र काम, क्रोध, क्षमा, दया आदि से आचरित या पुनः पुनः आचरित होता है उसका आशय या संस्कार ही प्रधान कर्माशय होता है। वह फल दान करने के लिए 'उन्मुख' रहता है ; और उसके विपरीत कर्माशय अप्रधान होता है, उसका फल स्वाधीन भाव से नहीं होता, परन्तु प्रधान की सहकारिता से होता है। भविष्य जन्म का हेतुभूत कर्माशय इस प्रकार के प्रधान और अप्रधान कर्माशयों की समष्टि है। अप्रधान कर्माशय का सम्यक् फल नहीं होता, इसलिए 'इस जन्म के सभी कर्मों का फल परजन्म में ही घटेगा' ऐसा एकभविकत्व नियम अप्रधान कर्म के लिए सम्यक् नहीं घटता।

(३) अतिप्रबल या प्रधान कोई कर्माशय विपाक प्राप्त करने पर उससे अन्य जो अप्रधान कर्माशय है, वह अभिभूत हो जाता है। उसका फल उस समय नहीं होता है, परन्तु भविष्य में अपने अनुरूप कर्म के द्वारा अभिव्यक्त होकर उसका फल हो सकता है।

इसमें भी एक जन्म के कुछ कुछ अप्रधान कर्मों के अभिभूत हो जाने के कारण एकभविकत्व-नियम उस स्थल में नहीं घटता।

इस नियम का उदाहरण यह है—एक व्यक्ति ने बचपन में कुछ धर्माचरण किया। तदनु विषय-लोभ से यौवन आदि में बहुत-से पशूचित पाप-कर्म किए, मरण-काल में उस नियतविपाक पापकर्मराशि से उसी के अनुसार कर्माशय बन गया। उसके फलस्वरूप जो पाशव जन्म हुआ उसमें उस अप्रधान धर्माचरण का फल सम्यक् प्रकाशित नहीं हुआ। किन्तु उस व्यक्ति के धर्माचरण का अंश, जो केवल मानव-जन्म में ही भोग्य है, संचित रहेगा और जब वह प्राणी मानव-जन्म लेगा, तब प्रकाशित होगा। यदि वह धर्माचरण करे तो वह अंश उसका सहायक

हो सकता है। इस उदाहरण में धर्म तथा पाप कर्म अविरुद्ध हैं, यह समझ लेना चाहिए। विरुद्ध होने पर अवश्य ही पाप के द्वारा पुण्य नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ क्षमा एक धर्म है और चौर्य एक अधर्म। चौर्यद्वारा क्षमा नष्ट नहीं होती। क्रोध या अक्षमा द्वारा ही क्षमा नष्ट होती है।

ड। इन सब नियमों का अवधारण करके भाष्य का पाठ करने से उसका अर्थबोध सुगम होगा।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्यहेतुका दुःखफला इति। यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥

१४। वे (जाति, आयु तथा भोग) पुण्य और अपुण्य के कारण सुखफल तथा दुःखफल होते हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—वे अर्थात् जन्म, आयु और भोग; ये पुण्य-रूप हेतु प्राप्त होने से सुखफल तथा अपुण्य-रूप हेतु प्राप्त होने से दुःखफल होते हैं (१)। जिस प्रकार यह (लौकिक) दुःख प्रतिकूलात्मक है, उसी प्रकार विषयसुखकाल में भी योगियों को उसमें प्रतिकूलात्मक दुःख होता है।

टीका १४ (१) दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं; अतः जो कर्म अविद्या आदि के विरुद्ध होते हैं या जिनके द्वारा वे क्षीण होते हैं, वे पुण्य कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मोंद्वारा अविद्या आदि अपेक्षाकृत क्षीण हो जाते हैं, वे भी पुण्य कर्म कहलाते हैं और अविद्यादि के पोषक कर्म अपुण्य या अधर्म कर्म होते हैं।

धृति (सन्तोष), क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मकर्म के रूप से गणित होते हैं (द्र० मनु ६।९२)। मैत्री तथा करुणा और तन्मूलक परोपकार, दान आदि भी अविद्या के कुछ विरोधी होने के कारण पुण्य कर्म होते हैं। क्रोध, लोभ, और मोहमूलक हिंसा, तथा असत्य, इन्द्रियलौल्य आदि पुण्यविपरीत कर्म-समूह को पाप कर्म कहा जाता है। गौड़पाद जी कहते हैं कि यम, नियम, दया और दान—ये धर्म या पुण्य कर्म हैं (द्र० सांख्यकारिकाभाष्य २३)।

भाष्यम्—कथं तदुपपद्यते ?

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाऽचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः। तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा चोक्तम्। नानुपहत्य भूतानि उपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति; विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्, या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्।

न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्, कस्मात्? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति; तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति।

अथ का तापदुःखता? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाऽचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति च, इति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति, स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवति। इत्येषा तापदुःखतोच्यते।

का पुनः संस्कारदुःखता? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति; एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति। एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति, कस्मात्? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्।

इतरन्तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते। तदेवमनादिदुःखस्रोतसा व्युह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। "रूपातिशया वृत्त्यति-

शयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते"। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति, गुण-प्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति। तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या, तस्याश्च सम्यग्दर्शनम-भावहेतुः। यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतुरारोग्यम्भैषज्यमिति; एवम् इदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद्यथा संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं हेयं वा न भवितुमर्हति इति, हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभय-प्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

भाष्यानुवाद—यह (विषयसुख काल में भी योगियों को दुःख की प्रतीति होना) कैसे जान पड़ता है ?—

१५। परिणाम, ताप और संस्कार इस त्रिविध दुःख से तथा गुणवृत्ति के अभिभाव्य-अभिभावकता-स्वभाव के कारण विवेकी पुरुष को सभी (विषयसुख भी) दुःखकर जान पड़ते हैं (१)। सू०

सभी का सुखानुभव राग से अनुविद्ध (अनुराग से युक्त) चेतन (स्त्री-पुत्रादि) तथा अचेतन (गृहादि) साधन के अधीन होता है। इस प्रकार सुखानुभव में रागज कर्माशय होता है। सभी दुःखसाधनभूत विषयों से द्वेष करते हैं और उनमें मुग्ध होते हैं; इस प्रकार द्वेषज और मोहज कर्माशय भी होते हैं। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं (२।४ स्थ विच्छिन्नक्लेश की व्याख्या में)। प्राणियों का उपघात न करके उपभोग कभी संभव नहीं हो सकता। अतः (विषयसुख में) हिंसा-कृत शारीर कर्माशय भी उत्पन्न होता है। यह विषयसुख अविद्या नाम से उक्त हुआ है, (अर्थात्) तृष्णा-क्षय होने पर भोग्य विषय में इन्द्रियों की जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है, वही सुख है। और लोलुपता या भोग-तृष्णा के कारण जो अनुपशान्ति है वही दुःख (२) है।

परन्तु भोगाभ्यास-द्वारा इन्द्रियों की वितृष्णता (पारमार्थिक सुख का कारण) नहीं की जा सकती, क्योंकि भोगाभ्यास के फलस्वरूप राग और इन्द्रियों का कौशल (पटुता) बढ़ जाते हैं। अतएव भोगाभ्यास पारमार्थिक सुख का हेतु नहीं है। बिच्छू के विष से डरनेवाले व्यक्ति की साँप-द्वारा डस जाने पर जो अवस्था होती है वही विषय-वासनाग्रस्त सुखार्थी की होती है। वह दुःख के अपार दल-दल में फँस जाता है। ये प्रतिकूल दुःखान्त कर्म (विषयभोग) सुखावस्था में भी केवल योगियों को ही दुःख देते हैं (अर्थात् ये अयोगियों को

भोग के समय नहीं, अपितु परिणाम में दुःख देते हैं; विवेकी योगियों को ये ही सुखप्रदानकाल में भी दुःख देते हैं)।

तापदुःखता क्या है ? सभी का तापानुभव द्वेषयुक्त चेतन और अचेतन साधनों के अधीन होता है। इसी प्रकार उनमें द्वेषज कर्माशय होता है। लोग सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए शरीर, मन और वाक्य से चेष्टा करते हैं, दूसरों पर अनुग्रह करते हैं या उन्हें पीड़ा देते हैं और इस प्रकार परानुग्रह और परपीड़ा-द्वारा धर्म और अधर्म का संचय करते हैं। यह कर्माशय लोभ और मोह से उत्पन्न होता है। इसे तापदुःखता कहा जाता है।

संस्कार-दुःखता क्या है ? सुखानुभव से सुखसंस्काराशय होता है और दुःखानुभव से दुःखसंस्काराशय होता है। ऐसे कर्मों से सुखकर या दुःखकर विपाकों का अनुभव होने पर (उस वासना से) पुनः कर्माशय का संचय होता है (३)। इस प्रकार यह अनादि विस्तृत दुःखस्रोत प्रतिकूलरूप से योगी को ही उद्विग्न करता है। कारण, विद्वान् (ज्ञानी का चित्त) चक्षुगोलक-सा कोमल होता है। जिस प्रकार मकड़ी का जाला आँखों में पड़ने पर ही स्पर्श-द्वारा दुःख देता है, अन्य किसी अङ्ग में नहीं, उसी प्रकार ये सब परिणाम आदि दुःख चक्षुगोलकसदृश (कोमल-हृदय) योगी को ही दुःख देते हैं, अन्य अनुभवकारी को नहीं।

साधारण व्यक्ति अनादि वासना से विचित्र, चित्तस्थित अविद्या से अनुविद्ध रहते हैं। अहंकार और ममता त्याज्य होने पर भी वे उन्हीं के अनुगत होते हैं; वे निज कर्मोपार्जित दुःख बार-बार प्राप्त करते हैं, त्याग करते हैं और त्याग कर फिर प्राप्त करते हैं और इस प्रकार जन्ममरण के बीच बाह्य और आध्यात्मिक कारणों से उत्पन्न त्रिविध दुःख से अनुप्लावित रहते हैं। योगी अपने आपको और अन्य जीवों को इस अनादि दुःखस्रोत में बहते देखकर समग्र-दुःख-क्षय के कारणभूत सम्यग्दर्शन की शरण लेते हैं।

'गुणवृत्तिविरोध के कारण भी विवेकी के लिए सभी दुःखमय ही हैं'। प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिरूप बुद्धिगुण पारस्परिक उपकाराधीन होकर शान्त, घोर अथवा मूढ़रूप त्रिगुणात्मक प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। गुणवृत्त चल अर्थात् सदा विकार-शील हैं, अतः चित्त को क्षिप्रपरिणामी कहा गया है। "बुद्धि के रूप (धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य–ये आठ बुद्धि के रूप हैं) एवं वृत्तियों (शान्त, घोर और मूढ़-ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं) का अतिशय या उत्कर्ष होने से परस्पर (अपने से विपरीत रूप के या वृत्ति के साथ) विरुद्ध आचरण करते हैं; और सामान्य (अप्रबल रूप या वृत्तियाँ) अतिशय के या प्रबल के साथ प्रवर्त्तित होते हैं।" इसी प्रकार गुणसमूह परस्पर के

आश्रय (मिश्रण) से सुख, दुःख तथा मोहरूप प्रत्यय निष्पादित करते हैं। अतः सभी प्रत्यय सर्वरूप (सत्त्व, रजः तथा तमः रूप) हैं, किन्तु उनके जो (सात्त्विक, राजसिक या तामसिक) विशेष हैं वे (किसी एक) गुण की प्रधानता से होते हैं। अतः (चूँकि कोई भी केवल सत्त्व वा केवल सुखात्मक नहीं हो सकता) विवेकी के लिए सभी (वैषयिक सुख) दुःखमय होते हैं।

इस विपुल दुःखराशि के प्रभव का कारण है अविद्या; और सम्यग्दर्शन है अविद्या के अभाव का कारण। जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र चतुर्व्यूह है–रोग, रोगहेतु, आरोग्य तथा भैषज्य—उसी प्रकार यह मोक्षशास्त्र भी चतुर्व्यूह है–संसार, संसारहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय। उनमें से अत्यन्त दुःखमय संसार हेय है; प्रधान-पुरुष का संयोग हेयहेतु है; संयोग की शाश्वती निवृत्ति हान (मोक्ष) है; सम्यग्दर्शन हानोपाय है। इनमें हाता का स्वरूप हेय या उपादेय नहीं हो सकता; क्योंकि हेय होने पर उच्छेदवाद और उपादेय होने पर हेतुवाद (इन दोनों दोषों) का संघटन होता है। परन्तु इन दोनों का प्रत्याख्यान करने पर शाश्वतवाद (रहता है), यही सम्यग्दर्शन है (४)।

टीका १५ (१) संसार अत्यन्त दुःखमय है। ज्ञानोन्नत, शुद्धचरित्र योगीगण विचारपूर्वक संसार को सूत्रोक्त हेतुओं के अनुसार अत्यन्त दुःखमय जानकर उसकी निवृत्ति करने के लिए यत्न करते हैं। राग से परिणामदुःख होता है। द्वेष से ताप-दुःख और सुख एवं दुःख के संस्कारों से संस्कार-दुःख होते हैं। राग सुखानुशयी है तथा रागकाल में सुखोदय होने पर भी वह परिणाम में असंख्य दुःख उत्पन्न करता है, यह भाष्यकार ने स्पष्टतया दिखाया है।

दुःखकर विषय में द्वेष होता है, अतः द्वेष रहने से दुःखबोध अवश्यंभावी है। सुख और दुःख का अनुभव होने पर उससे वासनारूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। अनादिविस्तृत अतीत संस्कार भी स्मृतिजनक होकर दुःखदायी होते हैं। विचार-पूर्वक स्मरण करने पर महाव्याधि की स्मृति के समान दुःख का ही स्मरण होता है। परंतु वासनाएँ कर्माशय की क्षेत्रस्वरूपा हैं, अतः वासनारूप-संस्कार कर्माशय का संचय करते हैं और असंख्य दुःख उत्पन्न करते हैं।

द्वेष भी एक प्रकार का अज्ञान है, अतः द्वेष से दुःख होता है। शङ्का हो सकती है कि पाप में द्वेष करने से सुख होता है, दुःख तो नहीं होता? यह सत्य है किन्तु पाप में द्वेष का अर्थ है–दुःख में द्वेष। उसके द्वारा दुःख का प्रतीकार करने से सुख ही होगा। किन्तु फिर भी प्रतीकारसाधन के समय दुःख होता है, अतः उसमें भी दुःख होता ही है; यद्यपि वह अत्यल्प होता है और परिणाम में सुख ही अधिक होता है; दुःख-बोध करने से ही पाप में द्वेष होता है, अतः द्वेषजनित दुःख एवं दुःखजनित द्वेष—द्वेष का यह लक्षण निर्दोष है।

रागमूलक परिणाम-दुःख भावी है, द्वेषमूलक ताप-दुःख वर्त्तमान है और संस्कारदुःख अतीत है—यह मणिप्रभा-टीकाकार का मत है। यह भाष्यकार की उक्ति के अनुकूल ही है। वस्तुतः भाष्यकार का तात्पर्य यह है:—रागकाल में सुख है किन्तु परिणाम में या भविष्य में दुःख होता है। द्वेषकाल में वर्त्तमान और भविष्य दोनों में ही दुःख होता है। अतीत सुख-दुःख के संस्कार से भी भविष्य में दुःख होता है। इस प्रकार तीनों ओर से ही (हेय) अनागत दुःख या अवश्यंभावी दुःख रहा करता है।

कार्य-पदार्थ के धर्म का विचार करने से भी संसार के दुःखकरत्व का निश्चय होता है। मूल कारण-पदार्थ के विचार द्वारा भी जान पड़ता है कि संसार में विशुद्ध और निरवच्छिन्न सुख की प्राप्ति असंभव है। सत्त्व, रजः तथा तमः ये तीनों गुण चित्त के मूल हैं। ये स्वभावतः एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। किसी कार्य में किसी गुण की प्रधानता रहे, तो उसे उस प्रधान गुण के अनुसार सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। सात्त्विक में राजस और तामस भाव भी निहित रहते हैं। सुख, दुःख और मोह ये तीन यथाक्रम सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ हैं। प्रत्येक वृत्ति में त्रिगुण रहने के कारण रजः-तम से हीन निरवच्छिन्न सुख नहीं हो सकता तथा गुणसमूह के अभिभाव्य-अभिभावकता-रूप स्वभाव के कारण गुण-वृत्तियाँ परस्पर को अभिभव कर देती हैं। इसलिए सुख के पीछे दुःख और मोह अवश्यंभावी हैं। अतः संसार में निरवच्छिन्न सुखप्राप्ति असम्भव है।

१५ (२) वाचस्पति मिश्र ने इस अंश की यह व्याख्या की है—'हम जो विषयसुख को ही सुख मानते हैं, यह ठीक नहीं; भोग में तृप्ति या वितृष्णता के कारण जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है, उसे पारमार्थिक सुख कहते हैं और लौल्य के कारण जो तृष्णा है, उसे दुःख कहते हैं। इसमें यह शङ्का हो सकती है कि वैतृष्ण्यजात सुख तो रागानुविद्ध नहीं होता; अतः उसमें परिणाम-दुःख कैसे होगा? यह सत्य है, परन्तु भोगाभ्यास उस वैतृष्ण्यजात सुख का हेतु नहीं होता, क्योंकि वह जिस प्रकार सुख देता है, उसी प्रकार तृष्णा को भी बढ़ाता है।'

विज्ञानभिक्षु ने ठीक इस प्रकार की व्याख्या नहीं की है। इस प्रकार के जटिल भाव को छोड़कर साधारण सुख और दुःखरूप से व्याख्या करने पर भी यह संगत तथा विशद होता है, जैसे—भोग में या भोग के पीछे इन्द्रियतृप्ति के कारण जो उपशान्ति या प्रवृत्तिहीनता है, वही सुख का लक्षण है (क्योंकि सभी सुखों में कुछ तृप्ति तथा उपशान्ति रहती है); और लौल्य के कारण जो

अनुपशान्ति होती है, वही दुःख है। किन्तु भोगाभ्यास कर सुख पाने की इच्छा करने से राग तथा इन्द्रियपटुता बढ़ जाती है, अतः परिणाम में अधिकतर दुःख होता है।

१५ (३) संस्कार का अर्थ है—वासनारूप संस्कार, धर्माधर्म-संस्कार नहीं। धर्माधर्म-संस्कार परिणाम तथा ताप-दुःख में उक्त हुआ है। वासना से केवल स्मृति होती है। यह स्मृति जाति, आयु तथा भोग की स्मृति है। जाति आदि की यह वासना स्वयं दुःख दान नहीं करती, परन्तु वह धर्माधर्म-कर्माशय की आश्रयस्थल होने के कारण ही दुःख की हेतु होती है। जैसे एक चूल्हा साक्षात् जलाने का कारण नहीं होता, किन्तु वह तप्त-अङ्गार-संचय का हेतु होता है; और वे अङ्गार ही दहन के कारण हैं। वासना भी इसी प्रकार की है; वासनारूप चूल्हे में कर्माशय रूप अङ्गार संचित होते हैं, उसी के द्वारा दुःखरूप दाह होता है।

१५ (४) हाता का (जो दुःख का हान या त्याग करता है) स्वरूप उपादेय नहीं होता है अर्थात् हाता पुरुष कार्य-कारण-रूप में परिणत नहीं होते। उपादेय का अर्थ है–चित्तेन्द्रिय का उपादान-भूत। ऐसा होने मे पुरुष में परिणामित्व दोष लग जाता है और कूटस्थ अवस्था रूप जो कैवल्य है, उसकी भी सम्भावना नहीं रहती।

हाता का स्वरूप अपलाप करने योग्य भी नहीं है, अर्थात् चित्त से अतिरिक्त पुरुष नहीं हैं, इस प्रकार का वाद भी युक्त नहीं है। यदि ऐसा होता हो दुःख-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दुःखनिवृत्ति तथा चित्तनिवृत्ति एक ही बात है। यदि चित्त से अतिरिक्त पदार्थ मूलस्वरूप न रहे तो चित्त की सम्यक् निवृत्ति की चेष्टा नहीं हो सकती। वास्तव में 'मैं चित्त को निवृत्त कर दुःख-शून्य होऊँगा' इस प्रकार के निश्चय से ही हम मोक्ष-साधन करते हैं। चित्त-निवृत्ति होने पर 'मैं दुःखशून्य होऊँगा', अर्थात् 'दुःख आदि की वेदना से शून्य मैं रहूँगा'—ऐसा सोचना पूर्णतया संगत है। चित्त के अतिरिक्त यह आत्मसत्ता ही हाता का स्वरूप या प्रकृत रूप होता है। इस सत्ता को स्वीकार न करने से अर्थात् उसे शून्य कहने से 'मोक्ष किसके लिए' इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता; इस प्रकार उच्छेद-वाद-रूप दोष आ जाता है।

अतएव हाता के स्वरूप की उपादेयता तथा असत्ता–ये दोनों दृष्टियाँ ही हेय हैं; परन्तु स्वरूपहाता शाश्वत या अविकारी सत् पदार्थ है–इस प्रकार का शाश्वतवाद ही सम्यक् दर्शन है। बौद्धों के ब्रह्मजालसूत्र में जो शाश्वतवाद

तथा उच्छेदवाद[1] का उल्लेख है, उसके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।[2]

भाष्यम्—तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्त्तते, वर्त्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद् यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम्; तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद— अतः इस शास्त्र को चतुर्व्यूह कहा जाता है। (उन व्यूहों में) १६। अनागत दुःख हेय है (१)। सू०

अतीत दुःख उपभोग द्वारा अतिवाहित होने के कारण हेयविषय नहीं हो सकता है; और वर्त्तमान दुःख वर्त्तमान क्षण में भोगारूढ़ है, वह भी दूसरे क्षण में हेय या त्याज्य नहीं हो सकता; अतः जो अनागत दुःख है, वही अक्षिगोलककल्प (अर्थात् कोमल चित्त) योगी को दुःख देता है, अन्य प्रतिपत्ता (ज्ञाता) को नहीं; अतः यह अनागत दुःख ही हेय होता है।

---

१. ब्रह्मजाल (दीघनिकायान्तर्गत) का वाक्य यह है— सन्ति भिक्खवे एके समनब्राह्मणा उच्छेदवादा सत्ततस्स उच्छेदं विनासं विभवं पञ्ञापेन्ति सत्त हि वुत्खुहि (दीघनिकाय १।३।९—१०)। बौद्धग्रन्थों में प्रायेण शाश्वतवाद–उच्छेदवाद का उल्लेख मिलता है— नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम् (माध्यमक १८। १०)— "तस्मान्न कारणमुच्छिन्नं नापि शाश्वतमिति शक्यते व्यवस्थापयितुम् इति" (वृत्ति)। **[सम्पादक]**

२. ग्रन्थकार स्वामीजी ने जिस सम्बन्धहीनता की बात कही है, उसमें हेतु यह है— जिस हेतु से सांख्यगण आत्मा को शाश्वत कहते हैं, उसका उल्लेख दीर्घनिकायान्तर्गत ब्रह्मजालसुत्त में नहीं किया गया, वल्कि अन्य प्रकार से शाश्वतता की वात कही गई है। बौद्धगण सांख्यविद्या में अत्यन्त अनभिज्ञ थे—यह भी निश्चित ही है (ग्रन्थकार स्वामीजी कृत प्रज्ञापारमिता की भूमिका, पृ. १७, बंगला ग्रन्थ)। प्रसंगत यह ज्ञातव्य है कि R. Garbe ने यह कहा था कि ब्रह्मजालोक्त मत सांख्यीय दृष्टि को ज्ञापित करता है (Samkhya Philosophy, Introduction p. 57)। यह लक्षणीय है कि वौद्ध उच्छेददृष्टि और शाश्वतदृष्टि का निषेध करते हैं; यहाँ उच्छेद-हेतु-वादद्वय का निषेधपूर्वक शाश्वतवाद का समर्थन किया गया है। **[सम्पादक]**

टीका १६ (१) हेय या त्याज्य क्या है ? इसका सबसे अधिक संगत और स्पष्ट उत्तर है—अनागत दुःख हेय है।

भाष्यम्—तस्माद् यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः, दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढ़ाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन भवति पुरुषस्य स्वं दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम्। तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः दुःखस्य कारणमित्यर्थः।

तथा चोक्तम् "तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः" कस्मात् ? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् ; तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वम्, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति; कस्मात्, त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति।

अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् ; कस्मात्, तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात् ; सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात् सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति दृश्यते ॥ १७ ॥

भाष्यानुवाद—यह जो हेय कहा जाता है, इसका कारण निर्दिष्ट करते हैं—

१७। द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेयहेतु है। सू०

द्रष्टा बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष है; और दृश्य बुद्धिसत्त्व में उपारूढ़ समस्त धर्म (गुण) होते हैं। यह दृश्य अयस्कान्त मणि की भाँति सन्निधिमात्र से उपकारी होता है (१); यह दृश्यत्व-धर्म-द्वारा स्वामी दृशिरूप पुरुष का 'स्व' रूप होता है, (क्योंकि, दृश्य या बुद्धि) अनुभव तथा कर्म का विषय होकर अन्यस्वरूप में स्वभावतः प्रतिलब्ध (२) होने से स्वतन्त्र होने पर भी परार्थता के कारण परतन्त्र है (३)। इस दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का अनादि पुरुषार्थ-जन्य जो संयोग है, वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण होता है।

यह भी कहा गया है (पञ्चशिखाचार्य द्वारा)-"बुद्धि के साथ पुरुष-संयोग के हेतु का विशेष रूप से वर्जन करने पर यह आत्यन्तिक दुःखप्रतीकार होता है", क्योंकि परिहार्य दुःखहेतु का प्रतीकार देखा जाता है, जैसे—पदतल की भेद्यता, कण्टक का भेदनकर्तृत्व, और परिहार—कण्टक का तलवा पर अनधिष्ठान या पादत्राण-व्यवधान में अधिष्ठान। ये तीन विषय जो जानता है वह इस विषय

में प्रतीकार करता हुआ कण्टकभेद-जनित दुःख नहीं पाता। क्योंकि उसमें तीनों (भेद्य, भेदक और परिहार-रूप)के धर्मों की उपलब्धि करने की सामर्थ्य रहती है।

परमार्थ विषय में भी, तापक रजोगुण द्वारा सत्त्व तप्त होता है; क्योंकि तपिक्रिया कर्माश्रय है, वह सत्त्वरूप कर्म में ही (विक्रियमाण भाव में) हो सकती है, अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में नहीं। दर्शितविषयत्व के कारण सत्त्व तप्यमान होने से तत्स्वरूपानुरोधी पुरुष भी अनुतप्त-सा देखे जाते हैं (४)।

टीका १७ (१) अयस्कान्त मणि की उपमा[1] का अर्थ यह है—पुरुष के परिणत न होने तथा दृश्य के साथ न मिलने पर भी, दृश्य पुरुष के निकटस्थ होने के कारण उपकरण-क्षम होता है। निकटस्थता (सान्निध्य) यहाँ पर दैशिक नहीं है, किन्तु स्व-स्वामी-भावरूप प्रत्ययगत सन्निकर्ष है, अर्थात् 'मैं इसका ज्ञाता हूँ' इस प्रकार का भाव। इसमें 'यह' या दृश्य अनुभव और कर्म का विषयस्वरूप से दृश्य या ज्ञेय होता है। अनुभव का और कर्म का विषय त्रिविध है—प्रकाश्य, कार्य या आहरणीय और धार्य। कार्यविषय कर्मेन्द्रिय का है; ये स्फुट कर्म होते हैं। धार्य विषय प्राण-कार्य तथा संस्कार हैं; ये अस्फुट कर्म और अस्फुट बोध हैं। कार्य और धार्य विषय का भी अनुभव होता है। प्रकाश्य विषय तो साक्षात् ही अनुभूत होता है। इन विषयों का अनुभव करने वाला 'मैं' हूँ—इस प्रकार का प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय ही बुद्धि है। 'मैं विषय का अनुभवकर्ता हूँ' इस प्रकार का भाव भी 'मैं' जानता हूँ,—इस द्वितीय 'ज्ञाता मैं' का लक्ष्य शुद्ध द्रष्टा है, वह बुद्धि का (यहाँ पर बुद्धि अनुभवकर्ता तथा अनुभव का एकताप्रत्यय है) अर्थात् साधारण 'अहंभाव' का प्रतिसंवेदी है। १।७ (५) टीका और 'पुरुष या आत्मा' [१९] निबन्ध[2] देखिए।

यहाँ संयोग का स्वरूप विशद रूप से कहा जा रहा है। द्रष्टा और दृश्य का जो संयोग है, वह एक तथ्य है। क्योंकि 'मैं शरीरादि ज्ञेय हूँ' और 'मैं

---

१. यह ध्यान देना चाहिये कि अयस्कान्तमणि उपमा-दृष्टि में उपन्यस्त हुआ है, अतः उसका अभीप्ट एकदेश ही ग्राह्य होगा, जैसा कि दिखाया गया है। यह कोई न्यायशास्त्रीय दृष्टान्त (= व्याप्ति का संवेदनस्थान) नहीं है कि इसमें कोई न्याय-दोष होने पर सिद्धान्त की असिद्धि होगी। पङ्गु-अन्ध भी उपमा है (सांख्य-कारिका २१)। उपमा से कुछ सिद्ध नहीं होता, सिद्धमत को इससे समझाया जाता है। मत-प्रतिष्ठापक युक्ति है, जो पृथक् ज्ञातव्य है। इन उपमाओं के unsound (असंगत) होने पर (T. M. P. Mahadevan कृत Outline of Hinduism, p. I 22) भी कोई मत unsound नहीं होता, यह ज्ञातव्य है। [सम्पादक]

२. यह निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। [सम्पादक]

ज्ञाता हूँ' ऐसे प्रत्यय देखे जाते हैं। अतः 'अहंभाव' ही ज्ञाता और ज्ञेय का संयोगस्थल है।

अब यह समझना है कि इस संयोग का स्वरूप क्या है। अतः सर्वप्रथम संयोग के लक्षण-भेदादि जानना आवश्यक है। एकाधिक पृथक् वस्तुएँ अपृथक् अथवा अविरल की तरह बुद्ध होने से वे संयुक्त हैं, ऐसा कहा जाता है। संयोग दैशिक, कालिक और अदेशकालिक (देश-काल से भिन्न वस्तु का आश्रयी) —इस प्रकार त्रिविध है।

अव्यवहित रूप में अवस्थित बाह्य वस्तु का दैशिक संयोग होता है। इसका उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। जो केवल कालिक सत्ता है अर्थात् जो कालक्रम से उदय-लय-शील है जैसे मन अथवा जो देशकालव्यापी है, तद्गत भावों का संयोग ही कालिक संयोग है; यथा विज्ञान के साथ सुखादि वेदनाओं का संयोग। विज्ञान चित्तधर्म है, और सुख भी। विज्ञान और सुख इन दो चित्तधर्मों का एक ही काल में बोध तथा उदय होना संभव नहीं है; अतएव वास्तव दृष्टि में पहले और पीछे उनका बोध होता है (यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साक्षात् बुद्ध होता है वही उदित या वर्त्तमान है), अथच उनका यह व्यवधान लक्षित या बुद्ध नहीं होता। अतः ये उदित धर्म के रूप में ही अविरल भाव से बुद्ध होते हैं। जो देशकालातीत सत्ता है उसका संयोग अदेशकालिक है। उसका एक मात्र उदाहरण है—मूल द्रष्टा तथा मूल दृश्य का एक या संयुक्त भाव में प्रतीत होना।

अन्यान्य ज्ञानों के समान संयोगज्ञान भी यथार्थ और विपर्यस्त हो सकता है। जब किसी यथार्थ अवस्था को लक्ष्य कर संयोग शब्द का व्यवहार करते हैं तब वह 'संयोग'-पद यथाभूत अर्थ का प्रकाश करता है, जैसे वृक्ष और पक्षी का संयोग यथार्थ विषय का द्योतक (प्रकाशक) होता है। किन्तु दृष्टि-दोष से द्रव्यों को संयुक्त जानने से वह विपर्यस्त संयोगज्ञान होगा। किन्तु यथार्थ हो या विपर्यस्त, दोनों स्थलों में संयोग के बोद्धा के निकट द्रव्यों का जो संयुक्त ज्ञान तथा उसका जो यथायथ फल होते हैं, यह सत्य है। संयोग या सन्निवेश-विशेष केवल पद का अर्थमात्र है; सभी संयुक्त पदार्थ वस्तु हैं। (पद का अर्थ सत्य हो सकता है, परन्तु वह वस्तु न भी हो सकता है)।

असंयुक्त द्रव्य को संयुक्त होने के लिए क्रिया की आवश्यकता है। वह क्रिया एक की, परस्पर की और संयोग-बोद्धा की भी हो सकती है। इन सबोंका उदाहरण देना अनावश्यक है। फिर भी यह देखना चाहिए कि संयोग-बोद्धा की क्रिया से यदि असंयुक्त द्रव्य संयुक्त जान पड़े तो वह विपर्यास-मात्र है।

द्रष्टा तथा मूल दृश्य देशकाल-व्यापी सत्ता नहीं हैं। देश तथा काल एक-

एक प्रकार का ज्ञान है, ऐसे ज्ञान का ज्ञाता अवश्य ही देशकालातीत पदार्थ होगा और ज्ञान का उपादान भी (त्रिगुण भी) स्वरूपतः देशकालातीत पदार्थ होगा। उक्त कारण से द्रष्टा और दृश्य का संयोग निकटस्थ या एक काल में अवस्थित नहीं है। विशेषतः, वे चैत्तिक धर्म और धर्मी नहीं हैं, इस कारण से भी उनका संयोग कालिक नहीं हो सकता। मूल द्रष्टा और मूल दृश्य किसी के भी धर्म नहीं होते तथा वास्तव धर्म के समाहाररूप धर्मी भी नहीं होते। अतएव वे कालिक संयोग में संयुक्त हुए पदार्थ भी नहीं हैं। पुरुष में अतीतानागत कोई भी धर्म नहीं है, क्योंकि ऐसी सभी वस्तुएँ विकारशील हैं। मूला प्रकृति में भी अतीतानागत धर्म नहीं हैं। प्रकाश, क्रिया और स्थिति कोई धर्म नहीं हैं, किन्तु मौलिक स्वभाव हैं।

शङ्का हो सकती है कि क्रिया तो 'विकारशील' है, अतः वह धर्म क्यों नहीं होगी ?—मूल क्रिया 'विकारी' नहीं अपितु 'विकार' मात्र होती है। नित्य ही विकार रहा करता है (द्र० तत्त्वप्रकरण[1] ३३)। वह यदि कभी अविकारी होता, तभी रज 'विकारी' होता। इस प्रकार की धर्म-धर्मी-दृष्टि से अतीत होने के कारण द्रष्टा और दृश्य कालातीत सत्ता है। अतः देशकालातीत होने के कारण उनका संयोग 'भेद लक्षित न होना' रूप अदेशकालिक होता है। द्रष्टा और दृश्य पृथक् सत्ता होने से उन्हें अपृथक् मानना विपर्यय ज्ञान है, अतः अविद्या ही इस संयोग का मूल है, जैसा कि सूत्र में कहा गया है—**तस्य हेतुरविद्या (२।२४)**।

इस संयोग का बोद्धा कौन है ?—'मैं' ही उसका बोद्धा हूँ। क्योंकि मैं सोचता हूँ कि 'मैं शरीरादि हूँ' और 'मैं ज्ञाता हूँ'। 'मैं' तो उस संयोग का फल है, अतः 'मैं' कैसे संयोग का बोद्धा होऊँ ?—क्यों नहीं होऊँ, संयोग हो जाने पर ही 'मैं' होता हूँ या मैं उसे समझ सकता हूँ। प्रत्येक ज्ञान के समय ज्ञाता और ज्ञेय अविभक्त रहते हैं, पीछे हम विश्लेषण कर जानते हैं कि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय नामक पृथक् पदार्थ हैं; अतः कहते हैं कि जो ज्ञान है वह ज्ञाता और ज्ञेय का संयोग है या ज्ञाता और ज्ञेयरूप पृथक् भावों का एक ही प्रत्यय में या ज्ञान में अन्तर्गत होना है। 'मैं अपने को जानता हूँ'—ऐसा हमें जान पड़ता है; हमारा हेतु एक स्वप्रकाश वस्तु होने के कारण ही उस प्रकार का गुण 'मैं-पन' (अहंभाव) में रहता है। उसी से ही 'मैं' संयोगजात होने पर भी मैं समझता हूँ कि मैं द्रष्टा और दृश्य हूँ।

यह संयोग किसकी क्रिया से उत्पन्न होता है ?—दृश्य में रहने वाले रजोगुण की क्रिया से उत्पन्न होता है। रजोगुण-द्वारा प्रकाश का उद्घाटन या द्रष्टा

---

१. यह निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। [सम्पादक]

की भाँति प्रकाश होना ही अहंभाव या द्रष्टा-दृश्य का संयोग है। इन दोनों पदार्थों की ऐसी योग्यता है कि उससे 'स्वामी' और 'स्व' इस प्रकार का भाव होता है (१।४ द्रष्टव्य)। अहंभाव उसी भाव का मिलन-स्वरूप एक ज्ञान या प्रकाशविशेष है।

संयोग किसके द्वारा प्रवाहित होता है?—संयुक्त भाव के संस्कार-द्वारा ही ऐसा होता है। इस प्रकार के विपर्यस्त ज्ञान के विपर्याससंस्कार से अहंभाव-रूप विपर्यस्त प्रत्यय पुनः उत्पन्न होकर 'अहंभाव' का प्रवाह चल रहा है। प्रत्येक ज्ञान उदित तथा लीन होता है, फिर एक अन्य ज्ञान होता है; अतः संयोग सभंग होता है, वह अ-विच्छेद एकतान नहीं होता। ज्ञाता और ज्ञेय अनादिविद्यमान होने के कारण उनका ऐसा सभंग संयोग (अहंभाव-ज्ञान-रूप) अनादिप्रवाहस्वरूप होता है अर्थात् क्षणिक संयोग तथा वियोग अनादि काल से चले आ रहे हैं (अनादि होने पर भी वह अनन्त न भी हो सकता है)। इस अविवेक-प्रवाह का आदि न रहने के कारण उसका प्रारम्भ कब हुआ, ऐसा प्रश्न हो नहीं सकता। अतः बहुत से व्यक्ति यह जो सोचते हैं कि पहले प्रकृति तथा पुरुष असंयुक्त थे, पीछे अकस्मात् उनका संयोग हो गया—यह एक अत्यन्त अदार्शनिक और अयुक्त चिन्ता है। इस संयोगरूप अविवेक का विरुद्ध भाव ज्ञाता और ज्ञेय का विवेक या पार्थक्यबोध है। उससे दूसरे ज्ञान का निरोध होता है। अन्य समस्त ज्ञान के निरुद्ध होने पर तेल के अभाव से प्रदीप के बूझ जाने के समान विवेक भी निरुद्ध होता है। यही ज्ञाता और ज्ञेय का वियोग है; परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि पुरुष संयोग तथा वियोग इन दोनों का ही समानरूप से साक्षी है।

द्रष्टा और दृश्य का जो अदेशकालिक संयोग है, वह इन दोनों पदार्थों की स्वाभाविक योग्यता का ज्ञापक है। स्वाभाविक रूप से हम इस योग्यता का ज्ञान करके ज्ञानार्थक 'ज्ञा', 'दृश्', 'काश्', 'बुध' आदि धातुओं से विरुद्ध कोटि के ज्ञापक 'ज्ञाता-ज्ञेय', 'द्रष्टा-दृश्य' आदि पद बनाते हैं और उनके द्वारा समझने के लिए तथा इन पदों का व्यवहार करने के लिए बाध्य होते हैं। ये सब पद विरुद्ध (polar) होने पर भी संयुक्त (अहंभाव में) ही हैं।

द्रष्टा-दृश्य का संयोग एक विशेष प्रकार के सन्निवेशवाचक पदों का अर्थ-मात्र होता है; यह मिथ्याज्ञानमूलक है। मिथ्याज्ञान एकाधिक सत्पदार्थों को लेकर होता है, अतः सत्पदार्थ के उपादान तथा विषय होने के कारण तथा उसके एक प्रकार का ज्ञान होने के कारण संयुक्त वस्तुरूप अहंभाव तथा अहंभाव से उत्पन्न इच्छादि और सुखदुःखादि सब सत्पदार्थ होते हैं; और सत् विवेकरूप सत्यज्ञानद्वारा साध्य दुःखमुक्ति भी सत्पदार्थ है। यह ध्यान रखना

है कि ज्ञान का विषय सत्य हो अथवा मिथ्या, ज्ञान सत्पदार्थ है—असत् या 'अभाव' नहीं।

समीपस्थता को संयोग (दैशिक) कहते हैं और निकट जाने को 'संयोग होना' कहते हैं। 'नजदीक रहना' कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु सन्निवेश या संस्थानविशेष है। उसीप्रकार 'नजदीक जाना' भी एक क्रिया है, उसका फल है संयोग शब्द का अर्थ। संयुक्त रहने पर या संयुक्त प्रतीत होने पर वस्तुओं के गुणों में अनेक परिवर्त्तन देखे जा सकते हैं, जैसे जस्ता और ताँबा संयुक्त होने पर पीतवर्ण होता है। पर सूक्ष्मभाव से देखने पर जस्ता और ताँबा स्वरूप में ही रहते हैं। उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य की संयुक्त प्रतीति होने पर द्रष्टा दृश्य के समान तथा दृश्य द्रष्टा के समान लक्षित होते हैं। यही अहंभाव और अहंभाव से उत्पन्न प्रपञ्च है।

संक्षेप में संयोग की युक्तियों का विश्लेषण इस प्रकार है:—

दैशिक संयोग—निकटस्थ देश में अवस्थान। यह स्पष्ट है।

कालिक संयोग—काल=क्षणप्रवाह। एक साथ दो क्षण नहीं रहते, अतः अविरल क्षण में एकत्र अवस्थितिरूप कालिक संयोग नहीं हो सकता है। कालिक संयोग का उदाहरण शान्त, उदित तथा अनागत इन तीन प्रकार के धर्मों का एक समय में अवस्थान है, जिसे हमें सोचना ही पड़ता है; अर्थात् हम कहते हैं, अतीत और अनागत 'हैं'; अतः वर्त्तमान, अतीत और अनागत अविरल भाव से हैं, इस प्रकार सोचना पड़ता है। अतएव त्रिविध धर्म के समाहार-रूप धर्मी में ही कालिक संयोग उपलब्ध होता है।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग अदेशकालिक है अर्थात् न तो निकटस्थ अवस्थान है और न धर्मों का समाहार; क्योंकि द्रष्टा का धर्म दृश्य नहीं है और दृश्य का धर्म द्रष्टा नहीं। वे पृथक् असंकीर्ण सत्ता हैं। अहंभाव में उनका संयोग देखा जाता है, क्योंकि 'मैं' का कुछ अंश द्रष्टा-रूप में और कुछ ज्ञेय या दृश्य रूप में अनुभूत होता है। यह ठीक है कि यह अनुभव अहंभाव के ज्ञान के समय नहीं होता, पीछे हम इसका अवधारण करते हैं। योग्यताविशेष से अर्थात् एक का द्रष्टृत्व और अन्य का दृश्यत्व ऐसे स्वभाव से ही उस प्रकार के संयोग की संभावना होती हैं।

अत्यन्त पृथक् दो पदार्थों को एक मानना यहाँ विपर्यय या अविद्या है, अतः यही संयोग का हेतु होता है। इस प्रकार विपर्ययज्ञान संस्कार-प्रत्ययक्रम से अनादि होने के कारण इस संयोग को भी अनादि कहना पड़ता है। द्रष्टा कहने से दृश्य आता है और दृश्य कहने से द्रष्टा आता है; दोनों की ऐसी अन्योन्याश्रित योग्यता का चिन्तन अनिवार्य है। यह योग्यताविशेष ही संयोग है।

१७ (२) 'अन्यस्वरूप में दृश्य प्रतिलब्धात्मक' इस अंश की द्विविध व्याख्या हो सकती है। मिश्र और भिक्षु दोनों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। प्रथम व्याख्या है—अन्यस्वरूप में अर्थात् चैतन्य से भिन्न स्वरूप में या जड़स्वरूप में प्रतिलब्ध (अनुव्यवसित) होना ही दृश्य की आत्मा या स्वरूप है। चित् तथा जड़ इन दोनों की जो प्रतिलब्धि होती है, वह सत्य है। चित् स्वप्रकाश और दृश्य जड़ है—इस प्रकार का निश्चित बोध होता है। अतः शुद्ध नहीं, स्वप्रकाश नहीं, चिद्रूप बोधमात्र नहीं, पर चित् से भिन्न ऐसा 'जड़ है' ऐसा बोध भी होता है। इस दृष्टि से यह व्याख्या सत्य है।

द्वितीय व्याख्या है—दृश्य अन्यस्वरूप द्वारा अर्थात् निज से भिन्न चैतन्य-स्वरूप द्वारा प्रतिलब्ध होता है। वस्तुतः दृश्य अप्रकाशितस्वरूप है। चित्संयोग से वह प्रकाशित होता है। वह प्रकाश चैतन्य का उपमाविशेष-मात्र (चित् का अवभास) है; इसलिए दृश्य चैतन्यस्वरूप द्वारा प्रतिलब्धात्मक है।

इसे भलीभाँति समझना आवश्यक है। सूर्य के ऊपर कोई अस्वच्छ द्रव्य उसे पूर्णतया न ढँके रहे तो वह कृष्णवर्ण आकारविशेष-सा दिखाई देता है; वस्तुतः उसके कारण सूर्य का केवल कुछ अंश दिखाई नहीं पड़ता है। मान लीजिये कि यह आच्छादक वस्तु चौकोर है तो कहना पड़ेगा, सूर्य में एक चौकोर अंश नहीं दीखता। वस्तुतः इस चौकोर वस्तु का ज्ञान सूर्य की उपमा से या सूर्य के रूप से ही हो सकता है। द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध भी इसी प्रकार का है।

दृश्य को जानने का अर्थ है-द्रष्टा को भलीभाँति न जानना। एक उदाहरण लें—मैंने नीलवर्ण को जाना-यह एक दृश्य की प्रतिलब्धि है। नील तैजस परमाणु का प्रचय विशेष है; परमाणु में नीलत्व नहीं है; नीलत्व की प्रतीति उस प्रचय से होती है। विक्षेपसंस्कारवश बहुत से परमाणुओं को प्रचितभाव से ग्रहण करना ही नीलत्व का स्वरूप है। रूप-परमाणु नीलादि-विशेषशून्य रूपमात्र है। उसका ज्ञान इन्द्रियगत अभिमान का विकार या क्रियाविशेषमात्र है। वास्तव में अभिमान की क्रिया का अर्थ है-'मैं परिणामशील हूँ' इस प्रकार का भाव। परिणाम का अर्थ है-पूर्व अवस्था का लय तथा पर अवस्था का उदय-इस प्रकार की भाव-धारा। परिणाम का सूक्ष्मतम-अधिकरण क्षण है। अतः स्वरूपतः नीलज्ञान क्षणप्रवाह में उदीयमान और लीयमान अहंभावमात्र है (अवश्य ही साधारण अवस्था में यह लय लक्षित नहीं होता)। अहंभाव के लयकाल (अर्थात् चित्तलय) में द्रष्टा की स्वरूपस्थिति होती है और उदयकाल में द्रष्टा का दृश्यसारूप्य होता है। अतः दोनों चित्तलयों के (द्रष्टा की स्वरूपस्थिति के) बीच में जो द्रष्टा की स्वरूप में अस्थिति का बोध या स्वरूप का अबोध अर्थात्

विकृत बोध है, वही क्षणावच्छिन्न विषयज्ञान है। उसका प्रचयभाव ही नीलादिज्ञान होता है।

इस प्रकार जाना जाता है कि नीलादि विषयज्ञान या दृश्यबोध द्रष्टा को प्रकारविशेष से न जानना मात्र है। द्रष्टा द्वारा मूलतः अहंभाव का ही प्रकाश होता है। नीलज्ञान आदि उस अहंभाव के उपाधिभूत हैं। उस रूप में वे भी द्रष्टा के स्वबोध द्वारा ही प्रकाशित होते हैं।

इसे और भी विशद रूप में कहा जाता है। 'मैं नील जान रहा हूँ' इस प्रकार के विषयज्ञान में द्रष्टा भी अन्तर्गत रहता है ('मैं जान रहा हूँ यह भी मैं जानता हूँ'–इस प्रकार का भाव ही द्रष्टा-विषयक बुद्धि है)। नीलज्ञान बहुत सूक्ष्म चित्तक्रियाओं की समष्टि है। यह प्रत्येक क्रिया लय–उदय धर्म से युक्त है। वस्तुतः बहु-क्रिया का अर्थ है– उदीयमान तथा लीयमान क्रिया का प्रवाह-मात्र। उस प्रवाह में प्रत्येक लय है––द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति (१।३ सूत्र देखिए), और उदय है––स्वरूपस्थिति का अभाव। अतः दोनों लयों का मध्यस्थ भाव है–स्वस्वरूप का अबोध या स्वरूप में अस्थिति का बोधमात्र। यही दृश्यस्वरूप है। पूर्वोक्त सूर्य की उपमा में जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से आच्छादक द्रव्य की अवधि प्रकाशित होती है, क्षणावच्छिन्न-प्रत्यय-समूह भी उसी प्रकार स्वबोध की उपमा में प्रकाशित होते हैं। अतएव दृश्य अन्यस्वरूप या पुरुषस्वरूप द्वारा प्रतिलब्ध भावस्वरूप हुआ।

ये दोनों व्याख्याएँ परस्पर अविरुद्ध होने के कारण विभिन्न दृष्टिकोण के अनुसार सत्य हैं। द्रष्टा के लक्षण की व्याख्या में यह और भी स्पष्ट होगा।

१७ (३) दृश्य स्वतन्त्र होने पर भी परार्थता के कारण परतन्त्र है। दृश्य का मूल रूप अव्यक्त है। द्रष्टा द्वारा उपदृष्ट न होने पर दृश्य अव्यक्त रूप से रहता है। परन्तु दृश्य स्वनिष्ठ परिणाम धर्म द्वारा परिणत होता रहता है। अतः वह स्वतन्त्र भाव पदार्थ है, किन्तु द्रष्टा का विषय होने के कारण परार्थ या द्रष्टा का अर्थ (विषय) है। वस्तुतः व्यक्त दृश्यभाव या तो भोग अर्थात् इष्टानिष्टरूप अनुभाव्य विषय है अथवा अपवर्ग अर्थात् विवेकरूप विषय है। इनके अतिरिक्त (पुरुष-विषयता को छोड़कर) दृश्य के दृश्यत्व-भाव का अन्य कोई अर्थ नहीं है। इस दृष्टि से ही दृश्य परतन्त्र है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गौ-आदि पशु स्वतन्त्र होने पर भी मनुष्य के भोग्य या अधीन होने के कारण परतन्त्र हैं।

१७ (४) प्रकाशशील भाव सत्त्व है। जिस भाव में प्रकाश गुण का आधिक्य और क्रिया तथा स्थितिरूप रजः एवं तमोगुण की अल्पता है वही सात्त्विक भाव होता है। सात्त्विक भावमात्र ही सुखकर या इष्ट है, क्योंकि

क्रिया की आपेक्षिक अल्पता और प्रकाश की अधिकता ही सुखकर भाव का स्वरूप होता है। अतिक्रिया के विराम में या सहज क्रिया का अतिक्रम न करने पर उसके साथ ही जो बोध होता है, वही सुखकर है; यह सभी का अनुभव है। सहज क्रिया का अर्थ है–जितनी क्रिया करने में समस्त इन्द्रिय अभ्यस्त हैं, उतनी क्रिया। उस क्रिया के द्वारा जड़ता हटने पर जो बोध होता है वही सुख का स्वरूप होता है। स्फुट वोध तथा अपेक्षाकृत अल्प क्रिया नहीं होने से अनुभव सुखकर नहीं होता।

सुखदुःखादि या सात्त्विकादि भाव आपेक्षिक हैं। अतः पहले या पीछे के बोध और क्रिया से स्फुटतर बोध और अल्पतर क्रिया होने से ही यह अवस्था पहले या पीछे की अवस्था की अपेक्षा सुखकर ज्ञात होती है। कायिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के सुख का यही नियम है। देह में हाथ फेराने से जब तक सहज क्रिया अतिक्रान्त नहीं होती तभी तक सुख का बोध होता है, बाद में पीड़ा होने लगती है। शरीर के स्वच्छन्दता-बोध का अर्थ है—सहज क्रिया-जनित बोध। आगन्तुक कारण से अत्यधिक क्रिया (overstimulation) होने पर ही पीड़ा का बोध होता है। आकाङ्क्षारूप मानस-क्रिया सहज होने पर सुख होता है, अत्यधिक होने पर दुःख होता है। इष्टप्राप्ति होने पर आकाङ्क्षा की निवृत्ति (मन की अतिक्रिया का ह्रास) होने से भी सुख होता है।

मोह या सुख-दुःख-विवेक-हीन अवस्था में क्रिया रुद्ध या अल्प होती है, किन्तु स्फुट-बोध नहीं रहता। इसकी अपेक्षा सुख में बोध स्फुटतर होता है। अतएव स्थिरतर प्रकाश-शील भाव (या सत्त्व) सुख का अविनाभावी है; और क्रियाशील भाव या रजः दुःख का (कायिक या मानस) अविनाभावी है। रज से सत्त्व के विप्लुत होने पर ही दुःख-बोध होता है। अतएव भाष्यकार ने सत्त्व को तप्य एवं रज को तापक कहा है।

गुणातीत पुरुष तप्य नहीं होते। वे ताप और अताप के निर्विकार साक्षी या द्रष्टामात्र हैं। सत्त्व तप्त अर्थात् क्रियाधिक्य द्वारा विप्लुत होने पर उसके साक्षी पुरुष भी अनुतप्त-सा प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सत्त्व की प्रबलता से आनन्दमय-से प्रतीत होते हैं।[1] किन्तु उस प्रकार विकृतवत् होना वास्तविक

---

१. पुरुष अनुतप्त-सा होता है—यह सांख्ययोगमत यहाँ प्रतिपादित हुआ है। यह अनुतप्त होना पारमार्थिक नहीं है—यह सुतरां सिद्ध होता है। यह आश्चर्य है कि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में इस तप्य-तापक-भाव को लेकर सांख्यपक्ष को दूषित करने की चेष्टा की है (शारीरक २।२।१०) और विचार के अन्त

नहीं है। यह आरोपित धर्म है। वस्तुतः तपिक्रिया (तापदान) द्वारा सत्त्व ही विकार या अवस्थान्तर प्राप्त होता है। वृत्ति का साक्षित्व ही पुरुष का दर्शित-विषयत्व है।

भाष्यम्—दृश्यस्वरूपमुच्यते—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

प्रकाशशीलं सत्त्वम्, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति; एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्त्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः, पुरुषार्थकर्त्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः, प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्त्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति; एतद् दृश्यमित्युच्यते।

तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते; तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति। तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्त्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति।

तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगः, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति; तथा चोक्तम्—"अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि उपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छङ्कते" इति।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति; एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते—स हि तत्फलस्य भोक्तेति; बुद्धेरेव पुरुषार्थाऽपरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्त्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः; स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—दृश्य का स्वरूप कहते हैं—

में कहा है कि यदि यह तप्यतापकभाव पारमार्थिक न हो तो कोई दोष नहीं होता। तप्य-तापक-भाव के मूल में अविद्या है, यह सांख्यीय दृष्टि है, अतः वह भाव पारमार्थिक नहीं है—यह सांख्य का मत है। द्र० ग्रन्थकार कृत 'शांकरदर्शन और सांख्य' शीर्षक बंगला निबन्ध। [सम्पादक]

१८। दृश्य प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिशील है; वह भूतेन्द्रियात्मक या भूत और इन्द्रिय इन दो प्रकारों से स्थित है और भोगापवर्गसाधक विषयस्वरूप (१) है। सू०

सत्त्व प्रकाशशील, रजः क्रियाशील और तमः स्थितिशील है। ये सब गुण परस्पर-उपरक्तप्रविभाग, संयोगविभागरूप धर्म से युक्त हैं और अन्योन्याश्रय द्वारा पृथ्वी आदि मूर्त्ति उत्पादन करते हैं; परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से रहने पर भी इनका शक्तिप्रविभाग असम्मिश्र है; ये तुल्य तथा अतुल्यजातीय शक्तिभेद के अनुपाती हैं और अपने अपने प्राधान्यकाल में कार्योत्पादन में उद्भूतवृत्ति (२) हैं; गुणत्व में भी (अप्राधान्य काल में भी) व्यापारमात्र द्वारा प्रधानान्तर्गतभाव से इनका अस्तित्व अनुमित होता है (३); पुरुषार्थकर्त्तव्यता द्वारा ये (कार्य उत्पादन करने की) सामर्थ्य से युक्त होने के कारण अयस्कान्त मणि की भाँति सन्निधिमात्रोपकारी होते हैं (४)। और ये प्रत्यय के बिना (धर्माधर्मादि हेतु या प्रयोजक के बिना) एकतम (प्रधान) की वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं (५)। इस प्रकार के गुण प्रधानशब्द के वाच्य होते हैं। इनको ही दृश्य कहा जाता है।

यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् ये गुण जिस प्रकार भूतभाव या पृथिव्यादि सूक्ष्म-स्थूलरूप में परिणत होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियभाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप में भी परिणत होते हैं (६)। यह (दृश्य) बिना प्रयोजन के प्रवर्त्तित नहीं होता है, अपितु प्रयोजन-(पुरुषार्थ-) वश ही प्रवर्त्तित होता है। अतः यह दृश्यपदार्थ पुरुष के भोगापवर्ग के लिए ही प्रवर्त्तित होता है।

इन दोनों में (द्रष्टा और दृश्य के) एकतापन्न-भाव में इष्ट तथा अनिष्ट गुणों का स्वरूपावधारण भोग होता है; और भोक्ता का स्वरूपावधारण अपवर्ग होता है। इन दोनों के अतिरिक्त दूसरा दर्शन नहीं है। कहा भी है "तीनों गुणों के कर्त्ता होने पर भी (अविवेकी व्यक्ति) अकर्त्ता, तुल्यातुल्यजातीय, गुणक्रिया-साक्षीरूप जो चतुर्थ पुरुष है उसमें उपनीयमान (बुद्धि द्वारा समर्प्यमाण) सभी धर्मों को उपपन्न (सांसिद्धिक) जानकर यह आशङ्का नहीं करते हैं कि इससे पृथक् अन्य कोई दर्शन (=चैतन्य) नामक वस्तु है" (यह पञ्चशिखाचार्य्य का वाक्य है)।

ये भोगापवर्ग बुद्धि-कृत हैं, बुद्धि में ही वर्त्तमान हैं; अतः वे पुरुष में व्यपदिष्ट किस प्रकार होते हैं ? जिस प्रकार युद्ध में जय तथा पराजय सैनिकों में वर्त्तमान होने पर भी राजा में व्यपदिष्ट होती हैं और वे ही उस फल के भोक्ता होते हैं, उसी प्रकार बन्ध और मोक्ष बुद्धि में वर्त्तमान रहकर भी पुरुष में व्यपदिष्ट होते हैं और पुरुष ही उस फल के भोक्ता होते हैं। पुरुषार्थ की (७)

अपरिसमाप्ति ही बुद्धि का बन्ध है और तदर्थसमाप्ति मोक्ष है। इस प्रकार ग्रहण (जानना), धारण (धृति), ऊह (मन में उठाना अर्थात् स्मृतिगत विषय का ऊहन), अपोह (चिन्तन द्वारा कुछ विषयों का निराकरण), तत्त्वज्ञान (अपोहपूर्वक कुछ विषयों का अवधारण) और अभिनिवेश (तत्त्वज्ञान-पूर्वक तदाकारताभाव)—ये सब गुण बुद्धि में वर्त्तमान होने पर भी पुरुष में अध्यारोपित होते हैं और पुरुष उस फल के भोक्ता होते हैं। [१।६ (१) देखिए]।

टीका १८ (१) प्रकाशशील=प्रकाशनशील या बोध्य होने योग्य। क्रिया-शील=परिवर्तनशील। स्थितिशील=प्रकाश तथा क्रिया का रोधनशील। सब प्रकार के ज्ञान तथा ज्ञेय, प्रकाश के उदाहरण हैं। सब प्रकार के क्रिया-कर्म, क्रिया के उदाहरण हैं। सब प्रकार के संस्कार तथा धार्य भाव, स्थिति के उदाहरण हैं। सत्त्वादि का परिणाम द्विविध है–भूत और इन्द्रिय अर्थात् व्यवसेयरूप और व्यवसायरूप। व्यवसाय=प्रकाशन, क्रिया और धारण। व्यवसेय=ज्ञेय, कार्य और धार्य। ज्ञान, कार्य आदि वस्तुतः सत्त्व-रज-तम की मिली हुई वृत्तियाँ हैं; अतः इनमें से प्रत्येक में प्रकाश, क्रिया और स्थिति प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ वृक्षज्ञान लीजिए; वृक्ष का ज्ञान या बोधांश ही प्रकाश है, जिस क्रियाविशेष द्वारा वृक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह उस ज्ञान में लगी हुई क्रिया है और ज्ञान की जो शक्ति-अवस्था है—जो उद्घाटित होकर ज्ञानस्वरूप होती है—वही उसके अन्तर्गत धृति या स्थिति है।

निष्कर्ष यह है कि अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण—इन सब करणों में जो बोध प्राप्त होता है वही प्रकाश है; जो अवस्थान्तरता मिलती है वह क्रिया है; तथा क्रिया में जो शक्तिरूप पूर्व और जड़रूप पर अवस्था (stored energy) प्राप्त होती है, वही स्थिति है। यही व्यवसायरूप करण के प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं। व्यवसेयरूप विषय में प्रकाश्य (रूपरसादि), कार्य या प्रचालनयोग्यता और जाड्य या प्रकाश्य तथा कार्य की रुद्धावस्था—ये तीन प्रकार व्यवसेय मिलते हैं, जो प्रकाशक्रिया-स्थिति-गुणात्मक हैं।

वस्तुतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति को छोड़कर ग्राह्य और ग्रहण का अर्थात् बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का अन्य कोई तत्त्व नहीं जाना जाता या कुछ जानने योग्य नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सर्वत्र ही प्रकाश, क्रिया और स्थिति ये तीन उपर्युक्त गुण ही दिखाई देते हैं। बाह्य जगत् शब्दादि पाँच गुणों द्वारा ज्ञात होता है। शब्दादि में बोध या प्रकाश है; बोध का कारण क्रिया है; एवं उस क्रिया का कारण शक्ति है। व्यावहारिक घटादि भी विशेष-विशेष शब्दादिरूप प्रकाशधर्म, क्रियाधर्म, काठिन्यादिरूप जाड्यधर्मों की समष्टि के

अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इसी प्रकार चित्त में भी प्रख्या, प्रवृत्ति और धृति-रूप प्रकाश, क्रिया और स्थिति–ये तीन गुण ही देखे जाते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि बाह्य तथा आन्तर जगत् में मूलतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति– ये तीन मौलिक गुण ही हैं। जिसका शील या स्वभाव केवल प्रकाश है वह सत्त्व है; सत्त्व का अर्थ है द्रव्य या 'अस्ति इति' रूप से ज्ञायमान भाव। प्रकाशित या बुद्ध होने पर वही विषय सत् कहा जाता है। अतः प्रकाशशील भाव का नाम सत्त्व है। क्रियाशील भाव रजः है; रजः या धूलि जिस प्रकार धूसरित या मलिन कर देती है उसी प्रकार सत्त्व को मलिन या विप्लुत कर देने के कारण क्रियाशील भाव का नाम रजः होता है। क्रिया द्वारा अवस्थान्तर होने के कारण सत्त्व (या स्थिर सत्ता) असत् के समान या अवस्थान्तरित या लयोदयशील होता है। इसी कारण क्रिया सत्त्व का विप्लव-कारी होती है। स्थितिशील भाव ही तमः है। यह तम या अँधेरे के समान स्वगतभेदशून्य, अलक्ष्यवत् आवृत अवस्था में रहती है; अतः इसका नाम तमः है।

अतः प्रकाशशील सत्त्व, क्रियाशील रजः और स्थितिशील तमः ये तीनों भाव बाह्य तथा आन्तर जगत् के मूल तत्त्व हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई मूल ज्ञेय नहीं है। जो कोई जो कुछ भी कहे, सभी इन त्रिगुणों के अन्तर्गत ही होंगे।

दृश्य का अर्थ है द्रष्टा-द्वारा प्रकाश्य (पुरुष-प्रकाश्य) अर्थात् पुरुष के योग से जो व्यक्त होने योग्य है वही दृश्य कहलाता है; फलतः ज्ञाता के या द्रष्टा के संयोग से जो व्यक्त होता है, अन्यथा जो अव्यक्त रह जाता है वही दृश्य होता है। भूत और इन्द्रिय अर्थात् ग्राह्य और ग्रहण ये द्विविध पदार्थ ही दृश्य की व्यवस्थिति हैं; इनके सिवाय और कुछ व्यक्त दृश्य नहीं है। भूत और इन्द्रिय त्रिगुणात्मक हैं, अतः त्रिगुण ही मूल दृश्य हैं। दृश्य तथा ग्राह्य में भेद है। दृश्य का अर्थ है—पुरुष-प्रकाश्य; ग्राह्य का अर्थ है–इन्द्रिय-ग्राह्य।

द्रष्टा का द्विविध अर्थ है—अर्थात् समस्त दृश्य द्विविध अर्थस्वरूप या विषयस्वरूप हैं। भोग तथा अपवर्ग ही यह अर्थ है। दृश्य भोग-स्वरूप अथवा अ-भोग्य अर्थात् अपवर्गस्वरूप होता है। भोग का अर्थ है–इष्ट या अनिष्टरूप से दृश्य की उपलब्धि। दृश्य की उपलब्धि का अर्थ है–द्रष्टा तथा दृश्य का अविशेष प्रत्यय या अविवेक। अपवर्ग का अर्थ है द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि; अर्थात् स्वरूपतः 'मैं' दृश्य नहीं है अथवा द्रष्टा दृश्य से पृथक् हैं, इस प्रकार का विवेकज्ञान। इस ज्ञान के पश्चात् और अर्थता नहीं रहने के कारण वह अपवर्ग

(या चरम फल की प्राप्ति)[1] कहलाता है। अपवर्ग होने पर दृश्य निवृत्त हो जाता है।

अतएव सूत्रकार ने दृश्य का जो लक्षण दिया है, वह गम्भीर, अनवद्य तथा सम्यक्सत्य-दर्शन-प्रतिष्ठ है।

१८ (२) परस्परोपरक्त-प्रविभाग=गुणों का प्रविभाग या निज-निज स्वरूपों का परस्पर द्वारा उपरक्त या अनुरञ्जित होना। सभी गुण सदा ही विकारव्यक्तिरूप से (जैसे रूप, रस, घट, पट आदि) ज्ञायमान होते हैं। हर व्यक्ति में ही त्रिगुण मिश्रित हैं। उसका विश्लेषण कर देखने से एक ओर सत्त्व, एक ओर तमः और बीच में रजः मिलता है। सत्त्व कहने से रजः और तमः रहेंगे ही। रजः तथा तमः के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

अतः गुणसमूह आपस में उपरक्त (मिलित) हैं। प्रकाश सदा ही क्रिया तथा स्थिति द्वारा उपरक्त है। क्रिया और स्थिति भी वैसी होती हैं। उदाहरण के लिए—शब्दज्ञान को लें। उसमें जो शब्द-बोध है, वह कम्पन और जड़ता द्वारा उपरञ्जित रहता है। अतएव सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार का प्रविभाग करने पर प्रत्येक गुण अन्य दोनों से उपरञ्जित रहता है।

संयोगविभाग-धर्मा=पुरुष के साथ संयोग तथा वियोग रूप स्वभाव से युक्त—यह मिश्र जी का मत है। भिक्षु जी कहते हैं-'परस्पर संयोग-विभाग-स्वभावयुक्त'। सभी गुण संयुक्त रहने पर भी उनका विभाग या प्रभेद है—ऐसा अर्थ करने पर ही भिक्षु जी की व्याख्या संगत होती है, नहीं तो गुणों का परस्परवियोग कभी कल्पनीय नहीं होता है।

अन्योन्याश्रय द्वारा उत्पादितमूर्ति–मूर्ति=त्रिगुणात्मक द्रव्य। सत्त्व आदि गुण सभी द्रव्यों की सृष्टि परस्पर सहकारि-भाव से करते हैं। अर्थात् सात्त्विक भाव में राजस और तामस भाव भी सहकारी रहते हैं। केवल सत्त्वमय, केवल रजोमय वा केवल तमोमय कोई भाव नहीं रहता। सर्वत्र ही एक की प्रधानता तथा अन्य दोनों की सहकारिता रहती है।

---

१. फलप्राप्ति होने पर क्रिया की समाप्ति हो जाती है, अतः क्रिया का त्याग हो जाता है। यह त्याग ही प्रकृत अपवर्ग है। फलप्राप्ति क्रियात्याग के साथ अच्छेद्यरूप से संबन्धित है; वस्तुतः फलप्राप्ति इस त्याग का व्यङ्ग्य अर्थ है। अपवर्ग समाप्ति को भी कहता है, जो 'कर्मापवर्गे लौकिका अग्नयः' इस मीमांसक वाक्य में देखा जाता है। भोक्ता का स्वरूपावधारण क्यों अपवर्ग कहलाता है, यह उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट होता है। द्रष्टा का स्वरूपावधारण होने पर चित्त किस प्रकार व्यक्तभाव को छोड़कर अव्यक्त हो जाता है--यह अत्यन्त स्पष्ट भाषा में ग्रन्थकार स्वामीजी ने स्थान-स्थान पर दिखाया है। [सम्पादक]

जिस प्रकार लाल, काले और श्वेत सूतों से बनी रस्सी में ये तीनों सूत अङ्गाङ्गिभाव से और परस्पर सहकारि-भाव से रहने पर भी आपस में असंकीर्ण रहते हैं अर्थात् श्वेत श्वेत ही रहता है, काला काला ही तथा लाल लाल ही, इसी प्रकार त्रिगुण भी असंमिश्र-शक्ति-प्रविभाग हैं, अर्थात् प्रकाशशक्ति, क्रियाशक्ति और स्थितिशक्ति सदा स्वरूपस्थ ही रहती हैं, कभी भी अपने स्वरूप से नहीं हटती। प्रत्येक की शक्ति असंभिन्न है, अन्य द्वारा संभिन्न वा मिश्रित नहीं है।

प्रकाश आदि सब गुण परस्पर असंभिन्न होने पर भी आपस में सहकारी होते हैं। अतएव कहते हैं कि 'गुण-समूह तुल्य तथा अतुल्य-जातीय शक्ति-भेद के अनुपाती हैं।' तुल्यजातीय शक्ति=सात्त्विक द्रव्य की उपादान सत्त्वशक्ति। सत्त्वशक्ति के नाना भेदों से नाना प्रकार के सात्त्विक भाव होते हैं। सत्त्व की राजसी-तामसी शक्ति अतुल्यजातीय है। इसी प्रकार रजः तथा तमः की भी अतुल्यजातीय शक्ति है। सात्त्विकी शक्ति, राजसी शक्ति तथा तामसी शक्ति के असंख्य भेदों से असंख्य-भाव उत्पन्न होते हैं। जिस भाव की जो शक्ति प्रधान उपादान है वह (अर्थात् तुल्यजातीय शक्ति) उस भाव में स्फुटरूप से समन्विता या अनुपातिनी होगी; परंतु अन्य अतुल्यजातीय शक्ति भी उस भाव की सहकारिणी शक्ति के रूप से अनुपातिनी या उपादानभूता होती है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में कोई भी गुण प्रधान क्यों न हो, अन्य दोनों गुण उस प्रधान गुण के सहकारीभाव से रहते हैं। जैसे दिव्य शरीर; यह सात्त्विकी शक्ति का कार्य है, परन्तु इसमें राजसी और तामसी शक्ति सहकारी-रूप से अनुपातिनी रहती हैं।

प्रधान-वेला में उपदर्शित-सन्निधान--अपनी-अपनी प्रधानता के समय कार्योत्पादन में उद्भूत-वृत्ति। प्रधान-वेला में=अपनी प्रधानता के समय; उपदर्शित-सन्निधान=सान्निध्य उपदर्शित करते हैं अर्थात् यद्यपि गुण-समूह स्थलविशेष में सहकारी रहते हैं, तथापि जब उनके प्राधान्य का समय आ जाता है उस समय वे अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं—जिस प्रकार राजा की मौत के पश्चात् सन्निहित राजपुत्र शीघ्र राजा बन जाता है। उदाहरण—जाग्रत-रूप सात्त्विक अवस्था-विशेष में रज और तम सहकारी रहते हैं। किन्तु वे सन्निहित या कार्यारम्भ के लिए उद्यत होकर रहते हैं; सत्त्व का प्राधान्य कम होते ही वे प्रधान होकर स्वप्न अथवा निद्रा-रूप अवस्था उद्भावित कर देते हैं। इसी भाव को ही भाष्यकार ने कहा है कि 'प्राधान्यवेला में प्रधान होकर अपना सन्निधानत्व दिखाते हैं'।

१८ (३) अप्राधान्य काल में भी (अर्थात् गौणावस्था में भी) वे प्रधान

के अन्तर्गत भाव में रहते हैं यह व्यापारमात्र से या सहकारिता से अनुमित होता है; जैसे, शब्दज्ञान प्रकाशप्रधान या सात्त्विक होता है तथापि इसमें रज तथा तम अन्तर्गत हैं, यह अनुमित होता है। शब्द में प्रत्यक्ष क्रिया नहीं देखी जाती, परन्तु हम जानते हैं कि कम्पन के बिना शब्दज्ञान नहीं होता, अतः शब्दज्ञान का सहकारी कम्पन या क्रिया है। इस प्रकार सत्त्वप्रधान शब्दज्ञान में रजोगुण अनुमित होता है।

१८ (४) पुरुषार्थ-कर्त्तव्यता इत्यादि। भोग तथा अपवर्ग पुरुषसाक्षिक भाव हैं। पुरुष की साक्षिता नहीं रहने पर गुण अव्यक्त होते हैं। उनकी वृत्तियाँ और कार्य नहीं रहते हैं। अतः गुणों की कार्योत्पादक सामर्थ्य पुरुषसाक्षिता या पुरुषार्थता से ही होती है; जैसे पुरुष की साक्षितामात्र द्वारा सन्निहित होकर गुण भोग तथा अपवर्ग का साधन करते हैं, वैसे ही गुण सन्निधिमात्रोपकारी हैं। पुरुष तथा गुण का सन्निधान घट-पट के सन्निधान के समान दैशिक सन्निधान नहीं है, प्रत्युत केवल एक प्रत्यय की अन्तर्गतता ही यह सन्निधान है। 'मैं चेतन हूँ' इस प्रत्यय में चैतन्य और अचेतन करणवर्ग अन्तर्गत रहते हैं; यही गुण और पुरुष का सान्निध्य है। [२।१७ (१) देखिए]।

अयस्कान्त-मणि जिस प्रकार सन्निहित होने पर ही लौह-आकर्षण काय करती है, लौह में प्रत्यक्षतः अनुप्रवेश नहीं करती, गुणसमूह भी उसी प्रकार पुरुष में अनुप्रवेश न कर सान्निध्य-वश ही पुरुष के उपकरण होकर उपकार करते हैं। समीप से कार्य करने को उपकार कहते हैं।

१८ (५) प्रत्ययव्यतिरेक इत्यादि। प्रत्यय=कारण; इस स्थल में जिस कारण से किसी गुण का प्राधान्य होता है वह कारण ही प्रत्यय है, जैसे, धर्म सात्त्विक परिणाम का प्रत्यय या निमित्त है। तीनों गुणों में अप्रधान दो गुणों के प्रधानरूप से प्रादुर्भाव का कोई बाह्य प्रत्यय या निमित्त नहीं रहने पर भी वे स्वभावतः तृतीय प्रधानभूत गुण की वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं। जैसे, धर्म द्वारा सात्त्विक देवत्वपरिणाम प्रादुर्भूत होने पर रज और तम उस सात्त्विक देवत्वपरिणाम के उपयोगी राजस और तामसभाव (जैसे, स्वर्गसुख की चेष्टा तथा उसमें मुग्ध रहना) को निष्पन्न कर सत्त्वरूप प्रधान की देवत्व-रूप वृत्ति का अनुवर्त्तन करते हैं।

इन गुणों का नाम प्रधान या प्रकृति है। किसी विकार का जो उपादान-कारण होता है, वह प्रकृति है। मूला प्रकृति ही प्रधान है। गुणत्रयस्वरूप प्रकृति आन्तर तथा बाह्य समस्त जगत् का उपादान कारण होती है।

इन सत्त्वादि तीन गुणों को जाने बिना सांख्ययोग या मोक्षविद्या नहीं समझी जा सकती। अतः इनका विवेचन और भी स्पष्टता के साथ किया जा रहा है।

सभी अनात्म-पदार्थों के दो विभाग हो सकते हैं, ग्रहण और ग्राह्य। उनमें भी ग्राह्य विषय है, और ग्रहण इन्द्रिय है। ग्रहण से विषय का ज्ञान या चालन अथवा धारण होता है। शब्दादि ज्ञेय विषय, वाक्यादि कार्य विषय और शरीरव्यूहादि धार्य विषय हैं। शब्दरूप विषय का विश्लेषण करने पर शब्द-ज्ञान-स्वरूप प्रकाशभाव, कम्पन-रूप क्रिया-भाव तथा कम्पनशक्तिरूप (Potential energy) स्थिति-भाव प्राप्त होते हैं। स्पर्शरूपादि के विषय में भी इसी प्रकार तीन भाव पाए जाते हैं।

वागादि कर्मेन्द्रियों में तीन भाव प्राप्त होते हैं। वागिन्द्रिय के द्वारा उच्चारित शब्द वर्ण-आदिरूप प्रकारविशेष में जो परिणत होता है वही वाक्यरूप कार्यविषय है। उसमें भी प्रकाशादि तीन भाव वर्त्तमान हैं। तमःप्रधान विषय या धार्य विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिए।

करणों का विश्लेषण करने पर भी ये तीन भाव ही देखे जाते हैं। जैसे श्रवणेन्द्रिय; इसका गुण है शब्द को जानना। इसमें शब्दरूप ज्ञान प्रकाशभाव होता है। कर्ण की क्रिया (nervous impulse), जो बाह्य कम्पन से उत्तेजित होती है, तथा कर्ण की अन्यान्य क्रियाएँ कर्ण-स्थित क्रियाभाव हैं। स्नायु तथा पेशी आदि में जो शक्तिभाव (energy) रहता है, वही सक्रिय होकर ज्ञान में परिणत होता है; यही कर्णगत स्थितिभाव है। इसी प्रकार पाणि नामक कर्मेन्द्रिय का पेशी-त्वक्-आदि में जो बोध (tactile sense, muscular sense आदि)[1] है, वह उसमें रहने वाला प्रकाशभाव है, हाथ का संचालन उसका क्रियाभाव है और स्नायुपेशीगत शक्ति हाथ का स्थितिभाव है।

ये बाह्य करण हैं। अन्तःकरण का विश्लेषण करने पर भी प्रकाशप्रधान प्रख्या, क्रियाप्रधान प्रवृत्ति और स्थितिप्रधान धृति भाव प्राप्त होते हैं। प्रत्येक वृत्ति का भी एक अंश प्रकाश, एक अंश स्थिति और एक अंश क्रिया होता है।

उपर्युक्त रीति से जान पड़ता है कि आन्तर तथा बाह्य सभी पदार्थ प्रकाश, क्रिया और स्थिति–इन तीन भावों का स्वरूप है। बाह्य तथा आन्तर जगत् का इसके अतिरिक्त और कुछ ज्ञेयभूत मूल उपादान नहीं है एवं हो भी नहीं सकता है। अतः सत्त्व, रजः और तमः जगत् के मूल उपादान हैं।

---

१. Tactile sense = शीतोष्णबोध से भिन्न बोध। Muscular sense = पेशीसंकोचनजनित बोध। इसका नामान्तर 'Sensation of innervation' है; इसके विशद विवरण के लिये G. C. Robertson कृत Elements of Psychology, pp. 83–88 द्र०। [सम्पादक]

शक्ति के विना क्रिया नहीं होती, क्रिया के बिना कोई बोध नहीं होता; उसी प्रकार बोध होने से पहले क्रिया अवश्य रहती है और क्रिया से पहले शक्ति अवश्य रहती है। अतः प्रकाश, क्रिया और स्थिति परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। एक भाव रहने से अन्य दो भी रहते हैं। इनमें किसी एक भाव की प्रधानता रहने से उसी गुण के अनुसार पदार्थ की आख्या होती है। यह आख्या आपेक्षिकता को सूचित करती है; जैसे ज्ञान में प्रकाश-गुण अधिक होने के कारण ज्ञान को सात्त्विक कहा जाता है; यह कर्म की अपेक्षा सात्त्विक होता है। फिर ज्ञानों में भी कोई ज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रकाशवान् हो तो उसे उन ज्ञानों की अपेक्षा अधिक सात्त्विक कहा जाता है।

किसी को सात्त्विक कहने से तद्वर्गीय राजस और तामस भी हैं, यह समझना चाहिए। सात्त्विक द्रव्य अन्य राजस और तामस द्रव्य की अपेक्षा अधिक सात्त्विक होता है। 'केवल सात्त्विक' कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। राजस तथा तामस के सम्बन्ध में भी ऐसा ही नियम है। अतएव सत्त्वादि गुण, जाति तथा व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं। केवल एक या दो जाति अथवा व्यक्ति रहने से तुलना नहीं की जा सकती, इसलिए वह सात्त्विक, राजस या तामस है, ऐसा वक्तव्य नहीं होगा; अथवा तुलना के अयोग्य बहुत पदार्थ रहने पर भी वे सात्त्विकादि रूप से निर्णीत नहीं होंगे।

अतः जगत् वा सभी विकारशील भाव-पदार्थ सात्त्विक, राजस वा तामस रूप से निर्णीत हो सकते हैं। जो वैकल्पिक (=विकल्पवृत्तिद्वारा ज्ञेय) अवास्तव 'जाति' पदार्थ है, जो केवल एक या दो हैं, वे सात्त्विकादि नहीं हो सकते। जैसे कि सत्ता=सत् का भाव; जो सत् है वही भाव है, अतएव सत्ता राहु के सिर के समान वैकल्पिक पदार्थ हुआ। उसी प्रकार भाव, अभाव इत्यादि पदार्थ भी वैकल्पिक हैं। घट-पट आदि पदार्थ वास्तव हैं, पर 'भाव' यह शब्द घटादि का साधारण नाम होता है। उस नाम से किसी अर्थ का बोध ही 'भाव' पदार्थ का ज्ञान होता है। यह भी ज्ञातव्य है कि चक्षु आदि द्वारा 'भाव' ज्ञात नहीं होता है; घट, पट आदि ही ज्ञात होते हैं। अतः भाव सात्त्विक है या राजस, यह नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर भाव द्रव्यवाचक होता है, वहाँ पर अवश्य ही वह गुणमय होगा।

फलतः सत्त्वादि गुण काल्पनिक अवास्तविक पदार्थों के कारणभूत न होने पर भी कोई हानि नहीं है, पर ये सत्त्वादि गुण सभी विकारशील वास्तव पदार्थ के मूल कारण होते हैं। ये सब विषय समझने पर भाष्यकार के गुण-सम्बन्धी विशेषणों का अर्थ सरलतया बोधगम्य होगा।

१८ (६) गुण दृश्य के मूलरूप हैं। भूत और इन्द्रिय या करणवर्ग दृश्य के वैकारिक रूप हैं। दृश्य की प्रवृत्ति—जिसका फल है दृश्य की उपलब्धि—द्विविध है। अर्थात् दृश्य का विषयभाव (अर्थता) द्विविध है--भोग तथा अपवर्ग। गुणसमूह दृश्य के स्वरुप हैं, भूतेन्द्रिय दृश्य के विरूप (वा विकाररूप) हैं एवं अर्थ या दृश्य की क्रिया का अर्थ है—द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्धभाव।

दृश्य की प्रवृत्ति द्विविध है—एक प्रवृत्ति के लिए प्रवृत्ति, और एक निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति; जैसे विषयानुराग और ईश्वरानुराग। प्रथम का फल भोग या संसार है, द्वितीय का फल अपवर्ग या संसार-निवृत्ति है।

अर्थ=द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्धभाव। जब अविद्यावश द्रष्टा और दृश्य एक की तरह सम्बद्ध होते हैं, तभी वह सम्बन्ध भोग कहलाता है। भोग दो प्रकार के होते हैं—इष्टविषयावधारण और अनिष्टविषयावधारण। अर्थात् मैं सुखी हूँ एवं मैं दुःखी हूँ—इन दो प्रकारों से द्रष्टा और दृश्य का अभेदप्रत्यय होता है। 'मैं सुख-दुःख-शून्य हूँ' इस प्रकार से विषय और द्रष्टा का भेद-प्रत्यय ही अपवर्ग होता है।

भोग एक प्रकार की उपलब्धि या ज्ञान है तथा अपवर्ग भी एक प्रकार का ज्ञान है। पुरुष भोग तथा अपवर्ग दोनों के भोक्ता हैं। भोग और अपवर्ग जब ज्ञानविशेष होते हैं तब भोक्ता का अर्थ है—ज्ञाता। वस्तुतः जिस प्रकार दृश्य के साथ द्रष्टा का सम्बन्धभाव को लक्ष्य कर दृश्य को अर्थ कहा जाता है, उसी प्रकार उसी सम्बन्धभाव को लक्ष्य कर द्रष्टा को भोक्ता कहा जाता है। विज्ञाता और विज्ञेय के पृथक् भाव होने के कारण विज्ञेय पदार्थ की विकृति से विज्ञाता विकृत नहीं होता। अतएव द्रष्टा पुरुष दृश्य-दर्शन का अविकारी तथा अविनाभावी हेतु होता है। दृश्य उस दर्शन का विकारी हेतु है। द्र० **'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (गीता १३।२०)। भाष्यकार ने जयपराजय की उपमा से भोक्ता की अविकारिता तथा अकर्त्तृता प्रदर्शित की है।

सुख-दुःख स्वयं अचेतन और बुद्धिधर्म हैं। करणवर्ग में अनुकूल क्रियाविशेष होने से उनका जो प्रकाशभाव होता है, वही सुख का स्वरूप है। अतः सुख अचेतन प्रकाशित क्रियाविशेष हुआ। 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार चिद्रूप आत्मा के साथ सम्बन्धभाव होने पर ही सुख सचेतन या चेतना-सा होता है। इसे ही भाष्यकार ने पहले 'पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध' कहा है (१।७)। चिद्रूप पुरुष के बिना सुख अचेतन, अदृश्य और अव्यक्तस्वरूप होता है। अतएव सुख की अभिव्यक्ति चेतन पुरुषापेक्ष होती है। सुख-दुःख आदि पुरुषभोग्य होते हैं। सुख-दुःखादि का पौरुष संवेदन रहने के कारण ही दुःख छोड़कर सुख की ओर और सुख-दुःख त्याग कर कैवल्य की ओर प्रवृत्ति होती है।

आचार्य शंकर ने आत्मा को भोक्ता नहीं कहा;[1] वस्तुतः उन्होंने भोक्ता शब्द का प्रकृत अर्थ हृदयंगम न कर सांख्यपक्ष पर दोषारोपण किया है। सांख्य में भोक्ता का अर्थ है—विज्ञाता-विशेष[2]। शंकर ने आत्मा का स्वरूप कहा है 'भोक्ता का आत्मा'। अतः शंकर के अनुसार आत्मा 'विज्ञाता का विज्ञाता' है और इस प्रकार एक अलीक पदार्थ हो जाता है। अतः पुरुष भोग तथा अपवर्ग के भोक्ता हैं—यह सांख्यीय दर्शन ही न्याय्य, गम्भीर तथा अनवद्य है। गीता १३।२० में यही कहा गया है।

१८ (७) पुरुषार्थ की अपरिसमाप्ति का अर्थ है—भोग का अनवसान एवं अपवर्ग की अप्राप्ति और उसकी परिसमाप्ति का अर्थ है—भोग का अवसान एवं अपवर्ग की प्राप्ति। भोगदर्शन का नाम बन्ध और अपवर्ग-दर्शन का नाम मोक्ष है। अतः बन्ध तथा मोक्ष पुरुष में नहीं, परन्तु बुद्धि में ही रहते हैं; पुरुष में केवल द्रष्टृत्व है।

भाष्यकार ने बुद्धि या अन्तःकरण के सभी मौलिक कार्यों का संग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है। ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, तत्त्वज्ञान तथा अभिनिवेश—ये छह चित्त के मौलिक मिलित कार्य हैं।

ग्रहण=ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राण-द्वारा किसी विषय का बोध; चित्तभाव का साक्षात् बोध (अनुभव) भी ग्रहण होता है। ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा नील-पीतादि का बोध, कर्मेन्द्रिय द्वारा वाक्य-उच्चारणादि का कौशलबोध, प्राण-

---

१. द्र० भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके···आत्मा स भोक्तुरित्यपरे (शारीरकभाष्य १।१।१)। प्रश्न उप० ६।६ के भाष्य में सांख्यीय पुरुषभोक्तृत्ववाद की विशद समीक्षा शंकराचार्य ने की है। भोक्ता शब्द का सांख्यीय तात्पर्य समझने पर शंकरोक्त दूषण व्यर्थ प्रतीत होते हैं। [**सम्पादक**]

२. सांख्यदर्शन के अनुसार भोक्ता का अर्थ है—प्रवृत्ति का अपरिणामी द्रष्टा या सुखदुःखबुद्धि का प्रतिसंवेदी। अन्तःकरण की तीन मूल वृत्तियों (प्रख्या, प्रवृत्ति, धृति) को लक्ष्य कर उनके साक्षी के रूप में निर्गुण द्रष्टा को यथाक्रम ज्ञाता, भोक्ता और अधिष्ठाता कहा जाता है। भोगरूप क्रिया से जो विकृत होता है, वह भी भोक्ता कहलाता है। इस अर्थ में यदि भोक्ता शब्द हो तो पुरुष भोक्ता नहीं कहलायेंगे। प्राचीन ग्रन्थों में इन दोनों अर्थों में भोक्ता शब्द का प्रयोग मिलता है। भोक्तृत्व के साथ विकार को जोड़ने पर वह भोक्तृत्व पुरुष का नहीं होगा। शंकराचार्य का यह कथन कि 'सांख्यास्तु अविद्याध्यारोपितमेव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वाऽऽगमबाह्यत्वात् पुनस्ततः त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति' सर्वथा अलीक दूषण है। [**सम्पादक**]

द्वारा देहगत पीड़ादि का बोध तथा मन-द्वारा सुखादि मनोभाव का बोध—ये सब बोध (अर्थात्, स्मरण-ज्ञानादि के बोध भी) ग्रहण हैं।

धारण-द्वारा समुदय अनुभूत विषय चित्त में विधृत रहते हैं। सभी संस्कार धारण कहलाते हैं। धृत विषय के ग्रहण का नाम है—स्मृति। स्मृति, ज्ञान-वृत्ति-विशेष है; वह धारण नहीं है। मिश्र जी धारण का अर्थ स्मृति कहते हैं। परन्तु यह स्मृति अनुभव- विशेष नहीं, धारण-मात्र है। स्मृति के दोनों अर्थ ही होते हैं।

ऊह—धृत विषय का उत्तोलन अर्थात् स्मरणार्थ चेष्टा। गृहीत विषय विधृत होता है; विधृत विषय को मन में उठाना ही ऊह है।

अपोह—ऊहित विषयों में से किसी का त्याग एवं आवश्यक विषयों का ग्रहण।

तत्त्वज्ञान—अपोहित विषय की एकभावाधिकरणता (एक भाव में बहुभाव अन्तर्गत हैं, ऐसा समझना) तत्त्व होता है। उसका ज्ञान तत्त्वज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों प्रकार का है। गोतत्त्व, धातुतत्त्व आदि लौकिक हैं, भूततत्त्व, तन्मात्रतत्त्व आदि पारमार्थिक हैं।

अभिनिवेश—तत्त्वज्ञान के पश्चात् प्रवृत्ति या निवृत्ति। ज्ञान के पश्चात् ज्ञेय पदार्थ की हेयता या उपादेयता के विषय में जो कर्त्तव्य का निश्चय है, वही अभिनिवेश है।

अन्तःकरण की चिन्तन प्रक्रिया इन छह भागों में विश्लिष्ट हो सकती है। जैसे—नील, पीत, मधुर, अम्ल आदि बहुत विषयों को चित्त ग्रहण करता है; फिर वे चित्त में विधृत होते हैं। अनुव्यवसाय काल में वे नीलादि ऊहित होते हैं; पश्चात् नील, मधुर आदि विषय अपोहित होकर रूप, रस आदि बहुतों में साधारण एक-एक भाव पदार्थ का अपोह होता है। रूप=नील, पीत आदि पदार्थों की एक-भावाधिकरणता अर्थात् नील, पीतादि सभी अपोहों के रूप-नामक एक पदार्थ के अन्तर्गत होना। रूप एक तत्त्व है; उसका ज्ञान तत्त्वज्ञान है। इस प्रक्रिया से तत्त्वज्ञान को जानकर रूप-पदार्थ को हेय वा उपादेय भाव से व्यवहार करना अभिनिवेश है। यह भूततत्त्वज्ञान-सम्बन्धी उदाहरण है; साधारण तत्त्वज्ञान में या घट-पट आदि विज्ञान में ऐसा ही समझना चाहिए। १।६ (१) देखिए।

एकाग्रादि सभी प्रकार के व्युत्थित चित्तों में ये सब रहते हैं और निरुद्ध चित्त में सब निरुद्ध होते हैं। लौकिक तथा पारमार्थिक सभी विषयों में ग्रहण-धारणादि रहते हैं। ग्रहण व्यवसाय है, धारण रुद्धव्यवसाय है तथा ऊह,

अपोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश अनुव्यवसाय हैं; तत्त्वसाक्षात्कार में जहाँ विचार नहीं रहता, वहाँ वह व्यवसाय रहता है।

ये व्यवसायादि बुद्धि या अन्तःकरण के धर्म हैं। मलिन बुद्धि में द्रष्टा और दृश्य का अभेद निश्चय होकर व्यवसायादि का चलते रहना ही अविद्या है; और प्रसन्न बुद्धि में द्रष्टा एवं दृश्य की भेद-ख्याति होकर व्यवसायादि का चलते रहना विद्या है। अतएव व्यवसायादि द्रष्टा में केवल आरोपित होता है, वह वस्तुतः बुद्धि में ही रहता है। पुरुष व्यवसायादि के फलभोक्ता मात्र या चित्तव्यापार के विज्ञातामात्र हैं।

भाष्यम्—दृश्यानान्तु गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थमित्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः। षड् अविशेषास्तद् यथा–शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं च इत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः।

यत् तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्तीति। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामः, निःसत्ताऽसत्तञ्च अलिङ्गपरिणाम इति। अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः, नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवतीति; नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणान्त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति; स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते।

गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते, यथा देवदत्तो दरिद्राति; कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति; गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणम्, न स्वरूपहानादिति समः समाधिः।

लिङ्गमात्रम् अलिङ्गस्य प्रत्यासन्नम्, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते क्रमानतिवृत्तेः। तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते। परिणामक्रमनियमात्तथा

तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्तात्। न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति, इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः; तेषान्तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥ १९ ॥

भाष्यानुवाद—दृश्य-स्वरूप गुणों के स्वरूप तथा भेद के अवधारणार्थ यह सूत्र रचा गया है—

१९। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग—ये सब गुणपर्व हैं। (१) उनमें आकाश, वायु, अग्नि, उदक और भूमि—ये भूत हैं; ये शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इन अविशेषों के विशेष हैं (२)। इसी तरह श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा सर्वार्थ (उभयेन्द्रियार्थ) एकादश मन, ये सब अस्मितालक्षण अविशेष के विशेष हैं। गुणों के ये षोडश 'विशेष' परिणाम हैं। अविशेष (३) परिणाम छह प्रकार का है; शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र—ये शब्दादितन्मात्र पञ्च अविशेष हैं; ये क्रमानुसार एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षण वाले हैं। छठा अविशेष अस्मिता (४) है। सत्तामात्र-आत्मा महत् के ये छह अविशेष परिणाम (५) होते हैं।

इन अविशेषों से परे लिङ्गमात्र महत्तत्त्व होता है; उस सत्तामात्र महदात्मा में वे (अविशेषगण) अवस्थित होकर विवृद्धि की चरम सीमा प्राप्त करते हैं; और लीयमान अवस्था में उस सत्तामात्र महदात्मा में अवस्थित होकर (अर्थात् तदात्मकत्व प्राप्त कर) निःसत्तासत्त, निःसदसत्, निरसत्, अव्यक्त और अलिङ्ग जो प्रधान (प्रकृति) है, उसमें प्रलीन होते हैं (६)। सब अविशेषों का पूर्वोक्त परिणाम लिङ्गमात्र-परिणाम है और निःसत्तासत्त अलिङ्ग-परिणाम है। अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ हेतु नहीं है, (क्योंकि) पुरुषार्थता अलिङ्गावस्था का आदि कारण नहीं है। अतः पुरुषार्थता उसका हेतु भी नहीं है अर्थात् वह पुरुषार्थकृत नहीं है। अतः उसे नित्या कहा जाता है (७)। त्रिविध विशेष अवस्थाओं (विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र) की आदि में पुरुषार्थता कारण होती है। यह हेतुभूत पुरुषार्थ निमित्त कारण है, अतः उन (अवस्थात्रय) को अनित्य कहा जाता है।

गुण सर्वधर्मानुपाती होते हैं; वे प्रत्यस्तमित अथवा उपजात नहीं होते (८)। गुणान्वयी, आगमापायी एवं अतीत तथा अनागत व्यक्ति के (एक-एक कार्य) द्वारा गुणत्रय मानो उत्पत्ति-विनाशशील के समान प्रत्यवभासित होते हैं। जैसे—देवदत्त की दुर्गति हो रही है क्योंकि उसके गोसमूह मरे जा रहे हैं; गोसमूह का मरना ही जिस प्रकार देवदत्त की दरिद्रता का कारण

होता है, परन्तु स्वरूपहानि उसका कारण नहीं होता, गुणत्रय के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार समाधान करना चाहिए।

लिङ्गमात्र (महत्) अलिङ्ग का प्रत्यासन्न (अव्यवहित कार्य) होता है। अलिङ्गावस्था में वह (लिङ्गमात्र) संसृष्ट (अविभक्त अर्थात् अनागत रूप से स्थित) रहकर (व्यक्तावस्था में) क्रम का अतिक्रमण न करके (९) विविक्त या पृथक् होता है। उसी प्रकार छह अविशेष लिङ्गमात्र में संसृष्ट रहकर विविक्त होते हैं। उसी प्रकार परिणाम-क्रम-नियम से इन अविशेषों में सब भूतेन्द्रिय संसृष्ट रहकर विभक्त वा व्यक्त होते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि विशेष के बाद कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। विशेषों का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं है; उनके धर्म, लक्षण तथा अवस्था रूप तीन परिणामों की व्याख्या आगे की जाएगी (द्र० ३।१३)।

टीका १९ (१) विशेष=जो बहुतों में साधारण नहीं होता। अविशेष= जो बहुत कार्यों का साधारण उपादान है। विशेष=भूतेन्द्रियादि षोडशसंख्यक विकार। अविशेष=तन्मात्रात्मक भूतकारण एवं अस्मिता-रूप इन्द्रिय तथा तन्मात्राओं का कारण। विशेष शान्त या सुखकर, घोर या दुःखकर और मूढ़ या मोहकर है। अविशेष, शान्त, घोर और मूढ़ भावों से शून्य है। नील, पीत, मधुर, अम्ल आदि नाना भेदयुक्त द्रव्य विशेष हैं। इन भेदों से रहित द्रव्य अविशेष होते हैं। षोडश विकार की पारिभाषिक संज्ञा विशेष और उनकी छह प्रकृतियों की संज्ञा अविशेष है।

लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व। यद्यपि प्रकृति के रूप से वह अविशेष होता है, तथापि लिङ्ग शब्द ही उसकी स्पष्टार्थक संज्ञा है। लिङ्ग का अर्थ है—गमक। जो जिसका गमक या अनुमापक होता है, वह उसका लिङ्ग कहा जाता है। महत्तत्त्व आत्मा और अव्यक्त का गमक होता है, अतएव यह उनका लिङ्ग है। लिङ्गमात्र का अर्थ है–स्वरूप या मुख्य लिङ्ग। इन्द्रियादि भी पुरुष तथा प्रकृति के लिङ्ग हो सकते हैं। परन्तु वे अपने साक्षात् कारणों के ही प्रधान लिङ्ग होते हैं। महान् पुम्प्रकृति का लिङ्गमात्र है।

लिङ्ग अखिल वस्तुओं का व्यञ्जक है, तन्मात्र (=वही) लिङ्गमात्र; यह विज्ञानभिक्षु की व्याख्या है। अखिल वस्तुओं के व्यञ्जक-भाव से यह लिङ्ग नहीं होता है, किन्तु यह पुम्प्रकृति का लिङ्ग है।

अलिङ्ग=प्रकृति। यह किसी का भी लिङ्ग नहीं है, क्योंकि इसका और कारण नहीं है। **'न किञ्चिल्लिङ्गयति गमयतीति अलिङ्गम्।'**

लिङ्ग शब्द का दूसरा अर्थ भी किया जाता है। यथा—लयं

गच्छतीति लिङ्गम्'। तत्र अलिङ्ग का अर्थ है–जो लय नहीं पाता।

विशिष्टलिङ्ग, अविशिष्ट लिङ्ग, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये चार प्रकार के पदार्थ गुणरूप वंश के पर्वस्वरूप होते हैं। अतएव इन्हें गुणपर्व कहा जाता है।

१९ (२) साधारणतया जो जल, मिट्टी आदि हैं, वे भूततत्त्व नहीं हैं। जो सत्ता शब्द-लक्षणा है, वही आकाश है; इसी प्रकार स्पर्शलक्षणा, रूपलक्षणा, रसलक्षणा और गन्धलक्षणा सत्ताएँ क्रम से वायु, तेज, अप् और क्षिति (पृथिवी) नामक तत्त्व हैं। शास्त्र में कहा गया है—**शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः। ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः। धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा॥** (अश्वमेधपर्व ४३।२२-२३)। अतः तत्त्वदृष्टि से क्षिति आदि भूत गन्धादि-लक्षण सत्तामात्र हैं। मिट्टी, पानीय जल आदि पञ्चीकृत भूत हैं। अर्थात् वे सब पञ्चभूत के समष्टिविशेष हैं।

अतात्त्विक कारण-दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि आकाश वायु का कारण है, वायु तेजः का और तेजः जल का तथा जलभूत क्षितिभूत का निमित्त कारण हैं। वैज्ञानिक प्रणाली से तथ्यानुसन्धान करने पर देखा जाता है कि शब्द की लहर रुद्ध होने पर ताप उत्पन्न होता है, ताप से रूप और रूप (सूर्यालोक) से समस्त रासायनिक द्रव्य (उद्भिज्जादि) उत्पन्न होते हैं; रासायनिक द्रव्य का सूक्ष्म चूर्ण ही गन्धज्ञान उत्पादन करता है। शास्त्र भी कहता है (महाभारत, मोक्षधर्म, भृगुभारद्वाजसंवाद अ० १८३)–भूतसर्ग के आदि में सर्वव्यापी शब्द हुआ, पश्चात् वायु, फिर उष्ण तेज, तदनु तरल जल, और फिर कठिन क्षिति हुई। अतएव निमित्त दृष्टि से जो शब्दगुणक है उससे स्पर्श, स्पर्शगुणक द्रव्य से रूप—इत्यादि प्रकार का क्रम देखा जाता है। इस प्रकार गन्धाधार द्रव्य शब्दादि पाँच लक्षणों का आधार होता है। रसाधार गन्ध के अतिरिक्त चार लक्षणों का आधार है। रूपाधार रूपादि तीनों का आधार है। स्पर्शाधार स्पर्श-शब्द-गुणों का एवं शब्दाधार शब्दमात्र का आधार हैं। प्रलयकाल में भी उसी प्रकार क्षिति अप् में, अप् तेजः में इत्यादि रूप से लीन हो जाते हैं। यद्यपि व्यावहारिक भूतभाव इस प्रकार आकाशादि क्रम से उत्पन्न होता है, तात्त्विक वा उपादान-दृष्टि से वैसा नहीं होता है। उसमें शब्दतन्मात्र स्थूल शब्द का कारण है, स्पर्शतन्मात्र स्थूल स्पर्श का···इत्यादि क्रम ग्रहण करना होगा।

इन्द्रियज्ञान की या ग्रहण की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि गन्धज्ञान सूक्ष्म चूर्ण के सम्पर्क से होता है। रसज्ञान तरलित-द्रव्यजनित रासायनिक

१. लिङ्गशब्द का यह अर्थ अर्वाचीन काल के व्याख्याकारों की कल्पना है क्योंकि किसी भी प्राचीन आचार्य के द्वारा उक्त नहीं हुआ है। [**सम्पादक**]

क्रिया द्वारा होता है। उष्णता से ही रूपज्ञान होता है। अर्थात् उष्णताविशेष तथा रूप सदा सहभावी हैं[1]। प्रधानतः स्पर्शज्ञान वायवीय द्रव्ययोग से ही होता है। हमारी त्वचा वायु में निमग्न है; शीतोष्ण-रूप स्पर्शज्ञान उस वायुगत ताप से ही प्रधानतः होता है। और शब्द-ज्ञान के साथ आवरणशून्यता या रिक्तता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार काठिन्य-तारल्य आदि अवस्थाओं के साथ भूतज्ञान का सम्बन्ध है। किन्तु काठिन्य-तारल्यादि ताप के तारतम्यमात्र से होते हैं, वे तात्त्विक गुण नहीं हैं।

अतएव तत्त्वदृष्टि के अनुसार साक्षात्कार करने पर भूतसमूह शब्दमय सत्ता (=आकाश), स्पर्शमय सत्ता (=वायु) इत्यादि रूप से जान पड़ते हैं। व्यवहारतः उन शब्दादि के साथ उनके सहभावी काठिन्यादि भी ग्राह्य हैं। यही कारण है कि संयम-द्वारा भूतजय करने के लिए काठिन्यादि भावों का भी ग्रहण करना पड़ता है।

क्षिति आदि भूत विशेष हैं; वे गन्धादि तन्मात्रों के विशेष हैं। विशेष शब्द यहाँ पर तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। (१) शब्द आदि के षड्ज-ऋषभ, शीत-उष्ण, नील-पीत, सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि जो भेद हैं, उनका नाम विशेष है। भूतसमूह में तादृश विशेष होते हैं; तन्मात्र तादृश विशेष से रहित है। (२) शान्त, घोर तथा मूढ़—ये तीन भाव भी विशेष हैं; शब्दादि विशेष के शान्तादि विशेष सहभावी हैं। षड्जादि विशेष का ज्ञान नहीं रहने पर वैषयिक सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। (३) भूतसमूह चरम विकार होने के कारण (वे अन्य विकार की प्रकृति न होने के कारण) विशेष हैं। अतएव भूतसमूह का लक्षण इस प्रकार है—जो नानाविध शब्दों का गुणी एवं सुखादिकर होता है वही आकाश है; उसी प्रकार सुखादिकर नाना स्पर्शों का गुणी वायु है; तेज आदि भी इसी प्रकार के हैं।

ये पञ्चभूतस्वरूप ग्राह्य और विशेष हैं। इन्द्रियरूप विशेष साधारणतया एकादश माने जाते हैं। ये द्विविध हैं—बाह्य इन्द्रिय तथा अन्तः-इन्द्रिय। बाह्येन्द्रियगण बाह्य विषय का व्यवहार करते हैं। अन्तः-इन्द्रिय मन बाह्य-करणार्पित

---

१. द्रव्यविशेष में इस उष्णता का तारतम्य होता है। फसफोरस् अत्यल्प उष्णता से आलोकवान् होता है, पर उसमें भी Oxidation जनित उष्णता है। सूर्य के उष्णताजनित आलोक से ही दिन में हमारे सभी रूपज्ञान होते हैं। [किसी वस्तु के साथ Oxygen gas को संयुक्त करना Oxidation है; किसी वस्तु से hydrogen gas का अपसारण करना भी इस शब्द का अर्थ होता है।] [सम्पादक]

शब्दादि तथा आन्तरिक अनुभव जात सुखादि और चेष्टादि विषय लेकर व्यवहार करता है।

बाह्येन्द्रियाँ साधारणतः दो प्रकार की मानी जाती हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। उनके अन्तर्गत होने के कारण प्राण पृथक् नहीं गिना जाता, परन्तु प्राण भी बाह्येन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय सात्त्विक, कर्मेन्द्रिय राजस और प्राण तामस है। वे प्रत्येक पाँच पाँच हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—शब्दग्राही कर्ण, शीत और उष्ण रूप स्पर्शग्राही[1] त्वचा, रूपग्राही चक्षु, रसग्राही रसना तथा गन्धग्राही नासिका। कर्मेन्द्रिय हैं—वाक्यविषय वाक्, शिल्प-विषय पाणि,[2] गमनविषय पाद, मलमूत्र-विसर्गविषय पायु, प्रजननविषय उपस्थ[3]। प्राण, उदान, व्यान, अपान और समान--ये पञ्च प्राण हैं। प्राण का कार्य है--शरीर के बाह्योद्भव बोधांशों का धारण; उदान का कार्य है—धातुगत बोधांशों का धारण; व्यान का कार्य है—

---

१. वायुभूत के प्रसंग में जो स्पर्श है, वह शीतोष्ण रूप स्पर्श है—कठिन, कोमल रूप स्पर्श या अन्य किसी प्रकार का स्पर्श नहीं। इस स्पर्श के लिए contact, tangibility और touch शब्द का प्रयोग करना (जैसा कि मैक्समुलर, राधाकृष्णन् आदि करते हैं) भ्रामक है। Thermal sensation अथवा thermal condition या ईदृश कोई शब्द ही युक्त है। **[सम्पादक]**

२. साधारणतः पाणि का कार्य ग्रहण कहा जाता है, परन्तु इसमें पाणि के सभी कार्य नहीं आते। वस्तुतः त्याग को भी पाणिकार्य रूप से स्वीकार करना होगा। वस्तुतः पाणि का कार्य शिल्प है। शास्त्र भी है—'विसर्गशिल्पगत्युक्ति कर्म तेषां च कथ्यते।' (विष्णुपुराण १।२।४५)।

[पुराण श्लोक का मुद्रित पाठ 'गत्युक्तिः' (सविसर्ग) है, जो भ्रष्ट है। यहाँ समाहार द्वन्द्व हुआ है, अतः यह नपुंसकलिङ्ग होगा। इस श्लोक में 'विसर्ग' शब्द से पायु और उपस्थ दोनों के व्यापार कहे गये हैं—यह स्पष्टतया प्रतीत होता है। चरक (शारीरस्थान, अ० १) में भी विसर्ग शब्द के द्वारा इन दोनों के व्यापार अभिहित हुये हैं]। [सम्पादक]

३. साधारणतः उपस्थ का कार्य आनन्दमात्र कहा जाता है। यह भी भ्रान्ति है। आनन्द कार्य नहीं है, पर बोधविशेष है। चूँकि उपस्थ-कार्य के साथ साधारणतः आनन्द संयुक्त रहता है, इसलिए इस प्रकार कहा जाता है। परन्तु उपस्थ का कार्य है—'प्रजनन'। शास्त्र भी है—"प्रजनानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम्" (शान्ति० २१९।२१)। बीजसेक तथा प्रसवरूप कार्य उपस्थ का ही है। वह आनन्द तथा पीड़ा दोनों भावों से ही युक्त हो सकता है। गौड़पादाचार्यजी भी कहते हैं, आनन्द का अर्थ है प्रजनन, क्योंकि पुत्रोत्पत्ति से आनन्द होता है। (सांख्यकारिकाभाष्य २८)।

चालनांशों का धारण; अपान का कार्य है—सभी शरीरमलों के अपनयनकारी अंशों का धारण; समान का कार्य है—समनयनकारी अंशों का धारण। (विशेष विवरण 'सांख्यतत्त्वालोक'[१] तथा सांख्यीय प्राणतत्त्व'[२] में देखिए)।

अन्तर्-इन्द्रिय मन है। **"मनः संकल्पकमिन्द्रियम्"** (सां. का. २७) अर्थात् मन विषय का संकल्पकारी है। सम्यक् कल्पन अर्थात् ग्रहण, चेष्टा तथा धारण ही संकल्प है। इच्छापूर्वक ज्ञेयादि विषयों का व्यवहार ही संकल्प है।

पञ्च भूत, दश बाह्यइन्द्रियाँ और मन— ये षोडश विकार ही विशेष हैं। ये अन्य विकारों के उपादान नहीं हैं। ये अन्तिम विकार हैं।

१९ (३) अविशेष छह हैं। पञ्चभूतों का उपादान कारण पञ्चतन्मात्र हैं और तन्मात्र तथा इन्द्रियों का कारण अस्मिता है।

तन्मात्र का अर्थ है 'केवल वही' अर्थात् शब्दमात्र, स्पर्शमात्र इत्यादि। षड्ज-ऋषभादि विशेषों से शून्य सूक्ष्म शब्दतन्मात्र है। स्पर्शादि तन्मात्र भी इसी प्रकार विशेषशून्य स्पर्श आदि ही हैं। तन्मात्र की दूसरी संज्ञा परमाणु है। परमाणु का अर्थ 'क्षुद्रातिक्षुद्र कण' नहीं है अपितु शब्दस्पर्शादि की सूक्ष्म अवस्था है। जिस सूक्ष्म अवस्था में शब्दस्पर्शादि का 'विशेष' नामक भेद अस्त हो जाता है, उसका नाम तन्मात्र है। परमाणु शब्दादि-गुणों की ऐसी सूक्ष्म अवस्था है कि उसके अवयव-विस्तार का स्फुट ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः वह काल की धारा के क्रम से ज्ञात होता है। जिस प्रकार शब्द जब चारों ओर व्याप्त हो उठता है, तब वह महावयवशाली बोध होता है, परन्तु शब्द को यदि कर्णगत ज्ञानरूप से ध्यान किया जाए, तो वह कालिक-धाराक्रम से ज्ञात होता है; तन्मात्रज्ञान में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। परमाणु-साक्षात्कार में रूपादि सभी विषयों का बोध इन्द्रियक्रिया के सूक्ष्म भाव रूप में होने के कारण परमाणु भी क्रिया के समान कालिकधारा-क्रम से ही ज्ञान-गोचर होता है। वह महावयवी-रूप अर्थात् खण्ड्य अवयवी-रूप से (जिसका अवयव विभाज्य है उस रूप से) ज्ञानगोचर नहीं होता। जो अवयव खण्डनार्ह नहीं होता, वह अणु-अवयव कहलाता है। तन्मात्र उसी प्रकार का अणु-अवयव-शाली पदार्थ है। अणु-अवयव से क्षुद्र अवयव ज्ञानगोचर नहीं होता। समाहित चित्त-द्वारा उसका साक्षात्कार करना पड़ता है। उससे भी सूक्ष्म बाह्य-विषय समाहित चित्त का भी गोचर नहीं होता। सांख्य का परमाणु अनुमेय पदार्थमात्र नहीं है, अपितु वह साक्षात्कारयोग्य बाह्य-पदार्थ है।

---

१. यह ग्रन्थकारकृत संस्कृतग्रन्थ है। [सम्पादक]

२. यह निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। [सम्पादक]

शब्दगुणक पदार्थ से स्पर्श, स्पर्शगुणक पदार्थ से रूप, रूपगुणक पदार्थ से रस, रसगुणक द्रव्य से गन्ध उत्पन्न होता हैं, पूर्वोक्त यह नियम तन्मात्र-पक्ष में प्रयोज्य नहीं होता। सभी तन्मात्र अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। गन्धज्ञान कण के योग से उत्पन्न होता है, अतः जिससे गन्धतन्मात्रज्ञान होता है उससे रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द का ज्ञान भी हो सकता है। इस प्रकार शब्दतन्मात्र एक-लक्षण, स्पर्शतन्मात्र द्विलक्षण, रूपतन्मात्र त्रिलक्षण, रसतन्मात्र चतुर्लक्षण और गन्धतन्मात्र पञ्चलक्षण होते हैं; किन्तु स्वरूपतः साक्षात्कार काल में एक एक तन्मात्र अपने एक-एक लक्षण-द्वारा ही साक्षात्कृत होता है।

१९ (४) अस्मिता=अस्मि का (अहंभाव का) भाव अर्थात् अभिमान। अस्मिता का अर्थ अहंबुद्धि भी होता है। यहाँ अस्मिता का अर्थ अभिमान है। करणशक्तिसमूह के साथ चैतन्य की एकात्मकता ही अस्मिता है, यह पहले कहा जा चुका है। इस दृष्टि से बुद्धि अस्मितामात्र या चरम अस्मितास्वरूप होती है। अस्मितामात्र सब स्थलों पर महत्-तत्त्व नहीं होता। यहाँ पर वह छह इन्द्रियों के साधारण उपादानरूप में साधारण अस्मितामात्र है। सब इन्द्रियों में साधारण उपादानरूप अभिमान तथा बुद्धि—इन दोनों को ही अस्मितामात्र कहा जाता है। अस्मीतिमात्र' कहने से महत्-तत्त्व ही समझा जाता है।

अन्य करणों के साथ आत्मा का संबन्ध-भाव भी अस्मिता है। उसमें प्रत्यय होता है कि 'मैं श्रवणशक्तिमान् हूँ' इत्यादि। अतः करणशक्ति के साथ 'मैं' का योग अर्थात् अभिमान ही अस्मिता हुआ। वस्तुतः इन्द्रियाँ अस्मिता की भिन्न-भिन्न अवस्था-मात्र हैं। बाहर से इन्द्रियों को भूत के व्यूहविशेषरूप में देखा जाता है। जिस आध्यात्मिक शक्ति-द्वारा भूतगण व्यूहित होते हैं, वास्तव में वही इन्द्रिय है। अध्यात्मशक्ति वस्तुतः अहंभाव की अवस्थाविशेष या अभिमान है। अभिमान रहने से ही समस्त शरीर में 'मैं' इस प्रकार से प्रत्यय होता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण तथा चित्त उस अभिमान की एक-एक प्रकार की अवस्था या विकृति हैं, जैसे चक्षु=चक्षु में स्थित या चक्षुस्वरूप अभिमान। रूप नामक क्रिया द्वारा उसके सक्रिय होने पर रूपज्ञान होता है। रूपज्ञान का अर्थ है—रूप के साथ ज्ञाता का अविभक्त प्रत्यय या एकात्मवत् प्रत्यय। दूसरे शब्दों में बाह्य क्रिया से चक्षुरूप अहंभाव में जो विकार होता है, वही ज्ञाता में

१. 'अस्मीतिमात्र' शब्द सूत्र-भाष्यटीकादि में प्रयुक्त नहीं हुआ है। पञ्चशिख के वाक्य 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्य अस्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते' (१।३६ व्यास-भाष्य में उद्धृत) से स्वामीजी ने यह कल्पना की है कि 'अस्मीतिमात्र' शब्द कभी सांख्ययोगसंप्रदाय में प्रचलित रहा होगा। [सम्पादक]

आरोपित होकर रूपज्ञान कहलाता है। ज्ञाता एवं ज्ञेय का सम्वन्धभाव अर्थात् 'मैं रूपज्ञानवान्' इस प्रकार का भाव ही अस्मिता नामक अभिमान है। यह अस्मितामात्र नामक षष्ठ अविशेष ही इन्द्रियोंकी प्रकृति या साधारण उपादान है।

१९ (५) सत्ता-मात्र-आत्मा = 'मैं हूँ' या 'मैं-मात्र' ऐसा भाव; बुद्धितत्त्व का वा महत्तत्त्व का गुण = निश्चय। निश्चय और सत्ता अविनाभावी हैं। विषयनिश्चय और आत्मनिश्चय—दोनों ही बुद्धि के गुण हैं; उनमें आत्म-निश्चय ही निश्चय का शेष है। अतएव वह बुद्धि का स्वरूप है। विषयनिश्चय बुद्धि का विकार या विरूप होता है। अतः 'मैं हूँ' या अस्मीति-प्रत्यय या सत्ता-मात्र-आत्मा ही महत्तत्त्व है। यहाँ 'अस्मि' शब्द अव्ययपद है,[1] जिसका अर्थ 'मैं' है।

पहले 'मैं' इस प्रकार का भावमात्र रहने से ही उसके बाद फिर 'मैं दर्शक, श्रोता, घ्राता, गन्ता हूँ' इत्यादि अहंभाव के विकार हो सकते हैं। यह विकार-भाव ही अभिमान या अहंकार है। अतएव अस्मितामात्र-स्वरूप महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है या महत्तत्त्व अहंकार का कारण है।

इसी प्रकार आत्मभाव का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि महत् सर्व प्रथम व्यक्तभाव होता है; उसी का विकार अहंकार या अस्मिता है, अस्मिता के विकार इन्द्रियगण हैं। शब्दादि तन्मात्र भी अस्मिता के विकार हैं।

शब्दादि का ज्ञानरूप अंश हमारी अस्मिता का विकार होता है और जिस बाह्य क्रिया से शब्दादि उत्पन्न होते हैं, वह विराट् ब्रह्मा[2] की अस्मिता

---

१. 'अस्तिक्षीरा' शब्द में जिस प्रकार 'अस्ति' यह तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है (तभी समास हुआ है), उसी प्रकार 'अस्मिता' 'अस्मीतिप्रत्यय' आदि शब्दों में 'अस्मि' भी तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। 'ममता' शब्दगत 'मम' भी सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय है (ललितासहस्रनाम की भास्करटीका, पृ. ६४)। **[सम्पादक]**

२. यह ध्यान से लक्षणीय है कि ये विराट् ब्रह्मा योगसूत्रोक्त ईश्वर (१।२४) नहीं हैं। ये ईश्वर सृष्टिव्यापार से सर्वथा उपरत हैं। जिनकी अस्मिता = भूतादि अहंकार, तन्मात्ररूपसे ग्राह्यीभूत होता है (सृष्टिसंकल्प रूप निमित्त के बल पर), व्यासभाष्य में उनको 'यत्रकामावसायी पूर्वसिद्ध' कहा गया है (३।४५)। ये ही प्रजापति हिरण्यगर्भ हैं। प्रत्येक जीव में अहंकार—सुतरां भूतादिरूप तामस अहंकार—भी है, पर वह तन्मात्र का उपादान नहीं होता। सृष्टिसामर्थ्य के लिए समाधि-विशेष की आवश्यकता होती है, जो सृष्टिकर्ता प्रजापति में है। यह दृष्टि सर्वथा सांख्यानुमोदित है। सृष्टिकर्ता प्रजापतिके लिये सांख्यकारिका में 'ब्रह्मा' शब्द प्रयुक्त भी हुआ है (का. ५४)। **[सम्पादक]**

का विकार है; अतः शब्दादि दोनों ओर से ही अस्मिता-विकार हुए।

भाष्यकार कहते हैं कि 'महत्तत्त्व के तन्मात्र तथा अस्मिता-रूप छह अविशेष परिणाम हैं।' सांख्य कहते हैं—महत् से अहंकार, अहंकार से पञ्च तन्मात्र होते हैं। कोई कोई कहते हैं कि यहाँ सांख्य तथा योग में[१] मतभेद है, ऐसा कहना ठीक नहीं। वस्तुतः भाष्यकार का वक्तव्य यह है कि लिङ्गमात्र छह अविशिष्ट लिङ्गों का कारण होता है। समस्त अविशेषों को एक जाति मानकर लिङ्गमात्र को उनका कारण बताया गया है। सभी अविशेषों में भी जो कार्य-कारण-क्रम रहता है, भाष्यकार ने उसे उस दृष्टि से नहीं लिया है। साक्षात् रूप से नहीं, परन्तु परम्परा-क्रम से महत् गन्धतन्मात्र का कारण होता है। इसी प्रकार भाष्यकार ने गुणों को एक साथ षोड़श विकारों का कारण कह दिया है; किन्तु गुण-समूह मूल कारण होते हैं। १।४५ सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'तन्मात्र का कारण अहंकार, अहंकार का कारण महत्तत्त्व' इस प्रकार का क्रम बताया है।

१९ (६) महत्तत्त्व के कार्य छह अविशेष हैं। महत् से अहंकार या अस्मिता, अस्मिता से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र इत्यादि क्रम से ही महत् से सभी अविशेष विकसित होते हैं।

अतएव महत् से एक साथ छह अविशेष हुए हैं, यह कहना ठीक नहीं। भाष्यकार का भी यह आशय नहीं है। महान् आत्मा से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्र एवं प्रत्येक भूत—इस प्रकार का क्रम ही यथार्थ माना जाता है। आकाश से वायु, वायु से तेज इत्यादि क्रम केवल गन्धादिज्ञान के सहभावी काठिन्यादि के विषय में ही उपयुक्त है। यह नैमित्तिक दृष्टि है, किन्तु तात्त्विक या औपादानिक दृष्टि नहीं है। शब्दज्ञान स्पर्शज्ञान का उपादान कभी नहीं हो सकता, किन्तु शब्दक्रिया-रूप निमित्त के द्वारा अस्मिता रूप उपादान परिवर्तित होकर स्पर्शज्ञान में व्यक्त हो सकता है [२।१९ (२) देखिए]। अतः सूक्ष्म शब्द ही स्थूल शब्द का उपादान हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्दतन्मात्र से आकाशभूत होता है, स्पर्शतन्मात्र से वायुभूत इत्यादि। अतएव अस्मिता से प्रत्येक तन्मात्र हुआ है एवं एक-एक तन्मात्र से तदनुरूप एक-एक भूत उत्पन्न हुआ है।

प्रथम व्यक्ति रूप महत् से क्रमशः छह अविशेष उत्पन्न हुए हैं। वे ही षोड़शविकार-रूप चरम विकास या विवृद्धिकाष्ठा प्राप्त करते हैं और विलयकाल

---

१. द्र० शारीरक २।२।१० (परस्परविरुद्ध श्चायं सांख्यानामभ्युपगमः ···क्वचिन्महतः तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात्)। [सम्पादक]

में विलोम क्रम से महत्तत्त्व में लीन होकर अव्यक्तता प्राप्त करते हैं। अर्थात् व्यापार के सम्यक् अभाव से जब महत् लीन होता है, तब उसमें लीन विशेष तथा अविशेष महत् की गति प्राप्त कर लेते हैं। महत् लीन होने पर उस अवस्था की कोई भी व्यापाररूप व्यक्तता नहीं रहती। अतः इसे अव्यक्त कहा जाता है। भाष्यकार ने इस अलिङ्ग प्रधान के और भी कुछ विशेषण दिए हैं। उनकी व्याख्या की जा रही है :—

निःसत्तासत्त = सत्ता-असत्ता हीन। सत्ता का अर्थ है सत् का भाव। सभी सत् या व्यक्त पदार्थ पुरुषार्थ के साधक हैं। अतः सत्ता का अर्थ है पुरुषार्थ-क्रिया-साधकता। हमारे लिए साधारण अवस्था में सत्ता और पुरुषार्थ-क्रिया अविनाभावी हैं। अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ-क्रिया न रहने के कारण प्रधान निःसत्त है, और अभाव न होने के कारण (क्योंकि वह पुरुषार्थक्रिया का शक्तिरूप कारण होता है) वह असत्त (सत्ताहीन) भी नहीं। अतएव वह निःसत्तासत्त होता है।

निःसदसत् = सत् या विद्यमान, असत् या अविद्यमान; जो महदादि के समान सत् अर्थात् अर्थक्रियाकारी या साक्षात् ज्ञेय नहीं है, तथा महदादि का कारण होने से अविद्यमान भी नहीं है, वह निःसदसत् है। सत्—अर्थक्रिया-कारी। सत्ता = अर्थक्रिया का भाव। निःसत्तासत्त और निःसदसत् ये दोनों उपर्युक्त दो दृष्टिकोणों से प्रयुक्त हुए हैं।

निरसत् प्रधान को कोई नितान्त तुच्छ या अविद्यमान पदार्थ न समझ ले, इसलिए भाष्यकार ने पुनः निरसत् शब्द का पृथक् प्रयोग किया है। यद्यपि अव्यक्त प्रधान ज्ञेय है, तथापि व्यक्त महदादि के समान साक्षात् ज्ञेय नहीं; महदादि सक्रियभाव से ज्ञेय होते हैं और प्रधान सभी कियाओं की शक्ति के रूप में ज्ञेय होता है। वह अनुमानद्वारा ज्ञेय है।

अतएव प्रधान, निरसत् या भावपदार्थ-विशेष है। अव्यक्त = जो व्यक्त या साक्षात्कारयोग्य नहीं है। सभी व्यक्तियाँ जिस अवस्था में लीन होती हैं उस अवस्था का नाम अव्यक्तावस्था है। **'अव्यक्तं क्षेत्रलिङ्गस्थं गुणानां प्रभवाप्ययम्। सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च ॥'** (महाभारत, अश्वमेध ४३।३७)।

१९ (७) प्रकृति उपादान होने पर भी महदादि व्यक्तियाँ पुरुषार्थता-द्वारा (पुरुषोपदर्शन द्वारा) अभिव्यक्त होती हैं। अतएव पुरुषार्थ महदादि व्यक्तावस्था का हेतु या निमित्त-कारण हैं। पर यह पुरुषार्थ अव्यक्तावस्था का हेतु नहीं है। प्रधान नित्य ही है, अतः वह पुरुषार्थ-द्वारा परिणाम प्राप्त कर महदादि रूप में अभिव्यक्त होता है। महदादि परिणाम-क्रम के अनुसार अनादि होते हुए भी पुरुषार्थ की समाप्ति होने पर प्रत्यस्तमित हो जाते हैं,

इसीलिए वे अनित्य हैं। उदय होने वाली तथा लय होने वाली सत्ता होने के कारण भी वे अनित्य कहलाते हैं।

१९ (८) जितने व्यक्त पदार्थ हैं वे सब गुणात्मक हैं, अतएव गुणत्रय का लय कहीं भी नहीं होता। अव्यक्त अवस्था भी गुणत्रय की साम्यावस्था है। वह व्यक्तपदार्थ की लयावस्था होती है, पर गुणत्रय की नहीं। व्यक्ति के उदय तथा लय से गुणत्रय भी मानों उदितवत् तथा लीनवत् प्रतीत होते हैं; किन्तु वास्तव में उदय-लय से गुणत्रय की क्षयवृद्धि नहीं होती तथा होने की सम्भावना भी नहीं है। व्यक्त न हों तो गुणत्रय अव्यक्त भाव में रहते हैं। इस पर भाष्य में उक्त दृष्टान्त का अर्थ यह है कि गो के न रहने से देवदत्त दुर्गत होता है, रहने से नहीं। जिस प्रकार गो-रूप बाह्य पदार्थ का रहना या न रहना ही देवदत्त की अदुःस्थता या दुःस्थता का कारण होता है, परन्तु देवदत्त के शारीरिक रोगादि उसके कारण नहीं, उसी प्रकार व्यक्तियों के उदय-लय ही गुणत्रय को उदित-सा और लीन-सा बना देते हैं। परन्तु वास्तव में मूल कारण त्रिगुण उदित तथा लीन नहीं होते। उनका अन्य कारण न रहने से उनके उदय (कारण से उद्भव) तथा विनाश (स्वकारण में लय) नहीं होते।

१९ (९) क्रमानतिक्रम हेतु=सर्गक्रम का अतिक्रमण सम्भव न होने के कारण। अव्यक्त से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से तन्मात्र तथा इन्द्रिय, तन्मात्र से भूत—इस प्रकार का सर्गक्रम पहले बताया जा चुका है। इस प्रकार के क्रम से ही सर्ग होता है, यह समझना चाहिए। पहले भाष्यकार ने क्रम की बात स्पष्ट न कहकर यहाँ उस को कहा है।

विशेषों का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं होता। शब्दगुणक आकाश-भूत अन्य किसी तत्त्व में परिणत नहीं होता। तत्त्व का अर्थ साधारण उपादान है। जैसे, बाह्य भौतिक जगत् का साधारण उपादान आकाश, वायु इत्यादि होते हैं। एक-एक जातीय प्रमाण द्वारा वे प्रमित होते हैं। स्थूल तत्त्व वितर्कानुगत-समाधि-रूप प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रमित होते हैं। उसी प्रमाण के द्वारा आकाशादि स्थूलभूत और श्रोत्रादि स्थूल इन्द्रियों का और अधिक सूक्ष्म विश्लेषण नहीं होता है। शब्द या रूप के नाना भेद हैं; किन्तु वे सब शब्दलक्षण तथा रूपलक्षण के अन्तर्गत हैं, अतः उनका तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं है। उसी प्रकार अनेक प्राणियों में चक्षु अनेक प्रकार के भेदों के साथ हो सकते हैं परन्तु वे सभी चक्षुतत्त्व हैं; उनमें चक्षुतत्त्व अन्य तत्त्व में परिणत नहीं होता है। अतएव कहा गया है कि विशेषों का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं होता; सूक्ष्मतर

प्रमाण (विचारानुगत समाधि) के बल से विशेष को स्वकारण अविशेष रूप में प्रमित किया जाता है।

———

भाष्यम्—व्याख्यातं दृश्यम्; अथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी, स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत् सरूपः, कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिस्तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति; सदाज्ञातविषयत्वन्तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति, कस्मात्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्याद् गृहीताऽगृहीता च, इति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति।

किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति; गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति, अतो न सरूपः। अस्तु तर्हि विरूप इति। नात्यन्तं विरूपः, कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते। तथा चोक्तम्—"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते" ॥ २० ॥

भाष्यानुवाद—दृश्य व्याख्यात हो चुका; अब द्रष्टा-स्वरूप के अवधारणार्थ यह सूत्र रचा जा रहा है—

२०। द्रष्टा दृशिमात्र है और शुद्ध होने पर भी वह प्रत्ययानुपश्य (प्रत्यय का अनुदर्शक) है। सू०

'दृशिमात्र' का अर्थ 'विशेषण द्वारा अपरामृष्ट दृक् शक्ति' (१) है। यह पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है। यह बुद्धि का सरूप भी नहीं है और न उसका अत्यन्त विरूप ही। यह सरूप नहीं है, क्योंकि ज्ञाताज्ञात-विषय होने के कारण बुद्धि परिणामी होती है। बुद्धि का गवादि (चेतन) वा घटादि (अचेतन) विषय (पृथक् वर्त्तमान रहते हुए बुद्धि को उपरक्त कर) ज्ञात होते हैं तथा (उपरक्त न कर) अज्ञात होते हैं। यह ज्ञाताज्ञातविषयता बुद्धि का परिणामित्व प्रमाणित करती है। सदा-ज्ञातविषयत्व पुरुष की अपरिणामिता को परिदीपित करता है, क्योंकि पुरुषविषया बुद्धि कभी गृहीत तथा कभी अगृहीत ऐसी नहीं

होती (अर्थात् सदा ही गृहीत होती है)। इस प्रकार पुरुष का सदाज्ञात-विषयत्व सिद्ध होता है (२)। अतएव (पुरुष के सदाज्ञात-विषयत्व सिद्ध होने पर) इससे पुरुष की अपरिणामिता सिद्ध होती है।

बुद्धि संहत्यकारित्व के कारण परार्थ होती है, और पुरुष स्वार्थ (३) होता है। बुद्धि सर्वार्थनिश्चयकारिका होने के कारण त्रिगुण है तथा त्रिगुणत्व के कारण अचेतन है। पुरुष गुणसमूह का उपद्रष्टा (४) है। अतएव पुरुष बुद्धि का सरूप (समजातीय) नहीं होता। तब क्या वह विरूप है ? नहीं, वह अत्यन्त विरूप भी नहीं है (५)। कारण, शुद्ध होने पर भी पुरुष प्रत्ययानुपश्य होता है; क्योंकि पुरुष बुद्धि-संभूत प्रत्ययसमूह का अनुदर्शन करते हुए तदात्मक न होने पर भी तदात्मक-सा प्रत्यवभासित होता है। (पञ्चशिख द्वारा) कहा भी गया है—"भोक्तृशक्ति (पुरुष) अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा (प्रतिसंचारशून्या) होती है; वह परिणामी अर्थ में (बुद्धि में) प्रतिसंक्रान्त-सी होकर उसकी (बुद्धि की) वृत्तियों की अनुपातिनी होती है और चैतन्योपराग-प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनुकरणमात्र-द्वारा उस भोक्तृशक्ति की ज्ञानस्वरूपा वृत्ति बुद्धिवृत्ति से अविशिष्टा के रूप में आख्यात होती है (अथवा चिति के साथ अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति ज्ञानवृत्ति के नाम से कथित होती है)" (६)।

टीका २० (१) द्रष्टा=अविकारी ज्ञाता; ग्रहीता=विकारी ज्ञाता; द्रष्टा तथा ग्रहीता सदृश होते हैं, पर एक नहीं। द्रष्टा सदा ही स्वद्रष्टा है; ग्रहीता ज्ञानकाल में ग्रहीता होता है, ज्ञाननिरोध में नहीं। 'मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि ही 'ग्रहीता' है।

दृशिमात्र—दृशि का अर्थ है ज्ञ वा चित् वा स्वबोध। जिस बोध के लिए करण की अपेक्षा नहीं रहती, वही दृशि कहलाता है। 'मैं हूँ' इस प्रकार का बोध हम अनुभव करने के बाद कहते हैं। उसमें करण की अपेक्षा रहती है, क्योंकि वह बुद्धिविशेष है। किन्तु 'मैं' इस प्रकार के भाव का भी जो मूल है, जो इस भाव के भी पहले रहता है एवं जिसे हम वाक्य द्वारा प्रकाशित करने की चेष्टा करते हैं, वह करण-सापेक्ष नहीं है। श्रुति भी कहती है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदा० २।४।१४) **'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।'** (बृहदा० ४।३।३०)। करण के विषय दृश्य होते हैं करण भी दृश्य है। अतः जो द्रष्टा है वह करण का विषय नहीं है। द्रष्टा के अन्तर्गत (अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप का) जो बोध है वह स्वबोध ही होता है। द्रष्टा स्वद्रष्टा अर्थात् 'मैं' ज्ञाता हूँ' ऐसी स्वविषयक बुद्धि का द्रष्टा है।

जितने समय तक दृश्य रहता है उतने समय तक भाषा में पुरुष को द्रष्टा कहा जा सकता है, किन्तु दृश्य लीन होने पर उसे द्रष्टा कैसे कहा जा सकता

है—यह शङ्का हो सकती है। इसका उत्तर यही है कि 'द्रष्टा' इस शब्द का व्यवहार न करने पर भी कोई हानि नहीं होती, तब 'चितिशक्ति' 'चैतन्य' इस प्रकार के शब्द व्यवहार्य होते हैं; यदि 'द्रष्टा'-शब्द का व्यवहार भी किया जाए तो उसे चित्तशान्ति का द्रष्टा कहना चाहिए। इस प्रकार की भाषा का व्यवहार करने पर भी प्रकृत पदार्थ का अन्यथाभाव नहीं हो जाता, यह स्मरण रखना चाहिए।

चित् द्रष्टा का धर्म नहीं है, क्योंकि धर्म तथा धर्मी दृश्य हैं, वे ज्ञाताज्ञात भावविशेष हैं। जो चित् है, वही द्रष्टा भी है। अतएव द्रष्टा को चिद्रूप कहा जाता है।

दृशिमात्र इस पद के 'मात्र' शब्द-द्वारा सर्व-विशेषणशून्यत्व या धर्मशून्यत्व समझना चाहिए; अर्थात् सर्व-विशेषणशून्य जो बोध है वही द्रष्टा कहलाता है। (द्र० सांख्यसूत्र १।१४६—**निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा**)।[1]

शङ्का हो सकती है कि तब चितिशक्ति को 'अनन्ता', 'अप्रतिसंक्रमा' प्रभृति विशेषणों से विशेषित क्यों किया जाता है? वस्तुतः 'अनन्त' विशेषण या धर्म नहीं, परन्तु धर्म-विशेष का अभाव है। 'अप्रतिसंक्रमा' भी इसी प्रकार है। सान्त आदि जो व्यापनार्थक विशेषण हैं तथा अन्य प्रधान जो विशेषण हैं, उन सभी के अभाव का उल्लेख कर 'सर्वधर्माभाव' क्या वस्तु है इसको प्रस्फुट किया जाता है। अन्तवत्ता, विकारशीलता आदि दृश्य के साधारण धर्मों का निषेध करके द्रष्टा को लक्षित किया जाता है।

पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है, इस वाक्य का अर्थ पहले व्याख्यात हुआ है। [१।७ सूत्र की (५) टीका देखिए]।

२० (२) बुद्धि से पुरुष का भेद जिन-जिन भेदक लक्षणों-द्वारा विज्ञात होता है, भाष्यकार उन्हीं को कहते हैं। जैसे—(क) बुद्धि परिणामी है, पुरुष अपरिणामी है; (ख) बुद्धि परार्थ है, पुरुष स्वार्थ है; (ग) बुद्धि अचेतन है, पुरुष चेतन[2] वा चिद्रूप है।

---

१. पुरुष (चितिशक्ति या द्रष्टा) किसी धर्म के धर्मी नहीं हैं; वे धर्मधर्मी-दृष्टि के अतीत पदार्थ हैं। वे चित्स्वरूप हैं, चिद्धर्मयुक्त नहीं। न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या में हरिदाससिद्धान्तवागीशजी ने जो लिखा है "सांख्यास्तु पुरुषः चैतन्याश्रयः" यह असंगत ही है। **[सम्पादक]**

२. पुरुष के लिए 'चेतन' और 'चैतन्य' दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'चैतन्य' का अर्थ 'चेतन का भाव' नहीं है, यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है। यह चैतन्य बुद्धि का विकारभूत ज्ञान भी नहीं है। 'चेतन का भाव' इस अर्थ में चैतन्य शब्द शास्त्रा-

इस प्रकार पुरुष और बुद्धि की भिन्नता जानी जाती है। भिन्न होने पर भी उनमें कुछ सादृश्य रहता है। अविवेकवश बुद्धि तथा पुरुष की एकत्वख्याति ही यह सादृश्य है; अर्थात् अविवेकवश पुरुष बुद्धि की भाँति प्रतीत होते हैं।

जिन युक्तियों-द्वारा बुद्धि और पुरुष का सारूप्य और भेद आविष्कृत होते हैं, उन भाष्योक्त युक्तियों को विशद किया जा रहा है। बुद्धि के विषय ज्ञाताज्ञात होते हैं, अतएव बुद्धि परिणामी होती है और पुरुष के विषय सदा ज्ञात होते हैं, अतएव पुरुष अपरिणामी होते हैं। यह प्रथम युक्ति है।

बुद्धि के विषय गोघटादि[1] ज्ञात तथा अज्ञात होते हैं। जब गो बुद्धि में प्रकाशित होकर स्थित रहती है, तब बुद्धि गोविषयाकारा होती है; वही बाद में घटादि-आकारा होती है।

फलतः पुरुष को विषय बनाकर पुरुष-जैसी जो बुद्धिवृत्ति होती है, उसका लक्षण सदाज्ञातृत्व है। पुरुषविषया=पुरुष जिसका विषय है वह। अथवा 'पुरुषं विषित्य उत्पन्ना' (पुरुष को विषय कर उत्पन्न) ऐसा अर्थ भी होता है। पुरुषविषया बुद्धि या ग्रहीता सदा ही 'ज्ञाता' है, ऐसा बोध होता है और शब्दादि विषया बुद्धि उस प्रकार की नहीं होती है, किन्तु ज्ञात तथा अज्ञात इस प्रकार की होती है। पुरुष बुद्धि को विषय करने पर या प्रकाशित करने पर बुद्धि भी पुरुष को विषय बना लेती है अर्थात् निजी प्रकाश के मूलभूत द्रष्टा को 'मैं द्रष्टा हूँ' इस रूप से जानती है। अतः 'पुरुष का विषय बुद्धि' और 'बुद्धि का विषय पुरुष,' यह दो बातें प्रायः एक हैं।

संक्षेपतः बुद्धि का विषय या बुद्धि-प्रकाश्य शब्दादि एक बार ज्ञात और फिर अज्ञात होने के कारण पहले शब्द-बुद्धि उत्पन्न होती है, पीछे अ-शब्द-बुद्धि अर्थात् अन्य-बुद्धि हो जाती हैं और इस प्रकार बुद्धि का परिणाम सूचित होता है; पर पुरुषविषय या पुरुष-प्रकाश्य बुद्धि (ज्ञाताहंबुद्धि) एक बार 'ज्ञाताहम्' (मैं ज्ञाता) और दुबारा 'अज्ञाताहम्' ऐसी नहीं होती; बुद्धि रहने पर वह 'ज्ञाताहम्' अवश्य होगी। 'अज्ञाताहम्'-बुद्धि अलीक और अकल्पनीय

न्तर में प्रयुक्त होता ही है। ज्ञानार्थक चैतन्यशब्द प्रसिद्ध है। निर्धर्मक चेतन (पुरुष) में धर्मधर्मी-भाव की कल्पना करके 'चेतना' (=चेतन का धर्म) शब्द भी प्रयुक्त होता है। चेतन=चेतयिता (कठउप. २।२।१३ शां. भा०); पर यह कर्तृत्वशून्य तथा क्रियाशून्य वस्तु है, यह स्मर्तव्य है। [सम्पादक]

१. "गवादिर्घटादिर्वा" इस भाष्य के 'गो' शब्द को विज्ञानभिक्षु ने शब्दवाची कहा है; अर्थात् गो शब्द का अर्थ जो मन में रहता है उसे समझना चाहिए, बाह्य एक गाय नहीं।

पदार्थ है। अतः पुरुष-प्रकाश सदा प्रकाश है, कभी अप्रकाश (या अज्ञाता) न होने से वह अपरिणामी प्रकाश है। बुद्धि न रहने पर या लीन होने पर वह प्रकाशित नहीं होती—यह भी बुद्धि का ही परिणाम है, प्रकाशक का उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। स्वकीय क्रिया-शक्ति-द्वारा बुद्धि प्रकाशक के पास प्रकाशित होती है। ऐसा न होने से प्रकाशक का कुछ नहीं होता, बुद्धि ही अप्रकाशित रह जाती है।

विषयाकारा बुद्धि ही भिन्न-भिन्न विषयरूप बनती है, किन्तु पुरुषाकारा बुद्धि केवल 'ज्ञाताहम्' इसी प्रकार की होती है, कभी अज्ञाता नहीं होती। अतएव उसके द्वारा लक्षित प्रकृत ज्ञाता निर्विकार होता है।

'मैं ज्ञाता हूँ' यह भाव ही पुरुषविषया बुद्धि है। कोई इसे यदि अज्ञाता दिखा सकता (यहाँ तक कि कल्पना भी कर सकता) तो इस बुद्धि का विषय पुरुष ज्ञाता तथा अज्ञाता अर्थात् परिणामी होता।

'मैं' इस प्रकार का भाव व्यावसायिक ग्रहीता है, 'मैं रहा था' और 'रहूँगा' यह आनुव्यवसायिक ग्रहीता है। स्मृति-इच्छादि अनुव्यवसायमूलक भाव हैं। अनुव्यवसाय (जो reflection जातीय है) एक प्रतिफलक (reflector) के बिना नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए जो ज्ञ-स्वरूप प्रतिफलक (reflector) है, उसी का नाम प्रतिसंवेदी है। प्रतिसंवेदी के बिना कोई भी ज्ञान कल्पनीय नहीं होता। क्योंकि सभी ज्ञान प्रतिसंवेद्य हैं। अतः बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष का विषयभूत जो ग्रहीता है, उस ग्रहीता के द्वारा अगृहीत किसी भी ज्ञान की सम्भावना षष्ठ वाह्य-इन्द्रियार्थ की अपेक्षा भी अधिकतर अकल्पनीय होती है। ग्रहीता सदाज्ञात होने से उसका जो द्रष्टा है, वह अपरिणामी ज्ञ-स्वरूप होता है, नहीं तो अज्ञात ग्रहीता या अज्ञात 'मैं-बोध'—इस प्रकार अकल्पनीय की कल्पना आ जाती है। अर्थात् 'ज्ञान का ग्रहीता मैं हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय जब अज्ञात नहीं होता, तब वह सदाज्ञात होता है। सदाज्ञात विषय का जो ज्ञाता है, वह भी सदाज्ञाता है। यदि कोई पदार्थ सदा ज्ञाता ही रहे और कभी अज्ञाता न हो तो वह अपरिणामी ज्ञ-स्वरूप ही होगा।

उदाहरणार्थ 'मैं अपने को जानता हूँ' इसमें 'मैं' ही द्रष्टा है तथा 'अपने-को' का अर्थ है–'मैं'-के समग्र अचेतन अंश=बुद्धि। नीलादि विषयों का ज्ञान 'मैं-को मैं जानता हूँ' ऐसे भाव का अवकाशमात्र होता है। नील को यदि समाधिबल से सूक्ष्मरूप से देखा जाए तो वह नील नहीं रहता, पर रूपमात्र परमाणुस्वरूप होता है; उसे भी सूक्ष्मतररूप में देखते-देखते वह अव्यक्त में पर्यवसित हो जाता है [१।४४ सूत्र की (३) टीका देखिए]। अतएव विषयज्ञान आपेक्षिक सत्य ज्ञान है। उसे अव्यक्त या समान तीन गुणों के रूप से जानना ही सम्यक् ज्ञान

होता है, और उस समय द्रष्टा का जो 'स्वरूप में अवस्थान' होता है उसे जानकर, 'द्रष्टा स्वरूपद्रष्टा है' यह जानना ही द्रष्टा-विषयक सम्यक् ज्ञान है।

शास्त्रोक्त **'पश्येदात्मानमात्मनि'** (आत्मा को आत्मा में देखना चाहिये, योगियाज्ञ० ७।३) इस वाक्य में एक आत्मा बुद्धि है, और एक आत्मा पुरुष है। अनादि-सिद्ध पुरुष तथा प्रकृति रहने से ही यह स्वतःसिद्ध द्रष्टा-दृश्यभाव रहता है। केवल चित् या केवल अचित् से द्रष्टा-दृश्यभाव का व्याख्यान सङ्गत नहीं होता है।

इस स्थल का भाष्य अतीव दुरूह है, इसलिए इतना अधिक कहना पड़ा। सभी टीकाकारों की व्याख्या पूर्णतया गृहीत नहीं हुई है [४।१८ (१) देखिए]।

२० (३) बुद्धि तथा पुरुष के वैरूप्य का द्वितीय हेतु है—बुद्धि संहत्यकारित्व के कारण परार्थ है और पुरुष स्वार्थ है। जो क्रिया अनेक प्रकार की शक्तियों के मिलन का फल है, वह तन्मध्यस्थ किसी शक्ति के लिए या उनके समवाय के अर्थ में नहीं होती है। जिसके द्वारा बहुत-सी शक्तियाँ समवेत होकर एक क्रिया-रूप फल उत्पन्न करती हैं, वह क्रियारूप फल अपने प्रयोजक का अर्थभूत होता है। इन्द्रियादि नाना शक्तियों की सहायता से बुद्धि सुख-दुःख फल पैदा करती है। अतः उस फल का भोक्ता या चरम ज्ञाता बुद्ध्यादि नहीं, परन्तु उससे भिन्न पुरुष है। इसीलिए बुद्धि परार्थ या पर का विषय है एवं पुरुष स्वार्थ या विषयी है। इस युक्ति की सम्यक् व्याख्या चतुर्थ पाद में देखिए (४।२४ सू०)।

२० (४) इस विषय पर तृतीय युक्ति है—बुद्धि अचेतन है और पुरुष चेतन या चिद्रूप है। बुद्धि परिणामी है और जो परिणामी होता है उसमें क्रिया, प्रकाश तथा अप्रकाश (अर्थात् त्रिगुण) रहते हैं। त्रिगुण दृश्य के उपादान हैं, और दृश्य तथा अचेतन समानार्थक हैं। अतः बुद्धि त्रिगुण और अचेतन है। पुरुष त्रिगुणातीत द्रष्टा हैं, अतः चेतन हैं। द्रष्टा और दृश्य को या चेतन और अचेतन को छोड़कर और कोई पदार्थ नहीं है। अतः जो दृश्य नहीं होता वह चेतन (यहाँ चेतन का अर्थ चैतन्ययुक्त नहीं, पर चिद्रूप है) है और जो द्रष्टा नहीं होता वह अचेतन है। प्रकाशशील अध्यवसायधर्मक या निश्चयधर्मक होने के कारण बुद्धि त्रिगुणा है, क्योंकि प्रकाशशीलता सत्त्व का धर्म है, और जहाँ सत्त्व रहता है वहाँ रज-तम भी रहते हैं। त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि अचेतन है।

२० (५) पुरुष बुद्धि का सदृश नहीं है—यह सिद्ध हो गया। पर वह बुद्धि से सम्पूर्ण विरूप भी नहीं है, क्योंकि वह शुद्ध होने पर भी अर्थात् बुद्धि से अतिरिक्त होने पर भी बौद्ध प्रत्यय या बुद्धिवृत्ति का उपदर्शन करता है। उपदृष्ट

बुद्धिवृत्ति का नाम ज्ञान या आत्मानात्म-बोध है। ज्ञान का परिणामी अंश या उपादान और पुरुषोपदृष्टिरूप हेतु—ये दो ज्ञानकाल में अभिन्न रूप से अवभात होते हैं। सदा ही ज्ञान का प्रवाह चल रहा है। अतएव पुरुष तथा ज्ञानरूप बुद्धि की अभेद-प्रत्ययरूप भ्रान्ति भी सदा चल रही है।

प्रश्न हो सकता है कि बुद्धि तथा पुरुष का अभेद किसको प्रतीत होता है ? इसका उत्तर यह है कि 'मैं' को या अहंबुद्धि को या ग्रहीता को; किस वृत्ति द्वारा यह अवभात होता है ? भ्रान्तज्ञान और तज्जनित भ्रान्तसंस्कारमूलिका स्मृति के द्वारा। अर्थात् साधारण सभी ज्ञान भ्रान्ति हैं; जब बुद्धिपुरुष का ऐसा अभेदरूप भ्रान्त ज्ञान होता है तभी बोध होता है कि 'मैंने जाना'। अतएव 'मैंने जाना' इस प्रकार का भाव ही बुद्धि-पुरुष की एकत्वभ्रान्ति है और उस भ्रान्ति के अनुरूप संस्कार से भ्रान्तिस्मृति का प्रवाह चलते रहने के कारण साधारण अवस्था में बुद्धि-पुरुष के पृथक्त्व का बोध नहीं होता। विवेक-ख्याति उत्पन्न होने पर 'मैंने जाना' यह बोध क्रमशः निवृत्त होता रहता है और ख्यातिसंस्कारद्वारा निवृत्ति पुष्ट होकर विज्ञान या चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध होता है।

'मैंने नील जाना' यह एक विज्ञान है। इसमें नील यह दृश्य भाव अचेतन है और 'मैं' इस भाव से लक्षित विज्ञाता के अन्तर्गत चैतन्य है। इसी से अचेतन 'नील' पदार्थ विज्ञात होता है। द्रष्टा-द्वारा ऐसे नीलप्रत्यय का प्रकाश-भाव ही प्रत्ययानुपश्यता है। नील-ज्ञान और पुरुष की प्रत्ययानुपश्यता अविनाभावी हैं। ज्ञान या बुद्धिवृत्ति में यह प्रत्ययानुपश्यतारूप सहभावी हेतु रहने के कारण यह पुरुष का कुछ सरूप या सदृश होता है। अर्थात् अचेतन नीलादि ज्ञान सचेतन (चैतन्ययुक्त) होने के कारण ही चिद्रूप पुरुष के कुछ-कुछ सदृश होते हैं।

२० (६) प्रतिसंक्रम=प्रतिसंचार। अपरिणामी होने पर ही वह प्रतिसंचारशून्य होता है। अपरिणामित्व-द्वारा अवस्थान्तर-शून्यता और अ-प्रतिसंक्रमत्व द्वारा गतिशून्यता (कार्यगत न होना) सूचित होती हैं। प्रत्ययानुपश्यता के कारण परिणामी वृत्ति-समूह को प्रकाशित करने के हेतु चितिशक्ति परिणामी तथा प्रतिसंक्रान्त के समान ज्ञात होती है। चैतन्योपराग-प्राप्त अर्थात् चित्प्रकाशित बुद्धिवृत्ति की अनुकारता या अनुपश्यता के द्वारा ज्ञ-स्वरूप चिद्वृत्ति तथा ज्ञान-स्वरूप बुद्धिवृत्ति अविशिष्ट या अभिन्नवत् प्रतीत होती है [४।२२ (१) देखिए]।

——×——

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

भाष्यम्—दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं भवतीत्यर्थः। तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकम्। भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति ॥ २१ ॥

२१। पुरुष का अर्थ ही दृश्य की आत्मा या स्वरूप है। सू०

भाष्यानुवाद—दृशिरूप पुरुष की कर्मस्वरूपता को (१) प्राप्त पदार्थ दृश्य है; अतएव उसका (पुरुष का) अर्थ ही दृश्य की आत्मा अर्थात् स्वरूप होता है। यह दृश्यस्वरूप पररूप द्वारा प्रतिलब्ध-स्वभाव (२) है। भोगापवर्ग निष्पन्न होने पर पुरुष उसका दर्शन नहीं करते हैं; अतः उस समय स्वरूप-(पुरुषार्थ) हानि के कारण वह दृश्य नष्ट हो जाता है, परन्तु विनष्ट (अत्यन्तोच्छिन्न) नहीं होता।

टीका २१ (१) कर्मस्वरूपता=भोग्यता। दृश्यत्व और पुरुषभोग्यत्व मूलतः एकार्थक हैं। भोग्य=अर्थ। अतः पुरुष-दृश्य=पुरुषार्थ। अतएव पुरुष का अर्थ ही दृश्य का स्वरूप है। नीलादि ज्ञान, सुखादि वेदनाएँ, इच्छादि क्रियाएँ सभी पुरुषार्थ हैं। दृश्य तथा पुरुषार्थ सम्पूर्णतया एक ही भाव हैं।

२१ (२) ज्ञानरूप दृश्य ज्ञाता-रूप द्रष्टा की अपेक्षा से ही संविदित होता है। संविदित भाव ही दृश्यता का स्वरूप है; अतः यह व्यक्त दृश्य पर अर्थात् इससे भिन्न पुरुष के स्वरूप द्वारा ही प्रतिलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में पुरुष की भोग्यता ही जब दृश्यस्वरूप है, तब पुरुष की अपेक्षा से ही दृश्य व्यक्त रूप से उपलब्ध होता है। भोग्यता न रहने से दृश्य नष्ट होता है; परन्तु उसका पूर्ण अभाव नहीं होता। यह उस समय अव्यक्त रहता है।

दृश्य की एक व्यक्ति (=अभिव्यक्त रूप) अव्यक्तता प्राप्त करती है, किन्तु अन्यान्य व्यक्तियाँ अन्य पुरुष के लिए दृश्य रहती हैं, इस कारण भी दृश्य का अभाव नहीं होता।

दृश्य किस प्रकार से पररूप-द्वारा प्रतिलब्ध होता है, इस विषय पर पाठक पूर्वोक्त सूर्य तथा तदुपरिस्थ अस्वच्छ द्रव्य के दृष्टान्त का स्मरण करें [२। १७ (२) टीका]।

पुरुष या द्रष्टा का अर्थ ही दृश्य का स्वरूप होता है। 'अर्थ' को 'प्रयोजन' समझकर साधारणतः लोग पुरुष को एक प्रयोजनवान् या प्रयोजनसिद्धि का

इच्छुक सत्त्व मान लेते हैं और सांख्यीय दर्शन को विपर्यस्त करते हैं[1]। सांख्यकारिका में कुछ उपमाएँ दी गई हैं; उनका तात्पर्य और उपमामात्रत्व न समझकर लोग उन्हें सर्वांश में सत्य समझ लेते हैं।[2] यह उनका विचारदोष है; इसी के आधार पर कुछ भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हुई हैं।

'अर्थ' का तात्पर्य है 'विषय', परन्तु 'प्रयोजन' नहीं। पुरुष विषयी हैं और

---

१. तद् = द्रष्टा, निर्गुणपुरुष। 'द्रष्टा अर्थ है जिसका वह तदर्थ'। चूँकि सुख-दुःख रूप दृश्य से द्रष्टा पुरुष ही सुखी-दुःखी होते हैं; दृश्य स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता अतः दृश्य द्रष्टा के लिए ही होता है। यही कारण है कि दृश्य का जो स्वरूप (आत्मा) है, उसे 'द्रष्ट्रार्थ' = पुरुषार्थ (तदर्थ) कहा गया है—यह वाचस्पति आदि का कहना है। भिक्षु आदि के अनुसार 'तदर्थः' का अर्थ है—तस्य (=पुरुषस्य) अर्थः (=प्रयोजने भोगापवर्गौ) अर्थः (=प्रयोजनं) यस्य, सः। ग्रन्थकार स्वामीजी ने यहाँ जो व्याख्या की है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सूत्रोक्त 'तदर्थ' शब्द में बहुव्रीहिसमास नहीं मानते हैं; उनके अनुसार तदर्थः=तस्मै अयम् (चतुर्थी-तत्पुरुष; नित्यसमास; यहाँ तादर्थ्य चतुर्थी है)। 'अर्थ' शब्द का अर्थ है—वस्तु; वस्तु से 'विषयरूप वस्तु' या 'प्रकाश्य वस्तु' लेना होगा। सूत्रार्थ होगा—दृश्य की आत्मा (स्वरूप) तद् (=द्रष्टा) के लिए है अर्थात् द्रष्टा से प्रकाशित होना ही दृश्य का स्वरूप है। तदर्थता अनेक प्रकार की होती है, अतः उपर्युक्त अर्थ संगत ही है। विवरणटीका में भी 'तदर्थ' में चतुर्थी तत्पुरुष ही माना गया है, यद्यपि उसकी दृष्टि सर्वथा ग्रन्थकार की अनुयायिनी नहीं है। निर्गुण निर्विकार पुरुष का कोई प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि दृश्य (त्रिगुणविकार) करता है—यह सोचना पूर्णतः असंगत है। खेद है कि सांख्य पर लिखने वाले प्रत्येक ग्रन्थकार इस भ्रान्त दृष्टि को सांख्यीय दृष्टि के रूप में कहते हैं। **[सम्पादक]**

२. यह भ्रान्तदृष्टि शारीरकभाष्य में एकाधिक स्थल पर मिलती है। सांख्यकारिका में पङ्गु-अन्ध उपमा का उल्लेख है (का. २१)। शारीरकभाष्य (२।२।७) में इस उपमा पर दोष दिखाया गया है, जो वस्तुतः दोष नहीं है, क्योंकि उपमा का एक देश (विवक्षित अंश) ही ग्राह्य होता है। 'पङ्गु-अन्ध' न्यायशास्त्रीय दृष्टान्त (व्याप्तिसंवेदन-स्थान) नहीं है–यह ज्ञातव्य है। यह भेद विशेष रूप से ज्ञातव्य है। 'पुरुष पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त है,' 'योगी कूर्मवत् इन्द्रियोपसंहार करते हैं,' आदि में पद्मपत्र, कूर्म आदि उपमा के रूप में उपन्यस्त होते हैं। पद्मपत्र वस्तुतः निर्लिप्त नहीं रहता, पर इससे पुरुष की निर्लिप्तता असिद्ध नहीं होती। पुरुष की निर्लिप्तता की सिद्धि के लिए पृथक् युक्ति है; जिसके लिए निश्चित दृष्टान्त (साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्त) भी है। **[सम्पादक]**

बुद्धि उसका विषय या प्रकाश्य है। साधारणतः प्रकाशक का अर्थ है–'जो प्रकाश करता है'। 'प्रकाश करना'-रूप क्रिया का कर्त्ता प्रकाशक होता है–यह बात सत्य है, किन्तु हम अनेक स्थलों पर ऐसी क्रिया की कल्पना केवल भाषा-द्वारा करते हैं। 'प्रकाश्य प्रकाशक-द्वारा प्रकाशित होता है'—ऐसा कहने से यह समझा जाता है कि प्रकाशक की कोई क्रिया नहीं है। अतएव सर्व स्थलों में प्रकाशक क्रियावान् है, ऐसा नहीं है। निष्क्रिय द्रव्य को हम भाषा-द्वारा (व्याकरण के प्रत्ययविशेष द्वारा) सक्रिय करते हैं। निष्क्रिय पुरुष को भी ऐसा कर लेते हैं।

अहंभाव के पीछे स्वप्रकाश पुरुष रहने के कारण 'मैं स्वप्रकाशक हूँ या निज का ज्ञाता हूँ' इस प्रकार की प्रकाशनरूप क्रिया 'मैं' करता रहता है। ऐसा होने के कारण पुरुष को उस क्रिया का कर्त्ता मानकर उसे हम प्रकाशक या प्रकाशकर्त्ता कहते हैं। वस्तुतः 'प्रकाश होना'-रूप क्रिया मैं-पन में ही रहती है। पुरुष के सान्निध्यहेतु से ही यह प्रकट होती है, अतः पुरुष को प्रकाशकर्त्ता कहा जाता है।

भोग तथा अपवर्ग या विवेक ये दो प्रकार के अर्थ ही बुद्धिमात्र हैं। बुद्धि केवल त्रिगुण से ही नहीं बनती, परन्तु एकस्वरूप साक्षी द्रष्टा के योग से त्रिगुण का परिणाम ही बुद्धि होता है। बुद्धि चूँकि विषय है इसलिए वह जिसकी सत्ता से प्रकाशित होती है उसे विषयी या विषय का प्रकाशक कहा जाता है। 'विषय के प्रकाशक' इस वाक्य में 'विषय के' इस सम्बन्धकारकयुक्त पद को 'प्रकाशक' इस कर्त्तृकारकयुक्त पद के साथ हम अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार जोड़ते हैं। ऐसा करने पर भी प्रकृत पदार्थ में सक्रियता नहीं आ जाती है। यही कारण है कि 'पुरुष का अर्थ,' इस प्रकार का सम्बन्धवाचक वाक्य भी कोई क्रिया विज्ञापित नहीं करता है।

भोग तथा अपवर्ग यदि विषय या प्रकाश्य हों तो वे किसके प्रकाश्य विषय होंगे या विषयी किसे कहना होगा ? इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि उसी द्रष्टा पुरुष को। इस प्रकार भोग तथा अपवर्ग रूप में विषय या अर्थभूत होना ही दृश्य का स्वरूप है।

———

भाष्यम्। कस्मात् ?—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तद् अन्यपुरुष-साधारणत्वात्। कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थ-

मिति; तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभते एवं पररूपेणात्मरूपमिति। अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति। तथा चोक्तम्–"धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः" इति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—क्यों (विनष्ट नहीं होता) ?

२२। कृतार्थ के निकट वह (दृश्य) नष्ट होने पर भी अन्यसाधारणत्व के कारण वह अनष्ट रहता है ॥ सू०

कृतार्थ एक पुरुष के प्रति दृश्य नष्ट होने पर भी अन्यसाधारणत्व के कारण वह अनष्ट रहता है। कुशल पुरुष के प्रति नष्ट होने पर भी अकुशल पुरुष के समीप दृश्य अनष्ट है। उनके पास दृश्य दृशिशक्ति की कर्मविषयता (भोग्यता) प्राप्त कर पररूप के द्वारा निजरूप में प्रतिलब्ध होता है। अतएव दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति की नित्यता के कारण संयोग अनादि है, ऐसा व्याख्यात हुआ है। जैसा कि (पञ्चशिख-द्वारा) उक्त हुआ है—"धर्मियों का संयोग अनादि होने के कारण धर्मों का संयोग भी अनादि होता है" (१)।

टीका २२ (१) विवेकख्याति-द्वारा कृतार्थ पुरुष का दृश्य नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों का दृश्य रह जाता है, अतः दृश्य अनष्ट है। आज भी जिस प्रकार दृश्य अनष्ट है, सभी कालों में उसी प्रकार दृश्य अनष्ट था तथा रहेगा। सांख्य-सूत्र भी है-**इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः** (१।१३९)। क्रमशः सब पुरुषों की विवेकख्याति होने पर दृश्य विनष्ट हो जाएगा--ऐसी संभावना नहीं है, कारण पुरुष-संख्या अनन्त है। असंख्य का कभी शेष नहीं होता। असंख्य ÷ असंख्य = असंख्य। यही असंख्य का तत्त्व है। [द्र० ४।३३ (४)]। श्रुति भी कहती है—**'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'** (बृहदा० ५।१)। इस कारण दृश्य सदा था और रहेगा भी।

जो पुरुष अकुशल हैं, वे उसी हेतु से अनादि दृश्य के साथ अनादि-सम्बन्ध-युक्त होते हैं। ऐसा नहीं हो सकता है कि पहले दृश्यसंयोग नहीं था और किसी विशेष काल में वह हुआ है, क्योंकि ऐसा होने से दृश्यसंयोग होने का हेतु कहाँ से आएगा। आगे व्याख्यात होगा कि संयोग का हेतु अविद्या या मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान ही मिथ्याज्ञान को प्रसव करता है। अतः मिथ्याज्ञान की परम्परा अनादि होती है, इस विषय का विवरण यहाँ पर उद्धृत पञ्चशिखाचार्य के सूत्र में संगतरूप से किया गया है। सब धर्मी त्रिगुण हैं। पुरुष के साथ उनका अनादिकाल से संयोग है, इस कारण गुण-धर्म रूप जो बुद्ध्यादि-करण तथा शब्दादि-विषय हैं, उनके साथ भी पुरुष का अनादि संयोग है।

पुरुष का बहुत्व तथा प्रधान का एकत्व इस सूत्र में उक्त हुआ है (२।२३ तथा ४।१६ सू० देखिए)। इस पर वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"प्रधान के समान

पुरुष एक नहीं हैं। पुरुष का नानात्व, जन्म-मरण, सुखदुःखोपभोग, मुक्ति, संसार इन सबों की व्यवस्था से (अर्थात् युगपत् इन बहुज्ञानों के ज्ञाता बहुत-से ज्ञाता होंगे—इस प्रकार की कल्पना युक्तियुक्त होने से) पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है। जो सब एकत्वज्ञापक श्रुतियाँ हैं वे प्रमाणान्तर के विरुद्ध हैं। चूँकि द्रष्टागण में देशकाल-विभाग का अभाव है अर्थात् द्रष्टागण देशकालातीत हैं अथवा 'अमुकत्र यह द्रष्टा है अमुकत्र वह द्रष्टा हैं' ऐसी कल्पना करना विधेय नहीं है, अतः द्रष्टाओं को एक कहना युक्त होता है। इसी भाव में अर्थात् 'एक' शब्द के गौण अर्थ में ही इन सब श्रुतियों की उपपत्ति की जाती है।" [वस्तुतः श्रुति में द्रष्टामात्र का एकत्व उक्त नहीं हुआ है, पर 'जगदन्तरात्मा' स्रष्टा, रक्षक तथा संहर्त्तारूप सगुण ईश्वर का ही एकत्व उक्त हुआ है। महाभारत भी कहता है—'**स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥ संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं कृत्वाऽप्सु शेते जगदन्तरात्मा**' (शान्ति ३०१।११५-११६)। श्रुति भी इस सर्वभूतान्तरात्मा को ही एक कहती है। वह द्रष्टारूप आत्मा नहीं है।]

वाचस्पति ने यहाँ यह भी कहा है कि "प्रकृति का एकत्व तथा पुरुष का नानात्व श्रुतिद्वारा साक्षात् ही प्रतिपादित हुए हैं। श्रुति (श्वेताश्वतर) में कहा गया है 'एक रजः-सत्त्व-तमोमयी, अजा, बहुप्रजासृष्टि-कारिणी प्रकृति का अनुशयन या उपदर्शन कोई एक अज पुरुष करता है और अन्य एक अज पुरुष भुक्तभोगा (चरित-भोगापवर्गा) उस प्रकृति का त्याग करता है।' (श्वेताश्वतर ४।५)। इस श्रुति का अर्थ ही इस सूत्र-द्वारा अनूदित हुआ है।"

भाष्यम्—संयोगस्वरूपाऽभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

पुरुषः स्वामी, दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात् संयोगात् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीति अदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्। नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्धाभावः, स मोक्ष इति। दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम्।

किञ्चेदमदर्शनं नाम? (१) किं गुणानामधिकारः। (२) आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः, स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने दर्शनाभावः। (३) किमर्थवत्ता गुणानाम्। (४) अथाविद्या

स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम्। (५) किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः, यत्रेदमुक्तं—"प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यादुभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः"। (६) दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके, "प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः" इति श्रुतेः। सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक् प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति। (७) उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके। तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति, तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेव दर्शनमवभासते। (८) दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति। इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः, तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणसंयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद—संयोगस्वरूप के निर्णय की इच्छा से यह सूत्र रचित हुआ है—

२३। संयोग स्वशक्ति तथा स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का कारण है; अर्थात् जिस संयोग से द्रष्टा तथा दृश्य की उपलब्धि होती है वह संयोगविशेष ही यह संयोग है (१) ॥ सू०

पुरुष स्वामी—'स्व'-भूत दृश्य के साथ दर्शन के लिए संयुक्त हैं। उसी संयोग से जो दृश्य की उपलब्धि है वह भोग है और जो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है वह अपवर्ग है। संयोग दर्शन-कार्यावसान है अर्थात् विवेक-द्वारा दर्शनकार्य की परिसमाप्ति होने पर संयोग का भी अवसान हो जाता है, अर्थात् जब तक दर्शन रहता है तब तक संयोग भी। अतः उस दर्शन (विवेक) को वियोग का कारण कहा गया है। दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी होता है। अदर्शन को संयोग का निमित्त कहा गया है। परन्तु यहाँ दर्शन मोक्ष का (साक्षात्) कारण नहीं है। अदर्शनाभाव से ही बन्धाभाव होता है; यही मोक्ष है। दर्शन से बन्धकारण अदर्शन का नाश होता है, इस कारण दर्शन-ज्ञान को कैवल्यकारण कहा गया है (२)।

यह अदर्शन क्या है (३) ? [१] क्या यह गुण-समूह का अधिकार (कार्य-उत्पादन करने वाली सामर्थ्य) है ? [२] अथवा क्या यह दृशिरूप स्वामी के पास शब्दादिरूप तथा विवेकरूप विषय जिसके द्वारा दर्शित होते हैं उस प्रधान चित्त का अनुत्पाद है अर्थात् अपने में दृश्य (शब्दादि तथा विवेक) वर्तमान रहने पर भी दर्शनाभाव है ? [३] अथवा क्या गुणसमूह की अर्थवत्ता अदर्शन है ? [४] अथवा क्या स्वचित्त के साथ (प्रलय काल में) निरुद्ध

हुई अविद्या ही स्वचित्त की उत्पत्ति का बीज है ? [५] अथवा क्या स्थिति-संस्कार के क्षय के बाद गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति अदर्शन है ? इस विषय पर यह उक्त हुआ है कि "प्रधान स्थिति में ही वर्तमान रहने पर विकार न करने के कारण अप्रधान होगा, इस प्रकार गति में ही वर्तमान रहने पर विकार-नित्यत्व के कारण अप्रधान होगा; स्थिति तथा गति इन दोनों प्रकारों से इसकी प्रवृत्ति रहने पर ही प्रधान रूप से व्यवहार प्राप्त करता है अन्यथा नहीं करता। अन्यान्य जो कारण होते हैं, उनमें भी यही विचार प्रयोज्य है" । [६] कोई-कोई कहते हैं– दर्शनशक्ति ही अदर्शन है। "प्रधान की आत्मख्यापनार्थ प्रवृत्ति" यह श्रुति ही उनका प्रमाण है। सर्व-बोध्य-बोध-समर्थ पुरुष प्रवृत्ति से पहले दर्शन नहीं करते है; सर्वकार्यकरणसमर्थ दृश्य को उस समय नहीं देखते हैं। [७] दोनों का ही धर्म अदर्शन है, कुछ लोग ऐसा कहते हैं। इस में (इस मत में) दृश्य के स्वात्मभूत होने पर भी पुरुषप्रत्ययापेक्ष दर्शन ही दृश्य-धर्म होता है, इसी प्रकार पुरुष के अनात्मभूत होने पर भी दृश्यप्रत्ययापेक्ष दर्शन पुरुषधर्मरूप-से अवभासित होता है । [८] कोई-कोई दर्शन-ज्ञान को ही अदर्शन नाम देते हैं । ये सब शास्त्रगत मतभेद हैं। अदर्शन के विषय में इस प्रकार के कई विकल्प रहने पर भी यह सभी मानते हैं कि 'सर्व-पुरुषों के साथ गुण का जो पुरुषार्थ-हेतु संयोग है, वही सामान्यतः अदर्शन है' (४)।

टीका २३ (१) संयोग हेतुस्वरूप है, उसका फल 'स्व'स्वरूप दृश्य तथा 'स्वामी'-स्वरूप पुरुष की उपलब्धि है। पुम्प्रकृति का संयोग ही ज्ञान कहलाता है।[1] वह ज्ञान दो प्रकार का है—भ्रान्ति ज्ञान या भोग तथा सम्यक् ज्ञान या अपवर्ग। अतः संयोग से भोग और अपवर्ग होते हैं, अर्थात् भोग और अपवर्ग-रूप ज्ञानद्वय ही पुम्प्रकृति की संयुक्तावस्था होते हैं। अपवर्ग सिद्ध होने पर पुम्पकृति का वियोग हो जाता है।

२३ (२) बुद्धितत्त्व का साक्षात्कार करके तत्परस्थ पुरुषतत्त्व में स्थिति के लिए एक बार बुद्धि का निरोध करने के बाद जब संस्कारवश बुद्धि पुनः उत्थित होती है, तब 'पुरुष बुद्धि से परे या उससे पृथक् तत्त्व है' ऐसी जो ख्याति या प्रबल ज्ञान होता है, वही दर्शन यानी प्रकृत विवेक-ख्याति है। वह निरुद्ध बुद्धि के (जिससे पुरुष-स्थिति प्राप्त होती है) संस्कार-विशेष की स्मृतिमूलक ख्याति है। अतः उस प्रकार की ख्याति का एकमात्र फल होता है

१. जिससे उपलब्धिविशेष होती हो वह 'संयोग' है—यह ग्रन्थकार स्वामीजी की व्याख्या है। संयोग शब्द की ऐसी व्याख्या काल्पनिक नहीं है; द्रष्टव्य—संयुज्यते तादर्थ्येन बोध्यतेऽनेनेति संयोगः (शाबरभाष्य ४।३।६)। [सम्पादक]

बुद्धिनिरोध या पुम्प्रकृति का वियोग। बुद्धि का भोगरूप व्युत्थान ही अदर्शन है, सुतरां विवेक-दर्शन-द्वारा भोग की निवृत्ति होने पर अदर्शन या विपरीत दर्शन (बुद्धि तथा पुरुष पृथक् होने पर भी उनका एकत्वदर्शन) निवृत्त होता है। यही दृश्यनिवृत्ति अर्थात् पुरुष का कैवल्य है। अतएव विवेकज्ञान परम्पराक्रम से कैवल्य का कारण है।

२३ (३) अदर्शन-सम्बन्धी आठ प्रकार के विभिन्न-मत शास्त्रकारों ने कहे हैं। भाष्यकार ने उनका संग्रह किया है। ये सब लक्षण भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों के आधार पर गृहीत हुए हैं। उनमें चौथा विकल्प ही सम्यक् ग्राह्य है। उन आठ प्रकार के मतों का व्याख्यान नीचे किया जाता है।

१ला—गुण का अधिकार ही अदर्शन है। अधिकार का अर्थ है—कार्यारम्भणसामर्थ्य या व्यक्तपरिणाम-योग्यता। गुणसमूह सक्रिय रहने से ही उस समय अदर्शन रहता है, इस लक्षण में इतना सत्य है; 'देह में ताप रहना ही ज्वर है' इस प्रकार के लक्षण के समान यह सदोष है।

२रा—प्रधान चित्त का अनुत्पाद ही अदर्शन है। दृशिरूप स्वामी के निकट जो चित्त भोग्य विषय तथा विवेक विषय का दर्शन कराकर निवृत्ति प्राप्त करता है, वही प्रधान चित्त है। भोग्य विषय का वैराग्य द्वारा पार-दर्शन तथा विवेकदर्शन होने से ही चित्त निवृत्त होता है; इस दर्शन से युक्त चित्त ही प्रधान चित्त है। चित्त में ही भोग्य-दर्शन और विवेक-दर्शन इन दोनों का बीज रहता है; इस मत में इस बीज का सम्यक् प्रकाश न होना ही अदर्शन कहलाता है। यह लक्षण भी सम्पूर्ण नहीं है। 'स्वस्थ न रहना ही रोग है' इस लक्षण के समान यह लक्षण भी अंशतः सत्य है।

३रा—गुण की अर्थवत्ता ही अदर्शन है। अर्थवत्ता अर्थात् गुण की अव्यपदेश्य कार्यजननशीलता। सत्कार्यवाद में कार्य और कारण सत् हैं। जो कभी उत्पन्न होगा, वह वर्त्तमान में अव्यपदेश्य रूप से रहता है। भोग तथा अपवर्ग रूप अर्थों का उस प्रकार अव्यपदेश्य भाव में रहना ही गुण की अर्थवत्ता है। यह अर्थवत्ता ही अदर्शन है; यह भी अंशतः सत्य लक्षण है। अर्थवत्ता और अदर्शन अविनाभावी हैं, किन्तु अविनाभावित्व के उल्लेखमात्र से ही संपूर्ण लक्षण नहीं होता है। रूप क्या ?—जो विस्तृत है। विस्तार और रूपज्ञान अविनाभावी होते हुए भी जैसे उसका उल्लेखमात्र रूप का लक्षण नहीं होता, इस प्रकार जानना चाहिये।

४था—अविद्यासंस्कार ही संयोग का हेतु रूप अदर्शन है। अविद्यामूलक कोई वृत्ति उठने से उसके पीछे होनेवाली वृत्तियाँ भी अविद्यामूलक होंगी—यह अनुभव किया जाता है; अतः अविद्यामूलक संस्कार बुद्धि तथा पुरुष का संयोग

घटाता है, यह सिद्ध हुआ। पूर्व-पूर्वक्रम के अनुसार विचारने पर ज्ञात होगा कि प्रलयकाल में जो चित्त अविद्यावासित होकर लीन होता है, वही सर्गकाल में अविद्यायुक्त होकर बुद्धि-पुरुष का संयोग करवाता है। आगे इस मत की सम्यक् व्याख्या की जाएगी। यह मत ही बुद्धि-पुरुष के संयोग को (अतः संयोग के सहभावी अदर्शन को भी) समझाने के लिए समर्थ है।

५ वाँ—प्रधान की गति या वैषम्य-परिणाम एवं स्थिति या साम्यपरिणाम हैं; क्योंकि, यदि गति ही एकमात्र स्वभाव हो तो विकार की नित्यता होती है तथा स्थितिमात्र स्वभाव हो तो विकार नहीं होता। प्रधान के इन दोनों स्वभावों में स्थितिसंकार के क्षय से गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति ही (अर्थात् गतिसंस्कार का सहजात विषयज्ञान ही) अदर्शन है, यह पञ्चम कल्प है। इसमें मूल कारण का स्वभावमात्र कहा गया है, सनिमित्त कार्यरूप संयोग का निमित्तभूत पदार्थ व्याख्यात नहीं हुआ। घट क्या है ? परिणामशील मृत्तिका का परिणाम-विशेष ही घट है—केवल ऐसा कहने से जिस प्रकार घट सम्यक् लक्षित नहीं होता है, ठीक इसी प्रकार अदर्शन भी यहाँ सम्यक् लक्षित नहीं हुआ।

६ ठा—दर्शनशक्ति ही अदर्शन है। प्रधान की प्रवृत्ति होने पर सभी विषय दृष्ट होते हैं, अतः प्रधान-प्रवृत्ति की जो शक्तिरूप अवस्था है वही अदर्शन है। अदर्शन एक प्रकार का दर्शन है। वह दर्शन प्रधानाश्रित है और प्रधान-प्रवृत्ति की हेतुभूत शक्ति है। अदर्शन कार्य या चित्तधर्म होता है, अतः उसके लक्षण में मूला शक्ति का उल्लेख करने पर वह सम्यक् बोधगम्य नहीं होता है; जैसे कि 'सूर्यलोक-जात शस्य तण्डुल है' कहने से तण्डुल सम्यक् लक्षित नहीं होता।

७ वाँ—दृश्य तथा पुरुष दोनों का धर्म अदर्शन है। अदर्शन ज्ञान-शक्ति-विशेष है। ज्ञान दृश्यगत होने पर भी पुरुष-सापेक्ष है। अतः वह पुरुषगत न होकर भी पुरुषधर्म के समान अवभासित होता है। चूँकि पुरुष की अपेक्षा रहती है इसीलिए ज्ञान (शब्दादि-ज्ञान तथा विवेकज्ञान) दृश्य तथा पुरुष दोनों का ही धर्म है। 'सूर्यसापेक्ष ज्ञान ही दृष्टि है' यह जिस प्रकार दृष्टि का सम्यक् लक्षण नहीं होता, उसी प्रकार अपेक्षाभावमात्र कहने से द्रव्य लक्षित नहीं होता।

८ वाँ—विवेक ज्ञान को छोड़कर जो शब्दादि-विषयज्ञान है, वही अदर्शन है और वही पुम्प्रकृति की संयोगावस्था है।

सांख्यशास्त्र में ये आठ प्रकार के मत अदर्शन सम्बन्ध में देखे जाते हैं। अदर्शन = नञ् + दर्शन। नञ् शब्द के छह प्रकार के अर्थ हैं[1]—(१) अभाव या

१. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥ (भाट्टचिन्तामणि, पृ० १५४)। **[सम्पादक]**

निषेधमात्र, जैसे अपाप; (२) सादृश्य, जैसे अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मणसदृश; (३) अन्यत्व, जैसे अमित्र वा मित्र-भिन्न शत्रु; (४) अल्पता, जैसे अनुदरी कन्या अर्थात् अल्पोदरी; (५) अप्राशस्त्य, जैसे अकेशी अर्थात् अप्रशस्तकेशी; (६) विरोध, जैसे असुर वा सुर-विरोधी।

इनमें से अभाव अर्थ को छोड़ कर अन्य सभी अर्थ अन्य एक भाव पदार्थ के स्पष्ट द्योतक हैं। जैसे अमित्र का अर्थ है—शत्रु। निषेधमात्र का ज्ञापन करने से उसे प्रसज्यप्रतिषेध कहते हैं; और भावान्तर का ज्ञापन करने से पर्युदास कहते हैं।[1] उक्त आठ प्रकार के मतों में केवल द्वितीय मत प्रसज्यप्रतिषेध-परक है, क्योंकि उसमें उत्पत्ति का अभावमात्र कहा गया है। अन्य सभी मत पर्युदासपक्ष में गृहीत हुए हैं अर्थात् अदर्शन शब्द में नञ् भावार्थ में गृहीत हुआ है।

२३ (४) उक्त सभी मत (चतुर्थ को छोड़कर) प्रकृति तथा पुरुष के संयोग-मात्र को समझाते हैं। वह संयोग स्वाभाविक नहीं है। यदि ऐसा होता तो कभी वियोग न होता। परन्तु वह नैमित्तिक है। अतः उस निमित्त का उल्लेख ही संयोग की सम्पूर्ण व्याख्या है। अविद्या ही वह निमित्त है, जिससे संयोग होता है।

वस्तुतः 'गुण के साथ पुरुष का संयोग' यह सामान्य है अर्थात् सभी लक्षणों में यह स्वीकृत हुआ है। जभी संयोग होता है, तभी गुणविकार देखा जाता है। सर्गकाल में व्यक्तरूप और प्रलयकाल में संस्काररूप गुणविकार के साथ पुरुष का संयोग सिद्ध होता है। अतः संयोग वास्तव में स्वबुद्धि तथा प्रत्यक् चेतन का (प्रत्येक पुरुष का) संयोग है। यह संयोग अविद्या से उत्पन्न होता है। अतः चतुर्थ विकल्प में जो अविद्या को संयोग का कारणभूत अदर्शन कहा गया है, वही सम्यक् लक्षण है। सूत्रकार ने यही कहा है।

———

१. प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ है—प्राप्तिपूर्वक निषेध। इस पक्ष में अविद्या का अर्थ होगा—विद्या का अभावमात्र। पर यह अर्थ संगत नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव रूप पदार्थ कर्माशय का मूल हो नहीं सकता—अविद्या रूप क्लेश कर्माशय के मूल में है—यह शास्त्र कहता है। पर्युदास का अर्थ है—भेद; कुछ स्थलों में यह भेद विरोध भी होता है, जैसे अधर्म का अर्थ है धर्मविरोधी (पाप) जो धर्म का नाश करता है। पर्युदासपक्ष में अविद्या का अर्थ होगा—विद्या से भिन्न=विद्या का विरोधी। [सम्पादक]

भाष्यम्—यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः,

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्त्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते।

अत्र कश्चित् षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति; मुग्धया भार्यया अभिधीयते षण्डकः, 'आर्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति।' स तामाह—'मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामी'ति; तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा।

तत्राचार्यदेशीयो वक्ति–ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः; अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्ति, तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्त्तते। तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रत्यक्चेतन के साथ जो स्वबुद्धिसंयोग है,

२४। उसका हेतु अविद्या है (१)। सू०

अविद्या अर्थात् विपर्ययज्ञानवासना। विपर्ययज्ञानवासना से वासिता होकर बुद्धि पुरुषख्याति रूप कार्यनिष्ठा अर्थात् कर्त्तव्यता (चेष्टा) का अन्त नहीं पाती, अतः अधिकार से युक्त रहने के कारण पुनरावर्त्तन करती है; और पुरुषख्याति से पर्यवसित होने पर वह बुद्धि कार्यसमाप्ति को प्राप्त कर लेती है। तब चरिताधिकारा, अदर्शनशून्या बुद्धि बन्धकारण के अभाव होने के कारण और दुबारा आवर्त्तन नहीं करती (२)।

इस पर कुछ (विपक्षवादी) व्यक्ति (निम्नोक्त) षण्डकोपाख्यान-द्वारा उपहास करते हैं। एक नपुंसक की मुग्ध पत्नी उससे कह रही है—'आर्यपुत्र, मेरी बहन की सन्तान है, मेरी क्यों नहीं हैं ? नपुंसक ने पत्नी से कहा—'मरने के बाद आकर मैं तेरे पुत्र पैदा करूँगा।' इस प्रकार जब यह विद्यमान ज्ञान ही चित्तनिवृत्ति नहीं करता, तब वह विनष्ट होकर करेगा, इसकी क्या आशा ?

कोई आचार्यकल्प व्यक्ति इसका उत्तर देते हैं कि 'बुद्धिनिवृत्ति ही मोक्ष है, अदर्शनरूप कारण का अपगम होने पर बुद्धिनिवृत्ति हो जाती है। यह बन्धकारण अदर्शन दर्शन से निवर्त्तित होता है।' निष्कर्ष यह है कि चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है, अतः उक्त विपक्षवादी का अनवसर मतिविभ्रम व्यर्थ है।

टीका—२४ (१) प्रत्यक्चेतन शब्द का विस्तृत अर्थ १।२९ सूत्र की टिप्पणी में देखिए; प्रतिपुरुषरूप एक एक चित् ही प्रत्यक्चेतन है।

अविद्या का अर्थ विपर्ययज्ञानवासना है। विपर्यय का अर्थ है—मिथ्याज्ञान। अविद्यालक्षण में कथित अनात्मा में आत्मज्ञान आदि विपर्ययज्ञान स्मरणीय है। सामान्यतः बुद्धि तथा पुरुष का अभेदज्ञान ही बन्धकारण विपर्ययज्ञान है। उस ज्ञान की वासना ही मूलतः संयोग का कारण है। संयोग अनादि है, अतः कोई समय नहीं था जब कि संयोग नहीं था। अतएव संयोग की आदि प्रवृत्ति देखकर उसका कारण-निर्णय नहीं किया जाता। परन्तु वियोग जानकर ही संयोग का कारण निर्णय होता है। कुछ खनिज मैनसिल (realgar) मिला; उसको उत्पन्न होते मैंने नहीं देखा, परन्तु उसका विश्लेषण कर जाना कि वह गन्धक और शङ्ख धातु (अर्सेनिक) है। संयोग के विषय में भी यही बात है। विवेक-ज्ञान होने पर बुद्धि सम्यक् निरुद्ध होती है या बुद्धि-पुरुष का वियोग होता है; अतः विवेकज्ञान का विरोधी जो अविवेक या अविद्या है, वही संयोग का कारण है। भाष्यकार ने ऐसा ही दिखाया है।

विपर्ययज्ञानवासना जब तक रहती है, तब तक वियोग नहीं होता। सम्यक् पुरुषख्याति होने पर ही चित्त का कार्य समाप्त होता है या वियोग होता है; अतएव पुरुषख्याति का विपरीत जो विपर्ययज्ञान है वही संयोग का कारण है। पूर्वसंस्कार को हेतु करके ही वर्त्तमान विपर्ययज्ञान उदित होता है। परम्परा-क्रम की दृष्टि से संस्कार अनादि है। अतएव अनादि-विपर्यय संस्कार या अनादि विपर्ययज्ञानवासना ही संयोग का हेतु है।

२४ (२) कैवल्यावस्था में दर्शन और अदर्शन सभी निवृत्त होते हैं। दर्शन और अदर्शन परस्पर सापेक्ष हैं। मिथ्याज्ञान रहने से चित्त में सत्यज्ञानरूप परिणाम होता है। 'बुद्धि तथा पुरुष पृथक् हैं' समाहित चित्त के इस प्रकार के साक्षात्कार (विवेकज्ञान) काल में 'बुद्धि' पदार्थ का ज्ञान रहना चाहिए। वही ज्ञान (मेरी बुद्धि है या थी, ऐसा) विपर्ययमूलक है। बुद्धि पदार्थ का ऐसा ज्ञान रहने पर चित्त-वृत्ति का सम्यक् निरोधरूप कैवल्य नहीं होता है। अतः कैवल्य में विवेक-अविवेक कुछ भी नहीं रहता। विवेक द्वारा अविवेक नष्ट होता है। ऐसा होने से ही चित्त-निरोध या बुद्धि-निवृत्ति होती है।

अविद्या, अस्मिता, राग आदि सभी क्लेश, विवेक तथा तन्मूलक परवैराग्य-द्वारा नष्ट होते हैं। 'शरीरादि कुछ भी 'मैं' नहीं हैं एवं शरीरादि से मैं कुछ नहीं चाहता हूँ' इस प्रकार की समापत्ति होने पर बुद्धि-पर्यन्त सभी दृश्य स्पन्दन-शून्य या निरुद्ध हो जाएँगे—यह स्पष्ट है। अतएव विवेक-द्वारा अविवेक नष्ट होता है; अविवेक नष्ट होने पर चित्तनिवृत्ति होती है। विवेक अग्नि के समान स्वाश्रय को नष्ट करता है।

——×——

भाष्यम्—हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद् हानम्। तद् दृशेः कैवल्यम्, पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

भाष्यानुवाद—हेय दुःख, हेय का कारण संयोग तथा संयोग का भी कारण—ये सब कहे गए हैं। अब हान वक्तव्य है—

२५। उसके (अविद्या के) अभाव से जो संयोगाभाव है, वही हान है, और वही द्रष्टा का कैवल्य है। सू०

उसका अर्थात् अदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि-पुरुष का जो संयोगाभाव अर्थात् बन्धन की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, यही हान है। यही दृशि का कैवल्य है अर्थात् पुरुष का अमिश्रीभाव, दूसरे शब्दों में गुणों के साथ पुनः असंयोग है। दुःखकारण की निवृत्ति होने पर जो दुःख की निवृत्ति होती है, वही हान है। इस अवस्था में पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ रहते हैं, यह कहा गया है (१)।

टीका २५ (१) द्रष्टा के कैवल्य का अर्थ है—केवल द्रष्टा। द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग रहने पर केवल द्रष्टा है, यह नहीं कहा जा सकता। शङ्का हो सकती है कि कैवल्य और अकैवल्य क्या द्रष्टा-गत भेदभाव हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है। बुद्धि का ही स्व-निरोधरूप परिणाम या अदृश्यपथ की प्राप्ति होती है। उससे द्रष्टा का न कुछ होता है या हो सकता है। यह विषय इस पाद के बीसवें सूत्र की दूसरी टिप्पणी में व्याख्यात हुआ है। पुरुष का कैवल्य—यह यथार्थ कथन है, पर पुरुष की मुक्ति—यह औपचारिक (गौण) कथन है।

भाष्यम्—अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः, सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते। यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभावं बन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः, ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसवः। इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

भाष्यानुवाद—हान-प्राप्ति का उपाय क्या है ?

२६। अविप्लवा विवेकख्याति हान का उपाय है। सू०

बुद्धि तथा पुरुष का अन्यता-(भेद) प्रत्यय ही विवेकख्याति है, वह अनिवृत्त मिथ्या-ज्ञान के द्वारा भग्न हो जाती है (१)। जब मिथ्याज्ञान दग्ध-बीज-भाव तथा प्रसवशून्य अवस्था प्राप्त करता है, तब विधूतक्लेशमल बुद्धिसत्त्व की विलक्षणता या सम्यक् निर्मलता होने पर वशीकार वैराग्य की परावस्था में वर्त्तमान योगी का विवेकप्रत्ययप्रवाह निर्मल होता है। यही अविप्लवा विवेकख्याति है, जो हान का उपाय होती है। इससे (विवेकख्याति से) मिथ्या ज्ञान की दग्धबीजभावप्राप्ति तथा पुनः प्रसवशून्यता होती है। यही मोक्ष का मार्ग या हान का उपाय है।

टीका २६ (१) पहले बहुत स्थलों पर विवेक व्याख्यात हुआ है। विवेक का अर्थ है—बुद्धि और पुरुष का भेद। तद्विषयक जो ख्याति या प्रबल ज्ञान या प्रधान ज्ञान अर्थात् मन का प्रख्यात भाव है, वही विवेकख्याति है।

सर्व-प्रथम विवेकज्ञान शास्त्र-श्रवण से होता है; बाद में युक्तिपूर्वक मनन-द्वारा वह दृढ़तर तथा स्फुटतर होता है। योगाङ्गों का अनुष्ठान करते-करते वह क्रमशः प्रस्फुट होता रहता है। सम्प्रज्ञात योग या समापत्ति के द्वारा दृश्यविषयक मिथ्या-ज्ञान उत्पन्न होने की संभावना जब निवृत्त होती है, तब उसे मिथ्याज्ञान की दग्धबीजावस्था कहते हैं। वैसा होने पर एवं दृष्टादृष्ट-विषयक राग सम्यक् निवृत्त होने पर समाधि-निर्मल विवेकज्ञान की ख्याति होती है। यही विवेकख्याति अविप्लवा या मिथ्याज्ञान-द्वारा अभग्ना होने पर ही उसके द्वारा हान या दृश्य का सम्यक् त्याग सिद्ध होता है। विवेकख्याति के समय मिथ्याज्ञान दग्धबीजवत् हो जाता है। हान सिद्ध होने पर दग्धबीज-कल्प विपर्यय और विवेकज्ञान दोनों ही विलीन हो जाते हैं। यही कैवल्य है।

विवेकख्याति द्वारा बुद्धिनिवृत्ति कैसे होती है, यह आगामी सूत्र में व्याख्यात हुआ है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

भाष्यम्—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः; सप्तधेति। अशुद्ध्याव-रणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति, तद्यथा—[१] परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति। [२] क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति। [३] साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्। [४] भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः। इत्येषा चतुष्टयी कार्या

विमुक्तिः प्रज्ञायाः। चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी। [५] चरिताधिकारा बुद्धिः। [६] गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति, न चैषां विप्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति। [७] एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवलो पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते, प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

२७। उनकी (विवेकख्यातिमान् योगी की) प्रान्तभूमि प्रज्ञा सात प्रकार की होती है (१) ॥ सू०

भाष्यानुवाद—सूत्र में 'तस्य' (उनकी) इस सर्वनाम शब्द के द्वारा उदितख्याति योगी को लक्ष्य किया गया है[१]। सप्तधा (=सात प्रकार) कहने का तात्पर्य यह है:—चित्त से अशुद्धिरूप आवरणमल का अपगम होने के बाद यदि प्रत्ययान्तर उत्पन्न नहीं होता तो विवेकी में सात प्रकार की प्रज्ञा होती है, जो इस प्रकार है—[१] समस्त हेय परिज्ञात हो चुके हैं और इस विषय में अन्य परिज्ञेय नहीं है। [२] समस्त हेयहेतु क्षीण हो चुके हैं, अब उनमें क्षय करने योग्य कुछ नहीं है। [३] निरोधसमाधिद्वारा हान साक्षात्कृत हो चुका है। [४] विवेकख्यातिरूप हानोपाय भावित हो चुका है। प्रज्ञा की यह चार प्रकार की कार्यविमुक्ति है और उसकी चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की है—[५] बुद्धि चरिताधिकारा हो चुकी है। [६] समस्त गुण गिरिशिखरच्युत उपलखण्ड के समान निरवस्थान होकर स्वकारण में प्रलयाभिमुख हुए हैं, एवं

१. अनुवाद में इस वाक्य का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता, अतः भाष्यवाक्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। सूत्र में 'तस्य' (= उनका) शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह (तद् शब्द) सर्वनाम है, अतः यह पूर्वपरामर्शक होगा। पूर्वसूत्र (२।२६) में विवेकख्याति शब्द है, जो स्त्रीलिङ्ग है, अतः पुंलिङ्ग 'तस्य' शब्द के द्वारा उसका परामर्श नहीं हो सकता। भाष्यकार कहना चाहते हैं कि सूत्रोक्त 'तद्' (तस्य) इस सर्वनाम से प्रत्युत्पन्नख्याति (= जिनमें विवेकख्याति उत्पन्न हुई है, ऐसे योगी; बहुव्रीहिसमास) शब्द का परामर्श होगा। सर्वनाम बुद्धिस्थ पूर्व का परामर्शक होता है, केवल पूर्व का नहीं। अतएव भाष्यकार का कथन सर्वथा युक्त है (यद्यपि प्रत्युत्पन्नख्याति शब्द पूर्वसूत्र में नहीं है)। वाचस्पति ने भाष्यवाक्य का यही तात्पर्य दिखाया है। भिक्षु इस व्याख्या को सदोष मानते हैं। उनका कहना है कि 'तस्य' (तद्) से पूर्वसूक्तोक्त 'हानोपायः' का परामर्श होगा (तस्य =हानोपायस्य)। भाष्यप्रयुक्त प्रत्युदितख्याति शब्द से हानोपाय का ही परिचय दिया गया है। [सम्पादक]

उस कारण के साथ विलीन हो रहे हैं, उन विप्रलीन गुणों का फिर प्रयोजन न रहने के कारण पुनः उत्पत्ति नहीं होगी। [७] इस अवस्था में (सप्तम भूमि में) पुरुष गुणसम्बन्धातीत, स्वरूपमात्रज्योति, अमल तथा केवली होते हैं (प्रज्ञा-द्वारा पुरुष केवल इस रूप से ही अवभासित होता है)। इन सप्त प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं का अनुदर्शन करने पर पुरुष को कुशल कहा जाता है। चित्त प्रलीन होने पर भी उसे मुक्त, कुशल कहा जाता है क्योंकि उस समय पुरुष गुणातीत हो जाता है।

टीका २७ (१) प्रान्तभूमिप्रज्ञा=प्रज्ञा की चरम अवस्था। जिसके बाद और तद्विषयक प्रज्ञा नहीं हो सकती; जिसके होने से तद्विषयक प्रज्ञा की समाप्ति या निवृत्ति होती है, वही प्रान्तभूमि प्रज्ञा कहलाती है। 'जो जानने का है वह जान चुका हूँ, और मेरा ज्ञातव्य नहीं है' ऐसी ख्याति होने पर जो ज्ञानवृत्ति होगी, यह स्पष्ट है।

प्रथम प्रज्ञा में विषय के दुःखमयत्व का सम्यक् ज्ञान होकर विषयाभिमुखता से चित्त सम्यक् निवृत्त होता है।

द्वितीय प्रज्ञा में क्लेश-क्षय (लय नहीं) करने की चेष्टा सम्यक् सफल होने के कारण ऐसी ख्याति होती है कि मेरी उस विषय में और कोई कर्त्तव्यता नहीं है। इस प्रकार संयमचेष्टा की निवृत्ति होती है।

तृतीय प्रज्ञा-द्वारा चरम-गति-विषयक जिज्ञासा निवृत्त होती है, क्योंकि तब उसका साक्षात्कार होता है। इससे आध्यात्मिक गति के विषय में जिज्ञासा निवृत्त होती है। एक बार निरोध-समाधि-पूर्वक हान सम्यक् उपलब्ध होने से पश्चात् योगी को तदनुस्मृतिपूर्वक इस प्रकार का सम्प्रज्ञान होता है।

चतुर्थप्रज्ञा—हानोपाय लाभ होने से चित्त में और किसी योगधर्म की भावनीयता नहीं रहती। इससे कुशल-धर्मोत्पादन की चेष्टा निवृत्त होती है। इस चार प्रकार की प्रज्ञा का नाम कार्यविमुक्ति है। चेष्टा-द्वारा यह विमुक्ति होती है; दूसरे शब्दों में साधन-कार्य इससे परिसमाप्त होता है, इस कारण इसका नाम कार्यविमुक्ति होता है। अवशिष्ट तीन प्रकार की प्रान्तभूमि का नाम चित्तविमुक्ति (चित्त से विमुक्ति) है। कार्यविमुक्ति होने पर तीन प्रकार की यह प्रज्ञा स्वतः ही उदित होकर चित्त को सम्यक् निवृत्त कर देती है। यही परवैराग्य रूप ज्ञान की पराकाष्ठा है। यही अग्र्या बुद्धि है। बुद्धि-व्यापार की यह प्रान्त या सीमान्त रेखा है। इसके बाद कैवल्य है। ये तीन प्रान्त-प्रज्ञाएँ इस प्रकार की हैं—

पञ्चम—बुद्धि चरिताधिकारा हुई है अर्थात् भोग तथा अपवर्ग निष्पादित हो चुके हैं। अपवर्ग लब्ध होने पर भोग निवृत्त होता है। भोग की समाप्ति

का नाम अपवर्ग है। 'बुद्धि द्वारा और कुछ प्रयोजन नहीं है' इस प्रकार की प्रज्ञा होकर बुद्धि के व्यापार से विरति होती है।

षष्ठ—बुद्धि का स्पन्दन निवृत्त हो जाता है तथा वह और नहीं उठेगा, इस प्रकार का ज्ञान षष्ठ प्रज्ञा का स्वरूप है। उसमें सभी क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कारों के अपगम से चित्त का शाश्वतिक निरोध होगा, इसकी स्फुट प्रज्ञा होती है। पर्वत-चूड़ा से बृहत् उपलखण्ड नीचे गिरने पर जिस प्रकार वह अपने स्थान में फिर नहीं लौटता, उसी प्रकार गुणसमूह भी पुरुष से विच्युत होकर प्रयोजनाभाव के कारण पुनः संयुक्त नहीं होते। यहाँ गुण का अर्थ है–सुख-दुःख-मोह रूप बुद्धि का गुण, मौलिक त्रिगुण नहीं, क्योंकि वे ही तो मूल होते हैं, वे फिर किसमें लीन होंगे ?

सप्तम—इस प्रज्ञावस्था में पुरुष गुण-सम्बन्ध से शून्य, स्वप्रकाश, अमल, केवली है, इस रूप से प्रख्यात होता है। यहाँ गुण का अर्थ त्रिगुण है। यह कैवल्य नहीं, पर कैवल्य-विषयक सर्वोत्तम प्रज्ञा है। कैवल्य में चित्त का प्रतिप्रसव या लय होता है; अतः उस समय प्रज्ञान भी लीन हो जाता है।

इन सात प्रान्तभूमि-प्रज्ञाओं के बाद चित्त निरुद्ध होने पर शान्तोपाधिक पुरुष को मुक्त-कुशल कहा जाता है। इस प्रज्ञा के भावनाकाल में भी पुरुष को कुशल कहा जाता है। यही जीवन्मुक्ति अवस्था है। जीवनकाल में भी जिसे दुःख संस्पर्श नहीं लगता, उस योगी को जीवन्मुक्त कहा जाता है। विवेकख्याति के बाद जब लेशमात्र संस्कार रहता है और योगी प्रान्तभूमि-प्रज्ञा की भावना करते हैं तब वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं; क्योंकि उस समय दुःखकर विषय उपस्थित होने पर भी वे उसका अतिक्रमण करके विवेकदर्शन में समापन्न हो सकते हैं, इसलिए उनके साथ दुःख का संस्पर्श होता ही नहीं। अतः वे जीवमुक्त (जीते हुए भी मुक्त) होते हैं। निर्माणचित्त अवलम्बन कर जीवित रहने से भी योगी जीवन्मुक्त हैं। फलतः मुक्त या दुःख-संस्पर्श से अतीत होकर भी जीवित रहने से अर्थात् सामर्थ्य रहने पर भी सम्यक् चित्तनिरोध कर विदेहकैवल्य का आश्रय न करने से ही योगी को जीवन्मुक्त कहा जाता है—**"जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति"** (४।३० भाष्य)।

भाष्यम्—सिद्धा भवति विवेकख्याति र्हानोपायः; न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानि अष्टावभिधायिष्यमाणानि; तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्य-

यस्याशुद्धिरूपस्य क्षयः नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवति आ विवेकख्यातेः—आ गुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशुश्छेद्यस्य, विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्।

कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति, नवैवेत्याह; तद्यथा—"उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः। वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्।" इति। तत्रोत्पत्तिकारणम्—मनो भवति विज्ञानस्य; स्थितिकारणम्—मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणम्—यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्। विकारकारणम्—मनसो विषयान्तरं यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणम्—धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणम्—योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणम्—तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणम्—यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्य अविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणम्—शरीरमिन्द्रियाणां तानि च तस्य, महाभूतानि शरीराणां तानि च परस्परं सर्वेषाम्, तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वात्। इत्येवं नव कारणानि। तानि च यथासम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानन्तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति॥ २८॥

भाष्यानुवाद—विवेकख्याति निष्पन्न होने पर वह हानोपाय होती है; पर किसी की निष्पत्ति (सिद्धि) साधन के बिना नहीं होती, अतः इस (योगसाधन के विषय) पर विचार किया जाता है—

२८। योगाङ्गों के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि-क्षय होने पर ज्ञानदीप्ति विवेकख्याति पर्यन्त होती रहती है (१)॥ सू०

अभिधायिष्यमाण (जो अभिहित होंगे) योगाङ्ग अष्टसंख्यक हैं। उनके अनुष्ठान से पञ्चपर्वा विपर्यय-रूप अशुद्धि का क्षय या नाश होता है। उसके क्षय से सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। ज्यों-ज्यों साधनों के अनुष्ठान किए जाते हैं त्यों-त्यों अशुद्धि तनुता (क्षीणता) प्राप्त करती जाती है। अशुद्धि-क्षय के साथ ही साथ क्षयक्रमानुसारिणी ज्ञानदीप्ति बढ़ती रहती है। जब तक विवेकख्याति या गुण-पुरुष का स्वरूपविज्ञान न हो, तब तक ज्ञान बढ़ता रहता है। योगाङ्ग का अनुष्ठान अशुद्धि का वियोग-कारण (२) होता है; जैसे परशु छेद्य का वियोग-कारण होता है, और यह (योगाङ्गानुष्ठान) विवेकख्याति का प्राप्तिकारण है; जैसे कि धर्म सुख का होता है; वह (योगाङ्गानुष्ठान) दूसरे प्रकार से कारण नहीं होता।

शास्त्र में कितने कारण कहे गये हैं? नौ प्रकार के कारण कहे गए हैं,- उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति। उनमें मन विज्ञान का उत्पत्तिकारण है; मन का स्थितिकारण पुरुषार्थता है; तथा शरीर का स्थिति-कारण आहार है। रूप का अभिव्यक्तिकारण आलोक है और रूपज्ञान रूप काअभिव्यक्तिकारण है (अर्थात् रूपज्ञान भी रूप के प्रतिसंवेदन का कारण है, उससे 'मैंने रूप जाना' इस प्रकार की रूपबुद्धि का प्रतिसंवेदन होता है)। मन का विकार-कारण विषयान्तर है, जैसे अग्नि पाक्य वस्तु का। धूमज्ञान अग्निज्ञान का प्रत्यय कारण है। योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का प्राप्तिकारण है और वही अशुद्धि का वियोगकारण है। सोनार सोने का अन्यत्वकारण है; उसी प्रकार एक ही स्त्रीज्ञान के मूढ़त्व, दुःखत्व, सुखत्व तथा माध्यस्थ्यरूप अन्यत्वकारण यथाक्रम अविद्या, द्वेष, राग तथा तत्त्वज्ञान है। शरीर इन्द्रियों का और इन्द्रिय शरीर का धृतिकारण है। इसी प्रकार महाभूत समस्त शरीरों का और वे (महाभूत) आपस में एक दूसरे के धृतिकारण होते हैं। पशु, मनुष्य एवं देवता भी परस्पर एक दूसरे के अर्थ होने से धृतिकारण हैं। ये नौ कारण हैं। ये यथासम्भव अन्य पदार्थों में भी प्रयोज्य हैं। योगाङ्गानुष्ठान दो प्रकार से (वियोग तथा प्राप्ति) कारणता प्राप्त करता है।

टीका २८ (१) क्लेशसमूह या अविद्यादि पाँच प्रकार के अज्ञान प्रबल रहने से भी श्रुतानुमानजनित विवेकज्ञान होता है। परन्तु योगसाधन द्वारा उन सब अज्ञानसंस्कारों की जितनी क्षीणता होती रहती है उतनी ही विवेकज्ञान की प्रस्फुटता होती है। तदुपरान्त समाधिलाभ-पूर्वक सम्प्रज्ञात समापत्ति में सिद्ध होने पर विवेक की भी पूर्ण ख्याति होती है। इस रूप से विवेकज्ञान की स्फुटता होना ही ज्ञानदीप्ति है। 'विषयों में राग होना दुःख का हेतु है' ऐसा जानकर भी जो उसके अर्जन तथा रक्षण में यत्नवान् होते हैं उनका ज्ञान एक प्रकार का है, और जो उसे जानकर विषयसम्पर्क त्याग करने में यत्नवान् होते हैं उनमें तद्विषयक ज्ञान की दीप्ति या स्फुटता होती है; और जो विषय-त्याग कर उसके पुनर्ग्रहण से सम्यक् विरत हैं, उनमें 'विषय दुःखमय है' इस ज्ञान की ख्याति या सम्यक् स्फुटता हो चुकी है, यह जानना चाहिए। विवेक-ज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए।

२८ (२) यम-नियम आदि योगाङ्ग किस प्रकार ज्ञानरूप विवेक के कारण हो सकते हैं, भाष्यकार ने इस शङ्का का समाधान किया है कि योगाङ्ग अशुद्धि के वियोग-कारण हैं।

अविद्यादि सभी अज्ञान हैं। योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है अविद्यादिवश कार्य न करना। अविद्यादिवश कार्य न करने से अविद्यादि क्षीण होते हैं और विवेक-

ज्ञान की दीप्ति होती है। जैसे, द्वेष एक अज्ञानमूलक वृत्ति है; हिंसा ही प्रधान द्वेष है। अहिंसा करने पर उस द्वेषरूप अज्ञान का कार्य रुक जाता है। अतः क्रमशः उसके द्वारा विवेकज्ञान की ख्याति हो सकती है। इसी प्रकार सत्य-द्वारा लोभादि बहुविध अज्ञान नष्ट होते हैं। आसन-प्राणायाम द्वारा शरीर स्थिर, निश्चल, वेदनाशून्यवत् होनेपर 'मैं शरीरी हूँ' इस अविद्या-ख्याति का ह्रास होकर 'मैं अशरीरी हूँ' इस विद्या-भावना की अनुकूलता होती है। इसी प्रकार योगाङ्गानुष्ठान विद्या का कारण होता है। उसके द्वारा साक्षात् रूप से अशुद्धि रूप विपर्ययसंस्कार वियुक्त होता है; ऐसा होने से ही विद्या की ख्याति होती है।

अशुद्धि का अर्थ केवल अज्ञान नहीं, पर अज्ञानमूलक कर्म और उसका संचित संस्कार है। योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञान-मूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म नष्ट होता है। उससे ज्ञान की सम्यक् ख्याति होती है। ज्ञान की ख्याति होने पर अज्ञान नष्ट होता है। अज्ञान भलीभाँति नष्ट होने पर बुद्धिनिवृत्ति या कैवल्य होता है। इसी प्रकार योगाङ्गानुष्ठान कैवल्य का हेतु होता है।

बहुत-से स्थूलदर्शी व्यक्ति 'योग-द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है' इस मत को पूर्णतया असङ्गत समझते हैं[1]। वे कहते हैं कि अनुष्ठान ज्ञान का कारण नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ही ज्ञान के कारण होते है। वस्तुतः इस बात को योगी भी मानते हैं। योगानुष्ठान ज्ञान का कारण किस प्रकार होता है, यह प्रदर्शित किया जा चुका है। निष्कर्ष यह है कि समाधि परम प्रत्यक्ष है, तत्पूर्वक विचार ही विवेकज्ञान में पर्यवसित होता है। प्रत्यक्षदर्शी पुरुषों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही मोक्ष-विषयक विशुद्ध आगम होता है।

योगानुष्ठान विद्या का कारण है। कारण कहने से केवल उपादान कारण नहीं समझना चाहिए, यह भाष्यकार ने सुस्पष्ट रूप से समझाया है। वस्तुतः मोक्ष का कोई भी उपादान कारण नहीं है। बन्ध का अर्थ है गुण तथा पुरुष का संयोग। बाह्य द्रव्य का संयोग जिस प्रकार एकदेशस्थित होता है, अबाह्य पुम्प्रकृति का संयोग उस प्रकार नहीं होता। उनका संयोग 'अविविक्त प्रत्यय'-मात्र (अपृथग्भूत-ज्ञान) है। वह अविवेक-प्रत्यय विवेक के

१. बहुतों का यह कहना है कि मोक्ष का साधन ज्ञान है—यह सांख्य और वेदान्त का मत है और मोक्ष का साधन योग है—यह योगसूत्र का मत है। यह दृष्टि पूर्णतः भ्रान्त है। हान=कैवल्य का उपाय विवेकख्याति है—यह योगसूत्र का मत २।२६ में स्पष्टतया उक्त हुआ है। योग चित्तावस्था-विशेष है। कोई भी चित्ता-वस्था मोक्ष का साक्षात् हेतु नहीं हो सकती। मोक्ष क्या है तथा उसका साक्षात्

द्वारा नष्ट होता है। योग अशुद्धि का वियोगकारण और विवेक का प्राप्तिकारण है। विवेक के द्वारा अविवेक का नाश होता है, अतः इस क्रम से योग मोक्ष का कारण है। परन्तु संयोग का जिस प्रकार कोई उपादान कारण नहीं है, उस प्रकार वियोग (दुःखवियोग या मोक्ष) का भी उपादान कारण नहीं है।

भाष्यम्—तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥२९॥

भाष्यानुवाद— यहाँ पर योगाङ्ग अवधारित (१) हो रहे हैं—

२९। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—ये आठ योगाङ्ग हैं। सू०

यथाक्रम इनका अनुष्ठान और स्वरूप बताएँगे।

टीका २९ (१) दूसरे शास्त्रों में योग के छह अङ्ग कथित हुए हैं—कुछ व्यक्ति व्यर्थ ही ऐसी आपत्ति करते हैं। योग के अङ्गों का विभाजन चाहे जिस रूप से ही क्यों न किया जाए इन अष्टाङ्गों के अन्तर्गत साधनों का अतिक्रमण करने की कोई भी सम्भावना नहीं है।

साधन क्या है—ये व्यासभाष्य २।२४ में तथा अन्यत्र उक्त हुए हैं। वृत्तिरोधमात्र मोक्ष का साक्षात्कारण नहीं है—यह योगसूत्र का भी मत है। योगाङ्ग से विवेक होता है, विवेक से अविवेक की निवृत्ति होती है, जिससे चित्त की अत्यन्तनिवृत्ति होती है। यह निवृत्ति ही पुरुष का कैवल्य है तथा बुद्धि की मुक्ति (दुःख से मुक्ति) है। 'अर्थमात्रनिर्भास' समाधि रूप योग कभी भी कैवल्य का साक्षात् हेतु नही हो सकता, यद्यपि समाधि के बिना कैवल्य नहीं हो सकता। उपर्युक्त व्यासभाष्य में तथा अन्य सूत्रों के भाष्य में वृत्तिनिरोध के साथ कैवल्य का जो सम्बन्ध है वह स्पष्टतया दिखाया गया है। बृहदा. १।४।७ भाष्य में (निरोधस्तर्हि अर्थान्तरमिति चेत् ....) निरोध पर शंकराचार्य ने जो दोष दिखाया है, उसकी असंगति भी इन भाष्यस्थलों से जानी जा सकती है। **[सम्पादक]**

महाभारत (शान्ति० ३१६।७) में भी है—"वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः" अर्थात् मनीषीगण वेदों में योग को अष्टाङ्ग कहते हैं।[1]

भाष्यम्—तत्र—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्—"स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसा करोती"ति ।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ् मनश्चेति । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति, एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय; यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्; तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्; तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

३० । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (ये पाँच) यम हैं । सू०

इनमें से अहिंसा (१) सर्वथा, सर्वदा सर्व भूतों के प्रति अनभिद्रोह है ।

---

१. श्लोक का उत्तरार्ध है—'सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम' । नीलकण्ठ के अनुसार 'अष्टगुणी' का अर्थ है—अष्टसिद्धियों से युक्त और 'अष्टगुण' का अर्थ है—अष्टाङ्ग । विचारने से स्वामीजी का अर्थ ही संगत प्रतीत होता है और इस पक्ष में अष्टगुण का अर्थ है—अष्टसिद्धि से युक्त । योग अष्टाङ्ग है—ऐसा शब्दतः कथन प्रचलित आर्ष उपनिषदों में नहीं मिलता । हमारा अनुमान है कि श्वेताश्वतर उप० (१।४) में जिन 'छह अष्टकों' (अष्टकै : षड्भिः) का उल्लेख है, उसमें अन्यतम 'अष्टांग योग' है, यद्यपि इस उपनिषद् के शांकरभाष्य में यह अर्थ नहीं किया गया है । भाष्य में छह अष्टकों का जो परिचय दिया गया है—वह अंशतः काल्पनिक प्रतीत होता है । देवाष्टक की गणना श्रौत-परम्परानुसार नहीं है तथा धात्वष्टक की गणना चिकित्साशास्त्रसंमत नहीं है । [सम्पादक]

सत्य आदि अन्य यमनियम अहिंसामूलक हैं। वे अहिंसा-सिद्धि के हेतु होने के कारण अहिंसा-प्रतिपादन के लिए ही शास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं। अहिंसा को निर्मल करने के लिए ही वे (सत्यादि) उपादेय होते हैं। कहा भी है (श्रुति में) —'वे ब्रह्मवित् जिस प्रकार व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, उसी प्रकार (उन व्रतों द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्मों से निवर्त्तमान होकर उसी अहिंसा को निर्मल करते हैं (अर्थात् ब्रह्मविद् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल बना देते हैं)।

यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य (२) है; अर्थात् जिस प्रकार का विषय दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन सत्य है। अपने ज्ञान की संक्रान्ति के लिए दूसरे के प्रति जो वाक्य कहा जाए, वह वाक्य यदि वञ्चनाकारक या भ्रान्तिकारक या श्रोता के पास अर्थशून्य न हो (तो वह वाक्य सत्य होता है)। वह वाक्य सर्वभूत का उपघातक न होकर उपकार के रूप से प्रयुक्त होना चाहिए, क्योंकि वाक्य कहने पर यदि किसी को उपघात हो जाए तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं परन्तु पाप ही होता है। उस प्रकार पुण्यवत् प्रतीयमान, पुण्यसदृश वाक्य-द्वारा दुःखमय तम या निरय का लाभ होता है। अतएव विचारपूर्वक सर्वभूतहितजनक सत्य वाक्य ही कहना चाहिए।

स्तेय का (३) अर्थ है—अशास्त्रपूर्वक (अवैधरूप से) दूसरे की वस्तु लेना; अस्तेय उसका निषेधरूप है जो अस्पृहारूप है। ब्रह्मचर्य- गुप्तेन्द्रिय होकर उपस्थ का संयम (४)। अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग और हिंसा इन पाँच प्रकार के दोषों को देखकर विषयों का ग्रहण न करना (५) अपरिग्रह है। ये ही यम हैं।

टीका ३० (१) भाष्यकार ने अहिंसा का सुस्पष्ट विवरण दिया है। श्रुति कहती हैं—**'मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि।'**[1] केवल प्राणिपीड़ा को त्यागना ही अहिंसा नहीं है, परन्तु प्राणियों के प्रति मैत्री आदि सद्भाव का पोषण भी है। सर्वथा बाह्य-विषयक स्वार्थपरता न त्यागने से अहिंसा का आचरण संभव नहीं होता। दूसरे के मांस से अपने शरीर के तोषण-पोषण की इच्छा हिंसा का प्रधान निदान है, और यह निश्चित है कि बाहरी सुख खोजनें से दूसरों को पीड़ा देना अवश्यंभावी होता है। अन्य को डराना, परुष वाक्य से मर्म छेदना इत्यादि सभी कर्म हिंसा हैं। सत्यादि-द्वारा लोभद्वेषादि-स्वार्थपरतामूलक वृत्तियाँ क्षीण होती रहती हैं, इसलिए अन्य सब यम तथा नियमों का अनुष्ठान अहिंसा को ही निर्मल करता है।

---

१. उपलब्ध श्रुतिग्रन्थों में यह वाक्य नहीं मिलता। वाक्यगत सर्वा=सर्वाणि है। यह वैदिक प्रयोग है। **[सम्पादक]**

बहुतों का विचार है कि जब जीवन-धारणार्थ प्राणी-हत्या करना अवश्यंभावी है तब अहिंसा-साधन कैसे संभव होगा ? अहिंसा-साधन का मूलतत्त्व न समझने के कारण ही इस प्रकार की शङ्का उठा करती है। योगभाष्यकार कहते हैं—**'नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति'** (२।१५); अतः देह-धारण करने से प्राणिपीड़ा अवश्यंभावी है। ऐसा जानकर (१) देह-धारण न करने के उद्देश्य से ही योगीगण योगाचरण करते हैं, यह प्रथम अहिंसा साधन है। (२) यथाशक्ति स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की अनावश्यक हिंसा से विरत होना द्वितीय साधन है। (३) प्राणियों में यथाशक्ति ऊँचे प्राणियों को दुःख न देना तृतीय अहिंसा-साधन है।

फलतः क्रूरता, जिघांसा, द्वेष आदि जिन दूषित मनोभावों से हिंसा (या प्राणीपीड़न) की जाती है उन्हें त्यागते रहना ही अहिंसा है। किसी में क्रूरतादि दूषित भाव न हो और यदि उसके किसी कर्म से उसके माता-पिता भी निहत हो जाएँ तो उस कर्म को व्यवहारतः या परमार्थतः हिंसा नहीं माना जाता है। हिंसा में भी तारतम्य है। पिता-माता की या संतान की हिंसा करना और दुश्मन का वध करना एक प्रकार का अपकर्म नहीं है, क्योंकि कितनी अधिक क्रूरतादि-दुष्ट प्रवृत्ति होने पर लोग पिता आदि की हिंसा कर सकते हैं—यह सभी समझ सकते हैं। हृदय की दुष्ट प्रवृत्तियों के तारतम्य से हिंसादि अपकर्मों का भी तारतम्य होता है। अतः आदमियों को मारना और तिनका तोड़ना समान हिंसा नहीं है; उसी प्रकार परुष वाक्य से पीड़ा देना तथा प्राणीवध करना भी समान हिंसा नहीं है।

प्राण प्राणियों को सबसे प्रिय होता है, अतः प्राणनाश सबसे प्रबल हिंसा है। उसमें भी पिता-माता आदि की हिंसा प्रधान होती है, उसके बाद दोस्त रिश्तेदारों की, उसके बाद साधारण आदमियों की, उसके बाद दुश्मनों की, उसके बाद उपकारी जानवरों की, उसके बाद साधारण जानवरों की, उसके बाद अपकारी जानवरों की, उसके बाद साधारण पेड़ों की, उसके बाद अपकारक पेड़ों की, उसके बाद भक्ष्य पेड़ों की, उसके बाद भक्ष्य शस्यादि की, उसके बाद अदृश्य प्राणियों की हिंसा क्रमशः मृदुतर होती है। यहाँ तक कि आततायी-वध तथा वृक्षादिनाश साधारण लोगों के लिए दोषावह हिंसा नहीं मानी जाती है, क्योंकि साधारण लोग जिस अवस्था में हैं उसमें वे उस प्रकार के कर्म से अधिकतर दूषित नहीं होते। स्वेद-भोजन करने से कृमि क्या और अधिक दूषित होगा ? इसीलिए मनुजी कहते हैं कि मांसादि-भक्षण में दोष नहीं है, क्योंकि वह प्राणियों की प्रवृत्ति है, पर उससे निवृत्ति होने से महाफल होता है (५।५६)। जिस प्रकार स्याही से लिप्त कपड़े में और स्याही डालने से वह

अधिक मैला नहीं होता, उसी प्रकार प्रवृत्तिपङ्क में मग्न मनुष्य मांसादि-भोजन से या क्षेत्रादि-कर्षण से और अधिक क्या पापी होगा? ऐसा होने पर भी साधारण व्रतादि-धर्म-कर्म द्वारा इन कर्मों से निवृत्त होने पर महाफल होता है।

यह तो साधारण लोगों की बात हुई। योगियों के लिए अहिंसादि का सार्वभौम महाव्रत आचरणीय है। अतः वे जहाँ तक हो सकता है अहिंसादि के आचरण की चेष्टा करते हैं। प्रथमतः ये मनुष्यजाति की, यहाँ तक कि, आततायी की भी हिंसा नहीं करते तथा जानवर के प्रति भी यथासम्भव अहिंसा अथवा अति मृदु हिंसा (जैसे सर्पादि को डराकर केवल भगाना) करते हैं। द्वितीयतः व्यर्थ स्थावर प्राणियों का भी उत्पीड़न नहीं करते। देहधारण के लिए कोई-कोई शीर्णपत्रादि भोजन करते हैं अथवा भिक्षान्न से ही देहधारण करते हैं। प्राचीन काल में यह नियम था (अब भी आर्यावर्त्त में किसी-किसी स्थान-स्थान पर है) कि गृहस्थ कुछ अधिक अन्न का पाक करें और उसका एक भाग अभ्यागत, संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को दें। **"यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ"** (पराशर १।४५)। संन्यासी यदृच्छया विचरण करते-करते किसी गृहस्थ के घर पर माधुकरी लें तो उनको इसमें अन्नघटित हिंसादोष नहीं होता। मनु जी कहते हैं कि पादक्षेपादि में जो अवश्यंभावी हिंसा होती है संन्यासी उसके क्षालनार्थ छह बार प्राणायाम करें (६।६९)। इसी प्रकार योगी लोग मृदुतम अवश्यंभावी हिंसा करते हुए भी अहिंसाधर्म को प्रवर्द्धित करने के पश्चात् योगसिद्धि द्वारा देहधारण से नित्य विमुक्त होकर सभी प्राणियों के अहिंसक होते हैं।

देश, काल तथा आचार के भेद से प्राचीन काल के समान उपयोगी परिस्थिति न पाने पर भी अहिंसा के इन तत्त्वों पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति अहिंसा का आचरण करते जाने पर हृदय हिंसादोष से मुक्त होता है और योग के अनुकूल होता है। अवश्यंभावी कुछ हिंसा न छोड़ सकने पर भी 'मैं योग-द्वारा अनन्त काल के लिए सर्वप्राणियों का अहिंसक हो सकूँगा' ऐसे विशुद्ध अहिंसा-संकल्प के द्वारा उस दोष का वारण हो जाता है, क्योंकि हृदयशुद्धि ही योगाङ्ग का उद्देश्य है।

३० (२) सत्य। जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा ही सत्यसाधन होता है। परपीड़ाप्रद सत्य वाच्य या चिन्त्य नहीं होता; जैसे—पराये यथार्थ दोष का कीर्त्तन करके पर को पीड़ित करना अथवा 'असत्यमतावलम्बी नाश प्राप्त हों' इस प्रकार की चिन्ता करना।

सत्य के विषय में श्रुति है—**"सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः"** (मुण्डक ३।१।६) आदि। सत्य-साधन करने में पहले मौन या

अल्पभाषिता का अभ्यास करना पड़ता है। अधिक बातें करने से अनेक असत्य बातें प्रायः कही जाती हैं। मन को सत्यप्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास आदि काल्पनिक विषयों से विरत होना पड़ता है। बाद में अपारमार्थिक सत्यसमूह को त्यागकर केवल पारमार्थिक सत्य या तत्त्वसमूह का चिन्तन करना पड़ता है।

साधारण मनुष्यों के चित्त अलीक चिन्तन में सदा लगे रहने के कारण तात्त्विक सत्य की चिन्ता मन में प्रतिष्ठित नहीं हो पाती। अतएव साधारण व्यक्ति कहानी, उपमा प्रभृति मिथ्या-प्रपञ्च-द्वारा सद्विषय का किंचित् ग्रहण करते हैं। लड़के से पिता कहता है "सच बात बोल नहीं तो तेरा सिर तोड़ दूँगा"; "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्" (आदिपर्व ७४।१०३) इत्यादि अलीक उपमा से सत्य का उपदेश साधारण मानव के लिए काम देता है।

सम्यक् सत्याचरणशील योगी के लिए उपर्युक्त प्रकार का उपदेश या चिन्तन काम नहीं देता है। वे समस्त काल्पनिकता और अलीकता छोड़कर वाक्य तथा मन को केवल तत्त्वविषयक एवं प्रमितपदार्थ–विषयक करते हैं। कल्पनाविलास न छोड़ने से प्रकृत सत्यसाधन कठिन होता है। सत्य कहने से जहाँ पर दूसरे का अनिष्ट होता है, वहाँ पर मौन विधेय है। सदुद्देश्य के लिए भी असत्य अकथनीय है। अर्ध सत्य ("नरो वा कुञ्जरो वा" के समान) अधिकतर हेय होता है[1]। भ्रान्त तथा प्रतिपत्तिबन्ध्य वाक्य-द्वारा ही अर्ध-सत्य कथित होता है।

३० (३) जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है। उसे त्याग कर मन में उस प्रकार की स्पृहा न उठने देना रूप जो निस्पृह भावविशेष है, वही अस्तेय है। अचानक मिलने से या

---

१. द्रोणाचार्य के वध के लिए कृष्ण ने यह युक्ति दी थी कि आचार्य को यह सुनाया जाय कि उनके पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु युद्ध में हो गई है, जिससे आचार्य दुःखित होकर अवसन्न हो जायेंगे। विभिन्न योद्धाओं ने जब 'अश्वत्थामा हतः' यह कहा तो घटना की सच्चाई जानने के लिए सदासत्यवादी युधिष्ठिर से द्रोण ने पूछा। युधिष्ठिर जयलोभ से तथा कृष्ण आदि से प्ररोचित होकर उच्चैःस्वर से कहा कि अश्वत्थामा हत हो गया है (अश्वत्थामा एक हाथी था जो भीम द्वारा तत्काल मारा गया था), पर मिथ्या से डरकर तथा सत्यरक्षार्थ नीचस्वर से कहा कि 'यह मारा गया अश्वत्थामा हाथी है' (द्र० द्रोणपर्व अ० १८९) (तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः। अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार ह। अव्यक्तमब्रवीद् राजन् हतः कुञ्जर इत्युत ॥ श्लो० ५५) [सम्पादक]

भूगर्भस्थित द्रव्य पाने से उसे ग्राह्य नहीं करना है, क्योंकि वह परस्व है। कोई योगी पर्वत पर रहते हों और उनको यदि वहाँ एक मणि भी मिल जाए तो वह भी उनके ग्रहणयोग्य नहीं होती, क्योंकि पर्वत राजा का है,[१] अतः वहाँ की सभी वस्तुएँ राजा के अधिकार में हैं। फलतः जो निजस्व नहीं है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण न करना एवं उस प्रकार के द्रव्य में स्पृहा त्यागने की चेष्टा ही अस्तेयसाधन कहलाता है। इस विषय पर श्रुति है—**'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** (ईशावास्य १)।

३० (४) ब्रह्मचर्य। चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों की रक्षा (संयम) करके अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषयों से समस्त इन्द्रियों को संयत कर, उपस्थसंयम करना ही ब्रह्मचर्य है। केवल उपस्थसंयममात्र ब्रह्मचर्य नहीं कहलाता। **'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः'॥** (दक्षस्मृति ७।३१-३२)[२]। अब्रह्मचर्य के इन आठ रूपों का वर्जन ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अब्रह्मचर्य की चिन्ता मन में उठने पर ही उसे दूर फेंक देना चाहिए, कभी उसको टिकने नहीं देना चाहिये, नहीं तो ब्रह्मचर्य कदापि सिद्ध नहीं होता।

ब्रह्मचर्य के लिए मिताहार आवश्यक है। प्रचुर घी-दूध आदि भोगी के लिए सात्त्विक आहार होते हैं, योगी के लिए नहीं। मिताहार तथा मितनिद्रा द्वारा शरीर को कुछ क्लिष्ट रखना ब्रह्मचारी के पक्ष में आवश्यक होता है। उसके साथ ही अब्रह्मचर्य का आचरण भली भाँति त्यागकर तथा मन को काम्यविषयक संकल्प से शून्य कर उपस्थेन्द्रिय को मर्महीन करने पर ही ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। अब्रह्मचारी को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता; इस पर श्रुति भी है—**'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** (मुण्डक ३।१।५)। 'मैं जीवन में कभी अब्रह्मचर्य न करूँगा' इस प्रकार का संकल्प करना तथा इस प्रकार के संकल्प के द्वारा 'जननेन्द्रिय सूख जाए' इस प्रकार जननेन्द्रिय के मर्मस्थान पर निष्क्रियता की भावना करने से ब्रह्मचर्य में सहायता होती है।

३० (५) विषय के अर्जन से दुःख, रक्षण से दुःख, क्षय होने से दुःख, संग करने से संस्कार-जनित दुःख तथा विषय-ग्रहण से अवश्यंभावी हिंसा और

---

१. यह दृष्टि पुराण धर्मशास्त्र में मिलती है—यत् किंचिद् विद्यते रत्नं पार्थिवस्य क्षितौ द्विज। तत्सर्वं राजकीयं स्यादिति वित्तविदो विदुः॥ (स्कन्दपुराण, नागरखण्ड १६७।४६)। **[सम्पादक]**

२. ये श्लोक कठरुद्रोपनिषद में भी मिलते हैं; स्मरण के स्थान पर दर्शन तथा निष्पत्ति के स्थान पर निवृत्ति पाठ है (९–११)। **[सम्पादक]**

तज्जनित दुःख होता है। इन सब दुःखों को समझकर दुःख से मुक्ति चाहने वाले पहले विषय त्यागते हैं, बाद में और विषय ग्रहण नहीं करते। केवल प्राणधारण के सहायक द्रव्यमात्र ही स्वीकार-योग्य होता है। श्रुति कहती है **'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'** (तैत्तिरीय आरण्यक १०।१०)।

बहुत द्रव्य के स्वामी होकर उसे परार्थ में नहीं लगाना स्वार्थपरता है; साथ ही वह परदुःख में सहानुभूति का अभाव है। योगीगण निःस्वार्थपरता की चरम सीमा में जाना चाहते हैं, अतः उनके लिए भोग्य विषय का भली भाँति त्याग आवश्यक होता है। मान लो कि किसी के पास प्रयोजन से अतिरिक्त धन है और दुःखी व्यक्ति आकर उससे उसे माँगता है; यदि वह नहीं देता तो वह स्वार्थपर तथा दयाहीन है।

इस कारण योगीगण पहले ही निजस्व परार्थ में त्यागते हैं और बाद में प्राणयात्रार्थ आवश्यक द्रव्य के अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं करते। प्राणधारण न करने से योगसिद्धि द्वारा दोष की सम्यक् निवृत्ति नहीं होती, अतः प्राणधारण के लिए उपयोगी भोग्य का ही परिग्रह करते हैं। अधिक भोग्य वस्तु का स्वामी बनने से योगसिद्धि दूर हो जाती है।

——×——

भाष्यम्—ते तु—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना—मत्स्यवन्धकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना—न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना—न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना—देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति, यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति।

एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः, सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते॥ ३१ ॥

भाष्यानुवाद—वे (यमसमूह) तो—

३१। जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न होकर सार्वभौम होने पर महाव्रत होते हैं (१)। सू०

जात्यवच्छिन्ना अहिंसा का उदाहरण है—मछुओं की मत्स्यसंबन्धी हिंसा और अन्य-जातिसंबन्धी अहिंसा। (अर्थात् उनकी हिंसा यदि केवल आजीविकार्थ मत्स्यों तक ही सीमित हो और अन्यत्र वे अहिंसक हों तो यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा होगी)। इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा है—'तीर्थ में हनन नहीं करूँगा'

इत्यादि। कालावच्छिन्न अहिंसा है—'चतुर्दशी में या पुण्य दिन में हनन नहीं करूँगा' इत्यादि। यह अहिंसा जाति-देश-काल से अवच्छिन्न न होकर भी समयावच्छिन्न हो सकती है। जैसे 'देव-ब्राह्मण के लिए हिंसा करूँगा अन्य किसी प्रयोजन से नहीं।' अथवा क्षत्रियों का युद्ध में ही हिंसा करना (कर्तव्य की दृष्टि से), अन्यत्र न करना–यह समयावच्छिन्न अहिंसा है।

इस प्रकार जाति, देश, काल तथा समय-द्वारा अवच्छिन्न या सीमित न कर अहिंसा, सत्य प्रभृति का सार्वभौम परिपालन करना उचित है। सभी भूमियों में सभी विषयों में, सर्वथा व्यभिचार से शून्य या सार्वभौम होने पर यम महाव्रत कहलाते हैं।

टीका ३१ (१) सभी धार्मिक व्यक्ति अहिंसा का कुछ न कुछ आचरण करते हैं, पर योगीगण उनका परिपूर्ण रूप से आचरण करते हैं। इस रूप से आचरित यमसमूह सार्वभौम होते हैं तथा महाव्रत कहे जाते हैं।

समय का अर्थ है कर्त्तव्य के लिए नियम, जैसे अर्जुन ने क्षत्रियकर्तव्य की दृष्टि से युद्ध किया था। यह समयवश हिंसा है। योगीगण सर्वथा और सर्वत्र हिंसादि का वर्जन करते हैं। इस सूत्र का भाष्य सुगम है।

——×——

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥

भाष्यम्—तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्; द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चैव यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि। स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।

ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्, "शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी।" यत्रेदमुक्तम्—"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" इति॥ ३२॥

३२। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें मृत्-जलादिजनित और मेध्य आहार प्रभृति जो शौच हैं, वे बाह्य हैं। आभ्यन्तर शौच चित्तमल का क्षालन (१) है। सन्तोष (२)—सन्निहित साधन (केवल प्राणधारणयोग्य उपलब्ध साधन) से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छाशून्यता। तपः (३)–द्वन्द्वसहन; द्वन्द्व के उदाहरण हैं–क्षुधा

और पिपासा, शीत और उष्ण, स्थान (खडा रहना या स्थिर रहना) और आसन, काष्ठमौन और आकारमौन। कृच्छ्, चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रत-समूह भी तपः कहे जाते हैं। स्वाध्याय (४)—मोक्षशास्त्राध्ययन अथवा प्रणवजप।

ईश्वरप्रणिधान (५)—परम गुरु ईश्वर को सर्व-कर्म का अर्पण; (जैसे कहा भी है) 'शय्या या आसन पर रहते हुए अथवा राह चलते हुए आत्मस्थ तथा परिक्षीणवितर्क-जाल योगी संसार-बीज को क्षीयमाण निरीक्षण करते हुए नित्य मुक्त (अर्थात् नित्य तृप्त) और अमृत भोगभागी हों।' इस विषय में सूत्रकार ने भी कहा है—'उससे (ईश्वरप्रणिधान से) प्रत्यक्-चेतनाधिगम एवं अन्तराय-समूह का अभाव होता है' (१।२९ सूत्र)।

टीका ३२ (१) शौचाचरण द्वारा ब्रह्मचर्यादि में सहायता होती है। पूतियुक्त जान्तव पदार्थ के आघ्राण से अस्फूर्त्तिजनक (Sedative) भारीपन होता है। अतः लोग उत्तेजना चाहते हैं और तदर्थ वे उत्तेजक शराब आदि पीते हैं जिससे इन्द्रियों में उत्तेजना आ जाती है। अतएव अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगोपयोगी कर्मण्यता से शून्य होता है। अतः शरीर और आवास निर्मल रखना तथा मेध्य आहार करना योगी का कर्त्तव्य है। अमेध्य आहार द्वारा शरीर में अशुचि पदार्थ जाने से मन में मलिन भाव आते हैं। सड़े हुए, दुर्गन्धित, नशीले, अस्वाभाविक रूप से शारीर यन्त्रों के लिए उत्तेजक पदार्थ अमेध्य कहे जाते हैं। उनका संसर्ग या आहार अविधेय है। मादक द्रव्य के सेवन से कभी भी चित्त की स्थिरता नहीं होती। योग में चित्त को वशीकृत करना पड़ता है। मादक द्रव्य उसे वशीकृत नहीं होने देते, अतः वे योग के शत्रु हैं। चरक में भी ठीक यही कहा है—**'प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम्। मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥ ५२॥ मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान् (५३ क) श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मद्यलालसाः॥ ५५ ख (चिकित्सास्थान अ० २४)** अर्थात् परलोक और इहलोक में जो हितकर तथा परम श्रेयः है वे सब देही को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होते हैं। परन्तु मद्य से मन में अत्यन्त संक्षोभ हो जाता है। मद्य से जो अन्ध है तथा मद्य में जिनकी लालसा है वे श्रेयः से वियुक्त होते हैं।

मद (गर्व), मान, असूया आदि चित्तमलों का क्षालन करना आभ्यन्तरिक शौच है।

३२ (२) सन्तोष। किसी इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने से जो तुष्ट-निश्चिन्त भाव होता है उसकी भावना करके सन्तोष को आयत्त करना पड़ता है। पश्चात्

'जो प्राप्त किया है वही पर्याप्त है'—इस प्रकार की भावना से उक्त तुष्ट और निश्चिन्त भाव में ध्यान लगाना पड़ता है। यही सन्तोष का साधन है। सन्तोष के सम्बन्ध में शास्त्रोक्ति है कि 'काँटे से बचने के लिये समग्र भूतल को चमड़े से न ढक कर जूते पहनने से ही जिस प्रकार उससे बचा जा सकता है, उसी प्रकार सभी काम्य विषय पाकर मैं सुखी होउँ ऐसी इच्छा से सुख नहीं हो सकता, परन्तु सन्तोष के द्वारा हो सकता है। ययाति ने कहा है—**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'** (आदिपर्व ८५।१२)। अन्यत्र–**सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढ़पादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥**

३२ (३) तप (२।१ सूत्र की टिप्पणी द्रष्टव्य)। केवल काम्य विषय के लिए तपस्या करना योगाङ्ग नहीं होता। श्रुति में कहा है, **'न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः'** (शतपथ १०।५।४।१५)। अल्पमात्र दुःख से जो घबराते हैं, उनके द्वारा योग-सिद्धि होने की आशा नहीं। अतः दुःखसहिष्णुतारूप तपस्या द्वारा तितिक्षा साधन करणीय है। शरीर कष्टसहिष्णु होने पर एवं शारीरिक सुख के अभाव में मन विकृत न होने पर ही योग-साधन में उत्तम अधिकार होता है।

काष्ठमौन=वाक्य, आकार तथा सङ्केत से भी कुछ न जनाना; आकार-मौन=आकार आदि-द्वारा विज्ञापन करना, पर वाक्य न कहना। मौन-द्वारा वृथा वाक्य, परुष वाक्य आदि न कहने की सामर्थ्य होती है एवं सत्य कथन में सहायता होती है। इससे गाली सहना, अर्थिता-संकोच आदि भी सिद्ध होते हैं।

क्षुत्पिपासा सहन करने से क्षुधादि से सहसा ध्यान में विघ्न नहीं होता। आसन से शरीर की निश्चलता होती है। कृच्छ्रादि व्रतसमूह पापक्षय के लिए आवश्यक होने पर ही करणीय हैं, अन्यथा नहीं।

३२ (४) स्वाध्याय-द्वारा वाक्य एकतान होता है। उससे एकतान-भाव-सहित अर्थस्मरण में अनुकूलता होती है। मोक्षशास्त्राध्ययन से विषयचिन्ता क्षीण होती है एवं परमार्थ में रुचि और ज्ञान बढ़ते हैं।

३२ (५) प्रशान्त ईश्वर-चित्त में अपने चित्त को स्थापित कर अर्थात् आत्मा या निजको ईश्वर में तथा ईश्वर को निजमें भावना कर सर्व अपरिहार्य चेष्टा मानो उनके ही द्वारा हो रही है, प्रत्येक कर्म में इस प्रकार की भावना करना अर्थात् कर्म के फल की आकाङ्क्षा भी त्यागना ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण है। उसी प्रकार निश्चिन्त साधक शयन-आसन आदि सभी कार्यों में निज को ईश्वरस्थ या शान्तस्वरूप जानकर करणवर्ग की निवृत्ति की ओर लक्ष्य

कर शरीर-यात्रा का निर्वाह कर जाते हैं। अपने अन्तर में चिद्रूप ईश्वर का चिन्तन करते हुए योगी को प्रत्यक्चेतन का अधिगम होता है (१।२९ सूत्र द्रष्टव्य)। ईश्वर को विस्मृत होकर कोई कर्म करने से उस समय ईश्वर में कर्म का समर्पण नहीं होता। वह कर्म पूर्णतया अभिमान पूर्वक ही होता है। 'मैं अकर्त्ता हूँ' ऐसी भावना तथा हृदय या अन्तर्बाह्य में ईश्वर का स्मरण करते हुए कोई भी कर्म करने से तथा 'उस कर्म का फल योग या निवृत्ति की और जाए' ऐसा सोचकर कर्म करने से तभी उस कर्म का ईश्वर में समर्पण होता है।

भाष्यम्—एतेषां यमनियमानाम्—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन् हनिष्याम्यहमपकारिणम्, अनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वी करिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीत्येवमुन्मार्गप्रवणवितर्क-ज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्—घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः, स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेन—इति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इत्येवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—इन यमनियमों की—

३३। वितर्क द्वारा बाधा होने पर प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए (१)। सू०

इस ब्रह्मविद् को जब हिंसादि वितर्क होते हैं, कि 'मैं अपकारी का हनन करूँगा, असत्य वाक्य कहूँगा, इसकी चीज लूँगा, इसकी पत्नी के साथ व्यभिचार करूँगा, इन सब वस्तुओं का स्वामी होऊँगा' तब ऐसे अतिदीप्त उन्मार्गप्रवण वितर्कज्वर द्वारा पीड्यमान होने पर उसके प्रतिपक्ष की भावना करे; जैसे—'घोर संसार-अङ्गार से जलते हुए मैंने सर्वभूत को अभय-दान कर योगधर्म की शरण ली है। वही मैं वितर्क-समूह त्याग कर फिर उन्हीं को ग्रहण कर कुत्तों जैसा आचरण कर रहा हूँ।' जिस प्रकार कुत्ता वान्त वस्तु को भी चाट जाता है (अर्थात् उगले हुए अन्न को खा जाता है) उसी प्रकार त्यक्त पदार्थ का ग्रहण करना भी वैसा ही है—इत्यादि प्रकार का प्रतिपक्षभावन अन्य सूत्रों में उक्त साधनों में भी करना चाहिए।

टीका ३३ (१) वितर्क=अहिंसादि जो दशविध यम तथा नियम हैं उनके विरुद्ध कर्म; जैसे—हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और अशौच, असन्तोष, अतितिक्षा, वृथा वचन, हीन पुरुष के चरित्र की भावना या अनीश्वरगुण की भावना।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—तत्र हिंसा तावत्—कृता कारिताऽनुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा, लोभेन—मांसचर्मार्थेन, क्रोधेन—अपकृतमनेनेति, मोहेन—धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा, मृदुमृदुः, मध्यमृदुः, तीव्रमृदुरिति, तथा मृदुमध्यः, मध्यमध्यः, तीव्रमध्य इति, तथा मृदुतीव्रः, मध्यतीव्रः, अधिमात्रतीव्र इति; एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्; दुःखमज्ञानञ्चानन्तफलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकः प्रथमं तावद् वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततः शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्नरक-तिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथंचिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित् पुण्यादपगता (पुण्यावापगता—पाठान्तरम्) हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति।

एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत। प्रतिपक्षभावनाद्धेतोर्हेया वितर्काः ॥ ३४ ॥

३४। हिंसा, अनृत, स्तेय आदि वितर्क कृत, कारित तथा अनुमोदित होते हैं; ये क्रोध, लोभ तथा मोह-पूर्वक आचरित एवं मृदु, मध्य तथा अधिमात्र होते हैं। ये अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान के कारण हैं। यही प्रतिपक्षभावन है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें हिंसा कृत, कारित तथा अनुमोदित इस प्रकार त्रिविध है। इन तीनों में प्रत्येक फिर त्रिविध है। लोभपूर्वक, जैसे कि मांसचर्म

के लिए; क्रोधपूर्वक जैसे कि 'इसने मेरा अपकार किया है, अतः यह हिंसायोग्य है और मोहपूर्वक जैसे कि 'हिंसा (पशुवलि) से धर्माचरण होगा'। लोभ, क्रोध और मोह भी त्रिविध हैं—मृदु, मध्य तथा अधिमात्र। इस प्रकार हिंसा सत्ताईस प्रकार की होती है। मृदु, मध्य तथा अधिमात्र (तीव्र) भी पुनः त्रिविध हैं—मृदु-मृदु, मध्य-मृदु और तीव्र-मृदु; मृदु-मध्य, मध्य-मध्य और तीव्र-मध्य; मृदुतीव्र, मध्य-तीव्र और अधिमात्र-तीव्र। इस प्रकार हिंसा इक्यासी प्रकार की होती है। वही हिंसा फिर नियम, विकल्प और समुच्चय के भेद से असंख्य प्रकार की होती है, क्योंकि प्राणी-गत भेद भी अपरिसंख्येय हैं। इस प्रकार की विभाग-प्रणाली अनृत, स्तेय आदि में भी प्रयोज्य है।

'ये सब वितर्क अनन्त-दुःख-अज्ञान-फलक हैं' इस प्रकार की भावना प्रतिपक्षभावना है; अर्थात् 'अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान वितर्कों के फल हैं' इस प्रकार की प्रतिपक्षभावना। इस विषय में उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंसक पहले बध्य का वीर्य (बल) नाश करता है (बन्धनादि-पूर्वक); बाद में उसे अस्त्राघात से दुःख देता है, फिर जीवन-विमुक्त करता है। उनमें बध्य का वीर्याक्षेप करने के कारण हिंसक के चेतनाचेतन (करण और शरीरादि) उपकरण क्षीणवीर्य (दुर्बल) हो जाते हैं, दुःख-प्रदान के फल-स्वरूप हिंसक को नरक-तिर्यक्-प्रेतादि योनियों में दुःखानुभव होता है। प्राण का विनाश करने से हिंसक व्यक्ति प्रतिक्षण जीवननाशकारक मोह-मय रुग्ण अवस्थादि में वर्त्तमान रहकर मरने की इच्छा करते हुए भी उस दुःखविपाक की नियत-विपाक-वेदनीयता के कारण (२) किसी प्रकार केवल जीवित ही रहता है और यदि किसी पुण्य से हिंसा का अपगम भी (३) हो जाए, तो सुखप्राप्ति होने पर भी अल्पायु होता है।

(यह युक्ति-शैली) अनृत, स्तेय आदि में भी यथासंभव प्रयोज्य है। वितर्क-समूह के इस प्रकार के अवश्यंभावी अनिष्ट फल का चिन्तन करके मन को वितर्क में और अधिक निविष्ट नहीं करना चाहिए। प्रतिपक्ष-भावना रूप हेतु के द्वारा वितर्कसमूह हेय (त्याज्य) होते हैं।

टीका ३४ (१) कृत=स्वयं किए हुए। कारित=किसी के द्वारा कराये हुए। अनुमोदित=मौन या प्रकट स्वीकृति दिए हुए। प्राणी को स्वयं पीड़ा देना कृत हिंसा है। मांसादि खरीदना कारित हिंसा है। शत्रु, अपकारी या भयंकर किसी प्राणी की पीड़ा या वध में मौन या प्रकट स्वीकृति देना अनुमोदित हिंसा है। 'तुमने साँप मारा, बहुत अच्छा किया' यह अनुमोदन है। इस प्रकार के हिंसा आदि फिर क्रोधपूर्वक, लोभपूर्वक या मोहपूर्वक (जैसे—

भगवान् ने भक्षणार्थ पशुओं की सृष्टि की है, इत्यादि मोहयुक्त सिद्धान्त पूर्वक) आचरित होते हैं।

कृत, कारित, अनुमोदित एवं क्रोध-लोभ-मोहपूर्वक आचरित हिंसादि सभी वितर्क फिर मृदु, मध्य और अधिमात्र (तीव्र) होते हैं और इस प्रकार हिंसादि प्रत्येक वितर्क इक्यासी प्रकार का होता है।

फलतः सर्वथा अणुमात्र भी हिंसादि दोष न हों यह देखना योगियों का कर्तव्य है। तभी विशुद्ध योगधर्म का प्रादुर्भाव होता है।

३४ (२) नियतविपाक-वेदनीयता के कारण अर्थात् वह दुःख जिस हिंसा-कर्म का फल है वह कर्म यतः पूर्णतया फलवान् होगा या हुआ है, अतः उस दुःखदायक कर्म का फल जब तक समाप्त न हो जाए, तब तक जीवन भी समाप्त नहीं होता।

३४ (३) **"पुण्यादपगता"** और **"पुण्यावापगता"** यह दो प्रकार का भाष्य-पाठ है। 'पुण्यावापगता' का अर्थ है प्रबल पुण्य के साथ आवापगत या फलीभूत। उससे हिंसा का फल भलीभाँति विकसित नहीं हो पाता, परन्तु वह उसके द्वारा अल्पायु होता है। अपगत का अर्थ यहाँ नाश नहीं, परन्तु 'सम्यक् फलीभूत न होना' है।

भाष्यम्—यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति; तद्यथा—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भाष्यानुवाद—जब (प्रतिपक्ष भावना द्वारा) योगी के हिंसादि वितर्कसमूह अप्रसवधर्मा (१) अर्थात् दग्ध-बीज-कल्प हो जाते हैं तब तज्जनित ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचक होता है, जैसे—

३५। अहिंसा प्रतिष्ठित होने पर उसकी (अहिंसाप्रतिष्ठ योगी की) सन्निधि में सब प्राणी निर्वैर होते हैं। सू०

टीका ३५ (१) सभी यम तथा नियम समाधि द्वारा या उसके निकटस्थ ध्यान द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं। ईश्वर-प्रणिधान की प्रतिष्ठा तथा समाधि सहजन्मा हैं। हिंसादि वितर्क भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से ध्यान बल से ही लक्ष्य होते हैं और ध्यान बल से ही वे चित्त से विदूरित होते हैं। उच्च ध्यान ही यमनियम की प्रतिष्ठा का हेतु होता है।

बहुतों का विचार है कि पहले यम, फिर नियम, इत्यादि क्रम से योग का

साधन करना पड़ता है।[1] यह सम्पूर्ण भ्रान्ति है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारानुकूल धारणा का अभ्यास पहले से ही करना चाहिए; धारणा पुष्ट होने से ध्यान बनता है और उसके बाद ध्यान ही समाधि बन जाती है। साथ ही साथ यम, नियम आदि प्रतिष्ठित तथा आसन आदि सिद्ध होते रहते हैं।

यमनियम की प्रतिष्ठा का अर्थ है वितर्कसमूह की अप्रसवधर्मता। जब हिंसादि वितर्क चित्त में स्वतः या किसी उद्बोधक हेतु से पुनः नहीं उठते, तभी अहिंसा आदि प्रतिष्ठित हुए हैं—ऐसा कहा जा सकता है।

मेस्मेरिज्म् विद्या से इच्छाशक्ति का सामान्य उत्कर्ष करके मनुष्य और जानवरों को वशीकृत किया जा सकता है। जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी उत्कृष्ट हो चुकी है कि वे उसके द्वारा स्वप्रकृति से हिंसा को सम्पूर्णतया दूर कर चुके हैं, उनकी सन्निधि में प्राणीगण उनके मनोभाव से भावित होकर हिंसा छोड़ देंगे, इसमें संदेह नहीं हो सकता।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः; स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति; अमोघास्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

३६। सत्य प्रतिष्ठित होने पर (१) वाक्य क्रियाफल के आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है। सू०

भाष्यानुवाद—'धार्मिक हो जाओ' कहने से धार्मिक होता है, 'स्वर्ग प्राप्त करो' कहने से स्वर्ग प्राप्त करता है। सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति का वाक्य अमोघ होता है।

टीका ३६ (१) सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न होता है। जिनके वाक्य और मन सदा ही यथार्थ-विषयक होते हैं, जो प्राण-रक्षार्थ भी मिथ्या कहने का विचार नहीं करते, उनकी वाक्यवाहित इच्छा-

---

१. इस विचार का वशवर्ती होकर ही Woods महोदय ने २।२९ भाष्यगत 'एतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च यथाक्रमं वक्ष्यामः' का अनुवाद इस रूप से किया है—"The following up of these [eight aids] must be performed in succession, and what they are we shall describe". भाष्यवाक्यगत 'यथाक्रमम्' का अर्थ है—२।२९ सूत्र में जिस क्रम से योगाङ्गों के नाम लिए गए हैं, उस क्रम के अनुसार (अनुष्ठान एवं स्वरूप कहे जायेंगे)। [सम्पादक]

शक्ति अमोघ होगी, यह असंदिग्ध है। Hypnotic suggestion[१] द्वारा रोग, मिथ्यावादित्व, भयशीलता प्रभृति दूर हो जाते हैं; हमने भी ऐसी परीक्षा की है। उस क्रिया द्वारा जिस प्रकार वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होता है और उसके रोगादि दूर होते हैं, उसी प्रकार परमोत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न होकर सरल अरुद्ध नल में जलप्रवाह के समान सरल सत्य वाक्य-द्वारा वाहित होकर श्रोता के हृदय पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल होते हैं और उसके विरुद्ध भाव दुर्बल। इस प्रकार 'धार्मिक हो जाओ' कहने से धार्मिक प्रकृति का आपूरण होकर श्रोता धार्मिक बनता है। 'जल मिट्टी हो' इस प्रकार का वाक्य सत्यप्रतिष्ठा द्वारा सिद्ध नहीं होता। अतः सत्यप्रतिष्ठ योगी अपनी क्षमता के बहिर्भूत व्यर्थ संकल्प नहीं करते हैं। जो वाक्यार्थ समझते हैं उन प्राणियों के ऊपर सत्यप्रतिष्ठाजनित शक्ति काम करती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

३७। अस्तेय की प्रतिष्ठा होने से सर्व रत्न उपस्थित होते हैं। सू०

भाष्यानुवाद— सर्वदिक्स्थित सभी रत्न इनके पास उपस्थित होते हैं (१)।

टीका ३७ (१) अस्तेय की प्रतिष्ठा द्वारा साधक का ऐसा निःस्पृहभाव मुखादि से विकीर्ण होता है कि उसको देखने से ही प्राणी उन्हें अतिमात्र विश्वासयोग्य मानते हैं और इस कारण दानी व्यक्ति अपनी-अपनी अच्छी वस्तुएँ उन्हें भेंट कर अपने को कृतार्थ समझते हैं। इस प्रकार के योगी के पास (योगी अनेक स्थानों का पर्यटन करे तो) नानादिक्स्थित रत्न (अच्छी-अच्छी वस्तुएँ) उपस्थित होते हैं। योगी के प्रभाव से मुग्ध होकर उनको परम आश्वासस्थल जान कर चेतन रत्नसमूह स्वयं उनके पास आ सकते हैं, पर अचेतन रत्नसमूह दाताओं के द्वारा ही उपस्थापित होते हैं। जिस जाति में जो उत्कृष्ट होता है, वही रत्न कहलाता है।

---

१. इसका स्वरूप—A mental process which results in the uncritical acceptance, and realization, in act or belief, of ideas arising in the mind, as the effect of the words, attitudes, or acts of other person, or under certain conditions dependent on process in the individual's own mind (James Drever : A Dictionary of Psychology. p. 287). [सम्पादक]

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

३७। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्यलाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—जिसकी प्राप्ति से अप्रतिघ गुणसमूह (१) (अर्थात् अणिमादि) उत्कर्ष पाते हैं और सिद्ध (ऊहादि-सिद्धि से सम्पन्न) शिष्यों के हृदय में ज्ञान आधान करने में समर्थ होते हैं।

टीका—३८ (१) अप्रतिघ गुण—प्रतिघातशून्य वा व्याहृतिशून्य ज्ञान, क्रिया और शक्ति अर्थात् अणिमा आदि। अब्रह्मचर्य से शरीर के स्नायु आदि सब की सारहानि होती है। वृक्षादि भी फलित होने के बाद निस्तेज होते हैं—यह देखा जाता है। ब्रह्मचर्य द्वारा सारहानि रुद्ध हो जाने के कारण वीर्यलाभ होता है। उससे क्रमशः अप्रतिघ गुण का उपचय होता है और ज्ञानादिलाभ में सिद्ध होकर उस ज्ञान को शिष्य के हृदय में संचारित करने की सामर्थ्य होती है। अब्रह्मचारी का ज्ञानोपदेश शिष्य के हृदय में संस्थित नहीं हो जाता, दुर्बल धानुष्क द्वारा प्रक्षिप्त शर की तरह वह केवल चर्ममात्र को विद्ध करता है।

इन्द्रियकार्य-मात्र से विरत रहकर आहार निद्रादिपरायण होकर जीवन बिताने से ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नहीं होती। स्वाभाविक नियम से देहियों में जो देहबीज उत्पन्न होता है, धृत्ति-संकल्प, आहारनिद्रादि का संयम तथा काम्य-विषयक-संकल्प-त्याग द्वारा उसे रुद्ध करने से ही ब्रह्मचर्य आचरित और सिद्ध होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—अस्य भवति। कोऽहमासम् कथमहमासम्, किंस्विदिदम्, कथंस्विदिदम्, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति; एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्त्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः॥ ३९॥

३९। अपरिग्रहस्थैर्य से जन्मकथन्ता का ज्ञान होता है॥ सू०

भाष्यानुवाद—इस योगी को (१)। मैं कौन था और किस प्रकार था ? यह शरीर क्या है ? कैसे यह हुआ ? भविष्यत् में क्या क्या होऊँगा ? किस प्रकार होऊँगा ? (इसका नाम जन्मकथन्ता है)। योगी को इस प्रकार अतीत, भविष्यत् और वर्त्तमान के आत्मभाव की जिज्ञासा यथास्वरूप ज्ञानगोचर होती है। पूर्वलिखित सिद्धियाँ यमस्थैर्य में प्रादुर्भूत होती हैं।

टीका ३९ (१) शरीर के भोग्य विषय में अपरिग्रह-द्वारा तुच्छता-ज्ञान होने से शरीर भी परिग्रहस्वरूप है, ऐसा जान पड़ता है। अतएव विषय और

शरीर से मन का अलगाव होता है। इस पृथक् भाव का ध्यान करने से जन्म-कथन्ता-सम्बोध होता है। शरीर तथा विषय के साथ घनिष्ठता-जनित मोह ही पूर्वापर-ज्ञान का प्रतिबन्धक है। शरीर को सम्यक् स्थिर और निश्चेष्ट करने पर जिस प्रकार शरीर-निरपेक्ष दूरदर्शनादिज्ञान होते हैं उसी प्रकार भोग्य विषय के साथ शरीर भी 'परिग्रहमात्र है' ऐसी ख्याति होने पर आत्मा (निज) के पृथक्त्व का बोध तथा शारीर मोह से ऊपर हो जाने के कारण जन्मकथन्ता का ज्ञान होते हैं।

भाष्यम्—नियमेषु वक्ष्यामः—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किंच परैरसंसर्गः, कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

भाष्यानुवाद—नियम की सिद्धियाँ कहेंगे—

४०। शौच से अपने शरीर में जुगुप्सा या घृणा एवं पर के साथ असंसर्ग रूप वृत्ति सिद्ध होती हैं। सू०

अपने शरीर में जुगुत्सा या घृणा होने से शौचाचरणशील योगी कायदोष-दर्शी और शरीर में प्रीतिशून्य होते हैं। दूसरों के साथ संसर्ग करने में अनिच्छा होती है, (क्योंकि) कायस्वभाव-दर्शी और स्वकीय शरीर में हेयता-बुद्धि-युक्त व्यक्ति अपने शरीर को मिट्टी, जल आदि से क्षालन करते हुए भी जब शुद्धि नहीं देख पाते, तब अत्यन्त मलिन परकाय के साथ कैसे संसर्ग करेंगे ? (१)।

टीका ४० (१) स्वशरीर का शोधन करते-करते स्वशरीर में जुगुप्सा तथा पराये शरीर के साथ संसर्ग में अरुचि होती है। जानवर खाने का अभिनय करके तथा चाट कर प्यार जताते हैं। शौच द्वारा ऐसा पाशव प्रेम हट जाता है। मैत्री-करुणादि योगी के प्रेम हैं, वे इन्द्रियस्पृहा (sensuality) से शून्य हैं। स्त्री-पुत्रादि के आसंग की लिप्सा शौचप्रतिष्ठा द्वारा सम्यक् दूर हो जाती है।

भाष्यम्—किंच।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भवन्तीति वाक्यशेषः। शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवति। इत्येतच्छौच-स्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

भाष्यानुवाद—इसके अतिरिक्त—

४१। सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, ऐकाग्र्य, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शनयोग्यत्व। सू०

भाष्यानुवाद—सिद्ध होते हैं, यह सूत्रवाक्य का शेष है। जो शुचि है उसकी सत्त्वशुद्धि अर्थात् उसके अन्तःकरण की निर्मलता होती है, उससे (सत्त्वशुद्धि से) सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति या स्वतः आनन्द का लाभ होता है। सौमनस्य से ऐकाग्र्य होता है; ऐकाग्र्य से इन्द्रियजय होती है; इन्द्रियजय से बुद्धिसत्त्व की आत्मदर्शन-क्षमता होती है (१)। ये सब शौचस्थैर्य से प्राप्त होते हैं।

टीका ४१ (१) मद-मान आसंगलिप्सादि-दोष मन से सम्यक् दूर होने पर मन में शुचिता या अपने तथा पराये शरीर पर जुगुप्सावश शरीर से विविक्तता का बोध होता है; शारीरभाव-द्वारा अकलुषित यह अवस्था ही आभ्यन्तर शौच है। आभ्यन्तर शौच से चित्त की शुद्धि या मदमानादि दूषित विक्षेपमल की अल्पता होती है, उससे चित्त में सौमनस्य या आनन्दभाव (शरीर में भी सात्त्विक स्वच्छन्दता) आता है। सौमनस्य के बिना एकाग्रता की सम्भावना नहीं होती। एकाग्रता के बिना इन्द्रियातीत आत्मा का दर्शन भी सम्भव नहीं होता।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—तथा चोक्तम्—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्"॥ इति। (शान्ति० १७४।४६, वायु पु० ९३।१०१) ॥ ४२ ॥

४२। सन्तोष से अनुत्तम सुख का लाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—इस पर उक्त हुआ है—"इहलोक में काम्य-वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के षोड़श भाग के एक भाग के समान भी नहीं है"।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥ सू०

४३। तप के आचरण से अशुद्धि का क्षय होने के कारण कायेन्द्रिय-सिद्धि होती है। सू०

भाष्यानुवाद—तप सम्पाद्यमान होने पर अशुद्धिजनित आवरणमल को नष्ट कर देता है। उस आवरणमल का अपगम होने पर कायसिद्धि जैसे अणिमादि,

तथा इन्द्रियसिद्धि जैसे दूर से श्रवण-दर्शनादि उत्पन्न होती हैं (१)।

टीका ४३ (१) प्राणायाम आदि तपस्या-द्वारा शरीर की वशवर्त्तितारूप अशुद्धि प्रधानतः दूर हो जाती है। शरीर का वशीभाव दूर होने से (क्षुत्पिपासा, स्थानासन, श्वासप्रश्वास आदि कायधर्म-द्वारा अनभिभूत होने से) तज्जनित आवरणमल भी दूर होता है। उस समय शरीरनिरपेक्ष चित्त अव्याहत इच्छा-शक्ति के प्रभाव से कायसिद्धि तथा इन्द्रियसिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। योगाङ्ग-तपस्या को योगीगण सिद्धि की ओर प्रयुक्त नहीं करते, परमार्थ ही उनका लक्ष्य होता है।

विनिद्रता, निश्चलस्थिति, निराहार, प्राणरोध आदि तपस्या मानुष-प्रकृति के विरुद्ध और दैव सिद्ध-प्रकृति के अनुकूल हैं। अतः उनसे कायेन्द्रिय-सिद्धि हो जाती है। यही कारण है कि ऐसी तपस्या से हीन, पर विवेक-वैराग्य के अभ्यासशील ज्ञानयोगियों को सिद्धि नहीं भी हो सकती, किन्तु विवेकसिद्धि होने से समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है; तब इच्छा करने पर उस योगी को विवेकजज्ञान (३।५२ देखिए) नामक सिद्धि हो सकती है। किन्तु विवेकी योगी को ऐसी इच्छा होने की संभावना नहीं होती। अतएव ऐसे ज्ञानयोगियों को कायेन्द्रिय-सिद्धि न होने पर भी कैवल्य सिद्ध हो जाता है। [३।५५ (१) देखिए]

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्त्तन्त इति ॥ ४४ ॥

४४। स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ मिलन होता है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योगी को दृष्टि-गोचर होते हैं और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है।

टीका ४४ (१) साधारण अवस्था में जप करने के समय अर्थभावना ठीक नहीं रहती। जापक कभी-कभी निरर्थक वाक्य उच्चारण करता रहता है और मन विषयान्तर में दौड़ता रहता है। स्वाध्याय-स्थैर्य होने पर बहुकाल तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है। ऐसी प्रबल इच्छा के साथ देवादि की भावना करने से वे दर्शन देंगे ही, यह असंदिग्ध है। कोई शायद कुछ क्षणों तक कातर होकर इष्टदेव का स्मरण करता है, पर कुछ क्षणों के बाद मुख में इष्टदेव का नामजपमात्र रह गया और मन इधर-उधर की बातें सोचने लगा—इस प्रकार के स्मरण-चिन्तन से विशेष फल नहीं मिलता।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च, ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

४५। ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। सू०

भाष्यानुवाद—ईश्वर में सर्वभावार्पित योगी को समाधिसिद्धि होती है (१), जिसके द्वारा सभी अभीष्ट विषयों को—जो देहान्तर, देशान्तर या कालान्तर में हो चुके हैं या हो रहे हैं—योगी यथार्थरूप से जान सकते हैं। अतः उनकी प्रज्ञा यथाभूत-विषय को जानती है।

टीका ४५ (१) अर्थात् ईश्वरप्रणिधान यथानियम आचरित होने पर उसके द्वारा समाधिसिद्धि सुखपूर्वक होती है। अन्यान्य यमनियम दूसरे प्रकार से समाधि के सहायक होते हैं; पर ईश्वर-प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना-स्वरूप है। वह भावना प्रगाढ़ होकर शरीर को निश्चल (आसनस्थ) और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है। 'ईश्वरार्थ सर्वभावार्पण' का अर्थ है–भावना द्वारा ईश्वर में अपने को निमग्न रखना।

अज्ञ लोग शङ्का करते हैं कि यदि ईश्वर-प्रणिधान ही समाधिसिद्धि का हेतु हो तो अन्य योगाङ्ग व्यर्थ हैं। यह शङ्का निःसार है। असंयत-अनियत होकर दौड़ने-फिरने से या विषयज्ञान-जनित विक्षेप काल में समाधि नहीं होती। समाधि का अर्थ है ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था; ध्यान है धारणा की एकतानता। अतः समाधिसिद्धि कहने से ही समस्त योगाङ्ग कथित हो जाते हैं। किन्तु अन्य ध्येय ग्रहण न कर पहले से ही साधक यदि ईश्वर-प्रणिधान-परायण हो तो सहज रूप-से ही समाधि सिद्ध हो जाती है। यही तात्पर्य है। समाधिसिद्धि होने से सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग-क्रम से कैवल्यलाभ होता है, यह भाष्यकार कह चुके हैं।

यमनियम में किसी एक के नष्ट होने पर सभी व्रतरूप नियम नष्ट हो जाते हैं। शास्त्रोक्ति है—"**ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं तपो दमः। सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः। एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते**" ॥ (**कूर्मपुराण** २।११।६९–७०)।

भाष्यम्—उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः; आसनादीनि वक्ष्यामः। तत्र—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

तद् यथा पद्मासनम्, वीरासनम्, भद्रासनम्, स्वस्तिकम्, दण्डासनम्, सोपाश्रयम्, पर्यङ्कम्, क्रौञ्चनिषदनम्, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनम्, समसंस्थानम्, स्थिरसुखं यथासुखञ्च इत्येवमादीति ॥ ४६ ॥

भाष्यानुवाद—सिद्धियों के साथ यमनियम उक्त हुए; अब आसनादि कहेंगे।

४६। निश्चल और सुखावह (उपवेशन) ही आसन है। सू०

जैसे—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान—ये सब स्थिरसुख अर्थात् यथासुख होने से आसन कहे जाते हैं (१)।

टीका ४६ (१) पद्मासन प्रसिद्ध है। इसमें बाँये ऊरु के ऊपर दायाँ पैर तथा दायें उरु के ऊपर बायाँ पैर रखकर रीढ़ को सीधा कर बैठना होता है। वीरासन अर्धपद्मासन है; अर्थात् इसमें एक पांव ऊरु के ऊपर और अन्य ऊरु के नीचे रहता है। भद्रासन में दोनों पैरों के तलवे वृषण के समीप एकत्र कर उनके ऊपर दोनों हथेली संपुटित करके रखना चाहिए। स्वस्तिक-आसन में एक-एक पैर का पत्ता दूसरी ओर के जांघ और ऊरु के बीच में आबद्ध कर सीधे बैठना चाहिए। दण्डासन में पैर फैलाकर बैठना एवं पैरों के गुल्फ और उँगली को जोड़कर रखना चाहिये। सोपाश्रय योगपट्टक के साथ उपवेशन। योगपट्टक=पृष्ठ और जानु को घेरनेवाला वलय के आकार का दृढ़ वस्त्र[1]। पर्यङ्क आसन[2] में जानु और बाहु फैलाकर शयन करना चाहिए; इसे शवासन भी कहते हैं। क्रौञ्चनिषदन आदि निर्दिष्ट पशु-पक्षियों के उपवेशनभाव को देखकर ज्ञातव्य हैं। दोनों पैरों की पार्ष्णि और अग्रभाग का आकुञ्चन करके परस्पर संपीड़नपूर्वक उपवेशन करना समसंस्थान कहलाता है।

---

१. 'योगपट्ट' का जो अर्थ ग्रन्थकार ने दिखाया है, वह प्रसिद्ध है। Monier Williams के कोश में भी यही अर्थ कहा गया है। कुछ लोग कहते हैं कि योगपट्ट काष्ठनिर्मित यन्त्रविशेष है (चौगान नाम से साधुओं में प्रसिद्ध है) जिसको कक्ष में लगाकर साधु बैठते हैं (पूर्णचन्द्र वेदान्तचुञ्चुकृत बंगला टीका)। **[सम्पादक]**

२. पर्यङ्क आसन की ग्रन्थकारकृत व्याख्या तत्त्ववैशारदी-विवरणादि टीकानुसारी है। ध्यानकारी शिव को लक्ष्यकर कालिदास ने 'पर्यङ्कबन्धस्थित-पूर्वकाय' कहा है (३।४५)। टीकाकार मल्लिनाथ पर्यङ्कबन्ध का अर्थ वीरासन समझते हैं। मल्लिनाथ के इस कथन का मूल अन्वेष्य है। प्रसंगतः हम पर्यङ्क-आसन के विषय में मातङ्ग के वाक्य उद्धृत कर रहे हैं, जिनसे इस आसन तथा योगपट्ट का स्वरूप स्पष्ट होगा—

सभी प्रकार के आसनों में मेरुदण्ड या रीढ़ को सीधा रखना चाहिए। श्रुति भी कहती है "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्" (श्वेताश्वतर २।८); अर्थात् वक्ष, ग्रीवा और सिर उन्नत रहना चाहिए, साथ ही आसन स्थिर तथा सुखावह होना चाहिए। जिसमें किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट हो या शरीर में अस्थैर्य की सम्भावना रहे, वह योगाङ्गभूत आसन नहीं है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनम्, येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तयतीति ॥ ४७ ॥

४७। प्रयत्नशैथिल्य एवं अनन्तसमापत्ति द्वारा ॥ सू०

भाष्यानुवाद—आसन सिद्ध होता है—यह सूत्रवाक्य का शेष है। प्रयत्नोपरम से आसनसिद्धि होती है जिससे अङ्गमेजय (अङ्गकम्पनरूप समाधि-विघ्न) न हो ; अथवा अनन्त में **समापन्न** चित्त आसनसिद्धि को निष्पन्न करता है (१)।

टीका ४७ (१) आसनसिद्धि अर्थात् शरीर की सम्यक् स्थिरता तथा सुखावहता प्रयत्नशैथिल्य और अनन्तसमापत्तिद्वारा होती है। प्रयत्न-शैथिल्य का अर्थ है—शव के समान शरीर का निष्प्रयत्न-भाव। आसन करके शरीर (हाथ-पैर) को इस प्रकार निष्प्रयत्न भाव से रखना चाहिए कि शरीर कुछ भी वक्र न हो। ऐसा करने से स्थैर्य आ जाता है और पीड़ा-बोध कम होकर आसन-जय होती है। चित्त को भी अनन्त में या चतुर्दिक् व्यापी शून्यवद्भाव में समापन्न करने पर आसन सिद्ध होता है। पहले पहल कुछ कष्ट न करने से आसन सिद्ध नहीं होता।

पर्यङ्कयोगपट्टेन बध्नीयात् पृष्ठयोगतः।
आकुञ्च्य जानुनी सम्यक् पादं कृत्वा तु दक्षिणम् ॥
बाह्यतो वामजङ्घायां वामं सव्यादधो बहिः।
किञ्चिद् विनिर्गतं कृत्वा सन्तिष्ठेन्नास्य वै कटिम् ॥
पर्यङ्कमिति विख्यातमासनं योगसिद्धिदम्।

(योगचिन्तामणि पृ. १५३ में उद्धृत; श्लोकों का पाठ ईषद् भ्रष्ट है)। इसी ग्रन्थ में पृ. १५४ में योगपट्टासन का भी विवरण दिया गया है। [सम्पादक]

सदा ही शरीर को स्थिर तथा प्रयत्नशून्य रखने का अभ्यास करने से आसन में भी सहायता होती है। स्थिर होकर आसन करते-करते बोध होगा कि मानों शरीर भूमि के साथ जम कर एक हो गया है। और भी अधिक स्थैर्यलाभ होने से शरीर का अस्तित्व ही नहीं जान पड़ेगा। 'मेरा शरीर शून्यवत् होकर अनन्त आकाश में मिल गया है, मैं व्यापी आकाश के समान हूँ' इस प्रकार की भावना ही अनन्त-समापत्ति है।[१]

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

४८। उससे द्वन्द्वाभिघात नहीं होता। सू०

भाष्यानुवाद—आसन-जय के कारण शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों द्वारा (साधक) अभिभूत नहीं होता (१)।

टीका ४८ (१) शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि से आसनजयी योगी अभिभूत नहीं होते हैं। आसनस्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने पर बोध-शून्यता (anaesthesia) आ जाती है, उससे शीतोष्ण लक्षित नहीं होते। क्षुधा और पिपासा के स्थानों पर भी उस प्रकार की स्थैर्यभावना प्रयोग करने से वे भी बोधशून्य हो जाते हैं। वस्तुतः पीड़ा एक प्रकार की चञ्चलता है, जो स्थैर्य द्वारा अभिभूत होती है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कौष्ठ्यस्य वायो निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

४९। यह (आसनजय) होने पर श्वासप्रश्वास का जो गतिविच्छेद किया जाता है, वही प्राणायाम है। सू०

भाष्यानुवाद—आसन-जय होने पर श्वास या बाह्य वायु का आचमन

---

१. ग्रन्थकार स्वामीजी ने अनन्तसमापत्ति की जो व्याख्या की है, वही योगमार्ग के अनुसारी है; वाचस्पति की व्याख्या (अनन्त=सर्परूपी अनन्त) योगाभ्यास की दृष्टि में व्यर्थ है। अनन्तनाग वस्तुतः रूपक है, पर वाचस्पति ने इस दृष्टि से नहीं सोचा। अधुनाप्रकाशित विवरणटीका में अनन्तसमापत्ति की व्याख्या में कहा गया है—"अनन्तं विश्वम्, अनन्तभाव आनन्त्यम्। तस्मिन् समापन्नं व्याप्य विश्वभावं स्थितं चित्तमासनं निर्वर्तयति द्रढयति"। [सम्पादक]

तथा प्रश्वास या कौष्ठ्य[1] वायु का निःसारण, इन दोनों की गतियों का जो विच्छेद है; अर्थात् उभयाभाव है, वही (एक) प्राणायाम है (१)।

टीका ४९ (१) हठयोग आदि में जो रेचक, पूरक और कुम्भक उल्लिखित हैं, योग का प्राणायाम ठीक वैसा नहीं है। व्याख्यानकारों ने उन अप्राचीन रेचकादि के साथ इसे मिलाने का प्रयत्न किया है, पर यह संगत नहीं है।

श्वास लेकर फिर प्रश्वास न करने से श्वास-प्रश्वास का जो गति-विच्छेद होता है वह एक प्रकार का प्राणायाम है। उसी प्रकार प्रश्वास (वायु-रेचन) कर श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद करने से भी एक अन्य प्रकार का प्राणायाम होता है। पूरकान्त अथवा रेचकान्त जो भी प्रकार हो, गतिविच्छेद करना ही एक प्रकार का प्राणायाम है।

परम्पराक्रम से इस प्रकार के एक-एक प्राणायाम का अभ्यास करना पड़ता है। **'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्याम्'** इत्यादि सूत्र में रेचकान्त प्राणायाम का विवरण दिया गया है।

आसनसिद्ध होने पर प्राणायाम होता है। सम्यक् आसन जय न होने पर भी आसनकालीन शारीरिकस्थैर्य और मानसिक शून्यवत् भावना अथवा अन्य किसी समापन्न भाव के अनुभूत होने पर तत्पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं होता। प्रत्येक प्राणायाम क्रिया में जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद होता है, उसी प्रकार शरीर की स्पन्दनहीनता तथा मन की एकविषयता यदि रक्षित न हो तो वह समाधि का अङ्गभूत प्राणायाम नहीं होता। अतः सर्वप्रथम आसन के साथ एकाग्रता का अभ्यास करना आवश्यक है।

ईश्वर-भाव, देह-मन का शून्य भाव, आध्यात्मिक मर्मस्थान में ज्योतिर्मय भाव आदि किसी एक भाव में एकाग्रता का अभ्यास करने के बाद, श्वास-प्रश्वास के साथ उस एकाग्रता को मिलने का अभ्यास करना पड़ता है, अर्थात् प्रत्येक श्वास और प्रश्वास में वह एकाग्र भाव मानों उदित रहे, श्वासप्रश्वास ही मानों उस एकाग्रभाव को उदित करने के कारण हों, इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के साथ स्थैर्य-संयोजन का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यस्त

---

१. यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिए कि श्वास-वायु फुप्फुस के बाहर नहीं जाता; वह फुप्फुस में ही रहता है। (श्वास-प्रश्वास-क्रिया के साथ उदर के संकोच प्रसारण होते हैं— यह दूसरी बात है)। अतः प्राणायाम के प्रसंग में कोष्ठ का अर्थ उदर न होकर फुप्फुस ही होगा। फुप्फुस १५ कोष्ठाङ्गों में अन्यतम है, अतः कोष्ठ शब्द का प्रयोग फुप्फुस के लिए हो सकता है। भाष्यगत 'कौष्ठ्य' का अर्थ है—'कोष्ठगत'। [सम्पादक]

होने से गतिविच्छेद का अभ्यास करना पड़ता है। गतिविच्छेदकाल में भी उस एकाग्रभाव को अचल रखना पड़ता है। जिस प्रयत्न से श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद किया जाए उसी प्रयत्न से 'चित्त के उस स्थिर एकाग्रभाव को मानों पकड़ा हुआ हूँ' ऐसी भावना द्वारा उसे (चित्तस्थैर्य को) अचल रखना पड़ता है। अथवा मानों 'आभ्यन्तरिक दृढ़ आलिङ्गन सहित श्वास-रोधप्रयत्न द्वारा ही ध्येय विषय को पकड़ा हुआ हूँ,' ऐसी भावना करनी पड़ती है। जब तक श्वासप्रश्वास का गतिविच्छेद रहता है, तब तक चित्त का भी यदि गतिविच्छेद रहे, तो वह एक यथार्थ प्राणायाम हुआ। परम्पराक्रम से उसी का साधन करके धारणादि का अभ्यास करना पड़ता है। परन्तु समाधि में श्वासप्रश्वास सूक्ष्मीभूत होकर अलक्ष्य हो जाते हैं अथवा सम्यक् रुद्ध होते हैं।

सूत्र का अर्थ यह है—वायु की श्वासरूप जो आभ्यन्तर गति एवं प्रश्वासरूप जो बहिर्गति हैं उनका विच्छेद ही प्राणायाम होता है; अर्थात् श्वासगति तथा प्रश्वासगति का रोध करना ही प्राणायाम है। इस गतिरोध के भेद आगामी सूत्र में प्रदर्शित हुए हैं।

भाष्यम्—स तु—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति; यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्येत तथा द्वयोर्युगपद् भवत्यभाव इति।

त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः—इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः—क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। संख्याभिः परिदृष्टाः—एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः; एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

भाष्यानुवाद—वह (प्राणायाम)—

५०। बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति होता है। (ये तीन फिर) देश, काल तथा संख्याद्वारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं। (१)। सू०

जिसमें प्रश्वासपूर्वक गत्यभाव है वह बाह्यवृत्तिक (प्राणायाम) है; जिसमें श्वासपूर्वक गत्यभाव है वह आभ्यन्तर-वृत्तिक है। तृतीय स्तम्भ-वृत्तिक है उसमें उभयाभाव (अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर-वृत्तियों का अभाव) होता है; वह

एककालीन प्रयत्न-द्वारा होता है। जिस प्रकार तप्त प्रस्तर पर न्यस्त जल सब ओर से संकुचित होता है उसी प्रकार (तृतीय वा स्तम्भवृत्ति में) अन्य दो वृत्तियों का युगपत् अभाव होता है।

ये तीन वृत्तियाँ भी पुनः देशपरिदृष्ट होती हैं—देश अर्थात् जितनी दूर तक उसका विषय है। कालद्वारा परिदृष्ट अर्थात् क्षणसमूह के परिमाण द्वारा नियमित। संख्या द्वारा परिदृष्ट–जैसे, इतने श्वासप्रश्वास द्वारा प्रथम उद्‌घात। इस प्रकार निगृहीत होने पर इतनी संख्या द्वारा द्वितीय उद्‌घात, उसी प्रकार तृतीय उद्‌घात; इस प्रकार मृदु, मध्य तथा तीव्र भेद होते हैं। यह संख्या-परिदृष्ट प्राणायाम है; इस प्रकार प्राणायाम अभ्यस्त होने पर दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है।

टीका ५० (१) प्राचीन काल में, रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन शब्द अपने वर्त्तमान पारिभाषिक अर्थों में व्यवहृत नहीं होते थे। यदि ऐसा होता तो सूत्रकार अवश्य ही उन शब्दों का उल्लेख करते। ये तीन शब्द बाद में प्रचलित हुए हैं।

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति—ये तीन रेचक, पूरक और कुम्भक नहीं हैं। भाष्यकार ने बाह्य वृत्ति को "**प्रश्वासपूर्वक गत्यभाव**" कहा है। यह रेचक नहीं, क्योंकि रेचक प्रश्वास-विशेष-मात्र होता है। वास्तव में परवर्ती-काल के व्याख्याकारों ने अप्राचीन प्रणाली के साथ इन्हें मिलाने की चेष्टा की हैं; परन्तु यह सुसंगत नहीं हो सका है।

गत्यभाव शब्द का अर्थ 'स्वाभाविक गत्यभाव' करने से रेचक-पूरकादि के साथ बाह्यवृत्ति आदि का किसी प्रकार मेल होता है। रेचनपूर्वक वायु का बहिःस्थापन या श्वासग्रहण न करना बाह्यवृत्ति है, यह रेचक तथा कुम्भक दोनों है। आभ्यन्तर वृत्ति भी उसी प्रकार पूरक तथा कुम्भक होती है। रेचकान्त कुम्भक तान्त्रिक और पूरकान्त कुम्भक वैदिक प्राणायाम हैं, ऐसा कई जगह कहा गया है (**पूरणादि–रेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकः। रेचनादि–पूरणान्तः प्राणायामस्तु तान्त्रिकः॥**) फलतः 'बाह्यवृत्ति' आदि केवल आधुनिक रेचक, पूरक या कुम्भक नहीं होते हैं।

रेचकादि के प्राचीन लक्षण इस योगदर्शनोक्त प्रणाली के अनुरूप हैं; यथा—"**निष्क्राम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन। निरुध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः॥ बाह्ये स्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्। नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महानिरोधः॥ न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्। सुनिश्चलं**

धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥"[1] ये ही बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भवृत्ति हैं।

जिस प्रयत्नविशेष द्वारा स्तम्भवृत्ति साधी जाती है वह सर्वाङ्ग का आभ्यन्तरिक संकोचजनित प्रयत्न है। उस प्रयत्न के अत्यन्त दृढ़ होने पर उसके द्वारा बहुत समय तक रुद्धश्वास होकर रहा जा सकता है, नहीं तो केवल श्वास रोध का अभ्यास करने से २।३ मिनट से अधिक (अविसजन वायु में श्वास लेने पर ८।१० मिनट तक भी रुद्धश्वास—रुद्धप्राण नहीं—होकर रहा जा सकता है) रुद्धश्वास होकर नहीं रहा जा सकता, यह भली भाँति समझ लेना चाहिए।

हठयोग में इस प्रयत्न को मूलबन्ध (गुदा-संकोचन), उड्डीयान बन्ध (उदरसंकोचन) और जालन्धर बन्ध (कण्ठदेश-संकोचन) कहा जाता है। खेचरीमुद्रा भी ऐसी है। उसमें जिह्वा को खींच-खींच कर क्रमशः बढ़ाना पड़ता है[1]। उस बढ़ी हुई जिह्वा को ब्रह्मतालु (Nasopharynx) में घुसाकर वहाँ के स्नायु के ऊपर दबाव या खिचाव देने से रुद्धप्राण होकर कुछ समय तक रहा जा सकता है। फलतः इन सब प्रक्रियाओं से संकोचनादि प्रयत्न-द्वारा स्नायुमण्डल निरोध की ओर उन्मुख होने के कारण रुद्धश्वास तथा रुद्धप्राण हुआ जा सकता है। आहारविशेष द्वारा तथा सम्यक् स्वास्थ्य के साथ अभ्यास करने पर स्नायु और पेशियों की सात्त्विक स्फूर्ति (बौद्ध इसे शरीर की मृदुता तथा कर्मण्यता धर्म कहते हैं[2]) होती है एवं उसी के द्वारा ऐसा दृढ़तर प्रयत्न किया जा सकता है। स्थूल तथा सुदृढ़पेशीरहित शरीर के द्वारा यह साध्य नहीं होता है, अतएव मुद्रादि प्रक्रियाओं के द्वारा पहले शरीर को दृढ़ और सम्यक् स्वस्थ करने की विधि है।

---

१. ये तीन श्लोक बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृति के हैं (यथाक्रम ८।२१, २९ तथा २०)। ये श्लोक हठयोगप्रदीपिका की ज्योत्स्ना-टीका (२।७१) में भी उद्धृत हुये हैं। ग्रन्थकार ने इन श्लोकों को ज्योत्स्नाटीका से लेकर उद्धृत किया है। मूल ग्रन्थ का पाठ कहीं कहीं स्वल्प भिन्न है, यथा—निरुच्छ्वसंस्तिष्ठति, प्रतिपूरयेत्तु स, नासाग्रचारी स्थित एव वायुः, धार्य यथाक्रमेण (द्र० बृ० यो० स्मृति का कैवल्यधाम, पूना द्वारा प्रकाशित संस्करण)। [सम्पादक]

१. खेचरी-मुद्रा पर वैज्ञानिक परीक्षण का एक विवरण Yoga पत्रिका में द्रष्टव्य है (VIII. 4)। खेचरी क्रिया का विवरण देना स्वामीजी को अभीष्ट नहीं था, अतः उन्होंने 'जिह्वा को बढ़ाने' के विषय में स्पष्ट बात नहीं कही। इसमें Frenulum linguae अथवा lower tendon of the tongue को तीक्ष्ण अस्त्रविशेष से क्रमशः काटना पड़ता है, द्र० हठयोगप्रदीपिका ३।३२–३८ घेरण्डसंहिता ३।२५–२७। [सम्पादक]

२. द्र० अभिधम्मत्थसंगहो, परि. ६। [सम्पादक]

यही हठपूर्वक या बलपूर्वक प्राणरोध का उपाय है। इससे चित्तरोध नहीं होता, परन्तु उसमें सहायता होती है। यह सिद्ध होने पर यदि कोई इसकी सहायता से धारणादि साधन कर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे तभी वह योगमार्ग में अग्रसर हो सकता है, नहीं तो कुछ काल तक मृतवत् भाव से रहने के सिवाय अन्य किसी फल का लाभ नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय से भी प्राणरोध होता है। जो ईश्वर-प्रणिधान, ज्ञानमय धारणा आदि का साधन करके चित्त को एकाग्र करते हैं, उनकी यह एकाग्रता महानन्दकर होने पर सात्त्विक निरोधप्रयत्न प्रकटित होता है; इसके द्वारा वे रुद्धप्राण हो सकते हैं। परन्तु यह एकाग्रता यदि नित्य स्थायी हो तो इसमें आनन्द-विभोर होते हुए बिना क्लेश के ही अल्पाहार अथवा निराहार द्वारा रुद्धप्राण होकर समाहित हुआ जा सकता है। **'छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप'** (शान्तिपर्व ३०१।५७) इत्यादि शास्त्रविधियाँ इसी प्रकार के साधकों के लिए हैं। विशुद्ध ईश्वरभक्ति, सात्त्विक धारणा आदि से अन्तरतम देश में जो आनन्दावेग उद्भूत होता है उसमें हृदय-द्वारा उस हृदयस्थ आनन्दभाव का मानों दृढ़ आलिङ्गन के साथ रहने के समान आवेग होता है। उस आवेग से स्नायुमण्डल में सात्त्विक संकोचवेग उद्भूत होकर प्राणरोध हो सकता है। जिस प्रकार हठप्रणाली में बाह्य से संकोचनवेग उद्भूत होता है उसी प्रकार इस प्रणाली में संकोचनवेग आभ्यन्तर में ही उद्भूत होता है।

दीर्घकाल तक रुद्धप्राण होकर रहना हो तो हठप्रणाली द्वारा आँतों से मल को सम्यक् निकालना पड़ता है, नहीं तो उसके पूतिभाव के कारण विघ्न होता है तथा उदर-संकोचन भी भलीभाँति नहीं होता। निराहार वा अल्पाहार-प्रणाली में (जिसमें केवल जल या थोड़ा दूध से मिला हुआ जल पीकर रहना पड़ता है; द्र० **'अपः पीत्वा पयोमिश्राः'–शान्तिपर्व ३००।४५**) इसकी आवश्यकता नहीं होती। [१।१९ (२) देखिए।]

प्राणरोध करने का यह प्रयत्न किसी-किसी में स्वाभाविक रहता है। वे ऐसे प्रयत्न द्वारा अल्पाधिक समय तक रुद्धप्राण रह सकते हैं। हम एक व्यक्ति के विषय में जानते हैं[१] जो प्रोथित अवस्था में १०।१२ दिन तक रह सकता

१. ग्रन्थकार स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति कौन है–यह अज्ञात है। Yoga Institute, Bombay की मासिक पत्रिका Yoga में (Vol. No. 1, Aug. 1962) एक स्वामीजी (नाम नहीं दिया गया है) के मिट्टी के अन्दर ४० घण्टों तक रहने का सचित्र विवरण मुद्रित हुआ है। तथा द्र० Studies on Shri Ramanand Yogi during his stay in an air-tight box, Indian Journal of Medical

था। उस समय वह सम्यक् बाह्यसंज्ञाहीन भी नहीं होता था, परन्तु जड़वत् रहता था। अन्य एक व्यक्ति था, जो अपनी इच्छा से एक अंग को जड़वत् कर सकता था। कहना अनावश्यक है कि इसके साथ योग का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अज्ञ लोग इसे समाधि मान लेते हैं। परन्तु समाधि तो बहुत दूर की बात है, यदि कोई तीन मास[1] तक मृत्तिका के अन्दर प्रोथित अवस्था में रहे तो भी शायद वह योगाङ्गधारणा के भी निकटवर्ती नहीं होता। योग प्रधानतः चित्त-रोध है, परन्तु शरीर-मात्र का रोध नहीं है, यह सर्वदा भलीभाँति याद रखना चाहिए। सम्पूर्ण चित्तरोध होने पर अवश्य ही शरीररोध भी होगा; किन्तु शरीररोध पूर्णतया होने पर अणुमात्र चित्तरोध नहीं भी हो सकता है।

प्रश्वासपूर्वक गति-विच्छेद करने से एक बाह्यवृत्तिक प्राणायाम होता है। श्वासपूर्वक करने से एक आभ्यन्तर प्राणायाम होता है। श्वास-प्रश्वास का प्रयत्न न कर कुछ पूरित या कुछ रेचित अवस्था में ही एक प्रयत्न से श्वास-यन्त्र को रुद्ध करना तृतीय स्तम्भवृत्ति है जिससे फुप्फुस् का वायु क्रमशः शोषित होकर कम हो जाता है। अतएव यह बोध होता हैं कि मानों समग्र शरीर का वायु सूखा जा रहा है।

उत्तम प्रस्तर में न्यस्त जलबिन्दु जिस प्रकार चारों ओर से एक साथ सूख जाता है, स्तम्भवृत्ति द्वारा भी श्वास-प्रश्वास उसी प्रकार एक साथ रुद्ध होते हैं। अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वायु को बाहर निकाल कर विधारणपूर्वक गति-विच्छेद नहीं करना पड़ता है; अथवा इस रीति से आभ्यन्तर में वायु प्रवेश करा कर विधारणपूर्वक गतिविच्छेद नहीं करना पड़ता।

प्रथमतः बाह्यवृत्ति या आभ्यन्तरवृत्ति में से किसी एक को लेकर अभ्यास करना चाहिए। सूत्रकार ने बाह्यवृत्ति के अभ्यास की प्रधानता **'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा'** (१।३४) इस सूत्र में दिखाई है। बीच-बीच में स्तम्भवृति के अभ्यास से प्राण को निगृहीत करना पड़ता है।

Research, 49 (1961) इस प्रकार की स्थिति वैज्ञानिक दृष्टि से असंभव नहीं है। शरीर के साथ संलग्न प्रकोष्ठगत वायु का ही अल्पतम व्यवहार करके (श्वासक्रिया में) हठयोगी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं—यह इस विषय की वैज्ञानिक व्याख्या है। **[सम्पादक]**

१. ग्रन्थकार ने 'तीन मास पर्यन्त पृथिवी के भीतर रहने' का जो उल्लेख उदाहरण के रूप में किया है, वह कोई अतिरञ्जित नहीं है। रणजीत सिंह के काल में जो हरिदास नामक हठयोगी थे, वे दस मास पर्यन्त पृथिवी के भीतर प्रोथित रह सकते थे (in the course of ten months he remained underground), यह Osborne ने कहा है (पृ. ४७)।

बाह्य अथवा आभ्यन्तरवृत्ति का कुछ समय तक अभ्यास होने के बाद स्तम्भवृत्ति के प्रयत्न का स्फुरण होता है। कुछ समय तक बाह्य या आभ्यन्तर-वृत्ति का अभ्यास करके दो-चार बार स्वाभाविक श्वासप्रश्वास करने पर स्तम्भ-वृत्ति का प्रयत्न आप-ही-आप स्फुरित होता है। उस प्रयत्न के बल से श्वास-यन्त्र को दृढ़ रूप से रुद्ध कर स्तम्भवृत्ति का अभ्यास करना उचित है। पहले पहल दीर्घकाल के बाद स्तम्भवृत्ति के प्रयत्न की स्फूर्ति होती है; पश्चात् यह प्रायः होता रहता है। फुप्फुस सम्पूर्ण रूप से स्फीत या संकुचित रहने से स्तम्भवृत्ति प्रायः नहीं होती है। ऐसा होने पर बाह्य-आभ्यन्तर वृत्तियाँ होती हैं।

बाह्य, आभ्यन्तर तथा स्तम्भ ये तीन प्राणायामवृत्तियाँ देश, काल और संख्या-द्वारा परिदृष्ट होकर अभ्यस्त होने से क्रमशः दीर्घ और सूक्ष्म होती हैं। उनमें देशपरिदर्शन प्रथम है। देश—बाह्य और आध्यात्मिक द्विविध हैं। नासाग्र से श्वास की गति जितनी दूर तक होती है, वह बाह्य देश है। आभ्यन्तर में हृदय तक श्वास की गति है, अतः प्रधानतः वही आध्यात्मिक देश है। हृदय से आपादतलमस्तक भी आध्यात्मिक देश है।

प्रश्वास नासाग्र से क्रमशः जितनी कम दूरी तक जाता है, उतनी दूरी का परिदर्शन करना, साथ ही प्रश्वास अल्प दूर तक ही जाए इस पर भी ध्यान देकर प्राणायाम करना बाह्यदेश-परिदृष्टि है। इससे प्रश्वास क्रमशः क्षीण होता है। अर्थात् क्रमशः मृदुतर भाव से प्रश्वास की गति का ध्यान रखकर प्राणायाम करना बाह्यदेशपरिदृष्ट प्राणायाम होता है। आध्यात्मिक देश का परिदर्शन अनुभव-द्वारा करना पड़ता है। श्वासक्रिया से वायु जब वक्ष में प्रवेश करती है, तब उस हृत्प्रदेश का अनुभव करना चाहिए। यही आध्यात्मिक देश का परिदर्शनपूर्वक प्राणायाम है।

श्वासकाल में हृदय को प्रधान कर सभी शरीर पर आभ्यन्तरिक स्पर्शानुभव मानों वायु-सा फैल गया हो और प्रश्वास-काल में फिर उपसंहृत होकर हृदय में आ गया हो, आरम्भ में इस प्रकार सर्वशरीरव्यापी (विशेष कर पादतल और करतलपर्यन्त) देश का भी परिदर्शन करना आवश्यक है। इससे नाड़ी-शुद्धि होती है अर्थात् सर्व शरीर का प्रकाशभाव अव्याहत होता है या सात्त्विक प्रकाशशील भाव उत्पन्न होता है, साथ ही सात्त्विकता-जनित सुख-बोध पूरे शरीर में होता है। इस सुखबोध के साथ प्राणायाम करने पर ही प्राणायाम में सुफल मिलता है, अन्यथा नहीं; प्रत्युत शरीर रुग्ण हो सकता है।[1]

---

१. 'शरीर रुग्ण हो सकता है' यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। योगाभ्यास (विशेषकर प्राणायाम का अभ्याम) यदि अविधिपूर्वक हो तो बुद्धिमान्द्य, बधिरता

ऐसा सुखबोध होने पर उसको लेकर स्तम्भ-आदि वृत्तियों का अभ्यास करने से सात्त्विकता और भी बढ़ जाती है तथा निरायासपूर्वक बहुत देर तक प्राणरोध किया जा सकता है। जड़ता न रहने के कारण रोध करने की शक्ति भी बहुत दृढ़ होती है।

हृदय से मस्तिष्क तक जो रक्तवहा धमनी (carotid artery) है,[१] वह भी आध्यात्मिक देश है। ज्योतिर्मय-प्रवाह के रूप में इसका परिदर्शन करना पड़ता है। इसके सिवाय मूर्ध-ज्योति भी आध्यात्मिक देश कहलाता है। प्राणायाम-विशेष में इसका भी परिदर्शन करना पड़ता है।

इन सब आध्यात्मिक देशों में चित्त रख कर (आभ्यन्तरिक स्पर्शानुभव-द्वारा) प्राणायाम करना होता है। प्रच्छर्दनकाल में बोध सर्व शरीर से हृदयदेश में उपसंहृत होकर प्रश्वास वायु की गति के साथ ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क का निम्नभाग) तक जा रहा है, ऐसे अनुभव के साथ देश-परिदर्शन करना चाहिए। आपूरण में हृदय से पूरे शरीर पर स्पर्शबोध वायुवत् फैल गया है—ऐसे अनुभव के साथ देश-परिदर्शन करना चाहिए। विधारण-प्रयत्न में हृदय को लक्ष्य कर सर्वशरीरव्यापी बोध के प्रति अस्फुट भाव से दृष्टि रखकर देश-परिदर्शन करना चाहिए।

हृदय आदि देशों की स्वच्छ आकाश-कल्प धारणा करना ही सबसे अच्छा होता है। ज्योतिर्मय धारणा करना भी बुरा नहीं। हृदयादि देशों में इष्टदेव की मूर्ति की भी धारणा हो सकती है। इस प्रकार देश-परिदर्शन करने पर प्राणायाम का गतिविच्छेदकाल दीर्घ होता है और श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होते हैं। भाष्यकार कहते हैं 'इतना इसका विषय है' इस प्रकार का परिदर्शन ही देशपरिदृष्टि है। इसका अर्थ यह है—इतना=हृदयादि आध्यात्मिक तथा बाह्य देश। इसका=श्वास, प्रश्वास, अथवा विधारण का। विषय=श्वास-

मूकता, अन्धता, स्मृतिनाश, जरा का असमय में आना आदि फल होते हैं (वायुपुराण ११।३७ आदि श्लोक द्र०)। प्राणायाम का अनुचित रीति से अभ्यास करने के कारण किसी एक व्यक्ति के पूर्णतः बधिर हो जाना रूप घटना का उल्लेख म. म. काणे जी ने किया है (H. Dh. S. vol. V. p. 1061) [**सम्पादक**]

१. सुश्रुत की जो 'मातृकासिराः' (बहुवचन में प्रयुक्त) हैं, उनमें Carotid artery (common, external, internal) का तथा internal jugular vein का अन्तर्भाव होता है। ये उन मर्मस्थानों में अन्यतम हैं, जो सद्यःमरणकारक हैं (शारीरस्थान ६।२७)। आधुनिक शारीरशास्त्र में जो artery है, आयुर्वेद में उसके लिए सिरा, धमनी तथा स्रोतः शब्द प्रयुक्त होते हैं। [**सम्पादक**]

प्रश्वास की गति और विधारण की वृत्ति (अनुभूतिपूर्वक चित्तधारण) से व्याप्त देशों का परिणाम देखते रहना ही उसका विषय होता है।

इसके बाद काल-परिदृष्टि कही जाती है। क्षण=निमेष क्रिया का चौथा भाग; क्षण की इयत्ता=इतने क्षण। उसके अवधारण-द्वारा अवच्छिन्न अर्थात् इतने काल से अविच्छिन्न श्वास, प्रश्वास और विधारण करणीय हैं। इस प्रकार लक्ष्य रखना ही कालपरिदर्शनपूर्वक प्राणायाम होता है। काल-परिदर्शन जप-द्वारा करना चाहिए। परन्तु उसके साथ काल की धारणा रखना अच्छा ही है। क्रिया द्वारा हमें काल का अनुभव होता है। शाब्दिक क्रिया-धारा में मन लगाने से काल का अनुभव स्फुट होता है। अति-द्रुत प्रणव-जप करते हुए उसी पर मन लगाकर रखने से जो एक धारा या प्रवाह-सा चलता रहता है, वही कालानुभव है। एकबार कालानुभव कर सकने पर प्रत्येक शब्द में ही (जैसे अनाहत नाद में) कालानुभव होगा। शब्द एकाकार न होने पर भी उसमें इस प्रकार की काल-धारा का अनुभव हो सकता है। अर्थात् गायत्री के उच्चारण में भी कालधारा का अनुभव हो सकता है अथवा एकतान दीर्घ रूप से एक दीर्घ-श्वासप्रश्वास-व्यापी प्रणव-उच्चारण (मन-ही-मन) करने से वैसा कालानुभव होता है। पूर्वोक्त देश-परिदर्शन तथा काल-परिदर्शन एक समय में ही अविरोध रूप से करने पड़ते हैं।

प्राणायाम किसी एक विशेष काल को व्याप्त कर तथा जितने काल तक साध्य हो उतने काल को व्याप्त कर भी किया जा सकता है। निश्चितसंख्यक प्रणवजप अथवा नियत बार गायत्री आदि मन्त्रों के जप के साथ काल स्थिर रखना चाहिए। **"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते" (बृहद्योगि-याज्ञवल्क्य ८।२)** अर्थात् **'ओम् भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भुर्भुवः स्वरोम्'**—इस मन्त्र को तीन बार पढ़ना चाहिए। किन्तु पहले जिसकी जितना सहज बोध हो, उतने समय तक श्वास, प्रश्वास और विधारण करना आवश्यक है। प्रणव-जप की संख्या रखने के लिए कई प्रणवों का एक-एक समूह बनाकर प्रणवजप करना चहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि मन-ही-मन जप करना चाहिए, नहीं तो हाथ आदि में जप करने से चित्त कुछ बहिर्मुख हो जाता है। पूर्वोक्त 'समूह-जप' इस प्रकार है–ओम् ओम्, ओम् ओम्, ओम् ओम् ओम्। एक समूह में सात बार प्रणवजप हुआ। इस प्रकार जितने समूह आवश्यक हों उतने जप करने से संख्या मन में ठीक होती जाएगी।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक श्वास-प्रश्वास का रोध कर प्राणायाम करने की विधि भी है। यह अनेक क्षेत्रों में सहज होता है। यथाशक्ति धीरे-धीरे प्रश्वास निकालने में जितना समय लगता है अथवा यथासाध्य विधारण करने में जितना समय लगता है, वही, इस क्षेत्र में, प्राणायाम-काल समझना होगा। इसमें जप की संख्या रखने की आवश्यकता नहीं है। इसमें एकमात्र दीर्घ प्रणव (प्रधानतः अर्धमात्रावाला मकार) एकतान भाव से मन ही मन उच्चरित हो सकता है एवं सहज में ही पूर्वोक्त कालानुभव हो सकता है। इस प्रकार क्षण-परम्परा से अवच्छिन्न काल का परिदर्शन करके प्राणायाम साधा जाता है।

उद्घातक्रम में प्राणायाम का जो कालावच्छेद होता है उसे संख्या-परिदृष्टि कहते हैं, क्योंकि उसमें श्वासप्रश्वास की संख्या के द्वारा काल निर्णीत होता है। स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक श्वासप्रश्वास का काल मात्रा कहलाता है। यदि एक मिनट में १५ बार श्वासप्रश्वास मान लें तो एक मात्रा ४ सेकेंड की हुई। इस प्रकार बारह मात्राओं का नाम एक उद्घात (४८ सेकंड) होता है। चौबीस मात्रा द्विः-उद्घात (या द्वितीय उद्घात) होती है। छत्तीस मात्रा का (२$\frac{२}{५}$ मिनट का) नाम तृतीय उद्घात है। **'नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः। मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः। मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥ (लिङ्गपुराण १।८।४७-४८)।**

मतान्तर में मात्राकाल १$\frac{१}{३}$ सेकंड अर्थात् पूर्वोक्त काल $\frac{१}{३}$ अंश होता है। उसमें प्रथम उद्घात ३६, द्वितीय ७२ और तृतीय १०८ मात्रा वाला होता है। उद्घात का और एक अर्थ है; यथा—"**प्राणेनोत्सर्प्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा। गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम्॥**" इसके अनुसार भोजराज ने कहा है कि "**उद्घातो नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभिहननम्।**" अर्थात् श्वासप्रश्वास रुद्ध करने पर उनके ग्रहण या त्याग के लिए जो उद्वेग होता है, वही उद्घात है।[१] विज्ञानभिक्षु उद्घात का अर्थ श्वास-प्रश्वास रोधमात्र समझते हैं।

---

१. पूर्वाचार्यों के उद्घातसम्बन्धी कुछ वचन अस्पष्टार्थक हैं। इस विषय पर सविस्तार आलोचना के लिए Yoga mīmāṁsā पत्रिका (vol II, part 3) द्रष्टव्य है। ग्रन्थकार स्वामीजी ने जो स्पष्टीकरण किया है, वह सर्वथा संगत प्रतीत होता है। भोजराज ने जो कहा है, उसका मूल देवल का वचन है जो कृत्यकल्पतरु के मोक्षकाण्ड (पृ. १७०) में उद्धृत है—प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृद् उद्गमनं मूर्धानमाहृत्य निवृत्तिश्च उद्घातः। [**सम्पादक**]

वस्तुतः ये तीनों अर्थ ही समन्वययोग्य हैं। उद्घात का अर्थ इस प्रकार है—जितने समय तक श्वास अथवा प्रश्वास का रोध करने पर वायु के त्याग या ग्रहण के लिए उद्वेग होता है, उतने समय तक का रोध ही उद्घात है। वह समय प्रथमतः १२ मात्रा या ४८ सेकंड का होता है, अतः द्वादश मात्रा से अवच्छिन्न काल ही प्रथम उद्घात होता है।

इतने इतने श्वास-प्रश्वासों के काल में यह यह उद्घात होता है, इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की संख्या के परिदर्शन के साथ निश्चित होने के कारण इसको संख्यापरिदर्शन कहा जाता है। फलतः यह संख्या पहले से ही निश्चित रहती है; प्राणायामकाल में इसका परिदर्शन करना आवश्यक नहीं होता, किन्तु कितनी सख्या का प्राणायाम करना चाहिए, कितनी संख्या में प्राणायाम को बढ़ाना है, इत्यादि रूप से भी सख्यापरिदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। हठयोग के मतानुसार दिन में चार बार और प्रत्येक बार ८० बार प्राणायाम करना चाहिये—**'शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्'** (**हठयोग-प्रदीपिका २।११**)। क्रमशः बढ़ा कर अस्सी संख्या में आना चाहिए, सावधानी से धीरे-धीरे प्राणायाम की संख्या बढ़ानी चाहिए। प्रथम उद्घात का नाम मृदु, द्वितीय उदघात का नाम मध्य, तृतीय उद्घात का नाम उत्तम प्राणायाम होता है।

इस प्रकार अभ्यस्त होने पर प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। दीर्घ का अर्थ है—दीर्घकालव्यापी रेचन वा विधारण। सूक्ष्म का अर्थ है—श्वास-प्रश्वास की क्षीणता तथा विधारण की निरायासता। नासाग्र में स्थित रूई जिससे स्पन्दित न हो ऐसा प्रश्वास सूक्ष्मता का सूचक होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥ ५१ ॥

५१। चतुर्थ प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय का आक्षेपक है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—देश, काल तथा संख्या-द्वारा बाह्य विषय (बाह्यवृत्ति) परिदृष्ट होने पर (अभ्यासपटुता से) उसे आक्षिप्त या अतिक्रान्त किया जा

सकता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर विषय अर्थात् आभ्यन्तर वृत्ति (पहले परिदृष्ट होकर अभ्यस्त होनेपर) आक्षिप्त होती है। उपर्युक्त दोनों रूपों से (अभ्यस्त होने पर ये दो वृत्तियाँ) दीर्घ तथा सूक्ष्म होती हैं। तत्पूर्वक अर्थात् उक्त रूप से अभ्यस्त बाह्य-आभ्यन्तर-वृत्तिपूर्वक भूमिजयक्रम से उन दोनों का जो एक प्रयत्न-द्वारा गत्यभाव है, वही तृतीय प्राणायाम है। यह देश, काल तथा संख्या द्वारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता है। परन्तु श्वास और प्रश्वास के विषय (देशादि) के आलोचन के साथ अभ्यासक्रम से भूमिजय होने पर आक्षेपपूर्वक अर्थात् अतिक्रमपूर्वक उन दोनों का जो गत्यभाव होता है वही चतुर्थ प्राणायाम है, वही (पूर्वसूत्रोक्त त्रिविध प्राणायाम से इस प्राणायाम को) विशेषता है।

टीका ५१ (१) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति के अतिरिक्त एक चतुर्थ प्राणायाम भी है। वह भी एक प्रकार की स्तम्भवृत्ति है। किन्तु, तृतीय स्तम्भवृत्ति से वह भिन्न है। तृतीय प्राणायाम एक प्रयत्न-द्वारा अर्थात् तुरन्त ही साधित होता है, परन्तु बाह्यवृत्ति और आभ्यन्तरवृत्ति का देशादि-परिदर्शनपूर्वक अभ्यास करके तथा उनका अतिक्रम करके चतुर्थ प्राणायाम साधा जाता है। चिरकाल तक अभ्यस्त होकर जब बाह्य और आभ्यन्तर-वृत्तियाँ अतिसूक्ष्म होती हैं तब उनका आक्षेप या अतिक्रम पूर्वक जो स्तम्भवृत्ति होती है, वही चतुर्थ स्तम्भवृत्ति है। इस स्पष्टीकरण से भाष्य को समझना सरल होगा।

यहाँ पर प्राणायाम-अभ्यास की अन्यतम पद्धति विशद कर दिखाई जा रही है। पहले आसन पर सुस्थिर होकर बैठना चाहिए। बाद में वक्ष स्थिर रख कर उदर-संचालन कर श्वास-प्रश्वास करना चाहिए। प्रश्वास या रेचक बहुत धीरे (यथाशक्ति) सम्पूर्ण रूप से करना चाहिए। उससे पूरण कुछ वेग से होगा, पर उदरमात्र को स्फीत करके ही पूरण करना होगा—यह ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार रेचन-पूरण के समय हृदय-प्रदेश में (वक्षस्थल के भीतर) स्वच्छ, आलोकित या शुभ्र, व्यापी, अनन्तवत् अवकाश की भावना करनी चाहिए। पहले कुछ दिन तक रेचनपूरण न कर केवल इस ध्यान का अभ्यास करना आवश्यक होता है। यह आयत्त होने पर उसके सहयोग से रेचन-पूरण करना ठीक होता है—मानों उस शरीर-व्यापी अवकाश में ही रेचन किया जा रहा है और उसी में मानो पूरण किया जा रहा है। शास्त्र में है, **'रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणन्तथा'** (अमृतनाद उप० ९)। [यह रुचिर शब्द कुम्भकवाची है, द्र० टीका]। मन को उसके साथ शून्यवत् करना पड़ता है। शास्त्र में भी है—

'शून्यभावेन युञ्जीयात्' (वही, ११) अर्थात् शून्य मन से शून्यवत् शरीरव्यापी स्पर्श-बोध का अनुभव करते रहना चाहिए। हृदय को उस शून्यबोध के केन्द्र-रूप से लक्ष्य करना चाहिए। पूरणकाल में वहाँ से समूचा शरीर मानों बोध से व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार की भावना करना आवश्यक है।

पहले धीरे-धीरे रेचन और स्वाभाविक पूरण-मात्र ध्यान के साथ अभ्यसनीय है। यह आयत्त होने पर बीच-बीच में बाह्यवृत्ति (अर्थात् प्रश्वास फेंककर और श्वास ग्रहण न करना) का अभ्यास करना चाहिए। इसी तरह आभ्यन्तरवृत्ति का भी अभ्यास करना चाहिए। उसमें पूरित हुआ वायु मानों संपूर्ण शरीर पर व्याप्त होकर निश्चल पूर्ण कुम्भ के समान शरीर की समस्त चञ्चलता को रुद्ध कर चुका है, ऐसा बोध करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्वास वायु फुप्फुस को छोड़कर शरीर के किसी दूसरे स्थान में नहीं जाता[1], किन्तु पूरण से फुप्फुस पूर्ण होने पर समस्त शरीर पर भी उस पूर्णता का बोध मानों व्याप्त हो गया है—इस प्रकार अनुभव होता है। ऐसे बोध की ही भावना करनी होगी। प्राणायाम के लिए शरीरमय बोध की भावना ही सिद्धि का हेतु है, इस संकेत को याद रखना चाहिए। 'वायु-द्वारा शरीर पूर्ण करना' इसका गूढ़ अर्थ यही है—यह जानना चाहिए।

पहले पहल बीच-बीच में बाह्य तथा आभ्यन्तरवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। पश्चात् आयत्त होने पर निरन्तर अभ्यास किया जा सकता है। इसके बीच-बीच में प्रथमतः स्तम्भवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। पहले कई बार स्वाभाविक रेचनपूरण कर फुप्फुस में स्वल्प वायु रहने के समय एक बार

---

१. श्वासवायु के विषय में यह कथन मानवशरीरविद्या की दृष्टि में सर्वथा सत्य है (प्राणायाम की पद्धति मनुष्यशरीर को लक्ष्यकर कही गई है)। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि व्यासभाष्य के 'कौष्ठ्यस्य वायोः निःसारणं प्रश्वासः' (२।४९) तथा 'यत् कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः (१।३१) वाक्य में 'कोष्ठगत वायु का निःसारण' कहा गया है। जब श्वासवायु फुप्फुस के अतिरिक्त कहीं जाता नहीं तब उपर्युक्त कथन कैसे संगत होता है ? उत्तर यह है कि उपर्युक्त वाक्यों में कोष्ठ का अर्थ फुप्फुस ही है, abdomen, stomach आदि नहीं हैं। कोष्ठ के १५ अवयव आयुर्वेद शास्त्र में माने गये हैं (सुश्रुत, चिकित्सा, २।९) जिनमें पुप्फुस अन्यतम है। प्रत्येक कोष्ठाङ्ग कोष्ठ भी कहला सकता है। जिन योगग्रन्थ-लेखकों ने प्रश्वास के प्रसंग में 'उदर' शब्द का प्रयोग किया है ('उदराद् रेचयेद् वायुम' ऐसा कहकर), वे भ्रान्त हैं। [**सम्पादक**]

आभ्यन्तरिक प्रयत्न से फुप्फुस का संकोच करके श्वास-प्रश्वास का रोध करना चाहिए। पूर्वोक्त अभ्यास के कारण फुप्फुस में तथा सब शरीर में सात्त्विक स्वच्छन्दता अर्थात् लघु, सुखमय बोध रहने से तत्पूर्वक स्तम्भवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। उससे अत्यन्त दृढ़ भाव से श्वासयन्त्र रुद्ध कर सुख के साथ बहुत समय तक रहा जा सकता है। सुखस्पर्श के साथ रुद्ध करने के कारण अर्थात् उस सुखमय बोध की भावना करके रोध करने के कारण स्तम्भवृत्ति में सुखस्पर्शयुक्त श्वासरोधप्रयत्न अधिकतर सुखकर होता है; पश्चात् यदि सहा न जाए, तो प्रयत्न को श्लथ करके श्वास का ग्रहण अथवा त्याग करना उचित है। फुप्फुस में स्वल्प वायु रहने तथा उसका अधिक भाग शोषित हो जाने के कारण स्तम्भवृत्ति के बाद पूरण ही करना पड़ता है, रेचन नहीं। और, उस समय पूरण करना भी आवश्यक है क्योंकि उससे हृत्पिण्ड का स्पन्दन नहीं होता। अतः इतना स्वल्प वायु फुप्फुस में रखकर स्तम्भवृत्ति का अभ्यास करना चाहिए जिससे बाद में पूरण किया जा सके।

पहले एक बार स्तम्भवृत्ति के बाद कई बार स्वाभाविक रेचन-पूरण करना चाहिए। अभ्यास दृढ़ होने पर निरन्तर अनेक बार स्तम्भवृत्ति की जा सकती है। यह कहना अनावश्यक है कि स्तम्भ-वृत्ति में भी पूर्वोक्त रूप से मन को किसी आध्यात्मिक देश पर (हृदयाकाश ही अच्छा है) शून्यवत् रखना चाहिए, नहीं तो अभ्यास व्यर्थ हो जाएगा (समाधि रूप लक्ष्य की प्राप्ति यदि अभीष्ट हो)।

बाह्य तथा आभ्यन्तर वृत्तियों में से किसी एक का अभ्यास करने से ही फल मिल सकता है। उद्घात के उत्कर्ष के लिए स्तम्भवृत्ति का अभ्यास करणीय है। स्तम्भवृत्ति ही अन्त में चतुर्थ प्राणायामरूप प्राणायामसिद्धि में परिणत होती है। बाह्य तथा आभ्यन्तर वृत्ति में रेचन और विधारण तथा पूरण और विधारण जिस रूप से एकतान अभग्न प्रयत्न के साथ हो सकते हों उसी पर ध्यान देकर साधन करना चाहिए—अर्थात् पूरण तथा रेचन का प्रयत्न मानों सूक्ष्म होकर विधारण में मिल जाता हो।

प्राणायामी व्यक्ति को निम्नोक्त विषय याद रखने चाहिएँ—

(१) श्वास-प्रश्वास के साथ आभ्यन्तरिक स्पर्श-बोध का अनुभव करके सात्त्विकता या सुख तथा लघुता को प्रकटित करना होगा। तत्पूर्वक प्राणायाम करने से ही प्राणायाम का उत्कर्ष होता है, अन्यथा नहीं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है, अतः जिस प्रयत्न में क्रिया सहज या स्वाभाविक हो उसका बोध उदित रखकर भावना करने से ही सात्त्विकता या सुख प्रकाशित होता है। जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास की सहायता से फुप्फुस में रहने वाले बोध की

भावना करने पर वहाँ लघुता और सुख का बोध होता है, उसी प्रकार सब शरीर में भी होना चाहिए।

(२) धीरे-धीरे स्वास्थ्य तथा शारीरिक स्वच्छन्दता पर ध्यान रखकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

(३) ध्यान के बिना प्राणायाम का अभ्यास करने से चित्त अधिकतर चञ्चल होता है। अतः कोई-कोई पागल हो जाते हैं। पहले ध्यानाभ्यास कर आध्यात्मिक देश पर चित्त को शून्यवत् न रख सकें तो प्राणायाम का अभ्यास न करना ही ठीक है। आध्यात्मिक देश में किसी मूर्ति पर चित्त को स्थिर किया जा सके तो भी प्राणायाम हो सकता है। योग के लिए शून्यवत् भाव ही अधिक उपयोगी होता है।

(४) आहारादि के ऊपर ध्यान रखना चाहिए। अधिक आहार, व्यायाम, मानसिक श्रम आदि करने से प्राणायाम में अधिक उन्नति की आशा अल्प ही रहती है। पेट कुछ खाली रखकर लघु द्रव्य आहार करना ही मिताहार है। हठयोग के ग्रन्थों में मिताहार का विशेष विवरण देख लेना चाहिए[१]। श्वेतसार युक्त द्रव्य (Carbo-hydrate) सेवन करना चाहिए। स्नेह वा घृततैलादि (Hydrc-carbon) का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए।

अन्त में योगी को पूर्णतया स्नेह का वर्जन करना पड़ता है, इसको याद रखना चाहिए। दीर्घकाल तक प्राणरोध पूर्वक रहने के लिए उपवास भी करना चाहिए (जिसमें श्वास-प्रश्वास की आवश्यकता न रहे)। अतएव महाभारत में कहा गया है (शान्ति० ३०० अ०)—**आहारान्कीदृशान्कृत्वा कानि जित्वा च भारत। योगी बलमवाप्नोति तद्भवान्वक्तुमर्हति ॥ भीष्म उवाच ॥ कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत ॥ स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम ॥ एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ पक्षान्मासानृतूंश्चैतान्संवत्सरानहस्तथा ॥ अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ अखण्डमपि वा मासं सततं मनुजेश्वर। उपोष्य**

---

१. योगियों के आहारसंबन्धी अनुशासन के लिए द्र० हठयोगप्रदीपिका १।५८-६३; घेरण्डसंहिता ५।१६-३२। घेरण्डसंहिता के S. C. Basu कृत आंगल अनुवाद में एक भ्रम है। अनुवादक ने २६ श्लोकोक्त 'वर्जयेत्' क्रिया का अन्वय २७ श्लोकोक्त पदार्थों के साथ किया है, जिससे नवनीत, घृत, क्षीर, पक्वरम्भा, नारिकेल, दाडिम्ब, द्राक्षा आदि सब वर्जित खाद्य हो गये हैं। ये सब वस्तुतः योगियों के लिए विहित हैं (द्र० हठयोगप्रदीपिका)। 'वर्जयेत्' पद का अन्वय २६ वें श्लोक का पूर्वार्ध पर्यन्त ही अभीष्ट है। [सम्पादक]

सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ अर्थात् तण्डुल का रवा एवं तिलकल्क भक्षण करके और दीर्घकाल तक रूखा यवागू आहार कर तथा स्नेह पदार्थ का वर्जन कर योगी बल लाभ करते हैं। पक्ष, मास, ऋतु या संवत्सर तक दूध से मिला हुआ जल पीकर अथवा एक मास संपूर्ण उपवास कर योगी बल पाते हैं। पहले पहल अवश्य ही मित परिमाण में स्नेहादि सेवन करना उचित है। आहार कम करने के लिए क्रमशः थोड़ा-थोड़ा कर कम करने की विधि है।

केवल प्राणरोध कर रहना योगाङ्गभूत प्राणायाम या समाधि नहीं है। कोई-कोई स्वभावतः प्रणरोध कर सकते हैं; वे ही मृत्तिका के अन्दर प्रोथित रहकर लोगों को तमाशा दिखाकर पैसा कमाते हैं। यह योग-समाधि नहीं है, इस कारण योग का फल इन सब व्यक्तियों में दिखाई नहीं पड़ता।

जिस प्राणरोध के साथ चित्त को भी रुद्ध या एकाग्र किया जाता है, वही योगाङ्ग प्राणायाम है। एक-एक प्राणायामगत चित्तस्थैर्य धारावाही क्रम से वर्धित होकर अन्त में समाधि के रूप में परिणत होता है। अतएव यह कहा जाता है कि द्वादश प्राणायाम से एक प्रत्याहार होता है, द्वादश प्रत्याहार से एक धारणा होती है, इत्यादि (द्र० लिङ्गपुराण १।८।११३-११४)। फलतः चित्त की स्थिरता तथा निर्विषयता का उत्कर्ष न होने पर वह योगाङ्गभूत प्राणायाम नहीं होता, वह केवल तमाशा है। प्राणरोधमात्र करके रहना समाधि का बाह्य लक्षण है, आभ्यन्तरिक लक्षण नहीं।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

भाष्यम्—प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते—"महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते" इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति, प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्—"तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये"ति ॥ ५२ ॥

५२—उससे प्रकाशावरण क्षीण होता है। सू०

भाष्यानुवाद—प्राणायाम अभ्यासकारी योगी के विवेकज्ञान का आवरणभूत कर्म क्षीण होता है (१)। यह जिस प्रकार होता है वह निम्न वाक्य में कहा गया है—'महामोहमय इन्द्रजालद्वारा प्रकाशशील सत्त्व को आवृत कर यह कर्म उसे अकार्य में लगाता है।' योगी का यह प्रकाशावरणभूत संसार-हेतु कर्म प्राणायामाभ्यास से बलहीन हो जाता है; और प्रतिक्षण क्षीण होता है। कहा

भी है—'प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तपस्या नहीं है; उससे मलसमूह की विशुद्धि तथा ज्ञान की दीप्ति होती है।'

टीका ५२ (१) प्राणायाम के द्वारा जो प्रकाशावरण (विवेकख्याति का आवरण) क्षीण होता है, वह अज्ञानस्वरूप आवरण नहीं है; परन्तु अज्ञान-मूलक कर्मरूप आवरण है। कर्म ही अज्ञान की जीवनवृत्ति है। अतः कर्म क्षीण होने से अज्ञान भी क्षीण होता है। प्राणायाम शरीरेन्द्रिय की निष्कर्मता है। उसके संस्कार द्वारा साधारण क्लिष्टकर्म का संस्कार क्षीण होता है, जैसे क्रोध का संस्कार अक्रोध के संस्कार द्वारा क्षीण होता है। 'मैं शरीर हूँ', 'मैं इन्द्रियवान् हूँ' इत्यादि अविद्यादिरूप अज्ञान और तत्प्रेरित कर्म और कर्म का संस्कार प्राणायाम-द्वारा दुर्बल होकर क्षीण होता रहता है, यह स्पष्ट है।

कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि अज्ञान ज्ञान द्वारा ही नष्ट होता है। प्राणायामरूप कर्म द्वारा वह कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर भी ज्ञान द्वारा ही अज्ञान का नाश हुआ है—ऐसा समझना चाहिए। प्राणायाम एक क्रिया है, यह ठीक है; परन्तु उस क्रिया से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही अज्ञान को नष्ट कर डालता है। प्राणायाम-क्रिया शरीरेन्द्रिय से अहन्ता को वियुक्त करने की क्रिया है। अतः उस क्रिया का ज्ञान (सभी क्रियाओं का ज्ञान होता है) 'मैं शरीरेन्द्रिय नहीं हूँ' इस प्रकार की विद्या है।

———

भाष्यम्—किंच—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

प्राणायामाभ्यासादेव । 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (१।३४) इति वचनात् ॥ ५३ ॥

भाष्यानुवाद—और भी—

५३। सब धारणाओं में मन की योग्यता होती है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—प्राणायाम-अभ्यास से ही (योग्यता होती है)। 'अथवा प्राण के प्रच्छर्दनविधारण द्वारा स्थिति साधित होती है' इस सूत्र से भी (यही ज्ञान पड़ता है)।

टीका ५३ (१) आध्यात्मिक देश में चित्त का बन्धन धारणा कहलाती है। प्राणायाम में निरन्तर आध्यात्मिक देश की भावना (अनुभव) करनी पड़ती है। ऐसा करते रहने से चित्त को उन देशों में बाँधने की योग्यता होती है, यह कहना अनावश्यक है। **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** इस सूत्र में (१।३४)

प्राणायाम द्वारा चित्त की स्थिति होती है, यह उक्त हुआ है। स्थिति का अर्थ ही धारणा अर्थात् अभीष्ट विषय में चित्त को स्थापित करना है।

भाष्यम्—अथ कः प्रत्याहारः ?

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनु निविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि, इत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भाष्यानुवाद—प्रत्याहार क्या है ?—

५४। स्व-विषय के साथ असंयुक्त होने पर इन्द्रियों का जो चित्तस्वरूपानुकार होता है, वही प्रत्याहार है। सू०

स्वविषय के साथ सम्प्रयोगाभाव (संयोगाभाव) होने पर चित्तस्वरूपानुकार के समान अर्थात् चित्तनिरोध होने पर निरुद्ध चित्त के समान उसके साथ इन्द्रियगण का भी निरुद्ध होना; इसमें अन्य प्रकार की इन्द्रियजय की तरह अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं रहती (१)। जिस प्रकार उड़ती हुई रानी मक्षिका के पीछे अन्य मक्षिकाएँ भी उड़ती हैं और उसके बैठने पर बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियगण भी चित्तनिरोध होने पर निरुद्ध होते हैं, यही प्रत्याहार है।

टीका ५४ (१) अन्य प्रकार के इन्द्रियजय में विषय से दूर रहना पड़ता है अथवा मन को प्रबोध देना आवश्यक होता है या अन्य किसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है, परन्तु प्रत्याहार में ऐसा नहीं करना पड़ता, क्योंकि उसमें चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है। इच्छापूर्वक चित्त को जिधर रखा जाए, इन्द्रियाँ उधर ही हो जाती हैं। चित्त को आध्यात्मिक देश में निरुद्ध करने पर इन्द्रियाँ उस समय बाह्य विषय का ग्रहण नहीं करती हैं। उसी प्रकार, बाह्य शब्दादि किसी विषय पर चित्त को स्थित करने से केवल उसी विषय का व्यापार होता है; अन्य विषय-व्यापार से इन्द्रियाँ विरत रहती हैं।

प्रत्याहार-साधन के लिए प्रधान उपाय ये हैं—(१) बाह्य विषय पर ध्यान न देना और (२) मानस भाव लेकर रहना। अवहित होकर चक्षु आदि के द्वारा विषयग्रहण का अभ्यास न छोड़ने से प्रत्याहार नहीं होता है। जो बाह्य विषय को सम्यक् लक्ष्य (स्वभावतः) नहीं कर सकते, उनको प्रत्याहार सुकर होता है। उन्मत्त का भी एक प्रकार का प्रत्याहार होता है। Hysteric (मृगी रोगी) को भी एक प्रकार का प्रत्याहार होता है। जो Hypnotic suggestions

(सम्मोहन-आदेश) के वशीभूत हैं, उनको भी भलीभाँति प्रत्याहार होता है; नमक को शक्कर कहकर देने से वे शक्कर का स्वाद पाते हैं।

इन सब प्रत्याहारों से योगाङ्ग प्रत्याहार की विशेषता है। योगाङ्ग प्रत्याहार संपूर्ण स्वेच्छाधीन है। योगी जब इच्छा करते हैं कि मैं यह नहीं जानूँगा, तो तत्काल ही उस ज्ञानेन्द्रियशक्ति का रोध हो जाता है। प्राणायाम इस प्रकार के रोध का सहायक होता है। अधिक देर तक प्राणायाम करने से इन्द्रियसमूह में निरोध का भाव गाढ़ा होता रहता है। उसके साथ प्रत्याहार सुकर होता है। अन्य उपाय (भावना) के द्वारा भी यह हो सकता है। यमनियम आदि के अभ्यास के साथ प्रत्याहार होने पर ही वह श्रेयस्कर होता है, नहीं तो दुष्टचित्त व्यक्तियों का दुष्पथ में चालित प्रत्याहार अधिकतर दोष का हेतु होता है।

चित्तनिरोध होने पर इन्द्रिय का निरोधसाधनरूप प्रत्याहार ही योगियों को उपादेय होता है। जब मधुमक्खियों का एक झुण्ड एक नवीन छत्ता बनाने के लिए पहला छत्ता त्यागते हैं तब उनकी एक रानी (मधुमक्खियाँ प्रायः क्लीब होती हैं, उनके छत्ते में एक या कदाचित् दो स्त्रियाँ रहती हैं। वे आकार में बड़ी होती हैं, समस्त मक्खियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं) आगे चलती है। वह बड़ी मक्खी जहाँ बैठती है, वहीं अन्य सब भी बैठ जाती हैं। उसके उड़ने से वे भी उड़ती हैं। भाष्यकार ने यही दृष्टान्त दिया है। हिमवान् प्रदेश में मक्षिका-पालन होता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

भाष्यम्—शब्दादिष्वव्यसनम् इन्द्रियजय इति केचित्; सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुख-दुःख-शून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। "चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवे"ति जैगीषव्यः। ततश्च परमा त्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतम् उपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥५५॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने वैयासिके साधनपादो द्वितीयः।

५५। उससे (प्रत्याहार से) इन्द्रियों की परमा वश्यता होती है। सू०

भाष्यानुवाद—कुछ आचार्य कहते हैं-शब्दादि के प्रति अव्यसन ही इन्द्रियजय है। व्यसन का अर्थ आसक्ति अर्थात् राग है (क्योंकि व्यसन शब्द का निर्वचन है)—जो पुरुष को श्रेय से दूर हटा देता है, अर्थात् विरत कर देता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं—'शास्त्र के अविरुद्ध शब्दादि (विषय) का सेवन ही न्याय्य है अर्थात् वही इन्द्रियजय है।' कुछ लोग कहते हैं—'स्वेच्छापूर्वक अर्थात्

परतन्त्र न होकर शब्दादि में जो इन्द्रिय संप्रयोग है वही इन्द्रियजय है' (अर्थात् भोग्यपरतन्त्र न होकर जो भोग है वही इन्द्रियजय है) । 'रागद्वेष के अभाव में सुख-दुःख-शून्य जो शब्दादि ज्ञान है, वही इन्द्रियजय है,' ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं । जैगीषव्य कहते हैं—'चित्त की एकाग्रता होने पर विषयों की ओर इन्द्रियों की जो अप्रवृत्ति है अर्थात् विषयसंयोग-शून्यता है, वही इन्द्रियजय है।' इस कारण से यही (जैगीषव्योक्त) योगी की परम इन्द्रियवश्यता है जिसके द्वारा चित्तनिरोध होने से इन्द्रियसमूह भी निरुद्ध होती हैं । योगी इसमें अन्य प्रकार की इन्द्रियजय के समान प्रयत्नकृत उपायान्तर की अपेक्षा नहीं करते (१) ।

श्री पातञ्जल-योगशास्त्रीय वैयासिक सांख्यप्रवचन के साधनपाद का अनुवाद समाप्त ।

टीका ५५ (१) भाष्यकार ने जिन इन्द्रियजयों का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम को छोड़कर और सभी प्रच्छन्न इन्द्रिय-लौल्य हैं एवं परमार्थ के विघ्न हैं। 'अनासक्त भाव से' पापविषय का भोग करने पर अनासक्त भाव से ही निरय में जाना होगा । जिसने अग्निदाह जान लिया है वह कभी भी अग्नि में हाथ देने की इच्छा नहीं करता है—अनासक्त भाव से भी नहीं करता, आसक्त भाव से भी नहीं करता; तथा स्वतन्त्र भाव से या परतन्त्र भाव से भी नहीं करता । अतः परमार्थविषय का अज्ञान ही विषय के साथ स्वेच्छापूर्वक संप्रयोग का कारण होता है । यही कारण है कि ये सभी इन्द्रियजय सदोष हैं ।

महायोगी जैगीषव्य ने जो कहा है वही योगियों के लिए उपादेय है । इच्छामात्र से ही चित्तरोध के साथ यदि इन्द्रियरोध हो जाए, तो उससे उत्तम इन्द्रियजय और नहीं हो सकती । अतएव प्रत्याहार-जनित जो इन्द्रियजय है, वही सबसे उत्तम है ।

दूसरा पाद समाप्त

भाष्यम्--उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि, धारणा वक्तव्या ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भाष्यानुवाद--बहिरङ्ग साधन कहे जा चुके हैं; (अब) धारणा बतायी जायेगी—

१। देश में बन्ध होना ही चित्त की धारणा है। सू०

नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्द्धज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्यादि देशों में (बन्ध होना) अथवा बाह्य विषय में वृत्तिमात्र के द्वारा चित्त का जो बन्ध है, वही धारणा है (१)।

टीका १ (१) आध्यात्मिक देश में अनुभव-द्वारा चित्त बद्ध होता है। बाह्य देश में इन्द्रियवृत्ति द्वारा चित्त बद्ध होता है। बाहर के शब्दादि अथवा मूर्ति आदि बाह्य देश हैं। जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त बद्ध किया गया) ज्ञान होता रहता है, और जब प्रत्याहृत इन्द्रिय-समूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करती हैं तब प्रत्याहार-मूलक वैसी धारणा ही समाधि की अङ्गभूत धारणा होती है।

प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास आवश्यक होता है, परन्तु वह मुख्य धारणा नहीं होती, यह विशेष रूप से जानना चाहिए। प्राणायाम आदि में जिसका अभ्यास करना पड़ता है, उसे साधारणतः 'ध्यान-धारणा' कहने पर भी वस्तुतः उसे भावना कहना उचित है। उस भावना की उन्नति होने पर धारणा और ध्यान उत्पन्न होते हैं।

प्राचीनकाल में हृदयपुण्डरीक ही धारणा का प्रधान स्थान माना जाता था। उस स्थान से ऊपर की ओर जाने वाली जो सौषुम्न ज्योति है, वह भी धारणा का विषय था। पीछे षट्चक्र या द्वादशचक्र की धारणा का प्रचलन हुआ। षट् चक्र प्रसिद्ध हैं। शिवयोगमार्ग में द्वादश-प्रकार की धारणाएँ कही गई हैं; वे इस प्रकार हैं—(१) मूलाधार; (२) स्वाधिष्ठान; (३) नाभिचक्र; (४) हृच्चक्र; (५) कण्ठचक्र; (६) राजदन्त अथवा जिह्वामूल (यहाँ शून्यरूप दशम द्वार ध्येय है); (७) भ्रूचक्र (यहाँ दिव्यशिखारूप ज्ञानालोक ध्येय है; (८) निर्वाण चक्र (यह ब्रह्मरन्ध्र में है; (९) ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अष्टदल पद्म

(यहाँ त्रिकूट नामक तिमिर के भीतर आकाशबीजसहित शून्यस्थित ऊर्ध्वशक्ति ध्येय है); (१०) समष्टिकार्य (अहंकार); (११) कारण (महत्तत्त्व या अक्षर), (१२) निष्कल (ग्रहीतृपुरुष)।[1]

इनमें १-५ ग्राह्य हैं, ६-११ ग्रहण हैं और १२ ग्रहीता हैं। काल-क्रम से सांख्य-योग का मत परिणत होकर इस प्रकार का बन गया था। इन सब धारणाओं का अभ्यास करते-करते चित्त समाहित होने पर असम्प्रज्ञात योग हो सकता है। परन्तु इसमें सम्यक् तत्त्वदृष्टि की अपेक्षा रहती है। निष्कल पुरुष (ग्रहीतृपुरुष) अधिगत होने के बाद तद्विषयक प्रज्ञा का निरोध होनेपर कैवल्य होता है। परन्तु परवैराग्य के साथ निरोध होना चाहिए।

धारणा प्रधानतः द्विविध होती है—तत्त्वज्ञानमय धारणा तथा वैषयिक धारणा। ज्ञानयोगी सांख्यों की ही तत्त्वज्ञानमय धारणा होती है। उसमें पहले सभी विषय इन्द्रियों के अभिहननकारी हैं, इस प्रकार की धारणा करके इन्द्रियसमूह अभिमानात्मक हैं, अभिमान 'अहंभाव' में प्रतिष्ठित है, अहंभाव या बुद्धि पुरुष द्वारा प्रतिसंविदित है—ऐसी धारणा कर ज्ञ-स्वरूप आत्मा में स्थिति पाने की चेष्टा करनी पड़ती है। अन्यान्य धारणाओं के समान इसमें भी इन्द्रियादि के अभ्यन्तरस्थ आध्यात्मिक देशों का सहारा लेना होता है, किन्तु तत्त्वज्ञान ही इसका मुख्य आलम्बन है। (इसके बारे में 'ज्ञानयोग' और 'स्तोत्रसंग्रह' की तत्त्वनिधिध्यासन-गाथा देखिए[2])।

वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा प्रधान होती हैं। इनमें हार्द ज्योति का अवलम्बन करके बुद्धितत्त्व की धारणा (अर्थात् ज्योतिष्मती प्रवृत्ति) करना प्रधान है। शब्दधारणाओं में अनाहतनाद की धारणा प्रधान है। इनका साधन निःशब्द स्थान पर (गिरिकन्दर आदि में) करना चाहिए। निःशब्द स्थान में चित्त स्थिर करने से, विशेष कर कुछ प्राणायाम करने से,

---

१. नाथयोग के नवचक्रों के साथ यहाँ के १–९ चक्रों की समता है (द्र० सिद्धसिद्धान्त-पद्धति—नित्यनाथ तथा गोरक्षनाथकृत)। नाथयोगी अपने को शिवयोगमार्ग के अभ्यासी कहते हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के कुछ संस्करणों में सप्तमचक्र का नाम 'भूचक्र' पढ़ा गया है, जो मुद्रणप्रमाद प्रतीत होता है; यह भ्रूचक्र होगा। नित्यनाथविरचित सि. सि. प. में (जनार्दनशास्त्री-सम्पादित) तथा अन्यान्य ग्रन्थों में 'भ्रूचक्र' ही है। तालु और ब्रह्मरन्ध्र के मध्य में 'भ्रू' ही है, भू नहीं **[सम्पादक]**

२. 'ज्ञानयोग' बंगला योगदर्शन में है। स्तोत्रसंग्रह ग्रन्थकार कृत स्तोत्रों का संग्रहात्मक पुस्तक है। इसमें तत्त्वनिदिध्यासनगाथा नामक एक स्तोत्र है। **[सम्पादक]**

नाना प्रकार के अभ्यन्तरस्थ नाद (प्रायः पहले दायें कान में) सुनाई पड़ते हैं। चिंनाद, शङ्खनाद, घण्टानाद करतलनाद, मेघनाद आदि ही अनाहत नाद कहलाते हैं। अभ्यस्त होने पर वे सर्वशरीर में, हृदय में, सुषुम्ना के भीतर और मस्तक में सुने जाते हैं। इन आध्यात्मिक देशों में उनका श्रवण करते-करते क्रमशः बिन्दु में पहुँचना पड़ता है। शब्द वस्तुतः क्रिया की धारा है अतः शब्द में चित्त स्थिर होने पर दैशिक विस्तारज्ञान का लोप हो जाता है। वही बिन्दु कहलाता है। शब्द का विस्तारहीन मानसिक भावमात्र ही बिन्दु है। अतः उसके द्वारा मन में पहुँचना होता है। इस प्रकार इस मार्ग के द्वारा उच्च तत्त्व में जाना पड़ता है। शास्त्र में कहा है 'नाद के अन्तर्गत बिन्दु और बिन्दु के अन्तर्गत मन है; वह मन जब विलीन होता है तभी विष्णु का परम पद प्राप्त होता है।'[१]

मार्गधारणा भी अन्यतम ज्योतिर्धारणा है, क्योंकि ज्योति के द्वारा ही ब्रह्ममार्ग की चिन्ता करनी होती हैं एवं उसका शास्त्रोक्त नाम भी अर्चिरादि मार्ग है। वह दो प्रकार का है—एक पिण्डब्रह्माण्डमार्ग और दूसरा उपरिलिखित शिवयोगमार्ग। प्राणियों की आध्यात्मिक अवस्थानुसार एक-एक लोक में गति होती है। आध्यात्मिक उन्नति से देहाभिमानादि का त्याग होता है। देहादि का अभिमान जितना त्यागा जाता है, उच्च-उच्च लोकों में गति उतनी ही होती है। अतः निरभिमानता की एक-एक अवस्था के साथ एक-एक लोक सम्बद्ध है।

पिण्डब्रह्माण्डमार्ग ही षट्चक्रमार्ग है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा (भौंहों के बीच में)—रीढ़ के बीच में और उसके ऊपर सुषुम्ना में गुँथे हुए ये छह चक्र ही उक्त मार्ग हैं। इसमें कुण्डलिनी[२] नामक

१. द्र० हठयोगप्रदीपिका ४।११०; घेरण्डसं० ५।८२; नादबिन्दु उप० ४६–४७; उत्तरगीता १।४२-४३ [सम्पादक]

२. योगसूत्र या व्यासभाष्य में 'कुण्डलिनी' का उल्लेख नहीं है, यह सत्य है; पर इससे यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि कुण्डलिनी शक्ति से तान्त्रिकलोग जो समझते हैं, वह पातञ्जल शास्त्र का अनभिमत है। इसी सूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार स्वामीजी ने कुण्डलिनी का जो परिचय दिया है, पातञ्जल शास्त्र के साथ उसका कुछ भी विरोध नहीं है। पातञ्जल-शास्त्रसंमत प्राणायाम का अभ्यास करने पर जो आभ्यन्तरिक क्रिया एवं बोध होते हैं, उनसे चक्रों, नाडियों एवं कुण्डलिनी की सत्ता का बोध अभ्यासकारी को होता है, अतः ग्रन्थ में अनुक्त होने मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि वे पदार्थ पातञ्जलशास्त्र को अनभिमत हैं। [सम्पादक]

ऊर्ध्वगामिनी ज्योतिर्मयी धारा की धारणा करके एक-एक चक्र में उठाना पड़ता है। नीचे के पाँचों चक्रों में पार्थिव, जलीय इत्यादि अभिमान या देहेन्द्रियादि का अभिमान त्याग करके द्विदल आज्ञाचक्र में या मनःस्थान में पहुँचना होता है। इस एक-एक चक्र के साथ भूः, भुवः आदि एक-एक लोक का संबन्ध रहता है। सहस्रार में या मस्तकस्थ सप्तम चक्र में सत्यलोक वा ब्रह्मलोक है। वहाँ पहुँचने पर ज्ञान का प्रसाद प्राप्त कर तथा परवैराग्य के साथ पुरुषतत्त्व का अधिगम करके लोकातीत परमपद का लाभ होता है। ('प्राणतत्त्व' १३ देखिए)।[1]

देहस्थ नाड़ीचक्र में जो धारणा की जाती है उसका विशेष विवरण दिया जा रहा है। पहले देखना है कि सुषुम्ना नाड़ी क्या है ? इसके बारे में चार प्रकार के मत हैं। श्रुति में है—हृदय से ऊर्ध्वगत नाड़ी-विशेष ही सुषुम्ना है। तन्त्रशास्त्रान्तर्गत 'षट्चक्र-निरूपण' ग्रन्थ में तीन प्रकार के मत हैं। किसी मत में रीढ़ या पीठ की हड्डी में सुषुम्ना है और उसकी दोनों ओर इडा और पिङ्गला हैं। **"मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाड़ी सुषुम्ना"** (२)। दूसरे तन्त्र में है **"मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इडा चन्द्रामृता शिवे। दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥ तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्ना वह्निसंयुता॥"** इसमें तीन नाड़ियों को ही मेरु के बाहर कहा गया है। मतान्तर में, मेरुमध्य में ही ये तीनों नाड़ियाँ रहती हैं। **"मेरोर्मध्यपृष्ठगतास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्त्तिताः"** (निगमतत्त्वसार)।

शरीर का चीर-फाड़ करके इन नाड़ियों को देख पाने की संभावना नहीं है। वस्तुतः मस्तिष्क या सहस्रार से जो स्नायुएँ मेरु के बीच और बाहर होकर मलद्वार तक विस्तृत हैं, जिनके द्वारा बोध और चेष्टा होती है, वे सुषुम्ना, इडा तथा पिङ्गला हैं। कुण्डलिनी शक्ति का विचार करने पर यह स्पष्ट होगा। कुण्डली, कुण्डलिनी, कुलकुण्डलिनी, नागिनी, भुजगाङ्गना, बालविधवा, तपस्विनी आदि बहुत से नाम प्रीति से और छन्दानुरोध से कुण्डलिनी को दिए गए हैं।

कुण्डलिनी का स्वरूप समझने के लिए पहले उसके विषय में कई वचन उद्धृत किए जा रहे हैं—**"चित्रिणी शून्यविवरे······भुजङ्गी विहरन्ति(ति) च।"** चित्रिणी अर्थात् सुषुम्ना के अङ्गभूत नाड़ी के छेद में कुण्डली विहार करती है। **"कुजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं········श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते, सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति।"** कुण्डली मधुरभाव से शब्द करती

---

१. 'प्राणतत्त्व' निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। [**सम्पादक**]

है (नादरूप से, वाक्य के मूल रूप से) और वह श्वास-प्रश्वास के प्रवर्तन द्वारा संसार के जीवों को प्राणधारण कराती है तथा वह मूलाधार पद्म के कुहर में प्रकाशित होती है। **"ध्यायेत्कुण्डलिनीं देवीं........विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।"** विश्वातीत या अबाह्य ज्ञानरूपा ऊर्ध्ववाहिनी कुण्डली देवी का ध्यान करना चाहिए। **"कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिता।"** उस कुण्डलिनीरूप कला ही नादशक्ति है। **"शून्यरूपः शिवः साक्षाद् बिन्दुः परमकुण्डली।"** साक्षात् शून्यरूप शिव ही परम कुण्डली हैं। **"वृत्तः कुण्डलिनीशक्तिर्गुणत्रयसमन्वितः। शून्यभागं महेशानि शिवशक्त्यात्मकं प्रिये॥"** त्रिगुणसमन्वित कुण्डलीशक्तिरूप जो वृत्त या बिन्दु है वह शून्य और शिवशक्त्यात्मक है। अन्त के इन दोनों वाक्यों में परमकुण्डली की बात कही गई है। कुण्डलीशक्ति नाम इस लिए हुआ है कि वह सुप्तावस्था में साँप की भाँति कुण्डली लगाए रहती है। सुप्त कुण्डलिनी मूलाधार में साढ़े तीन पेंच की (**'सार्धत्रिवलयेनावेष्टय'**) कुण्डली मारकर रहती है। उसे जगाकर सहस्रार में ले जाना और बिन्दुरूप शिव के साथ युक्त करना ही कुण्डलीयोग है।

अतः सुषुम्नादि नाड़ियाँ जिस प्रकार रीढ़ के मध्यस्थ और बाह्यस्थ स्नायुस्रोत (जो मस्तिष्क से गुह्य तक विस्तृत है) हुईं, उसी प्रकार कुण्डलिनी तन्मध्यस्थ बोध और चेष्टा करने वाली शक्ति हुई। साधारण अवस्था में वह सुप्त या देहकार्य में लगी हुई है। कुण्डलिनी-योग का उद्देश्य है—उसको मस्तिष्क में ले जाना। यह मस्तिष्क में ले जाना रूप क्रिया धारणा तथा प्राणायाम-द्वारा साधी जाती है। उसके साधनभूत दो प्रधान उपाय हैं; पहला हठयोग और दूसरा लययोग[1]। नानाविध रूप (देव, देवी, विद्युत् आदि वर्ण प्रभृति) तथा नाद के द्वारा धारणा की जाती है। हठ-प्रणाली में मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध आदि द्वारा पेशी और स्नायु का संकोच करके कुण्डली को प्रबुद्ध करना पड़ता है।

लययोग में प्रधानतः नाद-धारण द्वारा यह किया जाता है। नाद द्विविध है—आहत और अनाहत। ये दोनों नाद ही कुण्डली शक्ति द्वारा होते हैं। वाक्यरूप आहतनाद चार प्रकार का है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। वाक्योच्चारण

---

1. लययोग—योग के चार भेदों (मन्त्र, लय, हठ और राजा) में यह अन्यतम है। योगतत्त्वोपनिषद् (श्लोक २२-२३) कहता है—"लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छन् तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन् निष्कलमीश्वरम्। स एव लययोगः स्यात्"। दत्तात्रेयसंहिता में लययोग का विवरण है; द्र० प्राणतोषिणीतन्त्र, पृ. ४३९-४४०। [सम्पादक]

में पहले मूलाधार या गुह्यप्रदेश में परा नामक सूक्ष्म चेष्टा होती है (श्वास तथा प्रश्वास में गुह्यदेश स्वभावतः कुञ्चित होता है, अतः यह परा अवस्था–जो शब्दोच्चारण की मूल क्रिया है– काल्पनिक नहीं है। उसके बाद स्वाधिष्ठान मे पश्यन्ती रूप (उदरसंकोचन रूप) क्रिया होती है। फिर अनाहत या वक्षःस्थल में (फुप्फुस-संकोचन-रूप) जो क्रिया होती है, वह मध्यमा है। पश्चात् कण्ठतालु आदि में जो क्रिया होती है उसका फल है वैखरी या श्राव्य वाक्य। ये सभी कुण्डली के कार्य हैं। **"स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुः स्वरूपतः। मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥ स एव चोर्ध्वतां नीतः स्वाधिष्ठानविजृम्भितः। पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः। अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमोऽभिधः। तथा तयोरूर्ध्वगतो विशुद्धौ कण्ठदेशतः॥ वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।"**[1] इस प्रकार वाक्य के साथ सम्बन्ध रहने के कारण 'हुम्' शब्द-द्वारा पहले कुण्डली को प्रबुद्ध करना चाहिए। **"हूंकारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलः"** (षट्चक्रनिरूपण ५२ श्लोक)। अनाहत नाद उठने पर उसके द्वारा यह साधा जाता है। इसका साधन-संकेत इस प्रकार है—पीठ के अन्दर नीचे से ऊपर तक एक धारा उठ रही है—प्रयत्नविशेष-द्वारा इस प्रकार की अनुभूति करनी चाहिए। वह 'हुम्-हुम्' अथवा अन्य प्रकार के नाद के साथ अनुभूत होती है।

अनाहत नाद द्विविध है—एक तो कान से (विशेष करके दायें कान से) जो सुना जाता है, और दूसरा जो सभी शरीर में ऊर्ध्वगामी धारारूप में अनुभूत होता है। इस द्वितीय अनाहत के द्वारा ही कुण्डली को क्रमशः दीर्घकाल के अभ्यास द्वारा मस्तक पर उठाना पड़ता है और वह वहाँ बिन्दुरूप में परिणत होता है। **"नाद एवं घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्"** अर्थात् नाद ही घनीभूत (नाद के भीतर सम्यक् समाहित) होकर बिन्दुता प्राप्त करता है (सूत्ररूप में सूक्ष्म होकर)। बिन्दु—**"केशाग्रकोटिभागैकभागरूपसूक्ष्मतेजोंऽशः"** अर्थात् केशाग्र के कोटिभाग का एक भागरूप सूक्ष्म तेज वा ज्ञानरूप अंश ही बिन्दु कहलाता है। फलतः यही शब्दतन्मात्र (जो देशव्याप्तिहीन है) है। **"यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः। तत्र तत्र स्थिरी भूत्वा तेन सार्द्धं विलीयते। विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः। ॥ एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे**

---

१. ये श्लोक नित्यातन्त्र के हैं। भास्करराय ने इन श्लोकों को ललितासहस्रनाम के भाष्य में उद्धृत किया है (पृ० ९९)। ध्यानबिन्दु उपनिषद् की नारायणकृतटीका (पृ० ३०२, उपनिषदां समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कः) में भी इसके अनुरूप वचन मिलते हैं। **[सम्पादक]**

विलीयते।" ॥ नाद को शक्ति तथा बिन्दु को शिव कहकर तान्त्रिकगण नाद की बिन्दुत्व-प्राप्ति को शिवशक्ति का योग कहते हैं।

शिव के अतिरिक्त फिर परशिव भी तन्त्रमत में स्वीकृत हुए हैं। वे सांख्य के पुरुषतत्त्व के समान हैं। परन्तु, सम्यक् तत्त्वदृष्टि के अभाव से इन सब विषयों में इतनी गड़बड़ी हो गई है कि अब तन्त्रोक्त प्रणाली से मोक्षलाभ संभव नहीं होता। तत्त्वज्ञान के अभाव से यह सब प्रायशः अन्धों द्वारा हस्तिदर्शन के समान होता है। जिन्होंने जैसी अनुभूति की है उन्होंने वैसा ही कहा है। यह निश्चित है कि सिद्ध के पास तद्दृष्ट मार्ग का विषय सीखने पर सफलता हो सकती है, अन्यथा ऐसी अटपटी बातें तन्त्रशास्त्र में हैं कि जिन्हें पढ़कर किसी को भी यथार्थ कार्य होने की संभावना नहीं रहती है। कहा भी जाता है कि गुरुमुख से ही सीखना चाहिए, हजारों ग्रन्थ पढ़ने से भी कुछ नहीं होता है।

शिवयोगमार्ग के अनुसार देहस्थित चक्रसमूह का संपूर्ण अतिक्रम करके पहले लिखे गये देहबाह्य में कल्पित चक्र तथा अवस्थासमूह का अतिक्रम करके सत्य-लोक में पहुँचने की धारणा करनी चाहिए। श्रुति[1] में जो नाड़ी में व्याप्त सूर्य रश्मि का उल्लेख है उस ज्योतिर्मयी धारा का अवलम्बन करके उसके द्वारा भी ऊपर उठने की धारणा करनी पड़ती है। उत्तरभारत में कबीरपंथियों के किसी-किसी संप्रदाय में इसकी विशेष चर्चा है।

इसके अतिरिक्त बौद्धों की दश कसिन-धारणाएँ, मूर्तिधारणा आदि अनेक प्रकार की धारणाएँ भी हैं। अज्ञ, एकदेशदर्शी लोग इनमें से किसी एक मार्ग को एकमात्र मोक्षमार्ग जानकर परस्पर विवाद करते हैं। परन्तु केवल धारणा से सम्यक् फललाभ नहीं होता। अभ्यास वैराग्य-द्वारा धारणा में स्थिति प्राप्त कर ध्यान और समाधि लगा सकने पर ही किसी मार्ग के द्वारा सम्यक् फललाभ होता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृश-प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

---

1. सूर्यरश्मि की नाडी-व्याप्ति छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिषदों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कई स्थलों पर कही गई है; द्र० 'अमुष्माद् आदित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सृप्ताः' (छान्दोग्य० ८।६।२); द्र० बृहदा० ५।५।२, ५।५।१०, ६।२।१५; द्र० सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन (प्रश्न ४।६ का शांकर भाष्य); द्र० शारीरक भाष्य ४।२।१६।

[सम्पादक]

२। उसमें प्रत्यय (ज्ञानवृत्ति-) की एकतानता ध्यान है। सू०

भाष्यानुवाद—उस (पूर्वसूत्र के भाष्य में कथित) देश में, ध्येयविषयक प्रत्यय की जो एकतानता अर्थात् अन्य प्रत्यय के द्वारा अपरामृष्ट एकरूप प्रवाह है वही ध्यान है (१)।

टीका २ (१) धारणा में प्रत्यय (या ज्ञानवृत्ति) केवल अभीष्ट देश पर आबद्ध रहता है। परन्तु उसी देश में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति (अर्थात् वह ध्येय-देशविषयक ज्ञान) खण्डरूप से धारावाहिक क्रम से चलता रहता है। अभ्यास-बल से जब वह एकतान या अखण्ड धारा की भाँति हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। यह योग का पारिभाषिक ध्यान है। ध्येय विषय के साथ इस ध्यान-लक्षण का सम्बन्ध नहीं है। यह चित्तस्थैर्य की अवस्थाविशेष है। किसी भी ध्येय विषय पर इस ध्यान का प्रयोग हो सकता है। ध्यानशक्ति उत्पन्न होने पर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान कर सकते हैं। धारणा में जो प्रत्यय है वह मानों पानी की बूँद की धारा के समान है और ध्यान में जो प्रत्यय है वह मानों तेल की या शहद की धारा के समान एकतान है। एकतानता का तात्पर्य यही है। एकतान प्रत्यय में एक ही वृत्ति मानों उदित हो रही है, ऐसा बोध होता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

३। ध्येयाकारनिर्भास, स्वरूपशून्य के समान ध्यान ही समाधि है। सू०

भाष्यानुवाद—ध्येयाकारनिर्भास ध्यान ही जब ध्येयस्वभाव के आवेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से शून्य के समान होता है, तब (उसे) समाधि कहते हैं (१)।

टीका ३ (१) ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम है समाधि, जो चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है; इससे और अधिक चित्तस्थैर्य नहीं हो सकता है। परन्तु यहाँ भी सबीज समाधियों को लक्ष्य किया गया है। अर्थशून्य निर्बीज समाधि इसके द्वारा लक्षित नहीं हुई है।

ध्यान जब अर्थमात्रनिर्भास होता है अर्थात् ध्यान जब इतना प्रगाढ़ होता है कि उसमें केवल ध्येय विषयमात्र की ही ख्याति होती रहती है तब उसे समाधि कहते हैं। उस समय चित्त ध्येय विषय के स्वभाव में आविष्ट होता है, अतः प्रत्ययस्वरूप की ख्याति नहीं रहती है। अर्थात् 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' इस प्रकार—ध्यान-क्रिया का जो स्वरूप है, वह प्रख्यात ध्येय के स्वरूप में

अभिभूत हो जाता है। आत्मविस्मृति की तरह ध्यान ही समाधि है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ध्यान करते-करते जब हम आत्मविस्मृत हो जाते, जब केवल ध्येय विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहती है तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाती है, ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर नहीं होता है, ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है।

समाधि का लक्षण उत्तम रूप से समझ कर याद रखना चाहिए, नहीं तो योग का कुछ भी यथार्थरूप से समझ में नहीं आएगा। समाधि के विषय में श्रुति है—**'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति'** (बृह० उप० ४।४।२३), **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'** (कठ० १।२।२३)। समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार होता है और समाधि के विना वह नहीं होता है—यह श्रुतिओं के द्वारा ही उक्त हुआ है। समाधि को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार या परमार्थसिद्धि नहीं होती है, यह पहले भी बारबार दिखाया गया है।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि समाधि यदि आत्मविस्मृति-सा ध्यान है तो अहंभाव के या अस्मि के ध्यान में समाधि कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि 'मैं जान रहा हूँ' 'मैं जान रहा हूँ' ऐसी वृत्ति जब रहती है तब एकतान-प्रत्यय या समाधि नहीं होती है, पर सदृश-वृत्तिरूप धारणा होती है। एकतानता होने पर 'जान रहा हूँ···' इस प्रकार जानने की धारा-मात्र रहती है। इस प्रकार के जानने की एकतानता (अहंभाव जिसके अन्तर्गत है) में समाधि हो सकती है। उसमें केवल जानने का निर्भास होता है; परन्तु भाषा में 'मैं अपने को जान रहा था' ऐसा वाक्य कहना होगा। अपने को जब तक स्मरण कर लाना पड़ता है तब तक स्वरूपशून्य के समान एकतान प्रत्यय नहीं होता है। स्मृति का उपस्थान सिद्ध (सहज) होने पर एकतान आत्मस्मृतिरूप-ध्यान स्वरूपशून्य के समान (पूर्णतया स्वरूपशून्य नहीं) होता है।

भाष्यम्—तदेतद्धारणा-ध्यान-समाधित्रयमेकत्र संयमः—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते, तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

भाष्यानुवाद—ये धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही एकत्र संयम कहे जाते हैं—

४। तीनों का एक ही विषय पर संघटित होना संयम कहलाता है। सू०

एक विषयक तीनों साधनों को संयम कहते हैं। इन तीनों की शास्त्रीय परिभाषा संयम (१) है।

टीका ४ (१) समाधि कहने से ही धारणा तथा ध्यान की सत्ता ध्वनित होती है, अतः समाधि को ही संयम कहना चाहिए, धारणा और ध्यान का उल्लेख निष्प्रयोजन है—ऐसी शङ्का हो सकती है।

समाधान यह है कि संयम ध्येयविषय के ज्ञान तथा उसके वशीकरण के उपायरूप से कथित होता है। उसमें एक ही विषय अथवा ध्येय विषय की एक दिशा लेकर ही समाहित होने से कार्य की सिद्धि नहीं होती है, परन्तु विभिन्न दिशाओं में ध्येय विषय के अनेक भावों की धारणा करनी पड़ती है और फिर समाहित होना पड़ता है। एक संयम में बहुत बार धारणा-ध्यान समाधि हो सकती हैं, अतः वे तीनों साधन ही संयम नाम से परिभाषित हुए हैं। अतएव भाष्यकार ने ३।१६ सूत्र के भाष्य में कहा है **'तेन (संयमेन) परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणम्'** इत्यादि। साक्षात्क्रियमाण का अभिप्राय है—धारणा-ध्यान-समाधि का बारबार प्रयोग कर साक्षात्कार करने रहना।

———

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तस्य संयमस्य जयात् समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः, यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

५। संयम से प्रज्ञालोक होता है। सू०

भाष्यानुवाद—संयम-जय से समाधिप्रज्ञा का आलोक (१) होता है। ज्यों-ज्यों संयम स्थिर होता रहता है, त्यों-त्यों समाधिप्रज्ञा विशारदी (निर्मल) होती रहती है।

टीका ५ (१) निम्नोच्च-भूमि के क्रम से संयम का प्रयोग करने पर समाधिप्रज्ञा का उत्कर्ष होता है। अर्थात् क्रमानुसार जितने सूक्ष्मतर विषय में संयम किया जाता है, उतना ही प्रज्ञा निर्मल होती रहती है। तत्त्वविषयक समाधिप्रज्ञा के विषय में पहले (प्रथम पाद में) उक्त हुआ है। इस पाद में संयमप्रयोग के द्वारा जिस रूप से अन्यान्य विषयों का ज्ञान होता है और अव्याहत शक्ति का लाभ होता है, वही प्रधानतः कथित होगा।

समाधि के द्वारा अलौकिक ज्ञान तथा शक्ति का लाभ होता है। ज्ञानशक्ति को यदि केवल एक ही विषय पर निवेशित किया जाए और अन्य विषयों का ज्ञान उस समय सम्यक् न रहे तो उस विषय का सम्यक् ज्ञान होगा, यह

निःसन्देह है। क्षण-क्षण नाना विषयों में विचरण करने से ज्ञानशक्ति स्पन्दित होती रहती है, अतएव किसी विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है।

यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि समाधि में ज्ञानशक्ति के साथ विषय का अत्यन्त सन्निकर्ष होता है। क्योंकि समाधि में ज्ञानशक्ति ज्ञेय से पृथक् प्रतीत नहीं होती (समाधि-लक्षण देखिए)। ज्ञान और ज्ञेय की अपृथक् प्रतीति ही अत्यन्त संनिकर्ष है।

प्रज्ञालोक का अर्थ है—सम्प्रज्ञातरूप प्रज्ञा का आलोक, भुवन-ज्ञानादि नहीं। ग्रहीत-ग्रहण-ग्राह्य विषयक जो तात्त्विक प्रज्ञा या समापत्ति है, वह कैवल्य का सोपान है। उसीको मुख्यतया प्रज्ञालोक-नाम से कहा गया है। कैवल्य के अन्त-रायस्वरूप अन्य सूक्ष्मव्यवहितादि ज्ञान प्रज्ञा नाम से संज्ञित नहीं होते।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः; न ह्यजिताऽधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते, तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादात् (ईश्वरप्रणिधानात्–पाठा०) जितोत्तर-भूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः; कस्मात्, तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः, कथम्, एवमुक्तम्—"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्" ॥[1] इति ॥ ६ ॥

६। भूमियों में उसका (संयम का) विनियोग (करना चाहिए)। सू०

भाष्यानुवाद— उसका =संयम का। जितभूमि की जो परभूमि है उसी में विनियोग करणीय है (१)। जिन्होंने निम्नभूमि को नहीं जीता, वे परवर्त्ती भूमियों को लाँघकर (एकबारगी) प्रान्तभूमियों में संयमलाभ नहीं कर सकते

---

१. 'योगेन···' श्लोक सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद् में मिलता है। यह उपनिषद् अप्राचीनकाल की रचना है। इन अप्राचीन उपनिषदों के बहुसंख्यक श्लोक या तो प्राचीनतर उपनिषदों से अविकृतरूप से लिये गये हैं, या प्राचीन उपनिषदों के वचनों के आधार पर लिखे गये हैं (अल्पाधिक परिवर्तन के साथ)। यही कारण है कि केवल उद्धृत वचन मात्र के आधार पर व्यासभाष्य का कालनिर्णय नहीं करना चाहिए। व्यासभाष्यकार ने किस ग्रन्थ से यह वचन उद्धृत किया है—यह ज्ञात नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्योद्धृत कुछ श्लोकों का आकर हिरण्य-गर्भयोगशास्त्र है, जो सर्वथा लुप्त हो गया है। **[सम्पादक]**

हैं; उसके अभाव में उनको प्रज्ञालोक कैसे हो सकता है ? ईश्वर के प्रसाद से (वा प्रणिधान से) (२) जिन्होंने उत्तरभूमि को जीत लिया है उनके लिए परचित्तादि-ज्ञानरूप निम्नभूमियों में संयम करना युक्त नहीं है, क्योंकि (निम्नभूमि की जय से साध्य) उत्तर भूमि की जो जय है उसकी प्राप्ति अन्य से (ईश्वर या अन्य किसी प्रकार से) होती है। 'यह इस भूमि की परवर्ती भूमि है' इस विषय का ज्ञान योग द्वारा ही होता है। यह कैसे होता है, यह इस वाक्य में कहा गया है–'योग के द्वारा योग ज्ञेय है, योग से ही योग प्रवर्तित होता है, जो योग में अप्रमत्त रहते हैं वे ही योग में चिरकाल रमण करते हैं।'

टीका ६ (१) सम्प्रज्ञात योग की पहली भूमि ग्राह्य-समापत्ति है, दूसरी भूमि ग्रहण-समापत्ति, तीसरी भूमि ग्रहीतृ-समापत्ति और प्रान्तभूमि विवेकख्याति है। एक के बाद एक निम्नभूमियों को जीतकर प्रान्तभूमि में पहुँचना चाहिए। सहसा प्रान्तभूमि में नहीं पहुंचा जाता। ईश्वर के प्रसाद (या प्रणिधान) से प्रान्तभूमि की प्रज्ञा होने पर अधर भूमि की प्रज्ञा अनायास ही उत्पन्न हो सकती है।

६ (२) 'ईश्वरप्रसादात्', 'ईश्वरप्रणिधानात्' ये दो प्रकार के पाठ हैं; दोनों का एक ही अर्थ है। ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वरप्रसाद होता है, उससे उत्तर-अधरभूमि-निरपेक्ष सिद्धि हो सकती है। शङ्का हो सकती है कि ईश्वर तो सदा ही प्रसन्न हैं, उनका फिर प्रसाद कैसे होगा ? उत्तर में यही कहना है कि ईश्वरप्रणिधान करने के लिए आत्मा में ईश्वर की भावना करनी पड़ती है, उससे प्रत्येक देही में जो अनागत ईश्वरता रहती है, वह प्रसन्न या अभिव्यक्त होती रहती है। उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति ही कैवल्य है। अतः इस प्रकार की ईश्वरता के प्रसाद से भूमिजयरूप क्रमनिरपेक्ष सिद्धि हो सकती है। पत्थर में जिस प्रकार मूर्तियाँ निहित रहती हैं, हमारे चित्त में भी उसी प्रकार अनागत ईश्वरता रहती है, जो ईश्वरचित्त के समान है। उसकी भावना करना ही ईश्वर-भावना है। ईश्वर के आत्मगत होने पर भी वर्त्तमान अवस्था में वे हम लोगों के मध्यस्थ अन्य एक पुरुष हैं—ऐसी धारणा होती है। उस भाव की प्रसन्नता ही ईश्वरप्रसाद है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तदेतद् धारणा-ध्यान-समाधित्रयम् अन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिसाधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

७। ये तीन पूर्वोक्त साधनों से अन्तरङ्ग हैं। सू०

भाष्यानुवाद—धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन संप्रज्ञात योग के पहले कहे हुए यमादि साधनों की अपेक्षा अन्तरङ्ग हैं (१)।

टीका ७ (१) संप्रज्ञात योग के ही धारणा, ध्यान तथा समाधि अन्तरङ्ग हैं, क्योंकि समाधि-द्वारा तत्त्वसमूहों का स्फुट ज्ञान होने पर एकाग्रस्वभाव चित्त-द्वारा वह ज्ञान जब विधृत रहता है, तब वह संप्रज्ञान कहलाता है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तदपि अन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य बहिरङ्गम्, कस्मात् तदभावे भावादिति ॥ ८ ॥

८। वह भी निर्बीज का बहिरङ्ग है। सू०

भाष्यानुवाद—वह भी अर्थात् अन्तरङ्ग साधनत्रय भी निर्बीज योग का बहिरङ्ग है; क्योंकि उसके भी (साधनत्रय के) अभाव से निर्बीज सिद्ध होता है। (१)।

टीका ८ (१) धारणा आदि असंप्रज्ञात योग के बहिरङ्ग हैं। उसका अन्तरङ्ग केवल परवैराग्य है। कारण, असम्प्रज्ञात समाधि है–अ (नञ्)+ सम्प्रज्ञात समाधि; अर्थात् संप्रज्ञात का भी अभाव या निरोध। वृत्तिनिरोध को लेकर देखने से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों ही योग या समाधि हैं, पर सबीज समाधि को लेकर विचारने से असंप्रज्ञात का अर्थ होगा अ-बहिरंग समाधि, अर्थात् ध्येयार्थमात्र-निर्भास का भी निरोध।

भाष्यम्—अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः ?

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः; निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः। तयोरभिभवप्रादुर्भावौ, व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते; निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

भाष्यानुवाद—गुणवृत्त चल या परिणामी है; (चित्त भी गुणवृत्त है अतः निरोधक्षणों में चित्त का कैसा परिणाम होता है ?

९। व्युत्थान संस्कार का अभिभव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव होकर प्रत्येक निरोधक्षण में एक अभिन्न चित्त में अन्वित (जो परिणाम होता है, वही) चित्त का निरोधपरिणाम है (१) । सू०

सभी व्युत्थानसंस्कार चित्तधर्म हैं, वे प्रत्ययस्वरूप नहीं होते हैं, प्रत्यय के निरोध से वे निरुद्ध (लीन) नहीं होते। सभी निरोधसंस्कार भी चित्त-धर्म हैं। उनके अभिभव और प्रादुर्भाव का अर्थ है—व्युत्थानसंस्कारों का क्षीण होना और निरोधसंस्कारों का सञ्चित होना। निरोधावसरस्वरूप चित्त में यह परिणाम अन्वित रहता है। एक ही चित्त में संस्कार के इस प्रकार का प्रतिक्षण अन्यथात्व निरोध-परिणाम है। उ समय 'चित्त संस्कारशेष होता है' यह निरोध-समाधि में व्याख्यात हुआ है (द्र० १।१८ सूत्र)।

टीका ९ (१) परिणाम का अर्थ है—अवस्थान्तर होना या अन्यथात्व। व्युत्थान से निरोध होना एक प्रकार का अन्यथात्व या परिणाम है। निरोध एक प्रकार का चित्तधर्म है। चित्त त्रिगुणात्मक होता है। त्रिगुणवृत्ति सदा ही परिणामशील है। अतः निरोध भी परिणामशील होगा। परन्तु निरोध का स्फुट परिणाम अनुभूत नहीं होता है। उसका यह परिणाम कैसा है, यही सूत्रकार कह रहे हैं।

एक ही धर्मी के एक धर्म का उदय और अन्य धर्म का लय ही धर्मपरिणाम है। निरोधपरिणाम में निरोधक्षणयुक्त चित्त ही धर्मी है और उसमें व्युत्थान या संप्रज्ञात के संस्काररूप चित्तधर्म का क्षय तथा निरोधसंस्काररूप चित्त-धर्म की वृद्धि होती रहती है। ये दो धर्म उस निरोधक्षणात्मक चित्तरूप धर्मी में अन्वित रहते हैं, जैसे पिण्डत्वधर्म तथा घटत्वधर्म एक मृत्तिका रूप धर्मी में अन्वित रहते हैं।

निरोधक्षण का अर्थ निरोधावसर है अर्थात् जब तक चित्त निरुद्ध रहता है तब तक जो शून्य-रूपी या अवकाश-सी चित्तावस्था होती है, वह; उस चित्तावस्था में कोई परिणाम लक्षित न होने से भी उसमें परिणाम रहता है, क्योंकि निरोधसंस्कार की वृद्धि देखी जाती है और उसका भङ्ग भी होता है।

निरोध का अभ्यास करने पर ही जब निरोध-संस्कार बढ़ता है तब वह अवश्य ही व्युत्थान को अभिभूत कर बढ़ता है। वस्तुतः निरोध में अभिभव-प्रादुर्भाव का संघर्ष होता है, इस लिए वह भी (अपरिदृष्ट) परिणाम है।

व्युत्थानसंस्कार के द्वारा व्युत्थान उठता है; अतः व्युत्थान न उठ सकने का अर्थ है व्युत्थान संस्कार का अभिभव। निरोध संस्कारशेष या संस्कारमात्र होता है, प्रत्ययमात्र नहीं। अतः यह संघर्ष संस्कार-संस्कार में होता है। अतएव सूत्रकार ने दो प्रकार के संस्कारों के अभिभव-प्रादुर्भाव कहे हैं।

संस्कार-संस्कार में संघर्ष होने के कारण यह अलक्ष्य होता है या प्रत्ययस्वरूप नहीं होता है अर्थात् विराम की चेष्टा का संस्कार व्युत्थान के संस्कार को उस समय अभिभूत कर रखता है। प्रत्ययस्वरूप न होने पर भी अर्थात् स्फुट रूप से ज्ञानगोचर न होने पर भी वह परिणाम है। ठीक वैसे ही जैसे एक कमानी के ऊपर एक गुरु भार रखने से कमानी नहीं उठती, परन्तु उस कमानी का अभिभव और भार का प्रादुर्भाव रूप एक संघर्ष चलता है, यह जाना जाता है।

इन द्विविध संस्कारों का अभिभव-प्रादुर्भाव रूप परिणाम किसमें होता है ? उत्तर–उस समय के चित्त में होता है। उस समय का चित्त कैसा होता है ? उत्तर–निरोध-क्षण-स्वरूप। विवर्द्धमान अतएव परिणम्यमान होने के कारण निरोध का परिणाम ऐसा है। शङ्का हो सकती है कि यदि निरोधसमाधि परिणामी है, तो क्या कैवल्य भी परिणामी होगा ? नहीं, ऐसा नहीं है। विवर्द्धमान निरोध में चित्त का परिणाम रहता है, कैवल्य में चित्त अपने कारण में लीन हो जाता है, अतः उसमें चैत्तिक परिणाम नहीं होता। क्रमशः बढ़ता हुआ निरोध जब सम्पूर्ण हो जाता है, व्युत्थान संस्कार जब समाप्त हो जाता है, तब निरोध का विवृद्धिरूप परिणाम (अथवा व्युत्थान-द्वारा भङ्ग होनारूप परिणाम) समाप्त होने पर चित्त विलीन होता है। अतएव सूत्रकार ने आगे कैवल्य को **'परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्'** (४।३२) कहा है।

जब तक चित्त है तब तक गुणवृत्ति या विकार भी है। परिणाम शेष होने पर या कृतार्थता हो जाने पर गुणवृत्ति नहीं रहती है, चित्त उस समय गुण-स्वरूप में रहता है अर्थात् अव्यक्त में विलीन हो जाता है। निरोध शेष होने पर निरोधसंस्कार भी लीन हो जाता है। भोजराज ने दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार सीसक-मिश्रित सोने को जलाने से वह सीसा स्वयं भी जल जाता है तथा सोने के मल को भी जला देता है, निरोध भी उसी प्रकार का है। उपर्युक्त कमानी तथा भार के दृष्टान्त में यदि कमानी को तपाकर उसके स्थितिस्थापकता-संस्कार को नष्ट कर दिया जाए तो जिस प्रकार अभिभव-प्रादुर्भाव का संघर्ष समाप्त हो जाता है, कैवल्य में भी उसी प्रकार परिणामों की समाप्ति हो जाती है।

भाष्यस्थ पद की व्याख्या—व्युत्थान-संस्कार यहाँ पर संप्रज्ञात का संस्कार है। संस्कार प्रत्ययस्वरूप नहीं है, परन्तु वह प्रत्यय की सूक्ष्म स्थितिशील अवस्था है। संस्कार जिस जाति का है, उस जाति का प्रत्यय निरुद्ध रहने से ही संस्कार निरुद्ध होता हो, यह बात नहीं। बालकपन में बहुत-से प्रत्यय निरुद्ध रहते हैं परन्तु संस्कार नहीं जाता है। उसी संस्कार से जवानी में उसी प्रकार का प्रत्यय होता हुआ देखा जाता है। राग के समय क्रोध-प्रत्यय निरुद्ध रहने के

कारण क्रोध-संस्कार छूट गया, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः संस्कार संस्कार के द्वारा ही निरुद्ध होता है अर्थात् व्युत्थानसंस्कार, निरोधसंस्कार के द्वारा ही निरुद्ध होता है। क्रोध-संस्कार (क्रोध प्रत्यय उठने का संस्कार) अक्रोध संस्कार (अक्रोधनिरोध का संस्कार) से ही निरुद्ध होता है।

व्युत्थान-संस्कार का नाश तथा निरोध-संस्कार का उपचय—प्रतिक्षण चित्त-रूप धर्मी के धर्मों की ऐसी भिन्नता ही निरोध-परिणाम है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

भाष्यम्–निरोधसंस्काराद् निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति, तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

१०। उस निरोधावस्था-प्राप्त चित्त के संस्कार से प्रशान्तवाहिता (१) सिद्ध होती है। सू०

भाष्यानुवाद–निरोधसंस्कार से अर्थात् निरोधसंस्कार के अभ्यास की पटुता से चित्त में प्रशान्तवाहिता होती है। यदि वह निरोधसंस्कार मन्द होता है तो व्युत्थानसंस्कार द्वारा निरोधसंस्कार अभिभूत होता है।

टीका १० (१) प्रशान्तवाहिता=प्रशान्त भाव से वहनशीलता। प्रशान्त भाव का अर्थ है प्रत्ययहीनता या वह भाव जिस भाव में परिणाम लक्षित नहीं होता। निरोधकालीन अवस्था ही चित्त का प्रशान्तभाव है। संस्कारबल से उसका प्रवाह ही प्रशान्तवाहिता है। एक पहाड़ी नदी यदि एक प्रपात (cascade) के बाद कुछ दूर तक सम्पूर्ण समतल भूमि के ऊपर से बहती हुई फिर गिरे तो वह समतलवाही अंश जिस प्रकार वेगशून्य प्रशान्त ज्ञात होता है, निरोधप्रवाह भी उसी प्रकार प्रशान्तवाही होता है। प्रशान्ति=वृत्ति का सम्यक् निरोध।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

भाष्यम्–सर्वार्थता चित्तधर्मः, एकाग्रता चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयः तिरोभाव इत्यर्थः, एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः, तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्। तदिदं चित्तमपायोपजननयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

११। सर्वार्थता और एकाग्रता का यथाक्रम क्षय और उदय ही चित्त का समाधिपरिणाम है। सू०

भाष्यानुवाद—सर्वार्थता (१) चित्तधर्म है, एकाग्रता भी चित्तधर्म है सर्वार्थता का क्षय अर्थात् तिरोभाव, एकाग्रता का उदय अर्थात् आविर्भाव। चित्त इन दोनों के धर्मीरूप से अनुगत है। सर्वार्थता और एकाग्रता–रूप आत्मभूत (स्वकार्य-स्वरूप) धर्मों के यथाक्रम क्षयकाल में और उदयकाल में अनुगत होकर ही चित्त समाहित होता है। उसे चित्त का समाधिपरिणाम कहा जाता है।

टीका ११ (१) सर्वार्थता=अनुक्षण सर्वविषयग्राहिता या विक्षिप्तता। चित्त जो सदा ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ग्रहण किया करता है एवं अतीत-अनागत चिन्तन में लगा रहता है वही सर्वार्थता या सर्वविषयाभिमुखता है। "ता" (तल्+आप्) प्रत्यय भाव या स्वभाव का वाचक है। सहजतः सर्व विषयों के ग्रहण करने में उद्यत रहना रूप धर्म ही सर्वार्थता है।

उसी प्रकार एकाग्रता भी एक विषय में स्थितिशीलता है अर्थात् सहज ही एक विषय में लगा हुआ रहना! सर्वार्थताधर्म का क्षय या अभिभव तथा एकाग्रताधर्म का उदय या प्रादुर्भाव अर्थात् विवर्द्धनशील परिणाम ही चित्तरूप धर्मी का समाधि–परिणाम है। समाधि के अभ्यास से चित्त इस रूप में परिणत होता है।

निरोधपरिणाम केवल संस्कार के क्षयोदय हैं। समाधिपरिणाम संस्कार तथा प्रत्यय दोनों के ही क्षयोदय हैं। सर्वार्थता का संस्कार तथा तज्जनित प्रत्ययक्षय एवं एकाग्रता का संस्कार तथा तन्मूलक एकप्रत्ययता का उपचय, यही समाधिपरिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

भाष्यम्—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्तः, उत्तरस्तत्सदृश उदितः। समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव आ समाधिभ्रेषादिति। स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

१२। समाधिकाल में जो एकाकार अतीत-प्रत्यय तथा वर्त्तमान-प्रत्यय होते रहते हैं, ये चित्त के एकाग्रतापरिणाम हैं ॥ सू०

भाष्यानुवाद—समाहित चित्त का पूर्व-प्रत्यय शान्त (अतीत), और उसके समान उत्तर प्रत्यय उदित (वर्तमान) (१) होते हैं। समाधि-चित्त उन दोनों भावों का अनुगत है, और समाधिभङ्ग पर्यन्त उस रूप में ही (शान्तोदित तुल्य-प्रत्यय अर्थात् धारावाही रूप से एकाग्र) रहता है। यही चित्त-रूप धर्मी का एकाग्रता परिणाम है।

टीका १२ (१) समाधिकाल में शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय समान होते हैं। उस प्रकार की सदृश-प्रवाहिता ही समाधि है। समाधिकाल के बीच में जो समानाकार पूर्ववृत्ति तथा परवृत्ति के लयोदय होते रहते हैं, वे ही एकाग्रता-परिणाम हैं। सूत्रस्थ 'ततः' शब्द का अर्थ है 'समाधि में'।

एकाग्रता-परिणाम केवल प्रत्ययों के लयोदय हैं। मान लो कि कोई योगी छह घण्टे तक समाहित रह सकते हैं। उन छह घण्टों में उनकी एक ही प्रकार की प्रत्यय या वृत्ति थी, उस समय पूर्व वृत्ति जैसी थी, परवर्त्ती वृत्ति भी वैसी ही थी। इस प्रकार की सदृश-प्रवाहिता का नाम एकाग्रता परिणाम है। तदनु वे योगी जब सम्प्रज्ञातभूमि में आरूढ़ होंगे, तब उनका एकाग्रभूमिक चित्त होगा। अतएव वे सदा ही चित्त को समापन्न करने का साधन करने लगेंगे। तब उनका चित्त सर्वविषय-ग्राहकता-रूप धर्म त्याग कर सदा ही एक-विषय-संलग्नता भाव को धारण करने लगेगा (समापत्ति का यही अर्थ है)। यही चित्त का समाधि-परिणाम है।

और वे योगी संप्रज्ञात-योग-क्रम से विवेकख्याति को प्राप्तकर वैराग्य-द्वारा चित्त को कुछ काल तक जब सम्यक् निरुद्ध कर सकेंगे, और उसके बाद उस निरोध को अभ्यासक्रम से जब बढ़ाने लगेंगे तब उनके चित्त का निरोध-परिणाम होगा।

एकाग्रता-परिणाम समाधिमात्र में होता है, समाधिपरिणाम संप्रज्ञातयोग में और निरोध-परिणाम असम्प्रज्ञात योग में होता है। एकाग्रता परिणाम प्रत्ययरूप चित्तधर्मों का, समाधिपरिणाम प्रत्यय तथा संस्काररूप चित्तधर्मों का (**'तज्जस्संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'** यह १।५० सूत्र द्रष्टव्य), और निरोध-परिणाम केवल संस्कारों का होता है। एकाग्रता परिणाम समाधि होने से ही (विक्षिप्तादि भूमि में भी) होता है, समाधिपरिणाम एकाग्रभूमि में होता है।

परिणाम के ये भेद विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। कैवल्ययोग से संबन्धित परिणाम ही दिखाए गए हैं। विदेहलयादि में भी निरोधादि-परिणाम होते हैं, परन्तु वे परिणाम-क्रम-समाप्ति के हेतु नहीं होते।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

भाष्यम्—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण, भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः।

लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः, स खल्वनागतलक्षण-

मध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्त्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नो यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः; एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः। तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तम्, वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्; एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा, न चानागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमनागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्त्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम्, यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः; एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा, न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति। एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथाऽवस्थापरिणामः—तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति; एवं धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामः, धर्माणां लक्षणैः परिणामः, लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्; गुणस्वाभाव्यन्तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः, परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मः, धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति।

तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न द्रव्यान्यथात्वम्; यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथाक्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

अपर आह—धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्; पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः; कस्माद्, एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, कस्मात्, नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्त्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्त्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः; तथानागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्त्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्त्तमानो वर्त्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसङ्करः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति; तस्य परिहारः—धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्, सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यः, न वर्त्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्; एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति।

किञ्च, त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति सम्भवः क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति। उक्तं च—"रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते" तस्मादसङ्करः। यथा रागस्यैव क्वचित् समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः, किन्तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति।

न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वानः, ते लक्षिता अलक्षिताश्च तान्तामवस्थाम्प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः; यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दश एकं चैकस्थाने, यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः;कथम्, अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वाद् यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदाऽनागतः, यदा करोति तदा वर्त्तमानः, यदा कृत्वा निवृत्तस्तदाऽतीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते। नासौ दोषः; कस्मात्, गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्। यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनाम्, एवं लिङ्गमादिमद्धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम्, तस्मिन् विकारसंज्ञेति।

तत्रेदमुदाहरणम्—मृद्धर्मी पिण्डाकाराद् धर्माद् धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति। घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्त्तमानलक्षणं प्रतिपद्यते, इति लक्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तरमवस्था इत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति। एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति।

एते धर्मलक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून् विशेषानभिप्लवते। अथ कोऽयं परिणामः?—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः॥ १३॥

१३। इससे (इस परिणामभेद से) भूतों तथा इन्द्रियों के धर्म, लक्षण और अवस्था नामक परिणाम व्याख्यात हुए। सू०

भाष्यानुवाद—इससे अर्थात् पूर्वोक्त (१) धर्म, लक्षण और अवस्था नामक चित्तपरिणाम से; भूतेन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहे गए हैं, यह जानना चाहिए (२)। उनमें व्युत्थानधर्म का अभिभव तथा निरोधधर्म का प्रादुर्भाव (चित्तरूप) धर्मी के धर्मपरिणाम हैं।

लक्षणपरिणाम—निरोध तीन लक्षण अर्थात् तीन अध्वा (काल) द्वारा युक्त है। वह (निरोध) अनागतलक्षण प्रथम अध्वा को छोड़कर धर्मत्व का

अतिक्रमण न करके (अर्थात् निरोध-धर्म को रखते हुए ही) जो वर्त्तमान लक्षण-सम्पन्न होता है—जिससे उसकी स्वरूप में अभिव्यक्ति होती है—वही निरोध का दूसरा अध्वा है। तब वह वर्त्तमान-लक्षणयुक्त निरोध (सामान्यरूप से स्थित) अतीत और अनागत लक्षणों से भी वियुक्त नहीं होता है। उसी प्रकार व्युत्थान भी त्रिलक्षण या तीन अध्वाओं से युक्त है। वह वर्त्तमान अध्वा को छोड़कर, धर्मत्व का अतिक्रम न करके अतीतलक्षण-सम्पन्न होता है—यही इसकी (व्युत्थान की) तीसरी अध्वा है। तब यह (सामान्यरूप से स्थित) अनागत और वर्त्तमान लक्षण से वियुक्त नहीं होता है। व्युत्थान भी इस प्रकार अनागत लक्षण को छोड़कर, धर्मत्व का अतिक्रम न करके वर्त्तमान लक्षणापन्न होता है; इस दशा में इसकी स्वरूपाभिव्यक्ति होने से व्यापार (कार्य) देखा जाता है। यही इसकी (व्युत्थान की) दूसरी अध्वा है; यह (व्युत्थान) अतीत तथा अनागत लक्षण से भी वियुक्त नहीं होता है। निरोध भी ऐसा ही है, और व्युत्थान भी।

अवस्थापरिणाम—निरोधक्षणों में निरोधसंस्कार बलवान् होते हैं, व्युत्थान संस्कारसमूह दुर्बल होते हैं। यह धर्मों का अवस्थापरिणाम है। इनमें धर्मी का धर्मों द्वारा परिणाम होता है; धर्म का लक्षणत्रय द्वारा परिणाम होता है; लक्षणों का अवस्थासमूह द्वारा परिणाम होता है (३)। इस प्रकार धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीनों परिणामों से शून्य होकर गुण-वृत्त क्षणमात्र भी अवस्थान नहीं कर सकता है। गुणवृत्त या गुणकार्यसमूह चल अर्थात् नित्यप्रति परिवर्तन-शील हैं। गुणों के स्वभाव को ही (४) गुणों की प्रवृत्ति (कार्यरूप में परिणम्य-मानता) का कारण कहा गया है। अतएव भूतेन्द्रियों में धर्मधर्मीभेद के आश्रय द्वारा तीन प्रकार के परिणाम जाने जाते हैं; किन्तु परमार्थतः (धर्मधर्मी में अभेद मानकर) एक ही परिणाम है, (क्योंकि) धर्म धर्मी का स्वरूपमात्र होता है, और धर्मी का यह परिणाम धर्म (एवं लक्षण तथा अवस्था) द्वारा प्रपञ्चित होता है (५)।

धर्मी में वर्त्तमान जो धर्म है, वह अतीत, अनागत या वर्त्तमान रूप में अव-स्थित रहता है; उसके भाव का अन्यथात्व (अर्थात् संस्थानभेदादि अन्य धर्मों का उदय) ही होता है, पर द्रव्य का अन्यथात्व नहीं होता; जैसे सोने का बर्तन तोड़कर उसे अन्यरूप करने से केवल भाव का अन्यथात्व (भिन्न आकार या धर्मोदय) होता है, पर सोने का अन्यथात्व नहीं होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि "पूर्वतत्त्व (धर्मी) के अनतिक्रम के कारण अर्थात् स्वभाव का अतिक्रम न करने के कारण धर्मी धर्म के अतिरिक्त नहीं है (अर्थात् धर्म और धर्मी एकान्त अभिन्न हैं)"। यदि धर्मी धर्मान्वयी (सब धर्मों में एक ही भाव से अवस्थित) हों, तो वह (धर्मी) पूर्व तथा पर अवस्था

का भेदानुपाती होकर अर्थात् सभी भेदों में एक रूप से रहकर कूटस्थरूप (नित्य अविकार भाव में अवस्थित) रहेगा (६)। (इस प्रकार धर्मी का कूरस्थता-प्रसंग होने के कारण हमारा मत सदोष है—वे इस प्रकार दोषारोपण करते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है)। पर यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हमारे मत में द्रव्य की एकान्त-नित्यता या कूटस्थता नहीं मानी जाती है। (हमारे मत में) इस त्रैलोक्य (कार्य-कारणात्मक बुद्ध्यादि पदार्थ) का व्यक्तावस्था (वर्तमान या अर्थक्रियाकारी अवस्था) से अपगम होता है (अर्थात् अतीत या लयावस्था की प्राप्ति होती है), क्योंकि उसकी अविकारनित्यता का प्रतिषेध (हमारे मत में) है; उसी प्रकार अपगत या लीन होकर भी वह रहता है, क्योंकि उसका (त्रैलोक्य का) एकान्त विनाश प्रतिषिद्ध है। संसर्ग (अपने कारण में लय पाने) के कारण उसकी सूक्ष्मता है एवं सूक्ष्मता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

लक्षणपरिणाम युक्त धर्म तीनों अध्वाओं (कालत्रय) में अवस्थान करता है। (कारण यह है कि) जो अतीत या अतीत-लक्षणयुक्त है, वह अनागत तथा वर्त्तमान लक्षण से अवियुक्त है। उसी प्रकार जो अनागत या अनागत लक्षणयुक्त है, वह वर्तमान तथा अतीत लक्षण से अवियुक्त है। उसी प्रकार जो वर्त्तमान है, वह वर्त्तमान लक्षण से युक्त है, पर अतीतानागत लक्षण से अवियुक्त है; या ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कोई पुरुष किसी एक स्त्री में अनुरक्त होने पर भी दूसरी स्त्रियों में विरक्त नहीं होता है।

'सबके सब लक्षणों के साथ योग होने से अध्वसंकर की प्राप्ति होगी' लक्षण-परिणाम के बारे में अपरवादियों द्वारा यह दोष दिया जाता हैं (७)। इसका परिहार यह है—सारे धर्मों का धर्मत्व (धर्मी से व्यतिरक्तता अर्थात् विकार-शील गुणत्व तथा अभिभवप्रादुर्भाव पहले साधे हुए होने के कारण यहाँ पर) असाधनीय है; साथ ही धर्मत्व सिद्ध होने पर लक्षणभेद भी वाच्य होता है, क्योंकि वर्त्तमान समय में अभिव्यक्त रहना ही इसका धर्मत्व नहीं होता है। ऐसा होने से (वर्त्तमान-अभिव्यक्ति का ही धर्मत्व होने से) चित्त क्रोध-काल में राग-धर्मक नहीं होगा; क्योंकि उस समय राग अभिव्यक्त नहीं रहता है।

यह भी ज्ञातव्य है कि त्रिविध लक्षणों का एक साथ एक व्यक्ति में होना सम्भव नहीं है, परन्तु क्रमानुसार अपने व्यञ्जक (निज अभिव्यक्ति के कारण) के द्वारा अञ्जन (अभिव्यक्ति का भाव) होता है। इस विषय पर कहा भी गया है, 'बुद्धि के रूप (धर्मज्ञानादि आठ) और वृत्ति (शान्तादि तीन) का अतिशय या उत्कर्ष होने पर वे आपस में (अन्य विपरीत रूप या वृत्ति के साथ) विरुद्धाचरण करते हैं; तथा सामान्य (रूप या वृत्ति) अतिशय के साथ प्रव-

त्ति होता है' (२।१५ सूत्र देखिए)। अतएव अध्वसांकर्य नहीं होता है। जैसे किसी विषय पर राग का समुदाचार अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्त भाव रहने पर उस समय अन्य विषय में राग का अभाव नहीं होता है, किन्तु केवल सामान्य रूप से उसमें राग रहा करता है। अतएव वहाँ (जहाँ राग अभिव्यक्त है वहाँ से अतिरिक्त स्थान में) राग का भाव है। लक्षण भी ऐसा ही है।

धर्मी तो त्र्यध्वा नहीं होता है, पर धर्मसमूह ही त्र्यध्वा हैं। लक्षित (व्यक्त; वर्त्तमान) अथवा अलक्षित (अव्यक्त; अतीत और अनागत) वे धर्म भिन्न अवस्था को प्राप्त कर भिन्न रूप से निर्दिष्ट होते हैं; केवल अवस्थाभेद से ही ऐसा होता है, द्रव्यभेद से नहीं। जैसे कि एक रेखा सौ के स्थान में सौ, दस के स्थान में दस, एक के स्थान में एक—इस रूप से व्यवहृत होती है [विज्ञानभिक्षु कहते हैं जैसे कि एक रेखा या संख्या दो बिन्दुओं से पहले रहने से सौ प्रकट करती है और एक बिन्दु से पहले रहने से दस और अकेली होने से एक]; और जैसे कि कोई एक ही स्त्री सम्बन्धानुसार माँ, बेटी या बहिन मानी जाती है इन धर्मों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

अवस्थापरिणाम में (८) कुछ व्यक्ति कूटस्थतारूप दोष का आरोप करते हैं;-कैसे ? "अध्वा के व्यापार-द्वारा व्यवहित या अन्तर्हित रहने के कारण जब धर्म अपना व्यापार नहीं करता है, तब वह अनागत है, जब व्यापार या क्रिया करता है तब वर्त्तमान है; और जब व्यापार कर निवृत्त होता है तब अतीत है; इसी से (त्रिकाल में ही सत्ता रहने के कारण) धर्म तथा धर्मी का और लक्षण तथा अवस्थाओं का कौटस्थ्य सिद्ध होता है"–परपक्षवादी इस प्रकार का दोष दिखाते हैं। यह दोष नहीं है, क्योंकि गुणी की नित्यता रहने पर भी गुणों की विमर्दजनित (=परस्पर अभिभाव्य-अभिभावकभाव-जनित) (कूटस्थता से) विलक्षणता होने के कारण (कूटस्थता सिद्ध नहीं होती)। यथा—अविनाशी (भूत की अपेक्षा) शब्दादि तन्मात्रों का विनाशी, आदिमान्, धर्ममात्र (पञ्चभूतरूप) संस्थान है; ऐसे ही अविनाशी सत्त्वादि गुणों का लिङ्ग (महत्तत्त्व) आदिमत्[1], विनाशी धर्ममात्र है। उसी में (धर्म में) विकार नाम दिया जाता है।

---

1. लिङ्ग (महत्तत्त्व) को आदिमत् कहा गया है। वस्तुतः लिङ्ग अनादि है, किसी काल में लिङ्ग उद्भूत नहीं हुआ है। भाष्यगत आदि का अर्थ है—कारण; आदिमत् = जिसका कारण है, वह। लिङ्ग का उपादान है त्रिगुण और हेतु है पुरुष। आदि शब्द की कारणवाचकता प्रसिद्ध है। विवरणटीका में आदि= कारण कहा भी गया है। **[सम्पादक]**

परिणाम के विषय में यह (लौकिक) उदाहरण है :—मृत्तिका धर्मी है, वह पिण्डाकार धर्म से भिन्न धर्म प्राप्त कर 'घटाकार' धर्म में परिणत होती है (अर्थात् घट रूप बनना ही उसका धर्मपरिणाम होता है)। घटाकार अनागत लक्षण त्याग कर वर्त्तमान लक्षण को प्राप्त करता है; यह लक्षणपरिणाम है। घट प्रतिक्षण नवत्व तथा पुराणत्व का अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणाम प्राप्त करता है। धर्मी का धर्मान्तर भी अवस्थाभेद है, धर्म का लक्षणान्तर भी अवस्थाभेद है; अतः यह एक ही अवस्थान्तरता रूप द्रव्य-परिणाम तीन भागों में दिखाया गया है। इसी प्रकार (यह परिणाम-विचार) पदार्थान्तर में भी योज्य है।

ये धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम (त्रिविध होने पर भी) धर्मी के स्वरूप का अतिक्रम नहीं करते हैं (अर्थात् परिणाम होने पर भी वे धर्मी के स्वरूप से भिन्न कोई द्रव्य नहीं होते, पर नित्यप्रति धर्मी के स्वरूप में अनुगत रहते हैं); इस कारण (परमार्थतः) धर्मरूप एक ही परिणाम है; और वह अन्य विशेषों को (धर्म, लक्षण तथा अवस्था को) व्याप्त करता है अर्थात् परिणाम के उक्त तीनों प्रकार एक ही धर्मपरिणाम के अन्तर्गत होते हैं। यह परिणाम क्या है ?—अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर अन्य धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है (९)।

टीका १३ (१) पहले योगिचित्त के जो निरोधादि तीन परिणाम बताए गए हैं, वे ही धर्म, लक्षण तथा अवस्था-परिणाम नहीं हैं। निरोधादि जिस प्रकार के परिणाम हैं, भूतेन्द्रियों में भी उसी प्रकार के परिणाम हैं। यही 'एतेन' शब्द-द्वारा कहा गया है। निरोधादि प्रत्येक परिणाम में धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम हैं, यही भाष्यकार ने समझाया है।

१३ (२) परिणाम या अन्यथाभाव तीन प्रकार का होता है—धर्मसंबन्धी लक्षणसंबन्धी तथा अवस्था-सम्बन्धी। अर्थात् इन तीन प्रकारों से हम किसी द्रव्य का भिन्नत्व समझते और कहते हैं। एक धर्म का क्षय और अन्य धर्म का उदय होने से जो भेद देखा जाता है, वही धर्म-परिणाम कहलाता है। जैसे व्युत्थान का लय तथा निरोध का उदय होने पर हम कहते हैं कि चित्त का धर्मपरिणाम हुआ।

तीन कालों का नाम लक्षण है। कालभेद से जो भिन्नता हम समझते हैं, वह लक्षणपरिणाम है। जैसे हम कहते हैं कि व्युत्थान था, अब नहीं है; अथवा निरोध था, अब है और भविष्य में भी निरोध रहेगा। अतीत, अनागत और वर्त्तमान इन तीन लक्षणों से लक्षित कर द्रव्य का जो भेद समझा जाता है, वही लक्षण परिणाम है।

फिर लक्षणपरिणाम में भी हम भेद करते है; वहाँ धर्मभेद या लक्षणभेद

को विवक्षा नहीं रहती है; जैसे, एक ही हीरा को नया और कुछ काल के बाद पुराना कहा जाता है। यहाँ पर एक ही वर्त्तमान लक्षण पुरातन और नूतन भाव को प्राप्त करता है। हीरा के धर्मभेद की भी यहाँ विवक्षा नहीं है [३।१५ (१) देखिए]। अन्य उदाहरण भी है—निरोधकाल में निरोधसंस्कार बलवान् होता है और व्युत्थानसंस्कार दुर्बल रहता है। वर्तमान-लक्षणक निरोध तथा व्युत्थान-धर्म को यहाँ 'बलवान् एवं दुर्बल' इस प्रकार बल-पदार्थ के द्वारा भिन्न रूप से प्रदर्शित किया गया है। 'बलवान्' एवं 'दुर्बल' पद के द्वारा यहाँ धर्म-भेद की विवक्षा नहीं है, यह समझना चाहिए। इनमें धर्मपरिणाम ही वास्तव है, अन्य दोनों परिणाम वैकल्पिक हैं। व्यवहार में उनकी आवश्यकता रहने के कारण यहाँ वे गृहीत हुए हैं। कारण, सूत्रकार इस परिणामविचार को अतीतानागत ज्ञान की भूमिका बना रहे हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह (संयम-द्वारा साक्षात् की जाने वाली वस्तु) नयी है या पुरानी, इत्यादि।

१३ (३) धर्म के अन्यथात्व द्वारा धर्मी का परिणाम अनुभूत होता है। लक्षण के अन्यथात्व-द्वारा धर्मो का परिणाम कल्पित होता है। अतएव भाष्यकार ने लक्षणपरिणाम के व्याख्यान में कहा है कि 'धर्म के अनतिक्रम-पूर्वक' अर्थात् वे लक्षणपरिणाम चूँकि एक ही धर्म की कालावस्थिति के अन्यत्व हैं इसलिए उनमें धर्म का अन्यथात्व नहीं होता है। जैसे, एक ही नीलत्व धर्म था, है और रहेगा; यहाँ इन तीनों भेदों में एक ही नीलत्व भिन्नरूप में कल्पित होता है।

लक्षण का परिणाम अवस्थाभेद-द्वारा कल्पित होता है। उसमें लक्षण का अन्यथात्व नहीं होता है; अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान इनका एक ही लक्षण अवस्थाभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में कल्पित होता है। जैसे निरोधक्षण में निरोध-संस्कार भी है तथा व्युत्थानसंस्कार भी; पर व्युत्थान की तुलना में निरोध बलवान् है, अतः उसे भिन्न माना जाता है।

वर्त्तमानलक्षणक भावपदार्थ अतीत और अनागत से वियुक्त नहीं है। कारण, वही अनागत था और वही अतीत होगा—इस प्रकार का व्यवहार होता है। वास्तव में अतीत और अनागत भाव सामान्य रूप में रहना मात्र है। उसमें पदार्थ का स्वरूप अनभिव्यक्त रहता है। वर्त्तमानलक्षणक पदार्थ की ही स्वरूपाभिव्यक्ति होती है अर्थात् अर्थ या विषय रूप से क्रिया-कारिणी अवस्था की अभिव्यक्ति होती है। स्वरूप=विषयीभूत तथा क्रियाकारी रूप।

१३ (४) गुण का स्वभाव ही परिणामशीलता है। रज ही क्रियाशील भाव है। क्रियाशील ही परिणामशील है। स्वभावतः सब दृश्य पदार्थों में जो क्रियाशीलता देखी जाती है, उस सर्वसाधारण क्रियाशीलता का नाम रज है। क्रियाशीलता का हेतु नहीं हैं; वही दृश्य का अन्यतम मूलस्वभाव है। (जगत्

के कारण रूप) त्रिगुण के निर्देश का अर्थ है—उस प्रकार के स्वभाव का निर्देश। शङ्का हो सकती है कि यदि स्वभाव से ही गुण प्रवर्त्तनशील है तो चित्त की निवृत्ति असम्भव है। ऐसा नहीं है। गुण का स्वभाव से परिणाम होता है, यह सत्य है; किन्तु बुद्धि आदि संघात या गुण-वृत्ति की संहत्यकारिता गुणस्वभावमात्र से नहीं होती। वह पुरुष के उपदर्शन की अपेक्षा करती है। उपदर्शन का हेतु संयोग है; संयोग का हेतु अविद्या है। अविद्या निवृत्त होने पर उपदर्शन निवृत्त होता है; उपदर्शन निवृत्त होने पर बुद्ध्यादिरूप संघात भी लीन होता है। उस समय दृश्य पुनः पुरुष द्वारा दृष्ट नहीं होता।

१३ (५) मूलतः धर्मसमष्टि ही धर्मी का स्वरूप है। आगामी सूत्र में सूत्रकार ने धर्मी का लक्षण दिया है। भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान धर्मों के अनुपाती पदार्थ को उन्होंने धर्मी कहा है। व्यावहारिक दृष्टि में धर्म और धर्मी का भिन्न रूप से व्यवहार किया जाता है। परन्तु मौलिक दृष्टि में (गुणत्व-अवस्था में) जहाँ अतीत, अनागत नहीं हैं, वहाँ धर्म और धर्मी एक ही रूप से निर्णीत होते हैं। अर्थात् उस समय त्रिगुणभाव में धर्म और धर्मी एक ही होते हैं। मूलतः विक्रियामात्र है। व्यवहारतः उस विक्रिया के कुछ अंशों को (जो हमारे गोचर होते हैं, केवल उन्हीं को) हम वर्त्तमान धर्म कहते हैं, अन्य अंशों को अतीत-अनागत कहते हैं। उन अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान धर्मों के समुदाय के साधारण आश्रयरूप में अभिकल्पित पदार्थ को हम धर्मी कहते हैं।

व्यवहार-दृष्टि छोड़कर यदि सभी दृश्यों को प्रकाशशील, क्रियाशील तथा स्थितिशीलरूप से देखा जाए, तो अतीत-अनागत कुछ नहीं रहते हैं। परन्तु वह अव्यक्त अवस्था है। अव्यक्त ही मूल धर्मी या धर्म है [३।१५ (२) देखिए]। व्यक्ति में प्रकाशशीलता आदि गुणों का तारतम्य रहता है। ये असंख्य तारतम्य ही असंख्य धर्म हैं; अतएव भाष्यकार ने कहा है कि धर्म धर्मी का स्वरूपमात्र है। और धर्मी की विक्रिया धर्म-द्वारा ही प्रपञ्चित या विस्तृत होती है, अर्थात् धर्मी की विक्रिया ही अतीत-अनागत-वर्त्तमान धर्म-प्रपञ्च रूप से प्रतीत होती है। वास्तव में धर्मी की विक्रिया ही है; वही धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणामस्वरूप से व्यवहृत होती है।

१३ (६) धर्म और धर्मी मूलतः एक हैं, पर व्यवहारतः भिन्न हैं, क्योंकि तत्त्वदृष्टि व्यवहारदृष्टि से भिन्न है। उस भिन्नता का आश्रय करके ही धर्म और धर्मी ये दो भिन्न पदार्थ स्थापित हुए हैं। व्यवहारतः धर्म और धर्मी अभिन्न हैं-ऐसा कहने से सभी धर्म मूलशून्य होते हैं या मूलतः अभाव होता है। सत् पदार्थ मूलतः असत् है, यह सर्वथा अन्याय्य है। यदि कहा जाए कि घटरूप धर्मसमष्टि ही है, उसके अतिरिक्त धर्मी नहीं है, तो घट चूर्ण होने पर कहना चाहिए कि घटत्वधर्म

समूह का अभाव हो गया और चूर्णत्वधर्म उस अभाव से उदित हुआ। यह असत्कारणवाद है। बौद्ध इसी वाद को लेकर सांख्य से अपनों को पृथक् मानते हैं। सत्कार्यवाद मे घटत्व मृत्तिकारूप धर्मी का धर्म है; चूर्णत्व भी मृत्तिका का धर्म है। घट के नाश का अर्थ है घटत्व धर्म का अभिभव और चूर्णत्व का प्रादुर्भाव। एक ही मृत्तिका के ये विभिन्न धर्म हैं, क्योंकि घट में भी मृत्तिका रहती है, चूर्ण में भी। अतः व्यवहारतः मृत्तिका को धर्मी और घटत्व आदि को धर्म नाम देकर भेद करने के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं है।

तत्त्वदृष्टि क्रम के अनुसार सामान्यधर्म से क्रमशः चरमसामान्य धर्म में पहुँचने पर केवल सत्त्व, रजः तथा तमः—ये तीन गुण ही रहते हैं। वहाँ धर्मधर्मी में प्रभेद करने का उपाय नहीं है। वे अभाव नहीं हैं एवं स्वरूपतः व्यक्त भी नहीं हैं, अतः सत् तथा अव्यक्त हैं। परमार्थदृष्टि से इस प्रकार धर्म तथा धर्मी एक ही होते हैं। अतः तीनों गुण phenomena भी नहीं हैं और noumena भी नहीं हैं और वे इन पदों के द्वारा समझे जानेवाले पदार्थ भी नहीं हैं।[1]

व्यवहार-दृष्टि में अतीत और अनागत धर्म अवश्य ही रहेंगे अतः सभी व्यावहारिक भावों को एकाएक वर्त्तमान या इन्द्रियगोचर कहने से वाक्य-विरोध होता है। धर्म व्यावहारिक भाव है; अतः उसे अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान—इस प्रकार से त्रिविध कहना चाहिए। वर्त्तमान धर्म ज्ञानगोचर होता है, अतीत तथा अनागत ज्ञानगोचर न होने पर भी रहते हैं। वे जिस भाव में रहते हैं वही धर्मी कहलाता है। सभी अतीत और अनागत मौलिक धर्म भी 'हैं' या 'वर्त्तमान हैं' ऐसा कहने से वे 'सूक्ष्म रूप से' या 'मौलिक रूप से' या 'अव्यक्त त्रिगुण रूप से' हैं—इस प्रकार कहना होगा। सांख्य ठीक यही कहता है। व्यवहारतः धर्मसमूह अतीत, अनागत और वर्त्तमान ऐसे भेदों से भिन्न हैं

1. Noumenon = That which cannot be known directly in consciousness but is conceived or inferred by the mind to account for the existence & character of phenomena (R. Jordine : The Elements of the Psychology of Cognition p. 346)। इसको हम 'वस्तु का चित्तनिरपेक्ष वास्तव स्वरूप कह सकते हैं। Phenomenon = An appearance ; any thing which appears in consciousness, and thus is an object of knowledge is a phenomenon (P. 347). इसको हम वस्तु का इन्द्रियग्राह्य स्वरूप कह सकते हैं। मूलग्रन्थ में ये दो शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुये हैं। [सम्पादक]

एवं धर्मी में समाहृत हैं; और तत्त्वतः वे (अर्थात् गुण तथा गुणी) अभिन्न और अव्यक्तस्वरूप हैं; यही सांख्यमत है।

पूर्वोक्त मतानुसार बौद्ध आपत्ति करते हैं कि धर्म और धर्मी यदि भिन्न हैं तो सभी धर्म परिणामी होंगे (क्योंकि उसी प्रकार ही वे देखे जाते हैं) और धर्मी कूटस्थ होगा, अर्थात् परिणाम धर्म में ही वर्त्तमान रहेगा, फलतः धर्मी अपरिणामी होगा। सांख्य धर्म और धर्मी का भेद एकान्त पक्ष में (सम्पूर्ण रूप से) स्वीकार नहीं करता है, अतः यह आपत्ति निःसार है। व्यवहार में सचमुच एक धर्म ही अन्य धर्म का धर्मी होता है (आगामी १५ वें सूत्र का भाष्य देखिए); जैसे सुवर्णत्व-धर्म बलयत्व-हारत्व आदि धर्मों का धर्मी है, क्योंकि वह बलयत्व आदि अनेक धर्मों में एक सुवर्णत्वरूप से अनुगत है। इसी प्रकार भूतों का धर्मी तन्मात्र, तन्मात्र का अहंकार, अहंकार का बुद्धि तथा बुद्धि का धर्मी प्रधान सिद्ध होता है। तन्मात्रत्व धर्म, भूतत्व धर्म का धर्मी है—इत्यादि क्रम से एक धर्म का ही अन्य धर्म की अपेक्षा धर्मीत्व सिद्ध होता है।

धर्मसमूह धर्मी से भिन्न हैं, यह बौद्ध लोग भी मानते हैं। अतः भूतों का धर्मी-स्वरूप तन्मात्रधर्म भूतधर्म से विभिन्न होगा। इस प्रकार व्यवहारतः धर्म तथा धर्मी में भेद है। एक परिणामी धर्मस्कन्ध ही जब अन्य धर्म का धर्मी है, तब धर्मी भी परिणामी होगा; उसकी कूटस्थता की सम्भावना नहीं है।

अतएव बौद्धों की आपत्ति संगत नहीं है। पहले ही कहा गया है कि व्यवहारतः धर्म-धर्मी में भेद रहता है, पर मूलतः अभेद है। अतः सांख्य एकान्त-भेदवादी अथवा एकान्त-अभेद-वादी नहीं हैं। बौद्ध व्यवहार में भी धर्म-धर्मी का अभेद करके अन्याय्य शून्यवाद को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। बौद्धमत में उपादान कारण स्पष्टतः स्वीकृत नहीं होता; उसके मत में सभी कारण प्रत्यय या निमित्त होते हैं। वे एक साथ सारे संसार को रूपधर्म, वेदनाधर्म, संज्ञाधर्म, संस्कारधर्म तथा विज्ञानधर्म—इन धर्मस्कन्धों (समूहों) में विभक्त करते हैं।[1] सभी जब धर्म हैं, तब धर्मी और क्या होगा ? अतएव धर्म का मूल

---

१. ग्रन्थकार स्वामीजी ने अभिधर्मसार नामक बंगला निबन्ध में इन स्कन्धों का जो परिचय दिया है, उसका संक्षिप्तसार दिया जा रहा है—स्कन्ध का अर्थ समूह है; रूपस्कन्ध = रूपसमूह। रूपस्कन्ध में सांख्य का इन्द्रिय एवं विषय दोनों का एक प्रकार से अन्तर्भाव हो जाता है। रूप २८ प्रकार का है—चार भूतरूप (पृथिवी आदि) एवं चौबीस उपादायरूप। उपादाय=भूतग्रहण-पूर्वक जो चक्षु आदि प्रवर्तित होते हैं, वे। जो कुछ वेदयितलक्षण हैं, वे वेदनास्कन्ध में आते हैं। सुख आदि की वेदना वेदयित है। जातिभेद से वेदना कुशल-अकुशल-

शून्य या अभाव है। रूप का मूल शून्य है, वेदना आदि प्रत्येक का मूल ही शून्य होता है। यह बौद्धदर्शन में 'शून्यतावार' नाम से व्याख्यात होता है।[1] उनमें (धर्मों में) कोई किसी का प्रत्यय (निमित्त) है और कोई प्रतीत्य (हेतुजन्य पदार्थ) है।

वस्तुतः यह दृष्टि ठीक नहीं है। केवल हेतु से कुछ नहीं होता है, उपादान भी चाहिए। जो धर्म बहुत कार्यों में साधारण है, वही उपादान है। इस प्रकार देखा जाता है कि रूपधर्मसमूह का उपादान भूतादि नामक अस्मिता है। वेदनादि का भी उपादान तैजस अस्मिता है; अस्मिता का उपादान बुद्धितत्त्व और बुद्धि का उपादान प्रधान है। प्रधान अमूल भाव पदार्थ है। भाव-उपादान से ही भाव बनता है। अतएव मूल भाव प्रधान से ही समस्त भाव बन सकते हैं।

बौद्धों की इस धर्मदृष्टि से धर्म का निरोध या निर्वाण युक्तितः सिद्ध नहीं होता है। पहले ही शङ्का होती है कि यदि धर्म-सन्तान स्वभावतः चल रहे हैं, तो उनका निरोध कैसे होगा? उत्तर में बौद्ध लोग कहते है कि धर्मसन्तान में प्रत्यय तथा प्रतीत्य देखे जाते हैं; बिना हेतु के कुछ नहीं बनता है। हेतु का निरोध करने पर प्रतीत्य भी (हेतु से उत्पन्न पदार्थ भी) निरुद्ध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद में चक्राकार से यही हेतु-प्रतीत्य-शृङ्खला दिखाई जाती है; जैसे—अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन (नामरूप—नाम का अर्थ है शब्द द्वारा मानस ज्ञान, रूप का अर्थ है बाह्य ज्ञान, षडायतन=पाँचों इन्द्रियाँ और मन), उससे स्पर्श (बाह्य इन्द्रियों का ज्ञान), उससे वेदना, उससे तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उससे

अव्याकृत-भेदवान् है; स्वभावभेद से यह सुख-दुःख-सौमनस्य-दौर्मनस्य-उपेक्षा-भेदवान् है। संज्ञा का स्वरूप कुछ अस्पष्ट है। संभवतः यह आलोचनज्ञान-जातीय पदार्थ है। विज्ञान का स्पष्ट लक्षण बौद्धशास्त्र में शायद ही मिलता हो। किसी वस्तु का लक्षणपूर्वक एवं प्रतिवेधपूर्वक ज्ञान विज्ञान है। मनोभाव का ज्ञान भी विज्ञान कहलाता है। वस्तुतः संज्ञा, वेदना, रूप और संस्कारस्कन्ध का मिश्रित ज्ञान और विज्ञान का भी पुनर्ज्ञान-ये सब विज्ञानस्कन्ध में आते हैं। इस स्कन्ध को ८९ या १२१ भाग में विभक्त किया गया है। जो अभिसंस्करण-लक्षणक हैं वे सब संस्कारस्कन्ध हैं। (अभिसंस्करण=राशीकरण)। संभवतः स्वेच्छा-पूर्वक या स्वतः वेदनादि-स्कन्धत्रयात्मक भावों का संचय ही संस्कार है और इन संस्कारों का समूह संस्कारस्कन्ध है। **[सम्पादक]**

१. द्र० धम्मसंगणि, प्रकरण १२१–१४५ (सुञ्ञतावारो—पालि)। **[सम्पादक]**

भव, भव से जाति, जाति से दुःखादि[1]। अविद्या निरुद्ध होने पर अनुलोम क्रम से संस्कार-निरोध होने से विज्ञान निरुद्ध होता है, इत्यादि।

बौद्ध कहते हैं जब हम देखते हैं कि इस प्रकार सभी निरुद्ध हो जाते हैं तब मूल शून्य है। इसमें तनिक भी युक्ति नहीं है। अगर अविद्या अपने आप निष्प्रत्यय ही निरुद्ध होती, तो यह सत्य होता। किन्तु अविद्यानिरोध का भी प्रत्यय (हेतु) आवश्यक है। विद्या ही वह प्रत्यय है। अतएव अविद्या-सन्तान निरुद्ध होने पर विद्यासंतान रहेगा, यही युक्तियुक्त मत है। एक प्रकार के बौद्ध (शुद्धसंतानवादी) हैं जो भावस्वरूप निर्वाण स्वीकार करते हैं। शून्यवादी का पक्ष सर्वथा अयुक्त है।

पानी से भाप बनती है, भाप से बादल, बादल से वर्षा, वर्षा से फिर पानी इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा देखकर यदि यह कहा जाए कि बिना पानी के भाप नहीं रहेगी, भाप न रहने से बादल नहीं रहेगा, बादल के विना वर्षा न रहेगी, बिना वर्षा के पानी नहीं होगा, अतः पानी का मूल शून्य है तो यह कथन जिस प्रकार अयुक्त है, उसी प्रकार ऊपर कहा हुआ शून्यवाद भी अयुक्त है। इसके अतिरिक्त बौद्ध लोग निर्वाण को भी धर्म कहते हैं। अतः 'शून्य' धर्मविशेष होता है, अभाव नहीं। अतः यह भी मानना होगा कि परिदृश्यमान धर्मस्कन्ध का मूल भी 'अभाव' नहीं है। अथवा धर्मों को अमूल कहने पर 'उनका अभाव होगा' इस प्रकार का मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

उस अमूल 'धर्म' को या मूल 'धर्मी' को सांख्यशास्त्री त्रिगुण कहते हैं। वह विकारशील है, परन्तु नित्य है। व्यक्तावस्था में उनकी उपलब्धि होती है। वह सदा ही सत् है, उसे अभाव कहना नितान्त युक्तिहीन चिन्तन है। भाष्यकार ने युक्ति और उदाहरण के साथ यह दिखाया है। त्रैलोक्य या व्यक्त विश्व विक्रियमाण होकर (यथायथरूप से विलोमक्रम द्वारा) अव्यक्तता प्राप्त करता है। अव्यक्तता या कारण में लीन रूप से रहना विकार की ही एक अवस्था है। व्यक्तता भी उसी प्रकार विकार की अवस्था है। व्यक्ततारूप तथा अव्यक्तता-रूप विकार का मौलिक विभाग इस प्रकार है :—

---

१. बौद्ध ग्रन्थ में 'जाति से जरामरणादि' ऐसा प्रायेण कहा जाता है। 'आदि' पद से शोक, परिदेवन (=विलाप), दुःख, दौर्मनस्य और उपायासा—ये लिये जाते हैं। वाचस्पति ने प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या में (भामती २।२।१९) प्रत्यय को हेतुओं का समवाय कहा है। अभिधर्मशास्त्र में प्रत्यय का यह अर्थ नहीं मिलता—यह ज्ञातव्य है। [सम्पादक]

- परिणाम
  - व्यक्त (कारण से विविक्त)
    - आन्तर (कालिक अवस्था-भेद)
      - प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति के तारतम्यजन्य असंख्य भेद
    - बाह्य (दैशिक अवस्था-भेद)
      - शब्दादि प्रकाश्य-गुणों की भिन्नता
      - क्रिया की भिन्नता
      - जड़ता की भिन्नता
  - अव्यक्त (कारण में लीन)

फलतः अव्यक्त भाव में भी विश्व रहता है। अतएव सांख्य में अत्यन्तनाश स्वीकृत नहीं होता। अव्यक्तावस्था में सूक्ष्मता के कारण किसी की भी उपलब्धि नहीं होती। सूक्ष्मता का अर्थ है संसर्ग या कारण के साथ अविविक्त (अतः दर्शन के अयोग्य) होकर रहना। जिस प्रकार घट के अवयव पिण्ड में संपिण्डित रहने के कारण लक्षित नहीं होते हैं, परन्तु विशेष हेतु से वे अवयव यथास्थान स्थापित होने पर ही घट व्यक्त होता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। अथवा जिस प्रकार मांस का एक टुकड़ा मिट्टी आदि में परिणत होने से अलक्ष्य हो जाता है, बुद्धि आदि भी इसी प्रकार त्रिगुण में लीन होकर अलक्ष्य हो जाते हैं। मिट्टी में परिणत होने से मांस का जिस प्रकार प्रातिस्विक परिणाम नहीं रहता है, परन्तु मिट्टी का परिणाम रहता है, बुद्ध्यादि का लय होने पर इसी प्रकार बुद्धि-परिणाम आदि नहीं रहते, किन्तु गुणपरिणाम या शक्तिभूत परिणाम-मात्र रहता है [४।३३ (३) देखिए]

बौद्धों के धर्म-वाद के अतिरिक्त आर्षदर्शन में कार्य-कारण-भाव का तत्त्व समझाने के लिए तीन प्रधान वाद हैं,—(१) आरम्भवाद, (२) विवर्तवाद तथा (३) सत्कार्यवाद या परिणामवाद। तार्किकगण आरम्भवादी, मायावादी-गण विवर्तवादी और सांख्यादि अन्य सभी दार्शनिक परिणामवादी हैं। मिट्टी के एक गोले से एक ईंट बन गई—इसपर आरम्भवादी कहते हैं कि ईंट पहले असत् थी, अब सत् हुई, बाद में भी (नाश होने पर भी) असत् होगी। केवल शब्द-मय वागाडम्बर द्वारा वे इस वाद को स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। परि-णामवादी कहते हैं :—मृत्तिका ही परिणत होकर या भिन्न आकार धारण कर ईंट बन गई, पिण्डाकार मृत्तिका भी सत् है तथा ईंट भी। आरम्भवादी कहते हैं—पहले जब ईंट नहीं देख रहे थे, बाद में नहीं देखेंगे, तब ये पूर्व और पर अवस्थाएँ असत् हैं। परिणामवादी उत्तर देते हैं :—जब पहले भी मिट्टी देख

रहे थे, अब भी देख रहे हैं, बाद में भी देखेंगे तब भेद तो केवल आकार का है, परन्तु मिट्टी का वजन उसकी आकारधारणयोग्यता आदि सदा ही सत् हैं। इस सत्य को अस्वीकृत करने का उपाय नहीं है। आरम्भवादी कह सकते हैं कि हमारा कहना भी सत्य है। दोनों ही कथन यदि सत्य हैं तो भेद कहाँ है? भेद केवल 'सत्' शब्द के अर्थ का ही है।

तार्किकगण न देखने को ही या काल्पनिक गुणाभाव को ही 'असत्' कहते हैं यथा— **'दर्शनादर्शनाधीने सदसत्त्वे हि वस्तुनः। दृश्यस्यादर्शनात्तेन चक्रे कुम्भस्य नास्तिता॥'** (जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी, आ० ८, पृ० ६४) अर्थात् वस्तु की सत्ता तथा असत्ता देखना तथा न देखना इन दोनों के अधीन हैं। दृश्य कुम्भ न देखने के कारण कुलालचक्र में कुम्भ की नास्तिता का ज्ञान होता है, परन्तु यह असत् शब्द का अर्थ नहीं है। एक व्यक्ति एक स्थान पर दृश्य था, दूसरे स्थान पर जाने से क्या उसे असत् या 'नहीं है' कहा जाएगा? कभी नहीं। वैसे ही मिट्टी के अवयवों की स्थानान्तरता ही ईंट कही जाती है, किसी का अभाव ईंट नहीं है। इस विषय पर सम्यक् सत्य कहने से कहना होगा कि मिट्टी का पूर्व रूप सूक्ष्मता के कारण अगोचर हो गया है, असत् नहीं हुआ है। परिणामवादी ऐसा ही कहते हैं।

विवर्तवादीगण (तथा माध्यमिकबौद्धगण) अनिर्वाच्यवादी हैं। वे कहते हैं मिट्टी ही सत्य है और ईंट-घट आदि मृद्विकार असत्य हैं। यहाँ पर असत्य शब्द के अर्थ के ऊपर यह वाद निर्भर करता है। वे असत्य या मिथ्या का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—जिसे 'है' या 'नहीं है' नहीं कह सकते, उसे मिथ्या कहते हैं (भामती)।[1] जैसे कि रज्जु में सर्प-भ्रान्ति होने पर चूँकि उस समय सर्पज्ञान हो रहा है, अतएव उसे सम्पूर्ण असत् नहीं कहा जा सकता है; फिर वह भ्रान्ति हट भी जाती है इसलिए सत् भी नहीं कहा जा सकता है, इस प्रकार **'सदसद्भ्यामनिर्वाच्यः'** पदार्थ को ही वे मिथ्या कहते हैं।[2]

---

१. मायावादी जब 'अनिर्वचनीय' कहते हैं, तब उसका अर्थ सदसद्विलक्षण ही होता है— "ननु उच्यते अनिर्वचनीय मिति च विप्रतिषिद्धम्। नायं दोषः, सदसत्त्वाभ्यामिति विशेषणात्। सा [माया] हि युक्त्या निरूप्यमाणा नास्ति इति निश्चित्य न वक्तुं शक्या। नापि नास्तीति। सदसद्विलक्षणत्वेन तद्वचनानर्हत्वात्। तेनानिर्वचनीया, न पुनरवाच्येति (इष्टसिद्धि)। [सम्पादक]

२. 'मिथ्याशब्दो नापह्नववचनः, मिथ्येत्यनिर्वचनीयता उच्यते (पञ्चपादिका)। शुक्ति में जिस रजत का ज्ञान होता है वह इसी दृष्टि से अनिर्वचनीय कहा जाता है— रजतं हि समारोपितं न शुक्तितो भिद्यते। न हि तद् भेदेन अभेदेन वा शक्यं

मिथ्या के उपर्युक्त लक्षण के विषय में वे कहते हैं कि जो विकार है वह मिथ्या है और जिसका विकार है, वह सत्य है। सत्य का अर्थ मिथ्या का विपरीत या जिसे एकान्तपक्ष में 'है' कह सकते हैं, वह; यदि पूछा जाए–'विकार का जो होना है यह होना सत्य है या मिथ्या'? अवश्य ही कहना होगा कि वह सत्य है, नहीं तो मिथ्या का लक्षण ही मिथ्या हो जाएगा। अतः कहना चाहिए कि मिट्टी ईंट बनने पर विकार नामक एक सत्य घटना घटती है।

ऐसी स्थिति में ये विवर्तवादी कह सकते हैं 'मिट्टी ही सत्य है, ईंट मिथ्या है'; यह बात भी कुछ सत्य है। अन्यवादी कहेंगे कि मिट्टी के गोले का विकार होकर जो ईंटपरिणाम हुआ है, वह भी समानरूप से सत्य है। अतएव सम्यक् सत्य कहनें में कहना होगा कि ईंट का अर्थ है— विकृत मिट्टी। विकार का अर्थ विकृत द्रव्य भी है और विकाररूप घटना भी है। विकृत द्रव्य को मिट्टी कहा जा सकता है, पर विकाररूप घटना नहीं होती, यह नहीं कहा जा सकता; और उस प्रकार की यथार्थ घटना का फल भी यथार्थ नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। परिणामवादी यही कहते हैं। सत् का अर्थ 'है', असत् का अर्थ 'नहीं है'। 'कोई पदार्थ है या नहीं है' इस प्रकार का प्रश्न होने पर यदि उसे अनिर्वाच्य कहा जाए तो उसका अर्थ होगा-'है या नहीं है, यह ज्ञात नहीं'। इसीलिए विवर्तवादी को अज्ञेयवादी कहते हैं। विवर्तवाद का अनुमत सिद्धान्त भी इस कारण कोई दर्शन नहीं है, पर अ-दर्शन है। ये सत् शब्द का अर्थ सत्य, वर्त्तमान तथा निर्विकार करते हैं और निर्विशेष रूप से इन अर्थों का व्यवहार करने के कारण न्यायदोष से ग्रस्त होते हैं।

आरम्भवादी और विवर्तवादियों को द्व्यर्थक शब्द-व्यवहार, वैकल्पिक शब्द का वास्तववत् व्यवहार, संकीर्ण लक्षण इत्यादि न्यायदोष करने पड़ते हैं; अतः अधिकांश दार्शनिक आरम्भवाद और विवर्तवाद को नहीं मानते; वे परिणामवाद स्वीकार करते हैं। आधुनिक विज्ञानजगत् में भी परिणामवाद ही सम्यक् गृहीत होता है।

सत् और असत् शब्द का प्रकृत अर्थ है–'है' और 'नहीं है', सांख्य यही अर्थ लेते हैं। बौद्ध कहते हैं–**'यत्सत्तत् सर्वमनित्यम् यथा घटादिः'** (धर्मकीर्त्ति कृत

निर्वक्तुम्। शुक्तिस्तु परमार्थसती निर्वचनीया अनिर्वचनीयाद् रजताद् भिद्यते एव (भामती १।१।१९)। 'अतो विकारजातमनिर्वचनीयमनृतम्। तदनेन प्रमाणेन सिद्धमनृतत्वम् विकारजातस्य, कारणस्य निर्वाच्यतया सत्त्वं च (भामती २।१।१४)।
[सम्पादक]

न्यायबिन्दु, परि० ३); रत्नकीर्त्ति कहते हैं **'यत्सत्तत्क्षणिकम्**[1] **यथा घटादि:'** (क्षणभङ्गसिद्धि); इसमें सत् का अन्तर्निहित (implied) अर्थ 'अनित्य' या विकारशील है और असत् का अर्थ उसके विपरीत हैं।

मायावादीगण सत् का अर्थ 'निर्विकार' और 'सत्य' कहते हैं, असत् उसके विपरीत है। तार्किकों का सत् गोचर-मात्र है, असत् का अर्थ अगोचर है। 'सत्' शब्द के इन सब अर्थ-भेदों को लेकर ही भिन्न-भिन्न वादों की सृष्टि हुई है। सांख्यमत में **नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)।

बौद्ध सत् शब्द का अर्थ अनित्य, विकारी या क्षणिक करते हैं और यही कारण है कि वे नित्य-निर्विकार निर्वाण को असत्, अभाव और शून्य कहते हैं। इस प्रकार अर्थात् यदि सत् अनित्य हो तो असत् नित्य होगा, ऐसी विरुद्ध प्रतिज्ञा को सत्य मानना न्यायसंगत नहीं होता है। सांख्यशास्त्री कहते हैं कि सत् पदार्थ दो प्रकार का है—नित्य तथा अनित्य; क्योंकि सत् शब्द का प्रकृत अर्थ है-'है'। नित्य और अनित्य ये दो प्रकार के पदार्थ हैं ही, इसलिये वे सत् हैं। मायावादीगण निर्विकार सत्ता ही को सत् कहते हैं, विकारी को 'सत् या असत् यह नहीं जानते हैं' या अनिर्वाच्य कहते हैं। इस प्रकार का अर्थभेद ही इन सब दृष्टि-भेदों का मूल है तथा इसी के द्वारा सांख्यीय सहज प्रज्ञामूलक न्याय्य दृष्टि से बौद्धादि अपने को पृथक् रखते हैं। परन्तु ये सब केवल शब्दमय वागाडम्बर है।

उदाहरण के लिए—परिणामवादी कहते हैं-**"हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा"**[2] अर्थात् कुण्डल-वलयादि द्रव्य स्वर्णरूप कारण की दृष्टि से अभिन्न हैं और कार्यरूप से भिन्न हैं। इसमें (माध्यमिक बौद्ध और) विवर्तवादी आपत्ति करते हैं कि भेद और अभेद विरुद्ध पदार्थ हैं, वे एक ही कुण्डल आदि में कैसे

---

१. दार्शनिक दृष्टि से 'क्षणिक' का अर्थ ज्ञातव्य है। बौद्ध विद्वानों ने क्षणिकत्व को लेकर जो कहा है उसका सार यह है कि यदि कोई वस्तु अपने आधारभूत काल के प्राग्-अभाव का अधिकरण रूप जो क्षण है, उसका सम्बन्धी नहीं होती है तो वह क्षणिक है। इसका सरल तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के बाद कोई वस्तु यदि एक क्षण भी विद्यमान न रहे तो वह क्षणिक है। उत्पत्ति के बाद एक क्षण भी यदि कोई वस्तु रह जाती है तो उस वस्तु के आधारभूत काल के रूप में दो क्षण प्राप्त होंगे; ऐसा होने पर वह क्षणिक नहीं होगा।

प्रसंगतः यह भी ज्ञातव्य है कि 'यत् सत् तत् क्षणिकम्' में सत् = सत्ता-विशिष्ट; अर्थक्रिया में जो शक्ति है, वह सत्ता है। वस्तु-उत्पादन-क्रिया-सामर्थ्य ही यह शक्ति है। **[सम्पादक]**

२. हेमात्मना यथा...यह श्लोक ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार भास्कर का है (१।१।४ भाष्य

सहावस्थान करेंगे इत्यादि। भेद और अभेद 'पदार्थ' हो सकते हैं, पर 'द्रव्य' नहीं; वस्तुतः कुण्डलादि का सुवर्ण में एकत्व है, पर आकार में भिन्नत्व है। गोल और चौकोर ये दो आकार एक ही रूप से एक क्षण में व्यक्त रहते हैं–यह परिणामवादी नहीं कहते हैं। आकार केवल अवयवों का अवस्थानभेद है, वह किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है। फलतः यहाँ पर परिणामवादियों के 'आकारभेद' शब्द को हटा कर, उसके स्थान पर केवल भेद और अभेद शब्दों का प्रयोग करके 'भेद और अभेद का सहावस्थान नहीं है', यह कहकर केवल न्यायाभास की सृष्टि की जाती है।

१३ (७) लक्षणपरिणाम के सम्बन्ध में यह आपत्ति होती है कि यदि वर्त्तमान लक्षण अतीतानागत से वियुक्त नहीं है, तो तीनों लक्षण एक से हैं। अतः वर्त्तमान, अतीत और अनागत परस्पर संकीर्ण होंगे अर्थात् अध्वसंकर-दोष होगा। यह आपत्ति निःसार है। सचमुच अतीत और अनागत काल अवर्त्तमान पदार्थ हैं, अतः काल्पनिक हैं। उस काल्पनिक काल के साथ कल्पनापूर्वक सम्बन्धस्थापन करना ही अतीत और अनागत अध्वा है। वर्त्तमानता द्वारा ही यह सम्बन्ध जाना जाता है। जैसे, यह घट था और रहेगा। वर्त्तमान या अनुभवापन्न घट से कालिक सम्बन्ध स्थापन कर[1] हम पदार्थ का कुछ न कुछ भेद समझते हैं। अतएव कहा जाता है कि अध्वा-समूह परस्पर अवियुक्त हैं। नहीं तो एक ही व्यक्ति में (साक्षात् अनुभूयमान द्रव्य में) तीन अध्वाएँ हैं, ऐसा कहना भ्रान्ति है। जो अवर्त्तमान है, वही अतीत और अनागत काल है, उन्हें भी वर्त्तमान समझकर यह आपत्ति की गई है। वस्तुतः इस काल्पनिक काल के साथ साथ 'सम्बन्ध-स्थापना' ही (मनोवृत्तिमात्र) रहता है। अतीतानागत की सत्ता अनुमेय है, उसके साथ वर्त्तमान प्रत्यक्ष सत्ता का सांकर्य नहीं हो सकता है। 'अतीत तथा अनागत द्रव्य हैं'—ऐसा कहने से यही ज्ञात होता है कि जिसे हम काल्पनिक अतीत और अनागत काल के साथ सम्बद्ध कर 'नहीं है' इस प्रकार मानते हैं, वह भी वस्तुतः सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान द्रव्य है।

द्र०)। प्रतीत होता है कि यह भाष्यकार का स्वकृत श्लोक है। इस श्लोक का पूर्वार्ध है—कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना। [सम्पादक]

१. 'मेरे (मृत) पिता जी थे'—यहाँ पर अवर्त्तमान पदार्थ के साथ अतीत अध्वा का संयोग हुआ, यह शङ्का हो सकती है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर भी अनुभूयमान (वर्त्तमान) स्मृति के साथ अतीत-अध्वा का योग होता है।

जो गोचरीभूत अवस्था है वही व्यक्तता है, उसे ही हम वर्त्तमानलक्षण से लक्षित करते हैं। जो अव्यक्त है या सूक्ष्म है या साक्षात् ज्ञान के अयोग्य है, हम अतीतानागत (था या होगा) लक्षण से उसका ही व्यवहार करते हैं। अतः एक ही व्यक्ति में तीन लक्षणों का आरोप करने की संभावना नहीं है। ऐसा अज्ञ कौन है जो स्वयं 'था, है तथा रहेगा' इन तीनों में भेद मानकर फिर उनको एक ही कहेगा ? धर्म व्यक्त न होने पर भी वह रहता ही है, यह भाष्यकार ने दिखाया है। क्रोध-काल में चित्त क्रोधधर्मक होने पर भी उसमें उस समय राग नहीं है, यह कोई नहीं कह सकता है। क्षणभर में ही फिर उसमें रागधर्म आविर्भूत हो सकता है।

पञ्चशिखाचार्य के वचन का अर्थ है—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य (जिस इच्छा का सर्वतः व्याघात होता है ऐसी इच्छाशक्ति)–ये आठों पदार्थ बुद्धि के रूप हैं; और सुख, दुःख तथा मोह बुद्धि की वृत्तियाँ या अवस्थाएँ हैं। यह वाक्य २।१५ सूत्र के व्याख्यान में व्याख्यात हुआ है।

१३ (८) भाष्यकार यहाँ पर अवस्थापरिणाम की व्याख्या करके उसमें दूसरे विचारक जो दोष दिखाते हैं उसका निरसन कर रहे हैं। दूषक कहते हैं, "जब धर्म-धर्मी तीनों कालों में रहते हैं, तब धर्म, धर्मी, लक्षण और अवस्था सभी तुम्हारी चितिशक्ति के समान कूटस्थ हैं,।" अर्थात् जिसे पुरातन अवस्था कहते हैं, वह सूक्ष्मरूप से है तथा रहेगी एवं नूतन अवस्था भी उसी प्रकार थी तथा रहेगी। जो त्रिकालस्थायी है वही कूटस्थ नित्य है। अतः अवस्था भी कूटस्थ नित्य है।

इसका उत्तर यह है कि नित्य होने से ही कोई कूटस्थ नहीं होता है, जो अपरिणामी नित्य है वही कूटस्थ होता है। विकारशील जगत् का उपादान कारण अवश्य ही विकारशील होगा। अतः स्वभावतः विकारशील प्रधान नामक एक कारण प्रदर्शित होता है। प्रधान नित्य होने पर भी विकारशील है। वह विकार-अवस्था ही धर्म या बुद्धि आदि व्यक्तियाँ हैं। इन सब धर्मों का विमर्द या लयोदयरूप अकूटस्थता देख कर ही मूल कारण को परिणामी-नित्य कहा गया है।

विमर्द-वैचित्र्य शब्द का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है। भिक्षु के मत में—विमर्द या विनाशरूप वैचित्र्य या कूटस्थता से विलक्षणता। अन्य अर्थ है—विमर्द अर्थात् परस्पर की अभिभाव्य-अभिभावकता के कारण वैचित्र्य या नानात्व। भाष्यकार ने गुणी-नित्यत्व और गुण-विकार को तात्त्विक तथा लौकिक उदाहरण द्वारा दिखाया है। मूला प्रकृति ही नित्या है, अन्य प्रकृतियाँ

विकृति की अपेक्षा नित्या हैं; जैसे, घटत्व-पिण्डत्व आदि की अपेक्षा मृत्तिकात्व नित्य है।

१३ (९) परिणाम के लक्षण को स्पष्ट करने के बाद भाष्यकार ने उपसंहार किया है; धर्मी का अवस्थानभेद ही परिणाम है। अर्थात् अवस्थित द्रव्य का पूर्वधर्म न देखने पर तथा अन्य धर्म देखने पर उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्य शब्द का विवरण ३।४४ सूत्र के भाष्य में देखिए।

अवस्थाभेद ही परिणाम है। यहाँ अवस्थाभेद का अर्थ पूर्वोक्त अवस्था-परिणाम न समझना चाहिए। बाह्य द्रव्य के अवयवों का यदि दैशिक अवस्थानभेद है तो उसे परिणाम कहते हैं। शब्दादि गुण अवयव का कम्पन है; कम्पन का अर्थ है—देशान्तर गति-विशेष। कम्पन के भेद में शब्दादि में भेद होता है; अतः शब्द-रूपादि धर्मों का जो अन्यथात्व है, वह देशान्तरिक अवस्था-भेद ही होता है। बाह्य द्रव्य का क्रियापरिणाम स्पष्टतया देशान्तरिक अवस्थान-भेद है। कठिनता-कोमलतादि जड़ता के परिणाम भी अवयव के देशान्तरिक अवस्थान-भेद हैं। कठिन लोहा तापयोग से कोमल होता है; इसका आशय यह है कि ताप नामक क्रिया-द्वारा लोहे के अवयवों में अवस्थानभेद होता है।

आभ्यन्तरिक द्रव्य का परिणाम भी उसी प्रकार कालिक अवस्थानभेद है। सभी मनोवृत्तियाँ दैशिक-सत्ताहीन, कालव्यापी पदार्थ हैं। उनका परिणाम केवल कालिक लयोदयरूप है। अर्थात् एक काल में एक वृत्ति, अन्य काल में और एक वृत्ति—इस प्रकार अन्यथाभावस्वरूप ही यह परिणाम है। अतएव दैशिक या कालिक अवस्थाभेद ही परिणाम है।

———

भाष्यम्—तत्र—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः। स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः। तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन् धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते; यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केन भिद्येत।

तत्र त्रयः खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति। तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः; सव्यापारा उदिताः; ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः, वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः। किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः, पूर्वपश्चिमताया अभावात्। यथाऽनागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य। तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः, तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्त्तमानस्येति।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तं—"जलभूम्योः पारिणामिकं रसादि-वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु" इति, एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति । देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी ।

यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः, कस्मात्, अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत् कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत; तत्स्मृत्यभावश्च, नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति । वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

भाष्यानुवाद—उनमें—

शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य (शक्तिरूप में स्थित) इन त्रिविध धर्मों का अनुपाती द्रव्य धर्मी है ॥ सू०

धर्मी की योग्यताविशिष्ट (योग्यता से विशेषित) शक्ति को ही धर्म (१) कहा जाता है । इस धर्म की सत्ता फलप्रसवभेद से ही (भिन्न-भिन्न कार्यजनन से) अनुमित होती है । एक ही धर्मी के बहुत से धर्म भी देखे जाते हैं । उनमें (धर्मों में) व्यापार-आरूढत्व हेतु से वर्त्तमान धर्म, अतीत और अव्यपदेश्य धर्मान्तरों से भिन्न है । परन्तु जब धर्म (शान्त और अव्यपदेश्य) अविशिष्ट भाव से धर्मी में अन्तर्हित रहते हैं, तब वे धर्म धर्मीस्वरूपमात्र से भिन्न भाव में कैसे उपलब्ध होंगे ?

धर्मी के धर्म त्रिविध हैं—शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य । उनमें जो व्यापार करके उपरत हुए हैं, वे शान्त धर्म हैं । व्यापारयुक्त धर्म उदित हैं; वे अनागत लक्षण के समनन्तरभूत (अर्थात् अव्यवहित परवर्ती) हैं । सभी अतीत धर्म वर्त्तमान के समनन्तरभूत हैं । वर्त्तमान धर्मसमूह अतीत के परवर्त्ती क्यों नहीं होते ? उनकी (अतीत की और वर्त्तमान की) पूर्वपरता के अभाव के कारण । जिस प्रकार अनागत और वर्त्तमान की पूर्वपरता रहती है, उस प्रकार अतीत और वर्त्तमान में नहीं है । अतः अतीत के अनन्तर और कुछ नहीं है; और अनागत ही वर्त्तमान का पूर्व है ।

अव्यपदेश्य धर्म क्या है ?—सभी वस्तु सर्वात्मक होती हैं । इस विषय में कहा गया है, "जल और भूमि के रसादि का परिणामजात वैश्वरूप्य (अर्थात् असंख्य प्रकार के भेद) वृक्ष आदि में देखा जाता है । उसी प्रकार वृक्ष आदि के असंख्य परिणामजात भेद उद्भिज्जभोजी जन्तुओं में देखे जाते हैं । जन्तुओं में भी स्थावर परिणाम देखा जाता है ।" इस प्रकार जाति के

अनुच्छेद के कारण (अर्थात् जलत्व-भूमित्व जाति के सभी स्थानों पर प्रत्य-भिज्ञान होने के कारण) सभी वस्तुएँ सर्वात्मक होती हैं। देश, काल, आकार तथा निमित्त के अपबन्ध अर्थात् अधीनता के कारण (अर्थात् इन चारों से नियमित होने के कारण) भावों की एक काल में अभिव्यक्ति नहीं होती है। जो इन सब अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मों का अनुपाती सामान्य-विशेषात्मक (शान्त तथा अव्यपदेश्य = सामान्य; उदित = विशेष) है वह अन्वयी द्रव्य ही धर्मी है। (२)

जिनके मत में यह चित्त केवल धर्ममात्र तथा निरन्वय है (अर्थात् बहु-संख्यक धर्मों में एक चित्तरूप द्रव्य सामान्य रूप से अन्वयी नहीं होता है) उनके मत में भोग सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि अन्य एक विज्ञान-द्वारा कृत कर्म को अन्य एक विज्ञान कैसे भोक्तारूप से अधिकार कर सकता है? उस कर्म की स्मृति का भी अभाव होता है; क्योंकि एक का दृष्ट विषय अन्य द्वारा स्मृत नहीं हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान के कारण भी (अर्थात् 'यही वह है' या 'मृत्तिकापिण्ड ही घट बन गया है,' इस प्रकार अनुभव होने के कारण) अन्वयी धर्मी विद्यमान है; और वह धर्मी धर्मान्यथात्व प्राप्त होकर प्रत्यभिज्ञात होता है ('यही वह वस्तु है' इसी प्रकार अनुभूत होता है)। यही कारण है कि यह (जगत्) धर्म-मात्र तथा निरन्वय (धर्मिशून्य) नहीं है।

टीका १४ (१) योग्यता अर्थात् क्रियादि द्वारा किसी एक प्रकार से बोध्य होने की योग्यता। अग्नि में दाहयोग्यता है। दाह जानकर अग्नि की दाहिका शक्ति का ज्ञान होता है। दाहिका शक्ति को अग्नि का धर्म कहते हैं। यह शक्ति दाहक्रिया का हेतु है। दाहिका शक्ति दाहक्रिया से अवच्छिन्न या विशेषित होती है। दहन है योग्यता; तथा दहनकारिणी (दहन से विशेषित) शक्ति ही अग्नि का एक धर्म है।

निष्कर्ष यह है कि पदार्थ का बुद्ध भाव ही धर्म है। अर्थात् हम जिससे किसी पदार्थ को जानते हैं, वही उसका धर्म होता है। धर्म वास्तविक और वैकल्पिक या वाङ्मात्र दो प्रकार का है। जो वाक्य की सहायता के बिना भी बोधगम्य होता है, वह वास्तविक है। वास्तविक धर्म भी यथार्थ और आरोपित होता है। सूर्य की श्वेतता यथार्थ धर्म है, मरुभूमि में जलत्व आरोपित धर्म है।

वाक्य या पद के द्वारा ही जिसका बोध होता है और उनके बिना जिसका बोध नहीं होता, वह वैकल्पिक धर्म है; जैसे अनन्तत्वरूप धर्म, घट का 'जल-आहरणत्व' रूप धर्म इत्यादि। हमारे व्यवहार के अनुसार जल-आहरणत्व

कल्पित होता है। वास्तव में घटावयव तथा जलावयव इन दोनों का संयोगविशेष रहता है, और उन दोनों में एक स्थान से अन्यस्थान में गतिरूप वास्तविक धर्म रहता है। उसी का हम 'जलाहरणत्व' नाम देकर एवं एक धर्म के रूप से कल्पना करके व्यवहार करते हैं। घट नष्ट होने पर जलाहरणत्व भी नष्ट हो जाता है, परन्तु उसमें किसी सत् का विनाश नहीं होता है; क्योंकि जलाहरणत्व केवल कहने के लिए ही है, वह अवास्तव पदार्थ है। वास्तव में घट के अवयव का और जल के अवयव का अवस्थान भेद रूप परिणाम होता है; किसी का अभाव नहीं होता है। जल तथा घटावयवों में पूर्ववत् नीयमानता भी रहती है। इस प्रकार अवास्तव उदाहरण के बल से अपरवादी सत्कार्यवाद को खण्डित करने की चेष्टा करते हैं। अवास्तव सामान्य पदार्थ (mere abstractions) आदि सभी उसी प्रकार के वैकल्पिक धर्म हैं।

वास्तविक धर्म समूह बाह्य और आभ्यन्तर होते हैं। बाह्य धर्म मूलतः तीन प्रकार के हैं—प्रकाश्य, कार्य तथा जाड्य। शब्दादि गुण प्रकाश्य, सब प्रकार की क्रिया कार्य, और काठिन्यादि जाड्य धर्म हैं। आभ्यन्तर गुण भी मूलतः तीन प्रकार के हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति या बोध, चेष्टा तथा धृति। इन सब वास्तव धर्मों का अवस्थान्तर होता है परन्तु विनाश नहीं होता। पाश्चात्य विज्ञान की Conservation of energy[1] (शक्तिपरिणामसिद्धान्त) समझने से यह सम्यक् ज्ञानगम्य होगा।[2] प्राचीन काल का सरल उदाहरण आजकल उतना उपयोगी प्रतीत नहीं होता।

अतः यह सिद्ध हुआ कि जो किसी प्रकार से बोधगम्य होता है, ऐसे भाव को ही हम धर्म कहते हैं। बोधगम्य भाव में जो ज्ञायमान है, वही उदित धर्म

---

१. शक्ति की सर्वथा नवीन उत्पत्ति एवं आत्यन्तिक नाश संभव नहीं हैं, यह इस वाद का स्वरूप है। यह वाद यहाँ conservation of mass (or matter) का भी उपलक्षण है। आजकल mass-energy equation वाद प्रचलित है–In any system the sum of the mass and energy remains constant. **[सम्पादक]**

२. 'शक्तिपरिणाम-सिद्धान्त' के अनुसार ही हम कहते हैं कि मरने पर शरीर 'पञ्चत्व-प्राप्त' होता है अर्थात् पञ्चभूतों का विकारभूत शरीर अपने उपादान पाँच भूतों में लीन हो जाता है—शरीर का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। 'Chemistry शास्त्र का इतिहास' के लेखक Hoe er ने कहा है कि हिन्दुओं की उपर्युक्त पञ्चत्व-प्राप्ति की बात 'indestructibility of matter के तत्त्व को प्रदर्शित करता है' (Sir P. C. Roy : Makers of Modern Chemistry, पृ० ९ द्र०; Hoefer का ग्रन्थ फ्रेंच भाषा में है, नाम है—Histoire de la Chimie **[सम्पादक]**

है; जो ज्ञायमान था, वह अतीत धर्म है; और जो भविष्य में ज्ञायमान होने योग्य है, ऐसा ज्ञात होता है, वह अव्यपदेश्य धर्म है।

वर्त्तमान होकर जो निवृत्त हुआ है, वह शान्त धर्म होता है। जो व्यापार में आरूढ़ या अनुभूयमान धर्म है, वह उदित धर्म है। और जो हो सकता है एवं कभी वर्त्तमानता प्राप्त न होने के कारण व्यपदेश के या विशेषित करने के अयोग्य है वही अव्यपदेश्य धर्म होता है।

वर्त्तमान धर्म धर्मी में विशिष्टरूप से प्रतीत होता है परन्तु शान्त तथा अव्यपदेश्य धर्म धर्मी में अविशिष्टभाव से अन्तर्गत रहने के कारण पृथक् अनुभूत नहीं होते हैं। उनकी सत्ता अनुमान-द्वारा निश्चित होती है।

अतीत तथा अव्यपदेश्य धर्म (किसी एक धर्मी के) असंख्य हो सकते हैं, क्योंकि समस्त द्रव्यों में मूलगत एकत्व रहता है, अतएव सभी द्रव्य परिणत होकर सभी प्रकार के हो सकते हैं।

इस प्रकार की धर्म-धर्मी-दृष्टि सांख्यदर्शन की मौलिक प्रणाली है। बौद्ध आदि इस दर्शन के विरोधियों ने अन्य जिन सब दृष्टियों की उद्भावना की है उनकी अयुक्तता यहाँ दिखाई जा रही है। सांख्य परिणामवादी या सत्कार्य-वादी हैं, बौद्ध असत्कारणवादी हैं, और मायावादी असत्कार्यवादी हैं। आरम्भ-वादी तार्किकगण भी असत्कार्यवादी कहे जाते हैं। उनके मत में कार्य पहले असत्, बीच में सत्, बाद में असत् है। मायावादियों में बहुत से अपनों को अनि-र्वाच्य असत्त्ववादी या विवर्त्तवादी कहते हैं। किन्तु कोई कोई (जैसे कि प्रकाशा-नन्द जी)[1] पूर्णतया विकार का असत्तावाद ग्रहण करते हैं अतः वे यथार्थतः असत्कार्यवादी होते हैं। अनिर्वाच्यवादी कहते हैं कि विकार सत् या असत् अर्थात् 'है या नहीं' यह ठीक कहा नहीं जा सकता है। [३। १३ (६) देखिए]।

सांख्यमत में दो कारण हैं—निमित्त और उपादान। निमित्त-वश उपादान की बदली हुई अवस्था ही कार्य है। बौद्धमत में निमित्त या प्रत्यय ही कारण होता है। कई धर्मरूप प्रत्ययों से अन्य कई धर्म उत्पन्न होते हैं। वे ही कार्य कहलाते हैं। कारण ही कार्यरूप में परिवर्तित होकर नहीं रहता है, परन्तु प्रत्ययरूप धर्म निरुद्ध या शून्य हो जाता है, बाद में कार्य या प्रतीत्यरूप धर्म उदित होता है। कार्य तथा कारण में वस्तुगत कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, वे निरन्वय हैं। एक उदारहण लें—एक भरी सोने का पिण्ड परिणत होकर कुण्डल बना; पश्चात् हार बना। बौद्ध लोग यहाँ पर कहेंगे सोने का पिण्ड=एक-

---

१. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में प्रकाशानन्द ने कहा है—आत्मसत्तातिरिक्ताया द्वैत-सत्ताया अभावात् आत्मनि दृष्टे सर्वं द्वैतं दृष्टं भवति (पृ० १६४)। [सम्पादक]

भरीत्वधर्म+स्वर्णत्वधर्म+पिण्डत्वधर्म। कुण्डलपरिणाम में वे सब धर्म विनष्ट होकर पुनः एकभरीत्वधर्म और सुवर्णत्व धर्म ही उदित हुए, और पिण्डत्वधर्म के बदले कुण्डलत्व धर्म उदित हुआ इत्यादि। सांख्य जिसे धर्मी सुवर्ण कहते हैं, बौद्ध उसे ही धर्म कहते हैं एवं परिणाम होने पर वे धर्म फिर उदित होते हैं ऐसा कहते हैं, क्योंकि उनके मत में सभी प्रत्ययभूत धर्म एककाल में भिन्न भाव से परिणत या अन्यथा-भूत नहीं हो सकते हैं। कई धर्म जो निरुद्ध होते हैं उनके प्रतीत्य धर्म ठीक उनके समान होते हैं, यही बौद्ध मत की संगति है।

कोई एक धर्मसन्तान सहसा क्यों निरुद्ध हो जाएगा, निरोध का कारण वस्तुतः क्या है—बौद्ध यह नहीं दिखाते हैं। यह भगवान् बुद्ध ने कहा है, बौद्ध केवल ऐसा विश्वास करते हैं:—**"ये धर्मा हेतुप्रभवास्तेषां हेतुं तथागत आह। तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"**[1] यही शास्त्रवाक्य इस विषय में बौद्धों का प्रमाण है। अतः बौद्ध लोग जो कहते हैं कि पूर्व प्रत्ययभूत धर्म शून्य हो जाता है, उसके बाद अन्य धर्म उठता है, यह युक्तिशून्य प्रतिज्ञामात्र है। शुद्धसंतानवादी बौद्ध संपूर्ण निरोध स्वीकार नहीं करते हैं। शून्यवादी ही ऐसा निरोध स्वीकार करते हैं। परन्तु इनका मत अन्याय्य है, यह पहले [३। १३ (६) टिप्पणी में] ही प्रदर्शित हो चुका है।

बौद्धों को कहना चाहिए कि कुछ धर्म अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं (जैसे कुण्डल परिणाम में सुवर्णत्व) और कुछ बदल जाते हैं। सांख्य उन स्थिर धर्मों को धर्मी कहते हैं, तथा विश्लेषण कर दिखाते हैं कि ऐसे कई गुण हैं जिनका कभी अभाव या निरोध नहीं होता है। आन्तर तथा बाह्य सभी द्रव्यों में परिणाम धर्म नित्य है, और सत्ता[2] या सत्त्वधर्म नित्य है (क्योंकि कुछ रहने से तभी वह परिणत होगा)। और निरोध-धर्म नित्य है। निरोध का अर्थ

१. 'ये धर्मा :...' का मूल पालिरूप यह है—ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसञ्च यो निरोधो एवं वदी महासमणो ।। कहा जाता है कि योगी अश्वजित् ने बुद्धमत का सार इस वाक्य के द्वारा कहा था। इस श्लोक का निम्नांकित संस्कृत अनुवाद किसी-किसी ग्रन्थ में दृष्ट होता है—ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्। तेषां च यो निरोधमेवंवादी महाश्रमणः ।। इसमें छन्दोदृष्टि से दोष है। 'ये' यदि न हो तो पूर्वार्ध ठीक हो जाता है। 'निरोधं ह्येवं पाठ करने पर उत्तरार्ध भी ठीक हो जाता है। **[सम्पादक]**

२. सत्ता वैकल्पिक धर्म होने पर भी सत्ता कहने से ही ज्ञान जान पड़ता है। पश्चात्त्य विद्वान् भी कहते हैं—'Knowing is being', अतः सत्ता, प्रकाशशीलत्वनामक धर्म की कल्पित एक भिन्न दृष्टि है।

अत्यन्ताभाव नहीं परन्तु अलक्ष्यभाव में स्थिति है। भाष्यकार ने यह अनेक उदाहरणों से प्रदर्शित किया है। वस्तुतः अभाव का अर्थ 'अन्य एक भाव' है, हम इसी अर्थ में अभाव शब्द का व्यवहार करते हैं [११७ (१) देखिए]। अत्यन्ताभाव या संपूर्ण ध्वंस विकल्पमात्र है, किसी भाव पदार्थ में ऐसे अभाव का प्रयोग करना नितान्त अयुक्त चिन्ता है। शून्यवादी भी कहते हैं 'शून्य है' 'निर्वाण है' इत्यादि। जो रहता है, वही भाव है। जो रहता नहीं, था नहीं, रहेगा भी नहीं, वही संपूर्ण अभाव कहलाता है। उस प्रकार के शब्द का व्यवहार करना निष्प्रयोजन है। ये तीन नित्य धर्म ही (परिणाम, सत्त्व तथा निरोध) सांख्य के रजः, सत्त्व तथा तमः हैं। वे ही सभी निम्न धर्मों के धर्मी-स्वरूप हैं।

पाश्चात्य धर्मवादी द्विविध हैं—एक अज्ञातवादी तथा अन्य अज्ञेयवादी। उनमें से कोई भी शून्यवादी नहीं है, क्योंकि बौद्धों को जिस दृष्टि से निर्वाण को शून्य प्रमाणित (ऐसा ही बुद्ध को अभिमत है—इस प्रकार सोचकर) करना आवश्यक हुआ था पाश्चात्यों को उस दृष्टि से उसकी कोई आवश्यकता नहीं हुई। अतः उनको इस प्रकार की अयुक्तता का आश्रय नहीं लेना पड़ा।

Hume उपर्युक्त अज्ञातवाद के उद्भावक हैं। ह्यूम ने सभी पदार्थों को धर्म या phenomenon कहकर उस phenomenon समूहों का मूल अन्वयीभाव या Substratum क्या है, इसके उत्तर में 'मैं नहीं जानता हूँ' कहा है। वस्तुतः ह्यूम ने 'मैं नहीं जानता हूँ' ऐसा नहीं कहा है; उन्होंने कहा है–"As to those impressions which arise from the senses, their ultimate cause is, in my opinion, perfectly inexplicable by human reason, and it will always be impossible to decide with certainty, whether they arise immediately from the object, or are produced by the creative power of the mind, or are derived from the Author of our being."[1] जब ह्यूम के मत में तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं तब उन्हें अज्ञातवादी कहना ही ठीक है।

Herbert Spencer प्रधानतः अज्ञेयवाद का समर्थन करते हैं। वे मूल कारण को unknowable या अज्ञेय कहते हैं। किन्तु एक unknowable मूल है इसको उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है : Thus it turns out that

१. Works of Hume, vol. I, p. 113.; द्र० R. Jardine : The Elements of the Psychology of Cognition, p. 126. [सम्पादक]

the objective agency, the noumenal power, the absolute force, declared as unknowable, is known after all to exist, persist, resist and cause our subjective affections and phenomena, yet not to think or to will.

सांख्यशास्त्री किस प्रकार के विश्लेषण के द्वारा मूल कारण का निर्णय करते हैं यह उक्त हुआ है। Hume जिसे inexplicable कहते हैं, सांख्य उसे explain कर अपना निर्णय दिया है और Spencer जिसे unknowable कहते हैं वह जब अनुमानबल से 'है' इस प्रकार निश्चित रूप से ज्ञात होता है, तब वह संपूर्ण अज्ञेय नहीं है। परन्तु phenomena का या धर्म-परिणाम-सन्तान का कारणरूप से जो पदार्थ स्वीकार्य है उसमें उस कार्य की उत्पादिका शक्ति रहती है, यह भी अवश्य स्वीकार्य होगा। सभी ज्ञात भाव, सभी क्रियाशील भाव तथा सभी लयशील भाव ही धर्म हैं। अतः 'धर्म' का जो मूल कारण है—अज्ञेयवादी के अनुसार जो अज्ञेय है—उसमें प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं, यह स्वीकार्य होगा।

शङ्का हो सकती है कि धारणा के अयोग्य होने के कारण से ही 'अज्ञेय' कहा गया है, अतः उसमें प्रकाश, क्रिया और स्थिति कैसे स्वीकार्य हो सकती हैं? यह सत्य है। किन्तु प्रकाशादि हैं, इस प्रकार जब प्रमित हो चुका है, तब तो यही कहना पड़ेगा कि उसमें प्रकाश, क्रिया और स्थिति 'अलक्ष्य भाव से' हैं या शक्तिरूप से हैं। शक्तिरूप से रहने का अर्थ है–क्रिया की अनभिव्यक्ति। क्रिया तुल्यबलशाली विपरीत क्रिया से अनभिव्यक्त होती है अर्थात् समान विपरीत क्रिया के द्वारा क्रिया शान्त हो जाती है। अतः उस 'अज्ञेय' मूल कारण में प्रकाश-क्रिया-स्थिति या सत्त्व-रज-तम समता-द्वारा अभिभूत होकर रहते हैं, इस प्रकार से धारणा (conception) करनी होगी। अतएव मूल कारण प्रकृति को सांख्य **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था'** (सांख्यसूत्र १।६१) कहते हैं और साधारण वस्तु की तरह यह धारणा के योग्य न होने के कारण इस मूल कारण को अव्यक्त कहते हैं। धर्म तथा धर्मी दोनों ही दृश्य पदार्थ हैं। द्रष्टा धर्म भी नहीं हैं तथा धर्मी भी नहीं हैं और उनके मिश्रणभूत भी नहीं। बौद्ध और पाश्चात्त्य पण्डितगण इस विषय में यत्किञ्चित् ही जानते हैं।

धर्मी के शून्यतारूप बौद्ध-मत के विरुद्ध भाष्यकार ने तीन युक्तियाँ दी हैं; यथा—स्मृत्यभाव, भोगाभाव और प्रत्यभिज्ञा। स्मृत्यभाव और भोगाभाव व्यतिरेकमुख युक्ति हैं, यह १।३२ (२) की टिप्पणी में व्याख्यात हुआ है। प्रत्यभिज्ञा अन्वयमुख युक्ति है। मिट्टी का कोई खण्ड ही परिणत होकर घट

हुआ है, यह जब अनुभव-सिद्ध है तब व्यर्थ ही शून्यता को प्रमाणित करने के लिए कष्ट-कल्पना कर धर्मीत्वलोप की चेष्टा करना समीचीन नहीं है।

१४ (२) देश, काल, आकार तथा निमित्त इनकी अपेक्षा से ही कोई एक द्रव्य अभिव्यक्त होता है। सभी द्रव्यों से सभी द्रव्य हो सकते हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे निरपेक्ष भाव से होते हैं; ऐसा नहीं है। देश की अपेक्षा; जैसे—आँखों के अत्यन्त सन्निकट देश में अच्छी दृष्टि नहीं होती है, उससे दूर देश में होती है। देशव्याप्ति के अनुसार वस्तु क्षुद्र या बृहत् रूप से अभिव्यक्त होती है। काल की अपेक्षा; जैसे–बालक सहसा ही वृद्ध नहीं होता है, कालक्रम से होता है; दोनों वृत्तियाँ एक काल में नहीं उठती हैं, पूर्वोत्तर काल में होती हैं। आकार की अपेक्षा; जैसे चौकोर साँचे में गोल मुद्रा नहीं बनती है, चौकोर ही होती है। मृगी के गर्भ में मृगाकार जन्तु होता है, मनुष्याकार नहीं होता है, इत्यादि। निमित्त—निमित्त ही वास्तव हेतु होता है। देश आदि निमित्त के व्यावहारिक भेदमात्र हैं। उपादान के अतिरिक्त सभी कारण निमित्त कहे जाते हैं। यथायोग्य निमित्त पाने से ही अव्यपदेश्य धर्म अभिव्यक्त होता है।

विशेष या प्रत्यक्ष या उदित धर्म तथा अनुमेय या सामान्य या अतीतानागत धर्म इन सबों के समाहाररूप से हम जिसका व्यवहार करते हैं, वह धर्मी होता है-यह भाष्यकारसंमत लक्षण है। अनुपाती अर्थात् पीछे रहने वाला। किसी धर्म को देखने से उसके पीछे उसका आश्रय-स्वरूप धर्म-समाहार-रूप धर्मी रहेगा। धर्मी के बिना तत्त्वचिन्ता नहीं होती है।

सभी द्रव्यों के बहुत से अभिव्यक्त गुण रहते हैं, वे ही ज्ञायमान धर्म हैं। और जो अनभिव्यक्त असंख्य गुण रहते हैं वे ही (या उनका समाहार ही) धर्मी रूप से व्यवहृत होते हैं। अभिव्यक्त अवस्था को ही द्रव्य का सब कुछ कहना अन्याय्य है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति; तद् यथा चूर्णमृत् पिण्डमृद् घटमृत् कणमृदिति च क्रमः। यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः; पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः। लक्षणपरिणामक्रमः—घटस्यानागतभावाद् वर्तमानभावक्रमः, तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः। नातीतस्यास्ति क्रमः; कस्मात्, पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्, सा तु नास्त्यतीतस्य, तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः।

तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि; घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते, सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति; धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति ।

त एते क्रमाः, धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः; धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति । यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मः, तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।

चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च; तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः, वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्ति अनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः—"निरोध-धर्म-संस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् । चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः" इति ॥ १५ ॥

१५ । क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व का कारण है । सू०

भाष्यानुवाद—एक धर्मी का एक (धर्म, लक्षण तथा अवस्था) ही परिणाम होगा—इस शङ्का का समाधान यह है कि क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व में हेतु होता है (१); जैसे, चूर्णमृत्तिका, पिण्डमृत्तिका, घटमृत्तिका, कपालमृत्तिका, कणमृत्तिका—यह क्रम है । जिस धर्म का जो परवर्त्ती धर्म है, वही उसका क्रम है । 'पिण्ड अन्तर्हित होता है; घट उत्पन्न होता है' वह धर्मपरिणामक्रम है । लक्षणपरिणामक्रम—घट के अनागत भाव से वर्तमान भावरूप क्रम । उसी प्रकार पिण्ड का वर्त्तमान भाव से अतीत भावरूप क्रम होता है । अतीत का और क्रम नहीं होता, क्योंकि पूर्वपरता रहने से ही समनन्तरता रहती है, अतीत का ऐसा नहीं है (अर्थात् अतीत किसी का पूर्व नहीं होता है सुतरां उसका पर भी कुछ नहीं है); इसलिए अनागत और वर्त्तमान इन द्विविध लक्षणों का ही क्रम है ।

अवस्थापरिणाम क्रम भी उसी प्रकार का है । यथा—अभिनव घट के अन्त में पुराणता देखी जाती है, वह पुराणता क्षणपरम्परानुगामी क्रमसमूहों के द्वारा अभिव्यक्त होकर उस काल में ज्ञायमान पुराणता रूप चरम अवस्था प्राप्त करती है (पुराणता का अर्थ यहाँ पर जीर्णतादि धर्मभेद नहीं [३।१३ (२) देखिए] । यह तृतीय परिणाम धर्म तथा लक्षण से भिन्न है ।

ये सब क्रम धर्म और धर्मी का भेद रहने से ही उपलब्ध होते हैं । अन्य धर्मों की अपेक्षा धर्म भी धर्मी है (२) । जब परमार्थतः धर्मी में (धर्म का) अभेद-उपचार होता है तब उस अभेद-उपचार से वही धर्मी धर्म कहलाता है; और उस समय यह (परिणाम) क्रम एकही रूप से अवभासित होता है ।

चित्त के द्विविध धर्म हैं—परिदृष्ट और अपरिदृष्ट । उनमें प्रत्ययात्मक धर्म (प्रमाणादि तथा रागादि) परिदृष्ट (ज्ञातस्वरूप) हैं और वस्तु (संस्कार)

मात्रस्वरूप धर्म अपरिदृष्ट (अलक्षित) हैं। वे (अपरिदृष्ट धर्म) सात ही हैं; और वे वस्तुमात्रस्वरूप हैं—यह अनुमान द्वारा ज्ञात होता है। निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति–ये सब चित्त के दर्शनवर्जित या अपरिदृष्ट धर्म (३) हैं।

टीका १५ (१) एक धर्मी के (एकक्षण में) पूर्व धर्म की निवृत्ति और उदित धर्म की अभिव्यक्ति—इस प्रकार एक परिणाम होता है। उस परिणाम-भेद का कारण होता है–उस एक-एक परिणाम का क्रम। अर्थात् क्रमानुसार परिणाम भिन्न हो जाता है। परिणाम का प्रकृत क्रम हम देख नहीं पाते, क्योंकि वह क्षणावच्छिन्न सूक्ष्म परिवर्त्तन है। परिणाम का प्रान्त ही हम अनुभव कर सकते हैं। क्षण का अर्थ है–सूक्ष्मतम काल, जिस काल में परमाणु की अवस्था का अन्यथात्व लक्षित होता है; इसकी व्याख्या भाष्यकार ने आगे की है (द्र० ३।५२)। अतः प्रकृत क्रम परमाणु का क्षणशः परिणाम है। तान्मात्रिक स्पन्दनधारा ही बाह्य परिणाम का धारावाहिक सूक्ष्म क्रम है। अणुमात्र आत्मा या बुद्धि का परिणाम आन्तर परिणाम का सूक्ष्म एक क्रम है।

किसी एक परिणाम के परवर्ती परिणाम को उसका क्रम कहते हैं। मिट्टी का पिण्ड घट बनने से वहाँ पिण्डत्व धर्म का क्रम घटत्व-धर्म होता है; यह धर्मपरिणाम का क्रम है। इसी प्रकार लक्षण तथा अवस्थापरिणाम का भी क्रम होता है, भाष्यकार ने इसका उदाहरण दिया है।

अनागत का क्रम उदित और उदित का क्रम अतीत है; यही लक्षण-परिणाम का क्रम होता है। नया घट पुराना हुआ, यहाँ वर्त्तमानतारूप एक ही लक्षण रहता है, और धर्म का भेद यदि प्रतीत न हो, तो नया-पुराना आदि जो भेद ज्ञात होते हैं, वे ही अवस्थापरिणाम हैं। देशान्तर में स्थिति भी अवस्था-परिणाम है। धर्मपरिणाम को लक्ष्य न कर भिन्नता-ज्ञान करना ही अवस्था-परिणाम है। परन्तु उसमें भी धर्मपरिणाम होता है। धर्मभेद लक्षित न होने पर भी या उसको लक्षित करने की शक्ति न रहने पर भी (जैसे एकाकार सुवर्ण गोलकों में कौन पुराना है और कौन नया है, यह न जान सकने पर भी), सभी वस्तुओं का धर्मपरिणाम क्षणक्रम से हो रहा है। अतः अवस्थापरिणाम धर्म तथा लक्षण से पृथक् है, यही भाष्यकार ने कहा है। 'धर्म से भिन्न धर्मी है' इस प्रकार की दृष्टि से देखकर धर्म के परिणामक्रम की उपलब्धि की जाती है।

१५ (२) एक धर्म अन्य धर्म का धर्मी हो सकता है, यह इस पाद के १३ वें सूत्र की ६ ठी टिप्पणी में दिखाया गया है। परमार्थदृष्टि से अलिङ्ग प्रधान में जाकर धर्म-धर्मी के अभेद का व्यवहार होता है; यह भी दिखाया

गया है। उस समय धर्म-धर्मी-भेद करना व्यर्थ होता है। उस समय केवल अभिभाव्य-अभिभावकरूप विक्रिया शक्तिरूप से है, ऐसा कहा जा सकता है; परन्तु वह विक्रियाशक्ति किसकी है यह नहीं कहा जा सकता। विक्रियाशक्ति ही समता-प्राप्त रजोगुण है।

प्रधान के विषमपरिणाम का विषमरूप से (पुरुष द्वारा) उपदर्शन करना ही बुद्धि आदि विकार हैं। संयोग के अभाव से उपदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि आदि विषमक्रमों की समाप्ति या अनुपदृष्टि होती है। तब बुद्धि के अभाव के कारण परमार्थ दृष्टि भी समाप्त हो जाती है; अतएव गुणत्रय तथा उनका विक्रिया-स्वभाव उस समय पुरुषद्वारा दृष्ट नहीं होते हैं।

'गुणविक्रिया का विषमरूप से दर्शन' का अर्थ है—प्रादुर्भाव का आधिक्य-दर्शन अर्थात् सत्त्व का अधिक्य-दर्शन ही ज्ञान है, रज का आधिक्य-दर्शन प्रवृत्ति है और तम का आधिक्य-दर्शन स्थिति है। इस प्रकार पुरुषोपदृष्ट प्रकृति के द्वारा बुद्धि आदि का सर्ग होता है।

१५ (३) प्रसंगतः भाष्यकार ने चित्त के धर्मों का उल्लेख किया है। परिदृष्ट धर्म प्रत्ययरूप या ज्ञान (प्रख्या) तथा प्रवृत्ति है। अपरिदृष्ट धर्म स्थिति है। प्रवृत्ति धर्म के कुछ परिदृष्ट हैं और कुछ अपरिदृष्ट हैं। सप्तविध अपरिदृष्ट धर्मों का उल्लेख भाष्यकार ने किया है। सातों अपरिदृष्ट धर्म वस्तु-मात्रस्वरूप हैं अर्थात् 'वे हैं'—इस प्रकार से वे अनुमित होते हैं, पर किस रूप से हैं इसकी विशेष धारणा नहीं होती। जिसका वास (=स्थिति) है वही वस्तु कहलाता है।

निरोध=निरोध समाधि। धर्म=पुण्यापुण्यरूप त्रिविपाक संस्कार। संस्कार=वासनारूप स्मृतिफल संस्कार। परिणाम=जिस अलक्ष्य-क्रम से चित्त परिणत होता जाता है, वह क्रम। जीवन=प्राणवृत्ति; प्राण तामस करण (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय की अपेक्षा तामस) है और उसकी क्रिया अज्ञात भाव से होती है। चेष्टा=इन्द्रिय-चालिका चित्तचेष्टा; इच्छारूप चित्तचेष्टा परिदृष्टा है, पर यह चेष्टा (अवधानरूपा) अपरिदृष्टा है; क्योंकि इच्छा के बाद वह शक्ति कैसे कर्मेन्द्रिय आदि में आती है, यह साक्षात् अनुभूत नहीं होता, अतः वह दर्शनवर्जित अवधानरूपा चेष्टा तामस है। शक्ति=चेष्टा या व्यक्त क्रिया की सूक्ष्मावस्था।

भाष्यम्—अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद् योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् । धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः, तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—इसके बाद सर्वसाधनसम्पन्न योगी को बुभुत्सित (जिज्ञासित) विषय की प्रतिपत्ति (साक्षात्कार) के लिए संयम के विषय का अवतरण किया जा रहा है—

१६। परिणामत्रय में संयम करने से अतीत तथा अनागत विषय का ज्ञान होता है। सू०

धर्म, लक्षण तथा अवस्था इन तीन परिणामों में संयम करने पर योगियों को अतीत और अनागत का ज्ञान होता है। धारणा, ध्यान और समाधि एकत्र ये तीनों (एक ही विषय पर ये तीन साधन) संयम कहे गए हैं। उससे (संयम से) परिणामत्रय साक्षात् करते रहने पर उन तीन परिणामों में अनुगत विषय का अतीत तथा अनागत ज्ञान निष्पन्न होता है (१)।

टीका १६ (१) समाधि-निर्मल ज्ञानशक्ति के द्वारा कुछ अप्रकाश्य नहीं रह सकता। इसका कारण पहले कहा जा चुका है। त्रिकाल-ज्ञान के लिए परिणामक्रम में उस शक्ति का नियोग करना पड़ता है।

साधारण प्रज्ञा से भी हम कुछ-कुछ अतीत और अनागत विषय जान सकते हैं। हेतु से अतीत और अनागत विषय को अनुमान द्वारा जानते हैं। संयमबल से हेतु के सभी विशेषों का साक्षात्कार होता है; अतः हेतु के गम्य विषय का भी विशेष ज्ञान या साक्षात्कार होता है। फिर जिसका वह हेतु है, उसका भी उसी प्रकार साक्षात्कार होता है। इस क्रम से अतीत तथा अनागत विषय का ज्ञान होता है।

स्थूल चक्षु-कर्णादि ही हमारे ज्ञान के एक मात्र द्वार नहीं होते हैं, यह clairvoyance, telepathy आदि साधारण घटनाओं से प्रमाणित हो चुका है; और भविष्य ज्ञान भी हो सकता है, यह बहुत से यथार्थ स्वप्नों से प्रमाणित हुआ है। जब चित्त में भविष्यत् ज्ञान की शक्ति है तथा स्वप्नादि[1] में कभी कभी उसका प्रकाश भी होता है, तब साधन-बल से वह शक्ति आयत्त हो सकती है, इस तथ्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार न्यूटन साहब ने एक सेबफल का पतन देखकर गुरुत्वाकर्षण के नियम का आविष्कार किया था, उसी प्रकार यदि कोई अपने जीवन के किसी सफल स्वप्न के तत्त्व का अनु-

१. भविष्य घटना का ज्ञापन स्वप्न से होता है, यह अब सर्वस्वीकृत हो रहा है; द्र० Maurice Maeterlinck कृत The Life of Space ग्रन्थ का 'The cultivation of dreams' नामक अध्याय, विशेषतः पृ० ११९-१२० [सम्पादक]

सन्धान करें तो वे योगशास्त्र के इन सब नियमों तथा युक्तियों को हृदयंगम कर सकेंगे। अतीतानागत-ज्ञान स्वाभाविक रीति से ही होता है। उसमें कुछ 'अतिप्राकृतिकत्व' या mysticism नहीं है। चित्त का भविष्यत् ज्ञान हो सकता है, यह सत्य या fact है। यह कैसे होता है, इसका भी अवश्य ही कुछ कारण है; भगवान् सूत्रकार ने उस कार्यकारणपरम्परा को युक्ति के साथ दिखाया है।

यहाँ पर योगसिद्धि के विषय में एक बात कहना आवश्यक है। समाधिसिद्ध विरले ही होते हैं। संसार के सभी धर्मसंप्रदायों के प्रवर्त्तकों की अलौकिक शक्ति के विषय में कुछ न कुछ विवरण मिलता है, परन्तु विचार करने पर देखा जाता है कि प्रायः ये सभी विवरण अलीक या लोक-संग्रह के लिए कल्पित हैं, या वे दर्शक की अविचक्षणता के कारण भ्रान्तधारणामूलक हैं। किन्तु अलौकिक शक्तियों का कुछ न कुछ अंश उन सब व्यक्तियों में था—यह अनुमान किया जा सकता है।

—: ० :—

**शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-
संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥**

भाष्यम्—तत्र वाग् वर्णेष्वेवार्थवती, श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्, पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम् इति। वर्णा एकसमयासंभवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मानः, ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवापन्नः। पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्ता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति।

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रयत्नाक्षिप्तम् अभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते। तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति।

संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः। योऽयं शब्दः सोऽयमर्थः, योऽर्थः स शब्द इत्येवमितरेतराविभागरूपः (इतरेतराध्यासरूपः- पाठा०) संकेतो भवति। इत्येवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात् संकीर्णाः,

गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्। य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्।

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते; न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति। तथा न ह्यसाधना क्रियास्तीति, तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकर्मकरणानां चैत्राग्नितण्डुलानामिति।

दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनम्; श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, जीवति प्राणान् धारयति। तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्तिः; ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं कारकवाचकं वा। अन्यथा भवति, अश्वः, अजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति।

तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः, तद् यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः। क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च; कस्मात्, सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेते इति। यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः, स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः। एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इति - अन्यथा शब्दोऽन्यथार्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः, एवं तत्प्रविभागसंयमाद् योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति॥ १७॥

१७। शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय के परस्पर अध्यास के कारण संकर (अभिन्नज्ञान) होता है, उनके प्रविभाग में संयम करने पर सारे प्राणियों के उच्चारित शब्दों का अर्थज्ञान होता है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—उस विषय में (२) (शब्दार्थज्ञान के विचार में) वाक्-इन्द्रिय के विषय वर्णसमूह (क) हैं। और श्रोत्र के विषय केवल (वागिन्द्रियजात वर्णरूप) ध्वनिपरिणाम (ख) हैं। नाद का (अ, आ इत्यादि शब्दों का) ग्रहण-पूर्वक उन नादों का एकत्व-बुद्धिनिर्ग्राह्य, मानस वाचकशब्द ही पद (ग) है। (पद के अन्तर्गत) सभी वर्ण (क्रमशः उच्चारित होने के कारण) एक काल में आविर्भूत नहीं हो सकते, अतः वे परस्पर असंबन्ध-स्वभाव होते हैं; यही कारण है कि वे पदत्व प्राप्त न कर (अतः अर्थस्थापन न कर) आविर्भूत तथा तिरोभूत होते हैं (अतः पदान्तर्गत समस्त वर्णों में से) प्रत्येक को अपदस्वरूप कहा जाता है (घ)।

प्रत्येक वर्ण पद का उपादान है; वह सर्वाभिधान-योग्यता-संपन्न (ङ) है तथा सहकारी दूसरे वर्णों के साथ सम्बन्धित होने से मानों असंख्य-रूप-संपन्न होता है। पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ तथा उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के साथ किसी विशेष में (वाचक पद-रूप में) अवस्थापित होता है। इस प्रकार क्रमानुरोधी (च) बहुत से वर्ण अर्थसंकेत द्वारा नियमित होकर दो, तीन, चार या किसी भी संख्या में एकत्र मिलकर सर्वाभिधान-योग्यता से युक्त होते हैं। (उस प्रकार

की योग्यता से युक्त गौः पद में) गकार, औकार तथा विसर्ग सास्ना (गोजाति की गलकम्बल) प्रभृति से युक्त (गोरूप) अर्थ को प्रतिभात करते हैं।

अर्थसंकेत से नियमित इन वर्णों के (क्रमशः उच्चारित होने के कारण) ध्वनिक्रमसमूह एकीकृत होकर जो एक रूप से बुद्धिगोचर होते हैं, वे ही वाचक पद हैं और वाचक पद के द्वारा ही वाच्य का संकेत किया जाता है। यह वाचक पद एक-बुद्धिविषय हेतु से एकस्वरूप, एकप्रयत्नसेउत्पादित, अभाग, अक्रम, अवर्णस्वरूप, बौद्ध अर्थात् एकीकृत बुद्धि-विदित, पूर्ववर्णज्ञान के संस्कार के साथ अन्त्यवर्णज्ञान के संस्कार द्वारा अथवा उस ज्ञानरूप उद्‌बोधक द्वारा विषयीकृत या अभिव्यक्त होता है (छ)। यह पद दूसरे को ज्ञापन करने की इच्छा से (वक्ता-कर्तृक) वर्ण-द्वारा अभिधीयमान तथा श्रोता-द्वारा श्रूयमाण होकर अनादिवाग्व्यवहार-वासनावासित लोकबुद्धि के द्वारा वृद्धसंवाद के माध्यम से सिद्धवत् (वर्णसमष्टि, अर्थ तथा अर्थज्ञान मानों वास्तविक में अभिन्नरूप) प्रतीयमान होता है (ज)। ऐसे पद का प्रविभाग (झ) (अर्थात् गोपद का यह अर्थ है, मृगपद का यह अर्थ है—इस प्रकार के अर्थभेद की व्यवस्था) संकेतबुद्धि से सिद्ध होता है; जैसे इन सब (ग, औ, :) वर्णों का इस प्रकार (गौः) अनुसंहार (एकीभूत बुद्धि) इस एकरूप (सास्नादियुक्त गोरूप) अर्थ का वाचक होता है।

पद तथा पदार्थ की इतरेतर-अध्यासरूप (ञ) स्मृति ही संकेत का स्वरूप है। 'जो शब्द है वही अर्थ होता है, जो अर्थ है वही शब्द है' इस प्रकार इतरेतर-अध्यासरूप स्मृति ही संकेत कही जाती है। इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय इतरेतर-अध्यास-हेतु से संकीर्ण होते हैं—जैसे, गो यह शब्द, गो यह पदार्थ और गो यह ज्ञान (अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों ही गो हैं)। जो इनका प्रविभाग जानने वाले हैं, वे ही सर्ववित् (उच्चारित सभी शब्दों के अर्थज्ञ) हैं।

सभी पदों में (ट) वाक्यशक्ति रहती है। (केवल) 'वृक्ष' कहने से 'है' ज्ञात होता है; (क्योंकि) पदार्थ में कभी भी सत्ता का व्यभिचार (अन्यथात्व) नहीं होता है (अर्थात् असत् की विद्यमानता नहीं रहती)। उसी प्रकार ही साधनहीन (कारकान्वयरहित) क्रिया भी नहीं है, जैसे—'पचति' कहने से कारकसमूह सामान्यत. अनुमित होने पर भी अन्य को व्यावृत्त कर कहने में कारकों का अनुवाद या पुनः कथन आवश्यक होता है अर्थात् अन्यकारक को व्यावृत्त कर कहने पर कर्ता रूप में चैत्र, करणरूप में अग्नि तथा कर्मरूप में तण्डुलरूप विशेष कारकों को कहना पड़ता है।

वाक्य के अर्थ में भी पदरचना देखी जाती है, जैसे—'जो छन्द का अध्ययन करता है' इस वाक्यार्थ में 'श्रोत्रिय' पद; 'प्राण धारण करता है' इस वाक्यार्थ में

'जीवति' पद। पद के अर्थ द्वारा वाक्यार्थ के अभिव्यक्त होने के कारण कोई पद क्रियावाचक है या कारक-वाचक है, यह प्रविभाग कर व्याख्यान करना चाहिए (अर्थात् अन्य उपयुक्त पद के साथ उसका योग करके वाक्यरूप से विशद कर कहना चाहिए)। ऐसा न करने से 'भवति' (=है; हे पूज्या,) 'अश्वः' (= घोड़ा; गए थे) 'अजापयः' (=बकरी का दूध; जिताया था)[१]—ऐसे स्थलों में बह्वर्थक पद अकेले प्रयुक्त होने से भिन्न-अर्थ-वाचक पदों के साथ सादृश्य रहने के कारण वे निश्चय रूप से नहीं जाने जा सकते, और वे क्रिया अथवा कारक इन दोनों में से किस भाव से व्याख्यात होंगे, यह कहना कठिन हो जाता है।

शब्द, अर्थ तथा प्रत्यय के प्रविभाग, जैसे—(ठ) 'प्रासाद श्वेत दीखता है' (श्वेतते प्रासादः)। यह क्रियार्थ शब्द है और 'श्वेत प्रासाद' यह कारकार्थ शब्द है। अर्थ क्रियाकारकात्मक है और प्रत्यय भी वैसा ही है, क्योंकि 'वही यह है' इस प्रकार अभिसंबन्ध हेतु से संकेतद्वारा एकाकार प्रत्यय सिद्ध होता है। जो श्वेत अर्थ है वही पद है और प्रत्यय का आलम्बनीभूत भी है, तथा वह अर्थ अपनी अवस्था द्वारा विक्रियमाण होने के कारण शब्द का सहगत (समानाधार) अथवा प्रत्यय का सहगत नहीं है। इसी प्रकार शब्द और प्रत्यय भी परस्पर साथ नहीं रहते हैं। शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है और प्रत्यय भिन्न है—इस प्रकार का विभाग होता है। उनके इस प्रविभाग में संयम करने से योगियों को सभी प्राणियों के उच्चारित शब्दों का अर्थज्ञान सिद्ध होता है।

टीका १७ (१) शब्द=उच्चारित शब्द। अर्थ=उस शब्द का विषय। प्रत्यय=अर्थ का मनोगत स्वरूप या वक्ता के मन का भाव एवं शब्द सुनकर श्रोता का अर्थज्ञान रूप मनोभाव। उनका (शब्दार्थ-प्रत्ययों का) परस्पर अध्यास एक के ऊपर दूसरे का आरोप अर्थात् एक को दूसरा समझना है। उन अध्यास से उनका सांकर्य होता है अर्थात् जो शब्द है वही मानों अर्थ है और वही मानों ज्ञान है—इस प्रकार की एकत्वबुद्धि होती है। परन्तु वास्तव

---

१. इन तीन उदाहरणों का तात्पर्य यह है। 'भवति' पद 'भवती' इस पूज्यार्थक स्त्रीलिङ्गशब्द का सम्बोधनान्तरूप (एकवचन में) भी है; तथा भूधातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचनान्तरूप भी है। 'अश्वः' पद अश्व शब्द का प्रथमा-एकवचनान्त है; तथा श्विधातु के लुङ् लकार के मध्यम पुरुष के एकवचन में भी यह रूप बनता है। 'अजापयः' पद का अर्थ अजा का पयः (दूध) है (षष्ठी-तत्पुरुष समास); णिजन्त जि धातु के लुङ्लकार के मध्यम पुरुष-एकवचन में भी यही रूप बनता है। **[सम्पादक]**

में वे अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। गो-शब्द वक्ता की वागिन्द्रिय में रहता है, गो-अर्थ गोशाला में या गोष्ठ में रहता है; और गो-ज्ञान श्रोता के मन में रहता है। इस प्रकार का विभाग जानकर योगी केवल शब्द, केवल अर्थ तथा केवल प्रत्यय की अलग-अलग भावना करना सीखते हैं। उस समय शब्द में मन लगाने पर शब्द-मात्र निर्भासित होगा; अर्थ में अथवा प्रत्ययमात्र में मन लगाने से अर्थ या प्रत्यय ही निर्भासित होगा। इस प्रकार भावना-कुशल योगी किसी अज्ञातार्थक शब्द को सुनने पर उस शब्दमात्र में संयम कर उस शब्द के उच्चारणकारी के वाग्यन्त्र में पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँच कर योगी की ज्ञान-शक्ति वाग्यन्त्र के प्रयोजक उच्चारककारी मन में प्रवेश करती है। उसके बाद जिस अर्थ के लिए उस मन ने उस वाक्य का उच्चारण किया है योगी को उस अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

१७ (२) इस प्रसंग में भाष्यकार ने सांख्य-सम्मत शब्दार्थतत्त्व विवृत किया है। यह अत्यधिक सारवान् तथा युक्तियुक्त है। यह विभाग-पूर्वक समझाया जा रहा है।

(क) वागिन्द्रिय से केवल क, ख इत्यादि वर्णों का उच्चारण होता है। वर्ण का अर्थ है—उच्चार्य शब्द का मौलिक विभाग। मनुष्यों की जो साधारण भाषा है, वह क, ख आदि वर्णों में से प्रत्येक या एक से अधिक के संयोग से निष्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त क्रन्दन आदि के शब्दों का भी उपयुक्त वर्णविभाग हो सकता है। मान लो कि कोचवान लोग घोड़ों को रोकते समय जो पुचकारते हैं, उसके वर्ण का एक प्रकार का अक्षर-संकेत बनाया गया। उस लिखित अक्षरसंकेत को देखकर संकेतविद् व्यक्ति उपयुक्त संकेतानुार उस शब्द का दीर्घ या ह्रस्व उच्चारण कर सकता है। साधारण 'क' आदि वर्णों से यह उच्चारण नहीं किया जा सकता है। सभी प्राणियों के शब्दों का इस प्रकार का वर्ण है। रूप के सात प्रकार के मौलिक वर्णों के योग से जिस प्रकार सभी रङ्ग बनते हैं, उसी प्रकार कतिपय वर्णों के योग से सभी प्रकार के वाक्य उच्चारण किए जा सकते हैं।

(ख) कान केवल ध्वनि (sound) ग्रहण करता है, अर्थ नहीं। वर्ण की ध्वनि कान ग्रहण करता है। वर्ण जिस क्रम से उच्चारित होते हैं (एक साथ दो वर्ण उच्चारित नहीं हो सकते), कान भी उस क्रम के अनुसार क्रमशः एक-एक वर्ण की ध्वनि सुनता है।

(ग) पद वर्ण-समष्टि है। वर्ण-समूह एक साथ उच्चारित नहीं हो सकते, अतः पद एक साथ नहीं रहते। पदोच्चारण में पद के सभी वर्ण उठते और लीन होते रहते हैं। अतः पद का एकत्व कान से नहीं, परन्तु मन से होता

है। पूर्वापर सभी वर्णों के संस्कारों से उत्पन्न होने वाली स्मृति के बल पर एकत्वबुद्धि करना ही पद का स्वरूप है। परन्तु एकवर्णिक पद में इस पूर्वापरवर्ण-संस्कार का प्रयोजन नहीं होता है।

(घ) सभी वर्ण पद के उपादान हैं, परन्तु प्रत्येक वर्ण अपद है। वर्णों के बहुत-से संयोग हो सकते हैं, अतः पद मानों असंख्य हैं।

(ङ) वर्णसमूह पदरूप से या अकेले ही सर्वाभिधान-समर्थ हैं, अर्थात् वे सभी पदार्थों के वाचक हो सकते हैं। संकेत के द्वारा किसी भी पद को किसी भी अर्थ का वाचक किया जा सकता है। कई वर्णों को किसी विशेष क्रम में स्थापित कर और किसी विशेष अर्थ में संकेत कर पद बनाया जाता है; जैसे 'गौः' एक पद है, इसमें ग, औ तथा :—ये तीन वर्ण हैं; 'ग' के बाद 'औ' और औ-कार के बाद विसर्ग है—इस प्रकार एक क्रम व्यवस्थापित हुआ है, तथा 'गो प्राणी' इस प्रकार के अर्थ में संकेत किया गया है। अतएव संकेतज्ञ व्यक्ति को गो-पद प्राणी-विशेष-रूप अर्थ ज्ञापित करता है।

(च) यद्यपि पद प्रायः अनेक वर्णों द्वारा निर्मित होते हैं तो भी वे अनेक वर्ण एक साथ वर्त्तमान नहीं रहते; वे क्रमशः उच्चारित होते हैं। लीन और उदित द्रव्यों का वास्तविक समाहार नहीं होता है, अतः पद का अर्थ यहाँ मनोभावमात्र होता है। मन ही मन उन सब ध्वनिक्रमों को उपसंहृत या एकत्र किया जाता है, अतः पद उस एकीभूत-बुद्धि से निर्भास्य पदार्थ या मनोभावमात्र हुआ। मन ही मन वर्ण-समूह को एक कर एक पद के रूप में स्थापन करने का नाम है अनुसंहार या उपसंहार बुद्धि। इस प्रकार के बुद्धि-निर्मित पद से ही अर्थ का संकेत किया जाता है।

(छ) उच्चार्यमाण पदसमूह लीयमान तथा उदीयमान वर्णरूप अवयव-स्वरूप होते हैं, किन्तु एकबुद्धिनिर्ग्राह्य मानस पदसमूह वैसे नहीं हैं, क्योंकि वे एक बुद्धि के विषय हैं। बुद्धि द्वारा अनुभूयमान विषय वर्त्तमान ही होता है, लीन नहीं होता। जो ज्ञायमान नहीं होता है, पर सूक्ष्मभाव में रहता है, वही लीन द्रव्य होता है। मानस पद एक-भावस्वरूप है। यह अनुभव भी होता है कि हम मन ही मन पद को एक प्रयत्न से उठाते हैं। तथा वह चूँकि एक, वर्त्तमान, भावस्वरूप है, अतः उसके उदीयमान और लीयमान अवयव नहीं हैं; वह भागहीन तथा क्रमहीन है। वर्णसमाहार-रूप उच्चारित पद सभाग और सक्रम है; यही कारण है कि बुद्धिनिर्मित पद अवर्णस्वरूप है। बुद्धि द्वारा यह कैसे बनता है ?—वर्णक्रम सुनते समय एक-एक वर्ण का ज्ञान होता है; ज्ञान होने पर संस्कार होता है, संस्कार से स्मृति होती है। क्रमशः श्रूयमाण वर्णसमूह का इस प्रकार क्रमिक ज्ञान और तज्जनित संस्कार होता रहता है। वर्ण का

संस्कार होने पर, स्मृति द्वारा उन सब संस्कारों को एक प्रयत्न में उपस्थापित करने से एक बौद्ध पद निर्मित होता है।

(ज) बुद्धिस्थ (बौद्ध) पद अवर्ण होने पर भी उसे व्यक्त करने के लिए उस श्रवणज्ञान के संस्कार के साथ वर्णों के द्वारा उसका उच्चारण करना पड़ता है। मानुष-प्रकृति अपने वाग्व्यवहार की वासना से युक्त है। मनुष्य-जाति में वाक्योत्कर्ष एक विशेषता है। वासना अनादि होने के कारण वाग्व्यवहार की वासना भी अनादि है। उपयोगी संस्कार रहने के कारण मानव शिशु सहज ही वाग्व्यवहार सीख लेता है। मूलत: शिक्षा सुनने से ही होती है। शिशु जिस प्रकार पद जानता रहता है, उसी प्रकार पद का अर्थसंकेत भी जानता रहता है। यद्यपि पद, अर्थ तथा प्रत्यय पृथक् हैं, तो भी वे इतरेतर-अध्यास के द्वारा अभिन्न-भाव से व्यवहृत होते हैं और ऐसे व्यवहार की वासना रहने के कारण सीखते समय हम सहज ही ऐसे शब्दार्थप्रत्ययों को अभिन्नवत् मानकर ही सीखते रहते हैं। हम सीखते हैं—संप्रतिपत्ति के द्वारा। संप्रतिपत्ति का अर्थ है-वृद्ध-संवाद; अर्थात् हम सर्व प्रथम वयोवृद्ध व्यक्तियों से ही उस प्रकार की संकीर्ण भाषा सीखते हैं और बाद में शब्दार्थ-प्रत्यय को संकीर्ण रूप से व्यवहार करते हैं।

(झ) पदों का प्रविभाग या अर्थभेद-व्यवस्था संकेत से सिद्ध होती है। 'इतने वर्णों से मैंने यह पद निर्मित किया एवं यह अर्थ संकेतित किया' ऐसे ही किसी व्यक्ति के द्वारा पद और अर्थ का संकेत किया जाता है। चन्द्र, महताब, मून (moon) आदि शब्द किसने रचे हैं और उनका अर्थ-संकेत किसने किया है, यह न जानने पर भी किसी व्यक्ति ने उसे किया है यह निश्चित है।

(ञ) पद तथा अर्थ की अभ्यास-स्मृति ही संकेत कहलाती है। 'यह प्राणी गौ है' 'गौ यह प्राणी है' इस प्रकार के इतरेतर-अध्यास की स्मृति ही संकेत है। अत: पद, पदार्थ और स्मृति या प्रत्यय इतरेतर में अध्यस्त होने के कारण संकीर्ण होते हैं, अर्थात् विविक्त करने के अयोग्य होते हैं। योगी उनका प्रविभाग जानने पर या प्रत्येक का समाधि द्वारा असंकीर्ण रूप से साक्षात्कार करने पर निर्वितर्का प्रज्ञा के द्वारा सब पदों का अर्थ जान सकते हैं।

(ट) वाक्य का अर्थ है—क्रियापद-युक्त विशेष्य पद। वाक्यशक्ति का अर्थ है—वाक्य द्वारा जो अर्थ समझ में आता है उसको समझाने की शक्ति। 'घट' एक पद है; 'घट है' यह एक वाक्य है; 'घट लाल है,' यह भी वाक्य है। (वाक्य=proposition; पद=term)।

सभी पदों में वाक्यशक्ति रहती है; अर्थात् कोई भी पद कहने से उसमें कुछ न कुछ, अन्तत 'सत्ता' या 'है' इस प्रकार की क्रियायुक्त वाक्यवृत्ति रहती है।

वृक्ष कहने से वृक्ष 'है' 'था' या 'होगा' इस प्रकार की सत्त्वक्रिया का अध्याहार होता है, क्योंकि सभी पदार्थों में सत्त्व अव्यभिचारी है। 'नहीं है' का अर्थ — अन्यत्र या अन्य रूप से है। तब क्या 'आकाशपुष्प' कहने पर भी 'है' समझा जाएगा ? हाँ, यही समझा जाएगा। यहाँ 'आकाश' भी है, 'पुष्प' भी है, तथा 'आकाशपुष्प' पद का एक अर्थ है, वह बाहर नहीं होने पर भी मन में है। इस प्रकार भावार्थक या अभावार्थक सभी विशेष्य पदों की सत्त्व-क्रियायोगरूप वाक्यवृत्ति है।

क्रियापद में भी वाक्यवृत्ति रहती है। इस विषय को 'पचति' पद का उदाहरण देकर भाष्यकार ने समझाया है। 'पचति' पद कहने से 'रसोई बनाता है,' यह वाक्यार्थ प्रकट होता है। अतएव क्रिया में भी वाक्यार्थ-विज्ञापिका शक्ति रहती है और जो सब पद वाक्यार्थ समझाने के लिए रचे गए हैं, उनमें भी वाक्यशक्ति तो रहेगी ही, जैसे, श्रोत्रिय आदि।

अनेकार्थक या श्लिष्ट पद (भवति आदि) अकेले प्रयुक्त होने पर साधारण प्रज्ञा से उनका विवक्षित अर्थ नहीं समझा जा सकता। पर योगज प्रज्ञा द्वारा अर्थ निर्धारित होता है।

(ठ) शब्द, अर्थ और प्रत्यय के भेद को भाष्यकार उदाहरण देकर समझा रहे हैं : 'श्वेतते प्रासादः' तथा 'श्वेतः प्रासादः'—इन स्थलों में 'श्वेतते' शब्द 'क्रियार्थक' है अर्थात् साध्य (अनिष्पन्न) रूप अर्थयुक्त है; और 'श्वेतः' यह शब्द 'कारकार्थक' है या सिद्धरूप अर्थयुक्त है। पर उन दोनों शब्दों का जो अर्थ है, वह क्रियार्थक और कारकार्थक है, क्योंकि एक ही श्वेतता (सफेद रंग) को क्रिया तथा कारक दो रूपों में ही प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रत्यय भी क्रियाकारकार्थ होता है। कारण 'यह गौ है' इस प्रकार का ज्ञान तथा 'गो-प्राणीरूप' विषय, संकेत द्वारा अभिसम्बद्ध होने के कारण एकाकार होते हैं। इस प्रकार क्रियार्थक अथवा कारकार्थक 'शब्द' से क्रियाकारकार्थक अर्थ का और वैसे प्रत्यय का भेद सिद्ध हुआ; तात्पर्य यह है कि शब्द केवल क्रियार्थक अथवा कारकार्थक होता है, परन्तु अर्थ (गो आदि) तथा ज्ञान क्रिया और कारक एक साथ उभयार्थक होते हैं। और भी, अर्थ शब्द तथा ज्ञान का आलम्बन स्वरूप है अतः वह अपनी अवस्था के विकार से विकृत होता है। अतएव अर्थ शब्द या ज्ञान, किसी में भी अन्तर्गत नहीं है। फलतः शब्द तथा प्रत्यय से अर्थ भिन्न होता है। इस प्रकार 'गो'-शब्द रहता है कण्ठ में, 'गोप्राणी' यह अर्थ रहता है गोशाला आदि में, और 'गोप्रत्यय' रहता है मन में; अतएव वे पृथक्-पृथक् हैं।

भाष्यकार ने शब्द, अर्थ और प्रत्यय के स्वरूप, सम्बन्ध तथा भेद युक्ति

से स्थापित कर संयमफल बतलाया है। बौद्ध अर्थात् बुद्धिनिर्मित पद को स्फोट कहते हैं[1]। कुछ विद्वान् स्फोट की सत्ता स्वीकार नहीं करते।[2] न्यायमत[3] में उच्चार्यमाण वर्णसमूह (पदाङ्ग) के संस्कार से अर्थज्ञान होता है। वर्णसंस्कार चित्त में क्रमशः उठ सकता है; उस क्रम की अलक्ष्यता-हेतु हम उसे एक-स्वरूप में व्यवहार करते हैं, अतः बौद्ध पद एकस्वरूप प्रत्यय है। फलतः वह क्रमिक वर्णधारा (उच्चार्यमाण पद) से पृथक् हुआ। भाष्यकार भी सर्ववर्ण द्वारा अभिव्यक्त अक्रम बौद्ध पद रूप स्फोट की सत्ता को मानते हैं।

भाष्यकार का अभिप्राय है कि शब्दविशेष के साथ उसके अर्थ का संकेत किसी एक काल में किया गया है। तन्त्रान्तर में[4] (मीमांसक मत में) कई शब्दों को नित्य (अनादि-अर्थसंबन्ध से युक्त) स्वीकार किया गया है। परन्तु उसका प्रमाण नहीं मिलता। जब यह पृथ्वी सादि है और मनुष्यों का निवास-काल भी सादि है, तब मनुष्यों की भाषा अनादि है, यह कहना ठीक नहीं है। हाँ, जातिस्मर (पूर्वजन्मवृत्तज्ञ) पुरुषों द्वारा पूर्व सर्ग का कोई-कोई शब्द इस सर्ग में प्रचारित हुआ है, यह हमारे मत में अस्वीकृत नहीं।

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

भाष्यम्—द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः, विपाक-हेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति-

---

१. वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३००)। [सम्पादक]

२. स्फोट के अस्वीकारकारी आचार्यों में शंकराचार्य अन्यतम हैं (द्र० शारीरकभाष्य १।३।२८)। स्फोटवाद में दृष्टहानि एवं अदृष्टकल्पनारूप दोष है, यह उन्होंने कहा है। पूर्वमीमांसा के आचार्य भी स्फोट की सत्ता का खण्डन करते हैं (१।१।५ सूत्र की व्याख्याएँ द्र०)। न्यायमञ्जरी (भाग १, पृ० ३४४-३५५) में नैयायिक की दृष्टि से स्फोट-खण्डन द्रष्टव्य है (द्र० न्यायकन्दली भी, पृ० ६५०-६५७. दुर्गाधर झा सम्पादित)। [सम्पादक]

३. द्र० वात्स्यायन भाष्य ३।२।६२। वाचस्पति ने तत्त्वबिन्दु में न्यायमत को इस प्रकार कहा है—"पारमार्थिक-पूर्वपूर्वपदपदार्थानुभवजनित-संस्कारसहितम् अन्त्यवर्ण-विज्ञानम् इत्येके" (पृ० ३)। [सम्पादक]

४. द्र० पूर्वमीमांसा १।१।५; इस सूत्र की व्याख्याओं में यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक (=स्वाभाविक= अकृत=अपौरुषेय) है। [सम्पादक]

जीवन-धर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः । तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः; न च देशकालनिमित्तानुभवै विना तेषामस्ति साक्षात्करणम् । तदित्थं संस्कार-साक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्क-रणात्परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धि-सत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरु-त्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति । भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत् किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि ।

भगवानावट्य उवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च संतोष-सुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति । भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषय-सुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं संतोषसुखमुक्तम्, कैवल्यापेक्षया दुःखमेव । बुद्धिसत्त्व-स्यायं धर्मस्त्रिगुणः, त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति । दुःखस्वरूपस्तृष्णातन्तुः, तृष्णादुःखसन्तापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥१८॥

१८ । संस्कार-साक्षात्कार करने पर पूर्वजन्म का ज्ञान होता है (१) । सू०

भाष्यानुवाद—ये (सूत्रोक्त) सब संस्कार दो प्रकार के हैं-स्मृतिक्लेशहेतु वासनारूप तथा विपाकहेतु धर्माधर्म रूप (२) । ये पूर्व जन्मों में निष्पादित होते हैं। परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन तथा धर्म के समान वे चित्त के अपरिदृष्ट धर्म या गुण हैं । संस्कार में संयम करने पर संस्कार का साक्षात्कार होता है; यतः (उस संस्कार से सम्बन्धित) देश, काल तथा निमित्त के साक्षात्कार के बिना संस्कार का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, अतएव संस्कार-साक्षात्कार द्वारा योगियों को पूर्वजाति का ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार दूसरे व्यक्तियों के संस्कार का साक्षात्कार हो जाने पर उसका भी पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ।

इस विषय में यह आख्यान सुना जाता है कि भगवान जैगीषव्य को संस्कार-साक्षात्कार से दस महासर्गों के सभी जन्म-परिणामक्रम ज्ञात हो गए थे और बाद में विवेकज ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ था । तदनन्तर तनुधर (निर्माणकायाश्रित) भगवान् आवट्य ने उनसे पूछा, 'भव्यत्व के हेतु (सत्त्वोत्कर्ष के कारण) अनभिभूत-बुद्धि-सत्त्वसंपन्न आपने दस महासर्गों में नरक-तिर्यक् जन्म से उत्पन्न हुए दुःख का उपभोग करके तथा देव और मनुष्य योनियों में बारंबार जन्म

पाकर (अर्थात् उन जन्मों से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करके), सुख तथा दुःख इन दोनों में से किसकी अधिक उपलब्धि की है ?" भगवान् आवट्य को भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—"भव्यत्व हेतु से अनभिभूत बुद्धिसत्त्वसंपन्न मैंने दस महासर्गों में नरक-तिर्यक्-जन्म के दुःख का अनुभव करके और देव-मनुष्य योनियों में बारंबार उत्पन्नहोकर जो कुछ अनुभव किया है उस सबको मैं दुःख ही मानता हूँ।"

भगवान् आवट्य ने फिर पूछा, "आयुष्मान् ! आप के ये जो प्रधानवशित्व तथा अनुत्तम सन्तोषसुख हैं, क्या उन्हें भी आप दुःख के अन्तर्गत गिनते हैं ?" भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया—"केवल विषयसुख की अपेक्षा ही संतोषसुख अनुत्तम कहा गया है, कैवल्य की अपेक्षा वह दुःख ही है। बुद्धिसत्त्व का यह धर्म (संतोषरूप) त्रिगुण है, और त्रिगुण-प्रत्ययमात्र हेयपक्ष में न्यस्त हुआ है। तृष्णा-रज्जु ही दुःखस्वरूप है। तृष्णा रूप दुःखसंताप का अपगम होने से इसको (सन्तोष-सुख को) अबाध और सबका अनुकूल सुख कहा गया है" (३)।

टीका १८ (१) संस्कारसाक्षात्कार का अर्थ है—संस्कार की स्मृति या स्मरणज्ञान। संस्कार का साक्षात्कार होने पर जो पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, यह स्पष्ट है। पूर्वपूर्व जन्मों में ही संस्कार संचित होते हैं; अतः संस्कारमात्र में यदि समाधिबल से ज्ञानशक्ति को पुञ्जीभूत किया जाए, तो संस्कार अपने विशेषों से युक्त होकर सम्यक् विज्ञात हो जाएगा तथा कहाँ, किस जन्म में, कैसे और कब वह संस्कार संचित हुआ है, यह भी याद आ जाएगा।

१८ (२) संस्कार के बारे में पहले व्याख्या की गयी है (२।१२ सूत्र की टिप्पणी देखिए)। परिणामादि की तरह संस्कार अपरिदृष्ट चित्तधर्म है। 'धर्म' के स्थान पर 'कर्म' पाठान्तर है; कर्म का अर्थ कर्माशय है। संस्कार-साक्षात्कार करने में आत्मगत किसी संस्कार की भावना करनी पड़ती है। प्रबल संस्कार रहने से उसका फल प्रस्फुट होता है। अतः किसी प्रबल प्रवृत्ति या करणशक्ति की धारणा करके उसमें समाहित होने पर (उसके विशदतम उपलक्षणस्वरूप होने पर उस संस्कार का जो स्मरणज्ञान होता है, वही संस्कार-साक्षात्कार या पूर्वजन्म का स्मरणज्ञान होता है) संस्कार का साक्षात्कार होता है। मानव के लिए मानव के जातिगत विशेषगुणसमूह ही स्मृतिफल वासनारूप संस्कार हैं। मानवीय आकार, इन्द्रिय, मन आदि की विशेषता की धारणा करके उसमें समाहित होने से यह ज्ञात होता है कि यह वासनारूप साँचा किस हेतु से स्मरणारूढ़ होकर वर्त्तमान मानव जन्म के धर्माधर्मों का धारण करता है। वासना की व्याख्या पहले की गई है [२। १२ (१) और

२।१५ (१) (३) देखिए]। वासना साँचे के समान और धर्माधर्म द्रवीभूत धातु के समान हैं।

१८ (३) भाष्यकार ने महायोगी जैगीषव्य और आवट्य का संवाद उद्धृत करके इस विषय की व्याख्या की है। महाभारत में भगवान् जैगीषव्य का योगसिद्धि-विषयक आख्यान कई स्थलों पर है (द्र० शल्यपर्व अ० ५०; शान्ति २२९।७–२५), किन्तु आवट्य-जैगीषव्य-संवाद किसी प्रचलित ग्रन्थ में नहीं हैं[1]। 'श्रूयते' शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि यह किसी काललुप्त श्रुति की शाखा में था। इस आख्यान की रचना-शैली अति-प्राचीन है। प्राचीनतम बौद्धग्रन्थ में ऐसी रचनाशैली का अनुकरण किया गया है।

प्रसन्न=वैषयिक दुःख से अस्पृष्ट। अबाध=किसी बाधा से जो भग्न न हो। भिक्षु कहते हैं—**'यावद् बुद्धिस्थायी अक्षय।'** सर्वानुकूल=सभी का प्रिय या सभी अवस्थाओं में अनुकूल रूप में स्थित।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्–प्रत्यये संयमात् प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

१९। प्रत्यय में संयम का अभ्यास करने पर परचित्त का ज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—प्रत्यय में संयम-द्वारा प्रत्यय का साक्षात्कार करने पर उससे परचित्तज्ञान होता है (१)।

टीका १९ (१) विज्ञानभिक्षु के मत में इस सूत्र के प्रत्यय शब्द का अर्थ स्वचित्त है, दूसरों के मत में परचित्त है। परचित्त का कैसे साक्षात्कार करना होगा, इस पर भोजराज कहते हैं 'मुखरागादि से'। वस्तुतः यहाँ पर प्रत्यय स्व-पर दोनों प्रकार का प्रत्यय है। अपने किसी एक प्रत्यय को पृथक् कर साक्षात्कार न कर सकने से पराये प्रत्यय का साक्षात्कार कैसे किया जाएगा? पहले अपना प्रत्यय जानना चाहिए; तब परप्रत्यय के ग्रहण के लिए स्वचित्त

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी की आवरणवारिणी-टीका में कहा गया है कि यह संवाद महाभारत में है (का० ५); पर यह अनवेक्षण है। महाभारत में यह संवाद नहीं है। महाभारत में 'आवटच' नामक मुनि का उल्लेख भी नहीं है। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'आवटच' सांख्ययोगीय संप्रदाय के नहीं थे। शान्तिपर्वस्थ गद्यमय कपिलासुरिसंवाद के अन्त में आचार्यपरम्परा का उल्लेख करने के समय 'आवटचायन' का नाम लिया गया है। आवटच ही आवटचायन कहलाते हैं। जैसे कात्य ही कात्यायन कहलाते हैं (पाणिनीय व्याकरण के 'वृद्धस्य च पूजायाम्' वार्त्तिक के अनुसार)। पाणिनि के गर्गादि (४।१।१०५) में अवट शब्द है, अतः आवटच नाम सिद्ध ही है। [**सम्पादक**]

को शून्यवत् कर उसे पर-प्रत्यय के ग्रहणार्थ उपयोगी करने के बाद पराया प्रत्यय जानना चाहिए।

परचित्तज्ञ व्यक्ति बहुत देखे जाते हैं। वे योगसिद्ध नहीं, परन्तु जन्मसिद्ध हैं। जिसका चित्त जानना है उसकी ओर लक्ष्य रखकर अपने चित्त को शून्यवत् करने पर उसमें जो भाव उठते हैं, वे ही परचित्त के भाव होते हैं। इस प्रकार साधारण परचित्तज्ञ व्यक्ति पराये मनोभाव जानते है; परन्तु वे यह कह नहीं सकते हैं कि कैसे उनके मन में पराये मनोभाव आया करते हैं। किन्तु वे समझ जाते हैं कि यह पराया मनोभाव है। विना आयास के ही किसी-किसी को परचित्त का ज्ञान होता है। मन ही मन किसी बात की भावना करने से या किसी रूपरसादि का चिन्तन करने से किसी भी पूर्वानुभूत तथा विस्मृत भाव को भी परचित्तज्ञ व्यक्ति मानों सहज ही समय-समय पर जान सकते हैं।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

भाष्यम्—रक्तं प्रत्ययं जानाति, अमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति। परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद् योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रन्तु योगिचित्तस्य आलम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

२०। यह (परचित्त का ज्ञान) आलम्बन के साथ नहीं होता है, क्योंकि यह आलम्बन योगी के चित्त का विषयीभूत नहीं होता है। सू०

भाष्यानुवाद—(पूर्वसूत्रोक्त संयम में योगी) रागयुक्त प्रत्यय जान सकते हैं, परन्तु अमुक विषय में रागयुक्त है, यह नहीं जान सकते हैं; (क्योंकि) परचित्त का जो आलम्बन (विषय) है, योगिचित्तद्वारा उसका आलम्वन नहीं किया गया; केवल परप्रत्यय ही योगिचित्त का आलम्बनीभूत होता है (१)।

टीका २० (१) राग, द्वेष तथा अभिनिवेशरूप अवस्थावृत्तियों के आलम्बन का ज्ञान प्रत्ययसाक्षात्कार द्वारा नहीं होता है, क्योंकि वे बहुत कुछ आलम्बन-निरपेक्ष चित्तावस्थाएँ हैं। बाघ देखकर भय पाने से बाघ भयभाव में नहीं रहता है, वह रूपजज्ञान में ही रहता है। अतएव अवस्थावृत्ति का आलम्बन जानना हो तो फिर प्रणिधान कर जानना चाहिए। परन्तु जो प्रत्यय आलम्बन के सहभावी हैं उनका (अर्थात् शब्दादि प्रत्ययों का) ज्ञान होने से आलम्बन का भी ज्ञान अवश्य होता है। कोई व्यक्ति यदि नील आकाश की चिन्ता कर रहा है तो योगी अवश्य ही एक साथ 'नील आकाश' जान सकेंगे; क्योंकि नील आकाश का प्रत्यय मन में 'नील आकाश' रूप से ही उठता है।

विज्ञानभिक्षु के मन में वीसवाँ सूत्र भाष्य का अङ्ग है, अलग सूत्र नहीं है।

—×—

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—कायरूपे संयमाद्रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिबध्नाति, ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानमुत्पद्यते योगिनः। एतेन शब्दाद्यन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥२१॥

२१। शरीर के रूप में संयम करने से उस रूप की ग्राह्य शक्ति का स्तम्भ होने पर शरीर का रूप चक्षु-प्रकाश का अविषयीभूत होता है, अतः अन्तर्द्धान सिद्ध होता है। सू०

भाष्यानुवाद—शरीर के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है वह स्तम्भित होती है; ग्राह्यशक्ति का स्तम्भ होने पर चक्षु-प्रकाश के अविषयीभूत होने के कारण योगी (योगीशरीर) का अन्तर्द्धान होता है। इससे (शरीर के) शब्दादि का भी अन्तर्द्धान उक्त हुआ है, यह जानना चाहिए (१)।

टीका २१ (१) भानुमती के बाजीगर जो ऐन्द्रजालिक युद्ध दिखाते हैं, उसमें वे बाजीगर केवल संकल्प करते हैं कि दर्शकगण इन-इन रूपों को देखें, उसीसे दर्शकगण उस प्रकार देखते हैं। किसी अंग्रेज ने लिखा है कि वे उस जादू के स्थान से कुछ दूर थे, और वे देख रहे थे कि जादूगर चुपचाप खड़ा है, पर उसके निकटस्थ सभी दर्शकगण ऊपर में कुछ देख रहे हैं और उत्तेजित होकर ऊपर से गिरे हुए कटे हाथ पैर आदि देख रहे हैं। यहाँ तक कि एक पलटन के डाक्टर ने एक काल्पनिक हाथ को उठा कर कहा कि जिसने यह काटा है उसको पेशीसंस्थान का अच्छा ज्ञान है।[1] इस प्रकार दर्शकगण उत्तेजित होकर देख रहे थे, परन्तु वास्तव में जादूगर के संकल्प के सिवाय और कुछ नहीं था।[2]

जो भी हो, इससे जान पड़ता है कि संकल्प के द्वारा भी कैसे असाधारण कार्य हो सकते हैं। योगीगण यदि अव्याहत संकल्प के साथ सोचें कि हमारे

---

१. हीरेन्द्रनाथ दत्त कृत 'गीता में ईश्वरवाद' (बंगलाग्रन्थ) में किसी पत्रिका में प्रकाशित इस प्रकार के एक विवरण को उद्धृत किया गया है, जिसमें ऐसी घटना के साक्षी के रूप में एक Army Surgeon का भी उल्लेख मिलता है। पत्रिकोक्त विवरण का यह वाक्य द्रष्टव्य है। —'The doctor said the Faqir carved cleverly enough to have been a Surgeon at the Royal College (पृ० १६३; पूर्ण विवरण के लिए पृ० १६१-१६३ द्र०)। **[सम्पादक]**

२. इस प्रकार की घटनाओं के विषय में विशेष जानने के इच्छुक को Mystics and Magicians of India ग्रन्थ (पृ० ११४-१२७) देखना चाहिए। **[सम्पादक]**

शरीरों के रूपशब्दादि किसी को गोचर न हों; तो वह सम्भव होगा, ऐसा कहना अनावश्यक है।

ये सब बातें लिखने का एक और प्रयोजन है। बहुत से लोग परचित्तज्ञता या ये सब जादू देख कर सोचते हैं कि मैंने अब सिद्ध पुरुष प्राप्त कर लिया है। अज्ञ लोग अपनी धारणा के अनुसार भूतसिद्ध, पिशाचसिद्ध, योगसिद्ध आदि कुछ विश्वास कर शायद किसी भ्रष्टचरित्र अधर्मी ठग के फेर में पड़ते हैं और इहलोक-परलोक खो बैठते हैं। इस प्रकार के सिद्धों के फेर में फँस कर कुछ व्यक्ति सर्वस्व खो बैठे हैं, यह हम जानते हैं। ये सब मामूली जन्मज सिद्धियाँ हैं, योगज सिद्धियाँ नहीं। ऐसी किसी असाधारण शक्ति को देख कर किसी को योगी मानना ठीक नहीं है। परन्तु अहिंसा, सत्य आदि यम तथा नियम आदि योगाङ्गों का साधन देखकर किसी को योगी समझना चाहिए। क्षुद्रसिद्धियुक्त बहुत आदमी साधु-सन्त के वेष में पैसा कमाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को योगी मानकर बहुत लोग भ्रान्त होते हैं और इसी से प्रकृत योगी का आदर्श भी विपर्यस्त हो गया है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

भाष्यम्--आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्, सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथा आर्द्रवस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव सम्पिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम्, यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम्। तद् एकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च, तत्संयमाद् अपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्।

अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टम् आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राध्यात्मिकम्—घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकम्—यमपुरुषान् पश्यति, पितॄनतीतानकस्मात् पश्यति। आधिदैविकम्--स्वर्गमकस्मात् सिद्धान् वा पश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

२२। कर्म सोपक्रम तथा निरुपक्रम है; उसमें संयम करने से अथवा अरिष्टों से अपरान्त (मृत्यु) का ज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—आयु जिसका फल है ऐसा कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम तथा निरुपक्रम (१)। उनमें—जिस प्रकार भीगा कपड़ा फैला देने से स्वल्प

समय में सूख जाता है, ऐसा ही सोपक्रम कर्म है; और जिस प्रकार वही कपड़ा गुड़मुड़ी करके रखने से बहुत देर में सूखता है, ऐसा ही निरुपक्रम कर्म है। (अथवा) जैसे आग सूखी घास में पड़कर चारों ओर से वायुयुक्त हो जाए तो तुरंत जला देती है, वही सोपक्रम है; और वही आग जैसे बहुत घासों में क्रमशः एक-एक अंश पर न्यस्त होने से दीर्घकाल में जलाती है, वही निरुपक्रम है। एकभविक आयुष्कर कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम तथा निरुपक्रम। उसमें संयम करने से अपरान्त या प्रायण का ज्ञान होता है।

अथवा अरिष्टों से भी (यह ज्ञान) होता है। अरिष्ट तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक; आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक, जैसे—कान बन्द कर अपने देह का शब्द न सुन सकना, अथवा आँखें मूँद कर ज्योति न देखना। आधिभौतिक, जैसे–यमपुरुषों को देखना, अतीत पितरों को अचानक देखना। आधिदैविक, जैसे—सहसा स्वर्ग या सिद्धों को देख पाना अथवा समस्त विपरीत देखना। इस प्रकार के अरिष्टों से मृत्यु निकट है, यह जाना जाता है।

टीका २२ (१) पहले त्रिविपाक कर्म के विषय में कहा जा चुका है। किसी एक कर्माशय के विपक्व होने पर जन्म लेने से आयु-रूप फल चलता रहता है। भोग आयुष्काल व्याप्त कर होता है। आयु किसी एक जाति का स्थितिकाल है। आयुष्काल में सभी कर्म एक साथ फल नहीं देते हैं, प्रकृति के अनुसार क्रमशः फलोन्मुख होते हैं। जो व्यापारारूढ़ होने से प्रारम्भ किया गया है वह सोपक्रम (उपक्रमयुक्त) है और जो अभी दबा हुआ है, परन्तु जीवन के किसी काल में सम्पूर्णतया प्रकट होगा, वह निरुपक्रम है। मान लो कि किसी को ४० वर्ष की उम्र में प्राक्तन कर्म के अनुसार शरीर में ऐसी चोट लगेगी कि उससे उसकी आयु तीन साल में समाप्त होगी, तो ४० वर्ष के पहले यह कर्म निरुपक्रम रूप में रहता है।

त्रिविपाक संस्कार का साक्षात्कार करके उसके मध्यस्थ सोपक्रम तथा निरुपक्रम आयुष्कर कर्मों का साक्षात्कार करने पर उनकी फलगत विशेषता भी साक्षात् अनुभूत होती है। उससे योगी अपरान्त या आयुष्काल का अन्त जान सकते हैं। अभिव्यक्ति के अन्तराय से जो संकुचित है वह निरुपक्रम है और जो उस प्रकार का नहीं है वह सोपक्रम है। भाष्यकार ने इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है।

अरिष्ट से भी आसन्न मृत्यु जानी जाती है। तद्विषयक भाष्य भी स्पष्ट है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

भाष्यम्—मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनाः। तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते, दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते, पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते। भावनातः समाधिर्यः स संयमः; ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते।

पापशीलेषु उपेक्षा न तु भावना, ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरिति; अतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

२३। मैत्री आदि में संयम करने पर बलों का लाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—मैत्री, करुणा और मुदिता ये तीन भावनाएँ हैं। उनमें सुखी जीवों में योगी मैत्री-भावना कर मैत्रीबल पाते हैं, दुःखित जीवों में करुणा-भावना कर करुणाबल पाते हैं, पुण्यशीलों में मुदिताभावना कर मुदिताबल पाते हैं। भावना से जो समाधि है वही संयम है। उससे बल अवन्ध्यवीर्य (अव्यर्थ) होते हैं।

पापियों में उपेक्षा करना (औदासीन्य) भावना नहीं है, अतः उसमें समाधि नहीं होती है; अतः संयम के अभाव से उपेक्षा द्वारा बल लाभ नहीं होता है (१)।

टीका २३ (१) मैत्री-बल से योगी के ईर्षा-द्वेष सम्यक् विनष्ट होते हैं तथा उनके इच्छा-बल से अन्य हिंसक व्यक्ति भी उनको मित्र के समान अनुकूल मानते हैं। करुणाबल से दुःखी लोग उनको परम आश्वास-निधान निश्चय करते हैं; और योगी के चित्त का अकरुण भाव समूल नष्ट हो जाता है। मुदिताबल से असूयादि विनष्ट होते हैं और योगी सभी पुण्यात्माओं के प्रिय हो जाते हैं (१।३३ देखिए)।

इन सब बलों का लाभ होने से दूसरों के प्रति संपूर्ण सद्भाव से व्यवहार करने की अव्यर्थ शक्ति होती है। उस समय किसी प्रकार के अपकार आदि की शङ्का योगी के हृदय में मलिन-भाव उत्पन्न नहीं कर सकती है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२४॥

भाष्यम्—हस्तिबले संयमाद् हस्तिबलो भवति, वैनतेयबले संयमाद् वैनतेयबलो भवति, वायुबले संयमाद् वायुबल इत्येवमादि ॥ २४ ॥

२४। शारीरिक बल में संयम करने पर हस्तिबल आदि होते हैं। सू०

भाष्यानुवाद—हस्तिबल में संयम करने पर हस्तिसदृश बल होता है, गरुड़बल में संयम करने पर गरुड़सदृश बल होता है, वायुबल में संयम करने पर वायु-बल होता है इत्यादि (१)।

टीका २४ (१) बलवत्ता की धारणा करके उसमें समाहित होने से महाबल का लाभ होगा, यह स्पष्ट है। समस्त पेशियों में ज्ञानपूर्वक इच्छाशक्ति के प्रयोग का अभ्यास करने से जो बल-वृद्धि होती है, यह व्यायाम के विशेषज्ञों को मालूम है। बल में संयम करना उसी की पराकाष्ठा है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः (१।३६), तस्या य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वा अर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥२५॥

२५। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का आलोक न्यास करने से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—चित्त की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति उक्त हुई है, उसका जो आलोक अर्थात् सात्त्विक प्रकाश है उसको योगी सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषय पर प्रयोग कर उस विषय को जान सकते हैं (१)।

टीका २५ (१) ज्योतिष्मती प्रवृत्ति १।३६ सूत्र में देखिए। ज्योतिष्मती की भावना के द्वारा हृदय से मानों विश्वव्यापी प्रकाशभाव विस्तृत होता है। उसे ज्ञातव्य विषय पर न्यस्त करने से उसका ज्ञान होता है। वह विषय चाहे सूक्ष्म हो, चाहे पर्वतादि व्यवधान से व्यवहित हो, चाहे विप्रकृष्ट अर्थात् कितनी भी दूर क्यों न हो, उसका ज्ञान प्राप्त होगा। Clairvoyance[1] नामक क्षुद्र सिद्धि की यह अन्तिम सीमा है। विप्रकृष्ट=दूरस्थ।

इस सिद्धि में विभु बुद्धिसत्त्व के साथ ज्ञेय वस्तु के संयोग से ज्ञान होता है। साधारण इन्द्रियप्रणालीजन्य ज्ञान के समान यह ज्ञान संकीर्ण नहीं होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

भाष्यम्—तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः, मेरुपृष्ठादारभ्य आ ध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधः, माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः, तद् यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। "ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा॥" इति संग्रहश्लोकः।

---

१. चक्षु के बिना दूरस्थ द्रव्यों को देखने की शक्ति Clairvoyance है। [सम्पादक]

तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुः दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते । ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि ।

भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः; तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि; तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः । श्वेतः पूर्वः, स्वच्छः पश्चिमः, कुरण्डकाभ उत्तरः, दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः, यतोऽयं जम्बूद्वीपः; तस्य सूर्यप्रचाराद् रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्त्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसहस्रायामाः, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसाहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसाहस्रायामाः, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति ।

सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वा माल्यवत्सीमानः, प्रतीचीनाः केतुमाला गन्धमादनसीमानः, मध्ये वर्षमिलावृतम् । तदेतद् योजनशतसाहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् । स खल्वयं शतसाहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मल-गोमेद (गोमेध–पाठा०)-पुष्करद्वीपाः । सप्त समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः । सप्तसमुद्रवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः ।

तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्; अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योतः । तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्व-किन्नर -किम्पुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः, तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि, सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं पुरम्, वैजयन्तः प्रासादः ।

ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निविष्टा विपरिवर्त्तन्ते । माहेन्द्रनिवासिनः षड् देवनिकायाः— त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्याः तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति । सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः–कुमुदाः, ऋभवः, प्रतर्दनाः, अञ्जनाभाः, प्रचिताभा इति; एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः ।

प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा (अजराः—पाठा०) इति; एते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुण-द्विगुणोत्तरायुषः। द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः—आभास्वरा महा-भास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति। एते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणो-त्तरायुषः, सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतसः ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वना-वृतज्ञानविषयाः। तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः—अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति। ते अकृतभनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः। तत्राच्युताः सवितर्कध्यान-सुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासंज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः; तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। त एते सप्तलोकाः सर्वं एव ब्रह्मलोकाः।

विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्ते, न लोकमध्ये न्यस्ता इति। एतद् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि; एवन्तावदभ्यसेद् यावदिदं सर्वं दृष्टमिति॥ २६॥

२६। सूर्य में संयम करने पर भुवनज्ञान होता है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—भुवन का प्रस्तार (विन्यास) सप्तलोकसमूह है। उनमें अवीचि से मेरुपृष्ठ तक भूर्लोक है। मेरुपृष्ठ से ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओं से विचित्र अन्तरिक्ष लोक है। उसके परे पाँच प्रकार के स्वर्लोक हैं। (उन पाँच प्रकारों में प्रथम किन्तु भूर्लोक की अपेक्षा से) तृतीय माहेन्द्र लोक है। चतुर्थ प्राजापत्य महर्लोक होता है। उसके बाद त्रिविध ब्रह्मलोक हैं, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। इस विषय में संग्रहश्लोक यह है—"त्रिभूमिक ब्रह्मलोक है, उसके नीचे प्राजापत्य महर्लोक है, माहेन्द्र स्वर्लोक नाम से कहा जाता है, (उसके नीचे तारायुक्त द्युलोक और उसके नीचे) प्रजायुक्त भूर्लोक हैं।"

उनमें अवीचि के ऊपर क्रमशः छह महानरकभूमियाँ सन्निवेशित हैं, वे घन, सलिल, अनल, अनिल आकाश तथा तम में प्रतिष्ठित हैं; (उनके नाम यथाक्रम) महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र हैं। यहाँ स्वकर्मोपार्जित दुःखभोगी जीवगण कष्टकर दीर्घ आयु लेकर जनमते हैं। उसके बाद महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामक सात पाताल हैं।

यह सप्तद्वीपा वसुमती पृथ्वी अष्टम है। काञ्चन पर्वतराज सुमेरु इसी के बीच में है। उसके राजत, वैदूर्य, स्फटिक और हेममणियुक्त श्रृङ्ग हैं (२)। उनमें वैदुर्यप्रभा से अनुरञ्जित होने के कारण आकाश का दक्षिण भाग नीलोत्पल

दल के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम स्वच्छ है; कुरण्डक (स्वर्णवर्ण पुष्पविशेष) की प्रभा के समान उत्तर भाग है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू है, उसीसे जम्बूद्वीप नाम है। सुमेरु के चारों ओर निरन्तर सूर्यप्रचार (सूर्यभ्रमण) के कारण वहाँ दिन-रात संलग्न-सी ज्ञात होती हैं (अर्थात् सूर्य की ओर दिन एवं दूसरी ओर रात लग्नभाव से घूम रही हैं)। सुमेरु की उत्तर दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले नील, श्वेत तथा शृङ्गवान् नामक तीन पर्वत हैं, इनके भीतर रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु नामक तीन वर्ष हैं, उनका विस्तार नौ नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार के निषध, हेमकूट तथा हिमशैल हैं; उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार के हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष नामक तीन वर्ष हैं।

सुमेरु के पूर्व में माल्यवान् तक भद्राश्व तथा पश्चिम में गन्धमादन तक केतु-माल है। मध्य में इलावृत वर्ष है। जम्बूद्वीप का परिमाण (व्यास) सौ हजार योजन है, वह सुमेरु के चारों ओर पचास हजार योजन तक विन्यस्त है। यह हुआ सौ हजार योजन विस्तृत जम्बूद्वीप, जो इससे दूने वलयाकार लवणोदधि द्वारा वेष्टित है। इसके बाद क्रमशः शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, गोमेद और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से प्रत्येक पहले की अपेक्षा से दुगुना है। (द्वीप को वेष्टन करने वाले) सप्तसमुद्र सरसों के ढेर के समान, विचित्र-शैलमण्डित हैं। वे (प्रथम लवण समुद्र के अतिरिक्त) यथाक्रम इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि, मण्ड और दूध जैसे स्वादिष्ट पानी वाले होते हैं (३)। पचास करोड़ योजन विस्तृत, वलयाकार सप्तद्वीप लोकालोकपर्वत से परिवृत और सप्तसमुद्र से वेष्टित हैं।

ये सब सुप्रतिष्ठ रूप से (असंकीर्ण भाव से) अण्ड के भीतर विन्यस्त हैं। यह अण्ड भी फिर प्रधान का अणु अवयव है जैसे आकाश में खद्योत। पाताल में, जलधि में, इन सब पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड तथा विनायकरूप देवयोनियाँ बसती हैं, और द्वीपसमूह में पुण्यात्मा देवता तथा मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवों की उद्यानभूमि है। वहाँ मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ और सुमानस ये चार उद्यान, सुधर्मा नामक देवसभा, सुदर्शन नामक पुर तथा वैजयन्त नामक प्रासाद हैं।

ग्रह-नक्षत्र-तारकासमूह ध्रुव में निबद्ध होकर वायुविक्षेप द्वारा संयत होकर भ्रमण करते हुए सुमेरु के ऊपर-ऊपर सन्निविष्ट रहकर आवर्त्तन कर रहे हैं। माहेन्द्र-निवासी देवगण छह प्रकार के हैं, यथा—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य,

तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्त्ती एवं परिनिर्मितवशवर्त्ती। ये सब संकल्पसिद्ध, अणिमादि-ऐश्वर्य से सम्पन्न, कल्पायु, वृन्दारक (पूज्य), कामभोगी, औपपादिकदेह (जो देह पिता-माता के संयोग के बिना अकस्मात् उत्पन्न हो) और उत्तम तथा अनुकूल अप्सराओं से परिवारित हैं। प्राजापत्य महर्लोक में देवनिकाय पञ्चविध हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये महाभूतवशी, ध्यानाहार (ध्यानमात्र से तृप्त या पुष्ट) और सहस्रकल्पायु हैं।

जन नामक ब्रह्मा के प्रथम लोक के देवनिकाय चार प्रकार के हैं, यथा—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। ये भूतेन्द्रियवशी एवं उत्तरोत्तर दुगुनी आयु द्वारा युक्त हैं। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में देवनिकाय तीन प्रकार के हैं, यथा—आभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर। ये भूतेन्द्रियवशी तथा तन्मात्रवशी हैं। ये उत्तरोत्तर दूनी आयु से सम्पन्न, ध्यानाहार, ऊर्ध्वरेता हैं और ऊर्ध्वस्थ सत्यलोक के ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं तथा निम्न लोकसमूह के (सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट विषयों के) अनावृत ज्ञान से सम्पन्न हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में देवनिकाय चार प्रकार के हैं यथा—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञी। ये (बाह्य) भवनशून्य, स्वप्रतिष्ठ, उत्तरोत्तर ऊपर रहने वाले, प्रधानवशी और महाकल्पायु हैं। इनमें अच्युतगण सवितर्कध्यानसुखयुक्त, शुद्धनिवासगण सविचारध्यानसुखयुक्त, सत्याभगण आनन्दमात्र-ध्यानसुखयुक्त और संज्ञासंज्ञीगण अस्मितामात्र-ध्यानसुखयुक्त हैं। ये भी त्रैलोक्य के भीतर प्रतिष्ठित हैं। ये सप्त लोक सभी ब्रह्मलोक हैं।

विदेहगण तथा प्रकृतिलयगण मोक्षपद में अवस्थित हैं, वे लोक के भीतर न्यस्त नहीं होते हैं। सूर्यद्वार में संयम कर योगी को इन सबका साक्षात्कार करना चाहिए। अथवा (सूर्यद्वार के अतिरिक्त) अन्यत्र भी इस प्रकार का अभ्यास करना चाहिए। जब तक ये सब प्रत्यक्ष न हों।

टीका २६ (१) सूर्य का अर्थ सूर्यद्वार है। इस पर सभी एकमत हैं। चन्द्रमा और ध्रुव (३।२७-२८ सूत्रों में) देखकर सूर्य का अर्थ साधारण सूर्य प्रतीत हो सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। परन्तु चन्द्र भी चन्द्रद्वार है। ध्रुव की व्याख्या भाष्यकार ने स्पष्टतः की है।

सूर्यद्वार का निश्चय करने के लिए पहले सुषुम्ना का निश्चय करना चाहिए। श्रुति कहती है—**'तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयानः'** अर्थात् हृदय से ऊर्ध्वगत श्वेत (ज्योतिर्मय) सुषुम्ना नाड़ी है। अन्य श्रुति है, **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'** (मुण्डक १।२।११); अर्थात् वे सूर्यद्वार से अव्यय आत्मा में पहुँचते हैं। आत्मा—**'तिष्ठत्यन्ने हृदयं सन्निधाय'** (मुण्डक

२।२।७); अतएव हृदय आत्मा तथा शरीर का संधिस्थल है। तात्पर्य यह है कि शरीर का सबसे प्रकाशशील अंश ही हृदय है। वक्षःस्थल ही साधारणतः हमारे अहंभाव का केन्द्र है; अतः वक्षःस्थलस्थित अतिप्रकाशशील या सूक्ष्मतम बोधमय अंश ही हृदय है।

उसी प्रकार हृदय से सूक्ष्म मस्तकाभिमुखी बोधधारा ही सुषुम्ना है। स्थूल शरीर में सुषुम्ना अन्वेष्य नहीं है, परन्तु ध्यान द्वारा अन्वेष्य है। आधुनिक शास्त्र के मत में रीढ़ के बीच में सुषुम्ना है, परन्तु प्राचीन श्रुतिशास्त्र के मत में हृदय से ऊर्ध्वग नाड़ी-विशेष सुषुम्ना है। वस्तुतः 'कशेरुकामज्जा[1] (Spinal cord), Pneumogastric nerve और Carotid artery इन तीनों के बीच में स्थित सूक्ष्मतम बोधवह अंश ही सुषुम्ना है। बिना खून के क्षण मात्र में ही मस्तिष्क निष्क्रिय होता है; कशेरुकामज्जा और Pneumogastric nerve के बिना भी रक्त की गति तथा शरीर के बोध आदि रुद्ध होते हैं अतः ये तीन स्रोत ही प्राणधारण का (अर्थात् श्रुतिकथित आत्मा के साथ अन्न या शरीर के संबन्ध का) मूल हेतु है। अतः उनके बीच में स्थित सबसे सूक्ष्म प्रकाशशील अंश ही सुषुम्ना है। योगी ज्ञानपूर्वक शारीरिक अभिमान (शारीरिक क्रिया को रुद्ध कर) सम्यक् त्याग देते हैं और तदनन्तर अवशिष्ट इन सूक्ष्मतम प्रकाशशील अंशों को सबके पीछे त्याग कर विदेह हो जाते हैं। यह सुषुम्नारूप द्वार ही सूर्यद्वार है। सूर्य के साथ इसका कुछ संबन्ध रहने के कारण इसे सूर्यद्वार कहते हैं। शास्त्र में है **'अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि। ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्॥ ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्।' (मैत्रायणी उप० ६।३०**) अर्थात् हृदय में दीपवत् स्थित वस्तु की जो अनन्त रश्मियाँ हैं उनमें से एक ऊर्ध्व में अवस्थित है, जो सूर्यमण्डल को भेद कर उठी है। उसी के माध्यम से ब्रह्मलोक अतिक्रम कर परमा गति की प्राप्ति होती है।

अतएव पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की एक धारा ही सुषुम्नाद्वार या सूर्यद्वार होता है। जो ब्रह्मयानपथ से गमन करते हैं वे किसी कारण सूर्यमण्डल में पहुँचकर वहाँ से ब्रह्मलोक में जाते हैं। श्रुति कहती है—**'स आदित्यमा-**

---

१. कशेरुका शब्द आयुर्वेदसाहित्य में नहीं मिलता; यह अमरकोश (२।६।६९) में है; यह पृष्ठास्थि=पृष्ठवंश का पर्याय है। आयुर्वेदज्ञ व्यक्ति कशेरुका शब्द का व्यवहार 'त्रिक और अनुत्रिक को छोड़कर अवशिष्ट वलयाकृति अस्थियों' के लिए करते हैं (द्र० पारिषद्यं शब्दार्थशारीरम्)। पृष्ठवंश=पायुप्रदेशम् आरभ्य आगलं दण्डायमानः वंशवद् अस्थिपृष्ठवंशो भवति (गर्भोपनिषद् की शंकरानन्द-कृत टीका)। **[सम्पादक]**

गच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते; यथा लम्बरस्य खं तेन ऊर्ध्वं आक्रमते (बृह० उप० ५।१०।१) अर्थात् वह (ब्रह्मयानगामी) आदित्य में आता है, अपने अङ्ग विरल कर आदित्य छेद करते हैं जैसे लम्बर नामक वाद्ययन्त्र के बीच में छिद्र रहता है। उस छिद्र में से वे ऊर्ध्व गमन करते हैं। इसी से सुषुम्ना को सूर्यद्वार कहते हैं।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की इस विशेष धारा में संयम करने से भुवनज्ञान होता है। भुवन स्थूल और सूक्ष्म है तथा उनके अन्तर्गत अवीचि आदि ज्योतिर्हीन भी हैं; अतः उनका दर्शन स्थूल और भौतिक आलोक से सम्भव नहीं है। साधारण सूर्यालोक उनके दर्शन का हेतु नहीं होता, पर जिस ऐन्द्रियिक प्रकाश में द्योतक आलोक की अपेक्षा नहीं है, जो अपने ही आलोक से अपने को देखता है, ऐसी इन्द्रियशक्ति से ही भुवनज्ञान होता है[1]। सूर्यद्वार का अर्थ सूर्य नहीं है, इसका एक कारण यह है कि सूर्य में संयम करने पर सूर्य का ही ज्ञान होगा, ब्रह्मादि लोकों का ज्ञान कैसे होगा ?

पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड (Microcosm and Macrocosm) के सामञ्जस्य के अनुसार ही सुषुम्ना नाड़ी और लोकों की एकता उक्त हुई है। लोकातीत आत्मा सभी प्राणियों में है। बुद्धिसत्त्व विभु है, वह केवल इन्द्रियादिरूप-वृत्ति द्वारा संकुचित-सा होकर रहता है। जितना ही उसका आवरण टूटता है उतना ही विभुत्व प्रकट होता है तथा प्राणी की भी उन्नतर लोकों में गति होती है। अतः बुद्धि के प्रकाशावरणक्षय की एक-एक अवस्था के साथ एक-एक लोक संबद्ध है। बुद्धि की दृष्टि से दूर-समीप कुछ नहीं है; अतः प्रत्येक प्राणी की बुद्धि तथा ब्रह्मादि-लोक एकत्र रहा करते हैं; केवल बुद्धि की वृत्ति शुद्ध करने से ही उसमें पहुँचने की शक्ति होती है।

२६ (२) भूर्लोक यह पृथ्वीमात्र नहीं है; परन्तु इस पृथ्वी के साथ संश्लिष्ट सुबृहत्, सूक्ष्म लोक ही भूर्लोक है। देवावास सुमेरु पर्वत सूक्ष्म लोक है, वह स्थूल चक्षु द्वारा ग्राह्य नहीं होता है। इस प्रकार का लोकसंस्थान प्राचीन योगविद्या में गृहीत होकर चला आ रहा है। बौद्धों ने भी इसका ग्रहण किया है,[2] किन्तु

---

१. इस विषय पर Nightside of Nature ग्रन्थ में उल्लेख है—"The seeing of a clear seer", Says Dr. Passavant, "may be called a Solar seeing, for he lights and interpenetrates his object with his own organic light." Chapter XIV.

२. अभिधर्मकोश (तृतीय कोशथान) में भुवनकोश की चर्चा है। नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध धर्मसंग्रह ग्रन्थ में नरक, देव पाताल, सागर आदि के जो नाम मिलते हैं,

वर्तमान विवरण विशुद्ध नहीं है। मूल में किसी योगी ने लोकसंस्थान का अनुभव करके उसे प्रकाशित किया था, परन्तु उस समय के मानव समाज को खगोल तथा भूगोल का सम्यक् ज्ञान न रहने के कारण यह विकृत हो गया है। इसमें भी संदेह नहीं कि यह बहुत समय तक कण्ठस्थ रहने के पश्चात् लिपिबद्ध हुआ है।

सूक्ष्म दृष्टि से अन्तरिक्ष लोकमय दीखेगा। पर स्थूल दृष्टि से प्रतीत होगा कि पृथ्वीगोलक सूर्य की चारों ओर घूम रहा है। प्राचीन लोगों को भूगोल का सम्यक् ज्ञान नहीं था; अतएव वे साक्षात्कारी योगी के विवरण की सम्यक् धारणा नहीं कर सके। क्रमशः यथार्थ विवरणको बहुत कुछ विकृत कर दिया गया है। भाष्यकार ने प्रचलित विवरण को ही लिपिबद्ध किया है।

यहाँ यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि क्या भाष्यकार योगसिद्ध नहीं थे? उत्तर में अवश्य ही कहना होगा कि ग्रन्थरचना के समय वे सिद्ध नहीं थे। जो योगसिद्ध होते हैं वे उस समय ग्रन्थ नहीं रचते हैं। वे पूछे जाने पर प्रश्नकर्ता को उपदेश मात्र करते हैं और शिष्य-प्रशिष्यगण ही शास्त्र की रचना करते हैं। योगशास्त्र के आदिम वक्ता कपिल-ऋषि ने आसुरि ऋषि से सांख्ययोगविद्या कही थी, बाद में पञ्चशिख ऋषि ने शास्त्र की रचना की थी। योगसिद्ध होने पर योगी पार्थिव भाव से सम्पूर्ण अतीत हो जाते हैं। उनसे जिज्ञासु प्रधानतः आगम-प्रमाण द्वारा ही ज्ञान पाते हैं। उस प्रकार अपार्थिव भाव में मग्न ध्यानियों से सुन करके ही योगविद्या उद्भूत हुई है। श्रुति भी कहती है **'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे'** (ईशोप० १०) अर्थात् जिन धीरों ने हमसे इस विद्या की व्याख्या की थी उनसे हमने इसी प्रकार सुना था।

सिद्धों की जीवद्दशा में उनके वाक्यों से अव्यर्थ आगम प्रमाण हो सकता है। किन्तु उनकी अवर्तमानता में उनके वे सत्यनिर्देशरूप उपदेश साधारणों के मन में उसी प्रकार श्रद्धा और अमोघ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। यही

उनके साथ व्यासभाष्योक्त नामों का अत्यधिक ऐक्य है। ईशानचन्द्र घोष कृत जातक ग्रन्थ (बंगला) में स्थान-स्थान पर पातालादि-परक जो टिप्पणियाँ हैं, उनसे सिद्ध होता है कि कई बौद्ध ग्रन्थों में भुवनकोशसंबन्धी विचार किया गया था। अबौद्ध क्षीरस्वामी ने कहा है "तुषियाद्या बौद्ध-पातञ्जल-पुराणादौ दृष्टाः" (अमरकोश-टीका १।१।१०)। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि व्यासभाष्योक्त जो औपपादिक शब्द है वह पालि में ओपपातिक है (अभिधमत्थसंगहो, पृ. ७०३)। ओपपातिक का संस्कृतरूप औपपादुक है—ऐसा कई विद्वान् समझते हैं। हमारी दृष्टि में यह औपपादिक होगा। **[सम्पादक]**

कारण है कि युक्तिप्रधान दर्शनशास्त्र का उद्भव हुआ है। अतः दर्शनकारगण ही साधारण मानव के लिए सिद्ध वक्ता की लिपिबद्ध उक्ति की अपेक्षा अधिकतर उपकारक हैं। फलतः जिस प्रकार महामूल्य हीरकखण्ड भूखे दरिद्र का तत्काल उपकार नहीं करता है उसी प्रकार प्रकृत योगसिद्ध भी साक्षात् रूप से साधारणों का उपकार नहीं करते हैं। बुद्ध आदि उन्नत पुरुषों के आधुनिक भक्त, प्रकृत बुद्ध आदि को यथार्थतः नहीं जानते हैं; केवल कुछ काल्पनिक कथाओं के नायकरूप से ही बुद्ध आदि को पहचानते हैं।

२६ (३) दधि तथा मण्ड पृथक् न कर 'दधिमण्ड' ऐसा एक पद लेकर स्वादुजल नामक एक पृथक् समुद्र है, ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। परन्तु दधि आदि के समान स्वादुजल-विशिष्ट समुद्र है, इस प्रकार का अर्थ ही सम्भव है। द्वीपों में पुण्यात्मा देव या देवयोनि तथा मनुष्य या परलोकगत मनुष्य बसते हैं। अतः द्वीप-समूह सूक्ष्म लोक होंगे। पृथ्वी के बहुत कम व्यक्ति पुण्यात्मा हैं, बाकी अपुण्यात्मा कहाँ बसते हैं? यदि वे इन द्वीपों में नहीं रहते, तो पृथ्वी इन द्वीपों से बाहर है —यह कहना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि ये सब द्वीप सूक्ष्मलोक हैं। सप्त पाताल भी भूर्लोक के (पृथ्वी के नहीं) अभ्यन्तरस्थ सूक्ष्मलोक हैं; और सप्त निरय भी सूक्ष्मदृष्टि से स्थूल पृथ्वी का बाहर-भीतर जैसा दीखता है वैसे ही लोक हैं। अवीचि (तरङ्गहीन या जड़, यह अग्निमय वर्णित होता है), घन (संहत पृथ्वी), सलिल (पानी या घन की अपेक्षा असंहत पार्थिव अंश), अनल, अनिल (पार्थिव वायुकोष), आकाश (वायु की विरल अवस्था) और तम (अन्धकारमय शून्य) —ये सब अवस्थाएँ स्थूल पृथिवी-सम्बन्धी हैं। ये सब अवस्थाएँ सूक्ष्मकरणयुक्त, परन्तु रुद्धशक्तित्व-हेतु कष्टमय चित्तयुक्त नारकियों के पास जिस रूप से ज्ञात होती हैं वे ही अवीचि आदि निरय हैं।

Nightmare या दुःस्वप्नरोग में 'इन्द्रियशक्ति जड़ीभूत है', इस प्रकार बोध होने से कार्य की सामर्थ्य नहीं रहती है, परन्तु मन जाग्रत होकर पाशबद्ध-सा कष्ट पाया करता है; नारकीगण भी उसी प्रकार की चित्तावस्था प्राप्त करते हैं। लोभ तथा क्षुधा अत्यधिक रहने से जैसी हालत होती है, नारकियों की हालत भी वैसी ही होती है। जो पृथ्वी और पार्थिव भोग को ही सार जानकर सम्पूर्ण तन्मयचित्त से क्रोध-लोभ-मोहपूर्वक पापाचरण करते हैं, कभी अपनी सूक्ष्मता एवं परलोक तथा परामार्थ विषय का चिन्तन नहीं करते, वे ही अवीचि में जाते हैं। पृथ्वी की मध्यस्थ महाग्नि उनको जला नहीं सकती है (सूक्ष्मता के हेतु); पर अपनी सूक्ष्मता न जानने से तथा स्थूल पदार्थ के सिवाय अन्य सूक्ष्मपदार्थ-सम्बन्धी संस्कार उनमें न रहने से केवल उस स्थल

अग्नि में पर्यवसित-बुद्धि होकर जलते-से रहते हैं, यह सम्भव है। दूसरे निरयों में भी ऐसी ही अपेक्षाकृत अल्प दुष्कृति का भोग होता है।

पृथ्वी में जिस प्रकार तिर्यक् जातियाँ हैं, सूक्ष्मशरीरियों में उसी प्रकार सप्त पातालवासीगण तिर्यक्-जाति-स्वरूप होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म या मिश्र दृष्टि के अनुसार एक ही स्थान की भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। मनुष्यगण जिसे मिट्टी-पानी-आग आदि देखते हैं, निरयीगण उसे नरक देखते हैं; पातालवासीगण उसका ही स्वावासभूमि पाताल के रूप से व्यवहार करते हैं। भूर्लोक के पृष्ठभाग से देवलोक का आरम्भ हुआ है। भूपृष्ठ का अर्थ धरित्री का पृष्ठ नहीं है, परन्तु धरित्री के वायुस्तर के कोष से भी बहुत ऊपर भूपृष्ठ या मेरुपृष्ठ है।

पातालवासीगण तथा औपपादिक देवगण पृथक् योनियाँ मानी जाती हैं। नारकीगण मनुष्यों के परिणाम हैं, उसी प्रकार स्वर्गवासी मनुष्य भी हैं। उनको मनुष्य जन्म स्मरण रहता है। अतएव श्रुति में 'देवगन्धर्व' और 'मनुष्य-गन्धर्व' इस प्रकार का भेद कहा गया है (तै० उप० २।८।१)।[1]

यह लोकसंस्थान और लोकवासियों का विषय न समझने से कैवल्य का माहात्म्य हृदयंगम नहीं होता है। पुण्यफल से निम्न देवलोक में गति होती है और योग की अवस्था का लाभ करने पर उसके तारतम्य के अनुसार उच्च लोकों में गति होती है। संप्रज्ञान लेकर ब्रह्मलोक में जाने पर पुनरावृत्ति नहीं होती। वहाँ जाने पर **"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम्पदम्॥'** (कूर्मपु० १।१२।२७३) इस प्रकार की गति होती है। समाधिबल से शरीर संस्कार का अतीत हो जाने से ही उनको शरीर धारण नहीं करना पड़ता। इनमें विवेकज्ञान असंपूर्ण या विप्लुत रहता है, अतः ये लोकमध्य में अभिनिर्वर्त्तित होकर, पीछे प्रलय की सहायता से कैवल्य प्राप्त करते हैं।

विदेह तथा प्रकृतिलय के सिद्धों को सम्यक् ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष का प्रकृत विवेक ज्ञान नहीं होता है, पर वैराग्य द्वारा करणलय होने के कारण वे लोकमध्य में नहीं रहते; अपितु मोक्षसदृशपद में रहते हैं। पुनः सर्ग में वे उच्च लोक में अभिनिर्वर्त्तित होते हैं। कैवल्यपद सभी लोकों से अतीत तथा पुनरावर्त्तन से शून्य है।

---

१. तैत्ति० ब्रा० गत 'देवाः पितरः, (१।३।१०।१–१०) की व्याख्या में सायण कहते हैं—"द्विविधा हि पितरः देवात्मका मनुष्यात्मकाश्च। पितृलोकवासिनो देवात्मकाः। मृताः सन्तो भोगात् तल्लोकं प्राप्ता मनुष्यात्मकाः"। **[सम्पादक]**

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

भाष्यम्—चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात् ॥ २७ ॥

२७। चन्द्र में संयम करने पर ताराओं का व्यूहज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—चन्द्र में संयम करके ताराव्यूह को विशेषरूप से जान लेना चाहिए (१)।

टीका २७ (१) पहले ही कहा जा चुका है कि सूर्य जिस प्रकार सूर्यद्वार है, चन्द्र भी उसी प्रकार चन्द्रद्वार है। चन्द्र वस्तुतः द्वार नहीं होता, क्योंकि सूर्य द्वारा किसी शक्ति के बल से ब्रह्मयानगण अतिवाहित होकर ब्रह्मलोक में गमन करते हैं। चन्द्र द्वारा उस प्रकार नहीं होता है। चन्द्रसम्बन्धी लोक प्राप्त होकर भी फिर पृथ्वी पर आवर्त्तन होता है। **'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते'** (गीता ८।२५)। सूर्य जिस प्रकार स्वप्रकाश होता है सूर्यद्वार की प्रज्ञा भी उसी प्रकार अपने आलोक से दीखती है। लोकों को जानना हो तो ऐसे ज्ञान के आलोक का प्रयोजन होता है। चन्द्र का आलोक प्रतिफलित है। ज्ञेय से गृहीत आलोक में किसी वस्तु को देखने के लिए जिस प्रकार की प्रज्ञा का प्रयोजन पड़ता है, ताराव्यूह-ज्ञान के लिए भी उसी प्रकार की ज्ञानशक्ति की आवश्यकता है। सौषुम्न प्रज्ञा का यहाँ पर प्रयोजन नहीं है अर्थात् साधारण इन्द्रियसाध्य ज्ञान जैसा होता है उसी का अत्युत्कर्ष होने पर या स्थूल विषय के ज्ञान का उत्कर्ष होने पर ताराव्यूहज्ञान होता है।

दूसरे योगग्रन्थों में भी नासाग्र आदि में चन्द्र का स्थान कहा गया है, यथा—**'नासाग्रे शशधृग्बिम्बम्'**, (**योगियाज्ञवल्क्य** ५।१५), **'तालुमूले च चन्द्रमाः'** (घेरण्ड सं० ५।४३)। यह चक्षु-सम्बन्धी चन्द्रमा है। फलतः विषयवती प्रवृत्ति ही चन्द्रसंयमजात प्रज्ञा है। सुषुम्ना द्वारा उत्क्रान्ति होने पर जिस प्रकार सूर्य के साथ सम्पर्क रहता है अतः उसका नाम सूर्यद्वार है, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा उत्क्रान्ति होने पर चन्द्रसम्बन्धी लोक की प्राप्ति होती है, अतः इसका नाम चन्द्र या चन्द्रद्वार है। प्राचीन श्रुति में सूर्य तथा चन्द्र अथवा प्राण तथा रयि नामक आध्यात्मिक पदार्थ भी कहे गए हैं।[1]

——×——

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

भाष्यम्—ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं जानीयाद्, ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २८ ॥

२८। ध्रुव में संयम करने पर तारागति का ज्ञान होता है। सू०

---

१. द्र० प्रश्नोपनिषद् (प्रश्न १)।

भाष्यानुवाद—तदनन्तर ध्रुव में (निश्चल तारा में) संयम कर ताराओं की गति जानिए। उर्ध्वविमानों में संयम कर उन्हें जानिए (१)।

टीका २८ (१) ताराओं का ज्ञान होने पर उनका गतिज्ञान बाह्य उपाय से ही होता है। अतः ध्रुव साधारण ध्रुव होता है। भाष्यकार ने भी ध्रुव को ऊर्ध्वविमान के साथ संबद्ध कहकर उसकी सुस्पष्ट व्याख्या की है। ध्रुव को लक्ष्य कर सारे आकाश में स्थिरनिश्चल भाव से समाहित होने से ज्योतिष्कों की गति बोधगम्य होगी, यह स्पष्ट है। अपनी स्थिरता की उपमा से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

——×——

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।। २९ ।।

भाष्यम्—नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः सन्ति। धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि, पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः ।। २९ ।।

२९। नाभिचक्र में संयम करने पर कायव्यूह का ज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—नाभिचक्र में संयम कर कायव्यूह का विज्ञान करना चाहिए। वात, पित्त तथा कफ—ये तीन प्रकार के दोष हैं (१)। और धातुएँ सात प्रकार की हैं—त्वक्, रक्त, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा तथा शुक्र। प्रत्येक धातु आगे वाली की अपेक्षा बाह्यरूप से विन्यस्त है।

टीका २९ (१) जिस प्रकार सूर्यद्वार को प्रधान कर दूसरे यथायोग्य विषयों में संयम करने से भुवनज्ञान होता है, उसी प्रकार नाभिस्थ चक्र या यन्त्रसमूह को प्रधान करने पर शरीर के यन्त्रों का ज्ञान होता है।

वात, पित्त तथा कफ ये तीन दोष हैं या रोग के मूल हैं—यह आयुर्वेद में कहा जाता है। ये तीन सत्त्व-रजः-तमः-रूप त्रिगुणमूलक हैं—ऐसा सुश्रुत में कहा गया है।[1] इस दृष्टि से वायु बोधाधिष्ठानों का विकार है, पित्त संचारक

१. ग्रन्थकार स्वामीजी ने वायु-पित्त-कफ का संबन्ध यथाक्रम सत्त्व-रजः-तमः से माना है। सुश्रुत उत्तर तन्त्र ६६।९ में त्रिदोष का संबन्ध त्रिगुण के साथ माना गया है। यहाँ टीकाकार डल्हण वायु एवं पित्त को यथाक्रम रजः एवं सत्त्व से संबन्धित कहते हैं (रजोभूयिष्ठो मारुतः, पित्तं सत्त्वोत्कटम्, कफस्तमोबहुलः)। यहीं डल्हण ने 'पित्तं रजोयुक्तम् इत्येके' कहकर पित्त के साथ रजः के संबन्ध को कहा है। विषयज्ञान के साथ वायु का जो निकट संबन्ध आयुर्वेदशास्त्र में कहा गया है, उससे सत्त्व के साथ ही वायु का संबन्ध ज्ञापित होता है। [**सम्पादक**]

अंश का विकार है और कफ स्थितिशील अंश का विकार है। वस्तुतः उनके लक्षण की पर्यालोचना करने पर यही प्रतिपन्न होता है। चित्तविकार, गठिया आदि स्नायविक विकार वायुविकार कहे जाते हैं। स्नायविक शूल तथा आक्षेप उनका प्रधान लक्षण है। पित्तघटित रक्तसंचालन का विकार ही पित्तदोष कहलाता है। उससे अनिद्रा, दाह आदि चाञ्चल्य-प्रधान पीड़ाएँ होती हैं। शरीर में जिन सब स्रोतों या नालियों के मुख बाहर खुले हुए हैं उनकी त्वचा का नाम श्लैष्मिक झिल्ली (महीन परदा या जाला) है। मुँह से गुदा तक जो स्रोत है उसमें, श्वास-नाली में, मूत्र-नाली में, आँख में तथा कान में श्लैष्मिक झिल्ली है। श्लैष्मिक झिल्ली से युक्त स्रोतःसमूह प्रधानतः शरीर धारण कार्य में नियुक्त हैं; अन्न, जल तथा वायुरूप आहार और ज्ञानेन्द्रिय का विषयाहार सभी श्लैष्मिक झिल्ली वाले यन्त्रों द्वारा निष्पन्न होते हैं। मूत्रनाली और गुह्य, जल तथा अन्नरूप आहार से सम्बन्धित निर्गमद्वार हैं। इन सब यन्त्रों का विचार कफ-विकार है।

सञ्चारशील वायु, पित्त और कफ के साथ इन लक्षणों का इस प्रकार कुछ सम्पर्क रहने के कारण ही वे वात, पित्त और कफ कहलाते हैं। किन्तु बाद में लोगों ने मूलतत्त्व भुलकर साधारण वायु, पित्तरस तथा श्लेष्मा को तीन दोष समझ कर अनेक भ्रान्तमतों की कल्पना की है। उपर्युक्त दोषविभाग सम्पूर्णतया वैज्ञानिक है। किन्तु साधारणतया जो वात, पित्त तथा कफ कहकर सर्व शरीर में ढूँढ़े जाते हैं, वे वास्तविक पदार्थ नहीं हैं। केवल उस मूल सत्य के साथ सम्बन्ध रहने से ही यह विभाग अभी तक प्रचलित है।

तीनों गुण जिस प्रकार आपेक्षिक हैं और प्रत्येक व्यक्ति में प्राप्त होते हैं, वातादि दोष भी उसी प्रकार हैं। अतएव वात-पैत्तिक, वात-श्लैष्मिक इत्यादि विभाग शरीर के सभी रोगों में प्रयुक्त होते हैं। दवाएँ भी उसी प्रकार वातनाशक, पित्तनाशक तथा कफनाशक—इन तीन श्रेणियों में विभक्त हुई हैं। वातनाशक का अर्थ है—वातवैषम्य को समता जिससे हो। वात की प्रबलता तथा मृदुता से दो प्रकार का वैषम्य हो सकता है। उपशमकारी दवा से प्रबलता एवं जोशीली दवा से मृदुता शान्त होती है। इस प्रकार प्रत्येक यन्त्र-गत सभी पीड़ाओं की हितकर तथा अहितकर औषधों का आविष्कार हुआ है। यह पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक है। परन्तु यह ऊपर कहा जा चुका है कि यह अज्ञ लोगों द्वारा अनायास विकृत की जा सकती है। विशेष विज्ञता के अभाव से, विशेषतया गुणत्रय का ज्ञान न रहने से, इसमें पारदर्शिता होने की आशा नहीं है।

सांख्य से जिस प्रकार अहिंसा सत्य आदि उच्चतम शील तथा योगधर्म

प्राप्त कर सारी दुनिया उपकृत हुई, उसी प्रकार आयुर्वेदविद्या का मूलतत्त्व प्राप्त कर सारी दुनिया उपकृत हुई है।

सप्त धातुओं[1] में शरीर का विभाग स्थूल विभाग है, यह कहना अनावश्यक है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३०॥

भाष्यम्—जिह्वाया अधस्तात्तन्तुः; ततोऽधस्तात्कण्ठः, ततोऽधस्तात्कूपः, तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥३०॥

३० । कण्ठकूप में संयम करने पर क्षुत्पिपासा की निवृत्ति होती है। सू०

भाष्यानुवाद—जिह्वा के अधोदेश में तन्तु, उसके अधोदेश में कण्ठ, उसके अधोदेश में कूप है। उसमें संयम करने से क्षुत्पिपासा नहीं लगतीं ॥ १ ॥

टीका ३० (१) तन्तु वाक्यन्त्र का अंशविशेष होता है, इसे Vocal cords कहते हैं। यह Larynx यन्त्र से आगे रहता है। Larynx यन्त्र कण्ठ है और Trachea कण्ठकूप है।[2] वहाँ संयम द्वारा स्थिर प्रसाद भाव लाभ होने पर क्षुत्पिपासाजनित पीड़ाबोध के ऊपर आधिपत्य किया जा सकता है। क्षुत्पिपासा अन्ननाली या alimentary canal में अवस्थित है; सुतरां oesophagus नाली[3] में ध्यान करना होगा ऐसा प्रतीत हो सकता है। परन्तु स्नायविक क्रिया अनेक समय पार्श्व अथवा दूर से अधिकतर आयत्त की जाती हैं, यह स्मरण रखना चाहिए।

---

१. भाष्य में सात धातुओं के जो नाम हैं, उनमें त्वक् का अर्थ 'चमड़ा' नहीं है, बल्कि रस है (भोज्य पदार्थ उदरस्थ अग्नि द्वारा पक्व होने पर रस बनता है)। रस ही रक्त आदि रूप से परिणत होता है। चमड़ा (त्वक्) उपधातु है। त्वक् नामक धातु रस ही है, यह डल्हणटीका (सुश्रुत १/२५) से भी जाना जाता है। धातुसम्बन्धी विशेष विवरण के लिये अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान अ० १; चरक, चिकित्सा १५/१५-१६ आदि द्रष्टव्य हैं। गर्भोपनिषद् की धातुगणना आयुर्वेदीय गणना से अंशतः भिन्न है। **[सम्पादक]**

२. सुश्रुत में जो कण्ठनाडी है (शारीर ६/३६) वह larynx है; वस्तुतः कण्ठनाडी में larynx और treachea का समावेश होता है। **[सम्पादक]**

३. यह अन्नवह नाली है; द्र० सुश्रुत शारीर ९/१३, चरक, विमान ५/११; Alimentary canal आयुर्वेद में महास्रोतः शब्द से प्रायः अभिहित होता है। **[सम्पादक]**

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३१॥

भाष्यम्—कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड़ी, तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते, यथा सर्पो गोधा वेति ॥ ३१ ॥

३१। कूर्मनाड़ी में संयम करने पर स्थैर्य होता है। सू०

भाष्यानुवाद—कूप के नीचे वक्ष में कूर्माकार नाड़ी है, उसमें संयम करने पर स्थिर पद का लाभ होता है। जैसे साँप या गोह (स्थिर रूप से रहता है) (१)।

टीका ३१ (१) कूप के नीचे कूर्मनाड़ी है, सुतरां Bronchial tube ही कूर्मनाड़ी होती है[1]। उसमें संयम करने से शरीर स्थिर होता है। श्वास-यन्त्र का स्थैर्य होने पर शरीर का जो स्थैर्य होता है, यह अनायास अनुभव किया जा सकता है। साँप तथा गोह जिस प्रकार अत्यन्त स्थिर भाव से पत्थर के समान निश्चल रह सकते हैं योगी भी इसके द्वारा उसी प्रकार रह सकते हैं। साँप आदि सब अवस्थाओं में शरीर को काठ-सा निश्चल रख सकते हैं। शरीर स्थिर होने पर उसके साथ चित्त को भी स्थिर किया जा सकता है। सूत्रस्थ स्थैर्य चित्तस्थैर्य को लक्ष्य करता है, क्योंकि ये सब ज्ञानरूपा सिद्धियाँ हैं।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः, तत्र संयमात् सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

३२। मूर्द्धज्योति में संयम करने पर सिद्धदर्शन होता है। सू०

भाष्यानुवाद—शिरःकपाल (खोपड़ी) के बीच में छेद है, उस छेद में प्रभास्वर ज्योति है, उस पर संयम करने से द्युलोक तथा पृथ्वी के अन्तरालचारी सिद्धगणों का दर्शन होता है (१)।

टीका ३२ (१) मस्तक के भीतर विशेष कर उसके पश्चात् भाग में ज्योति का चिन्तन करना चाहिए। पूर्वोक्त प्रवृत्त्यालोक (३।२५ सूत्रोक्त) आयत्त न होने से इसके द्वारा सिद्ध-दर्शन हो सकता है। सिद्ध एक प्रकार की देवयोनि है।

---

१. Bronchial tube आयुर्वेदशास्त्र का श्वासवह नाडी है (द्र० चरक, चिकित्सा १२।७३ पर चक्रपाणि) **[सम्पादक]**

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—प्रातिभं नाम तारकम्, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

३३। प्रातिभ से सभी जाने जाते हैं। सू०

भाष्यानुवाद—प्रातिभ तारक नामक ज्ञान होता है; यह विवेकज ज्ञान का पूर्वरूप है, जैसे कि सूर्योदय की पूर्वकालीन प्रभा। उसके द्वारा भी अर्थात् प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होने से भी योगी सभी जान सकते हैं (१)।

टीका ३३ (१) विवेकज ज्ञान ३।५२-५४ सूत्र में देखिए। उसके पहले ज्ञानशक्ति का जो प्रसाद होता है (जिस प्रकार सूर्योदय के पहले का आलोक), उससे पूर्वोक्त सभी ज्ञान सिद्ध होते हैं।

हृदये चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरम्पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानम्, तस्मिन्संयमाच्चित्तसंविद् ॥ ३४ ॥

३४। हृदय में संयम करने पर चित्तविज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—इस ब्रह्मपुर में (हृदय में) जो दहर (अर्थात् क्षुद्रगर्त्तयुक्त) पुण्डरीकाकार घर है उसमें विज्ञान रहता है। उसमें संयम करने से चित्तसंविद् होती है (१)।

टीका ३४ (१) संविद् का अर्थ है आभ्यन्तर ज्ञान या चित्त का ही ज्ञान। हृदय में संयम करने पर बुद्धिपरिणाम चित्तवृत्तियों का भी यथार्थतः साक्षात्कार होता है। १।२८ तथा ३।२६ सूत्र की टिप्पणी में हृदय और उसके ध्यान का विवरण देखिए। मस्तिष्क विज्ञान का यन्त्र है किन्तु अहंभाव में पहुँचने के लिए हृदय-ध्यान ही प्रशस्त उपाय होता है। हृदय से मस्तिष्क की क्रिया लक्ष्य कर एक-एक प्रकार की वृत्ति सक्षात्कृत होती है। वृत्तियाँ रूपादि के समान देशव्यापी आलम्बन नहीं होती हैं। रूपादि के ज्ञान में जो कालिक क्रियाप्रवाह रहता है उसकी उपलब्धि ही चित्तवृत्ति का साक्षात्कार है। विज्ञान का मूल केन्द्र अहंभाव-प्रत्ययरूप बुद्धि है जिसका साक्षात्कार हृदय-ध्यान द्वारा होता है। यह वक्ष्यमाण पुरुषज्ञान का सोपान-स्वरूप है।[1]

[1] पुरुषज्ञान का 'सोपानभूत' चित्तसंविद् है जो हृदयध्यान से होता है—ग्रन्थकार स्वामीजी का यह कथन गूढार्थक है। जीवत्व के मूल में कोई स्वप्रकाश पदार्थ है—यह हृदय का ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण करने पर निश्चित होता है, यह स्वामीजी ने

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम्, तस्माच्च सत्त्वात् परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा शुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः। तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य, दर्शितविषयत्वात्। स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद् दृश्यः।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते, पुरुष एव प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति; तथाह्युक्तम्—"विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्" इति (बृहदारण्यक २।४।१४) ॥ ३५ ॥

३५। अत्यन्त भिन्न जो सत्त्व और पुरुष हैं, उनका अविशेष प्रत्यय ही भोग है; वह परार्थ है, अतः स्वार्थसंयम करने पर पुरुषज्ञान होता है। सू०

भाष्यानुवाद—बुद्धिसत्त्व प्रख्याशील है, उस सत्त्व के साथ समान रूप से अविनाभाव-सम्बन्ध-युक्त रजः तथा तमः को वशीभूत या अभिभूत कर बुद्धि और पुरुष के भिन्नताप्रत्यय में (१) बुद्धिसत्त्व परिणाम प्राप्त करता है। पुरुष उस परिणामी बुद्धिसत्त्व की अपेक्षा अत्यन्तविधर्मा, शुद्ध, विभिन्न, चितिमात्र स्वरूप है; अत्यन्त भिन्न इन दोनों का (बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष का) अविशेषप्रत्यय ही पुरुष का भोग कहा जाता है, क्योंकि वह (पुरुष का) दर्शित-विषय होता है। वह भोगप्रत्यय बुद्धिसत्त्व का है, अतएव वह परार्थ होने के कारण (द्रष्टा का) दृश्य है।

जो भोग से पृथक्, चितिमात्ररूप, अन्य, पुरुष-सम्बन्धी प्रत्यय है, उसमें संयम करने पर पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है। बुद्धिसत्त्वात्मक पुरुष-प्रत्यय

अन्यत्र कहा है। देखा जाता है कि हृत्-पिण्ड स्वयं रक्त चलाता है, पुष्ट होता रहता है, पोषण के तारतम्य का अनुभव करता रहता है। यह जो स्वयं के द्वारा स्वयं को जानना या नियन्त्रित करना है, यह तभी संभव हो सकता है यदि मूल में कोई स्वप्रकाश वस्तु हो। यही कारण है कि हृदय-संयम-पूर्वक विज्ञान का साक्षात्कार करने पर वह साक्षात्कार पुरुषसत्ता के निश्चय में सहायक होता है। 'सोपान' शब्द का प्रयोग करने का गूढ अभिप्राय यही है। हृदय का यह स्वभाव तन्त्र में भी उक्त हुआ है––तत् [हृदयं] संकोचं विकाशं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः। हृदय में स्पन्दन की उत्पत्ति स्वतः होती है—स्पन्दन का नियन्त्रणमात्र नाडियों द्वारा होता है––यह शरीरविज्ञानी भी कहते हैं। आयुर्वेद में हृदय को चेतना का स्थान माना गया है—यह इस प्रसंग में स्मरणीय है। **[सम्पादक]**

द्वारा पुरुष दृष्ट नहीं होता है। पुरुष स्वात्मावलम्बन प्रत्यय को ही जानता है। जैसा कि कहा गया है (श्रुति में)—'अरे विज्ञाता को किसके द्वारा जानोगे?'

टीका ३५ (१) पहले ही व्याख्या की गई है कि विवेकख्याति बुद्धि का धर्म है अर्थात् प्रत्ययविशेष है। वह बुद्धि का चरम सात्त्विक परिणाम है। बुद्धि का राजसिक तथा तामसिक मल अभिभूत होने से ही विवेकप्रत्यय का उदय होता है। उस विवेकप्रत्यय-रूप अति-प्रकाशशील बुद्धि से भी पुरुष पृथक् होता है। कारण यह है कि बुद्धि परिणामी इत्यादि है (२।२० देखिए)।

इस प्रकार की बुद्धि और पुरुष का अविशेष-प्रत्यय या अभेद-ज्ञान अर्थात् एक ही ज्ञानवृत्ति में दोनों का जो अन्तर्भाव है, वही भोग है। प्रत्यय होने के कारण भोग बुद्धि की वृत्ति है; और बुद्धि की वृत्ति होने के कारण भोग दृश्य है। दृश्य होने से भोग परार्थ है अर्थात् पर जो द्रष्टा हैं उनका अर्थ या विषय या प्रकाश्य है। दृश्य परार्थ है और पुरुष स्वार्थ है, यह पहले भी (२।२०) व्याख्यात हुआ है। स्वार्थ का अर्थ है-जिसका स्वभूत अर्थ रहता हो, अर्थात् अर्थवान्। वह स्वार्थपुरुष विवक्षानुसार स्वरूपावस्थित पुरुष भी होता है और तद्विषया बुद्धि या पौरुष प्रत्यय भी होता है। यहाँ पर स्वार्थ पौरुष प्रत्यय ही संयम का विषय है। इस विषय में भाष्यकार ने कहा है **'यस्तु…पौरुषेयः प्रत्ययः'** अर्थात् बुद्धि द्वारा गृहीत पुरुष के समान भाव, जो केवल अस्मीतिमात्र व्यावहारिक ग्रहीता है, वही इस संयम का विषयभूत स्वार्थ पुरुष है अर्थात् व्यवहारदशा में पुरुषार्थ का जो मूल स्वरूप प्रतीत होता है, वह स्वरूप पुरुष नहीं है। किन्तु वह पौरुष प्रत्यय या आत्माकारा बुद्धि है। वेदान्ती भी कहते हैं—**'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्'**; उसी स्वार्थ पौरुष प्रत्यय में संयम करने पर पुरुष का ज्ञान होता है।

यहाँ शङ्का होती है कि क्या पुरुष बुद्धि का ज्ञेय विषय है? नहीं, ऐसा नहीं। इसी कारण भाष्यकार ने कहा है कि 'पुरुषविषयक प्रज्ञा होती है'। अर्थात् बुद्धि से पुरुष प्रकाशित नहीं होता है। पुरुष स्वप्रकाश है; बुद्धि या 'मैं' उसमें यह अनुभव करता है कि 'मैं स्वरूपतः स्वप्रकाश हूँ'; यह पौरुष प्रत्यय है। श्रुत और अनुमान जनित यह प्रज्ञा विशुद्ध नहीं है, परन्तु समाधि से चित्त का साक्षात्कार करना और चित्त से अलग पुरुष को समझना ही विशुद्ध पौरुष प्रत्यय है। इसकी दूसरी ओर चिद्रूप अर्थातीत पुरुष है और इस ओर परार्था भोगबुद्धि है, अतः जो मध्यस्थ है वही स्वार्थ है तथा संयम का विषय है। अतएव इस संयम द्वारा जो प्रज्ञा होती है वही पुरुषविषयक अन्तिम प्रज्ञा है; अनन्तर इससे बुद्धि का लय होने पर स्वरूपस्थिति-रूप कैवल्य होता है।

जड़ बुद्धि के द्वारा पुरुष दृश्य होने योग्य नहीं हैं; अतः यह पुरुषप्रत्यय

क्या है ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि पुरुषाकारा जो बुद्धि है उस बुद्धि के प्रति पुरुष का जो उपदर्शन है वही पुरुषप्रत्यय है। पुरुषकारा बुद्धि ऊपर व्याख्यात हुई है। 'मैं द्रष्टा हूँ' इस प्रकार का ज्ञान ही पुरुषाकारा बुद्धि का उदाहरण है। स्वरूपपुरुष संयम का विषय नहीं हो सकता। 'मैं द्रष्टा हूँ' या 'अस्मीतिमात्र' या विरूप पुरुष ही संयम का विषय हो सकता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शाऽऽस्वादवार्त्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

भाष्यम्–प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्, श्रावणाद् दिव्यशब्दश्रवणम्, वेदनाद् दिव्यस्पर्शाधिगमः, आदर्शाद् दिव्यरूपसंविद्, अस्वादाद् दिव्यरससंविद्, वार्त्तातो दिव्यगन्धविज्ञानम्। इत्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

३६। उससे (पुरुषज्ञान से) प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्त्ता[1] उत्पन्न होती हैं। सू०

भाष्यानुवाद—प्रातिभ से सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत और अनागत ज्ञान होता है; श्रावण से दिव्य शब्दसंविद् होती है; वेदन से दिव्यस्पर्श का अधिगम होता है; आदर्श से दिव्यरूपसंविद् तथा आस्वाद् से दिव्यरससंविद होती है; वार्त्ता से दिव्य गन्धविज्ञान होता है[1]। (पुरुषज्ञान होने पर) ये सब सदा (अवश्यमेव) अद्भूत होते हैं (१)।

टीका ३६ (१) भाष्य सुगम है। पुरुषज्ञान होने पर स्वतः ही, संयम-प्रयोग के बिना, ये उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञानरूप सिद्धियाँ कही हैं; इसके बाद क्रिया और शक्ति विषयक सिद्धि कहेंगे।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तद्दर्शन-प्रत्यनीकत्वाद् व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥ ३७ ॥

३७। वे समाधि में उपसर्ग हैं और व्युत्थान में ही सिद्धियाँ हैं सू०।

---

१. यहाँ वस्तुतः पुंलिङ्ग अकारान्त वार्त (वर्ति+अण्) शब्द का बहुवचन में प्रयोग है, आकारान्त 'वार्ता' शब्द का नहीं। चूँकि 'वर्ति' सुगन्धयुक्त होता है, अतः 'गन्ध'-सम्बन्धी सिद्धिविशेष का नाम वार्त रखना उचित ही है। चूँकि 'वार्त' पुंलिङ्ग शब्द है, अतः ३।३७ सूत्रीय 'ते' (पुंलिङ्ग-बहुवचनान्त सर्वनाम शब्द) शब्द के द्वारा 'प्रातिभ···वार्ताः' पद का परामर्श किया गया है। विस्तार के साथ इस विषय के विवेचन के लिए मेरा प्रकाश्यमान 'An Introduction to the Yogasūtra' ग्रन्थ द्रष्टव्य है। [**सम्पादक**]

भाष्यानुवाद—ये प्रातिभादि सिद्धियाँ उत्पन्न होने पर समाहित चित्त में विघ्न करती हैं, क्योंकि वे समाहित चित्त के (अन्तिम) द्रष्टव्य विषय की प्रतिबन्धक हैं। पर वे व्युत्थित चित्त की सिद्धियाँ हैं (१)।

टीका ३७ (१) एकालम्बन-चित्तता ही समाधि है, अतः ये सिद्धियाँ उसके उपसर्ग हैं। एकाग्रभूमि द्वारा तत्त्व में समापन्न होकर वैराग्य करने पर तथा चित्त का सम्यक् निरोध करने पर ही कैवल्य होता है। सिद्धि उसकी विरोधी है। १।३० (१) देखिए।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥३८॥

भाष्यम्—लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः; तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद् भवति। प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति; यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति॥ ३८॥

३८। बन्धकारण का शैथिल्य एवं प्रचारसंवेदन होने पर चित्त का परशरीर में आवेश सिद्ध होता है। सू०

भाष्यानुवाद—लोलीभूत अर्थात् चञ्चलस्वभाव के कारण अप्रतिष्ठ मन कर्माशयवश शरीर में बद्ध होकर प्रतिष्ठित होता है (१)। समाधिबल से उस बन्धकारणभूत कर्म का शैथिल्य होता है, और चित्त का प्रचारसंवेदन भी समाधि से उत्पन्न होता है। कर्मबन्ध-क्षय होने पर तथा नाड़ीमार्ग में स्वचित्त का संचारज्ञान होने पर योगी चित्त को अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीर पर निक्षेप कर सकते हैं। चित्त निक्षिप्त होने पर इन्द्रियसमूह भी उसका अनुगमन करती हैं; जिस प्रकार मधुकरराज के उड़ने पर मधुमक्खियाँ भी उड़ती हैं तथा उसके कहीं बैठ जाने पर मधुमक्खियाँ भी उसके पीछे बैठ जाती हैं, उसी प्रकार परशरीर में आविष्ट होने पर इन्द्रियगण भी चित्त का अनुगमन करती हैं।

टीका ३८ (१) 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार का भाव अवलम्बन कर चित्त क्षण-क्षण में विक्षिप्त होकर विषयों में दौड़ता है। 'मैं शरीर नहीं हूँ' इस प्रकार का भाव चित्त में स्थिर नहीं रहता है। यही शरीर के साथ बन्धन है। शरीर कर्मसंस्कार द्वारा रचित है। कर्म करते रहने से वह संस्कार (अर्थात्

चित्त) शरीर के साथ संमिलित रहेगा। समाधि द्वारा 'मैं शरीर नहीं हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय स्थिर होने तथा शरीर की क्रियाएँ अवरुद्ध होने पर, चित्त शरीरमुक्त होता है, और समाधिजात सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के बल से नाड़ीमार्ग में चित्त के प्रचार या संचार का ज्ञान होता है। इससे परशरीर में चित्त को आविष्ट किया जाता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३९॥

भाष्यम्—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम्। तस्य क्रिया पञ्चतयी; प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः, समं नयनात् समानश्चानाभिवृत्तिः, अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः, उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः, व्यापी व्यान इति। तेषाम्प्रधानः प्राणः। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गः, उत्क्रान्तिश्च प्रायणकाले भवति, तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

३९। उदान जय से जल, पङ्क तथा कण्टकादि में मज्जन या लग्नीभाव नहीं होता है और स्वेच्छा से उत्क्रान्ति भी सिद्ध होती है। सू०

भाष्यानुवाद—प्राणादिलक्षण संपूर्ण इन्द्रियवृत्ति ही जीवन है। उसकी क्रिया पञ्चविध है। प्राण की गति मुख और नासिका में है तथा हृदय तक उसकी वृत्ति है। समनयन करने के कारण वह समान कहलाता है; नाभि तक उसकी वृत्ति है। अपनयन करने के कारण वह अपान कहलाता है; वह पैर के तलवा तक स्थिति करता है। उन्नयन करने के कारण वह उदान कहलाता है; उसकी सिर तक स्थिति है। सर्वशरीर को व्यापने के कारण वह व्यान कहलाता है। इनमें प्राण प्रधान है। उदान-जय से जल, पङ्क, कण्टक आदि में असंग होता है एवं प्रायणकाल में (अर्चिरादि मार्ग से) उत्क्रान्ति होती है। उदान वशीकृत होने पर उत्क्रान्ति भी वश में आ जाती है[1]।

टीका ३९ (१) शरीर के धातुगत बोध का जो अधिष्ठान रूप स्नायु है, उसकी धारक प्राणशक्ति उदान है। सभी बोध इन्द्रियद्वार से ऊर्ध्व मस्तिष्क तक उठते हैं। उस ऊर्ध्व धारा में संयम करने पर तथा सभी शारीर धातुओं में प्रकाशशील सत्त्व का ध्यान करने पर शरीर लघु होता है। प्रबल चित्तभाव भौतिक द्रव्य की प्रकृति का परिवर्त्तन कर सकता है। सुषुम्नागत उदान में चित्त स्थिर होने पर स्वेच्छा से अर्चिरादि-मार्गों के द्वारा उत्क्रान्ति होती है।'

---

१. शंकराचार्य कहना चाहते हैं कि श्रुति-सिद्ध प्राणादि पञ्च प्राण सांख्यीय नहीं हैं—यः सांख्यशास्त्र-प्रसिद्धः [व्यानः] श्रुत्या विशेषनिरूपणात् नासौ व्यान इत्यभिप्रायः (छान्दोग्य १।३।३ का भाष्य)। सांख्यीय प्राणविद्या के साथ श्रौत प्राणविद्या

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

भाष्यम्—जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥ ४० ॥

४० । समान जय से ज्वलन सिद्ध होता है । सू०

भाष्यानुवाद—जितसमान योगी तेज का उत्तेजन कर प्रज्वलित होता है (१) ।

टीका ४० (१) समान नामक प्राण के द्वारा सभी शरीर में यथायोग्य पोषण होता है, अर्थात् अन्नरस का समनयन होता है । उसकी जय करने पर योगी के शरीर में भी चमक (odyle or aura) प्रकट होती है । शरीर की धातु में पोषणरूप रासायनिक क्रिया से चमक बढ़ती है । समान-जय से पोषण का उत्कर्ष होने के कारण चमक संपूर्ण अभिव्यक्त होती है । Baron Von Reichenbach ने odyle के सम्बन्ध में गवेषणा कर निश्चित किया है कि जो उस odyle ज्योति को देख सकते हैं वे जहाँ रासायनिक क्रिया होती है वहाँ तथा दूसरे कई स्थानों में विशेष कर देख पाते हैं । शरीर में स्वभावतः ही चमक रहती है । शरीर के प्रत्येक अणु में इसी संयम द्वारा सात्त्विक पुष्टिभाव होने से यह चमक इतनी बढ़ जाती है कि वह सब की दृष्टि में आ जाती है । आजकल इस aura का फोटो भी लिया गया है और इससे स्वास्थ्य-निर्णय करने का प्रबन्ध भी हो रहा है (द्र० Whitaker's Almanack १९१२, पृ० ७४६) ।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च; यथोक्तम्—"तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषाम्भवति" इति । तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गमनावरणं चोक्तम् । तथाऽमूर्त्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम् । बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति, तस्मात् श्रोत्रमेव शब्दविषयम् । श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते ॥ ४१ ॥

का वस्तुतः कोई विरोध नहीं है । प्राणादिशब्द सर्वत्र एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुये हैं, अतः स्थूल दृष्टि से विरोध (वस्तुतः विरोधाभास) प्रतीत होता है । प्राण के विषय में सांख्य की दृष्टि क्या है, उसे शंकराचार्य यथावत् जानते थे ऐसा प्रतीत नहीं होता । प्राणसंबन्धी सांख्यीय दृष्टि को जानने के लिए ग्रन्थकार स्वामीजी-प्रणीत 'सांख्यीय प्राणतत्त्व' (बंगला निबन्ध) द्रष्टव्य है । परमतनिर्देश में शंकरादि आचार्य कहीं-कहीं भ्रान्त हुये हैं—यह अनस्वीकार्य है । **[सम्पादक]**

४१। श्रोत्र तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र-लाभ होता है। सू०

भाष्यानुवाद—समस्त श्रोत्र तथा शब्दों की प्रतिष्ठा आकाश में होती है। कहा भी है—'समान देश-(आकाश) वर्त्ती श्रवणज्ञान से युक्त व्यक्तियों का एकदेशावच्छिन्न श्रुतित्व होता है' (१)। यह (एकदेशश्रुतित्व) आकाश का लिङ्ग (अनुमापक) है और अनावरणता (अवकाश) भी लिङ्ग है। अमूर्त्त ('मूर्त्तस्य' इस प्रकार मूल का पाठान्तर उचित नहीं है) या असंहत वस्तु की अनावरणता (सर्वत्र अवस्थानयोग्यता) देखी जाती है, अतः आकाश का विभुत्व (सर्वगतत्व) भी प्रख्यात हुआ है। शब्दग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय अनुमित होता है; बधिर और अबधिर में से एक व्यक्ति शब्द का ग्रहण करता है, दूसरा नहीं, अतएव श्रोत्र ही शब्दविषय है। श्रोत्र तथा आकाश के सम्बन्ध में संयमकारी योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है।

टीका ४१ (१) आकाश शब्दगुणवाला द्रव्य है। शब्दगुण सबकी अपेक्षा अनावरण-स्वभाव है, क्योंकि वह सब द्रव्यों को (रूपादि की अपेक्षा) पार कर सकता है। हम कह सकते हैं कि कठिन, तरल तथा वायवीय द्रव्यों का कम्पन ही शब्द कहा जाता है, अतः शब्द उनका गुण है। शब्द उनका गुण है यह एक दृष्टि से भले ही सत्य हो, परन्तु कम्पन केवल उन द्रव्यों का आश्रय, लेकर प्रकट होता है। कम्पन की शक्ति कहाँ रहती है, यह खोजने से बाह्य में मूलतः ताप-विद्युत् आदि के आश्रयद्रव्यों में ही और अभ्यन्तर में मन में पाया जाता है। जितने भी बाह्य शाब्दिक कम्पन होते हैं वे सब मूलतः तापादि से उद्भूत हैं; और इच्छा से वागिन्द्रिय आदि कम्पित होकर भी शब्द होता है। यद्यपि वाक्य के उच्चारण में वायुवेग से कण्ठतालु कम्पित होकर शब्द होता है, तो भी तथ्य-दृष्टि में वह पैशिक क्रिया का परिणाम-स्वरूप है। अर्थात् वाक्य एक प्रकार को transference of muscular energy होती है।

शब्द, ताप या आलोकरूप क्रिया की जो शक्ति है, वह क्या है? इसका उत्तर यह है कि वह शब्दादिशून्य है। शब्द, स्पर्श और रूपादि से शून्य पदार्थ ही अवकाश कहलाता है। विकल्प कर उसे केवल शून्य या देश भी कहते हैं, परन्तु वह अवास्तव पदार्थ है, और शब्दादि की क्रियाशक्ति वास्तविक है। 'शब्दादि से शून्य' परन्तु 'है'—किसी वस्तु के विषय में ऐसी कल्पना करने पर उसे आकाश या अवकाश, के रूप में कल्पित करना होगा। उस अवकाश की धारणा (अर्थात् वैकल्पिक या सम्यक् अवकाश की धारणा तो नहीं हो सकती, परन्तु धारणायोग्य अवकाश की धारणा) शब्द के द्वारा ही विशुद्धतम भाव से होती

है। केवल शब्दमात्र सुनने से बाह्य ज्ञान होने पर भी किसी मूर्ति का ज्ञान नहीं होता ! अतएव शब्दमय, अवकाशरूप, बाह्य सत्ता ही आकाश है।

इसके अतिरिक्त, सभी कम्पन अवकाश को सूचित करते हैं; अनवकाश में कम्पन की कल्पना नहीं हो सकती। अवकाश के कारण ही कठिन, तरल और वायवीय पदार्थ कम्पित होकर शब्द उत्पन्न कर सकते हैं। अवकाश आपेक्षिक भी हो सकता है, जैसे कि कठिन के पास वायवीय द्रव्य आपेक्षिक अवकाश है। केवल अवकाश वैकल्पिक पदार्थ है, परन्तु आपेक्षिक अवकाश यथार्थ भाव है।

स्थूल कर्णयन्त्र कम्पनग्राही होने पर अवकाशयुक्त होता है। अतः अवकाश-अभिमान ही श्रोत्र हुआ (क्योंकि इन्द्रियगण अभिमानात्मक हैं); अर्थात् कर्णयन्त्र-गत कठिन पदार्थ (पटह, ossicles आदि) अपेक्षाकृत अवकाशस्वरूप वायवीय द्रव्य से कम्पित होता है, अतः कर्ण अवकाश-अभिमानी पदार्थ होता है।

अवकाश के साथ अभिमान-सम्बन्ध ही श्रोत्राकाश का सम्बन्ध है। उसमें संयम करने पर इन्द्रियों की ओर से अभिमान का सात्त्विकताजनित उत्कर्ष होता है, और अवकाश की ओर से अनावरणता या अव्याहतता होती है। यही दिव्य श्रोत्र है।

पञ्चशिखाचार्य के **'तुल्यदेशश्रवणानाम्'** वचन का अर्थ यह है–तुल्य देश अर्थात् एकमात्र आकाश; सामान्यतः उसी के द्वारा जिनके श्रोत्र निर्मित हुए हों ऐसे व्यक्तियों का। उनकी श्रुति (कान) एकदेश अर्थात् आकाश के एकदेशवर्ती है। अर्थात् एक आकाशमयत्व हेतु से सभी कर्णेन्द्रियाँ आकाशवर्ती हैं। यह इन्द्रियों का भौतिक पक्ष है। शक्तिपक्ष में इन्द्रियाँ आभिमानिक (अभिमान धर्म से युक्त) हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

भाष्यम्—यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य; तेन सम्बन्धः प्राप्तिः (सम्बन्धावाप्तिरिति पाठान्तरम्)। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तूलादिष्वाऽऽपरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुः; लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति; ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥४२॥

४२। काय तथा आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और लघुतूलसमापत्ति से आकाशगमन सिद्ध होता है। सू०

भाष्यानुवाद—जहाँ काय है वहाँ आकाश भी है क्योंकि आकाश शरीर को अवकाशदान करता है। उसमें आकाश और शरीर की प्राप्ति या व्यापत

रूप सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध में संयमकारी व्यक्ति उस सम्बन्ध को जीत कर (आकाशगति लाभ करते हैं)। (अथवा) लघुतूलादि परमाणु पर्यन्त द्रव्यों में समापत्ति लाभ कर सम्बन्धजयी योगी लघु होते हैं, लघु होने से जल के ऊपर पैरों से विचरते हैं, पश्चात् ऊर्णनाभि तन्तुमात्र में विचरण करते हुए रश्मि का अवलम्बन करके विचरते हैं, उसके बाद उनकी यथेच्छ आकाशगति होती है (१)।

टीका ४२ (१) काय और आकाश के सम्बन्धभाव का अर्थात् आकाश का अवलम्बन कर शरीर का जो अवस्थान है, उस भाव में संयम करने पर अव्याहत गति में सञ्चरणयोग्यता होती है।

आकाश शब्दगुणक है। शब्द आकारहीन क्रियाप्रवाह-मात्र है। शरीर पूर्णतया इस प्रकार क्रियापुञ्जमात्र है तथा आकाश की भाँति अवकाश है, इस प्रकार की भावना काय और आकाश की सम्बन्धभावना है। शरीरव्यापी अनाहत नाद की भावना से ही यह भावना सिद्ध होती है। शास्त्रान्तर में इसीलिए अनाहत-नादविशेष की भावना द्वारा आकाशगति की सिद्धि कही गई है।

रुई आदि के लघुभाव में समापन्न होने पर शरीर के अणुसमूह गुरुता त्याग कर लघु होते हैं। शरीर के रक्त, मांस आदि भौतिक पदार्थ वस्तुतः 'अभिमान' के परिणाम हैं। गुरुता जैसे 'अभिमान' का परिणाम है, समाधिबल से वैसे 'अभिमान' के विपरीत अभिमान की भावना करने से शरीर के उपादानों में लघुत्वपरिणाम होता है। शरीर लघु होने से तथा काय और आकाश का सम्बन्ध जीतने से अव्याहत सञ्चार की योग्यता होने के कारण आकाशगमन होता है।

आधुनिक प्रेतवादियों (Spiritists) के मत में सेयंस् (Seance)[1] के समय माध्यम व्यक्ति (Medium)[2] शून्य में ऊपर उठता है, ऐसा विवरण मिलता है। D. D. Home नामक प्रसिद्ध माध्यम-व्यक्ति (Medium) इस पद्धति से शून्य में उठते थे। प्राणायाम के समय शरीर में सदा ही वायुवत्

---

१. Seance=वह विशेष गोष्ठी जिसमें प्रेत का आविर्भाव होता है तथा प्रेत के साथ बातचीत की जाती है। **[सम्पादक]**

२. Daniel D. Home के विषय में A. R. Wallace कृत Miracles and Modern Spiritualism ग्रन्थ द्रष्टव्य है। प्रेतवादियों के विषय में जानने के इच्छुक व्यक्तियों को Spiritualist पत्रिका, Spiritual Magazine तथा Cornhill Magazine देखने चाहियें। **[सम्पादक]**

भावना की जाती है, इससे भी कभी-कभी शरीर लघु होता है, इस प्रकार की बात हठयोगशास्त्र में मिलती है। इन सभी का मूल मानसिक भावना है।

भावना द्वारा शरीर लघु होता है—इसके मूल में एक गम्भीर सत्य निहित है। भार का अर्थ है—पृथ्वी की ओर गति। जड़ द्रव्य की प्रकृति के अनुसार वह गति या गति की शक्ति किसी द्रव्य में ज्यादा है और किसी द्रव्य में कम। शरीर या जड़ द्रव्य क्या चीज है ? प्राचीन विद्वान् कहते हैं कि शरीर परमाणुसमष्टि है; बौद्ध कहते हैं कि परमाणु निरंश है, अतः शरीर शून्य है।

इसी प्रकार की बात आधुनिक वैज्ञानिक भी कहते हैं। विज्ञान की दृष्टि से परमाणु प्रोटन तथा इलेक्ट्रन का आवर्त्तमात्र होता है। इन दोनों सूक्ष्म द्रव्यों के बीच में काफी अवकाश रहता है (सूर्य और ग्रहों के समान)। इलेक्ट्रन प्रोटन की चारों ओर एक सेकण्ड में लाखों बार घूम रहे हैं। अलातचक्र के समान एक रूप में प्रतीत वह अवकाशयुक्त इलेक्ट्रन और प्रोटन एक एक अणु हैं। अतः अणु में प्रायः सभी अंश अवकाश ही है। वैज्ञानिकगण हिसाब लगाते हैं कि शरीर में जितने अणु हैं, उनके 'प्रोटन' और 'इलेक्ट्रन' समूह को (ये भी केवल विद्युत्बिन्दु हैं) एकत्र करने पर (अर्थात् उनके बीच का अवकाश हटा देने पर) शरीर के उस उपादान का परिमाण इतना छोटा होगा कि वह आणुवीक्षणिक द्रव्य[1] होगा, और वह द्रव्य भी विद्युत्बिन्दु होगा। आणुवीक्षणिक विद्युत्बिन्दु में भार रहता है, ऐसा यदि माना जाए तो वही शरीर का प्रकृत भार होगा (परन्तु शरीर महाभार-सा प्रतीत होता है)।

पर हमारे अभिमान से ही शरीर भारी हो गया है, यह कहना ठीक नहीं। हमारा अभिमान शरीर के उपादान के ऊपर कार्य कर उसको शरीररूप से परिणामित करता है। शरीर के उपादान का प्रकृत रूप एक विद्युत्बिन्दु या आकाशवत् भाव होता है। प्रकार विशेष से अभिमान को उस ओर, अर्थात् काय तथा आकाश के सम्बन्ध में, समाहित भाव से प्रयोग करने पर शरीर का उपादान भी उसी प्रकार का हो सकता है। तात्पर्य यह है कि शरीर के अणुओं

---

१. इस विषय में प्रसिद्ध वैज्ञानिक Arthur Eddington का वाक्य देखें : "The atom is as porous as the solar system. If we eliminated all the unfilled space in a man's body and collected his protons and electrons into one mass, the man would be reduced to a spek just visible with a magnifying glass" (The Nature of the Physical World, p. 14) [सम्पादक]

का जो गतिविशेष 'भार' नामक धर्म है, उसका परिवर्त्तन ही शरीर की लघुता है तथा वह इस प्रकार सिद्ध हो सकती है। अतः शरीर शून्यरूप अवकाश को प्राप्त कर परिपूर्ण भारवान्-सा एक अभिमान विशेष है। समाहित स्थिर चित्त से उस अभिमान को अन्यरूप करना कुछ असम्भव बात नहीं है। यह इस रूप से समझना चाहिए।

बिना योग के अन्य अवस्थाओं में भी शरीर लघु होता है। ईसाइयों के चालीस सेण्ट (Saint) इस लघुता या शून्य में उठने के कारण सेण्ट बने हैं। उनका नाम Aethreobat है। बौद्ध इसे उद्वेगा प्रीति कहते हैं।[1]

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—शरीराद् बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते; या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता। तत्र कल्पितया साधयत्यकल्पितां महाविदेहामिति, यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः। ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

४३। शरीर के बाहर अकल्पित वृत्ति का नाम महाविदेहा है, उससे प्रकाश का आवरण क्षीण होता है। सू०

भाष्यानुवाद—शरीर के बाहर मन का जो वृत्तिलाभ है वह विदेह नामक धारणा है (१) वह धारणा यदि शरीर में स्थित मन की बहिर्वृत्ति से ही हो, तो वह कल्पित कही जाती है; और जो धारणा शरीरनिरपेक्ष, बहिर्भूत मन की ही बहिर्वृत्तिरूप है, वह अकल्पित होता है। इनमें कल्पिता के द्वारा अकल्पिता महाविदेहधारणा वृत्ति साधी जाती है। अकल्पित धारणा से योगी परशरीर में आविष्ट हो सकते हैं। उस धारणा से प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व के आवरणभूत रजस्तमोमूलक क्लेश, कर्म और त्रिविध विपाक का क्षय होता है।

टीका ४३ (१) बाहरी किसी वस्तु की (व्यापी आकाश को लेना ही अच्छा है) धारणा करके वहाँ 'मैं हूँ', इस प्रकार ध्यान करते-करते यदि उसमें

---

[1] पाँच प्रकार की प्रीति में 'उद्वेगा' प्रीति चतुर्थ है; अन्य चार हैं—क्षुद्रिका, क्षणिका, अवक्रान्तिका एवं स्फुरणा। उद्वेगा प्रीति अपने वेग से शरीर को ऊपर की ओर उछालती हुई-सी प्रतीत होती है। (अभिधम्मत्थ-संगहो, परि २)। जो धर्म काम और चित्त को बढ़ाता है, तर्पण करता है, वह प्रीति कहलाता है। प्रीति एक चैतसिक धर्म है। [सम्पादक]

चित्त की वृत्ति या स्थिति होती है अर्थात् उसी में "मैं" हूँ इस प्रकार का वास्तविक ज्ञान होता है, तो उसे विदेहधारणा कहते हैं। शरीर में तथा बाहर इन दोनों स्थानों में ही यदि चित्त रहे तो उसे कल्पिता विदेहधारणा कहते हैं। और जब शरीरनिरपेक्ष होकर बाहर ही चित्त वृत्तिलाभ करता है तब उसे महाविदेहधारणा कहते हैं। उससे भाष्य में कहे हुए आवरणों का क्षय होता है। शरीराभिमान ही सबसे स्थूल आवरण है; इस संयम से उसका क्षय या क्षीणभाव होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः; एतद् भूतानां प्रथमं रूपम्। द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम्; मूर्त्तिर्भूमिः, स्नेहो जलं, वह्निरुष्णता, वायुः प्रणामी, सर्वतोगतिराकाश इति। एतत् स्वरूपशब्देनोच्यते, अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः। तथा चोक्तम्—"एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्ति"रिति।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम्, द्विष्ठो हि समूहः। प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः—शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति। शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः—उभये देवमनुष्याः, समूहस्य देवाः एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागः, ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः। स च भेदाभेदविवक्षितः, आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः; आम्रवणं[१] ब्राह्मणसङ्घ इति। स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति; अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति। "अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमि"ति पतञ्जलिः, एतत्स्वरूपमित्युक्तम्।

अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम्? तन्मात्रं भूतकारणम्। तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इति, एवं सर्वतन्मात्राणि; एतत्तृतीयम्। अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः।

अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वम्; भोगापवर्गार्थता गुणेष्वन्वयिनी गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्। तेष्विदानींभूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति; तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति, तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

---

१. व्यासभाष्य के कुछ संस्करणों में 'आम्रवन' (दन्त्य न) पठित हुआ है, जो अशुद्ध है। यहाँ मूर्धन्य ण ही होगा। द्र० अष्टाध्यायी ८।४।५। **[सम्पादक]**

४४। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व—भूत के इन पाँच प्रकार के रूप में संयम करने पर भूतजय होती है। सू०

भाष्यानुवाद—उनमें (पाँच रूपों में) पृथ्वी आदि के जो शब्दादि विशेष गुण और आकारादि धर्म हैं, वे ही स्थूल शब्द से परिभाषित हैं। ये भूतों के प्रथम रूप हैं (१)। द्वितीय रूप उनके अपने सामान्य रूप हैं, जैसे भूमि का सामान्यरूप मूर्ति (सांसिद्धिक कठिनता) है, जल का स्नेह है, वह्नि का उष्णता है, वायु का प्रणामिता (नित्यप्रति सञ्चारशीलता) है तथा आकाश का सर्वगामिता है। 'स्वरूप' इस शब्द से ये रूप ही कहे जाते हैं। इन सामान्य रूपों के विशेष शब्दादि हैं। इस विषय में उक्ति है, "एक जाति में समन्वित पृथ्वी आदि की षड्ज आदि धर्ममात्र द्वारा (स्वजातीय अन्य वस्तु से) व्यावृत्ति या भिन्नता होती है।"

यहाँ (सांख्यमत में) सामान्य और विशेष का समुदाय द्रव्य कहलाता है। यह समूह दो प्रकार का है—[१] जिसके अवयवभेद प्रत्यस्तमित हो चुके हो, यथा—शरीर, वृक्ष, यूथ, वन आदि, [२] शब्द से जिसके अवयवभेद गृहीत होते हैं, यथा—'दोनों देवमनुष्य', (यहाँ) समुह का एक भाग देवगण और अन्य भाग मनुष्य हैं; इन दोनों से ही समूह उक्त हुआ है। समूह भेदविवक्षित तथा अभेदविवक्षित भी होते हैं। पहले के उदाहरण हैं—आमों का वन, ब्राह्मणों का सङ्घ। दूसरे के उदाहरण हैं आम्रवण, ब्राह्मणसङ्घ। समूह फिर दो प्रकार के हैं—युतसिद्धावयव तथा अयुतसिद्धावयव। युतसिद्धावयव के उदाहरण हैं—वन, सङ्घ आदि; और अयुतसिद्धावयव के उदाहरण हैं—शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि। 'अयुतसिद्धावयवभेद का अनुगत समूह ही द्रव्य है' यह पतञ्जलि कहते हैं। ये (पहले कहे हुए मूर्त्ति, स्नेह आदि) भूत के स्वरूप माने जाते हैं।

भूतों का सूक्ष्म रूप क्या हैं? वह भूतकारण तन्मात्र है (२)। उसका एक (अर्थात् अन्तिम) अवयव परमाणु होता है। यह सामान्यविशेषात्मक, अयुतसिद्धावयवभेद के अनुगत समूह है। सभी तन्मात्र इसी प्रकार के हैं तथा यही भूत का तृतीय रूप है। तदुपरान्त भूत का चतुर्थ रूप प्रकाश, क्रिया और स्थिति है; ये तीनों त्रिगुण-कार्य के स्वभाव के अनुपाती होने के कारण अन्वय शब्द से उक्त हुए हैं।

भूत का पञ्चम रूप अर्थवत्त्व है। भोगापवर्गार्थता गुणों में तथा गुण तन्मात्रों, भूतों और भौतिक पदार्थों में अवस्थित हैं। अतएव सभी (तन्मात्र आदि) अर्थवत् होते हैं। इन इदानीन्तन (शेषोत्पन्न स्थूल भूतसमूह) (३) पञ्चरूपयुक्त पाँच्र पदार्थों में संयम करने पर प्रत्येक रूप का स्वरूपदर्शन तथा जय

प्रादुर्भूत होते हैं। पञ्चभूतस्वरूप को जीतकर योगी भूतजयी होते है। बछड़ा जिस प्रकार गाय का अनुसरण करता है उसी प्रकार भूतजयी योगी के सङ्कल्पानुसार भूत तथा भूतप्रकृति (तन्मात्र)-समूह चलते हैं अर्थात् तदनुरूप कार्य करते हैं।

टीका ४४ (१) स्थूल रूप—जो सर्वप्रथम गोचर होते हों। आकारयुक्त और विशेष-विशेष शब्दस्पर्शरूपादियुक्त, भौतिक भाव में व्यवस्थित द्रव्य ही स्थूलरूप हैं; यथा—घट, पट आदि।

स्वरूप—स्थूल की अपेक्षा विशिष्ट रूप। जिस-जिस भाव में अवस्थित द्रव्य को आश्रय कर शब्दादि गृहीत होते हैं, वही भूत का स्वरूप है। गन्धज्ञान सूक्ष्म कण के संयोग से उत्पन्न होता है, अतः काठिन्य ही गन्धगुणशीला क्षिति का स्वरूप है। स्थूलरूप की अपेक्षा निजी भाव ही स्वरूप कहलाता है।

रसज्ञान तरल द्रव्य के योग से होता है। अतः रसगुणक जलभूत का स्वरूप स्नेह है। रूप सदा ही उष्णताविशेष में रहता है। सब रूपों का आकर सूर्य उष्ण है। अतः रूपगुणशील वह्निभूत का स्वरूप उष्णता है। शीतोष्णरूप स्पर्श त्वचा से युक्त वायवीय द्रव्य के द्वारा ही प्रधानतः होता है। वायु प्रणामी या अस्थिर है। अतः स्पर्शगुणक वायुभूत का स्वरूप प्रणामित्व होता है।

शब्दज्ञान अनावरणज्ञान का सहभावी है, अतएव शब्दगुणक आकाश का स्वरूप अनावरणत्व है। विशेष-विशेष शब्दस्पर्शादिज्ञानों में यह 'स्वरूप' सामान्य होता है। इस विषय में सांख्याचार्य कहते हैं कि एक-जातिसमन्वित अर्थात् कठिन पृथिवी, स्नेहस्वरूप अप् आदि जो सामान्य पृथिवी आदि हैं उनके भेद धर्मव्यावृत्ति से या धर्मभेद होने से होते हैं, अर्थात् शब्दादियुक्त आकारादि भेद होते हैं। तात्पर्य यह है कि सामान्यस्वरूप पञ्चभूत के विशेष विशेष धर्म-भेद से घटपटादि भेद होते हैं।

इसके बाद भाष्यकार प्रसङ्गतः द्रव्य का लक्षण दे रहे हैं, यह उदाहरण द्वारा स्पष्ट ही है। भूत का वही स्वरूप या सामान्यरूप, जो विशेष रूप में अनुगत है, स्वरूप नामक द्रव्य है।

जिसे हम समूह कहते हैं उसका तात्त्विक विवेचन यह है—शरीर, वृक्ष प्रभृति एक प्रकार के समूह हैं। ऐसे समूह में अवयव रहने से भी वे लक्षित नहीं होते हैं और 'उभय देवमनुष्य' इस प्रकार का जो समूह है वह देवरूप तथा मनुष्यरूप अवयवभेद को लक्ष्य करता है। शब्द से समूह दोनों प्रकार व्यक्त होता है, जैसे कि ब्राह्मणों का संघ तथा ब्राह्मणसंघ। प्रथम में भेद की विवक्षा रहती है, द्वितीय में नहीं। शरीर, वृक्ष आदि समूहों के नाम अयुतसिद्धावयव समूह हैं और वन, संघ इत्यादि समूहों के नाम युतसिद्धावयव

समूह हैं। प्रथम प्रकार के उदाहरणों में सभी अवयव अविच्छिन्न भाव में मिले हुए हैं; द्वितीय प्रकार के उदाहरण में सभी अवयव अलग-अलग हैं। प्रथम प्रकार के समूह घनिष्ठ सम्बन्धयुक्त हैं और दूसरे प्रकार के समूह व्यवहार में सुविधा के लिए कल्पित एकतामात्र हैं। अयुतसिद्धावयव समूह को ही द्रव्य कहते हैं।

४४ (२) भूत का सूक्ष्म रूप तन्मात्र है। तन्मात्र की व्याख्या पहले (२।१९ सूत्र में) की गई है। तन्मात्र एकावयव है, क्योंकि वह परमाणु है। परमाणु अपकर्ष की सीमा है, उसका अवयवभेद जानने योग्य नहीं है। समाधिबल से शब्दादि गुणों का जितना सूक्ष्मभाव साक्षात्कृत होता है जिससे अधिक सूक्ष्मभाव साक्षात्कृत नहीं होता, वही तन्मात्र या शब्दादि की सूक्ष्म अवस्था है; अतः वह एकावयव है। परमाणु का ज्ञान कालक्रम से होता है, देशक्रम से नहीं, क्योंकि बाह्यावयव रहने से ही देशक्रम लक्ष्य होता है। अणु ज्ञान की धारा ही उनके परिणामभेद की धारा है। परमाणु स्वयं ही सामान्य है और वह विशेष का उपादान होने के कारण सामान्यविशेषात्मा है; तथा वह स्वकारण अस्मिता का विशेष परिणाम होने से भी विशेषात्मक कहा जाता है। परमाणु का स्वगत अवयवभेद जानने योग्य नहीं है, अतः वह वक्तव्य भी नहीं है।

भूत का चतुर्थ रूप है—प्रकाश, क्रिया और स्थिति। तन्मात्र का कारण अस्मिता है; और अस्मिता प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील है। भूतों के कार्य में भी वे तीन प्रकार के भाव अन्वित रहते हैं, अतः इसका नाम अन्वयरूप है। अर्थात् भूतनिर्मित शरीरादि द्रव्य सात्त्विक, राजस और तामस होते हैं। व्यवसेय प्रकाश, क्रिया और स्थिति को ही चतुर्थ रूप कहा जाता है। यही कारण है कि भूतसमूह प्रकाश्य, कार्य और धार्य स्वरूप होते हैं।

भूत का पञ्चम रूप अर्थवत्त्व या भोग तथा अपवर्ग का विषय होना है। भूत के ग्रहण-द्वारा सुख-दुःखों का भोग होता है, तथा भोगायतन शरीर होता है, और उसमें वैराग्य होने से अपवर्ग होता है।

४४ (३) इदानीन्तन अर्थात् सर्वशेष में उत्पन्न जो पञ्चभूतसमह हैं जिनमें ये पाँचों रूप ही विराजते हैं (तन्मात्र में वे नहीं हैं) उनमें संयम करने से क्रमशः उन पाँचों रूपों का साक्षात्कार तथा जय (अर्थात् उनके ऊपर कार्य करने की क्षमता) होती है। स्थूल या घट-पटादि भौतिक रूप के जय से उनका विशेष के साथ ज्ञान होता है तथा इच्छानुसार उन्हें बदलने की क्षमता होती है। स्वरूप को जीतने से काठिन्यादि-अवस्था का तत्त्व-ज्ञान तथा स्वेच्छापूर्वक उनको बदलने की क्षमता होती है।

सूक्ष्मरूप तन्मात्र की जय होने से शब्दादि गुणों का स्वरूप-ज्ञान तथा उनको स्वेच्छा से परिवर्त्तन करने की क्षमता होती है। अर्थात् सूक्ष्म जय से शब्दादि की प्रकृति को बदलने की सामर्थ्य होती है। अन्वयित्वजय होने से भूतनिर्मित इन्द्रियादि व्यूह (भोगाधिष्ठान) के ऊपर आधिपत्य होता है। अर्थवत्त्व के साक्षात्कार से परमार्थसम्बन्धी भूत-वैराग्य की सामर्थ्य होती है। भूत की जो सुख-दुःख-मोहजननता है उसके अतीत भाव आयत्त कर योगी चाहें तो बाह्य में सम्यक् विरागवान् हो सकते हैं। इसी प्रकार से भूत की तथा भूतप्रकृति की (सूक्ष्म और अन्वयित्व के द्वारा) जय होती है। अर्थवत्ता को अर्थात् 'अर्थवान्' को भी प्रकृति कहा जा सकता है और पूर्वोक्त (द्र० ३।३५ सूत्र) स्वार्थ, ग्रहीत-पुरुष ही वह प्रकृति है। गीता (७।५) में यही जीवभूता प्रकृति कही गई है, परन्तु यह तात्त्विक प्रकृति नहीं है, क्योंकि यह बुद्धितत्त्व के अन्तर्गत है।[1]

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—तत्राणिमा भवत्यणुः, लघिमा लघुर्भवति, महिमा महान् भवति, प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्, प्राकाम्यमिच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके, वशित्वम् भूतभौतिकेषु वशी भवति अवश्यश्चान्येषाम्, ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति, कस्माद् ? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथाभूतेषु सङ्कल्पादिति। एतान्यष्टावैश्वर्याणि।

कायसम्पद् वक्ष्यमाणा। तद्धर्मानभिघातश्च–पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियाम्, शिलामप्यनुप्रविशतीति, नापः स्निग्धाः क्लेदयन्ति, नाग्निरुष्णो दहति, न वायुः प्रणामी वहति, अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

---

१. जीवभूता प्रकृति के विषय में ग्रन्थकार स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है कि ग्रहीता= क्षेत्रज्ञ=मैंमात्र=महत्तत्त्व, जो द्रष्टा-दृश्य-संयोग का आदिम विकारव्यक्ति है वही जीवभूता प्रकृति है। व्याप्त विश्व का साक्षात् उपादान होने के कारण वह 'प्रकृति' कहलाता है··प्रत्येक जीवभूता प्रकृति स्व-स्व क्षेत्र का धारण करती है। सर्वश्रेष्ठ जीव हिरण्यगर्भ है।···जीव चेतनायुक्त है, अतः अचेतन प्रकृतियों की अपेक्षा इस जीवप्रकृति को 'परा'=श्रेष्ठा कहा गया है ('गीता का मत' शीर्षक बंगला निबन्ध द्र०)। **[सम्पादक]**

४५। उससे (भूतजय से) अणिमादि का प्रादुर्भाव होता है और कायसम्पद् की तथा कायधर्म के अनभिघात की भी सिद्धि होती है। सू०

भाष्यानुवाद—अणिमा (जिससे योगी) अणु होते हैं। लघिमा–(जिससे) लघु बनते है। महिमा—(जिससे) महान् बनते हैं। प्राप्ति—(जिससे) अङ्गुलि के अग्रभाग से (चाहे तो) चन्द्रमा को स्पर्श किया जा सकता है। प्राकाम्य—इच्छा का अनभिघात, जैसे, भूमि-भेद कर उठना अथवा जल की भाँति भूमि में निमग्न होना। वशित्व—भूतभौतिक पदार्थों को वश में रखना और दूसरों के द्वारा अवश्य होना। ईशितृत्व— उसके (भूत-भौतिकों के) प्रभव, नाश तथा व्यूह के उपर ईशितृत्व करना। यत्रकामावसायित्व—सत्यसङ्कल्पता; जिस प्रकार का सङ्कल्प हो, भूत तथा प्रकृति का उसी प्रकार का अवस्थान होना। (यत्रकामावसायी योगी) समर्थ होने पर भी (जागतिक) पदार्थों में विप्लव नहीं करते हैं, क्योंकि अन्य यत्रकामावसायी पूर्वसिद्ध का उसी प्रकार के भावों में (जिस रूप से जगत् रहता हो उस रूप में) सङ्कल्प है। ये आठ ऐश्वर्य होते हैं।

कायसम्पद् आगे कही जाएगी। शरीर धर्म का अनभिघात यह है कि (यदि योगी चाहे तो) उनकी शरीरादि-क्रिया को पृथ्वी रोक नहीं सकती, उनका शरीर शिला में भी अनुप्रवेश करता है, स्निग्ध पदार्थ उसे भिगा नहीं सकते और न उष्ण अग्नि जला सकती है। प्रणामी वायु उसे परिचालित नहीं कर सकता और वह अनावरणात्मक आकाश में आवृत देह हो जाता है अर्थात् वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है।

टीका ४५ (१) प्राप्ति—दूरस्थ वस्तु का भी निकटस्थ होना; जैसे कि इच्छा मात्र से चन्द्रमा को भी अँगुली द्वारा स्पर्श कर लेना।

ईशितृत्व—सङ्कल्प करने पर भूतभौतिक द्रव्यों की उत्पत्ति, लय तथा स्थिति यथाभिलाष होती रहती हैं। यत्रकामावसायित्व—सङ्कल्प किये जाने पर भूत का तथा भूतप्रकृतियों का यथासङ्कल्पित अवस्था में रहना। इसमें पहले की सभी सिद्धियाँ रहती हैं। ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट सिद्धियाँ हैं।

योगसिद्धों को ये शक्तियाँ होने पर भी वे पदार्थों में वैपरीत्य नहीं करते हैं या नहीं कर सकते हैं। चन्द्रमा की गति द्रुत करना आदि पदार्थ-विपर्यास हैं। पदार्थ-विपर्यास न कर सकने का हेतु यह है कि ब्रह्माण्ड के पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ-ईश्वर को ब्रह्माण्ड की ऐसी अवस्थिति में यत्रकामावसायित्व है; अर्थात् ब्रह्माण्ड ऐसा ही रहे जैसा कि वर्त्तमान है, ताकि प्रजागण कर्म करें तथा कर्मफल भी भोगें–ऐसा पूर्वसिद्ध प्रजापति का सङ्कल्प रहने के कारण ही योगी शक्तिमान्

होने पर भी पदार्थ-वैपरीत्य नहीं कर सकते। योगीगण ईश्वर-सङ्कल्प से मुक्त पदार्थ में यथोचित शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। पदार्थ-वैपरीत्य करने से बहुत से प्राणियों की हिंसा भी अवश्यम्भावी है।

भाष्य में प्रयुक्त 'पूर्वसिद्ध' शब्द से संसार के स्रष्टा, पाता तथा संहर्त्ता सगुण ईश्वर उक्त हुआ है। सांख्यसूत्र में भी **'स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता (३५६)** इस प्रकार ईश्वर सिद्ध रहने से सांख्य और योग का मत समान है—**'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'** (गीता ५।५)।[1]

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद् ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति ॥४६॥

४६। रूप, लावण्य, बल तथा वज्रसंहननत्व—ये कायसम्पत् हैं। सू०

भाष्यानुवाद—योगी दर्शनीय, कान्तिमान् तथा अतिशयबलयुक्त एवं वज्र की तरह अभेद्य एवं दृढशरीर से युक्त होता है।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

भाष्यम्—सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः; तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम्, न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम्, कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसानुव्यवसीयेतेति। स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्य-विशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम्। तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः, तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः।

चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रि-याणि साहंकाराणि परिणामाः। पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति।

---

१. यह ज्ञातव्य है कि यह 'पूर्वसिद्ध' ब्रह्माण्डसर्जक ईश्वर पूर्णविवेकवान् नित्यमुक्त-चित्तशाली ईश्वर नहीं हैं, जिनका उल्लेख १।२३-२७ में है। नित्यमुक्त ईश्वर के साथ सर्जन क्रिया का कोई भी संबन्ध नहीं है। इस तथ्य को न समझकर कई विद्वानों ने नित्यमुक्त ईश्वर को भी सृष्टिकर्ता के रूप में कहा है। कुछ विद्वानों ने कहा है कि मुक्त ईश्वर को ईश्वर कहना गौण दृष्टि से ही उचित है, क्योंकि जिसमें सृष्टिकर्तृत्व नहीं है, वह वस्तुतः ईश्वर पदवाच्य नहीं हो सकता। सृष्टि-कर्तृत्व में अविवेक है तथा उसमें विक्षेप का अस्तित्व है, अतः मुक्तचित्तव्यपदिष्ट पुरुषविशेष में यह कर्तृत्व नहीं रह सकता—यह जानना चाहिये। साधारण लोगों के लिए यह सोचना कठिन हो जाता है कि सर्वशक्तिमत्ता सर्वज्ञता आदि भी कैवल्य की दृष्टि में हेय हैं। [**सम्पादक**]

पञ्चस्वेतेषु इन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमः, तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

४७। ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पाँच इन्द्रियरूपों में संयम करने पर इन्द्रियजय होती है। सू०

भाष्यानुवाद—सामान्य और विशेषरूप शब्दादिविषय ग्राह्य हैं। ग्राह्यों में इन्द्रियों की वृत्ति ग्रहण (१) है। इन्द्रिय-समूह केवल सामान्य को ही ग्रहण नहीं करती हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो इन्द्रियों से अनालोचित विशेष विषयों (अर्थात् अगर विशेष विषय इन्द्रियों से आलोचित या आलोचन भाव से ज्ञात नहीं होते, तो) का मन से अनुचिन्तन करना कैसे सम्भव होता ? स्वरूप= प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व के सामान्य-विशेष-रूप अयुतसिद्ध-भेदानुगत समूह स्वरूप द्रव्य इन्द्रिय है। (अतः उस प्रकार का समूह द्रव्य ही इन्द्रिय का स्वरूप है)। उनका (इन्द्रियों का) तृतीय रूप अस्मितालक्षण अहंकार है, इन्द्रियगण सामान्यस्वरूप अस्मिता के विशेष हैं।

इन्द्रियों का चतुर्थ रूप व्यवसायात्मक प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शील गुण हैं। अहंकार और इन्द्रियगण गुणों के परिणाम हैं। गुणों में अनुगत पुरुषार्थवत्त्व ही इन्द्रियों का पञ्चम रूप है। क्रमशः इन पाँच इन्द्रियरूपों में संयम द्वारा पाँचों रूपों को जीतने से योगी जितेन्द्रिय हो जाता है।

टीका ४७ (१) इन्द्रिय का (यहाँ ज्ञानेन्द्रिय का) पहला रूप ग्रहण है; अर्थात् शब्दादि जिस प्रणाली से गृहीत होते हैं वह भाव प्रथम रूप है। शब्दादि क्रिया-द्वारा इन्द्रिय सक्रिय होने से तदात्मक अभिमान का जो सक्रिय होना है, वही विषयज्ञान है। इन्द्रिय का यह सक्रिय भाव ही ग्रहण है। शब्दादि विषय (विषय का अर्थ—शब्दादिमूलक क्रिया से जो चैत्तिक भाव होता है, वह) सामान्य तथा विशेषात्मक है [१।७ (३) टीका देखिए]। अतः सामान्य तथा विशेष भाव से शब्दादि का ग्रहण ही ग्रहण कहा जाता है। विशेष का अनुव्यवसाय होने के कारण इन्द्रिय से विशेष का भी ग्रहण किया जाता है। अर्थात् पहले व्यवसाय-द्वारा विशेष गृहीत होने पर ही बाद में उसके द्वारा अनुव्यवसाय हो सकता है।

इन्द्रियों के ज्ञानसाधक अंशसमूह प्रकाशशील बुद्धिसत्त्व के विशेष-विशेष व्यूह हैं; उन व्यूहों का विशिष्ट रूप या भेद ही इन्द्रियों का स्वरूप है। जैसे चक्षु एक प्रकार के प्रकाश का द्वार है, कर्ण अन्य प्रकार के प्रकाश का द्वार है, इत्यादि।

इन्द्रिय का तृतीय रूप अस्मिता या अहंकार है। वही इन्द्रिय का उपादान

है। ज्ञान इन्द्रियगत अस्मिता की सक्रिय अवस्थाविशेष है। सभी इन्द्रियों में साधारण अस्मिता की क्रिया ही इन्द्रिय का तीसरा रूप है।

इन्द्रिय का चतुर्थ रूप—व्यवसायात्मक प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति अर्थात् विज्ञान, प्रवर्त्तन तथा धारण (इन्द्रिय का शक्तिरूप संस्कार)। इसका नाम पूर्वोक्त कारण से (३।४४ सूत्र में भूत के अन्वय रूप का विवरण देखिए) अन्वयित्व है, अहंकार का भी कारण यह व्यवसायात्मक त्रिगुण है।

भोगापवर्ग का करण होने के कारण इन्द्रियगण स्वार्थ पुरुष के अर्थस्वरूप हैं। यही इन्द्रिय का पञ्चम रूप अर्थवत्त्व है।

कर्मेन्द्रिय और प्राण भी इसी कारण पञ्चरूपयुक्त है। संयम-द्वारा इन्द्रिय के रूपों का साक्षात्कार तथा जय करने से और जो-जो फल होते हैं वे आगे के सूत्र में कहे गए हैं।

इन्द्रियरूपों को जीतने पर इन्द्रिय और इन्द्रिय-कारणों के ऊपर सम्पूर्णतया आधिपत्य होता है। उत्कृष्ट वा अपकृष्ट जिस प्रकार की भी इन्द्रिय अभिप्रेत हों, इच्छामात्र उसका निर्माण करने की सामर्थ्य ही इन्द्रियरूपों को जीतना है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्; विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः; सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इति। एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते, एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

४८। उससे मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय होते हैं। सू०

भाष्यानुवाद—शरीर के अनुत्तम गतिलाभ को मनोजवित्व कहते हैं। विदेह (स्थूल देह के सम्पर्क से रहित) इन्द्रियगण के अभिप्रेत देश, काल तथा विषय में जो वृत्तिलाभ है, वही विकरणभाव है। सभी प्रकृति और विकृति का वशित्व ही प्रधानजय है। ये तीन प्रकार की सिद्धियाँ मधुप्रतीक हैं। ग्रहणादि पाँच करणरूपों की जय से इनका प्रादुर्भाव होता है (१)।

टीका ४८ (१) इन्द्रियजय का दूसरा आनुषङ्गिक फल मनोजवित्व या मन की-सी गति है। विभु अन्तःकरण को परिणत कर यत्र-तत्र एक ही क्षण में इन्द्रियनिर्माण करने की सामर्थ्य होने पर मनोगति होती है और विकरणभाव भी। प्रधानजय क्रियाशक्ति की अन्तिम सीमा है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

भाष्यम्— निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपतिष्ठन्त इत्यर्थः ।

सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः । इत्येषा विशोका नाम सिद्धिः, यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

४९। बुद्धि तथा पुरुष के भिन्नताख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व सिद्ध होते हैं। सू०

भाष्यानुवाद— रजस्तमोमलशून्य बुद्धिसत्त्व का परम वैशारद्य या स्वच्छ भाव होने पर, परम वशीकार अवस्था में वर्त्तमान और सत्त्व तथा पुरुष के भिन्नताख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित (बुद्धिसत्त्व को) सर्वभावाधिष्ठातृत्व होता है (१) अर्थात् व्यवसाय और व्यवसेय-आत्मक (ग्रहण-ग्राह्यात्मक), सर्वस्वरूप गुणसमूह क्षेत्रज्ञ स्वामी के पास अशेष दृश्यरूप से उपस्थित होते हैं।

सर्वज्ञातृत्व = शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मभाव से व्यवस्थित सर्वात्मक गुणों का अक्रम विवेकज ज्ञान। यह विशोका नामक सिद्धि है; इसको प्राप्त कर सर्वज्ञ, क्षीणक्लेशबन्धन, वशी योगी विहार करते हैं।

टीका ४९ (१) पहले ज्ञानरूप सिद्धियाँ और बाद में क्रियारूप सिद्धियाँ कही गई हैं। अब जिससे वे दोनों प्रकार की सिद्धियाँ पूर्णरूप से प्रादुर्भूत हो सकती हों, यही कहा जा रहा है।

जो योगिचित्त विवेकख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित है, उसको सर्वज्ञातृत्व और सर्वभावाधिष्ठातृत्व होते हैं। सर्वज्ञातृत्व—सभी द्रव्यों के शान्तोदिताव्यपदेश्य

---

१. सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वभावाधिष्ठातृत्व इत्यादि 'सर्व' सम्बद्ध सिद्धियों के स्वरूप के विषय में सर्वत्र अज्ञतामूलक धारणा दृष्ट होती है। 'सर्व' शब्द का प्रयोग करने पर भी सर्व का अर्थ 'बहु' अथवा 'परिमित सर्व' ही समझा जाता है। ग्रन्थकार स्वामी जी ने कहा है कि सर्वज्ञ के पास क्षणरूप काल ही रहता है, अतीतनागत भेद नहीं रहता। उनकी चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है। उनका जानना समाप्त हो जाता है। विषयों को एक-एक कर जानते रहना सर्वज्ञता नहीं है, क्योंकि विषयों की समाप्ति नहीं है; सभी विषयों को जानते रहना चित्त की अशान्ति है— सर्वज्ञपुरुष में यह अशान्ति नहीं है। सर्वशक्तिमत्ता आदि पर भी यही दृष्टि प्रयोज्य है; द्र० दार्शनिक निबन्धावली, पृ० ७१-७३ बंगलाग्रन्थ। [**सम्पादक**]

धर्मों का युगपत् ज्ञान। सर्वभावाधिष्ठातृत्व=सभी भावों के साथ दृश्यरूप में युतपत्-सा ज्ञाता का संयोग। जिस प्रकार स्वबुद्धि के साथ द्रष्टा का दृश्यभाव में संयोग होकर उसके ऊपर अधिष्ठातृत्व होता है उसी प्रकार सर्वभाव के मूलस्वरूप में संयोग होकर अधिष्ठान ही सर्वभावाधिष्ठातृत्व होता है। इस विषय में श्रुति कहती हैं—**'आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वं विदितम्'** (बृहदा० २।४।५) अर्थात् पुरुष-दर्शन होनेपर सार्वज्ञ्य होता है। **'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति'** (छान्दोग्य ८।२।१) इत्यादि श्रुति में भी संकल्पसिद्धि की बात कही गई है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः, सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते।

तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

५०। उसमें (विशोकासिद्धि में) भी वैराग्य होने पर दोषवीज का क्षय होने से कैवल्य होता है। सू०

भाष्यानुवाद—क्लेशकर्म का क्षय होने पर योगी को ऐसी प्रज्ञा होती है कि यह विवेकप्रत्ययरूप धर्म बुद्धिसत्त्व का है, और बुद्धिसत्त्व भी हेय पक्ष में न्यस्त हुआ है। पुरुष अपरिणामी और शुद्ध है एवं सत्त्व से भिन्न है, तब उससे (बुद्धि धर्म से) विरज्यमान योगी के दग्ध शालिवीजों के समान प्रसव में असमर्थ क्लेश-वीज-समूह चित्त के साथ प्रलीन होते हैं। इनके प्रलीन होने पर पुरुष फिर इन तापत्रय का भोग नहीं करता है।

उस समय मन में स्थित, क्लेशकर्म-विपाकस्वरूप में परिणत गुणसमूह चरितार्थता के कारण प्रलीन होते हैं और इससे पुरुष का जो आत्यन्तिक गुणवियोग होता है, यही कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठ चिति-शक्तिरूप होता है (१)।

टीका ५० (१) यह विषय पहले भी व्याख्यात हुआ है। विवेकख्याति-द्वारा क्लेशकर्म सम्यक् क्षीण होकर दग्धबीज के समान अप्रसवधर्मा होते हैं। बाद में

'विवेक बुद्धिधर्म है अतः हेय है तथा बुद्धि तो स्वयं ही हेय है,' इस प्रकार पर-वैराग्य-रूप प्रज्ञा और हानेच्छा होती है। उससे विवेक, विवेकज ऐश्वर्य तथा उनकी अधिष्ठानस्वरूप बुद्धि इन सभी का हान या त्याग होता है। तब बुद्धि अदृश्य या प्रलीन होती है। अतएव गुण और पुरुष के संयोग का अत्यन्त विच्छेद होता है। यही पुरुष का कैवल्य है।

पूर्वोक्त सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व होने पर योगी ईश्वरसदृश हो जाते हैं। यह बुद्धि की सब से उत्कृष्ट अवस्था है। ऐसी उपाधि से युक्त पुरुष ही अर्थात् यह उपाधि और उसका द्रष्टा पुरुष, दोनों मिलकर 'महान् आत्मा' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इस उपाधिमात्र को 'महत्तत्त्व' भी कहा जाता है। इस अवस्था में रहने पर संसार में ही रहा जाता है, क्योंकि व्यक्त उपाधि व्यक्त जगत् में ही रहती है।

इस विषय पर यह श्रुति है—"**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः**" (बृहदा० ४।४।२२) इत्यादि। तथा च "**एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति, नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राट्**" (बृहदा० ४।४।२३) अर्थात् हे सम्राट् जनक जी ! समाधि द्वारा पाप-पुण्य के अतीत, आत्मज्ञ, विज्ञानमय (विज्ञाता नहीं), सर्वेशान, सर्वाधिपति, ब्रह्मलोक-स्वरूप होते हैं (अविचिकित्स=निःसंशय)। यही विवेकज सिद्धि से युक्त योगी का लक्षण है। आत्मा में आत्मा का अवलोकन करना पौरुषप्रत्यय है। विवेककाल में यह होता है, चित्तलय होने पर यह भी नहीं रहता। (सेतुर्विधरणः=लोक-धारण के लिए सेतु-स्वरूप)।

इसके उपर की अवस्था कैवल्य है, इसमें चित्त या विज्ञान (सर्वज्ञातृत्व आदि) प्रलीन होता है। यह लोकातीत है और अदृश्य, अव्यवहार्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य इत्यादि लक्षणों से श्रुति-द्वारा लक्षित है। ऐश्वर्य तथा सार्वज्ञ्य से अतीत जो तुरीय आत्मतत्त्व है उसमें स्थिति ही कैवल्य है। इस प्रकार के आत्मा का नाम 'शान्त आत्मा' या 'शान्तब्रह्म' अर्थात् शान्तोपाधिक आत्मा है। सांख्यगण शान्तब्रह्मवादी हैं।[1] आधुनिक वेदान्तीगण चिद्रूप आत्मा को

१. द्र० भोजवृत्ति, शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः (४।२२; ४।३३)। [सम्पादक]

ईश्वर कहकर[1] परमार्थतत्त्वको सङ्कीर्ण करते हैं, अतः वे सङ्कीर्ण-ब्रह्मवादी कहे जा सकते हैं। श्रुति है—'तद्यच्छेत् शान्त आत्मनि' (कठ उप० १।३।१३) यही सांख्यों की अन्तिम गति है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—चत्वारः खल्वमी योगिनः—प्रथमकल्पिकः, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति। तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः। ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कृतकर्त्तव्यसाधनादिमान्। चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः, सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते, भोरिह आस्यतामिह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान् भावयेत्। घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपः; तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः, स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनी कुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवन्निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितंमन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति, तथा चास्य छिद्रान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानु-

---

१. द्र० नहि नित्यमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञाद् ईश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते (शारीरकभाष्य २।३।३०); नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरात् जगज्जनिस्थितिप्रलयाः (शारीरक २।१।१४)। ऐश्वर्य त्रैगुणिक है, अतः चिद्रूप आत्मा स्वरूपतः ईश्वर नहीं है। ऐश्वर्य चित्त या बुद्धि का धर्म है, पुरुष चित्तातीत है। शंकराचार्य यद्यपि 'अविद्यात्मक-नामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य' कहते हैं तथापि उससे स्वामीजी-प्रोक्त दूषण खण्डित नहीं होता। [सम्पादक]

तम्भयिष्यति, ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढ़ो भविष्यति, भावनीयश्चार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

५१। स्थानियों (उच्चस्थान प्राप्त देवों) द्वारा निमन्त्रित होने पर फिर अनिष्टसम्भव होने के कारण उसमें संग अथवा स्मय नहीं करना चाहिए। सू०

भाष्यानुवाद—योगी चार प्रकार के हैं, यथा—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योतिः और अतिक्रान्तभावनीय। उनमें जिसका अतीन्द्रिय ज्ञान केवल प्रवर्तित हो रहा है उस प्रकार के अभ्यासी योगी प्रथम है; ऋतम्भरप्रज्ञ द्वितीय है। भूतेन्द्रियजयी तृतीय है, (इस प्रकार अवस्थावाले योगी सब साधे हुए (भूतेन्द्रियजय इत्यादि) विषयों में कृतरक्षा-बन्ध (अर्थात् वे विषय उनके आयत्तीकृत हैं) तथा साधनीय (विशोकादि से असंप्रज्ञात तक) विषयों में विहितसाधनयुक्त होता है। चतुर्थ जो अतिक्रान्तभावनीय है, उसका चित्तविलय ही एकमात्र (अवशिष्ट) पुरुषार्थ होता है। इसकी प्रान्तभूमि प्रज्ञा सात प्रकार की है।

इनमें मधुमती भूमि के साक्षात्कारी ब्रह्मवित् की सत्त्वशुद्धि देखकर स्थानीगण या देवगण उस स्थान के योग्य मनोरम भोग दिखाते हैं और (इस प्रकार) उपनिमन्त्रण करते हैं कि–हे (महात्मन्) यहाँ विराजिए, यहाँ रमिए, यह भोग कमनीय है, यह कन्या कमनीय है, यह रसायन जरा-मृत्यु को हटाता है, यह यान आकाशगामी, कल्पद्रुम, पुण्य मन्दाकिनी और सिद्ध महर्षिगण ये हैं। (यहाँ) उत्तम अनुकूल अप्सरा, दिव्य चक्षु-कर्ण, वज्रोपम शरीर हैं। आयुष्मन्! आपने अपने गुणों से इस सबको उपार्जित किया है, (अतः) आप प्राप्त कीजिए। ये अक्षय, अजर, अमर तथा देवों के प्रिय पदार्थ हैं।

इस प्रकार बुलाये जाने पर (योगी को निम्नलिखित रूप से) सङ्गदोष का चिन्तन करना चाहिए–'घोर संसार-अङ्गार में जलते-जलते और जन्ममरण अन्धकार में घूमते-घूमते मैंने क्लेशतिमिर-नाशक योगप्रदीप को किसी रूप से (बड़ी कठिनता से) प्राप्त किया है; यह तृष्णा-सम्भव विषय-पवन उसका (योगप्रदीप का) विरोधी है। आलोक पाकर भी मैं इस विषयमरीचिका से वञ्चित होकर फिर उस प्रदीप्त संसार-अग्नि का इन्धन कैसे बन सकता हूँ? हे स्वप्नोपम, कृपण- (कृपार्ह या दीन)-जन प्रार्थनीय विषयगण! तुम सब मजे में रहो—इस प्रकार निश्चितमति होकर समाधि की भावना करनी चाहिए।

सङ्ग-त्याग करने के बाद (इस प्रकार का) स्मय भी (आत्मप्रशंसा का भाव) नहीं करना चाहिए कि मैं ऐसे देवों का भी प्रार्थनीय हुआ हूँ। स्मय से अपने को सुस्थित समझने के कारण कोई भी व्यक्ति 'मृत्यु ने मेरे केश पकड़ रखे हैं' ऐसा चिन्तन नहीं करता; अतः नियमपूर्वक यत्न से

प्रतीकार के योग्य, छिद्रान्वेषी प्रमाद उसपर अधिकार पाकर क्लेशसमूह को प्रवल करता है। ऐसा होने पर फिर अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। उक्त प्रकार से सङ्ग तथा स्मय न करने से योगी का चिन्तित विषय दृढ़ होता है और चिन्तनीय बिषय अभिमुखीन होता है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ।

भाष्यम्—यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षणः; तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्त्ताहोरात्रादयः । स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी, क्रमश्च क्षणान्तर्यात्मा, तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः, क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसम्भवात्, पूर्वस्मादुत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः।

तस्माद् वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति, तस्मान्नास्ति तत्समाहारः । ये तु भूतभाविनः क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः । तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति, तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति॥ ५२॥

५२। क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति होती है। सू०

भाष्यानुवाद—जैसे अपकर्षकाष्ठाप्राप्त द्रव्य परमाणु (१) है वैसे अपकर्षकाष्ठाप्राप्त काल क्षण है। अथवा जिस काल में चलता हुआ परमाणु पूर्वदेश त्याग कर अगला देश प्राप्त करता है वह काल क्षण कहलाता है। उसके प्रवाह का अविच्छेद ही क्रम कहलाता है। क्षण और उसके क्रम में वास्तविक मिलित भाव नहीं है। मुहूर्त्त-अहोरात्र आदि बुद्धिसमाहारमात्र (काल्पनिक संगृहीत भाव) हैं। यह काल (२) वस्तुशून्य बुद्धिनिर्माण, शब्दज्ञानानुपाती है तथा यह व्युत्थितदृष्टि लौकिक व्यक्तियों के पास वस्तुस्वरूप की तरह अवभासित होता है।

परन्तु क्षण वस्तुपतित (वस्तुसम्बन्धी) और क्रमावलम्बी होता है, क्योंकि क्रम क्षणों का आनन्तर्यस्वरूप है। उसे कालविद् योगी काल कहते हैं

(३)। दो क्षण एक साथ वर्त्तमान नहीं होते। असम्भावित्व के कारण दोनों सहभूत क्षणों का समाहारक्रम नहीं रहता है। पूर्व से उत्तरभावी क्षण का जो आनन्तर्य है, वही क्रम है।

अतः एक ही क्षण वर्त्तमान काल है, पूर्व अथवा उत्तर क्षण वर्त्तमान नहीं है, और इसीलिए उनका (अतीत, वर्त्तमान तथा अनागत क्षण का) समाहार भी नहीं होता है। जो भूत तथा भविष्यत् क्षण हैं, वे परिणामान्वित हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिए (अर्थात् भूत तथा भविष्यत् क्षण केवल सामान्य—शान्त और अव्यपदेश्य—हैं, परिणामान्वित पदार्थमात्र हैं; फलतः अगोचर परिणाम को ही हम भूत और भावी क्षणयुक्त मानते हैं)। उस एक (वर्त्तमान) क्षण में समग्र विश्व परिणाम अनुभव करता है। (पूर्वोक्त) धर्म क्षणोपारूढ़ हैं। क्षण और उसके क्रम में संयम से उनका (उन दोनों में उपारूढ़ हुए धर्मों का) साक्षात्कार होता है, और उससे विवेकज ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

टीका ५२ (१) पहले ही कहा गया है कि तन्मात्रस्वरूप परमाणु शब्दादि गुणों की सूक्ष्मतम अवस्था है। जिससे और भी सूक्ष्म होने पर शब्दादिज्ञान का लोप हो जाता है अर्थात् सूक्ष्म होते-होते जहाँ विशेषज्ञान लोप पाकर निर्विशेष शब्दादि का ज्ञान रहता है, तादृश सूक्ष्म शब्दादि गुण ही परमाणु हैं। अतः परमाणु के अवयव का बोध नहीं किया जा सकता है। परमाणु जिस प्रकार सूक्ष्मतम शब्दादिगुणवान् द्रव्य या देश है, उसी प्रकार क्षण सूक्ष्मतम काल है। काल का परमाणु क्षण है; जिस काल में एक सूक्ष्मतम परिणाम योगियों को ज्ञानगोचर होता है, वही क्षण है। भाष्यकार ने उदाहरणात्मक लक्षण दिया है कि जिस समय परमाणु की देशान्तरगति लक्षित होती है, वही क्षण है। परमाणु का अंश पृथक् कर ज्ञातव्य नहीं है, अतः जब परमाणु अपने द्वारा व्याप्त समग्र देश को त्याग कर निकटस्थ देश में जाएगा तभी उसका गतिरूप परिणाम लक्षित होगा (उसी काल को क्षण कहते हैं)। परमाणु में जैसा अस्फुट देशज्ञान रहता है उसकी विक्रिया में भी वैसा अस्फुट देशज्ञान रहेगा।

परमाणु वेग से चले या धीरे-धीरे चले, जब उसके देशान्तर-परिणाम का ज्ञान होगा तब एक-ज्ञानव्याप्त वह काल ही क्षण है। जब तक परमाणु स्वपरिमाण देश का अतिक्रम नहीं करेगा तब तक उसमें कोई परिणाम लक्षित नहीं होगा (क्योंकि उसके परिणाम का अंशभूत देश पृथक् कर जानने के योग्य नहीं होता है)। अतएव परमाणु वेग से चले तो सभी क्षण लगातार

सूचित होंगे, और यदि धीरे चले तो रुक-रुक कर एक-एक बार में एक-एक क्षण सूचित होगा। पर क्षणावच्छिन्न काल एकपरिणामवान् ही रहेगा।

फलतः तन्मात्रज्ञान एक-एक-क्षणव्यापी ज्ञान का धारास्वरूप है। अथवा तन्मात्रिक ज्ञान-धारा के चरम अवयव रूप जो एक-एक परिणाम है उसका व्याप्तिकाल ही क्षण है। क्षण का जो आनन्तर्य अर्थात् क्रमिक अविच्छिन्न प्रवाह है, उसका नाम क्षणक्रम है।

रेखागणित के विन्दु के लक्षण के समान परमाणु का यह लक्षण भी विकल्पवृत्ति द्वारा कल्पित किया गया है, यह याद रखना चाहिए।

५२ (२) भाष्यकार ने यहाँ काल के बारे में अन्तिम सिद्धान्त कहा है। हम कहते हैं कि काल में ही सब भाव रहते हैं और रहेंगे। परन्तु 'काल है', ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि तब यह प्रश्न होगा कि काल किसमें हैं? परन्तु जो अवर्तमान है उसका नाम अतीत या अनागत होता है। अवर्तमान का अर्थ 'नहीं है'। अतः अतीत और अनागत काल नहीं हैं। फिर भी हम यह जो कहते हैं कि 'त्रिकाल हैं', वह विकल्पवृत्तिपूर्वक अवस्तु को शब्दमात्र से सिद्धवत् मानकर कहना है। अवास्तव पदार्थ का पद के द्वारा वास्तव के समान व्यवहार करना ही विकल्प होता है। काल भी वैसा पदार्थ है। दो क्षण वर्त्तमान नहीं होते। इसी कारण क्षणप्रवाह को एक समाहृत काल मानना कल्पनामात्र है अर्थात् बुद्धिनिर्माण मात्र है। 'काल है' यह कहने से 'काल काल में है' इस प्रकार का विरुद्ध, वास्तविक अर्थशून्य पदार्थ प्रतीत होता है। 'राम है' कहने से 'राम वर्त्तमान काल में है' जान पड़ता है। परन्तु 'काल है' कहने से क्या समझा जाएगा? उसमें पद के अर्थ के सिवाय और किसी वस्तु की सत्ता नहीं समझी जाएगी, क्योंकि काल का और अधिकरण नहीं होता है।

जैसे जिस स्थान पर कुछ नहीं है, उसे 'अवकाश' या देश या space कहते हैं; परन्तु किसी वस्तु के सिवाय जब 'स्थान' या देश का ज्ञान सम्भव नहीं होता है, तब 'स्थान' का अर्थ 'कुछ नहीं' होगा। यह अवास्तव, शब्दमात्र काल भी उसी प्रकार अधिकरण-वाचक शब्दमात्र है। शब्द के बिना काल-पदार्थ नहीं है। शब्द नहीं रहने से कालज्ञान नहीं रहता है। जो पदज्ञान से हीन है, वह परिणाम मात्र जानेगा, काल शब्द का अर्थ उसके पास अज्ञात रहेगा।

अतएव साधारण मनुष्यों के निकट काल 'वस्तु' प्रतीत होता है। शब्दार्थ-विकल्प की सङ्कीर्णता से अतीत ध्यान-विशेष से युक्त योगी के पास 'काल' पदार्थ नहीं रहता है।

५२ (३) योगीगण काल को वस्तु नहीं कहते हैं, केवल क्षण का क्रम कहते हैं और क्षण वास्तविक पदार्थ के परिणामक्रम का अवलम्बन करके अनुभूत हुआ

आधिकरणस्वरूप है। 'क्रमावलक्षी' पाठ भिक्षु-सम्मत है। इससे भी वही अर्थ निकलता है, अर्थात् क्षण वस्तु के परिणामक्रम से लक्षित पदार्थ है। मिश्रजी ने 'वस्तुपतित' का अर्थ 'वास्तव' किया है; इस वास्तव शब्द का अर्थ वस्तुसम्बन्धी है, क्योंकि क्षण वस्तु नहीं है, वस्तु का अधिकरणमात्र है।

अधिकरण का अर्थ कोई वस्तु नहीं, संयोगविशेष है। यथा—घट और हाथ का संयोगविशेष देखकर कहा जा सकता है कि घट में हाथ है या हाथ में घट है। परन्तु सचमुच घट घट में ही है, हाथ हाथ में ही है। अवकाश और काल या अवसर काल्पनिक अधिकरण हैं, अवकाश का अर्थ शून्य है, अवसर का भी वही अर्थ है।

वस्तु का अर्थ है 'जो है'। है=वर्त्तमान काल; अतएव वर्त्तमान काल ही वस्तु का अधिकरण है। अतीत तथा अनागत पदार्थ के विषय में 'था और रहेगा' कहते हैं, अतः अतीत तथा अनागत काल 'वस्तु' के अधिकरण नहीं हैं। अतीत और अनागत वस्तुएँ सूक्ष्मरूप से हैं, ऐसा कहने से वर्तमान क्षण ही उनका अधिकरण हो जाता है। इसी से भाष्यकार ने कहा है कि **'क्षणस्तु वस्तुपतितः'**। यहाँ पर व्याकरण की विभक्ति के भेदानुसार ही विकल्पमात्र होता है। इनमें एक भावपदार्थ का अधिकरण रूप विकल्प है और दूसरा अभाव का अधिकरण रूप 'विकल्प का विकल्प' है, अतः यह कुछ जटिल है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'क्षण वस्तुपतित है' इसमें 'क्षण' में प्रथमा विभक्ति है; पर 'क्षण में वस्तु है' इसमें 'क्षण' में सप्तमी विभक्ति है। वस्तु वर्तमान काल में है या वह वर्तमान है—इसमें भाव पदार्थ का अधिकरण कल्पना रूप विकल्प है, क्योंकि अधिकरण कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अतीत और अनागत पदार्थ को 'था' या 'है' कहना विकल्प का विकल्प है।

अतीत और अनागत क्षण अवर्त्तमान वस्तु के या अवस्तु के अधिकरण हैं अर्थात् वे अलीक पदार्थ हैं; और वर्तमान क्षण वस्तु का अधिकरण है, यह भेद जानना चाहिए। यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब अतीत-अनागत वस्तुएँ हैं तब उनका अधिकरण अवस्तु का अधिकरण कैसे होगा ? 'है' कहने से वर्त्तमान कहा जाता है, और यदि ऐसा है तो वह वर्त्तमान क्षण में ही है। अतः एकमात्र वर्तमान क्षण ही वस्तु का अधिकरण या वास्तविक अधिकरण है। उसी से सभी पदार्थ परिणाम अनुभव कर रहे हैं। परिणाम असंख्य होने के कारण क्षण के असंख्य काल्पनिक भेद (अर्थात् असंख्य क्षण रहते हैं—इस प्रकार की कल्पना) तथा उन क्षणों का काल्पनिक वस्तुसमाहार करके हम कहते हैं कि काल अनादि-अनन्त है।

हमारी संकुचित ज्ञानशक्ति से जो ज्ञानगोचर नहीं होता है, उसी को अतीत या अनागत कहते हैं। अतीत और अनागत धर्मों का अर्थ है वर्तमान में ज्ञान का विषयीभूत न होना। जिनकी ज्ञानशक्ति सम्यक् आवरणशून्य है, उनके पास अतीत तथा अनागत नहीं हैं, सभी वर्त्तमान होते हैं। अतः वर्तमान एक क्षण ही वास्तव या वस्तु का अधिकरण है। उस क्षण में या क्षणव्यापी वस्तुधर्म में तथा उसके क्रम में अर्थात् क्षणावच्छिन्न काल में द्रव्य का जो परिणाम होता है उसकी धारा में संयम करने पर भी विवेकज ज्ञान होता है। द्रव्य का सूक्ष्मतम परिणाम तथा उसकी धारा में संयम करने पर भी विवेकज ज्ञान होता है। द्रव्य का सूक्ष्मतम परिणाम तथा उसकी धारा जानने पर सूक्ष्मतम भेदज्ञान होता है। आगे के सूत्र में जो कहा गया है वही विवेकज ज्ञान या ४९ सूत्रोक्त सर्वज्ञातृत्व है।

काल के विषय में अन्य मत भी हैं; जैसे, न्यायवैशेषिक मत में (न्यायमञ्जरी आह्निक २)—**'यदि त्वेको विभुर्नित्यः कालो द्रव्यात्मको मतः'** अर्थात् काल एक विभु नित्य द्रव्य है। किसी के मत में काल इन्द्रियग्राह्य है; वे कहते हैं—**'न चानुद्घाटिताक्षस्य क्षिप्रादिप्रत्ययोदयः। तद्भावानुविधानेन तस्मात् कालस्तु चाक्षुषः। तस्मात् स्वतन्त्रभावेन विशेषणतयापि वा। चाक्षुषज्ञानगम्यं यत्तत्प्रत्यक्षमुपेयताम्। अप्रत्यक्षत्वमात्रेण न च कालस्य नास्तिता। युक्ता पृथिव्यधोभागचन्द्रमःपरभागवत्॥'** अर्थात् आँखें मुदीं रहने से चिरक्षिप्रादि प्रत्यय नहीं होते। आँखें खुली रहने से ही उस प्रकार का प्रत्यय होने के कारण काल चाक्षुष द्रव्य होता है और जो स्वतन्त्र भाव से या विशेषण भाव से अर्थात् गुणरूप से चाक्षुष ज्ञानगम्य होता है हम उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। कोई वस्तु अप्रत्यक्ष होने पर भी वह वस्तु नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। पृथ्वी का अधोभाग, चन्द्रमा का पश्चाद्भाग अप्रत्यक्ष होने पर भी असत् पदार्थ नहीं हैं।

इसके उत्तर में कहा जाता है—**"न तावद् गृह्यते कालः प्रत्यक्षेण घटादिवत्। चिरक्षिप्रादिबोधोऽपि कार्यमात्रावलम्बनः॥ न चामुनैव लिङ्गेन कालस्य परिकल्पना। प्रतिबन्धो हि दृष्टोऽत्र न धूमज्वलनादिवत्॥ प्रतिभासातिरेकस्तु कथंचिदुपपत्स्यते। प्रचितां काञ्चिदाश्रित्य क्रियाक्षणपरम्पराम्॥ न चैष ग्रहनक्षत्रपरिस्पन्दस्वभावकः। कालः कल्पयितुं युक्तः क्रियातो नापरो ह्यसौ॥ मुहूर्त्तयामाहोरात्रमासर्त्त्वयनवत्सरैः। लोके काल्पनिकैरेव व्यवहारो भविष्यति॥ यदि त्वेको विभुर्नित्यः कालो द्रव्यात्मको मतः। अतीतवर्त्तमानादिभेदव्यवहृतिः कुतः॥"**

अर्थात् घटादि की भाँति काल प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं होता है। चिरक्षिप्रादिबोध (जिन्हें देखकर काल को चाक्षुष कहते हैं, वह भी) कार्यमात्र

का अवलम्बन करके उद्भूत होते हैं या वे द्रुत तथा अद्रुत क्रिया के नामान्तर हैं। यदि कहो कि धूम से जिस प्रकार सत् अग्नि की कल्पना की जाती है उसी प्रकार उस क्रिया से सत् काल की परिकल्पना होती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि धूम और अग्नि दोनों ही सद्वस्तु हैं, अतः उनका दृष्टान्त यहाँ नहीं लगता है अर्थात् धूम और अग्नि का जैसा प्रतिवन्ध या व्याप्ति है यहाँ पर वैसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि–काल जो सत् है वही प्रमेय है पर धूम और अग्नि के दृष्टान्त से अग्नि की सत्ता प्रमेय नहीं होती परन्तु धूमदण्ड के नीचे सत् अग्नि की स्थिति ही प्रमेय होती है। अतः क्रिया से अतिरिक्त काल है—यह प्रतिभास या मिथ्या कल्पनामात्र है। वह प्रचित-क्रियापरम्परा लेकर किसी प्रकार किया जाता है।

ज्योतिषशास्त्र के मत में काल ग्रह-नक्षत्र का परिस्पन्द-स्वभावक है। इस प्रकार के स्वतन्त्र काल की कल्पना करना भी युक्त नहीं होता, क्योंकि वह क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, वत्सर इन सबों को कल्पना व्यवहार के लिए लोग करते हैं। यदि एक विभु नित्यद्रव्यरूप काल रहता तो अतीत-वर्त्तमान-अनागत-भेद का व्यवहार कैसे हो सकता ? कारण यह कि—**"तत्काले सन्निधिर्नास्ति क्षणयोर्भूतभाविनोः। वर्त्तमानक्षणश्चैको न दीर्घत्वं प्रपद्यते। न ह्यसन्निहितग्राहि-प्रत्यक्षमिति वर्णितम्।"** अर्थात् भूत, वर्त्तमान और भविष्य काल एक ही समय पर नहीं रहते हैं या उनकी सन्निधि नहीं है तथा एक वर्त्तमान क्षण दीर्घता नहीं पाता है। असन्निहित वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होतो है। अतः असन्निहित या अवर्त्तमान जो अतीत और अनागत क्षण है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता है। **"वर्त्तमानः कियान् काल एक एव क्षणस्ततः।" "न ह्यस्ति कालावयवी नाना-क्षणगणात्मकः। वर्त्तमानक्षणो दीर्घ इति वालिशभाषितम्।"** अर्थात् वर्त्तमान काल कितना परिमाण वाला है, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि एक वह क्षणमात्र है। अतएव नाना-क्षणात्मक अवयवी काल अवर्त्तमान पदार्थ है, क्योंकि अज्ञ लोग ही यह कह सकते हैं कि वर्त्तमान कोई एक क्षण दीर्घता प्राप्त करता है। क्षण अणु काल है, वह दीर्घ होता है–यह कहना नितान्त अयुक्त है। **'सर्वथेन्द्रियजं ज्ञानं वर्त्तमानैकगोचरम्। पूर्वापरदशास्पर्शकौशलं नावलम्बते॥'** अर्थात् इन्द्रियज ज्ञान सम्यक् रूप से केवल वर्त्तमान गोचर है, वह कभी भी पूर्व तथा पर इस प्रकार की दशा को स्पर्श नहीं करता। सुतरां पूर्व तथा पर काल वर्त्तमान या सत् वस्तु के अधिकरण हो नहीं सकते हैं। यदि अतीत वस्तु है यह कहा जाए तो अतीत अतीत नहीं रहता, वर्त्तमान हो जाता है; अथच एक मात्र क्षण ही वर्त्तमान काल होता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि कालविषयक स्थिर बुद्धि से या कालज्ञान से एक विभु काल सिद्ध होता है; "तेन बुद्धिस्थिरत्वेऽपि स्थैर्यमर्थस्य दुर्वचम्"—क्योंकि बुद्धि की स्थिरता रहने पर भी विषय की स्थिरता है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक बुद्धि की भी दीर्घकाल तक स्थिति नहीं रहती, अतः उसका जो विषय है उसकी भी अतीतानागत-रूप कोई वास्तव एवं व्यापी स्थिति नहीं रहती है।

इस प्रकार काल को जिन्होंने वस्तु कहा है उनका मत खण्डित हो जाता है और इस सांख्यमत की स्थापना होती है कि काल विकल्प-ज्ञान-मात्र है।[1]

———

भाष्यम्—तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

तुल्ययोः देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुः, गौरियं वडवेयमिति। तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरम्, कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति। द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद् देशभेदोऽन्यत्वकरः—इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति। यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः; असन्दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यम्, इत्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिः विवेकजज्ञानादिति। कथम्, पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणदेशाद् भिन्नः। ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति।

एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात् तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति।

अपरे तु वर्णयन्ति येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति। तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्ति-व्यवधि-जातिभेदश्चान्यत्वहेतुः। क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति, अत उक्तम्—"मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्" इति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

भाष्यानुवाद—विवेकज्ञान का विशेष-विषय प्रदर्शित हो रहा है—

५३। जाति, लक्षण तथा देशगत भेद का अवधारण न होने के कारण जो पदार्थ तुल्यरूप से प्रतीयमान होते हैं, ऐसे पदार्थों की भी भिन्नता की प्रतिपत्ति उससे (विवेकज ज्ञान से) होती है (१)। सू०

---

१. काल के विषय में सांख्यीय दृष्टि को जानने के लिए ग्रन्थकारकृत 'काल और देश वा अवकाश' शीर्षक निबन्ध परिशिष्ट में द्रष्टव्य है। [सम्पादक]

देश और लक्षण की समानता के कारण तुल्य हैं, ऐसी दो वस्तुओं की भिन्नता का कारण जातिभेद होता है; यथा यह गौ है, यह वड़वा (घोटकी) । देश और जाति तुल्य होने पर लक्षण से भेद होता है; जैसे, कालाक्षी गौ तथा स्वस्तिमती गौ । जाति तथा लक्षण के सारूप्य के कारण तुल्य हैं, ऐसे दो आँवलों की भिन्नता का कारण देशभेद ही है । जैसे, यह पूर्वदेश में है और यह पर देश में है । (पहले पीछे के दो आँवलों में) जव पहले आँवले को ज्ञाता व्यक्ति के अन्यमनस्क होने पर (अर्थात् ज्ञाता से छिपा कर) पीछे वाले आँवले के देश में (अर्थात् पीछेवाला आँवला जहाँ था वहाँ) उपस्थापित किया जाए, तो यह पहला है, यह पिछला है, ऐसा जो भेदज्ञान होता है वह तुल्यदेश के कारण साधारणतया नहीं होता; पर तत्त्वज्ञान को सदैव असन्दिग्ध ही होना चाहिये । अतः (सूत्र में) उक्त हुआ है 'उससे अर्थात् विवेकजज्ञान से प्रतिपत्ति होती है । कैसे ?—पहले आँवलों के साथ सम्बद्ध क्षणिक-परिणाम युक्त देश पिछले आँवले के साथ सम्बद्ध क्षणपरिणाम युक्त देश से भिन्न है । (अतः) दो आँवले अपने-अपने देश के साथ क्षणिक-परिणाम-अनुभव द्वारा भिन्न होते हैं । पहले के भिन्न-देश-परिणाम-विशिष्ट क्षण का अनुभव ही (ज्ञाता को छिपा कर देशान्तर प्राप्त) दो आँवलों में भिन्नताविवेक का कारण है ।

इस (स्थूल) दृष्टान्त से यह समझा जाता है कि दो परमाणुओं की जाति, लक्षण तथा देश तुल्य होने पर (उनमें) पूर्व परमाणु के देश-सहगत क्षणिक परिणाम के साक्षात्कार के कारण तथा उत्तर परमाणु में उस पूर्व परमाणु के देशसहगत क्षणिक परिणाम न पाने के कारण (इसलिए उन दोनों में देशसहगत क्षणभेद के कारण), उत्तर परमाणु का क्षणयुक्त देशपरिणाम भिन्न है । अतः योगीश्वर को (उन दोनों परमाणुओं का भी) भिन्नताविवेक होता है ।

अन्यों का (वैशेषिकों का) कहना है कि जो अन्त्य विशेष हैं वे ही भिन्नताप्रत्यय कराते हैं । उनके मत में भी देश तथा लक्षण का भेद और मूर्तिभेद, व्यवधिभेद (२) तथा जातिभेद अन्यता के हेतु हैं । क्षणभेद ही (चरम भेद होता है, वह) केवल योगी की बुद्धि से ज्ञात होता है । अतएव वार्षगण्य आचार्य ने कहा है कि 'मूर्तिभेद, व्यवधिभेद और जातिभेद न रहने के कारण मूलद्रव्य (अव्यक्त प्रधान) में पृथक्त्व नहीं रहता है ।'

टीका ५३ (१) स्थूल दृष्टि से बहुत-सी चीजें समानाकार दीख पड़ती हैं । उनके भेद हम समझ नहीं सकते । जैसे कि दो नये पैसों में हेर-फेर कर देने से कौन पहला है और कौन दूसरा, यह नहीं समझा जा सकता । परन्तु

अनुवीक्षण से दोनों को देखने पर उनमें ऐसा प्रभेद देखा जा सकता है कि जिससे पहले और दूसरे का निर्णय हो सके।

विवेकज ज्ञान भी इसी प्रकार का है। इसके द्वारा सूक्ष्मतम भेद लक्षित किया जा सकता है। क्षण में जो परिणाम होता है, वही सूक्ष्मतम भेद माना जाता है। इससे सूक्ष्मतर भेद और नहीं है। विवेकज ज्ञान इसी सूक्ष्मतम भेद का ज्ञान है।

भेदज्ञान तीन प्रकार से होता है—जातिभेद से, लक्षणभेद से और देशभेद से। यदि ऐसी दो वस्तुएँ हों जिनमें उस प्रकार के जात्यादि-भेद ज्ञान-गोचर नहीं होते, तो साधारण दृष्टि से उनके भेद नहीं जाने जाते। विवेकज ज्ञान से यह भेद जाना जाता है।

मान लो, दो तोल में बराबर, एक-से सोने के गोले हैं। एक पहले तैयार हुआ है और दूसरा बाद में। जहाँ पहला गोलक था वहाँ पीछे वाला रखा गया। साधारण प्रज्ञा में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह यह कह सके कि यह गोलक पहला है या पीछे वाला, क्योंकि उनमें जातिभेद, लक्षणभेद और देशभेद नहीं है। पीछेवाला पहले के साथ एकजातीय, एकलक्षणयुक्त तथा एकदेशस्थित है। विवेकज ज्ञान द्वारा यह भेद लक्षित होता है। पिछले गोले की अपेक्षा पहले ने अनेकक्षणावच्छिन्न परिणाम अनुभव किया है। योगी इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि यह पहला है या पिछला। यह विषय भाष्यकार ने उदाहरण देकर समझाया है। जो द्रव्य जिस स्थान पर जब तक रहता है तब तक उस स्थान पर उसका जो परिणाम होता है, वह देशसहगत क्षणिक परिणाम है।

परन्तु योगी इसके द्वारा आँवले अथवा सुवर्ण-गोलक का भेद नहीं समझना चाहते हैं; वे तत्त्वविषयक सूक्ष्मभेद या परमाणुगत भेद जान कर तत्त्वज्ञान अथवा त्रिकालादिज्ञान का लाभ करते हैं। अगले सूत्र में यह कहा गया है।

५३ (२) मतान्तर[1] में अन्तिम विशेषों या भेदक धर्मों से भेदज्ञान होता

---

१. यह 'मतान्तर' वैशेषिकमत है। वैशेषिकों का कहना है कि परमाणुगत इस विशेष नामक धर्म के कारण ही परमाणुओं में परस्पर भेद सिद्ध होता है। यह विशेष नामक धर्म स्वतः व्यावृत्त है (एक दूसरे से स्वतः पृथक्रूप से प्रतीत होता है)। यह विशेष प्रायः 'अन्त्य विशेष' कहलाता है, क्योंकि यह अन्त्य = परमाणुगत (अन्त = नित्य अर्थात् परमाणु)। अपने आश्रय को अन्य से पृथक् करना ही विशेष नामक धर्म का मुख्य कार्य है (इसलिए यह विशेष कहलाता है)। इस विशेष के बिना परमाणुओं में भेदज्ञान योगी को भी नहीं हो सकता—यह वैशेषिकगण कहते हैं। **[सम्पादक]**

है। इस मत में भी सूत्रोक्त तीन प्रकार के भेदक हेतु ही आते हैं। क्योंकि इस मतवाद के आचार्य भेदक अन्त्य विशेष को देशभेद, व्यवधिभेद, जातिभेद तथा मूर्तिभेद, कहते हैं। टीकाकारों के मत में मूर्त्ति का अर्थ संस्थान अथवा शरीर होता है। इस अर्थ की अपेक्षा मूर्त्ति का अर्थ यदि शब्द-स्पर्शादि तथा अन्य धर्मों की (जैसे कि अन्तःकरण) विशेष अवस्था लिया जाए तो ठीक होता है। व्यवधि=आकार। ईंट का चक्षु द्वारा ग्रहणयोग्य जो विशेष वर्ण है, जो वाक्य से सम्यक् प्रकाशित नहीं हो सकता, वही उसकी मूर्त्ति है और उसका इन्द्रियग्राह्य आकार व्यवधि है।

मूर्त्ति-आदि भेद लोकबुद्धिगम्य हैं, किन्तु क्षणभेद योगीबुद्धिगम्य होते हैं। क्षण से भी सूक्ष्म अन्त्य विशेष नहीं है। क्षणगत भेद ही चरम भेद है। वार्षगण्य आचार्य ने कहा है कि मूर्त्ति आदि भेद नहीं रहने के कारण मूल में पृथक्त्व नहीं है; अर्थात् प्रधान में कोई स्वगत भेद नहीं है। अव्यक्त अवस्था में या गुणों की स्वरूप-अवस्था में सभी भेद अस्तमित होते हैं। अर्थात् क्षणावच्छिन्न जो परिणाम होता है, वही सूक्ष्मतम भेद है। उस प्रकार के क्षणिकभेदज्ञान (प्रत्यय) बुद्धि की सबसे सूक्ष्म अवस्था है। उससे ऊपर के सूक्ष्मपदार्थ की उपलब्धि नहीं होती है। अतः वह अव्यक्त है। अव्यक्त जब गोचर नहीं होता है, तब उसमें भेदज्ञान होने की सम्भावना नहीं है, अतः अव्यक्तरूप मूल में वस्तु का पृथक्त्व कभी कल्पनीय नहीं होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

भाष्यम्—तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः; सर्वविषयं नास्य किञ्चिद् अविषयीभूतमित्यर्थः। सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः; अक्रममिति एकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्, अस्यैवांशो योगप्रदीपः, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५४ ॥

५४। विवेकज ज्ञान तारक, सर्वविषय, सर्वथाविषय तथा अक्रम है। सू०

भाष्यानुवाद—तारक अर्थात् स्वप्रतिभा से उत्पन्न, अनौपदेशिक। सर्वविषय अर्थात् उसके अविषयीभूत कुछ भी नहीं है। सर्वथाविषय अर्थात् अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी विषयों के अवान्तर विषयों के साथ सर्वथा ज्ञान होता है। अक्रम अर्थात् एक ही क्षण में बुद्धि में आए हुए सर्वविषयों का सर्वथा ग्रहण होता है। वह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण है। योगप्रदीप भी (प्रज्ञालोक) (१) इस

विवेकज ज्ञान का अंश-स्वरूप है; यह मधुमती या ऋतंभरा-प्रज्ञावस्था से आरम्भ कर परिसमाप्ति या सप्त प्रान्तभूमि प्रज्ञा तक स्थित है।

टीका ५४ (१) योगप्रदीप=प्रज्ञालोकयुक्त योग या अपर-प्रसंख्यानरूप संप्रज्ञात। विवेकख्याति भी सम्प्रज्ञात योग है, उसे परम-प्रसंख्यान कहा जाता है। १।२ सूत्र का भाष्य देखिए। प्रसंख्यान द्वारा क्लेश दग्धबीजकल्प होते हैं। और परम-प्रसंख्यान से चित्त प्रलीन होता है। विवेकजज्ञान प्रज्ञा की परिपूर्णता है। प्रसंख्यान-रूप योगप्रदीप उसका प्रथमांशभूत है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा ही अपर-प्रसंख्यान है, इसके अर्थात् मधुमती भूमि के बाद से चित्त-प्रलय तक चित्त विवेक-द्वारा अधिकृत रहता है।

भाष्यम्—प्राप्तविवेकजज्ञानस्याप्राप्तविवेकजज्ञानस्य वा—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति। तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा। न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति, सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यञ्च ज्ञानञ्चोपक्रान्तम्।

परामार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्त्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः, चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जले सांख्यप्रवचने वैयासिके विभूतिपादस्तृतीयः।

भाष्यानुवाद—विवेकजज्ञान प्राप्त करने से अथवा प्राप्त नहीं करने से भी—

५५। बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष का शुद्धि द्वारा साम्य (शुद्ध्या साम्यं=शुद्धि-साम्यम्) होने पर कैवल्य होता है (१)। सू०

जब बुद्धिसत्त्व रजस्तमोमल से शून्य, पुरुष की पृथक्त्वख्याति-मात्र क्रिया से युक्त, दग्धक्लेशबीज होता है, तब वह (बुद्धिसत्त्व) शुद्धता के कारण पुरुष के समान होता है। उस काल के औपचारिक भोग का अभाव ही पुरुष की शुद्धि है। इस अवस्था में ईश्वर अथवा अनीश्वर, विवेकजज्ञानभागी अथवा विवेकज-ज्ञानहीन सभी का कैवल्य होता है। क्लेशबीज दग्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति

के विषय में कोई अपेक्षा नहीं रहती। सत्त्वशुद्धि द्वारा इन सब समाधिज ऐश्वर्यों का तथा ज्ञान का होना कहा गया है।

परमार्थतः (२) ज्ञान (विवेकख्याति) द्वारा अदर्शन निवृत्त हो जाता है, इसकी निवृत्ति होने पर उत्तर काल में और क्लेश नहीं रहता है। क्लेशाभाव से कर्म-विपाक का अभाव होता है और उस अवस्था में गुणसमूह चरितार्थ होकर फिर पुरुष के दृश्यरूप से उपस्थित नहीं होते हैं। यही पुरुष का कैवल्य है; इस अवस्था में पुरुष स्वरूपमात्रज्योति, अमल तथा केवली होता है।

श्रीपातञ्जल योगशास्त्रीय वैयासिक सांख्यप्रवचन के विभूतिपाद का अनुवाद समाप्त।

टीका ५५ (१) विवेकख्याति कैवल्य का साधक है; परन्तु विवेकज सिद्धिरूप तारकज्ञान कैवल्य का साधक नहीं होता है, बल्कि विरुद्ध होता है। अतः विवेकजज्ञान का साधन न करने पर भी कैवल्य होता है। २।४३ (१) द्रष्टव्य है। विवेकज ज्ञान शब्द से ३।५४ सूत्रोक्त सिद्धि और विवेकख्याति (द्र० भाष्य ४।२६) दोनों का ही बोध होता है।[1]

बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की शुद्धि और साम्य या सादृश्य होने पर कैवल्य-सिद्धि होती है। बुद्धि और पुरुष की यह शुद्धि तथा साम्य कैवल्य नहीं होते। परन्तु वे कैवल्य के हेतु होते हैं। बुद्धिसत्त्व के शुद्धि-साम्य का अर्थ है—शुद्ध पुरुष के साथ सादृश्य। पूर्वोक्त पौरुष प्रत्यय या 'मैं पुरुष हूँ' इस प्रकार के ज्ञानमात्र में चित्त प्रतिष्ठित होने पर बुद्धि या 'मैं' पुरुष की भाँति होती है। अतः पुरुष जिस प्रकार शुद्ध या निःसंग है, बुद्धि भी उस प्रकार की होती है। यही बुद्धिसत्त्व की शुद्धि और पुरुष के साथ उसका साम्य है। इस अवस्था में रजस्तमोमल से भी बुद्धिसत्त्व की सम्यक् शुद्धि होती है। यही विशुद्ध सत्त्व है। पुरुष स्वभावतः शुद्ध तथा स्वरूपस्थ है, अतः उसकी शुद्धि और साम्य औपचारिक है, प्रकृत नहीं। मेघ से मुक्त सूर्य को जिस प्रकार शुद्ध कहा जाता है, उसी प्रकार पुरुष की शुद्धि समझिए। पुरुष की अशुद्धि का अर्थ है—भोग के साथ संग। उपचरित भोग न होने से ही पुरुष शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है और पुरुष के असाम्य का अर्थ है—बुद्धि या वृत्ति के साथ

---

१. ग्रन्थकार का आशय यह है कि 'विवेकज' शब्द पारिभाषिक भी है, यौगिक भी। पारिभाषिकरूप में इसका प्रयोग ३।५४ में एवं यौगिक के रूप में इसका प्रयोग ४।२६ भाष्य में है। **[सम्पादक]**

उसका सारूप्य। वृत्ति प्रलीन होने पर पुरुष को स्वरूपस्थ कहते हैं। पुरुष के साम्य का अर्थ है निज के साथ साम्य या सादृश्य।

बुद्धि जब पुरुष की भाँति होती है तब उसकी निवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक दृष्टि से कहना होगा कि बुद्धि के समान प्रतीयमान पुरुष उस समय निज के समान प्रतीत होते हैं। यही कैवल्य है। कैवल्य का अर्थ है 'केवल' पुरुष का रहना और बुद्धि की निवृत्ति होना। अतः कैवल्य में पुरुष में कुछ अवस्थान्तर नहीं होता है, बुद्धि का ही प्रलय होता है।

५५ (२) परमार्थ का अर्थ है—दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति। परमार्थ-साधन के विषय में विवेकजज्ञान एवं उससे उत्पन्न अलौकिक शक्ति की अर्थात् ऐश्वर्य की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि अलौकिक ज्ञान तथा ऐश्वर्य द्वारा दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती है। अविद्या या अज्ञान दुःखमूल है, उसका नाश ज्ञान या विवेकख्याति द्वारा होता है; ऐसा होने पर चित्त प्रलीन होता है, अतः दुःख का आत्यन्तिक वियोग होता है। यही परमार्थसिद्धि है।

तीसरा पाद समाप्त

कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

भाष्यम्—देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः; ओषधिभिः—असुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि; मन्त्रैः—आकाशगमनाणिमादिलाभः; तपसा—संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि । समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

१ । सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन पाँच उपायों से उत्पन्न होती हैं । सू०

भाष्यानुवाद—देहान्तरग्रहणकाल में उत्पन्न सिद्धि जन्म-द्वारा निष्पन्न होती हैं । ओषधियों द्वारा भी सिद्धि होती है, जैसे कि असुरभवन में रसायन द्वारा होती है । मन्त्र द्वारा आकाशगमन तथा अणिमादि सिद्धियों का लाभ होता है । तपस्या द्वारा संकल्पसिद्धि (यथा), कामरूपी होकर जहाँ तहाँ इच्छामात्र आ-जा सकने आदि की सिद्धियाँ । समाधिजात सिद्धियाँ व्याख्यात हो चुकी हैं (१) ।

टीका १ (१) पूर्वोक्त सिद्धियों में एक या अनेक, कभी-कभी योग के अतिरिक्त अन्य उपाय से भी प्रादुर्भूत होती हैं । किसी को जन्म के साथ ही अर्थात् विशेष प्रकार के शरीरधारण के साथ ही सिद्धि प्रादुर्भूत होती है । जैसे प्रकृतिविशेष के द्वारा इस लोक में क्लेयरवायंस (Clairvoyance) या दिव्य-दृष्टि और परचित्तज्ञता आदि प्रादुर्भूत होती हैं । योग के साथ इन जन्मजात सिद्धियों का कुछ सम्पर्क नहीं है । उसी प्रकार पुण्यकर्मफल से दैवशरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती हैं । **'वनौषधि-क्रियाकालमन्त्रक्षेत्रादि-साधनात् ।······अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयोऽसाधनोद्भवाः । साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि ॥'** (योगबीज १७४-१७५) ।[१]

ओषधि-द्वारा भी सिद्धि प्रादुर्भूत होती है । क्लोरोफ़ार्म आदि सूँघने से किसी किसी का शरीर जड़ीभूत होने पर शरीर से बाहर निकलने की क्षमता होती है । सभी अङ्गों में Hemlock[२] आदि औषध पोतने पर भी शरीर के बाहर जाने

---

१. ये श्लोक स्वल्पपाठभेद के साथ योगशिखोपनिषद् (१५२–१५३) में भी मिलते हैं । [संपादक]

२. यह एक विषाक्तलता है (द्र० Modern Cyclopedia vol. IV, p. 390) । औषध के रूप में इसके रस का प्रयोग किया जाता है । [संपादक]

की क्षमता होती है, ऐसा सुना जाता है। भाष्यकार ने असुरभवन का उदाहरण दिया है। वह कहाँ है, इस विषय में आजकल आदमियों को कोई ज्ञान नहीं है। फलतः औषध-द्वारा शरीर के किसी रूप में परिवर्तित होने पर कई क्षु[illegible] सिद्धियाँ प्रादुर्भूत[1] हो सकती हैं, यह निश्चित है। पूर्वजन्मार्जित जपादि-जनि[illegible] उपयुक्त सिद्धप्रकृति का कर्माशय संचित रहने पर मन्त्रजप द्वारा इच्छाशक्ति प्रबल होती है और वशीकरण (मेस्मेरिज्म्) आदि सिद्धियाँ इसी जन्म में प्रादुर्भूत हो सकती हैं।

उत्कट तपस्या के द्वारा भी उसी रूप से उत्तम सिद्धियाँ हस्तगत हो सकती हैं, क्योंकि, उनमें इच्छाशक्ति की प्रबलता से शरीर का परिवर्तन हो सकता है तथा उससे पूर्वसंचित शुभ कर्माशय फल के लिए उन्मुख होता है।

योग के अतिरिक्त इन सब उपायों से भी सिद्धि हो सकती है। जन्मज आदि सिद्धियाँ जन्म, ओषधि आदि निमित्तों द्वारा उद्घाटित कर्माशय से आविर्भूत होती हैं।

भाष्यम्—तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद् भवति। कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

भाष्यानुवाद—उसमें भिन्न जाति में परिणत कायेन्द्रियादि का—

२। जात्यन्तर-परिणाम प्रकृति के आपूरण से होता है। सू०

उनमें जो पूर्वपरिणाम का नाश और उत्तर परिणाम का आविर्भाव है, वह अपूर्व (पूर्व जैसे न हो अर्थात् उत्तर के अनुकूल हो) अवयव के अनुप्रवेश से

---

१. चरक-सुश्रुत में औषधि-प्रसंग में दिव्य ओषधियों का उल्लेख मिलता है। इन ओषधियों के प्रयोगविशेष से असाधारण शक्ति का विकाश होना सर्वथा संभव है। असुरभवन के विषय में स्वामीजी का कहना व्यवहारतः ठीक ही है। असुरों के साथ ओषधि का घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिककाल से प्रसिद्ध रहा है—'असुर्या वा एता यद् ओषधयः' आदि वाक्यों का ऐतिहासिक तात्पर्य भी ऐसा ही है। असुरों के गुरु शुक्राचार्य दिव्यौषधि-विशेषज्ञ थे—ऐसा कई पुराणों में स्पष्टतया कहा गया है। पुराणों के अनुसार मायाशील दानव और बलशाली दैत्यों का सामूहिक नाम असुर है ''इत्येते त्वसुराः प्रोक्ता दैतेया दानवाश्च ये'' (वायुपुराण)। (इस विषय पर विशद विचार के लिये मेरे प्रकाशनीय Vyāsabhāṣya—A Study ग्रन्थ द्र०)। [सम्पादक]

होता है। कायेन्द्रिय की प्रकृतियाँ आपूरण या अनुप्रवेश के द्वारा स्व स्व विकार का अनुग्रहण करती हैं (१)। (अनुप्रवेश में प्रकृतियाँ) धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा करती हैं।

टीका २ (१) मनुष्यों में जिस प्रकार के शक्तिसम्पन्न इन्द्रिय-चित्तादि देखे जाते हैं वे मानुषप्रकृतिक कहे जाते है। उसी प्रकार देवप्रकृतिक, निरय-प्रकृतिक, तिर्यक्प्रकृतिक आदि करणशक्तियाँ हैं। सभी जीवों की करणशक्तियों में उन करणों के जितने प्रकार के परिणाम हो सकते हैं उन परिणामों की प्रकृतियाँ अन्तर्निहित हैं। जब एक जाति से अन्य जाति में परिणाम होता है, तब उन अन्तर्निहित प्रकृतियों में जो उपयुक्त निमित्त द्वारा अनुकूल स्थिति पाते हैं वे ही आपूरित या अनुप्रविष्ट होकर अपने अनुरूप भाव से उस करण को परिणत कराते हैं। प्रकृति का अनुप्रवेश कैसे होता है, यह आगे के सूत्र में कहा गया है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—न हि धर्मादिनिमित्तं प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति, न कार्येण कारणं प्रवर्त्यते इति; कथन्तर्हि? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद्, यथा क्षेत्रिकः केदारादपाम्पूरणात् केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्षति, आवरणं तु आसां भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति।

यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौमान् वा रसान् धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुम्, किन्तर्हि? मुद्गगवेधुकश्यामाकादीन्ततोऽपकर्षति, अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति; तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविरोधात्। न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति। अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः। विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते, ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति; तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

३। निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं होता, उससे केवल आवरणभेद होता है, जैसे क्षेत्रिक क्यारियों में जल प्रवाहित कराता है। (निमित्त द्वारा आवरणों का भेद होने पर प्रकृति स्वयं अनुप्रवेश करती है)। सू०

भाष्यानुवाद—धर्मादि-निमित्त प्रकृति के प्रयोजक नहीं होते हैं। क्योंकि कार्य द्वारा कारण कभी प्रवर्तित नहीं होता है। तब कारण किस प्रकार प्रवर्तित होता है?—'क्षेत्री के वरणभेदमात्र के समान।' जिस प्रकार किसान एक खेत

से अन्य एक सम, निम्न या निम्नतर खेत को सींचने की इच्छा करने पर हाथ से जल सेचन नहीं करता है, पर उस जल-प्रणाली या मेंड़ को तोड़ देता है और उसके टूटने से जल स्वतः ही उस खेत को भर देता है, उसी प्रकार धर्म प्रकृतियों के आवरणभूत अधर्म या विरुद्ध धर्म का भेद कर देता है; उसके भिन्न होने पर प्रकृतियाँ स्वयं अपने-अपने विकार को आप्लावित कर लेती हैं।

अथवा जिस प्रकार वही क्षेत्रिक उस क्षेत्र के धान्यमूल में जलीय या भौम रसों का अनुप्रवेश नहीं करा सकता, परन्तु वह मुद्ग, गवेधुक, श्यामाक इत्यादि क्षेत्रमलों या झाड़-झंखाड़ को उठा देता है, और उन्हें उठा देने पर वे रस स्वयं ही धान्यमूल में अनुप्रवेश करते हैं; उसी प्रकार धर्म केवल अधर्म की निवृत्ति या अभिभव करता है, क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि अत्यन्त विरोधी हैं। परन्तु धर्म प्रकृति के प्रवर्त्तन का हेतु नहीं होता है (१)। इस विषय में नन्दीश्वर आदि उदाहरण हैं। इसी प्रकार विपरीत क्रम से अधर्म भी धर्म को अभिभूत करता है, वही अशुद्धिपरिणाम है। इस विषय में भी नहुष-अजगर आदि उदाहरण हैं।

टीका ३ (१) जिस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक प्रस्तरखण्ड में असंख्य प्रकार की मूर्तियाँ हैं, उसी प्रकार प्रत्येक करणशक्ति में असंख्य प्रकृतियाँ रहती हैं। जिस प्रकार केवल अतिरिक्त अंश काट देने से एक खण्ड पत्थर में से कोई भी मूर्ति प्रकटित हो सकती है, उसमें कुछ नया योग नहीं करना पड़ता है; करणप्रकृति के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। इस दृष्टान्त में अतिरिक्त अंश काटना ही निमित्त है। इस निमित्त द्वारा अभीष्ट मूर्ति प्रकाशित होती है। करण प्रकृति भी उसी प्रकार के निमित्त द्वारा प्रकाशित होती है। प्रकृति की क्रिया का नाम ही धर्म है।

जैसे दिव्यश्रुति नामक प्रकृति का धर्म है दूरश्रवण। जो प्रकृति प्रकाशित होगी उसके विपरीत धर्म का नाश होने पर ही वह अनुप्रविष्ट होकर उस करण को परिणामित करती है। जैसे दूरश्रुति एक दिव्य श्रवणेन्द्रिय की प्रकति है; इस प्रकृति का धर्म दूरश्रवण है। यह मानुषश्रवण रूप कर्म के अभ्यास से नहीं होता है अर्थात् मानुषभाव से दूरश्रवण का कितना ही अभ्यास क्यों न किया जाए, दिव्यश्रुति कभी नहीं मिल सकती। किन्तु मानुषश्रुति का कर्म रुद्ध करने से (दिव्यश्रुति के अनुकूल भाव से; जैसे श्रोत्राकाश के सम्बन्ध-संयम में) दिव्य-श्रवण स्वयं ही प्रकाशित होता है। दिव्य-श्रवणशक्ति उसके द्वारा निर्मित नहीं होती है, क्योंकि श्रोत्राकाश का सम्बन्धसंयम दिव्यश्रुति का उपादान कारण नहीं है। धर्म=प्रकति का अपना धर्म (गुण)। अधर्म=विरुद्ध प्रकृति का धर्म।

भाष्य के धर्म और अधर्म शब्द पुण्य और अपुण्य अथ में प्रयुक्त उदाहरण-मात्र हैं। सामान्य नियम के अनुसार समझने में धर्म=स्वधर्म, अधर्म=विधर्म है।

श्रवण-शक्ति कारण है, श्रवण-क्रिया उसका कार्य है। कार्य द्वारा कारण प्रयोजित नहीं होता है अर्थात् कार्य के अधीन रहकर कारण अन्य कार्य के उत्पादन के लिए प्रवर्तित नहीं होता है। अतः केवल श्रवण के अभ्यास द्वारा किसी अन्य ·प्रकृति की श्रवणशक्ति उत्पन्न नहीं होती। श्रवण करना श्रवणशक्ति का उपादान नहीं है।

श्रवणशक्ति सदैव रहती है और वह त्रिगुणानुसार नाना प्रकृति की हो सकती है। उनमें एक प्रकृति के धर्म का निरोध करने पर अन्य प्रकृति उसमें अनुप्रविष्ट होकर प्रकाशित होती है। मानुष प्रकृति का धर्म दैव प्रकृति का विरोधी है। अतः विरोधी मानुषधर्म के निरोध-रूप निमित्त से दिव्यप्रकृति स्वयं अभिव्यक्त होती है। सूत्रकार ने इस विषय में किसान का दृष्टान्त दिया है और भाष्यकार ने खेत के कूड़े-कर्कट का दृष्टान्त दिया है। निमित्त प्रकृति का प्रयोजक नहीं होता, परन्तु वह विधर्म का अभिभव करने वाला है, उससे प्रकृति स्वयं अनुप्रविष्ट होकर अभिव्यक्त होती है।

कुमार नन्दीश्वर[1] ने धर्म तथा कर्मविशेष द्वारा अधर्म को निरुद्ध कर लिया था, और उनकी दैव प्रकृति इसी जीवन में प्रादुर्भूत हुई थी; इससे उनमें देवत्व-परिणाम हुआ था। इसी प्रकार पाप से नहुष-राजा[2] का दिव्य धर्म निरुद्ध हुआ था और उनका अजगर-परिणाम हुआ था, इस प्रकार की पौराणिक आख्यायिकाएँ हैं।

भाष्यम्—यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति, ततः सचित्तानि भवन्ति ॥ ४ ॥

---

१. द्र० बृहद्धर्मपुराण २।४ अ०; लिङ्गपुराण १।४२-४४ अ०; शिवपुराण, शतरुद्र-संहिता ६-७ अ०। [सम्पादक]

२. द्र० देवीभागवत ६।९ अ०; ३।२९।५१-५२; महाभारत, वनपर्व १८० अ०; स्कन्द पुराण, केदार १५ अ०। [सम्पादक]

भाष्यानुवाद—जब योगी बहुत शरीरों का निर्माण करते हैं, तब वे शरीर क्या एकमनस्क होते हैं या अनेकमनस्क ? (सूत्र में इसका उत्तर दिया जा रहा है)

४। (योगी) अस्मितामात्र द्वारा सभी निर्माणचित्त (बनाते हैं)। सू०

चित्त के कारण अस्मितामात्र को (१) ग्रहण करके (योगी) निर्माण-चित्तों का निर्माण करते हैं; इससे (निर्माणशरीर) सचित्त होते हैं।

टीका ४ (१) प्रसंख्यान द्वारा दग्धबीज-कल्प चित्त के संस्कार के अभाव के कारण साधारण स्वारसिक कार्य नहीं रहते हैं। उस प्रकार के योगीगण भी भूतानुग्रह आदि के लिए ज्ञानधर्म का उपदेश किया करते हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है, यही कह रहे हैं—अस्मितामात्र के द्वारा अर्थात् उस समय के विक्षेपसंस्कारहीन बुद्धितत्त्वस्वरूप अस्मिता के द्वारा योगी चित्त का निर्माण करते हैं तथा उससे कार्य करते हैं। निर्माणचित्त के इच्छामात्र से रुद्ध हो जाने के कारण उसमें अविद्यासंस्कार संचित नहीं रह सकता है और इसलिए वह चित्त बन्ध का कारण नहीं होता है।

अगर चित्त को सदाकाल के लिए प्रलीन करने का संकल्प कर योगी चित्त को प्रलीन करें, तो निर्माण-चित्त कभी नहीं होगा। पर योगी अगर कुछ सीमित काल के लिए चित्त का निरोध करें, तो उस काल के बाद चित्त का उत्थान होगा और योगी तब निर्माणचित्त का निर्माण कर सकते हैं।

ईश्वर इसी रूप से कल्पान्त में निर्माणचित्त द्वारा मुमुक्षुओं पर अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार के अनुग्रह के संकल्प से चित्त-निरोध करने के कारण यथाकाल वह ईश्वरीय चित्त पुनः उठता है। जिस प्रकार धानुष्क को जितनी दूर बाणक्षेप करना होता है वह उतनी ही शक्ति प्रयोजित करता है, योगी भी उसी प्रकार उपयुक्त शक्ति के प्रयोग द्वारा अवच्छिन्न काल तक चित्त को निरुद्ध करते हैं। अर्थात् योगी अवच्छिन्न काल के लिए चित्तनिरोध कर सकते हैं अथवा प्रलीन (पुनरुत्थान-शून्य लय) भी कर सकते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

५। एक चित्त बहुत से निर्माणचित्तों के प्रवृत्तिभेद का प्रयोजक (नियामक) है। सू०

भाष्यानुवाद—बहुत चित्तों की एक चित्ताभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति कैसे होती है ? योगी सभी निर्माणचित्तों का प्रयोजक एक चित्त का निर्माण करते हैं उसी से प्रवृत्तिभेद होते हैं (१) ।

टीका ५ (१) योगीगण एक साथ बहुत से निर्माणचित्तों का निर्माण कर सकते हैं । शङ्का हो सकती है कि कैसे एक भाव में बहुत से चित्त प्रयोजित होंगे । उत्तर यह है कि मूल.भूत एक उत्कर्षयुक्त चित्त बहुत से चित्तों का प्रयोजक हो सकता है, जैसे एक ही अन्तःकरण नाना प्राणों और नाना इन्द्रियों के कार्यों का प्रयोजक होता है । यद्यपि युगपत् सभी चित्तों का दर्शन करना संभव नहीं है तथापि युगपत् के समान (अलातचक्र या शतपत्रभेद के समान) सभी चित्तों का दर्शन होता है । अक्रम तारक ज्ञान आयत्त होने पर युगपत् के समान सर्व विषयों का दर्शन होता है, अर्थात् प्रयोजक एक चित्त और प्रयोजित बहुत चित्त तथा उनके विषय युगपत् के समान प्रवृत्त होते हैं । बहुत से चित्तों की विरुद्ध प्रवृत्ति रहने पर भी इसी रूप से वह सिद्ध होता है और परस्पर के साथ सांकर्य नहीं होता है ।

एक चित्त अन्य शरीरस्थ चित्त के ऊपर किस रूप से काम करता है, यह समझने के लिए जानना चाहिए कि चित्त स्वरूपतः विभु है (४।१०); अर्थात् चित्त सभी भावों के साथ सम्बद्ध होकर ही रहता है । इसलिए चित्त के लिए दैशिक दूर-निकट या व्यवधान नहीं है । जादूगर का प्रधान चित्त बहुत दर्शकों के मन के ऊपर काम करता है (Mass hypnotism इसी रूप से ही होता है); निर्माणकाय के विषय में भी यथायोग्य प्रधान चित्त अन्य अनेक अप्रधान चित्तों के ऊपर काम किया करता है ।

विवेकज्ञान का लाभ न होने पर भी भूतेन्द्रियवशित्व द्वारा तथा अन्य पद्धति से भी निर्माणचित्त बनाने की सामर्थ्यरूप सिद्धि हो सकती है, इससे जो निर्माणचित्त बनता है, वह साशय या क्लेशमूलक होता है ।

अतएव हम देखते हैं कि निर्माणचित्तों में भी ऊँच-नीच का भेद है । जन्मज और ओषधिज सिद्धियाँ बहुत निम्नकोटि की हैं और कई क्षेत्रों में वे बीमारी में ही गिनी जाती हैं । तपस्या और मन्त्रजप आदि, जो केवल सिद्धिलाभ के लिए आचरित होते हैं, का फल जन्मादिजात सिद्धियों की अपेक्षा ऊँचा होने पर भी सम्पूर्णतया साशय है । फिर भी इस प्रकार के साधक उस ऊँची सिद्धि से जो काम करेंगे वे पहले से अधिकतर सात्त्विक होंगे, ऐसी सम्भावना है ।

विवेकज, अनाशय निर्माणचित्त सर्वोत्कर्षयुक्त है और उससे केवल ज्ञान-धर्मोपदेश-रूप सर्वश्रेष्ठ कर्म ही सम्भव है, अर्थात् विभिन्न शरीरों में विभिन्न प्रकार का कर्म अर्थात् अविवेकी के समान कर्म करना सम्भव नहीं है । जिनके

भोग तथा अपवर्ग चरित हो चुके हैं, ऐसे चरितार्थ पुरुष द्वारा फिर भोग अथवा कर्मक्षय के लिए निर्माणचित्त का ग्रहण करना किसी प्रकार से सम्भव नहीं होता।

योग द्वारा निर्माण-चित्त-रूप सिद्धि होती है इस तथ्य को मान कर कई वादी इसका अपव्यवहार करते हैं। यथा, नव्य वेदान्तियों के अन्यतम एकजीववादीगण[1]। उनके मत में हिरण्यगर्भ ही एकमात्र जीव हैं,[2] वे ही बहुजीव बनकर अवस्थान करते हैं; तथा सृष्टि के आरम्भ से किसी की भी मुक्ति नहीं हुई है; तथा हिरण्यगर्भ के साथ सबकी एक साथ मुक्ति होगी। उनके अपने वाद के समर्थन के लिए ये सब काल्पनिक उपपत्तियाँ या Theory गृहीत होती हैं। कहना अनावश्यक है कि ये सब वाद वेदादिशास्त्र तथा प्राचीन वेदान्तमत के भी विरोधी हैं। अतः इनकी आलोचना की भी आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।

इस प्रसंग में यह लक्ष्य करना चाहिए कि एक ही अस्मिता-मात्र से बहु शरीरों के परिचालक बहुसंख्यक निर्माणचित्तों की बात ही यहाँ पर कही गई है। व्यावहारिक आत्मभाव का मूल अस्मितामात्र है, वह सर्वदा एक ही है। जिस प्रकार एक शरीर के पृथक्-पृथक् अङ्ग-प्रत्यङ्ग रहने पर भी वे विचरणशील (अलात चक्र की तरह) एक ही चित्त द्वारा परिचालित होते हैं, उसी प्रकार एक प्रधान चित्त के अधीन बहुसंख्यक अप्रधान चित्तों के द्वारा बहुशरीर भी परिचालित होने के कारण यह सम्भव होता है। किन्तु बहु अस्मितामात्र या बहुजीव (वेदान्त की जीवाख्या बुद्धि) सृष्ट नहीं हो सकते हैं। अतएव योगसिद्ध के बहुसंख्यक निर्माणचित्त होने पर भी उनका अस्मितामात्र एक ही रहने के कारण उन्हें एक ही जीव कहना पड़ेगा। पृथक् जीवों के प्रत्येक की जो स्वतन्त्र अस्मिता या अहं-बोध होता है, यह एक प्रत्यक्ष

---

१. एक जीववाद को मुख्य वेदान्तसिद्धान्त के रूप में मधुसूदनसरस्वती ने कहा है (सिद्धान्तबिन्दु—अयमेव मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः); इस वाद के अनुसार अविद्याप्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव है; अविद्या एक है, अतः जीव एकसंख्यक है (वेदान्तपरिभाषा)। अद्वैतसिद्धि में एकजीववाद को उपपन्न करने की प्रबल चेष्टा की गई है (द्र० प्रथमपरिच्छेद : एकजीववाद)। इस वाद में एक 'मुख्य जीव' तथा अनेक 'जीवाभास' की कल्पना की जाती है। [सम्पादक]

२. द्र० योगीव कायव्यूहेषु जीवोऽन्य इति चापरे (वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरी ४४; सिद्धान्तलेश, पृ० १२६ द्र०)। [सम्पादक]

अनुभूत तथ्य है। अतएव कोई एक जीव बहु जीव होता है, अथवा बहुजीव किसी एक जीव में लीन होते हैं—इस प्रकार की अयुक्त कल्पनाओं का कोई अवकाश इस शास्त्र में नहीं है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः, क्षीणक्लेशत्वाद् योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

६। सिद्ध चित्तों में ध्यानज चित्त अनाशय होता है। सू०

भाष्यानुवाद—निर्माणचित्त या सिद्धचित्त के उत्पादन के (१) पाँच उपाय हैं—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि या ध्यान। उनमें ध्यानज चित्त अनाशय है अर्थात् उसमें आशय या रागादि-प्रवृत्ति नहीं है और इसीलिए उसका पुण्य-पाप के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है; क्योंकि योगीगण क्षीणक्लेश होते हैं। अन्य प्रकार के सिद्धों में कर्माशय वर्तमान रहता है।

टीका ६ (१) यहाँ पर निर्माणचित्त का अर्थ सिद्धचित्त है, जो मन्त्रादि द्वारा निष्पन्न हुआ है। ध्यानज का अर्थ है—योगसाधन से उत्पन्न। योग या समाधि का आशय पहले नहीं रहता है, क्योंकि वर्त्तमान जन्मग्रहण से सिद्ध होता है कि पहले कभी समाधि निष्पन्न नहीं हुई थी। अतः योगज सिद्धचित्त आशय या वासनाभूत प्रकृति के अनुप्रवेश से नहीं बनता है। वह पहले से अननुभूत किसी प्रकृति के अनुप्रवेश से बनता है।

अन्य सिद्धियाँ कर्माशय से उत्पन्न होती हैं। पूर्वजन्म में आचरित किसी कर्म के फल में गत जन्म में किसी व्यक्ति की समाधिसिद्धि नहीं हुई है—यह निश्चित है, क्योंकि समाधि सिद्ध होने पर पुनः स्थूलयोनि में जन्म नहीं लेना पड़ता है। शास्त्र में है—**'विनिष्पन्न-समाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि'** (विष्णुपु० ६।७।७५) इत्यादि। अर्थात् समाधि सिद्ध होने पर उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है अथवा फिर स्थूल शरीर धारण नहीं होता है। अतः समाधिज सिद्धियाँ आशयज नहीं होती हैं। जन्मजा आदि सिद्धियों में जिस प्रकार सिद्धों को अवश होकर उनका व्यवहार करना पड़ता है, ध्यानज सिद्धि में उस प्रकार उसका व्यवहार नहीं करना पड़ता। कारण, वह अपनी इच्छा के पूर्णतया अधीन है। वह रागादि के नाश का हेतु है; क्योंकि वह आशय का क्षयकारी भी हो सकता

है। जो वासनाजात भी नहीं है और वासना का संग्राहक भी नहीं है, वही अनाशय का स्वरूप है। भाष्यकार ने द्वितीय कार्य का ही प्रतिपादन किया है।

————

भाष्यम्—यतः—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

चतुष्पात्खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्; शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या, तत्र परपीड़ानुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः; शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्, सा हि केवले मनस्यायतत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति; अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद्, अकृष्णं चानुपादानाद्। इतरेषान्तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

भाष्यानुवाद—क्योंकि—

७। योगियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण हैं परन्तु दूसरों के कर्म त्रिविध हैं। सू०

यह कर्मजाति चार प्रकार की है–कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ला-कृष्ण। इनमें दुरात्माओं का कर्म कृष्ण है; कृष्ण-शुक्ल कर्म वाह्यव्यापार से साध्य होता है; उसमें परपीड़न तथा परानुग्रह से कर्माशय संचित होता है। तपस्वी, स्वाध्यायी और ध्यानी व्यक्तियों का कर्म शुक्ल है; यह केवल मन के अधीन होने के कारण बाह्यसाधन-शून्य है, अतः यह कर्म परपीड़नादि पूर्वक नहीं होता। क्लेशहीन, चरमदेह संन्यासियों का कर्म अशुक्लाकृष्ण है। योगियों का कर्म फलसंन्यास के कारण अशुक्ल (१) और निषिद्धकर्म-त्याग के कारण अकृष्ण होता है। अन्य प्राणियों के कर्म उपर्युक्त प्रकार से त्रिविध होते हैं।

टीका ७ (१) पापियों का कर्म कृष्ण होता है और साधारण व्यक्तियों का कर्म शुक्लकृष्ण है, क्योंकि वे अच्छा काम भी करते है और बुरा भी। अच्छाई और बुराई के बिना गार्हस्थजीवन चलता नहीं। खेती करने में जीवहत्या होती है, बैल आदि को पीड़ा देनी पड़ती है, अपने धन की रक्षा के लिए अन्य को दुखाना पड़ता है, इस प्रकार अनेक प्रकारों से दूसरों को पीड़ा दिये बिना गृहस्थी नहीं चलती है। उसके साथ पुण्य कर्म भी किए जाते हैं। अतः साधारण गृहस्थों के कर्म शुक्ल-कृष्ण होते हैं। जो केवल तप-ध्यान आदि बाह्योपकरणनिरपेक्ष पुण्यकर्म कर रहे हैं, उनके कर्म विशुद्ध शुक्ल या पुण्यमय होते है; क्योंकि उनके लिए परपीड़ादि कर्म अवश्यम्भावी नहीं होते हैं।

योगी जिस प्रकार के कर्म करते हैं उनसे चित्त निवृत्त होता है; अतः चित्त-स्थित पुण्य और पाप भी निवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् पुण्य और पाप का संस्कार तथा आचरण निवृत्त होने के कारण उनके कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। कार्यतः वे पाप कर्म तो करते ही नहीं, और ध्यानादि पुण्यकर्म भी फलसंन्यासपूर्वक करते हैं; अर्थात् उन कर्मों को पुण्यफलभोग के लिए नहीं, परन्तु भोगनिरोध के लिए करते हैं। योगियों के तप-स्वाध्यायादि-कर्म क्लेश को क्षीण करने के लिए हैं, और उनके वैराग्यादि-कर्म सुख-भोग के लिए नहीं, परन्तु सुख-दुःख-त्याग या चित्तनिरोध के लिए हैं; और भी, विवेकख्याति अधिगत होने पर उसके साथ जो शारीर आदि कर्म होते हैं, वे बन्धहेतु न होने के कारण तथा चित्तनिवृत्ति के हेतु होने के कारण अशुक्लाकृष्ण हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—तत इति त्रिविधात् कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं भवति, किन्तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

८। उनसे (कृष्णादि त्रिविध कर्मों से) उनके विपाक की अनुरूप वासना की अभिव्यक्ति होती है। सू०

भाष्यानुवाद—'उनसे' = त्रिविध कर्मों से। 'उनके विपाक के अनुरूप' = जिस जातीय कर्म का जो विपाक है और उसके अनुगुण जो वासनाएँ हैं, वे उसी कर्मविपाक का अनुशयन करती हैं (अर्थात् विपाक के अनुभव से उत्पन्न होकर आहित रहती हैं) और उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है। दैवकर्म विपाक प्राप्त होकर कभी नारक, तिर्यक् अथवा मानुष वासना की अभिव्यक्ति का कारण नहीं होता है, पर दैव के अनुरूप वासना को ही अभिव्यक्त करता है। नारक, तिर्यक् और मानुष वासना के विषय में भी इसी प्रकार का नियम (१) है।

टीका ८ (१) कर्म के संस्कारों—जिनका फल भावी है—का नाम कर्माशय है और त्रिविध फल का भोग होने पर उसके अनुभव का जो संस्कार है, वह वासना है। [२।१२ (१) देखिए]। मान लीजिए कि किसी कर्म के फल से किसी आदमी ने मानव-जन्म पाया, उसने मृत्यु-पर्यन्त नाना

सुख-दुःखों का भोग कर लिया। उस मानव जन्म की अर्थात् मानुष शरी और करणों की जो आकृति-प्रकृतियाँ हैं, उनका, मानुष आयु का तथ सुख-दुःखों का संस्कार ही मानुष-वासना है। उस जन्म में जो कुछ क उसने किये उनका संस्कार कर्माशय है।

उदाहरणार्थ यदि उसने पशु-उचित कर्म किया और उससे पशु होक जन्म लिया तो वह मानुष-वासना फिर भी रह जाएगी। इसी प्रका असंख्य वासनाएँ रहा करती हैं। उस आदमी की पहले किसी पशु जन्म की पाशव वासना थी। मानव जन्म में विहित पशु-उचित कर्म ने उस पाशव वासना को अभिव्यक्त कर दिया। अतएव कहते हैं कि कर्म (कर्माशय अनुगुण या अनुरूप वासना को अभिव्यक्त करता है। वही वासना जाति य करण की प्रकृतिस्वरूपा होती है। उस प्रकृति के अनुसार कर्माशय-जनि जन्म तथा यथायोग्य सुख-दुःखों का भोग होता है। अतएव किसी भी जन्म के सुख और दुःख की भोग-प्रणाली वासना में रहती है; उदाहरणार्थ किस कुत्ते को चाट कर सुख होता है, पर मनुष्य को अन्य रूप से होता है; मनुष् जन्म के किसी पुण्य-कर्म-फल से यदि कुत्ते के जीवन में सुख हो तो कुत् उसे कुत्ते की प्रणाली से ही भोग करेगा।

वासना स्मृतिफलक (स्मृति ही जिसका फल है, ऐसा) है। स्मृति का अ यहाँ जाति, आयु तथा सुख-दुःख-भोग की स्मृति है; जाति की अर्था शरीर तथा करणप्रकृति की स्मृति, आयु की अर्थात् जातिविशेष में शरी जब तक रहे उसकी स्मृति, एवं भोग या सुख-दुःख के अनुभव की स्मृति स्मृति एक प्रकार का प्रत्यय या चित्तवृत्ति है। प्रत्येक चित्तवृत्ति के सा सुखादि संप्रयुक्त होते जाते हैं, अतएव वह स्मृति सुखादिस्मृति होने के लि चित्त के जिस संस्कार द्वारा आकारित होकर सुखस्मृति (अथवा दुःखस्मृति रूप से आती है, वह संस्कार भोग-वासना है। इसी प्रकार, जातिहेतु कर्माश के विपाक होने के लिए जिन मानुषादि जातियों के संस्कार द्वारा आकारि होकर मानुषादि-स्मृतियाँ होती हैं, वे जाति की वासनाएँ हैं। आयु क वासना भी वैसी है। (विशेष विवरण के लिए 'कर्मतत्त्व'[1] तथा 'कर्मप्रकरण' देखिए)।

---

१. यह ग्रन्थकार-प्रणीत बंगलाग्रन्थ है, जिसमें कर्मसम्बन्धी अध्यात्मशास्त्रीय विचा प्रतिपादित हुए हैं। [सम्पादक]

२. परिशिष्ट में यह प्रकरण द्रष्टव्य है। [सम्पादक]

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥९॥

भाष्यम्—वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद् द्रागित्येव पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत्। कस्मात् ? यतो व्यवहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव, कुतश्च स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथानुभवास्तथा संस्काराः, ते च कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिः, इति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते। अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति॥ ९॥

९। स्मृति और संस्कार की एकरूपता के कारण जाति, देश तथा काल द्वारा व्यवहित होने पर भी वासनाएँ अव्यवहित की भाँति उदित होती हैं (१)। सू०

भाष्यानुवाद—अपनी अभिव्यक्ति के कारण से अभिव्यक्त जो बिड़ालजाति-प्रापक कर्म है, उसके विपाक का जो उदय है, वह यदि शत (मध्यकालवर्त्ती) जातियों, या दूर देश, या सौ कल्पों द्वारा व्यवहित हो जाए, तो फिर से (उदय के समय) अपने विकास के कारण द्वारा तत्काल ही उदित हो जाएगा, (अर्थात्) वह कर्म पूर्वानुभूत बिड़ालयोनिरूप विपाक के अनुभव से उत्पन्न वासनाओं को ग्रहण कर अभिव्यक्त होगा, क्योंकि व्यवहित होने पर भी इसका (बिड़ाल वासना का) समान-जातीय अभिव्यञ्जक कर्म निमित्तीभूत होता है। इसी प्रकार इसका आनन्तर्य (अव्यवहित की भाँति क्षणमात्र में उदय) होता है। क्योंकि स्मृति और संस्कार में एकरूपता है। जिस प्रकार के अनुभव होते हैं, उसी प्रकार के संस्कार भी। संस्कार कर्मवासना के अनुरूप होते हैं। जैसी वासनाएँ होती हैं, वैसी स्मृति भी होती है। इसी प्रकार जाति, देश और काल-द्वारा व्यवहित संस्कारों से भी स्मृति होती है, तथा स्मृति से फिर संस्कारसमूह होते हैं। यही कारण है कि कर्माशय-द्वारा वृत्ति को लाभ कर (अर्थात् उद्बोधित होकर) स्मृति और संस्कार अभिव्यक्त होते हैं। अतः व्यवहित होने पर भी वासना और स्मृति का निमित्त-नैमित्तिक भाव ज्यों-का-त्यों रहने के कारण उनका आनन्तर्य सिद्ध होता है।

टीका ९ (१) बहुत पहले, किसी दूर देश में, यदि कोई अनुभव हो तो उसका संस्कार, काल और देश-द्वारा व्यवहित होने पर भी उपलक्षण पा जाने से या स्मरण करने से, जिस प्रकार शीघ्र ही मन में उदित होता है, उसी

प्रकार वासनाएँ भी उदित होती हैं। संस्कारसंचय के बाद बहुत दिन बीत जाने पर भी, स्मृति उठने में उतना समय नहीं लगता परन्तु अनन्तर के समान या क्षणमात्र में ही उठती है। स्मरण करने की चेष्टा बहुत समय तक की जा सकती है परन्तु वह आती है क्षणमात्र में ही। उसमें व्यवधानभूत जो अन्य संस्कार रहते हैं, वे स्मरण में व्यवधान नहीं होते। भाष्यकार ने जाति या जन्म रूप व्यवधान के उदाहरण द्वारा इसे समझाया है; यदि कोई व्यक्ति मानव-जन्म पाकर भी दुष्कर्म वश फिर सौ जन्म तक पशु रहने के बाद दुबारा मनुष्य जन्म पाता है तो शत-पशु-जन्मों का व्यवधान रहने पर भी वह मानुष-वासना अव्यवहित-सी उदित होती है। इसी प्रकार, काल और देशरूप व्यवधान में भी उदित होती है।

इसका कारण स्मृति और संस्कार की एकरूपता है। जैसा संस्कार है स्मृति भी वैसी ही होती है। संस्कार का बोध ही स्मृति है। संस्कार का बोध्यता-परिणाम ही जब स्मृति हुआ, तब संस्कार तथा स्मृति अव्यवहित या निरन्तर हैं। स्मृति के हेतु उपलक्षणादि रहने से ही स्मृति होती है, और स्मृति यदि हो तो संस्कार की ही (वह किसी भी समय पर, कहीं भी, किसी भी जन्म में संचित क्यों न हो) स्मृति होती है।

वासना की अभिव्यक्ति का निमित्त है—कर्माशय। उससे प्रस्फुट स्मृति होती है। वह (कर्माशय) स्मृति का अव्यर्थ हेतु है। जिस प्रकार संस्कार से स्मृति होती है उसी प्रकार उसी स्मृति से संस्कार होता है। क्योंकि स्मृति अनुभवरूप या प्रत्ययरूप है। प्रत्यय का आहित (चित्त में अलक्षित रूप से स्थित) भाव ही संस्कार है। अतः संस्कार से स्मृति तथा स्मृति से पुनः संस्कार होता है, इस प्रकार इन दोनों की एकरूपता सिद्ध होती है।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

भाष्यम्—तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी, कस्मात्? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्? न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते; तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात् काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्त्तत इति।

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः; तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति। 'वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकासिनी' इत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च

द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादि साधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि; चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्।

तथा चोक्तम्—"ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति।" तयोर्मानसं बलीयः, कथम्, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डकारण्यं चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्त्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ॥ १० ॥

१०। आशीः की नित्यता के कारण उनका (वासनाओं का) अनादित्व सिद्ध होता है। सू०

भाष्यानुवाद (आशीः की नित्यता होने के कारण) उन वासनाओं का अनादित्व (सिद्ध होता है)। सब प्राणियों में जो "मेरा अभाव न हो, मैं रहूँ" इस प्रकार का आत्माशीः देखा जाता है वह स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि सद्योजात प्राणी–जिसने पहले कभी मरणत्रास का अनुभव नहीं किया है—को द्वेष-दुःख-स्मृति के कारण मरणत्रास कैसे हो सकता है ? स्वाभाविक वस्तु कभी निमित्त से उत्पन्न नहीं होती है (१)। अतः यह चित्त अनादि वासना से अनुविद्ध है; (यह) निमित्तवश किसी वासना का अवलम्बन करके पुरुष के भोगार्थ उपस्थित होता है।

घट या प्रासाद में स्थित प्रदीप के समान संकोच-विकास-शील चित्त शरीर-परिमाण-आकारमात्र होता है—यह दूसरे मत के व्यक्ति (२) प्रतिपादन करते हैं। (उनके मत में) ऐसा होने पर चित्त का अन्तराभाव (अर्थात् पूर्वदेह त्याग कर देहान्तरप्राप्तिरूप अन्तरा या मध्यावस्था में चित्त की एक शरीर से दूसरे किसी शरीर में जाने की अवस्था) तथा संसार (जन्मपरम्परा-प्राप्ति) भी संगत होते हैं। आचार्य कहते हैं कि विभु या सर्वव्यापी चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकासशीला है; संकोच और विकास के निमित्त धर्मादि हैं। ये निमित्त दो प्रकार के हैं—बाह्य तथा आध्यात्मिक। बाह्य निमित्त शरीरादि साधनों की अपेक्षा करते हैं, जैसे कि स्तुति, दान अभिवादन आदि। आध्यात्मिक निमित्त चित्तमात्र के अधीन होते हैं, जैसे कि श्रद्धा आदि।

इस विषय में कहा गया है—"ध्यायियों के जो मैत्री प्रभृति विहार (सुख-साध्य साधन) हैं, वे बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं करते हैं और वे उत्कृष्ट धर्म का निष्पादन करते हैं।" इन दो निमित्तों में मानस निमित्त ही (३) बलवान् है, क्योंकि ज्ञान-वैराग्य से बढ़कर और कौन निमित्त हो सकता है ? कौन चित्त-बल के बिना केवल शारीर कर्म से दण्डकारण्य को शून्य कर सकता है अथवा अगस्त्य की भाँति समद्र को पी सकता है ?

टीका १० (१) अर्थात् स्वाभाविक वस्तु निमित्त से उत्पन्न नहीं होती है। यह देखा जाता है कि दुःखस्मरण-रूप निमित्त से भय होता है। मरण-त्रास भी भय है, अतः वह भी निमित्त से उत्पन्न हुआ है, अतएव वह स्वाभाविक नहीं है। दुःखस्मरण ही भय का निमित्त है; अतः मरणभय की उपपत्ति के लिए पूर्वानुभूत मरणदुःख स्वीकार करना पड़ता है। इसी कारण पूर्व-पूर्व जन्म भी स्वीकार्य होते हैं। ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य पदार्थ जीवों की स्वाभाविक वस्तु हैं। वे वस्तुएँ देहित्व-काल में किसी निमित्त से उत्पन्न नहीं होती हैं अथवा रूपादि-धर्म मानव शरीर में स्वाभाविक कहे जा सकते हैं।

आशीः—'मैं रहूँ, मेरा अभाव न हो' इस प्रकार का भाव। यह नित्य है और सब प्राणियों में वर्तमान है। जितने प्राणी दिखाई पड़ते हैं उन सभी में यह आशीः देखा जाता है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह आशीः नित्य है अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब प्राणियों में उपगत है। यह सर्वोपसंहारी (induced) नियम है (जिस प्रकार man is mortal इस नियम की सिद्धि होती है)। आशीः नित्य होने के कारण किसी काल में उसका व्यभिचार नहीं होता, अतएव वासना अनादि है। सर्व अतीत काल में आशीः था, अतः उसका हेतुभूत जन्म भी स्वीकार्य होता है; इसी प्रकार अनादि जन्मपरम्परा स्वीकार करनी पड़ती है और जन्म की हेतुभूत वासना भी अनादि मानी जाती है।

पाश्चात्यगण मरणभय को instinct मानते हैं। Instinct का अर्थ है untaught ability अर्थात् जो जन्म से ही देखी जाए, इस प्रकार की वृत्ति[१]। इससे instinct कहाँ से आई यह सिद्ध नहीं होता। अभिव्यक्तिवादी कहेंगे कि यह पुश्तैनी है। उनके मत में आदि पितामह amoeba नामक एककौषिक (unicellular) जीव होते हैं। उनकी भी बहुत सी instinct हैं। वे कहाँ से आईं, यह वे लोग नहीं बता सकते[२]। फलतः instinct या untaught

१. "Instinct is defined as untaught ability. It is the name given to what can be done prior to experience or education" (A. Bain : Mental and Moral Science, p. 68) [सम्पादक]

२. Darwin कहते हैं "I may here premise that I have nothing to do with the origin of the mental powers, any more than I have with that of life itself. We are concerned only with the diversities of instinct and of the other mental faculties in animals of the same class."–The Orgin of Species, Chapter VIII (6th ed.)

ability रहती है, इसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। वह कहाँ से आई है, यही कर्मवादीगण समझाते हैं। Instinct मानने से ही कर्मवाद निरस्त हो जाएगा, ऐसा सोचना अयुक्त है। इसके विषय में पहले विस्तार से कहा गया है [२।९ (२) देखिए]

१० (२) प्रसंगतः भाष्यकार चित्त का परिमाण कह रहे हैं। मतान्तर में (जैनमत[१] में) चित्त घट या प्रासाद स्थित प्रदीप की भाँति है। वह जिस शरीर में रहा करता है, उसी के आकार से संपन्न होता है। विज्ञानभिक्षु जी कहते हैं, यह सांख्यीय मतभेद है, किन्तु यह भ्रान्ति है। योगाचार्य कहते हैं—चित्त विभु या देशव्याप्तिशून्य होने के कारण सर्वगत है। विवेकज सिद्ध-चित्त द्वारा सभी दृश्यों का युगपत् ग्रहण होने के कारण चित्त विभु प्रतीत होता है।

चित्त आकाश के समान विभु नहीं होता, क्योंकि आकाश बाह्य देशमात्र है। चित्त बाह्यव्याप्तिहीन ज्ञानशक्तिमात्र है। अनन्त बाह्य विषयों के साथ उसका संबन्ध है और प्रस्फुट ज्ञेयरूप से संबन्ध हो सकता है, इसी से चित्त विभु है; अर्थात् ज्ञानशक्ति सीमाशून्य है। चित्त की सभी वृत्तियाँ संकुचित या प्रसारित भाव से होती हैं। इससे चित्त संकुचित ज्ञात होता है। संसारियों को ज्ञानवृत्ति परिच्छिन्न भाव से और विवेकज-सिद्धिसंपन्न योगियों को सर्व-भासक रूप से होती है। अतएव चित्त-द्रव्य विभु है (श्रुति भी कहती हैं **'अनन्तं वै मनः'** बृहदा० ३।१।९), उसकी वृत्ति ही संकोच-विकास-शील है।

१० (३) जिन सब निमित्तों से वासना की अभिव्यक्ति होती है, उन्हें भाष्यकार ने विभक्त कर दिखाया है। यहाँ पर निमित्त का अर्थ कर्म का संस्कार है। जो कर्म ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा शरीररूप बाह्य करणों की चेष्टा से निष्पाद्य होता है, वह और उसका संस्कार—ये दो बाह्य निमित्त हैं, और अन्तःकरण की चेष्टा से जो कर्म निष्पाद्य होता है, वह तथा उस कर्म का संस्कार—ये दो आध्यात्मिक निमित्त या मानस कर्म हैं। मानस कर्म ही अधिक-बलवान् है, यह भाष्यकार ने स्पष्टतया समझाया है।

———

१. यहाँ यह बात स्पष्टीकरणीय है कि परिमाण के प्रसंग में जैनों की दृष्टि जीवात्मा के परिमाण के विषय में है। उनका कहना कि जीव शरीर-परिमाणाकार है अर्थात् जिस आकार का शरीर हो उस आकार का जीवात्मा होता है—शरीरानुसार आत्मा के परिमाण में भेद होता है। इसमें वे आलोक की उपमा देते हैं। जैनियों का जीवात्मा सांख्यीय दृष्टि के अनुसार चित्त होगा, पुरुषतत्त्व नहीं, अतः चित्त के प्रसंग में जीवात्मा का प्रसंग ग्रन्थकार ने किया है—ऐसा प्रतीत होता है।
[सम्पादक]

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—हेतुः—धर्मात् सुखमधर्माद् दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद् द्वेषः, ततश्च प्रयत्नः, तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा, ततः पुनः धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषौ इति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षणमावर्त्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानाम् इत्येष हेतुः ।

फलन्तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, न ह्यपूर्वोपजनः । मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्, न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते । यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम् । एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः, एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

११ । हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चारों से संगृहीत होने के कारण उनका अभाव होने पर वासना का भी अभाव होता है । सू०

भाष्यानुवाद—हेतु यथा—धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग और दुःख से द्वेष होता है; उनसे (रागद्वेष से) प्रयत्न होता है, प्रयत्न से मन, वाक्य या शरीर के परिस्पन्दन पूर्वक जीव दूसरों पर अनुग्रह करता है या उन्हें कष्ट देता है; उससे फिर धर्माधर्म, सुख-दुःख और रागद्वेष होते हैं । इस प्रकार छह अरों (धर्मादि) से युक्त संसारचक्र प्रवर्त्तित हो रहा है । इस निरन्तर आवर्तनशील संसारचक्र की नेत्री अविद्या है; वही सब क्लेशों की जड़ है, अतः इस प्रकार का भाव ही हेतु है ।

फल–जिसको आश्रय या उद्देश्य कर, जिन धर्मादिकों की वर्त्तमानता होती है । (कार्यरूप फल द्वारा कैसे कारणरूप वासना का संगृहीत रहना सम्भव होता है, इसका उत्तर दे रहे हैं) असत् उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् फल सूक्ष्मरूप से वासना में रहता है, अतएव वह वासना का संग्राहक हो सकता है) । साधिकार मन ही वासना का आश्रय होता है, क्योंकि चरिताधिकार मन में निराश्रय हो जाने के कारण वासना नहीं ठहर सकती । जो अभिमुखीभूत वस्तु जिस वासना को व्यक्त करती है वही उसका आलम्बन होता है । इस प्रकार इन हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन द्वारा सब वासनाएँ संगृहीत रहती हैं, उनका अभाव होने पर संचित वासनाओं का भी अभाव होता है (१) ।

टीका ११ (१) हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन से वासनाएँ संगृहीत या संचित रहती हैं । अविद्यामूलक वृत्ति या प्रत्यय वासनाओं का हेतु है यह भाष्यकार ने सम्यक् प्रदर्शित किया है । जाति, आयु और भोग से जनित जो अनुभव होता है उसी का संस्कार वासना है । जाति आदि का हेतु धर्माधर्म

कर्म है; कर्म का हेतु रागद्वेष रूप अविद्या है, अतएव अविद्या ही मूल हेतु है। इस प्रकार अविद्यारूप मूल हेतु ने वासनाओं को संगृहीत कर रखा है।

वासना का फल स्मृति है। 'वासना का फल' इसका अर्थ यह है कि वासना-रूप साँचे में कोई चित्तवृत्ति आकारित होने पर सुख-दुःख होते हैं, उन्हीं से धर्मादि कर्म के आचरण के लिए प्रयत्न होता हैं। पहले भाष्यकार ने स्मृतिफल के संस्कार को वासना कहा है। वासनाजनित जाति-आयु-भोग-रूप में आकारित स्मृति का आश्रय लेकर धर्माधर्म अभिव्यक्त होते हैं, एवं स्मृति से फिर वासना होने के कारण स्मृति द्वारा वासना संगृहीत होती है, जैसे कि सुखवासना सुख की स्मृति से संगृहीत होती है या जमती रहती है।

भिक्षु जी ने फल का अर्थ पुरुषार्थ, भोजराज ने शरीरादि तथा स्मृति आदि और मणिप्रभाकार ने **'देहायुर्भोगाः'** कहा है। पुरुषार्थ का अर्थ है पुरुष का भोगापवर्गरूप अभीष्ट विषय; वह केवल वासना का फल नहीं होता, पर दृश्य-दर्शन का फल होता है। देह, आयु तथा भोग कर्माशय के फल हैं, वासना के नहीं। भोजदेव की व्याख्या ही यथार्थ है; परन्तु शरीरादि गौण फल होते हैं। अतः स्मृति ही वासना का फल है।

वासना का आश्रय साधिकार चित्त है। विवेकख्याति द्वारा अधिकार समाप्त होने पर उस चित्त में विकेक-प्रत्ययमात्र रहता है, अतः अज्ञानवासना रह नहीं सकती। अर्थात् जब 'पुरुष चिद्रूप है' केवल इसी प्रकार का पुरुषाकार प्रत्यय होता है, तब 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं गौ हूँ' इस भाँति की स्मृति असम्भव होने के कारण, वे सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि वे फिर उन अज्ञान-मूलक स्मृतियों को उत्पन्न नहीं कर सकती हैं। इस प्रकार जिस चित्त से अधि-कार समाप्त हो गया है, वह चित्त वासना का आश्रय नहीं हो सकता है। अतः साधिकार या विवेकख्यातिहीन चित्त ही वासना का आश्रय है।

कर्माशय वासना का व्यञ्जक होने पर भी वह शब्दादि-विषयों के साथ जाति-आयु-भोगरूप में व्यक्त होता है, इसी से शब्दादि विषयसमूह वासना के आलम्बन होते हैं। शब्द शब्द-श्रवण-रूप वासना को अभिव्यक्त करता है, अतः शब्द ही शब्द-श्रवण-वासना का आलम्बन है। इन सबों से अर्थात् अविद्या, स्मृति, साधिकार चित्त और विषयों से वासना संगृहीत रहती है।

इन अविद्या आदि का अभाव होने पर वासना का अभाव होता है, अवि-प्लवा विवेकख्याति ही उनके (अविद्यादि के) अभाव का कारण है। विवेक-प्रत्यय चित्त में उदित रहने से विषयज्ञान, चित्त का गुणाधिकार, वासना की स्मृति तथा अविद्या—ये सभी नष्ट हो जाते हैं, अतः वासना भी नष्ट हो जाती है। यह संशय हो सकता है कि एकमात्र अविद्या के नाश से ही जब सभी नष्ट

होते हैं, तब अन्य सबों का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसके उत्तर में यही कहना है कि अविद्या एकाएक नष्ट नहीं होती, विषयादि का निरोध करते-करते अन्त में मूलहेतु अविवेक रूप अविद्या में पहुँचने पर उसे नष्ट किया जाता है। अतएव वासना के सभी संग्राहक पदार्थों को जानकर पहले से ही उनको क्षीण करने की चेष्टा करनी पड़ती है। इसीलिए यह उपदिष्ट हुआ है।



"षडरं संसार-चक्रम्"

(छह अरों से युक्त संसारचक्र)

राग तथा द्वेष से प्राणी पुण्य तथा अपुण्य करते हैं। राग से सुख के लिए पुण्य भी करते हैं और प्राणीपीड़न आदि अपुण्य भी। उसी प्रकार, द्वेष से भी दुःखनिवृत्ति के लिए पुण्य और अपुण्य करते हैं। पुण्य से अधिकतर सुख और स्वल्प दुःख पाते हैं; अपुण्य से अधिकतर दुःख तथा स्वल्प सुख पाते हैं। सुख से सुखकर विषय में राग और सुख के विरोधी विषय में द्वेष होता है। दुःख से दुःखकर विषय में द्वेष और दुःख के विरोधी विषय में राग होता है। सभी के मूल में अविद्या या अज्ञानरूप मोह रहता है। इस प्रकार संसृति चक्राकार से आवर्तित हो रही है।

भाष्यम्—नास्त्यसतः सम्भवो न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन सम्भवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ॥ १२ ॥

भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतम्, स्वव्यापारोपारूढं वर्त्तमानम्। त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्, यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत, तस्मादतीतानागतं स्वरूपतः अस्तीति। किञ्च भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं

वर्त्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने; सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयति ।

धर्मी चानेकधर्मस्वभावः; तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः । न च यथा वर्त्तमानं व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं वा । कथं तर्हि ? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेण अनागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति वर्त्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति, न सा भवति अतीतानागतयोरध्वनोः । एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति, नाऽभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति ॥ १२ ॥

भाष्यानुवाद—असत् का संभव नहीं है और सत् का भी अत्यन्त नाश नहीं है, अतः द्रव्यरूप से या सद्रूप से विद्यमान इन वासनाओं का उच्छेद किस प्रकार होगा ?

१२ । अतीत और अनागत द्रव्य स्वविशेषरूपसे वस्तुतः विद्यमान हैं; धर्मों का अध्वभेद ही अतीतादिव्यवहार का हेतु है (१) । सू०

भविष्यत् में अभिव्यक्त होने वाला द्रव्य अनागत है; जिसकी अभिव्यक्ति अनुभूत हो चुकी है वह द्रव्य अतीत है; और अपने व्यापार में उपारूढ द्रव्य वर्तमान कहलाता है । ये त्रिविध वस्तुएँ ही ज्ञान द्वारा ज्ञेय होती हैं; यदि वे (अतीतादि वस्तुएँ) स्वविशेष रूप से न रहतीं तो वह ज्ञान (अतीतानागत ज्ञान) निर्विषय होता; परन्तु निर्विषय ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है । अतः अतीत और अनागत द्रव्य स्वरूपतः (अर्थात् स्वकारण में सूक्ष्मरूप से यथायथ रूपसे) विद्यमान हैं । भोगभागीय अथवा अपवर्गभागीय कर्म का उत्पादनीय फल यदि असत् होता तो कोई उस उद्देश्य से या उसी के लिए किसी कुशल (कर्म) का अनुष्ठान नहीं करता । सत् या विद्यमान फल को ही निमित्त प्रस्तुत करने में समर्थ होता है, परन्तु असत् के उत्पादन में नहीं । वर्तमान निमित्त ही नैमित्तिक को (निमित्त से उत्पन्न द्रव्य को) विशेषावस्था या वर्तमानावस्था प्राप्त कराता है, परन्तु असत् का उत्पादन नहीं करता है ।

धर्मी बहुधर्मात्मक है, उसके धर्मसमूह अध्वभेद से अवस्थान करते हैं । वर्तमान धर्म जिस प्रकार विशेष व्यक्ति-सम्पन्न (२) होकर द्रव्य में (धर्मीमें) रहा करता है, उसी प्रकार अतीत तथा अनागत नहीं रहते । अनागत अपने भवितव्य स्वरूप में है; और अतीत भी अपने अनुभूत अभिव्यक्तिवाले स्वरूप में विद्यमान है । वर्तमान अध्वा को ही स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, अतीत और अनागत अध्वाओं की नहीं होती है । एक अध्वा के काल में अन्य अध्वाद्वय धर्मी में अनुगत रहते हैं । इस प्रकार अस्थिति न रहने के कारण ही त्रिविध अध्वाओं

का भाव सिद्ध होता है अर्थात् नहीं रहने पर भी होता है, ऐसा नहीं; पर रहने के कारण ही होता है।

टीका १२ (१) अतीत तथा अनागत पदार्थ भावस्वरूप में हैं, इसकी सत्यता का प्रधान कारण अतीतानागत ज्ञान है। योगी के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी भविष्यत् ज्ञान होता है। इसके बहुत से उदाहरण देखे जाते हैं। ज्ञान का विषय रहना आवश्यक है। निर्विषय ज्ञान का उदाहरण नहीं है; वैसा ज्ञान अचिन्त्य या असंभव पदार्थ होता है। अतः ज्ञान रहने से ही उसके विषय का भी रहना आवश्यक है। यही कारण है कि भविष्य-ज्ञान का भी विषय रहता है। अतएव कहना होगा कि अनागत विषय है। उसी प्रकार अतीत विषय भी रहता है।

अब समझना चाहिए कि अतीत और अनागत विषय किस रूप से रहा करते हैं। भाव पदार्थ तीन प्रकार का है—द्रव्य, क्रिया तथा शक्ति। उनमें क्रिया के द्वारा द्रव्य परिणाम पाता है, अतः क्रिया परिणाम का निमित्त है। जिसको हम सत्त्व या द्रव्य कहते हैं, वह क्रियामूलक होने पर भी 'जिसकी' क्रिया है ऐसा एक सत्त्व या प्रकाश रहता है, यह स्वीकार किया जाता है; वही मूल द्रव्य या सत्त्व कहलाता है।

काठिन्य आदि अलक्ष्य क्रियाएँ हैं और परिणाम या अवस्थान्तर-प्रापक क्रिया लक्ष्य या स्फुट क्रिया हैं। स्फुट क्रिया ही निमित्त है और अलक्ष्य-क्रिया-जनित प्रकाश या स्थिर सत्तारूप से प्रतीयमान द्रव्य ही नैमित्तिक है। निमित्त-क्रिया से नैमित्तिक का परिणाम होना ही द्रव्य के परिणाम का स्वरूप है। शक्ति-अवस्था से फिर शक्ति-अवस्था में जाना निमित्त-क्रिया का स्वरूप है। स्थूल दृश्य क्रियाएँ क्षणावच्छिन्न सूक्ष्म क्रियाओं का समाहारभूत हैं। रूपरसादि भी उसी प्रकार के हैं। अतः घटपट आदि वस्तुएँ अलातचक्र की भाँति बहुसंख्यक क्षणिकक्रिया से उत्पन्न समाहारज्ञान-मात्र हैं। शास्त्र भी कहता है—**"नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते"** ॥ (भागवत ११।२२।४२)[१]।

शक्ति से क्रियारूप निमित्त, क्रियारूप निमित्त से ज्ञान या प्रकाशभाव और प्रकाश भाव का फिर शक्ति में लौटना–यह परिणाम-प्रवाह ही बाह्य जगत् की

१. प्यारे उद्धव, काल की गति सूक्ष्म है। उसे साधारणतया देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण ही शरीरों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। सूक्ष्म होने के कारण प्रतिक्षण होने वाले जन्म-मरण नहीं दीख पड़ते (भागवत-अनुवाद गीताप्रेस)। [**सम्पादक**]

मूल अवस्था है। यही सत्त्व, रजः, और तमोरूप भूतेन्द्रिय की सुसूक्ष्म अवस्था है (आगामी सूत्र देखिए)।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परिणाम-ज्ञान क्रिया का ज्ञान है या क्रिया का प्रकाशित भाव है। परिणाम जिस प्रकार हमारे आध्यात्मिक करण में रहता है, उसी प्रकार बाह्य में भी। सांख्यीय दर्शन में बाह्य द्रव्य भी पुरुषविशेष का अभिमान या मूलतः अध्यात्मभूत पदार्थ है। जिस प्रकार हमारे मन में शक्ति-भाव में विद्यमान संस्कारों के साथ प्रकाशयोग या बुद्धियोग होने पर वह स्मृति-रूप भाव (अर्थात् द्रव्य या सत्त्व) होता है और वैसा होना ही परिणाम कहलाता है, मूलतः उसी प्रकार बाह्य का परिणाम होता है।

बाह्य क्रिया और अध्यात्मभूत क्रिया के संयोग से उत्पन्न परिणाम ही विषयज्ञान है। साधारण अवस्था में हमारे अन्तःकरण की स्थूलसंस्कारजनित संकुचित वृत्ति क्षणावच्छिन्न सूक्ष्म परिणाम को अथवा असंख्य परिणाम को ग्रहण नहीं कर सकती। बाह्य-क्षणिक परिणामों का अंशतः ग्रहण करना ही लौकिक करणों का स्वभाव है। वह अंशतः ग्रहण ही बोध या द्रव्यज्ञान है। लौकिक निमित्त-जात परिणाम में निमित्त के भी एक एक अंश का ग्रहण होता है तथा नैमित्तिक का भी उसी प्रकार ग्रहण होता है।

पहले ही कहा गया है कि शक्ति का क्रियारूप से प्रकाश्य होना ही परिणाम है। उस परिणाम की इयत्ता नहीं हो सकती है, अतः वह असंख्य है। असंख्य होने पर भी उसे हम नैमित्तिकरूप (करणशक्ति और विषय, ज्ञान के ये दो प्रकार के साधन ही निमित्त-नैमित्तिक हैं) संकीर्ण उपाय से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करते हैं। उसी से हम सोच लेते हैं कि हमने जिसका ग्रहण किया है वह अतीत है, जिसका ग्रहण हम कर रहे हैं वह वर्त्तमान है और जिसका ग्रहण करना संभव है वह अनागत है। ज्ञानशक्ति की यह संकीर्णता संयम के द्वारा अपगत होने पर उस क्षणिक परिणाम के जितने समाहार भाव हैं, उन सभी के साथ युगपत् के समान ज्ञानशक्ति का संयोग होता है। इसी से सभी निमित्त-नैमित्तिकों का ज्ञान होता है अर्थात् सभी अतीत-अनागत पदार्थों का ज्ञान होता है या सभी वर्त्तमान हैं, ऐसा बोध होता है।

यह बाह्य द्रव्य को लक्ष्य कर कहा गया है। अध्यात्मभाव के विषय में भी यही नियम है। इसी लिए सूत्रकार ने कहा है कि अतीत तथा अनागत भाव वस्तुतः सूक्ष्मरूप से रहते हैं, केवल कालभेद का आश्रय लेकर हम सोचते हैं कि अतीत और अनागत भाव नहीं हैं (अर्थात् वे थे या रहेंगे)।

काल विकल्पवृत्ति-जात पदार्थ है। उससे लक्षित कर पदार्थ को हम असत् समझ लेते हैं। संकीर्ण ज्ञानशक्ति के द्वारा संकीर्णभाव से ग्रहण करना ही

कालभेद करने का कारण होता है। सर्वज्ञ के पास अतीत-अनागत नहीं रहते; सभी वर्त्तमान रहते हैं। अवर्त्तमानता का अर्थ केवल वर्त्तमान द्रव्य को न देख पाना है। जो रहता है परन्तु जिसे सूक्ष्मता के कारण हम जान नहीं सकते, वही अतीत-अनागत है।

पूर्व सूत्र में कहा गया है कि वासना का अभाव होता है। इसका अर्थ है- वासना का स्वकारण में प्रलीन भाव। प्रलीन होने पर वे फिर कभी ज्ञानपथ में नहीं आतीं, पुरुष के द्वारा उपदृष्ट नहीं होतीं। 'सत् का अभाव नहीं है तथा असत् का जन्म नहीं है' इसी को समझाने के लिए इस सूत्र का अवतरण किया गया है। भावान्तर ही अभाव है—यह पहले कहा जा चुका है [१।७ (१) देखिए]। इसी प्रकार 'वासना के अभाव' का अर्थ भी सदा के लिए अव्यक्त में स्थिति है।

१२ (२) ऊपर मूल धर्मी त्रिगुण को लक्ष्य कर अतीत-अनागत धर्मों की सत्ता व्याख्यात हो चुकी है। साधारण धर्म-धर्मी का ग्रहण करके भी वह प्रदर्शित हो सकती है। मिट्टी के गोले से घड़ा, सकोरा आदि बन सकते हैं। घड़ा, सकोरा आदि उस मिट्टी-रूप धर्मी में अनागत या सूक्ष्म रूप से रहा करते हैं घटत्व नामक धर्म को वर्त्तमान या अभिव्यक्त करने में कुम्भकार रूप निमित्त का प्रयोजन होता है। कुम्भकार की इच्छा, कृति, अर्थलिप्सा, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ सभी निमित्त होते हैं। इसलिए भाष्यकार ने कहा है कि धर्मी में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान फल को या कार्य को वर्तमान कराने के लिए निमित्त समर्थ होता है।

शङ्का हो सकती है कि घट की अभिव्यक्ति में पिण्ड के अवयव स्थान-परिवर्तन करते हैं, यह सत्य है; तथा असत् का भाव नहीं होता है, यह भी सत्य है; लेकिन जो स्थानपरिवर्तन होता है, वह (स्थानपरिवर्तन) तो पहले नहीं रहता, बाद में हुआ करता है। अतः यह स्थानपरिवर्तन अनागत ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? पहले ही कहा जा चुका है कि क्रिया या परिणाम केवल शक्तिज्ञेयता या शक्ति के साथ प्रकाश-संयोगमात्र होता है। स्थूलाभिमानी बुद्धि-वृत्ति अति-मन्द-गति से शक्ति का प्रकाश करती रहती है, अतएव कुम्भकार क्रमशः अपनी इच्छा आदि शक्तियों को व्यक्त या क्रियाशील कर घटत्व नामक योग्यतावच्छिन्न शक्ति-विशेष को प्रकाशित करता है। उसमें बोध होता है कि मानों पाँच मिनट के अन्दर एक घट व्यक्त हो गया। उस समय कुम्भकार की तरह हम भी सोचते हैं कि घटत्व रूप धर्म व्यक्त हुआ। फलतः कुम्भकाररूप निमित्त शक्ति का और मृत्पिण्ड के शक्ति-

विशेष का जो संयोग-विशेष है उसका ज्ञान ही घट की अभिव्यक्ति का या घट की वर्तमानता का ज्ञान है। स्थान-परिवर्तन भी क्रियाशक्ति का ज्ञान है।

यदि ऐसी ज्ञानशक्ति हो कि उससे कुम्भकार-रूप निमित्त की सभी शक्तियाँ तथा मृत्पिड-रूप उपादान की भी सभी शक्तियाँ जानी जाएँ, तो उनके जो असंख्य संयोग हैं वे भी जाने जाएँगे और लौकिक मन्द-बुद्धि से जैसा क्रम देखा जाता है, वह भी जान पड़ेगा। अर्थात् उस प्रकार की योगज बुद्धि से पता चलेगा कि इतने समय के बाद कुम्भकार घट तैयार करेगा।

और भी एक बात है—पहले कहा गया है कि अन्तःकरण विभु है; अतः उसके साथ सभी दृश्यों का संयोग रहता है। किन्तु उसकी वृत्ति शरीरादि के अभिमान-द्वारा संकीर्ण रहती है, इस कारण केवल संकीर्ण मार्ग से ही ज्ञान होता है। जिस प्रकार रात को आकाश की ओर ताकने से बहुत अदृश्य नक्षत्रों की किरणें आँखों में पैठती हैं, परन्तु उन्हें हम देख नहीं पाते, केवल उज्ज्वल नक्षत्रों को ही देख पाते हैं। अदृश्य ताराओं की रश्मियों से भी आँखों पर सूक्ष्म क्रिया होती है। उपयुक्त शक्ति रहने पर वह नेत्र-गोचर हो सकती है। उसी प्रकार बुद्धि के स्थूल अभिमान अपगत होकर सात्त्विकता का उत्कर्ष होने पर सभी दृश्य (भूत, भविष्य तथा वर्तमान) युगपत् देखे जाते हैं या वर्तमान होते हैं। स्वप्नों में इसी रूप से कभी सत्त्वशुद्धि होने से भविष्य-विषयक ज्ञानोदय होता है।

जब सत् का नाश तथा असत् का जन्म चिन्ता के अयोग्य हैं, तब लौकिक दृष्टि से भी कहना होगा कि अतीत और अनागत धर्म धर्मी में अनभिव्यक्त भाव से रहते हैं तथा उपयुक्त निमित्त से अनागत धर्म अभिव्यक्त होते हैं। भाष्यकार ने यही दिखाया है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

भाष्यम्——ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः। सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः। तथा च शास्त्रानुशासनम्—"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥" इति ॥ १३ ॥

१३। वे गुणात्मक त्र्यध्वा या त्रिकाल में स्थित धर्मसमूह व्यक्त और सूक्ष्म होते हैं। सू०

भाष्यानुवाद——वे त्र्यध्वा धर्मसमूह वर्तमान (अवस्था में) व्यक्त स्वरूप हैं; अतीत तथा अनागत (अवस्था में) छह अविशेष रूप (१) सूक्षात्मक हैं।

ये (दृश्यमान धर्म और धर्मी) सब गुणों के विशेष-विशेष सन्निवेशमात्र (२) होते हुए भी परमार्थतः गुणस्वरूप हैं। इस पर यह शास्त्रानुशासन है—"गुणों का परम रूप ज्ञानगोचर नहीं होता है; जो ज्ञानगोचर होता है, वह माया के समान अतिशय विनाशी है।"

टीका १३ (१) वर्तमान अवस्था में स्थित धर्मों का नाम व्यक्त है। वर्तमान रूप से ज्ञात द्रव्य ही षोडश विकार होते हैं, यथा पञ्च भूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और मन। वे पहले जो थे और बाद में जो होंगे—ये दो अवस्थाएँ ही, अर्थात् उनकी अतीत और अनागत अवस्थाएँ ही, सूक्ष्म होती हैं। अतः सूक्ष्म अवस्था पञ्च तन्मात्र और अस्मिता हैं। पर यह तात्त्विक दृष्टि है। अतात्त्विक दृष्टि में मृत्पिण्ड का पिण्डत्वधर्म व्यक्त है और घटत्व आदि अतीत-अनागत धर्म सूक्ष्म हैं।

१३ (२) पारमार्थिक दृष्टि में सभी सत्त्व-रजस्-तमोगुणात्मक अर्थात् प्रकाश, क्रिया तथा शक्ति के स्वरूप होते हैं। इसी दृष्टि से धर्मों को देखकर परमार्थ या दुःखत्रय की अत्यन्तनिवृत्ति का साधन करना चाहिए।

तीन गुणों की साम्यावस्था अव्यक्त है, उनकी वैषम्यावस्था ही व्यक्त और सूक्ष्मधर्म होती है। व्यक्त धर्म साक्षात्कारयोग्य होते हैं, किन्तु दुःखकर होने के कारण हेय, माया की भाँति[1] अति-तुच्छ या भङ्गुर हैं। इस पर भाष्यकार ने षष्टि-तन्त्र-शास्त्र का (वार्षगण्य-आचार्यकृत[2]) अनुशासन उद्धृत किया है।

भाष्यम्—यदा तु सर्वे गुणाः, कथमेकः शब्दः एकमिन्द्रियमिति—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

---

१. अन्तर्बाह्य व्यक्त विषय व्यावहारिक दृष्टि में माया-सदृश है। अतः यह कहना कि 'Both Sāṁkhya and Yoga treate the external world as real (Hist. of Dharmaśāstra vol V p. 1359) सर्वथा असमीचीन है। Stcherbatsky का यह मत कि 'Sāṁkhya adhers to the doctrine of eternal existance only' (The Soul Theory of the Buddhists, p.3) भी सांख्यशास्त्र में उनकी अज्ञता प्रकट करता है। परमार्थतः नित्यपरिणामी त्रिगुण हैं। उन गुणों को शब्दादियुक्त द्रव्यों के रूप में जानना माया-सदृश ही है—माया=अभूतदर्शिनी कापि विद्या विश्वरूपादिदर्शनलक्षणा (उद्योगपर्व १५८।३५ की देवबोधकृत टीका। **[सम्पादक]**

२. गुणानाम्...श्लोक को उद्धृत करके वाचस्पति भामती में कहते हैं—योगशास्त्रं व्युत्पादयिता वार्षगण्यः (२।१।३)। अतः यह वचन वार्षगण्यकृत ग्रन्थविशेष से लिया गया है, यह प्रतीत होता है। **[सम्पादक]**

प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम्, ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति। शब्दादीनां मूर्त्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवः, तेषाञ्चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिः। भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविपाकारम्भः समाधेयः।

नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्तीति ये आहुः, ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४॥

भाष्यानुवाद—जब सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं तब 'एक शब्दतन्मात्र' 'एक इन्द्रिय' (कर्ण **या** चक्षु या अन्य कुछ) इस प्रकार की एकत्वधी कैसे हो सकती है ?—

१४। (गुणों का) एक रूप में परिणाम होने के कारण वस्तुतत्त्व का एकत्व होता है। सू०

प्रख्या, क्रिया और स्थितिशील ग्रहणात्मक गुणत्रय का करणरूप एक परिणाम होता है (जैसे)—श्रोत्र इन्द्रिय। (उसी प्रकार) ग्राह्यात्मक गुणों का शब्दभाव में एक शब्दविषयरूप एक परिणाम होता है। शब्दादि-तन्मात्रों के काठिन्य के अनुरूप जाति वाला एक परिणाम ही तन्मात्रावयव पृथिवी-परमाणु या क्षितिभूत होता है (१); तथा उनका (क्षिति भूत के अणुओं का) एक परिणाम (भौतिक संहत) पृथिवी, गौ, वृक्ष, आदि होता है। भूतान्तर में भी (इसी प्रकार) स्नेह, औष्ण्य, प्रणामित्व और अवकाशदान का ग्रहण कर सामान्य (या एकत्व) और एक-एक विपाकारम्भ का समाधान करना चाहिए।

'ऐसा विषय नहीं है जो विज्ञान का असहभावी हो;परन्तु स्वप्नों में कल्पित ज्ञान विषय का अभाव होने पर भी रहता है' इस दृष्टि से जो वस्तुरूप का अपलाप करते हैं—जो कहते हैं कि वस्तु ज्ञान का परिकल्पन-मात्र होती है, स्वप्नविषय की भाँति परमार्थतः नहीं रहती है–वे स्वमाहात्म्य के द्वारा अपने रूप में (अर्थात् यह वस्तु ऐसी है इस रूप में) प्रत्युपस्थित (२) वस्तु को अप्रमाणात्मक विकल्पज्ञान के सहारे उसके वस्तुत्व का परवाह न करके अस्वीकृत करके कैसे श्रद्धेयवचन हो सकते हैं ?

टीका १४ (१) सभी द्रव्यों का मूल है–गुणत्रय। अतः कोई वस्तु 'एक' है, यह कैसे ज्ञात होता है ? इसी के उत्तर के लिए इस सूत्र की अवतारणा

है। गुण तीन होने पर भी वे वियोज्य नहीं होते हैं, रजः और तमः के बिना सत्त्वगुण जाना नहीं जाता है। रजः और तमः भी वैसे ही हैं। पहले ही कहा गया है कि परिणाम=शक्ति का (तमः) क्रियावस्थाप्राप्ति-जनित (रजः) बोध (सत्त्व) है। अतः सत्त्व, रजः और तमः ये तीनों गुण प्रत्येक परिणाम में अवश्य रहेंगे। अर्थात् गुण तीन होने पर भी मिलित भाव से परिणत होना ही उनका स्वभाव है। इसीलिए परिणत वस्तु एक है—ऐसा बोध होता है, जैसे—शब्द; शब्द में क्रिया, शक्ति और प्रकाशभाव रहते हैं; इनके बिना शब्दज्ञान होना असम्भव है। परन्तु शब्द तीन हैं—ऐसा नहीं जान पड़ता, प्रत्युत शब्द एक ही है, ऐसा ज्ञात होता है। तन्मात्रावयव=तन्मात्र जिसका अवयव है वह=क्षितिभूत।

१४ (२) सूत्रकार ने वस्तुतत्त्व की सत्ता स्वीकार की है। उससे विज्ञानवादी वैनाशिकों का मत विश्वसनीय नहीं होता। यह भाष्यकार ने प्रसंगतः दिखाया है। परन्तु सूत्र का इस विषय में कोई तात्पर्य नहीं है।[1]

विज्ञानवादी की युक्ति यह है—जब विज्ञान नहीं रहता है तब किसी वाह्य वस्तु की सत्ता की उपलब्धि नहीं होती है; परन्तु जब बाह्य वस्तु नहीं रहती है, तब भी बाह्य वस्तु का ज्ञान हो सकता है। जैसे स्वप्न में रूप-रस आदि का ज्ञान होता है। अतः विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ कुछ नहीं हैं। बाह्य पदार्थ केवल विज्ञान से कल्पित है। (जिस इन्द्रियबाह्य द्रव्य की क्रिया से ज्ञान होता है, वही वस्तु है)।

---

१. सूत्रप्रतिपादित मत का तात्पर्य यथावत् जानने से यह भी ज्ञात हो जाता है कि संबन्धित मतों में कौन-कौन से मत सूत्रविरोधी हैं। ये सब मत विभिन्न समयों में उद्भूत होते रहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये सब मत सूत्रकार को भी ज्ञात थे अथवा सूत्रकार ने इन मतों के खण्डन करने के लिए ही सूत्र को रचा था। सूत्रव्याख्याकारगण (विशेषकर भाष्यकारगण) सूत्र के आशय को स्पष्ट करने के लिए सूत्रप्रतिपादित मत से विरुद्ध मतों (जो उनके समय में प्रचलित थे) का उपन्यास करके उनका खण्डन (सूत्रीयदृष्टि का आश्रय करके) करते हैं—यह एक साधारण-सी बात है। भाष्यखण्डित ईदृश मतों के आधार पर सूत्रकार का काल-निर्णय करना अवैज्ञानिक चिन्ता है, यद्यपि आजकल ऐसी चिन्ता अधिकांश विद्वान् करते हैं। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का यह वाक्य इस प्रसंग में विचार्य है—"प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्य अन्यार्थप्रकाशनम् उपपत्तिसामर्थ्यादिति" (१।१।१५)—'प्रमेयविशेष के लक्षण करने के उद्देश्य से कथित सूत्र का जो अन्यार्थ-प्रकाशन किया जाता है, उसका हेतु है—उपपत्ति प्रकाशन की सामर्थ्य'। [**सम्पादक**]

इस युक्ति में यह दोष है—विज्ञान के बिना बाह्य सत्ता का ज्ञान नहीं होता है, यह सत्य है, क्योंकि ज्ञानशक्ति के बिना ज्ञान कैसे होगा? परन्तु बाह्य वस्तु के बिना बाह्य ज्ञान होता है, यह सत्य नहीं है। स्वप्न में बाह्य ज्ञान नहीं होता है, किन्तु बाह्य वस्तु के संस्कार का ज्ञान होता है। बहिर्भूत क्रिया के साथ इन्द्रियों का संयोग न होने पर भी रूपादि बाह्य ज्ञान किसी भी प्रकार से उत्पन्न हो सकता है, इसका उदाहरण नहीं मिलता है। जन्मान्ध कभी रूप का सपना नहीं देखता है।

वस्तु के अभाव में भी उसका ज्ञान हो सकता है, इस प्रकार का विकल्पमात्र ही विज्ञानवादी का प्रमाण है, क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि बाह्य वस्तुएँ स्वमाहात्म्य से सबको अपनी सत्ता जना देते हैं; तथापि वस्तुशून्य वाङ्मात्र कुछ वाक्यों द्वारा विज्ञान-वादीगण उनका अपलाप करने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक मायावादियों के साथ विज्ञानवादियों का इस विषय पर ऐकमत्य देखा जाता है। वे कहते हैं कि माया अवस्तु है। यदि शङ्का की जाए कि यह प्रपञ्च बना कैसे? उत्तर में वे विकल्पवृत्ति-जनित प्रलापमात्र भाषण करते हैं कि 'प्रपञ्च नहीं हैं; कारण भी असत् है, इसलिए कार्य भी असत् होता है' इत्यादि।

परमार्थ दृष्टि में दो पदार्थों को स्वीकार करना अवश्यम्भावी है। एक हेय है, अन्य उपादेय है। दुःख तथा दुःख के हेतुभूत विकारी पदार्थ हेय हैं; और उपादेय है नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त पदार्थ। जब तक परमार्थ-साधन करना पड़ता है, तब तक हान और हेय पदार्थों का ग्रहण करना अवश्यम्भावी होता है। परमार्थ सिद्ध होने पर परमार्थदृष्टि नहीं रहती; अतः उस समय हेय तथा हान नहीं रहते। अतः भाष्यकार ने कहा है कि अनात्मभूत हेय पदार्थ परमार्थतः रहते हैं। परमार्थ सिद्ध होने पर जो रहता है वही स्वरूप द्रष्टा है। वह मन का अगोचर है। ['पुरुष का बहुत्व तथा प्रकृति का एकत्व' (६) देखिए]।[1]

भाष्यम्—कुतश्चैतदन्याय्यम्—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम्, तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम्। कथम्, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्; धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवति, अधर्मापेक्षं तत एव दुःख-

१. यह निबन्ध बंगला योगदर्शन में है। [सम्पादक]

ज्ञानम्, अविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानम्, सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्य-ज्ञानमिति। कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम्—न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः; तस्माद् वस्तुज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः। नानयोः सङ्करगन्धोऽप्यस्ति इति।

सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणम्, चलं च गुणवृत्तमिति, धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसम्बध्यते, निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति॥ १५॥

भाष्यानुवाद—किस लिए यह ('वस्तु बाह्यसत्ताशून्य तथा कल्पनामात्र है' इस मत का पोषक पूर्वोक्त तर्क) अन्याय्य है?—

१५। वस्तुसाम्य में चित्तभेद होने के कारण उनके (ज्ञान और वस्तु के) मार्ग पृथक् हैं अर्थात् वे सम्पूर्ण विभिन्न हैं (१)। सू०

बहुत चित्तों की आलम्बनीभूत एक साधारण वस्तु रहती है, वह न एक द्वारा परिकल्पित है और न बहुचित्त द्वारा परिकल्पित है। परन्तु वह स्वप्रतिष्ठ होती है। कैसे?—वस्तु एक होने पर भी चित्तभेद होने के कारण वस्तुसाम्य में भी धर्मापेक्ष चित्त को उससे सुखज्ञान होता है, अधर्मापेक्ष चित्त को उससे दुःखज्ञान होता है, अविद्यापेक्ष चित्त को उससे मूढ़ ज्ञान होता है, सम्यग्दर्शनापेक्ष चित्त को उसी से माध्यस्थ्य-ज्ञान होता है। (यदि वस्तु को चित्तकल्पित कहें तो) वह वस्तु किस चित्त द्वारा कल्पित होगी? तथा एक चित्त के परिकल्पितविषय द्वारा दूसरे चित्त को उपरञ्जित करना भी ठीक नहीं होता है। इसीलिए ग्राह्यरूप तथा ग्रहणरूप भेद से भिन्न वस्तु और ज्ञान का मार्ग विभक्त या पृथक् है (अर्थात्) उनके सांकर्य की सम्भावना किसी प्रकार नहीं की जा सकती है।

सांख्यमत में वस्तु त्रिगुण है; गुणस्वभाव सदा ही विकारशील होता है और बाह्य वस्तु धर्मादि-निमित्तों की अपेक्षा करके चित्तों के साथ संबद्ध होती है और वह निमित्त के अनुरूप प्रत्ययोत्पादन करने के कारण उस उस रूप में (अर्थात् धर्मरूप निमित्त के अनुरूप सुख-प्रत्यय का उत्पादन करने के कारण सुखकर इत्यादि रूप में) प्रत्ययोत्पादन की हेतु होती है।

टीका १५ (१) पूर्वसूत्र में सभी प्राकृत वस्तुओं की बात कही गई है। इस सूत्र में तन्मध्यस्थ चित्त और वस्तु का भेद स्थापित किया जा रहा है। एक ही बाह्य वस्तु से भिन्न-भिन्न चित्तों में जब भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव होते हैं, तब वस्तु और चित्त विभिन्न माने जाते हैं। वे विभिन्न पथ से परिणत होकर चल रहे हैं।

जिस प्रकार सुख-दुःखादि वेदना (feeling) की ओर से उदाहरण

देकर चित्त तथा विषय की भिन्नता प्रमाणित की जाती है उसी प्रकार शब्दादि-विषय-विज्ञान (perception) की ओर से भी सर्वचित्तसामान्य अतएव पृथक् बाह्यवस्तु की सत्ता प्रमाणित होती है। भिन्न-भिन्न चित्तों में जब एक वस्तु नित्यप्रति एक भाव को उत्पन्न करती है जैसे—सूर्य और आलोकज्ञान, तब चित्त तथा विषय भिन्न हैं। यदि विषय चित्तपरिकल्पित होता तो विभिन्न चित्तों की परिकल्पनाएँ अवश्य ही विभिन्न होती और सर्व-चित्त-सामान्यभूत कोई भी विषय नहीं रहता।

उपर्युक्त प्रकार से विषय और चित्त का भेद स्थापित होने पर पूर्वोक्त विज्ञानवाद प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, यह भाष्यकार ने विशद रूप से दिखाया है। सूत्र का तात्पर्य स्वमत-स्थापन के पक्ष में है, परमत खण्डन के पक्ष में नहीं। नीलादि-विषयज्ञान चित्त का परिणाम है, परन्तु किसी बाह्य, विषयमूल द्रव्य के रहने पर ही चित्त परिणत होता है, वह स्वतः ही परिणत होकर नीलादि-ज्ञान उत्पन्न नहीं करता।

भाष्यम्—केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरेषु क्षणेषु वस्तुरूपमेवापहनुवते।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

एकचित्ततन्त्रं चेद् वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्याऽविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित् तदानीं किन्तत् स्यात्, संबध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत। ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युः; एवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत।

तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः, स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते; तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

भाष्यानुवाद—कुछ लोग कहते हैं कि विषय ज्ञान के साथ उत्पन्न होता है, क्योंकि वह भोग्य है जैसे—सुखादि; अर्थात् सुखादि भोग्य मानसभावमात्र होते हैं, शब्दादि भी भोग्य हैं अतः वे मानसभावमात्र हैं। इस रूप से वे वस्तु के ज्ञातृसाधारणत्व को बाधित कर पूर्व तथा उत्तर क्षण में वस्तुस्वरूप की सत्ता अपलापित करते हैं (उनका मत इस सूत्र से श्रद्धेय नहीं होता)—

१६। वस्तु एक चित्त का तन्त्र (कल्पित) नहीं होती है, (क्योंकि) ऐसा होने पर जब वह वस्तु अप्रमाणक या ज्ञान से अगृहीत होगी तब वह क्या होगी ? (१) सू०

यदि वस्तु एकचित्ततन्त्र हो, तो चित्त के व्यग्र या निरुद्ध होने पर उस चित्त के द्वारा वस्तु का स्वरूप, अपरामृष्ट होकर अन्य का अविषयीभूत,

अप्रमाणक या सबके द्वारा अगृहीत होते हुए उस समय क्या होगा ? तथा वह वस्तु चित्त के साथ फिर सम्बध्यमान होकर कहाँ से उत्पन्न ही होगी ? ऐसी दशा में वस्तु के जो अज्ञात अंशसमूह हैं वे भी नहीं रह सकते हैं। इसी से जिस प्रकार 'पीठ नहीं है' कहने पर 'उदर भी नहीं है' यह जान पड़ता है (उसी प्रकार अज्ञात भाग न रहने से ज्ञात भाग या ज्ञान भी असत् हो जाता है)।

अतएव अर्थ सर्वपुरुष-साधारण और स्वतन्त्र हैं; और चित्तसमूह भी स्वतन्त्र हैं और प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न रूपों में अवस्थान करते हैं। इन दोनों के (चित्त तथा अर्थ के) सम्बन्ध से जो उपलब्धि होती है वही पुरुष का विषय-भोग है।

टीका १६ (१) इस वाक्य को वृत्तिकार भोजराज ने सूत्र रूप से ग्रहण नहीं किया है। सम्भव है कि यह भाष्य का ही अंश हो। इससे यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु सर्वपुरुष–साधारण है; और प्रतिपुरुष का चित्त भिन्न-भिन्न है, क्योंकि बाह्य वस्तु बहुत ज्ञाताओं का साधारण विषय है। वह एक-चित्ततन्त्र या एक चित्त द्वारा कल्पित नहीं होती है और न बहुत चित्तों द्वारा ही कल्पित होती है परन्तु वस्तु और चित्त स्वप्रतिष्ठ हैं तथा स्वतन्त्रभाव से परिणाम का अनुभव करते हुए चल रहे हैं।

विषय को एकचित्ततन्त्र कहने से यह शङ्का उठती है कि जब वह ज्ञायमान नहीं होता है, तब वह क्या होता है ? यदि वस्तु चित्त की कल्पना-मात्र हो, तो चित्त की वह कल्पना न रहने पर वस्तु भी न रहेगी। परन्तु ऐसा नहीं होता है। शून्यवादी जब शून्य कल्पना करते हुए चलते हैं तब उनका सिर यदि किसी कठिन द्रव्य से चोट खा जाए, तो क्या वे कहेंगे कि उनकी कल्पना से ही वह कठिन पदार्थ उद्‌भूत हुआ है ? और उनके भाइयों के भी सिर यदि वहीं पर ठोकर खा जाएँ तो क्या वे भी उस स्थान पर आकर अनु-रूप कल्पना-द्वारा उस कठिन विषय की सृष्टि करेंगे ? विशेष कर द्रव्य का उपस्थित या ज्ञायमान भाग एवं अनुपस्थित या अज्ञात भाग रहते हैं। यदि ज्ञान के साथ ही विषय पैदा होता है तो विषय का अज्ञात भाग कैसे रह सकता है ?

परन्तु बहुत से चित्तों द्वारा एक वस्तु कल्पित है, इस प्रकार का सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है। बहुत से चित्त क्यों एकरूप विषय की कल्पना करेंगे— इसका कोई हेतु नहीं दिया जाता और पूर्वोक्त दोष भी इसमें आ जाता है। साधारण आदमी के लिए इस प्रकार का मत (विषय का चित्तकल्पितत्व) हँसी के योग्य है, क्योंकि स्वभावतः प्राणीगण विषय की सत्ता और अपनी सत्ता भिन्न ही समझते हैं। विज्ञानवादी और मायावादी उस भेदज्ञान को

भ्रान्ति कहकर उस दृष्टि से जगत् का तत्व समझाना चाहते हैं। यह भ्रान्ति क्यों होती है ? इसका उत्तर इन दोनों वादियों के पास यही है कि यह हमारे आगम के अनुसार है।

विज्ञानवादी सोचते हैं कि जब वुद्ध ने रूपस्कन्ध को असत्कारणक या मूलतः शून्य कहा है तथा विज्ञान का निरोध होने पर सभी का निरोध या शून्य होता है, यह कहा है, तब किसी-न-किसी प्रकार से बाह्य का शून्यत्व दिखाना ही पड़ेगा। फिर विज्ञाननिरोध होने पर भी यदि बाह्य पदार्थ रहे तो वह शून्य कैसे होगा ? वह सदा ही रहेगा—इत्यादि प्रयोजन को लक्ष्यकर वे विज्ञानवाद आदि के द्वारा इस विषय को समझाने लगते हैं।

आर्ष मायावादी[1] (बौद्ध मायावादी[2] भी हैं) सोचते हैं कि जगत् सत्-कारणक है। वह सत् पदार्थ अविकारी ब्रह्म है। उसी से विकारशील जगत् हुआ है। ब्रह्म विकारी नहीं है। इसलिए जगत् भी नहीं है। परन्तु जगत् सम्पूर्णतया नहीं है कहना ठीक नहीं लगता, अतः 'कल्पनामात्र है' यह कहकर वे संगति करने की चेष्टा करते हैं।

सांख्य का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। वे दृश्य और द्रष्टा दोनों पदार्थों को ही सत् कहते हैं। उनमें दृश्य या प्राकृत पदार्थ विकारशील सत् है तथा द्रष्टा अविकारी सत् है। द्रष्टा और दृश्य का विद्यामूलक वियोग ही परमार्थसिद्धि है। दृश्य के भी दो भाग हैं—व्यवसाय तथा व्यवसेय। उनमें व्यवसाय या ग्रहण प्रतिपुरुष में भिन्न-भिन्न हैं और व्यवसेय या शब्दादि बहुत से ज्ञाताओं के

---

१. बोधिचर्यावतार ९।१४६ (एवं च निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा। अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत् ॥) की व्याख्या में ग्रन्थकार स्वामीजी ने कहा है—"यह प्राचीनतर मायावाद वर्तमान मायावाद का मूल है। इसलिए मायावादियों को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है। इन उपायों [=बौद्धाचार्यप्रदर्शित युक्तियों] से ही मायावादीगण 'जगत् नहीं है' यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं"। भामती में वाचस्पति ने 'मायावादिनामस्माकम्' कहा ही है (२।१।२९)। **[सम्पादक]**

२. बौद्धों को मायावादी कहना उचित ही है जैसा कि निम्नांकित वचनों से ज्ञात होता है—यदि निर्वाणादपि कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात् तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम् (अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ४० A. S. B. ed) ; नामरूपमेव माया मायैव नामरूपम् (शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ८९८); मायोपमास्ते सत्त्वा इति माया च सत्त्वाश्च अद्वयमेतत् (पञ्चविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० ४०); यावत् प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते (बोधिचर्यावतार, परि० ९)। **[सम्पादक]**

साधारण विषय हैं। ग्रहण और ग्राह्य के साथ सम्बन्ध होने पर ही विषयज्ञान-रूप भोग सिद्ध होता है।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयःसधर्मकं चित्तमभिसम्बध्योपरञ्जयन्ति, येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात् परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

१७। अर्थोपराग-सापेक्षत्व के कारण बाह्य वस्तु चित्त को ज्ञात और अज्ञात होती है। सू०

भाष्यानुवाद—सभी विषय अयस्कान्त मणि के समान हैं, वे लोहे के सदृश चित्त को आकृष्ट कर उपरञ्जित करते हैं। चित्त जिस विषय द्वारा रक्त होता है वही विषय ज्ञात होता है और उससे भिन्न विषय अज्ञात होता है। वस्तु के ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्व के कारण चित्त परिणामी है (१)।

टीका १७ (१) विषय चित्त को उसी प्रकार आकर्षित करता है या परिणामित करता है, जिस प्रकार अयस्कान्त या चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है। विषय के मूल शब्दादि क्रियाएँ हैं, वे इन्द्रिय-प्रणाली से प्रविष्ट हो, चित्त स्थान में जाकर चित्त को परिणामित करते हैं। विषय चित्त को वस्तुतः शरीर के बाहर नहीं लाता है; पर यदि वृत्ति उत्पन्न हो तो बाह्य-विषयक वृत्ति होती है। अतः विषय चित्त को (वृत्ति द्वारा) बहिर्मुख कर देता है, यह कहना ठीक है।

मतान्तर में चित्त इन्द्रियद्वार से बाहर जाकर विषय पर वृत्तिलाभ करता है[1]; यह सत्य नहीं है। अध्यात्मभूत चित्त अनध्यात्मभूत द्रव्य में अवस्थान नहीं कर सकता। चित्त निराश्रय होकर बाहर नहीं रह सकता है। अध्यात्म-प्रदेश में ही चित्त तथा विषय का मिलन होता है और वहाँ चित्त का परिणाम होता है। चित्तस्थान को हृदय कहा जा सकता है। वहाँ विषय उद्भूत और लीन होता है। **"यतो निर्याति विषयो यस्मिश्चैव विलीयते। हृदयं तद्विजानीयान्मनसः**

---

१. अन्तःकरण या चित्त इन्द्रियद्वार से निर्गत होकर विषयदेश में जाकर विषयाकार से परिणत होता है, यह मत वेदान्तादि के ग्रन्थों में स्पष्ट शब्दों से कहा गया है—"तैजसम् अन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषया-कारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्ति रित्युच्यते" (वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष-परि०);। **[सम्पादक]**

स्थितिकारणम् ॥"[१] [सर्वाधिष्ठातृत्व—भाव होने से उस समय विश्वहृदय में अधिष्ठान होता है]। उपराग से अर्थात् वैषयिक क्रिया से चित्त के सक्रिय होने की अपेक्षा रहने के कारण कोई विषय ज्ञात और कोई (जो चित्त का उपरञ्जक नहीं होता) अज्ञात होता है अर्थात् चित्त का ज्ञानान्तर होता है।

चित्त के विषय होने की वस्तुएँ पृथक् रूप से रहती हैं। वे कभी-कभी यथायोग्य कारण से सम्बद्ध होकर चित्त को उपरञ्जित या आकारित करती हैं। अतः चित्त में उस विषय का ज्ञान होता है, नहीं तो वस्तु रहने पर भी चित्त में उसका ज्ञान नहीं होता। अतः सद्रूप स्वतन्त्र चैत्तिक विषय कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होता है। इससे चित्त का ज्ञानान्यत्व-रूप परिणामित्व सिद्ध होता है। अर्थात् अन्य स्वतन्त्र सद् वस्तु की क्रिया से चित्त में विकार होता है। (२।२० सूत्र की टिप्पणी देखिए)। यह अनुभवगम्य विषय है।

भाष्यम्—यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

यदि चित्तवत् प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादि-विषयवद् ज्ञाताज्ञाताः स्युः, सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणा-मित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

भाष्यानुवाद—परन्तु जिसका वह चित्त ही विषय है, उसके (=पुरुष के) १८। चित्त के प्रभु पुरुष के अपरिणामित्व के कारण चित्तवृत्तियाँ सदा ही ज्ञात या प्रकाश्य होती हैं। सू०

यदि चित्त के समान उसके प्रभु पुरुष भी परिणाम पाते तो उनके द्वारा प्रकाश्य जो चित्तवृत्तियाँ हैं वे भी शब्दादि-विषयों की भाँति ज्ञात तथा अज्ञात होतीं। परन्तु मन का सदा-प्रकाश्यत्व उसके प्रभु पुरुष के अपरिणामित्व का निश्चय कराता है (१)।

टीका १८ (१) चित्त के विषय ज्ञात और अज्ञात होते हैं परन्तु पुरुष का विषयभूत चित्त सदा ही ज्ञात होता है। चित्त की वृत्ति है, पर वह ज्ञात नहीं होती, ऐसा होना सम्भव नहीं। २।२० (२) टीका में यह सम्यक् प्रदर्शित

---

१. 'तथा च वसिष्ठः' कहकर मल्लिनाथ ने इसको उद्धृत किया है। (द्र० कुमार-सम्भव ३।५०)। किसी-किसी संस्करण में 'विषयान्' पाठ है, जो असमीचीन है। अर्थ—जहाँ से विषय निर्गत (उद्भूत) होता है, तथा जिसमें विलीन होता है, यह हृदय कहलाता है; यह हृदय मन का स्थितिकारण (मन का आश्रय या आधारभूत) है। **[सम्पादक]**

हुआ है। प्रमाणादि कोई भी वृत्ति क्यों न हो, वह 'मैं जान रहा हूँ' इस प्रकार अनुभूत होती है। वह 'मैं' ग्रहीता या पौरुष प्रत्यय है। वह सदा ही पुरुष से दृष्ट होता है—पुरुष से अदृष्ट कोई भी प्रत्यय नहीं हो सकता है। प्रत्यय होने पर ही वह दृष्ट होगा। प्रत्यय है किन्तु वह ज्ञात नहीं है, ऐसा होना सम्भव न होने के कारण पुरुष का विषय जो चित्त है वह सदाज्ञात होता है (चित्त यहाँ पर प्रत्ययमात्र है)।

पुरुषरूप ज्ञानशक्ति का यदि कुछ विकार रहता तो इस सदाज्ञातृत्व का व्यभिचार हुआ करता। ज्ञानशक्ति के विकार का अर्थ है ज्ञ और अज्ञ भाव। ऐसा होने पर चित्त का सदाज्ञातृत्व नहीं रहता—कोई होता ज्ञातचित्त और कोई होता अज्ञातचित्त। परन्तु चित्त की ऐसी अवस्था कल्पना के योग्य भी नहीं है। इस प्रकार चित्त के परिणामित्व तथा पुरुष के अपरिणामित्व के कारण दोनों का भेद सिद्ध होता है।

शब्दादिरूप में परिणत होना ही चित्त का विषयत्व है। शब्दादि क्रियाएँ इन्द्रियों को क्रियाशील करती हैं, उनसे चित्त सक्रिय होता है। यही विषयज्ञान है। वृत्ति है और वह दृष्ट या ज्ञाता द्वारा प्रकाशित नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता है। ज्ञातृप्रकाश्य वृत्ति यदि अज्ञात होती तो द्रष्टा कभी द्रष्टा और कभी अद्रष्टा अर्थात् परिणामी होते। पुरुष के योग से वृत्ति ज्ञात होती है, यह देखा जाता है। पुरुष का योग भी है और वृत्ति ज्ञात नहीं हो रही है, इस प्रकार यदि देखा जाता तो पुरुष द्रष्टा और अद्रष्टा अर्थात् परिणामी होते।

भाष्यम्—स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यति अग्निवत्—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम्। न चाग्निरत्र दृष्टान्तः, न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति, प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः, न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः।

किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः, तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः। स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहम्, अमुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति; एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

भाष्यानुवाद—आशाङ्का हो सकती है कि चित्त स्वप्रकाश तथा विषयप्रकाश है; जैसे कि अग्नि (परन्तु)—

१९। वह दृश्यत्व के कारण स्वप्रकाश नहीं होता है। सू०

जिस प्रकार अन्यान्य इन्द्रियगण तथा शब्दादि दृश्यत्व के कारण स्वाभास नहीं होते हैं उसी प्रकार मन भी है। यहाँ पर अग्नि दृष्टान्त नहीं हो सकती (क्योंकि) अग्नि अप्रकाश निजस्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकती। अग्नि का जो प्रकाश है वह प्रकाश्य तथा प्रकाशक का संयोग होने से देखा जाता है, अग्नि के स्वरूपमात्र के साथ उसका (प्रकाश्य-प्रकाशक भाव का) संयोग नहीं रहता है।

तथा 'चित्त स्वाभास है' कहने पर 'वह अन्य किसी का ग्राह्य नहीं है' यही इसका तात्पर्य होगा। जिस प्रकार 'स्वात्मप्रतिष्ठ' आकाश का अर्थ 'परप्रतिष्ठ नहीं है' ऐसा होता है, उसी प्रकार यहाँ भी है। परन्तु चित्त ग्राह्यस्वरूप होता है क्योंकि स्वचित्तव्यापार के प्रतिसंवेदन से (अनुभव से) प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे कि 'मैं भीत हूँ' 'इस विषय में मेरा राग है' 'इस पर मेरा क्रोध है' इत्यादि। स्वबुद्धि यदि अग्राह्य (अहंलक्ष्य ग्रहीता-द्वारा) होती तो इस प्रकार का भाव सम्भव नहीं होता (१)।

टीका १९ (१) चित्त वा विज्ञान स्वाभास नहीं होता है, क्योंकि वह दृश्य है। जो दृश्य है वह द्रष्टा से अत्यन्त पृथक् होता है। द्रष्टा का और कोई द्रष्टा न होने के कारण द्रष्टा स्वाभास होता है; परन्तु दृश्य ऐसा नहीं है, वह अचेतन है। 'मैं' चेतन हूँ, यह जाना जाता है, परन्तु मेरे दृश्य शब्दादिज्ञान और इच्छादिभाव अचेतन अनुभूत होते हैं। जो स्वबोध है वह अहंभाव के प्रत्यक्-चेतन-कोटि का होता है। जो कोई पदार्थ 'मेरा' इस रूप से अनुभूत होता है, उसमें बोध नहीं रहता है। वह बोध्य है। चित्त उस प्रकार बोध्य होने के कारण स्वाभास वा स्वबोधस्वरूप नहीं होता। चित्त क्यों बोध्य होता है? इसलिए कि 'मुझे राग है' 'मैं भीत हूँ' 'मैं क्रुद्ध हूँ' इत्यादि प्रकार का अनुभव होता है। राग, भय, क्रोध आदि चित्तप्रत्यय इस प्रकार बोध्य या दृश्य होते हैं। सुतरां वे द्रष्टा नहीं होते। द्रष्टा न होने के कारण वे स्वाभास नहीं होते हैं।

शङ्का हो सकती है कि रागादि-वृत्तियों को चित्त ही जान लेता है, अतः चित्त भी स्वाभास है। उत्तर में यही कहना है कि हमारा अनुभव होता है कि 'मैं जानता हूँ'। इसलिए यदि यह कहा जाए कि रागादि को चित्त ही जानता है तो वह चित्त होगा 'मैं'। मैं 'ज्ञाता' हूँ, अतः चित्त का एक अंश ज्ञाता होगा और रागादिरूप अन्य अंश ज्ञेय होगा। 'मैं ज्ञाता हूँ' इसको फिर कौन जानता है–पुनः यह प्रश्न भी उठेगा। इसका उत्तर यही होगा कि 'मैं ही जानता हूँ कि मैं ज्ञाता हूँ।' अतः हमारे अन्दर ऐसे अंश को स्वीकार करना पड़ता है जो स्वयं ही अपने को जानता है। वह रागादि अचेतन चित्तांश से सम्पूर्ण अन्य-

जातीय होने के कारण सम्पूर्णतया पृथक् होगा। इसलिए स्वाभास विज्ञाता अवश्य स्वीकार्य होगा। और भी, वह सिद्ध बोध होगा। विज्ञान को ज्ञायमानता या साध्यबोध कहा जाता है। जानने की क्रिया ही विज्ञान है और विज्ञाता ज्ञ-मात्र है। इस प्रकार दृश्य से द्रष्टा का पृथक्त्व सिद्ध होता है।

स्थूलबुद्धि मनुष्य चित्त को ही स्वाभास तथा विषयाभास कहते हैं। यदि पूछा जाए कि इस उभयाभास का उदाहरण कहाँ मिलेगा? तो उत्तर है अग्नि इसका उदाहरण है। जिस प्रकार अग्नि निज को प्रकाश करती है और दूसरे द्रव्य को भी, चित्त भी उसी प्रकार स्व-पर को प्रकाशित करता है। पर यह उदाहरण काल्पनिक है। अग्नि निज को प्रकाश करता हैं—इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि दूसरे एक चेतन ज्ञाता को आलोकज्ञान होता है। अग्नि दूसरों को प्रकाशित करती है, इसका अर्थ है—दूसरे द्रव्यों में प्रक्षिप्त आलोक का ज्ञान होता है। फलतः यहाँ प्रकाशक चेतन ग्रहीता है और प्रकाश्य आलोक या तेजोभूत है। सभी ज्ञान जिस-प्रकार द्रष्टा-दृश्य-संयोग से होते हैं, यह भी उसी प्रकार होता है। यह स्वा-भास तथा विषयाभास का उदाहरण नहीं है। अग्नि यदि 'मैं अग्नि हूँ' इसी प्रकार स्वरूप को प्रकाशित करता एवं ज्ञेय अन्य विषय को भी प्रकाशित करता या जानता, तो यह उदाहरण संगत होता। परन्तु यहाँ अग्नि के स्वरूप के साथ सम्बन्ध नहीं है, केवल मन में अग्नि को चेतन व्यक्ति की तरह ग्रहण कर उदाहरण की कल्पना की गई है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—न चैकस्मिन् क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तम्। क्षणिकवादिनो यद् भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

२०। और (चित्त स्वाभास न होने के कारण) एक ही समय पर दोनों का (ज्ञातारूप चित्त का और विषय का) अवधारण नहीं होता है। सू०

भाष्यानुवाद—एक क्षण में स्वरूप तथा पररूप (१) इन दोनों का अवधारण होना युक्त नहीं होता। क्षणिकवादियों के मत में जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक भी है (अतः उनके मत में कारक रूप ज्ञाता और ज्ञेय या उत्पन्न भाव इन दोनों का ज्ञान या क्रिया एक ही काल में होना उचित है, परन्तु ऐसा नहीं होता है; अतः चित्त स्वाभास नहीं होता है)।

टीका २० (१) चित्त जो विषयाभास है, यह एक सिद्ध सत्य है। उसको स्वाभास कहने से उसे ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही कहना पड़ता है।

उभयाभास होने से एक क्षण में ही निज रूप या ज्ञाता-रूप ('मैं ज्ञाता हूँ' इस प्रकार) तथा विषयरूप इन दोनों का अवधारण होगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ करता। एक क्षण में उनमें से किसी एक ही पदार्थ का अवधारण होता है। जिस चित्तव्यापार से विषय का ज्ञान होता है उससे ज्ञातारूप चित्त का भी ज्ञान नहीं होता है। ज्ञातारूप चित्तज्ञान का तथा विषय-ज्ञान का व्यापार पृथक्-पृथक् होता है। ये दो ज्ञान एक क्षण में न होने के कारण चित्त स्वाभास नहीं होता है।

चित्त को स्वाभास कहने से वह ज्ञाता है—ऐसा मानना पड़ता है, अतः चित्त के स्वरूप का अर्थ है—'मैं ज्ञाता हूँ' इस प्रकार का भाव और पररूप का अर्थ है—'ज्ञेयरूप' भाव।

इससे क्षणिकविज्ञानवादियों का पक्ष भी निराकृत होता है, यह भाष्यकार ने दिखाया है। उनके मत में क्रिया, कारक और कार्य तीनों एक ही होते हैं; क्योंकि चित्तवृत्तियाँ क्षणस्थायी और मूलशून्य या निरन्वय हैं अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों ही उनके मत में एक हैं। वे कहते है—**'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकः सैव चोच्यते।'**[1]

आत्म-ज्ञान-क्षण में विषयज्ञान तथा विषयज्ञान-क्षण में आत्मज्ञान होना युक्त नहीं होता है। परन्तु विज्ञानवाद में चित्त जब एकक्षणिक है तथा ज्ञाता, ज्ञानक्रिया और ज्ञेय (भूति=उत्पत्ति) जब उसके अन्तर्गत हैं, तब निज-रूप को ('मैं ज्ञाता हूँ' इस रूप को) तथा ज्ञेय को या पररूप को (विषयरूप को) जानने का अवसर नहीं मिलेगा।

अतएव चित्त युगपत् ज्ञाता-प्रकाशक तथा विषयता-भासक न होने से स्वाभास नहीं होता, परन्तु वह दृश्य होता है। वही विषयाकार में परिणत होता है और विषयरूप से दृश्य होता है। चूँकि ज्ञाता-रूप को अनुव्यवसाय द्वारा जाना जाता है इसलिए वह व्यापारविशेष है; वह निर्व्यापार 'केवल जानना' या स्वाभास नहीं होता है। व्यापारहीन स्वाभास पदार्थ को स्वीकार

---

१. तत्त्वसंग्रह की टीका में 'तत्रेदमुक्तं भगवता' कहकर यह श्लोक उद्धृत है—"क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥ (पृ. १३–१४ बौद्ध भारती संस्क.)। भूति=उत्पत्ति। 'भूतिर्येषाम्...चोच्यते' का उद्धरण देकर उसका खण्डन शंकराचार्य ने उपदेश-साहस्री में किया है (१८।१४३)—सत्त्वं नाशित्वमस्या श्चेत् सकर्तृत्वं तथेष्यताम्; क्रियामात्र का जब कर्त्ता है तब अनुरूप क्रिया का भी पृथक् कर्त्ता होना चाहिये। **[सम्पादक]**

करने से अपरिणामी चितिशक्ति को मानना पड़ता है। जो व्यापार का फल है, वह स्वतःसिद्ध बोध नहीं होता है।

यहाँ की युक्ति इस प्रकार है—चित्त स्वाभास न होने पर भी उसे स्वाभास कहने से वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही रूपों में कथित होगा और एक क्षण में उसके द्वारा दोनों भावों का अवधारण होना आवश्यक होगा। किन्तु ऐसा न होने के कारण चित्त स्वाभास नहीं है।

भाष्यम्—स्यान्मतिः—स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥

अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत, बुद्धि-बुद्धिः केन गृह्यते, साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः। स्मृतिसङ्करश्च–यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति, तत्सङ्कराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यात्।

इत्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्, ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते। केचित् सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्य, अस्ति स सत्त्वो य एतान् पञ्च स्कन्धान् निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति। तथा स्कन्धानां महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते। सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्ति इति ॥ २१ ॥

भाष्यानुवाद—(चित्त स्वाभास न होने पर भी) यह मत (यथार्थ) हो सकता है कि विनाशस्वभाव चित्त परोत्पन्न अन्य एक चित्त द्वारा (१) प्रकाश्य है। किन्तु—

२१। चित्त चित्तान्तर द्वारा प्रकाश्य होने से चित्तप्रकाशक चित्त की अनवस्था होती है तथा स्मृतिसङ्कर भी होता है। सू०

चित्त यदि चित्तान्तर से प्रकाशित हो (तो उस) चित्त का प्रकाशक चित्त फिर किससे प्रकाश्य होगा? (अन्य एक चित्त उसका प्रकाशक होगा—ऐसा कहने से) वह भी पुनः अन्य चित्त से प्रकाश्य होगा, फिर यह चित्त भी एक अन्य चित्त से प्रकाश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था या अतिप्रसङ्ग दोष होगा तथा स्मृतिसङ्कर भी होगा; चित्तप्रकाशक जितने चित्तों का अनुभव होगा उतनी

स्मृतियाँ होंगी; उनके साङ्कर्य के कारण किसी एक स्मृति का शुद्धरूप से अवधारण नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष का अपलाप करके वैनाशिकगण सभी (संगत) मतों को विपर्यस्त करते हैं। वे किसी भी वस्तु की कल्पना भोक्तृस्वरूप में कर लेने के कारण न्यायमार्ग पर नहीं चलते हैं। कोई (शुद्धसन्तानवादी) सत्त्वमात्र की कल्पना करके कहते हैं—'एक सत्त्व है जो इन(सांसारिक) पञ्च स्कन्धों को छोड़कर (मुक्तावस्था में) अन्य स्कन्धसमूह का अनुभव करता है'। ऐसा कहते हुए वे फिर उससे डरते भी हैं। इसी प्रकार (दूसरे कुछ व्यक्ति अर्थात् शून्यवादी) स्कन्धसमूह के महानिर्वेद, विराग, अनुत्पत्ति तथा प्रशान्ति के लिए गुरु के समीप जाकर 'हम ब्रह्मचर्याचरण करेंगे' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं, फिर भी सत्त्व की सत्ता का अपलाप करते हैं। सांख्ययोगादि-प्रवाद (प्रकृष्ट उक्तियाँ) 'स्व'शब्द-द्वारा चित्त के भोक्ता और स्वामी पुरुष को प्रतिपादित करते हैं (२)।

टीका २१ (१) बुद्धि और पुरुषका विवेक या पृथक्त्व-ज्ञान ही हानोपाय है। आगम से तथा अनुमान से उनको जानकर पीछे समाधिबल से उनका सम्यक् साक्षात् करने पर ही सम्यक् विवेकख्याति होती है। इसीलिए सूत्रकार ने चित्त और पुरुष का भेद युक्ति द्वारा इन सब सूत्रों में दिखाया है। पूर्वोक्त युक्ति से चित्त का स्वाभासत्व असिद्ध होता है; पर कुछ लोगों का मत है कि यदि कहा जाए कि एक चित्त का द्रष्टा अन्य एक चित्तवृत्ति है, तो यह कथन सङ्गत हो सकता है और इस प्रकार पुरुष को मानने की आवश्यकता नहीं होती। यह देखा भी जाता है कि हम पूर्व-चित्त को परवर्ती चित्त द्वारा जान सकते हैं, जैसे, 'मुझे राग हुआ था'—इस उदाहरण में पूर्ववर्ती रागचित्त को वर्तमान चित्त के द्वारा जानते हैं।

यह मत ठीक नहीं है, यह सूत्रकार ने दिखाया है। यदि पूर्व-क्षणिक और पर-क्षणिक चित्तों को एक ही चित्त के विभिन्न धर्म कहा जाए, तो कोई एक चित्त अन्य एक चित्त का द्रष्टा है, ऐसा कहना सङ्गत नहीं होता; कारण, यदि चित्त एक है और वह स्वाभास नहीं है तो वह सदा ही दृश्य होगा, द्रष्टा कभी नहीं हो सकेगा।

किन्तु यदि प्रतिक्षणिक चित्त को पृथक् माना जाए तभी उपर्युक्त आशङ्का की जा सकती है, पर उसमें एक गुरु दोष आ जाता है। किसी चित्त को पूर्ववर्ती पृथक् चित्त का द्रष्टा कहने से बुद्धि-बुद्धि का अतिप्रसंग होता है, क्योंकि वर्तमान चित्त वर्तमान अन्य चित्त द्वारा दृष्ट होने पर ही वह चित्त होगा। भविष्यत् चित्त

से वह वर्तमान में कैसे दृष्ट होगा ? अतः असंख्य वर्तमान द्रष्टारूप चित्तों की कल्पना करनी होगी, अर्थात् क-चित्त का द्रष्टा ख-चित्त है, क-ख का द्रष्टा ग-चित्त है, क-ख-ग का द्रष्टा घ-चित्त है—इत्यादि अनेक चित्त होंगे, और ऐसा होने पर विवर्धमान दृश्य चित्तों के द्रष्टा स्वरूप असंख्य चित्तों की कल्पना करनी पड़ेगी।

बुद्धि-बुद्धि का अर्थ है बुद्धि की (चित्त की) द्रष्टा अन्य बुद्धि। उक्त मत में असंख्य बुद्धि-बुद्धियों की कल्पना करने से अनवस्था-दोष उपस्थित होता है और उसी में स्मृतिसङ्कर भी होता है। अर्थात् किसी एक अनुभव की विशुद्ध स्मृति होना सम्भव नहीं होता। कारण यह है कि ऐसी व्यवस्था होने पर प्रत्येक अनुभव असंख्य पूर्ववर्त्ती अनुभवों का प्रकाशक होगा; उसमें एक साथ असंख्य स्मृतियाँ (स्मृति=अनुभूत विषय का पुनःअनुभव) होंगी; इसलिए किसी एक विशेष स्मृति का अनुभव असम्भव होगा। अर्थात् उनके मत में पूर्वक्षणिक प्रत्यय से या हेतु से पर-क्षणिक प्रतीत्य या कार्य उत्पन्न होता है, अतः प्रत्येक प्रत्यय में असंख्य पूर्वस्मृतियाँ रहेंगी, नहीं तो पूर्व का स्मरणरूप प्रतीत्य चित्त उत्पन्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्तमान चित्त में पूर्व के असंख्य अनुभूतिरूप स्मरणज्ञानों का रहना आवश्यक होगा। इस प्रकार प्रत्येक चित्त में स्मृतिसङ्कर होगा।

अतः जब हम देखते हैं कि एक समय एक स्मृति का ही स्पष्ट अनुभव होता है, तब सांख्यीय व्यवस्था ही संगत प्रतीत होती है। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु स्वीकृत होती हैं। जिस वस्तु के साथ पुरुषोपदृष्ट ज्ञानशक्ति का संयोग होता है, वही अनुभूत होती है। ज्ञानशक्ति या जानने की क्रिया स्वयं जड़ होती है, क्योंकि उसके सभी उपादान (त्रिगुण) दृश्य है। वह प्रतिसंवेदी पुरुष की सत्ता से चेतनवत् होती है अर्थात् ज्ञानवृत्ति या विषयोपरञ्जित ज्ञानशक्ति प्रतिसंविदित होती है।

२१ (२) सांख्य-मत में चेतन पुरुष भोक्ता है। अतः इस दर्शन (मत) के अनुसार मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होना संगत होता है। वैनाशिक के मत में विज्ञान के ऊपर कुछ भी नहीं है या शून्य है। अतः विज्ञाननिरोध[1] की प्रवृत्ति युक्त नहीं होती। आपही आपको शून्य या असत् कर सकता है, ऐसी किसी वस्तु का उदाहरण नहीं मिलता। अतः विज्ञान चेष्टा-द्वारा निजको शून्य

१. विज्ञान का निरोध होता है—यह बौद्धमत सुत्तनिपात (द्वयतानुपस्सनासुत्त) में मिलता है। यह निरोध कैसे होता है—यह भी उदयमाणवपुच्छा में कहा गया है। पर कोई युक्ति नहीं दी गई है कि क्यों यह निरोध होगा। [**सम्पादक**]

करेगा, ऐसा होना सम्भव नहीं होता। सांख्यमत में किसी वस्तु का अभाव नहीं होता है। केवल संयोग या इस प्रकार के अवास्तव पदार्थों का अभाव हो सकता है। संयोग वस्तु नहीं है, परन्तु सम्बन्धविशेष है; अतः उसका अभाव कहने से वस्तु का अभाव नहीं कहा जाता है।

शुद्ध-सन्तानवादी कहते हैं कि सत्त्वसमूह (सत्त्व का अर्थ जीव और वस्तु) सांसारिक पञ्चस्कन्ध त्यागकर निर्वाण अवस्था में आर्हतिक, शुद्ध पञ्चस्कन्ध (विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा रूप-ये पञ्च स्कन्ध या समूह हैं) ग्रहण करते हैं। परन्तु वे चित्त की निरोध-अवस्था की संगति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके मत में चित्त निरुद्ध होने पर शून्य हो जाता है; शून्य से फिर चित्त की उत्थानरूप असम्भव कल्पना को वे न्यायसंगत नहीं कर सकते हैं। अथवा चित्तसन्तान का निरोध भी (इस मत में निरोध भावपदार्थ का अभाव है) उनकी दृष्टि के अनुसार विचार करने से न्याय्य नहीं हो सकता है।

शून्यवादीगण पञ्चस्कन्ध[1] के महानिर्वेद के लिए या स्कन्धों में विराग के लिए, या अनुत्पाद या प्रशान्ति (सम्यक् निरोध) के लिए गुरु के समीप ब्रह्मचर्य्य[2]-पालन का महान् सङ्कल्प करते हैं और जिसका लाभ करने के लिए इस प्रकार के महाप्रयत्नरूप उद्यम करते हैं उस (आत्मा या सत्त्व) को शून्य मान कर अपलापित करते हैं।

असंगत-रूप से स्वसत्ता को अपलापित करने पर भी 'मैं मुक्त होऊँगा' 'मैं शून्य होऊँगा' इस प्रकार के आत्मभाव का अतिक्रम नहीं किया जा सकता है। 'मैं शून्य होऊँगा' ऐसा कहना 'मेरी माता बाँझ है' ऐसा कहने के समान प्रलापमात्र होता है। वस्तुतः मोक्ष या निर्वाण का अर्थ दुःख का वियोग है।

१. पाँच स्कन्धों का संक्षेप में स्पष्ट परिचय सर्वदर्शनसंग्रह में दिया गया है—सभी विषय और इन्द्रिय रूपस्कन्ध हैं। आलयविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञान का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है (अहन्तास्पद=आलयविज्ञान, इदन्तास्पद=प्रवृत्तिविज्ञान)। सुख-दुःख-प्रत्यय का जो प्रवाह उपर्युक्त दोनों स्कन्धों के कारण होता है, व वेदनास्कन्ध है। शब्दोल्लेखि-संवित्-प्रवाह संज्ञास्कन्ध है। रागद्वेषादि क्लेश, मद-मान आदि उपक्लेश तथा धर्माधर्म जो वेदनास्कन्धनिबन्धन हैं—वे संस्कारस्कन्ध हैं। (द्र० बौद्धदर्शन प्रक०) [**सम्पादक**]

२. यहाँ जो 'ब्रह्मचर्यपालन' की बात कही गई है, वह वस्तुतः बुद्धोपदेशों पर आधृत है। चित्तविमुक्ति के लिए ब्रह्मचर्य पालनीय है, यह बुद्ध कहते हैं, द्र० मज्झिम-निकाय १।३।९; महापरिनिब्बानसुत्त (वङ्गीशसुत्त) भी द्र०। ब्रह्मचर्येच्छु की दार्शनिक दृष्टि क्या होनी चाहिये—यह अङ्गुत्तरनिकाय (३) में कहा गया है। [**सम्पादक**]

वियोग कहने पर अवश्य ही दो वस्तुएँ समझी जाती हैं; एक तो दुःख तथा दूसरा उसका भोक्ता। अतः मोक्ष होने से दुःख (अर्थात् दुःखाधार चित्त) एवं उसके भोक्ता का वियोग होता है, ऐसा कहना ही ठीक है। सांख्ययोग के अनुसार यह भोक्ता स्वस्वरूप पुरुष है।[1] चैत्तिक अभिमानशून्य चरम 'अहम्भाव' की लक्ष्यभूत वस्तु यही है।

भाष्यम्—कथम् ?—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च, परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते।" तथा चोक्तम्—

"न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।

१. पुरुष के भोक्तृत्व के विषय में सांख्ययोग में मतभेद नहीं था—यह भाष्यवाक्य से सर्वथा स्पष्ट होता है। 'भोक्ता'-शब्द का प्रयोग किञ्चित् भिन्न अर्थों में भी (जैसा कि एक ही शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थकार करते हैं) किया जा सकता है। पर इस प्रकार अर्थभेद में भोक्ता-शब्द का प्रयोग होने पर उससे भोक्तृत्व-स्वरूप के विषय में मतभेद सिद्ध नहीं होता—यह ध्यान से विचारना चाहिये। 'भोग द्वारा जो विकृत होता है वह भोक्ता है', ऐसा अर्थ करने पर पुरुष भोक्ता नहीं होगा—निर्गुण पुरुष भोक्ता है, क्योंकि वे भोग के निर्विकार प्रकाशक हैं—ग्रन्थकार स्वामीजी ने यह अन्यत्र कहा है। व्यासभाष्य में पञ्चशिख का जो वाक्य उद्धृत हुआ है, उसमें पुरुष को 'अपरिणामिनी भोक्तृशक्ति' कहा गया है (२।२०)। अतः नीलकण्ठ का यह कहना कि "योगमते आत्मा भोक्तैव न तु कर्ता, सांख्यमते तु न भोक्ता नापि कर्त्ता" (शान्ति० २३८।८) एक असंगत चिन्ता है। आत्मा के भोक्तृभाव के विषय में यह ज्ञातव्य है कि 'भोक्ता' (व्याकरणानुसार जिसका अर्थ है भोगक्रिया का कर्ता) कहने पर भी पुरुष को अविकारी ही माना जाता है। विकारी मानने पर भोक्ता का अर्थ 'संसारी' होगा, जैसा कि शंकराचार्य ने किया है (द्र० कठ० १।३।४ भाष्य)। जिस प्रकार अविकारी पुरुष को 'प्रतिसंवेदी' कहा जाता है (द्र० भाष्य ४।२१), पर उसका अर्थ 'प्रतिसंवेदन क्रिया का कर्ता' न होकर 'प्रतिसंवेदन रूप लिङ्ग से जानने योग्य' होता है (द्र० विवरणटीका) उसी प्रकार भोक्ता का अर्थ भी 'भोक्तृभाव से अनुमेय' होगा। सांख्यकारिका में भोक्तृभाव को पुरुष-सिद्धि के लिए हेतु ही माना गया है (पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्)। **[सम्पादक]**

गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते" इति ॥ २२ ॥

भाष्यानुवाद—कैसे (सांख्यगण स्वशब्दलक्ष्य पुरुष का प्रतिपादन करते हैं)?–

२२। बुद्धिवृत्ति के साथ सादृश्य प्राप्त होने के कारण अप्रतिसंक्रमा चिति-शक्ति का स्वबुद्धि-संवेदन होता है। सू०

'अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा (१) भोक्तृशक्ति परिणामी विषय में (बुद्धि में) मानों प्रतिसंक्रान्त होकर उसकी (बुद्धि की) वृत्ति को चेतन की भाँति कर डालती है, और चैतन्य की प्रतिचेतना-प्राप्त बुद्धिवृत्ति की अनुकारमात्रता के कारण बुद्धिवृत्ति के साथ अविशिष्टा चितिशक्ति ज्ञानवृत्ति कही जाती है।' इस पर यह उक्त हुआ है—'जिस गुहा में शाश्वत ब्रह्म निहित हैं वह न पाताल, न पर्वत-कन्दरा, न अँधेरा, और न समुद्रगर्भ है; कविगण उसे अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति कहते हैं'।

टीका २२ (१) अप्रतिसंक्रमा या अन्यत्र सञ्चारशून्या। वास्तव में चितिशक्ति बुद्धि में संकान्त नहीं होती है, परन्तु भ्रान्तिवश संकान्त-सी प्रतीत होती है। 'मैं चेतन हूँ' यह भाव इसका उदाहरण है। यहाँ व्यावहारिक अहंभाव का जड़ अंश भी चित्-अभिमानवश 'चेतन'–सा प्रतीत होता है। यही अप्रतिसंक्रमा चितिशक्ति का बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त-सा प्रतीत होना है या बुद्धि की सदृशता प्राप्त होने के समान होना है। अप्रतिसंक्रमा होने के कारण वह चितिशक्ति अपरिणामिनी भी होती है।

बुद्धि प्रकाशशील या सदा ही ज्ञात है। नीलबुद्धि, लालबुद्धि आदि बुद्धियाँ जिस प्रकार प्रकाशित भाव हैं, अहम्-बुद्धि भी उस प्रकार की है। वह प्रकाशशीलता की अन्तिम अवस्था है। स्वभावतः प्रकाशशील, परन्तु परिणामी यह अहम्-बुद्धि अपरिणामी ज्ञाता की सत्ता से प्रकाशित है, क्योंकि अहंभाव का विश्लेषण करने पर शुद्ध ज्ञाता और परिणामी ज्ञेय इन दो भावों का लाभ होता है। ज्ञाता के द्वारा 'अहंभाव' प्रकाशित होने के कारण 'मैं ज्ञाता हूँ', या 'भोक्ता हूँ' या 'चित् हूँ' ऐसा अभिमानभाव होता है। यही चैतन्य की बुद्धिसादृश्य-प्राप्ति या 'तदाकारापत्ति' है। २।२० (६) देखिए। ऐसी तदाकारापत्ति ही स्वबुद्धिसंवेदन अर्थात् स्वभूत बुद्धि का प्रकाश या बोध कही जाती है। स्वभूत बुद्धि 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसी आत्मभूत बुद्धि है, इसका संवेदन या ख्याति या प्रकाशभाव ही स्वबुद्धिसंवेदन है।

मैं 'अमुक का ज्ञाता हूँ', 'अमुक का भोक्ता हूँ' आदि बुद्धिगत परिणामभावों से निर्विकार ज्ञाता अज्ञों को परिणामी जान पड़ता है। यह पहले बहुत बार व्याख्यात हुआ है।

'प्राप्तचैतन्योपग्रह' का अर्थ 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार के भाव की प्राप्ति है। 'बुद्धिवृत्ति के अनुकार' का अर्थ 'मैं अमुक-अमुक विषयों का ज्ञाता हूँ' आदि रूपों से मानों परिणामी बुद्धि के समान चैतन्य का होना है। 'अविशिष्ट बुद्धिवृत्ति' का अर्थ है—चैतन्य के साथ एकीभूत-सी बुद्धिवृत्ति।

भाष्यम्—अतश्चैतदभ्युपगम्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत्स्वयं च विषयत्वाद् विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याऽभिसम्बद्धम्; तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः।

अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति। अनुकम्पनीयास्ते। कस्मात्; अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति, समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः, स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात् कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत; तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति। एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज् जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः, तैरधिगतः पुरुष इति ॥ २३ ॥

भाष्यानुवाद— पूर्वसूत्रार्थ से यह सिद्ध होता है कि—

२३। द्रष्टा तथा दृश्य में उपरक्त होने के कारण चित्त सर्वार्थ (१) होता है। सू०

मन मन्तव्य अर्थ द्वारा उपरञ्जित होता है; तथा वह स्वयं भी विषय होने से विषयी पुरुष की अपनी वृत्ति-द्वारा अभिसम्बद्ध है; इसलिए चित्त द्रष्टृदृश्योपरक्त है। यह चित्त विषय और विषयी का ग्राहक, चेतन और अचेतनस्वरूपापन्न, विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक जैसा, अचेतन होने पर भी चेतन की भाँति, स्फटिकमणि-सा तथा सर्वार्थ कहा जाता है। (चिति के साथ) चित्त की इस सरूपता को देख कर ही भ्रान्त बुद्धि व्यक्ति उसी को (चित्त को ही) चेतन कहते हैं।

दूसरे कहते हैं कि ये सब वस्तु केवल चित्तमात्र हैं; गवादि और घटादि रूप कारणोत्पन्न वस्तु नहीं है। ये लोग और भी दयनीय हैं, क्योंकि इनके मत में सभी रूपों और आकारों का ग्राहक, भ्रान्ति-बीज चित्त ही विद्यमान

है। समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बरूप प्रज्ञेय अर्थ चित्त के आलम्बनीभूत होने के कारण उससे भिन्न है। वह अर्थ यदि चित्तमात्र हो, तो प्रज्ञा के ही द्वारा ज्ञास्वरूप का अवधारण कैसे हो सकेगा (२) ? अतः उस प्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत अर्थ जिसके द्वारा अवधारित होता है, वही पुरुष है। इस प्रकार ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य स्वरूप विषयक ज्ञानभेद के कारण इन तीनों को जो जातितः विभिन्न रूप से जानते हैं, वे ही सम्यग्दर्शी हैं और उन्हीं के द्वारा (श्रवण-मननपूर्वक) पुरुष का अधिगम होता है (समाधिद्वारा साक्षात्कार करने के लिए वे ही अधिकारी हैं)।

टीका २३ (१) स्वबुद्धिसंवेदन क्या है—यह व्याख्यात हो चुका है। चिति-शक्ति अप्रतिसंक्रमा है, अतः चैतन्य का बुद्धि-सा भान होना बुद्धि का ही एक प्रकार का परिणाम है। अतः बुद्धि जिस प्रकार विषय से उपरञ्जित होती है, उसी प्रकार वह चैतन्य से भी उपराग पाती है। सूत्रकार ने इस सूत्र में यही प्रदर्शित किया है। चित्त या बुद्धि सर्वार्थ है अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनों वस्तुओं का अवधारण करने में समर्थ है। 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसी बुद्धि भी होती है तथा 'मैं शरीर हूँ' ऐसी भी। 'पुरुष है' यह बुद्धि भी (आभ्यन्तरिक अनुभवविशेष से) होती है तथा शब्दादि हैं–यह भी। इन दोनों प्रकारों के बोध का उदाहरण पाए जाने के कारण ही बुद्धि को सर्वार्थ कहा है।

२३ (२) विज्ञानमात्र ही है, विज्ञानातिरिक्त पुरुष नहीं है, इस मत का निरसन भाष्यकार प्रसंगतः कर रहे हैं। इस मत में **"नान्योऽनुभाव्यो[1] बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयमेव प्रकाशते॥** (तुल० प्रमाणवार्त्तिक २।३२७)। **अविभागोऽपि[2] बुद्ध्यात्मा विपर्यासित-**

---

१. नान्योऽनुभाव्यो···श्लोक का आकर अज्ञात है। इसका अनुरूप श्लोक प्रमाणवार्त्तिक प्रत्यक्ष परिच्छेद में मिलता है। यह श्लोक सर्वदर्शनसंग्रहान्तर्गत बौद्धदर्शन प्रक० में उद्धृत है। दर्शनाङ्कुरटीका में इसका यह अर्थ किया गया है—"बुद्ध्या अनुभाव्यो ग्राह्यो घटादिः बुद्धेः सकाशाद् अन्यो नास्ति। तस्या बुद्धेरनुभवो नैयायिकाद्यनुमतः अनुव्यवसायरूपः, सोऽपि बुद्धेः सकाशाद् अपरोऽन्यो न। एवं बुद्धेः सकाशाद् अन्ययो ग्रीह्यग्राहकयोः वैधुर्याद् अभावात् सैव स्वयं प्रकाशते इत्यर्थः" (पृ० ३१)। **[सम्पादक]**

२. अविभागोऽपि—यह प्रमाणवार्त्तिक २।३५४ है। यह अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हुआ है। कहीं-कहीं 'अविभागोऽपि' के स्थान पर 'अभिन्नोऽपि' 'अविभक्तोऽपि' पाठ भी मिलते हैं (उद्धरणकारियों के ग्रन्थों में)। प्रमाणवार्त्तिकव्याख्याकार मनोरथनन्दी

दर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ (प्रमाणवार्त्तिक २।३५४) **इत्यर्थरूपरहितं संविन्मात्रं किलेदमिति पश्यन्। परिहृत्य दुःखसंसृतिमभयं निर्वाणमाप्नोति[1] ॥"** अर्थात् विज्ञानवादियों के मत में बुद्धि-द्वारा दूसरी किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता है, बुद्धि का भी दूसरा अनुभव (बुद्धि-बोध) नहीं है। बुद्धि ही ग्राह्य तथा ग्राहक के रूप में विधुर या विमूढ़ होकर अपने आप ही प्रकाश पाती है। बुद्धि के साथ आत्मा (बुद्धचा आत्मा) अभिन्न होने पर भी विपर्यस्तदृष्टि व्यक्तियों के द्वारा ग्राह्य, ग्राहक और संविद् या ग्रहण इन तीन भेदों से युक्त-सा आत्मा लक्षित होता है। अतः यह विषय-रूपरहित संविन्मात्र है—इस प्रकार जगत् को देख कर दुःखसन्तति का त्याग करने से अभय निर्वाण प्राप्त होता है।

इसमें कुछ सत्य रहने पर भी यह मत पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि समाधि-द्वारा जब पौरुष प्रत्यय साक्षात्कृत होता है तब उस प्रज्ञा का आलम्बन क्या होगा ? प्रज्ञा ही प्रज्ञा का आलम्बन नहीं हो सकती। अतः समाधिप्रज्ञा के विषयीभूत पौरुष चैतन्य के हेतुभूत पुरुष का रहना आवश्यक ही है। पुरुष रहने पर ही पुरुष का प्रतिबिम्ब होना सम्भव हो सकता है।

पौरुष प्रत्यय की व्याख्या ३।३५ सूत्र में की गई है। पुरुष गो, घट आदि के समान बुद्धि का आलम्बन नहीं होते हैं। परन्तु बुद्धि स्वप्रकाश चैतन्य से प्रकाशित है—इसका बोध करना ही पौरुष प्रत्यय है। इसी की ध्रुवा स्मृति समाधि में होती है। यह पुरुष-विषयक स्मृति ही समाधिप्रज्ञा का विषय है और वही उपमा के अनुसार प्रतिबिम्ब-चैतन्य के नाम से कथित

'बुद्धचात्मविपर्यासित…' रूप से इस श्लोक को पढ़ते हैं (बुद्धचात्मद्वयवासनया विपर्यासितम्—इस व्याख्यान से उपर्युक्त पाठ अनुमित होता है)। तदनुसार अर्थ होगा—'अविभागः बुद्धचात्मविपर्यासितदर्शनैः ग्राह्य-ग्राहकसंवित्ति-भेदवानिव लक्ष्यते।' पाठान्तर में अर्थ होगा—'अविभागो बुद्धचात्मा ग्राह्य-ग्राहक-संवित्तिभेदवान् इव लक्ष्यते विपर्यासितदर्शनैः (जनैः)। उपदेशसाहस्री का टीकाकार यह व्याख्या करते हैं—'बुद्धचात्मा बुद्धिस्वभावः अभिन्नोऽपि एकोऽपि…' (उपदेशसाहस्री १८।१४२ यह श्लोक है)। सर्वदर्शनसंग्रह की दर्शनाङ्कुरटीका में यह कारिका स्पष्टतया व्याख्यात हुई है—बुद्धचात्मा बुद्धिस्वरूपम्…(पृ० ३२)।

[सम्पादक]

१. न्यायमञ्जरी में ये तीन श्लोक इसी क्रम से उद्धृत हुये हैं (द्र० अपवर्ग-प्रकरण)।

[सम्पादक]

होती है। इस उपमा की सहायता से स्थूल रूप से साधारण जनों को इस विषय का ज्ञान होता है।

श्रवण और मनन-जनित सम्यक्-दर्शन क्या है, इसे दिखाकर भाष्यकार ने उपसंहार किया है। जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों को भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के आलम्बन होने के कारण भिन्नजातीय द्रव्य के रूप में दर्शन करते हैं उन्हीं का दर्शन सम्यक्-दर्शन है। इसी दर्शन के द्वारा पुरुष की सत्ता का सामान्यतः निश्चय होता है एवं तत्पूर्वक समाधि साधन कर विवेक-ख्याति का लाभ करने पर पुरुष का ज्ञान होता है। इसके बाद परवैराग्य द्वारा चित्त का प्रतिप्रसव (=पुनःउत्पत्तिहीन लय) करने से कैवल्य सिद्ध होता है।

भाष्यम्—कुतश्चैतत् ?—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत्। संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम्; न सुखचित्तं सुखार्थम्, न ज्ञानं ज्ञानार्थम्, उभयमप्येतत्परार्थम्—यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान्पुरुषः स एव परः। न परः सामान्यमात्रम्; यत्तु किञ्चित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात्। यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥२४॥

भाष्यानुवाद—किस हेतु से यह (पुरुष की स्वतन्त्रता) सिद्ध होता है ?

२४। वह (चित्त) असंख्य वासनाओं द्वारा विचित्र होने पर भी संहत्यकारित्व के कारण परार्थ होता है। सू०

वह (चित्त) असंख्य वासनाओं से चित्रीकृत होने पर भी परार्थ अर्थात् पर का भोगापवर्गार्थि है, स्वार्थ नहीं है, क्योंकि वह संहत्यकारी है; जैसे गृह (१)। संहत्यकारी चित्त स्वार्थ नहीं हो सकता है; क्योंकि सुखचित्त (भोगचित्त) सुखार्थ (चित्त के भोगार्थ) नहीं है; ज्ञान (अपवर्ग चित्त) ज्ञानार्थ (चित्त के अपवर्गार्थि) नहीं है। ये दोनों ही परार्थ हैं। जो भोग तथा अपवर्ग-रूप अर्थ द्वारा अर्थवान् है, वही परम पुरुष है। परन्तु सामान्य-मात्र (विज्ञानसजातीय-सा कुछ) नहीं है। वैनाशिकगण जिस किसी सामान्यमात्र (विज्ञानभेद-रूप) पर पदार्थ को भोक्ता-स्वरूप कहते हैं वह संहत्यकारित्व के कारण परार्थ होता है। जो पर विशेष (अर्थात् विज्ञानातिरिक्त) है वह संहत्यकारी नहीं है, वही पुरुषतत्त्व है।

टीका २४ (१) वह सर्वार्थ चित्त असंख्य वासनाओं द्वारा चित्रीकृत है। असंख्य जन्मों के विपाकानुभव से उत्पन्न संस्कार ही वे असंख्य वासनाएँ हैं। चित्त में वे सभी समाहित हैं।

वह चित्त परार्थ है, क्योंकि संहत्यकारी है। जो संहत्यकारी होता है या जो बहुत-सी शक्तियों के मिलन से निर्मित साधारण क्रिया है, वह उन सब शक्तियों में से किसी की भी अर्थभूत नहीं होती है। किन्तु वे सब शक्तियाँ जिससे प्रयोजित होकर एकत्र मिल कर काम करती हैं उस उपरिस्थित प्रयोजक की ही अर्थभूत होती हैं। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति या सात्त्विकी, राजसी और तामसी वृत्तियों का मिलित कार्य है, अतः वह संहत्यकारी है और इसी कारण परार्थ है। जो पर है, जिसके भोग और अपवर्ग के लिए चित्तक्रिया होती है, वही पुरुष है।

संहत्यकारित्व का उदाहरण भाष्यकार ने दिया है। गृह नाना अवयवों के मिलन का फल है। गृह वासार्थ है, गृह गृह में नहीं बसता है, अन्य कोई ही बसता है। उसी प्रकार सुखचित्त नाना करणों या चित्तावयवों के मिलन का फल है। सुख से चित्त का कोई अवयव सुख नहीं पाता, परन्तु 'मैं सुखी होता हूँ'। इस अनुभूति युक्त अहंभाव में दोनों भावों का मिलन है—एक द्रष्टा और अन्य दृश्य। दृश्य 'अहम्' ही चित्त है और चित्त की अवस्थाविशेष सुखादि है। 'अहंभाव' का यह सुखादिरूप अंश अन्य द्रष्टा-रूप अंश द्वारा प्रकाशित होता है। उसी से 'मैं सुखी हूँ' यह अवधारणा होती है। इस प्रकार सुख-चित्त से अतिरिक्त अन्य एक पदार्थ ही सुखयुक्त होता है। अतएव सुख, दुःख और शान्ति (अपवर्ग)–चित्त की ये सब क्रियाएँ परार्थ या पर-प्रकाश्य हैं। चित्त का प्रतिसंवेदी पुरुष ही वह पर है—इस युक्ति के बल से भी प्रसंगतः वैनाशिकवाद का परिहार भाष्यकार ने किया है।

विज्ञानवादीगण विज्ञान के किसी अंश को केवल नाम देकर ही भोक्ता या आत्मा कहते हैं। उनका वह भोक्ता विज्ञान के अन्तर्गत है। सांख्य का भोक्ता विज्ञान से अतिरिक्त चिद्रूप पदार्थविशेष होता है। विज्ञाता विज्ञान के समान संहत्यकारी नहीं होता, क्योंकि वह एक, निरवयव है। अतः हमारे आत्मभाव में वही स्वार्थ होता है, दूसरे सब परार्थ हैं।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजम्-

अपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते। तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, यस्याभावादिदमुक्तम्–"स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति अरुचिश्च निर्णये भवति।"

तत्रात्मभावभावना कोऽहमासम्, कथमहमासम्, किंस्विदिदम्, कथंस्विदिदम्, के भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति। सा तु विशेषदर्शिनो निवर्तते, कुतः? चित्तस्यैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति; ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तते इति॥ २५॥

२५। विशेषदर्शी में आत्मभाव-भावना की निवृत्ति हो जाती है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—जिस प्रकार वर्षाकाल में तृणाङ्कुर के उद्भेद-दर्शन से उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग-श्रवण से जिनमें रोमहर्ष और अश्रुपात देखे जाते हैं उन व्यक्तियों में पूर्व-कर्म-निष्पादित मोक्षभागीय विशेष-दर्शन का बीज निहित है, यह अनुमित होता है। उनकी आत्मभावभावना स्वभावतः प्रवर्तित होती है। जिसके (स्वाभाविक आत्मभाव-भावना के) अभाव के विषय में यह उक्त हुआ है–'आत्मभाव त्यागकर दोषवश जिनकी पूर्वपक्ष में (परलोकादि के नास्तित्व में) रुचि होती है तथा (पञ्चविंशति-तत्त्वादि के) निर्णय में अरुचि होती है' (२)।

आत्मभावभावना, जैसे—'मैं कौन था, मैं कैसे था, ये (शरीरादि) क्या हैं', 'किस प्रकार ये बने हैं, 'फिर मैं क्या होऊँगा' 'कैसे होऊँगा' इत्यादि। विशेषदर्शी को ही इस भावना की निवृत्ति हो जाती है। किस (प्रकार के ज्ञान) से निवृत्ति होती है?–यह चित्त का ही विचित्र परिणाम है, अविद्या नहीं रहने पर भी पुरुष शुद्ध और चित्तधर्म से अपरामृष्ट होते हैं–इस प्रकार उस कुशल पुरुष की आत्मभावभावना निवृत्त हो जाती है।

टीका २५ (१) पहले चित्त तथा पुरुष का भेद सम्यक् प्रतिपादित हुआ है। अब कैवल्य के प्रतिपादन के लिए सूत्र में कैवल्यभागीय चित्त का निर्देश कर रहे हैं।

पूर्वसूत्रोक्त पर विशेषस्वरूप पुरुष को जो देखते हैं उनकी आत्मभाव-भावना निवृत्त हो जाती है। आत्मविषयक भावना ही आत्मभावभावना है। जो चित्त के परस्थित पुरुष के विषय में अज्ञ हैं उनमें आत्मभावभावना की निवत्ति की संभावना नहीं है। जो पुरुष-साक्षात्कार कर सकते हैं, उन्हीं को

निवृत्ति होती है। शास्त्र कहता है—**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥'** (मुण्डक २।३।८)।[1]

२५ (२) उत्तरोत्तर बहुत से जन्मों में निष्पादित विशेष दर्शन का बीज रहने पर ही विशेषदर्शन होता है। मोक्षशास्त्र में रुचि देख कर इसका अनुमान किया जाता है। उस रुचि या श्रद्धा के साथ वीर्य तथा स्मृति से समाधि-साधन कर प्रज्ञालाभ किया जाता है। विवेकरूप प्रज्ञा द्वारा पुरुषदर्शन होने पर साधारण आत्मभाव चित्तकार्य है—ऐसी स्फुट प्रज्ञा होती है और यह ज्ञान भी होता है कि अविद्यावश ही पुरुष के साथ चित्त संयुक्त होता है। अतः उससे आत्मविषयक सभी जिज्ञासाएँ सम्यक् निवृत्त हो जाती हैं। आत्मभाव में अज्ञात कुछ भी नहीं रहता। मैं वस्तुतः क्या हूँ और क्या नहीं हूँ, इसकी सम्यक् प्रज्ञा होती है। पर पहले श्रुतानुमान-प्रज्ञा से आत्मभावभावना की निवृत्ति होती है; बाद में साक्षात्कार द्वारा उसकी निवृत्ति होती है।

———

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

भाष्यम्—तदानी यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारम् अज्ञाननिम्नमासीत् तदस्यान्यथा भवति, कैवल्यप्राग्भारं विवेकजज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

२६। उस समय चित्त विवेकमार्गसञ्चारी तथा कैवल्य-अभिमुख होता है (१)। सू०

भाष्यानुवाद—पुरुष का (साधक का) जो चित्त विषयाभिमुख और अज्ञानमार्गसंचारी था वही चित्त उस समय (विशेष दर्शन होने की अवस्था में) अन्य-रूप होता है। (तब वह) कैवल्याभिमुख और विवेकज-ज्ञानमार्गसञ्चारी होता है।

टीका २६ (१) विवेक द्वारा आत्मभावभावना निवृत्त होने से उस अवस्था में चित्त विवेक-मार्ग में प्रवहणशील रहता है। कैवल्य ही उस प्रवाह की अन्तिम सीमा है। जिस प्रकार कोई खात क्रमशः नीचा या ढालुवाँ होता हुआ किसी प्राग्भार या ऊँचे स्थान पर समाप्त हो, तो जल उस खात के निम्नमार्ग से बहता हुआ प्राग्भार में जाकर शोषित होकर विलीन होता है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति उस समय विवेकरूप निम्नमार्ग से बहती हुई कैवल्य-प्राग्भार में पहुँच कर विलीन होती है।

---

१. तात्पर्य — निर्गुण तथा सगुणब्रह्म की उपलब्धि करके समाहित होने पर प्रज्ञा चित्त में प्रतिष्ठित होती है जिससे हृदय की अविद्यामूलक कर्मसंस्कार की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और सभी संशयों का नाश हो जाता है। [सम्पादक]

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि अस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा, कुतः ? क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

२७। उसके (विवेक के) छिद्रों में संस्कारों द्वारा अन्य व्युत्थान-प्रत्यय उठते हैं। सू०

भाष्यानुवाद—विवेकनिम्न प्रत्यय या बुद्धिसत्त्व के अर्थात् सत्त्वपुरुष के भिन्नता-ख्यातिमात्र से प्रवहणकारी चित्त के विवेक-छिद्र या विवेक के बीच में अन्य प्रत्यय उठते हैं। जैसे, 'मैं या मेरा', 'मैं जान रहा हूँ या नहीं जान रहा हूँ,' इत्यादि। किस हेतु से ? क्षीण-बीज पूर्वसंस्कारों से (ऐसे प्रत्यय उठते हैं) (१)।

टीका २७ (१) विवेकख्याति में यदि चित्त प्रधानतः विवेकमार्ग-सञ्चारी भी हो, तो भी जब तक संस्कारों का सम्यक् क्षय (प्रान्तभूमि प्रज्ञा की निष्पत्ति द्वारा) न हो जाए तब तक बीच-बीच में अन्य प्रत्यय या अविवेक-प्रत्यय उठते ही हैं। विवेकज्ञान होने पर तत्काल ही सभी संस्कार क्षीण नहीं होते; परन्तु विवेकसंस्कार के सञ्चय से अविवेक संस्कार क्रमशः क्षीयमाण होते रहते हैं। उस समय भी कुछ अवशिष्ट अविवेक संस्कारों से अविवेकप्रत्यय बीच-बीच में उठा करते हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥२८॥

भाष्यम्—यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति। ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरते इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

२८। इन (प्रत्ययान्तरों)का हान क्लेशों के हान की तरह है, ऐसा कहा गया है। सू०

भाष्यानुवाद—जिस प्रकार दग्धबीजभाव क्लेश प्ररोह उत्पन्न करने में असमर्थ होता है अर्थात् पुनः क्लेशोत्पादन में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि-द्वारा दग्धबीजभाव पूर्वसंस्कार प्रत्ययों का प्रसव नहीं करता है। ज्ञानसंस्कार चित्त के अधिकार की समाप्ति तक रहते हैं, अतः (अर्थात् अधिकार की समाप्ति हो जाने से उनके स्वयं नष्ट हो जाने के कारण) उनके लिए चिन्ता की आवश्यकता नहीं है (१)।

टीका २८ (१) अविवेकप्रत्यय और अविवेकसंस्कार इन दोनों का

विनाश होने पर ही व्युत्थानप्रत्यय सम्यक् विनिवृत्त होता है। चित्त के विवेक-निम्न होने पर विवेक द्वारा अविद्यादि दग्धबीजवत् होते हैं। तब अविवेक संस्कार और सञ्चित नहीं हो सकता, क्योंकि, अविवेक का अनुभव होते ही वह विवेक से अभिभूत हो जाता है (२ । २६ देखिए)। परन्तु उस समय भी अनष्ट पूर्वसंस्कार से अविवेक प्रत्यय उठता है (मैं, मेरा इत्यादि) उसका भी निरोध करने के लिए उस प्रत्यय के हेतुभूत पूर्वसंस्कार को दग्धबीजवत् करना चाहिए। ज्ञान के संस्कार से वह अविवेकसंस्कार दग्धबीजवत् होता है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा को ही ज्ञानसंस्कार कहा जाता है।

उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी योगी को विवेकज्ञान हुआ। वे उस ज्ञान का अवलम्बन करके समाहित रह सकते हैं, किन्तु संस्कारवश उनको प्रत्यय उठा कि 'मैं अमुक स्थान पर जाऊँगा'। उन्होंने ऐसा ही किया। उससे और भी बहुत से प्रत्यय हुए। तत्पश्चात् उन्होंने समाहित होने की इच्छा से सोचा कि 'यह गमनस्वरूप जो अविवेक प्रत्यय है उसका स्मरण अब नहीं करूँगा;' अतः अविवेक का नवीन संस्कार सञ्चित नहीं हो सका। अथवा गमनकाल में यदि वे ध्रुवस्मृतिबल से प्रतिपदक्षेप में विवेकज्ञान का स्मरण करें, तो उस क्रिया से भी विवेकसंस्कार ही (पर सम्यक् रूप से नहीं) होगा, अविवेकसंस्कार नहीं होगा (वस्तुतः योगीगण इस रूप से ही कर्म करते हैं)।

किन्तु इससे पूर्वसंस्कार (जिससे गमन करने का प्रत्यय उठा है) नष्ट नहीं होगा। यदि वे सोचें कि गमन करना बुद्धि का काम है, मैं उसे नहीं चाहता हूँ, तथा इस ज्ञान की सहायता से गमन में विरागवान् हो जाए तो उनको (ध्रुवस्मृतिबल से) गमनसंकल्प नहीं होगा। अतः इस ज्ञानसंस्कार से उनका गमनहेतु संस्कार दग्धबीजवत् हो जाएगा, अर्थात् फिर कभी 'गमन करूँगा' यह संस्कार स्वतः प्रत्यय का उत्पादक नहीं होगा।

'मैं ज्ञेय जान चुका हूँ, ज्ञातव्य और कुछ नहीं है' इत्यादि प्रान्तभूमिप्रज्ञा के संस्कार से अविवेक-संस्कार पूर्ण दग्धबीजवद्-भाव पाता है। जब कर्मवश नया अविवेक प्रत्यय नहीं होता है तथा पूर्वसंस्कार-वश भी नया अविवेक-प्रत्यय नहीं होता है, तब प्रत्ययोत्पत्ति के सभी कारण विनष्ट होते हैं, यह कहा जाता है। व्युत्थान के कारण का विनाश होने पर व्युत्थान का प्रत्यय भी नहीं उठता है। प्रत्यय चित्त की वृत्ति या व्यक्तता है। प्रत्यय सम्यक् निवृत्त होने से—पुनरुत्थान की सम्भावना ही न रहने से—चित्त प्रलीन या विनष्ट हो जाता है।

यही गुणों की अधिकार-समाप्ति है। अतएव ज्ञानसंस्कार चित्त का

अधिकार समाप्त कराता है। चित्त के प्रलय के लिए ज्ञान-संस्कार के सञ्चय को छोड़कर दूसरे उपायों की चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। यदि सब प्रकार के चित्तकार्यों में विरक्त होकर उसका निरोध किया जाए, तो चित्त निष्क्रिय यानी प्रलीन हो जाएगा। सांख्यदृष्टि में चित्त उस समय अभाव प्राप्त नहीं होता है, परन्तु स्वकारण में अव्यक्तभाव से रहता है। अतः कोई भाव पदार्थ स्वयं अपने अभाव का कारण हो सकता है—इस प्रकार की अयुक्त कल्पना करने की आवश्यकता सांख्यीयदर्शन में नहीं है। सभी पदार्थ निमित्तवश अवस्थान्तर पाते हैं। विद्यारूप निमित्त अविद्या को नष्ट करता है। चित्त भी इसी प्रकार व्यक्त अवस्था से अव्यक्त अवस्था में जाता है, परन्तु उसका अभाव नहीं होता है।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२९॥

भाष्यम्—यदायं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदः—ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति, संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

२९। प्रसंख्यान या विवेकजज्ञान में भी विरागयुक्त होने पर सर्वथा विवेकख्याति होने से धर्ममेघ-समाधि उत्पन्न होती है। सू०

भाष्यानुवाद—जब यह (विवेकख्यातियुक्त) ब्राह्मण प्रसंख्यान में भी (१) अकुसीद होता है अर्थात् उससे भी कुछ नहीं चाहता तब उस (प्रसंख्यान) में भी विरक्त योगी को सर्वथा विवेकख्याति होती है। संस्कारबीजक्षय के कारण उसको और प्रत्ययान्तर उत्पन्न नहीं होते। उस समय उसको धर्ममेघ-नामक समाधि होती है।

टीका २९ (१) विवेकख्यातिजनित सार्वज्ञ्यसिद्धि को (३।५४) यहाँ पर प्रसंख्यान कहा गया है। जब ब्रह्मविद् व्यक्ति प्रसंख्यान में भी अकुसीद या रागशून्य होते हैं अर्थात् विवेकजसिद्धि में भी जब विरक्त होते हैं तब जो सर्वथा विवेकख्याति होती है उस समाधि को धर्ममेघ या परम-प्रसंख्यान कहते हैं (भाष्य १।२)। वह आत्मदर्शनरूप परम धर्म को सिंचन करती है अर्थात् चित्त को आत्म-दर्शनरूप भाव से सम्यक् अवसिक्त करती है, इसीलिए उसका नाम धर्म-मेघ है। मेघ जिस प्रकार जलवर्षण करता है उसी प्रकार यह धर्ममेघ समाधि भी परम धर्म की वर्षा करती है अर्थात् बिना प्रयत्न के (सहज रूप से ही) उस समय कृतकृत्यता हो जाती है।[1]

---

१. इस विषय में कठोपनिषद् २।१।१४ का वाक्य द्रष्टव्य है—यथोदकं दुर्गे वृष्टं

यही साधन की अन्तिम सीमा है; यही अविप्लवा विवेकख्याति है; यह पूर्ण होने पर ही सम्यक् निरोध सिद्ध होता है। धर्ममेघ शब्द का अन्य अर्थ भी होता है। धर्मसमूह को यानी ज्ञेयपदार्थसमूह को मेहन अर्थात् युगपत् ज्ञानारूढ़ कर मानो यह सिंचन करता है, अतः इसका नाम धर्ममेघ है। यह अर्थ धर्ममेघ की सिद्धि से संबन्धित है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

भाष्यम्–तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति, कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति; कस्मात्? यस्माद् विपर्ययो भवस्य कारणम्, न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

३०। उससे क्लेश तथा कर्म की निवृत्ति होती है। सू०

भाष्यानुवाद—उसके लाभ से अविद्यादि-क्लेशसमूह समूल (संस्कार के साथ) नष्ट होते हैं, पुण्य और अपुण्य कर्माशय-समूह समूल निहत होते हैं, क्लेश-कर्म की निवृत्ति होने पर विद्वान् जीवित रहकर भी विमुक्त होते हैं। क्योंकि विपर्यय ही जन्म का कारण है; किसी क्षीणविपर्यय व्यक्ति का जन्म होते किसी ने नहीं देखा है (१)।

टीका ३० (१) धर्ममेघ द्वारा क्लेश-कर्म की निवृत्ति होने पर ऐसे पुरुष जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। ऐसे कुशल योगी पूर्वसंस्कारवश कोई काम नहीं करते हैं। यहाँ तक कि पूर्वसंस्कारवश शरीरधारण भी नहीं करते हैं। यदि किसी काम को करना हो तो वे निर्माणचित्त के द्वारा करते हैं। निर्माणचित्त का कार्य बन्ध का कारण नहीं होता, यह पहले कहा गया है। जीवन्मुक्त योगी यदि शरीर रखते हैं तो इच्छापूर्वक यानी निर्माणचित्त के द्वारा ही। जिनको विवेकख्याति प्राप्त हुई है पर सम्यक् निरोध की निष्पत्ति नहीं हुई है, ऐसे

पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यन् तानेवानुविधावति ॥ अर्थात् जिस प्रकार दुर्गम पर्वतशिखर में बरसा हुआ जल बहकर पर्वतगात्र को प्लावित करता है उसी प्रकार धर्मसमूह को अर्थात् बुद्धिवृत्तियों को विवेकज्ञान द्वारा द्रष्टा पुरुष से भिन्न जानने पर वह ज्ञान बुद्धिधर्मों को प्लावित करता है, अर्थात् बुद्धिरूप-शिखर में विवेकरूप-वृष्टिपात से उस विवेकरूप जल-प्लावन द्वारा बुद्धिधर्म आप्लावित या विवेकमय होते हैं; अथवा जिस प्रकार जल शुद्ध तथा निर्मल होने पर उसमें बरसा हुआ वारि भी शुद्ध जल ही होता है उसी प्रकार विवेकज्ञानसंपन्न मुनि की आत्मा या बुद्धि विवेकमात्र में समाहित रहने के कारण विशुद्ध विवेक में ही पूर्ण रहती है।

साधक भी जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। वे संस्कार के लेश से शरीर धारण करते हैं। वे नवीन कर्म का त्याग करके केवल संस्कार-समाप्ति की प्रतीक्षा करते हैं। उस समय उनको तैलहीन दीप की भाँति संस्कार की निवृत्ति होकर कैवल्य होता है।

मुक्ति का अर्थ दुःखमुक्ति है। जो इच्छामात्र ही बुद्धि से वियुक्त हो सकते हैं उन्हें बुद्धिगत दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, यह कहना अनावश्यक है। दुःखाधार संसार भी उनसे निवृत्त होता है, क्योंकि अविवेक ही संसार का कारण है विवेकख्याति युक्त पुरुष का जन्म असंभव होता है; जितने प्राणी जन्म लेते हैं या ले चुके हैं, सभी विपर्यस्त हैं। विपर्ययशून्य प्राणी को किसी ने कभी जन्म लेते हुए नहीं देखा है।

सांख्ययोग के जीवन्मुक्त पुरुष इस प्रकार के सर्वोच्च साधन से सम्पन्न होते हैं। श्रुति भी कहती है—**'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'** (तै० उप० २।४।१), **'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥'** (बृहदा० ४।४।१२)।[1] जो गुरुतम पीड़ा से भी अणुमात्र विचलित नहीं होते, वे ही दुःखमुक्त हैं। जीवित अवस्था में किसी पुरुष के ऐसा होने पर ही उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है। यही सांख्ययोग का मत है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति। आवरकेण तमसाभिभूतमावृतज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति। तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतमलं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम्; ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते, यथा आकाशे खद्योतः। यत्रेदमुक्तम्—"अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत् तमजिह्वोऽभ्यपूजयद्"[2] इति ॥ ३१ ॥

३१। उस समय सभी आवरणमलों से विरहित ज्ञान के आनन्त्य के कारण ज्ञेय अल्प होता है। सू०

---

१. अनुवादः यदि कोई व्यक्ति 'मैं यह हूँ' इस प्रकार आत्मा को जान जाता है तो फिर वह किसकी इच्छा करता हुआ तथा किस कामना से शरीर के पीछे सन्तप्त होगा ? [**सम्पादक**]

२. तैत्तिरीय आरण्यक १।११ में यह श्लोक है—अन्धो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिरावयत्। अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्। तमजिह्वा असश्चत ॥ [**सम्पादक**]

भाष्यानुवाद— सभी क्लेशों और कर्मावरणों से विमुक्त ज्ञान का आनन्त्य होता है। आवरक तमः द्वारा अभिभूत होकर (अनन्त) ज्ञानसत्त्व आवृत हो जाता है। वह कहीं-कहीं रजोगुण-द्वारा प्रवर्तित या उद्घाटित होकर ग्रहणसमर्थ होता है। जब सभी आवरण मलों से चित्तसत्त्व निर्मल होता है तब ज्ञान का आनन्त्य होता है। ज्ञान के आनन्त्य के कारण ज्ञेय अल्प हो जाता है, जैसे आकाश में खद्योत है (१)। (क्लेश का मूल उच्छिन्न होने पर क्यों जन्म नहीं होता है ?) इस विषय में कहा गया है—'अन्धे ने मणियों में छेद किया है, अङ्गुलिहीन ने उसे गूँथा है, अग्रीव ने उसे गले में धारण किया है और गुंगे ने उसकी प्रशंसा की है' (२)।

टीका ३१ (१) ज्ञान या चित्तरूप में परिणत सत्त्वगुण का आवरण रजस्तमोगुण हैं। अस्थिरता और जड़ता ज्ञान को सम्यक् विकसित नहीं होने देती हैं। शरीरेन्द्रिय के संकीर्ण अभिमान से ज्ञानशक्ति में जड़ता आती है और उसकी चञ्चलता से अस्थिरता आती है। इसलिए ज्ञेय विषय में ज्ञानशक्ति का पूर्णतया प्रयोग नहीं किया जाता है। सम्यक् स्थिर और संकीर्णताशून्य होने पर ज्ञान की सीमा अपगत होती है (क्योंकि वे ही ज्ञानशक्ति के सीमाकारी हेतु हैं)। ज्ञानशक्ति असीम होने पर ज्ञेय अल्प हो जाता है, जैसे अनन्त आकाश में क्षुद्र खद्योत (जुगनू)। लौकिक ज्ञान इस दृष्टान्त का विरोधी है। उसमें खद्योत ही ज्ञान और अनन्त आकाश ज्ञेय है। धर्ममेघ-समाधि में इसी प्रकार अनन्त ज्ञानशक्ति होती है।

३१ (२) अन्धे द्वारा मणि का वेधना, अङ्गुलिहीन द्वारा उसका गूँथना, अग्रीव द्वारा उसका गले में पहनना और मूक द्वारा उसका सराहना-ये सब जिस प्रकार अलीक हैं, धर्ममेघ द्वारा क्लेशकर्म की समूल निवृत्ति होने पर पुरुष का पुनः संसरण भी उसी प्रकार अलीक है। अलीकत्व के उदाहरणार्थ ही इस श्रुति को उद्धृत किया गया है।

विज्ञानभिक्षु ने बौद्धों के उपहासरूप में इसकी व्याख्या करके केवल व्याख्यानकौशल ही दिखाया है। परन्तु उनकी व्याख्या वस्तुतः श्रद्धेय नहीं है। बौद्ध भी अनन्तज्ञान स्वीकार करते हैं।[१]

———

१. द्र० अष्टसाहसिका प्रज्ञापारमिता पृ० ८२-८३; बोधिचर्यावतारपञ्जिका पृ० ४४७–४४८। सर्वज्ञता तीन प्रकार की है—यह बौद्धशास्त्र में प्रायः कहा जाता है। सर्वाकारता, मार्गज्ञता एवं वस्तुज्ञान—ये तीन प्रकार हैं। [**सम्पादक**]

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

भाष्यम्– तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानांपरिणामक्रमः परिसमाप्यते;न हि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥३२॥

३२। उससे (धर्ममेघ से) कृतार्थ गुणों का परिणाम-क्रम समाप्त होता है। सू०

भाष्यानुवाद –उस धर्ममेघ के उदय से कृतार्थ गुणसमूह का परिणाम-क्रम परिसमाप्त हो जाता है। भोग और अपवर्ग निष्पन्न तथा परिसमाप्त-क्रम होने पर (गुणवृत्तियाँ) क्षणकाल भी नहीं ठहर सकतीं (अर्थात् प्रलीन हो जाती हैं (१) ।

टीका ३२ (१) धर्ममेघसमाधि का फल है—क्लेशकर्म की निवृत्ति, ज्ञान का चरम उत्कर्ष एवं गुणों के अधिकार या परिणामक्रम की समाप्ति। उससे गुणसमूह कृतार्थ (जिनके भोगापवर्ग-रूप अर्थ कृत या निष्पादित हो चुके हैं) होते हैं। जाति, आयु और सुखदु:ख रूप कर्मफल के भोग में सम्यक् विराग होने से भोग निष्पादित या समाप्त होता है तथा परमगति पुरुषतत्त्व के अवधारण से अपवर्ग निष्पादित होता है। चित्त द्वारा जो प्राप्य है उसे पाने पर सम्यक् फलप्राप्ति या अपवर्ग होता है। अतः उस कृतार्थ पुरुष के बुद्धयादिरूपों में परिणत सभी गुण कृतार्थ होते हैं। कृतार्थ होने पर उनका परिणामक्रम समाप्त होता है, क्योंकि, परिणामक्रम ही भोग और अपवर्ग का स्वरूप होता है। भोगापवर्ग न रहने पर गुण-विकार बुद्धि-आदि भी उसी समय विलीन हो जाते हैं।

सूत्रस्थ 'गुणानाम्' शब्द का अर्थ है उस विवेकी के गुणविकारों[1] का या बुद्धयादि का। परिणाममात्र की समाप्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य है। गुण कार्य-कारणात्मक है अर्थात् मूल प्रकृति को छोड़कर दूसरी सब प्रकृतियाँ और विकृतियाँ ही यहाँ पर गुण हैं।

भाष्यम्—अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

---

१. ग्रन्थकार ने गुण का जो 'गुणविकार' रूप अर्थ किया है, वह पूर्वाचार्यानुमोदित है। व्यासभाष्य के 'गुणाः गिरिशिखर……' वाक्य में (२।२७) भी गुण का यही अर्थ है। त्रिगुण शब्द भी 'गुणत्रय' एवं 'त्रिगुणविकार' इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। मनु के 'सर्वाणि त्रिगुणानि च' (१।१५) में विकार अर्थ ही है। अर्थभेद के अनुसार समास में भी भेद होगा। [सम्पादक]

क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेन अवसानेन गृह्यते क्रमः। न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः।

द्वयी चेयं नित्यता—कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्। उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्।

तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानः, नित्येषु धर्मिषु गुणेषु अलब्धपर्यवसानः। कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः, शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति।

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्नवेति; अवचनीयमेतत्। कथम्, अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः—सर्वो जातो मरिष्यति ? ओं भो इति। अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति ? विभज्यवचनीयमेतत्; प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यते, इतरस्तु जनिष्यते।

तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्यवचनीयः प्रश्नः—पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं त्ववचनीयः प्रश्नः—संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। कुशलस्यास्ति संसारक्रमसमाप्तिर्नेतरस्येति। अन्यतरावधारणेऽदोषस्तस्माद् व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

भाष्यानुवाद—यह परिणाम-क्रम क्या है ?—

३३। जो क्षण का प्रतियोगी है (१) और परिणामावसान-पर्यन्त निर्ग्राह्य है, वही क्रम है। सू०

क्रम अविरल क्षणप्रवाह-स्वरूप है, वह परिणाम के अपरान्त अर्थात् अवसान के द्वारा गृहीत (अनुमित वा conceived) होता है। नव वस्त्र के अन्त में जो पुराणता होती है वह अननुभूत-क्षणक्रम (२) होने पर नहीं होती। नित्य पदार्थ में भी यही परिणामक्रम देखा जाता है।

यह नित्यता दो प्रकार की है—कूटस्थनित्यता तथा परिणामी-नित्यता। पुरुष में कूटस्थनित्यता और गुणों में परिणामी-नित्यता है। परिणम्यमान होने पर भी जिसके तत्त्व या स्वरूप का विनाश नहीं होता है वही नित्य (३) है।

(गुण और पुरुष) दोनों के ही तत्त्व का विपर्यास न होने के कारण दोनों पदार्थ नित्य कहलाते हैं। परन्तु गुणों के धर्म जो बुद्धि आदि हैं उनमें परिणामावसान से निर्ग्राह्य क्रम पर्यवसान-लाभ करता है; नित्यधर्मी जो गुणसमूह हैं उनमें क्रम पर्यवसान-लाभ नहीं करता है। कूटस्थ-नित्य स्वरूपमात्र-प्रतिष्ठ मुक्त पुरुषों की स्वरूप-अस्तिता भी क्रम के द्वारा ही अनुभूत

होती है, अतः वहाँ भी वह अलब्धपर्यवसान है। यह क्रम शब्दपृष्ठ या शब्दानुसारी विकल्प द्वारा 'अस्ति' क्रिया ('है, था, होगा') का ग्रहण करके विकल्पित होता है।

सृष्टि और प्रलय के प्रवाह रूप गुणों में वर्त्तमान यह जो संसार है, इसके परिणामक्रम की समाप्ति होती है या नहीं ?—यह प्रश्न अवचनीय है। क्यों ?—(एक प्रकार का) प्रश्न है जो एकान्तवचनीय है; जैसे, क्या सब जनमें हुए प्राणी मरेंगे ?—'हाँ' (यह उक्त प्रश्न का उत्तर हो सकता है)। (परन्तु) सब मरे हुए व्यक्ति क्या जनमेंगे ? (इस प्रकार का प्रश्न) विभाग द्वारा वचनीय है; जैसे, प्रत्युदितख्याति, क्षीणतृष्ण, कुशल पुरुष नहीं जनमेंगे, किन्तु दूसरे जनमेंगे।

इसी प्रकार, क्या मनुष्यजाति श्रेयसी है ? इस प्रकार कहने से यह भी विभज्य-वचनीय है; जैसे यह जाति जानवरों से श्रेष्ठ है पर देवताओं तथा ऋषियों से नहीं। यह संसृति (सारे पुरुषों का संसार) सान्त है या अनन्त ? यह अवचनीय प्रश्न है, अत: यह विभाग कर उत्तर देने योग्य है, यथा— कुशल के लिए इस संसारक्रम की समाप्ति होती है, परन्तु दूसरों के लिए नहीं। अतएव यहाँ पर दोनों उत्तरों में एक का अवधारण करने में दोष न होने के कारण (**'अन्यतरावधारणे दोषः'** इस पाठ से भी फलतः उसी प्रकार का अर्थ निकलता है) इस प्रकार का प्रश्न व्याकरणीय है (४)।

टीका ३३ (१) क्षण का प्रतियोगी या सत्प्रतिपक्ष[1]। जिस प्रकार घटाभाव का प्रतियोगी सत् घट है, उस प्रकार क्षणरूप कालावकाश का निरूपक सत् पदार्थ ही क्षणप्रतियोगी है; अर्थात् क्षण को व्याप्त कर जो धर्म उदित होता है, वही क्षणप्रतियोगी है। क्षणप्रतियोगी वस्तु का आनन्तर्य या अविरल भाव ही क्रम कहलाता है। ये क्रम परिणाम के अवसान या शेष द्वारा गृहीत होते हैं। धर्म-परिणाम-क्रम की प्रवृत्ति का आदि नहीं है। परन्तु योग द्वारा बुद्धि विलीन होने पर उस बुद्धिधर्म का परिणामक्रम समाप्त होता है, पर रजोमात्र के क्रियास्वभाव का परिणामक्रम समाप्त नहीं होता। उपदर्शन-रूप हेतु समाप्त होने से बुद्धि आदि नहीं रहते हैं।

---

१. 'क्षणप्रतियोगी' का तात्पर्य यह है—विवक्षित क्रम क्षण-प्रचयाश्रय-रूप है। 'क्षण-प्रचय' का अर्थ है क्रमिक क्षणों की समष्टि। उत्तर क्षण में पूर्व क्षण का जो आनन्तर्य है, वही यहाँ संबन्ध है। संबन्ध के प्रतियोगी और अनुयोगी होते हैं। आनन्तर्यनामक संबन्ध (जो उत्तर क्षण में विद्यमान है) का प्रतियोगी पूर्वक्षण है। [**सम्पादक**]

३३ (२) यह क्रम क्षणावच्छिन्न होने के कारण अलक्ष्य होने पर भी स्थूल परिणाम देखकर पश्चात् लौकिक दृष्टि से अनुमित होता है। योगज-प्रज्ञा से उसका साक्षात्कार किया जाता है। शुद्ध कालांश-क्षण का क्रम नहीं है, क्योंकि वह वस्तु नहीं है, एवं एकाधिक रूप से वह कल्पनीय नहीं है। धर्म की अन्यता या परिणाम देखकर ही पूर्वक्षण तथा परक्षण इस प्रकार का भेद-निरूपण किया जाता है, अत: क्रम परिणाम का ही होता है, कालांश-क्षण का नहीं। क्षण का क्रम कहने से क्षणव्यापी परिणाम का क्रम ही जान पड़ता है, क्योंकि वही सूक्ष्मतम परिणामक्रम है।

अननुभूतक्रमक्षणा पुराणता = अननुभूत या अप्राप्त; जिन क्षणों ने परिणाम क्रम को प्राप्त नहीं किया ऐसे क्षणों से युक्त पुराणता कभी नहीं होती। पुराणता सदा अनुभूत-क्रमक्षण-युक्त ही होती है। अर्थात् क्षणिक परिणाम-के अनुसार ही अन्तिम पुराणता होती है।

३३ (३) परिणम्यमान होने पर भी जिसके तत्त्व का नाश नहीं होता, उसी का नाम नित्यपदार्थ है। गुण तथा पुरुष का तत्त्व नष्ट न होने के कारण वे दोनों ही नित्य हैं। परन्तु गुणत्रय परिणामी नित्य हैं, और पुरुष कूटस्थनित्य है; परिणम्यमान होने पर भी गुण गुण ही रहता है, उसका गुण-स्वरूप तत्त्व कभी परिवर्तित या नष्ट नहीं होता; अत: गुणत्रय परिणामी-नित्य हैं। पुरुष अविकारी होने से कूटस्थ नित्य हैं। स्वरूपत: पुरुष अविकारी हैं, परन्तु हम कहते हैं कि मुक्त पुरुष अनन्त काल तक रहेंगे। कालातीत पदार्थ में काल का आरोप करके ऐसा सोचा जाता है। अर्थात् हम परिणाम के आरोप के बिना चिन्तन नहीं कर सकते हैं। अत: हम यह जो कहते हैं कि मुक्त स्वरूपप्रतिष्ठ पुरुष अनन्त काल रहेंगे, यह वस्तुत: 'क्षण-क्षण में उनका अस्तित्व रहेगा' इस प्रकार के परिणाम की कल्पना के साथ कहते हैं। जिसका परिणाम केवल सत्ताविषयक (था, है, होगा—इस प्रकार विकल्प-मात्र है, पर प्रकृत विक्रिया से हीन) होता है, वही कूटस्थ नित्य है।

गुणत्रय परिणामी-नित्य हैं, अत: उनकी परिणम्यमानता का अवसान नहीं होता है। परन्तु गुणधर्मस्वरूप बुद्धि आदि में परिणामक्रम की समाप्ति होती है। बुद्धि आदि पुरुषार्थरूप निमित्त से उत्पन्न होकर स्वकारण के (गुणों के) परिणामस्वभाव के कारण परिणम्यमान होते रहते हैं। पुरुषोपदृष्ट कुछ संकीर्णता के द्वारा सान्त अथवा असंकीर्णता के द्वारा अनन्त या बाधा-हीन (क्योंकि बुद्धि आदि सान्त भी होते हैं और अनन्त भी) गुण-विक्रिया ही बुद्धि का स्वरूप है। पुरुष के दृष्ट नहीं होने पर बुद्धि आदि अपने स्वरूप को खोकर अपने कारण में विलीन होते हैं। उस

समय अन्य सब पुरुषों के पास गुणत्रय के स्वाभाविक परिणाम व्यवसाय तथा व्यवसेय रूप से रहते हैं; वे गुणत्रय व्यवसायत्व के अभाव से कृतार्थ पुरुष के भोग्यतापन्न नहीं होते हैं। अन्य अकृतार्थ पुरुष के पास गुणत्रय दृश्य होते हैं।

ज्ञाता का परिणाम केवल सत्ताविषयक परिणाम की कल्पना है, उसमें अन्य प्रकार के परिणाम की कल्पना करना निषिद्ध है। कूटस्थ पदार्थ में सभी विकारों का निषेध करना पड़ता है। परन्तु उसको 'है'—ऐसा कहना पड़ता है। "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथंतदुपलभ्यते" (कठ २।३।१२); अतः 'अब है, बाद में रहेगा' इस प्रकार की परिणाम-कल्पना के बिना हम शब्द से उस विषय में कुछ प्रकाश नहीं कर सकते हैं। विकल्पवृत्ति के द्वारा चिन्तित इस परिणाम के अनुसार ही पुरुष के सम्बन्ध में वाक्य-प्रयोग करना पड़ता है, अतः पुरुष पूर्वोक्त नित्य वस्तु के लक्षण में आता है।

३३ (४) सभी प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—एकान्तवचनीय तथा अवचनीय। एकनिष्ठ विषय में जो प्रश्न है वही एकान्तवचनीय हो सकता है, क्योंकि उसके किसी एक निश्चित पक्ष में उत्तर दिया जा सकता है। भाष्य में यह उदाहृत हुआ है। और जो विषय एकनिष्ठ नहीं है (एकाधिक प्रकार का है) उस पर जो प्रश्न होता है, वह एकान्तवचनीय नहीं हो सकता है। यथा, जिसने रोटी नहीं खाई है, उससे अगर पूछा जाए कि "तुमने किस आटे की रोटी खाई है ?" तो यह व्याकरणीय प्रश्न होगा। उत्तर में कहना पड़ेगा कि "मैंने रोटी ही नहीं खायी है सुतरां 'किस आटे की रोटी मैंने खायी है', यह प्रश्न नहीं हो सकता है"।

व्याकरणीय प्रश्न अर्थात् जो प्रश्न व्याख्या के साथ स्पष्ट किया जाए; ऐसे प्रश्न के एकाधिक उत्तर रहने से वह विभज्य-वचनीय होता है। जैसे 'जो मरे हुए हैं क्या वे जनमेंगे या नहीं ?' इसके दो उत्तर हैं, इसलिए यह विभज्यवचनीय है। अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर विभाग कर देना चाहिए। क्या यह संसार या प्राणियों का जन्ममृत्युप्रवाह समाप्त होगा या नहीं— यह विभज्यवचनीय प्रश्न है। क्योंकि इसके दो उत्तर हैं—कुशलों का संसार समाप्त होगा; अकुशलों का नहीं। यदि प्रश्न हो कि सारे जीव कुशल होंगे या नहीं, तो इसका भी यही उत्तर है कि जो विषय में विरक्त होंगे तथा विवेकज्ञान का साधन करेंगे वे ही कुशल होंगे, दूसरे नहीं। 'दुनियाँ के सभी लोग कभी गोरे होंगे या नहीं ?' इसका उत्तर जिस प्रकार अनिश्चित है, और केवल यही कहना होता है कि 'गोरे होने का कारण होने से गोरे होंगे,' ऊपर के प्रश्न का उत्तर भी वैसा ही है। जो व्यक्ति

'असंख्य' पदार्थ की सम्यक् धारणा न कर सकने के कारण सोचते हैं कि सभी मुक्त हो जाने से विश्व जीवशून्य हो जाएगा और इस डर के मारे बहुत प्रकार के कल्पित मतों में विश्वास करना ही अच्छा मानते हैं, उनको यह समझना चाहिए।

ज्ञानसाधन तथा वैराग्य पुरुषेच्छा की अपेक्षा करते हैं। सारे जीव ऐसी इच्छा करेंगे या नहीं, यह अनिश्चित है। दो चार आदमियों को क्लीब (नामर्द) देखकर यदि कोई आशङ्का करे कि ये लोग जिस कारण से क्लीब हुए हैं उसी से सारी दुनियाँ क्लीब हो सकती है और ऐसा होने पर तो दुनियाँ प्राणी-हीन हो जाएगी तो यह शङ्का जिस प्रकार की है 'सारी दुनियाँ संसारी–पुरुषों से शून्य होगी' यह शङ्का भी वैसी है। शास्त्र में कहा है–**"अतएव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा। ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वादशून्यता"**[१] ॥ प्रतिमुहूर्त्त में असंख्य पुरुष मुक्त होने पर भी बद्ध पुरुषों का अभाव कभी नहीं होगा। वस्तुतः अनन्त जीवनिवास लोकों में असंख्य पुरुष प्रतिमुहूर्त्त मुक्त हो रहे हैं।

असंख्य पदार्थों का गणिततत्त्व यह है—असंख्य + असंख्य = असंख्य। असंख्य-असंख्य = असंख्य। असंख्य × असंख्य = असंख्य। असंख्य ÷ असंख्य = असंख्य।

इसका हेतु यह है कि असंख्य का अधिक या कम नहीं है। अतः विश्व संसारी पुरुषों से शून्य हो जाने की शङ्का से जो पुनरावृत्तिहीन मोक्ष स्वीकार करने में साहस न करते हों वे आश्वस्त हो जाएँ—**"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"** (बृहदा ५।१।१)[२]।

भाष्यम्—गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम्; तत्स्वरूपमवधार्यते—

---

१. श्लोकोक्त मत को पूर्णतया समझने के लिये वार्त्तिककार के दो श्लोकों का पूर्ण अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है। श्लोक (बृहदारण्यक-भाष्यवार्त्तिक) ये हैं—अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा। ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वाद् अशून्यता॥ अन्त्यन्यूनातिरिक्तत्वे युज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः॥ अर्थात् चूँकि जीव असंख्य हैं, अतः सदैव ज्ञानी जीवों के मुक्त होते रहने पर भी यह संसार जीवशून्य कभी भी न होगा। अन्त, न्यूनत्व और अधिकत्व—इनका संबन्ध परिमित वस्तुओं के साथ ही होता है। अपरिमित वस्तुओं के साथ इन तीनों का कुछ भी संबन्ध नहीं होता। [सम्पादक]

२. अनुवादः पूर्ण से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। [सम्पादक]

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत् कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वाऽनभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने वैयासिके कैवल्यपादश्चतुर्थः ।

भाष्यानुवाद—गुणों की अधिकारसमाप्ति होने पर कैवल्य होता है, यह कहा गया है; अब उसके (कैवल्य के) स्वरूप का अवधारण किया जा रहा है—

३४। पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रलय अथवा स्वरूपप्रतिष्ठ चितिशक्ति कैवल्य है। सू०

आचरितभोगापवर्ग, पुरुषार्थशून्य, कार्यकारणात्मक (१) गुणों का जो प्रतिप्रसव या प्रलय है, वही कैवल्य है। अथवा वह स्वरूपप्रतिष्ठ चितिशक्ति है, अर्थात् बुद्धिसत्त्व के साथ पुनः पुरुष की अभिसम्बन्ध-शून्यता के कारण चितिशक्ति केवल होती है और उसका इसी प्रकार का शाश्वत अवस्थान ही कैवल्य है।

श्रीपातञ्जल योगशास्त्रीय वैयासिक सांख्यप्रवचन के कैवल्यपाद का अनुवाद समाप्त।

व्यासभाष्यानुवाद समाप्त।

टीका ३४ (१) कार्यकारणात्मक-गुण=लिङ्गशरीर के रूप में परिणत महदादि प्रकृतियाँ और विकृतियाँ। योग-द्वारा अपने ग्रहण का ही प्रतिप्रसव होता है, ग्राह्य वस्तु का नहीं। गुणात्मक ग्रहण का जो परिणाम- क्रम है, उसका समाप्तिरूप प्रतिप्रसव या प्रलय ही पुरुष का कैवल्य है।

चितिशक्ति की दृष्टि से कहने पर कैवल्य होता है–स्वरूपप्रतिष्ठ चितिशक्ति की निःसंगता। अर्थात् केवल चितिशक्ति का ही रहना या बुद्धि के साथ सम्बन्धशून्य होना।

प्रतिप्रसव या प्रलय का अर्थ है–पुनः-उत्पत्तिहीन लय। बुद्धि प्रलीन होने पर पुरुष सदा ही केवली रहते हैं, यही कैवल्य है।

हम इन्द्रियगाह्य तथा अनुभवग्राह्य विषयों को साक्षात् जानकर भाषा से उनका चिन्तन करते हैं। परन्तु ऐसे भी विषय हैं जिनकी प्रतिपादक भाषा है, किन्तु वस्तु अथवा यथार्थ विषय नहीं है; जैसे कि देश, काल, अभाव, अनन्तत्व आदि। 'व्यापित्व', 'सत्ता' संख्या इत्यादि प्रकार के पदों का अर्थ भी

वास्तव में विषय-मूलक नहीं, पर भाषामूलक-मात्र होता है। इस प्रकार के शब्दमूलक अचिन्त्य पदों या पदमूलक व्यवहार्य अवस्तुविषयक विकल्प-वृत्तिजात ज्ञान को अभिकल्पना (concept.on) कहते हैं। व्यवहारयोग्य अभिकल्पना युक्तियुक्त भी होती है तथा अयुक्त भी अर्थात् वस्तुविषयक भी होती है तथा अवस्तुविषयक भी। युक्तिसिद्ध अचिन्त्य-वस्तु-विषयक अभिकल्पना (rational conception) के द्वारा पुरुष-प्रकृति को समझना पड़ता है।

श्रुति भी कहती है—**'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः'**[१] (कठ २।३।९), **अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथन्तदुपलभ्यते'**[२] (कठ २।३।१२)। 'अवाङ्मनसगोचर' का अर्थ है वह पदार्थ मन का विषय न होने के कारण साधारण वाक्य से जिसका अभिधान नहीं किया जा सकता। 'अदृश्य', 'अव्यवहार्य' 'अचिन्त्य' आदि निषेधार्थक पदों से ही हम प्रधानतः पुरुषतत्त्व को समझते हैं। उसे 'है' कहना पड़ता है और वह अनात्मभावशून्य है तथा साधारण 'अहंभाव' का मूल 'एकात्मप्रत्ययसार' (माण्डूक्य ७) है, ऐसा भी कहना पड़ता है। न्याय्य भाषा से इस प्रकार समझना ही अभिकल्पना कही जाती है। पहले-पहल पुरुषतत्त्व की ऐसी अभिकल्पना (अभिमुख में कल्पना) की जाती है। फिर उसे भी छोड़ने पर अर्थात् क्रमशः चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर जो रह जाता है, वही निर्गुण पुरुषतत्त्व है एवं वही उसकी उपलब्धि भी है।

पुरुष की तथा प्रकृति की अभिकल्पना इस प्रकार करनी पड़ती है— पुरुष 'अहंभाव' का चेतन मूल स्वरूप है, वह बड़ा या छोटा नहीं है, अणु से भी अणु या परिमाणहीन है, निजबोधरूप है (जिसमें निजत्व की संपूर्णता है), अतः संपूर्णतया अविभाज्य, पृथक् या असंकीर्ण और एकस्वरूप है। वह कहीं पर है, ऐसी कल्पना करने से वह बाह्यरूप से ज्ञेय है, यह मानना पड़ेगा और पुरुष की अभिकल्पना नहीं होगी।

प्रकृति भी परिमाण-विषय में पुरुष के समान अणु से भी अणु है तथा वह सम्पूर्णतया दृश्य है। स्थान (अमुक जगह पर स्थिति) और मान से हीन होने पर भी प्रकृति त्र्यङ्ग होने के कारण असंख्य परिणामों में परिणत होने योग्य है। प्रत्येक पुरुष-द्वारा उपदर्शन-सापेक्ष प्रकृति-परिणाम प्रत्येक पुरुष के पास असंख्य हैं। प्रकृति के प्रकाशस्वभाव की प्रधानता के कारण

---

१. अनुवाद : आत्मा हृदयस्थित बुद्धि द्वारा मन से प्रकाशित होता है। [सम्पादक]

२. अनुवाद : 'है' ऐसा कहनेवालों से भिन्न व्यक्तियों के द्वारा आत्मा किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है ? [सम्पादक]

'केवल मैं' इस प्रकार का लक्षणवाला महत्तत्त्व बनता है और वह देशातीत होने पर भी कालातीत नहीं होता है, क्योंकि वह अहंकार-आदियों में परिणत होता रहता है। 'मैं' इस प्रकार का ज्ञान होने पर ही उसके स्थितिगुण द्वारा वह संस्कार रूप से स्थित होता है। असंख्य संस्कार रहने के कारण 'अहंभाव' का अनादिकालिक परिणामज्ञान होता है एवं ग्राह्य के अभिमान से क्षुद्र या विराट् परिणाम का 'मैं' है, ऐसा दैशिक परिमाणज्ञान होता है।

जो इस दर्शन को समझना चाहते हैं वे यदि 'पुरुष-प्रकृति कहीं पर हैं'[१] 'सर्वदेश-व्यापी या अल्पदेश-व्यापी हैं, अथवा 'उनमें अंश-अंशी-भाव है' इत्यादि प्रकार का चिन्तन सर्वथा त्याज्य है, यह याद रखें तो इस दर्शन को समझ सकेंगे तथा तत्त्वों के स्वरूप का अवधारण कर सकेंगे।

श्रीमद् हरिहरानन्द-आरण्य-कृत व्यासभाष्य की भाषाटीका समाप्त।

चौथा पाद समाप्त

---

१. 'मुक्त पुरुष कहाँ रहते हैं—ऐसा प्रश्न वस्तुतः कई आधुनिक विद्वानों ने उठाया है। दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न सर्वथा असंगत है, क्योंकि मुक्त पुरुष देशातीत (तथा कालातीत भी) हैं। संभवतः डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने ही आधुनिक काल में इस प्रश्न को उठाया था। उनके मत को मैक्समुलर ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"Patanjali like Kapila rests satisfied with the *isolation* of the soul and does not pry into the how and where the soul abides after separation" (S. S. I. P. पृ. ४०५–४०६ द्र०)।"

प्रथम परिशिष्ट

काल और देश या अवकाश *

(सांख्यीय दृष्टि)

१। काल (Time) और देश (दिक्, अवकाश, Space) ये दो पदार्थ विशेष रूप से विचार्य हैं, क्योंकि इन दोनों के विषय में अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं[1] (द्र. ३।५२ भाष्य)। किसको काल और अवकाश कहा जाता है? **जहाँ कोई बाह्य वस्तु नहीं है, उस स्थान मात्र का नाम अवकाश है**—सबको अवकाश का लक्षण इसी रूप से करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जिसको व्याप्त कर कोई भी बाह्य वस्तु (द्रव्य और क्रिया) रहती है या होती है, वह अवकाश है। उसी प्रकार जिसको व्याप्त कर कोई मानस क्रिया होती है, वह काल है। अवकाश के लक्षण की तरह काल का लक्षण करने से ऐसा कहना होगा—**जिस अवसर में कोई मानस क्रिया या मनोभाव नहीं है, वह अवसर मात्र काल है**। बाह्य वस्तु के विषय में जो मनोभाव होता है, उसके द्वारा ही हम बाह्य वस्तु को जानते हैं अर्थात् बाह्य वस्तु का ज्ञान मन में ही होता है। इसलिए बाह्य वस्तु अवकाश और काल—इन दो पदार्थों में है ऐसा हम समझते हैं, अर्थात् दैर्घ्य, विस्तार तथा स्थौल्य इन तीन परिमाणों के साथ कालावस्थान-रूप चतुर्थ परिमाण की कल्पना भी हम करते हैं।

काल और देश शब्द अन्य अर्थ में भी व्यवहृत होते हैं। संहार-शक्ति का नाम भी काल है, यथा **'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'** (गीता ११।३२)। जागतिक क्रियाएँ कालक्रम से प्रलय की ओर चल रही हैं, अतः संहार को काल, महाकाल आदि कहा जाता है। उसी प्रकार उद्भव शक्ति को भी

---

* संपादक द्वारा बंगला से अनूदित; बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य पत्रिका (वर्ष ७।३;८।३) में प्रथमतः प्रकाशित।

१. बहुतों की यह धारणा है कि सांख्य में कालसंबन्धी गम्भीर विचार नहीं है। यह भ्रान्त मत इस निबन्ध के द्वारा अपाकृत होगा। डा. सम्पूर्णानन्द कहते हैं—But it is significant that neither the Vedānta nor the Sāṁkhya says anything about time. They speak about events happening in dik (space) and kāla (time), and identify dik with ākāśa but do not apparently tell us what time is (Cosmogony in Indian Thought, p.19).

काल कहा जाता है। 'काल में सब होते हैं,' इस वाक्य का यही अर्थ है। लोग घड़ी के काँटों का चलन या सूर्यादि की गति को भी काल समझते हैं। ये सब काल क्रिया और शक्ति-रूप भावपदार्थ हैं, शून्य (अभाव) नहीं हैं।

इस प्रकार लोग देश को भी अवकाश समझते हैं। द्रव्य के अवयवों का सम्बन्ध-विशेष ही देश है, अर्थात् द्रव्य के 'एक स्थान से अन्य स्थान' ही देश है। यह भी भाव पदार्थ है, क्योंकि द्रव्य के आश्रय से ही यह देशज्ञान होता है। द्रव्य का अवयव शून्य पदार्थ नहीं है। लाइबनिट्स (Leibnitz) कहते हैं—'Space is the order of co-existences'; 'existent space' विस्तृत द्रव्य है, द्रव्यातिरिक्त शुद्ध विस्तारमात्र नहीं है। वे काल को कहते हैं—'Time is the order of successions'।

मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी अत्यन्धकारमय गुहा में है और उसमें किसी भी बाह्य क्रिया को लक्ष्य करने की सम्भावना नहीं है। उसका कालज्ञान कैसे होता है? चिन्तारूप मानस क्रिया से ही कालज्ञान होता है। स्वप्न में भी इस प्रकार एक क्षण में बहुत वत्सरों का ज्ञान होता है। 'मन में इतनी चिन्ताएँ उठी हैं,' इस प्रकार चिन्ता की संख्या से काल का ज्ञान होता है। चिन्ता-संख्या के अतिरिक्त काल और कुछ नहीं है। सिलबर्स्टाइन (Silburstein) कहते हैं—'Our consciousness moves along time'।

कालावस्थान-रूप चतुर्थ परिमाण दो प्रकार से होता है–(१) बाह्य वस्तु-सम्बन्धी मनोभाव (जो काल में होता है) के आश्रय से और (२) बाह्य वस्तु की कालव्यापी क्रिया के आश्रय से। आपेक्षिकतावादियों का 'Four-dimensional Continuum' कालव्यापी साकार पदार्थ है।

मनोभाव के दैर्घ्य, विस्तार और स्थौल्य नहीं होते—'A monad (मन) has no dimensions, one monad does not occupy more or less space than another'; इस लिए मन का बाह्य द्रव्य की तरह दैशिक विस्तार भी नहीं है। चूँकि मन का केवल कालिक विस्तार ही है, इसलिए मन को कालव्यापी द्रव्य कहा जाता है; दूसरे शब्दों में, मनोभाव जिसको व्याप्त कर होता है, वह काल है।

देश और काल के लक्षण में यह जो 'जिसको व्याप्त कर' कहा गया है, वह व्याप्य पदार्थ क्या है? अवश्य ही यह कहना होगा कि वह न बाह्यभाव (बाह्यद्रव्य और क्रिया) है और न मनोभाव है। यदि वह न बाह्यभाव है और न मनोभाव है, तो वह क्या है? यह निश्चित रूप से कहना होगा कि वह अभावमात्र या शून्य है। अतएव, 'देश और काल हैं,' ऐसा कहने से

उसका अर्थ होगा—उस नाम का अभाव या शून्य है। अभाव का अर्थ है—जो नहीं है। अतएव इस वाक्य का अर्थ होगा—'जो नहीं है, वह है'।

देश या अवकाश का अर्थ है—केवल बाह्य विस्तार। पर, क्या 'केवल विस्तार' कहीं है? यह कहना होगा कि कहीं भी नहीं है, क्योंकि सभी स्थान शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-गुणवान् द्रव्यों (जिनसे हमलोगों को बाह्य ज्ञान होता है) से पूर्ण हैं। यदि उन द्रव्यों से शून्य केवल विस्तार रहता, तो 'केवल विशुद्ध विस्तार' है, ऐसा कहा जा सकता। अतः 'शुद्ध विस्तार' नहीं है; या वह अभाव पदार्थ है, ऐसा कहना चाहिए। काल के विषय में भी यही जानना चाहिए। यदि ऐसा 'अवसर' मिलता, जब कोई भी मनोभाव उत्पन्न नहीं होता, तब वह 'केवल शुद्ध अवसर' नामक काल होता। पर 'विशुद्ध अवसर' को जानने के लिए भी, 'जानना' रूप मनोभाव उस समय रहेगा, अतएव 'केवल अवसर' नहीं मिल सकता।

इस प्रकार केवल विस्तार भी नहीं मिल सकता। उसकी कल्पना या मानसिक धारणा (imagery) करने की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि पूर्वानुभूत किसी बाह्य वस्तु के बिना बाह्य स्मृति नहीं होती और स्मृति न होने से बाह्य कल्पना भी नहीं होती, क्योंकि कल्पना उत्तोलित एवं सज्जित स्मृति है। उसी प्रकार मनोभाव की कल्पना करने में भी उस समय कल्पना 'करना' रूप मनोभाव विद्यमान रहेगा, अतएव मनोभावहीन अवसर की कल्पना कैसे की जा सकती है?[१]

---

१. भौतिकविज्ञानी भी ऐसा ही कहते हैं। उनका व्यवहार्य काल केवल पृथ्वी की गति है और कुछ नहीं है—'Time and space and many other quantities, such as Number, Velocity, Position, Temperature etc. are not things' (Watson's Physics. p. 1)। आइनस्टाइन (Einstein) भी कहते हैं—"According to the general theory of relativity, the geometrical properties of space are not independent but they are determined by matter. Thus we can draw conclusions about the geometrical structure of the universe only if we base our considerations on the state of the matter as being something that is known.", "In the first place, we entirely shun the vague word space, of which, we must honestly acknowlege, we cannot form the slightest conception, and we replace it by motion relative to a practically rigid body of reference." अन्यत्र-

२। यदि यह कहा जाए कि काल और देश एक एक प्रकार का ज्ञान है और ज्ञान रहने से ज्ञेय वस्तु भी रहेगी, अतएव देश और काल वस्तु हैं, तो यह आंशिक सत्य है। काल और देश ज्ञान तो हैं, पर ज्ञान होने से ही उसका वास्तव विषय रहेगा, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान अनेक प्रकार का होता है। सर्व प्रकार के ज्ञान का वास्तव विषय नहीं रहता। 'अभाव' इस शब्द को सुनकर एक प्रकार का ज्ञान होता है, पर क्या 'अभाव' नामक कोई वस्तु है? सब वस्तुओं का अभाव ही शुद्ध अभाव है। 'अभाव' इस शब्द का श्रवण-ज्ञान वास्तव है, और उसके अर्थ के विषय में भी जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, वह भी एक वास्तव मनोभाव है। पर, जिस प्रकार घट, पट आदि विषय बाह्य रूप से मिलते हैं या इच्छा, द्वेष अदि विषय मन में मिलते हैं, उस प्रकार 'अभाव' नामक विषय कहीं भी नहीं मिलता। वह विकल्प नामक ज्ञान का उदाहरण है।

यहाँ ज्ञान के तत्त्व पर भी कुछ कहना आवश्यक है, अन्यथा देश-काल-ज्ञान कैसा है, यह समझ में नहीं आएगा। हम चक्षु-कर्णादि से बाह्य रूपादि-विषय को जानते हैं और आभ्यन्तर इन्द्रिय मन से मनोभाव है या हो रहा है, यह जानते है। केवल एक-एक इन्द्रिय से रूप या शब्द या केवल एक मनोभाव का जो ज्ञान होता है, उसको आलोचन ज्ञान कहते हैं। मान लीजिए कि आपने नील रूप देखा। चक्षु से उसका 'नील' यह नाम और अन्यान्य गुण नहीं जाने जाते। चक्षु से नाम-जाति-ज्ञान-हीन नील का ही ज्ञान होता है। अन्यान्य इन्द्रिय-ज्ञान के विषय में भी यही बात जाननी चाहिए। नील को देखने के बाद इसका नाम नील है, यह रूपजातीय है इत्यादि अन्यान्य इन्द्रिय-ज्ञान अभिकल्पन रूप मानस व्यापार (conception) से एकत्रित होकर जो इस रूप में होते हैं कि 'यह नील नामक रूप है' इस ज्ञान का नाम है—विज्ञान या चित्तवृत्ति। विज्ञान दो प्रकार का है—(क) साक्षात् या प्रत्यक्ष-विज्ञान (perception and consciousness) और (ख) चैत्तिक विज्ञान (conception)। बाह्य प्रत्यक्ष और अन्तर का अनुभव ये दो ही प्रत्यक्ष विज्ञान हैं। यह perception है। External perception और internal perception-प्रत्यक्ष के दो

"Space without ether is unthinkable.' (Relativity,,Chapter 32 and 3)। इन लोगों का space इथर है, शून्य space नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) भी काल को 'Sequence of events मात्र कहते हैं।

प्रकार हैं। इनमें consciousness को internal perception कहा जाता है।

साधारण मनुष्यों का यह विज्ञान शाब्द पदार्थ (concept) से होता है। पद का अर्थ ही पदार्थ है, यह अच्छी तरह से जानना चाहिए। चित्त की अनेक शक्तियों से जो मिलित ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। शब्दज्ञानहीन वधिरों का भी विज्ञान सामान्य रूप से होता है, पर नामजातिवाची-शब्दयुक्त पदों की सहायता से भाषाविद् मनुष्यों में यह ज्ञान प्रकृष्ट रूप से होता है। उनमें दृष्ट और अदृष्ट विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वह प्रमाण है। इन विषयों का अयथार्थ ज्ञान या एक का अन्य ज्ञान विपर्यय या भ्रान्त ज्ञान है। जब हम किसी ज्ञान को भ्रान्त समझते हैं, तब उसको छोड़ देते हैं और उसका व्यवहार भी नहीं करते। यही कारण है कि सत्यज्ञान होने से विपर्यय की व्यवहार्यता नहीं रहती।

एक अन्य प्रकार का भी विज्ञान है, जिसका नाम विकल्प है। देश और काल इन दो पदों का अर्थज्ञान इस विकल्पज्ञान का उदाहरण है। इसलिए इन दोनों पदार्थों को समझने के लिए विकल्प विज्ञान को अच्छी तरह जानना होगा। योगसूत्र कहता है—**'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'** (१।९), अर्थात् जिस शब्द का वास्तव में कोई विषय नहीं है ऐसे शब्द को सुनकर जो विज्ञान होता है, उसका नाम विकल्प है। कार्वेथ रीड (Carveth Read) कहते हैं–'We have concepts representing nothing, which have perhaps been generated by the mere force of grammatical negation. (Logic : Deductive and Inductive; 3rd edition. p. 306;)। ऐसे concept से जो empty conception होता है वही यह विकल्पविज्ञान है। यथा—अभावशब्द को सुनकर जो विज्ञान होता है, वह विकल्प है। यह एक प्रकार का भ्रान्तिज्ञान तो है, पर यह साधारण भ्रान्तिविज्ञान की तरह नहीं है। साधारण भ्रान्तिज्ञान का उदाहरण रज्जु में सर्पज्ञान है। उस भ्रम की निवृत्ति होने पर उसका पुनः व्यवहार नहीं होता। पर, अभाव शब्द का अर्थ यद्यपि 'कुछ भी नहीं,' तथापि भाषा में उसका सर्वथा व्यवहार होता है, और उससे अनेक तथ्यों का ज्ञान भी होता है। वस्तुतः विकल्प-विज्ञान यदि न रहे, तो भाषा-व्यवहार भी नहीं रहता। इसे समझने के लिए कुछ भाषा का तत्त्व भी समझना चाहिए। स्वर और व्यञ्जन वर्णों से गो, मनुष्य आदि पद रचित होते हैं। पद दो प्रकार के होते हैं–कारकार्थक (Term) और क्रियार्थक

(Verb)[१]। विशेषण के साथ विशेष्य पद कारकार्थ है। वह कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि कारक या क्रियान्वयी अथवा किसी कर्म के निष्पादक की तरह व्यवहृत होता है। क्रिया-पद से कारक किसी प्रकार की कोई क्रिया (या अक्रिया) कर रहा है, ऐसा बोध होता है। कारकार्थक और क्रियार्थक पद के योग से वाक्य बनता है। जैसे—'राम है' यह एक वाक्य है। इसमें 'राम' कारक है और 'है' क्रिया है। ऐसा वाक्य ही हमारी भाषा है।

३। पद भावार्थक या अभावार्थक होते हैं। 'अन्त' यह एक भावार्थक पद है और 'अनन्त' यह अभावार्थक है; 'है' यह भावार्थक है, 'नहीं है' यह अभावार्थक है। अभावार्थक पद की रचना नञ् (या अ) के योग से की जाती है। पर, नञ् का अर्थ सभी स्थलों में पूर्ण अभाव नहीं है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है। 'यहाँ घटाभाव है' इसका अर्थ सम्पूर्ण अभाव नहीं, प्रत्युत घट छोड़कर वायु आदि हैं, यह अर्थतः लब्ध होता है। इस प्रकार हम अभाव से अनेक स्थलों पर अन्य एक भाव पदार्थ को समझते हैं; **'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया'**। नञ् से जहाँ अल्प, मन्द आदि वस्तुधर्म समझे जाते हैं, वहाँ नञ्-युक्त पद सब धर्मों का अभावपरक नहीं होता—यह जानना चाहिए। जहाँ सर्वधर्मों का निषेध होता है, वहीं नञ् पूर्णतः अभावार्थक है।

सम्पूर्ण अभावार्थक पद या वाक्य से मन में जो विज्ञान होता है, वह विकल्प है। यह देखने से आश्चर्य होता है कि भाषा में कितने ही विकल्पज्ञानों का व्यवहार होता है। 'पर्वत है'–यह कहा जाता है। 'पर्वत'

---

१. यह कहना अनावश्यक है कि संस्कृत का व्याकरण मूलतः वैज्ञानिक प्रणाली से रचित हुआ है, अतः इस पद का नाम 'क्रिया' रखा गया है। पाश्चात्त्य verb शब्द का धातुगत अर्थ 'क्रिया' नहीं होने पर भी वस्तुतः वैयाकरणों को active, passive, transitive, (सकर्मक), intransitive (अकर्मक) रूपों में जो विभाग करना पड़ता है, उनसे क्रिया और अक्रिया का बोध होता है, अतः verb भी अर्थतः क्रियावाचक शब्द होता है। [पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में verb का शब्दार्थ है—the word। यह शब्द जिस मूल ग्रीक शब्द (ero) से बना है, उसका अर्थ है—बोलना, कहना। अरस्तू (Aristotle) के अनुसार verb काल को प्रकटित करता है। जर्मन भाषा में verb के लिए जो शब्द है (zeit word) उसका अर्थ है—Time-word। प्रसंगतः ज्ञातव्य है कि Hebrew वैयाकरण verb को deed word मानते हैं। द्र० Earle कृत sPhiloophy of the English Tongue)]. **[सम्पादक]**

कर्त्तृकारक; 'है' उसकी क्रिया है।[1] पर पर्वत 'है' नामक कोई क्रिया करता नहीं है। यथार्थ बात यह है कि मैं पर्वत को जान रहा हूँ, या जाना, या जान सकता हूँ—इसको उस प्रकृत अर्थहीन वाक्य से कहा जाता है। 'पर्वत नहीं जा रहा है' यह वाक्यार्थ भी अभाववाची है या विकल्पज्ञान का उदाहरण है। क्रिया को भी कारकार्थक किया जाता है, जैसे 'अस्ति' इस क्रिया-पद को 'सत्' किया जाता है। पुन: सत् इस विशेषण पद को 'सत्ता' इस विशेष्य पद में परिणत किया जाता है। सत्ता 'सत् का भाव' या 'भाव का भाव', ऐसा वास्तव अर्थहीन वाक्य है; इसलिए उसका ज्ञान विकल्प है। ऐसे सामान्य-मात्र पदों (Abstract terms जिनका वास्तव अर्थ कुछ नहीं है) का ज्ञान विकल्प-विज्ञान है। सामान्य पदों (Common terms) का भी व्यक्ति-समाहार (denotation) रूप जो अर्थ है, वह भी विकल्प है। जैसे—मनुष्य शब्द सामान्यार्थक है। उसका अर्थ है—मनुष्यों का गुणसमूह या मानवत्व; इसका अर्थ असंख्य मनुष्य भी होता है। यह दूसरा अर्थज्ञान विकल्प है। क्योंकि असंख्य मनुष्यों का ज्ञान संभव नहीं है। इस प्रकार पदार्थों को लेकर भाषा-व्यवहार में सदैव विकल्प का व्यवहार होता है।

४। देश और काल ये दो पदार्थ भी उसी प्रकार व्यापी विकल्पज्ञान ही हैं। साधारण बाह्य द्रव्यों के ज्ञान के साथ विस्तार-धर्म का ज्ञान सहभावी है। विस्तार पदार्थ को विस्तार नाम देकर बाद में कल्पना से उसका पृथक्करण करके जो कहा जाता है कि 'वहाँ विस्तारमात्र है, और बाह्यद्रव्य नहीं है' यह 'विशुद्ध विस्तार' या अवकाश है। इस प्रकार असाध्य को साध्य समझकर, अविनाभावी को विनाभावी समझकर, अकल्पनीय को कल्पनीय समझकर वाक्य से लक्षण किया जाता है—जहाँ कुछ नहीं है, वह 'अवकाश' (देश) है। अतएव यह अवस्तुवाची विकल्पन है या यह अवकाश विकल्पज्ञान है। काल भी उसी प्रकार का है। मानसक्रिया के अभाव का विकल्पन करके हम समझते हैं कि जो क्रियाहीन अवसरमात्र है, वही काल है। क्रिया-वियुक्त अवसर अकल्पनीय असंभव पदार्थ है। कोई क्रिया या ज्ञान नहीं हो रहा है, ऐसे अवसर की धारणा करना संभव और साध्य नहीं है। इस प्रकार काल और देश इन दो पदार्थों का ज्ञान शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शुन्य विकल्प-ज्ञान सिद्ध हुआ।

पहले ही कहा गया है कि हम प्राय: अभाव-पदार्थ का व्यवहार भावान्तर में करते हैं। यद्यपि काल और अवकाश इसी प्रकार अभाव पदार्थ हैं, तथापि

---

१. 'है'—यह एक प्रकार की क्रिया है—यह निरुक्त में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है; अस्तिक्रिया=आत्मधारण-रूप क्रिया (निरुक्त १।३) [सम्पादक]

अनेक स्थलों पर उसका व्यवहार भाव-पदार्थ की तरह भी हम करते हैं। 'मुझको बैठने के लिए थोड़ा अवकाश दीजिए' कहने से वहाँ अवकाश से कुर्सी आदि भाव पदार्थ समझे जाते हैं, पूर्णतः अभाव पदार्थ नहीं समझा जाता। 'थोड़ा-सा अवसर मिलने पर' वाक्य से विशेष कर्म की निवृत्ति समझी जाती है, सर्वकर्मों की निवृत्ति नहीं। जहाँ केवल कुर्सी और घड़ी के काँटे का चलन आदि अवकाश और काल के अर्थ हैं, वहाँ वे भाव पदार्थ हैं। चूँकि काल और अवकाश इस प्रकार द्वयर्थक होते हैं, अतः उनके अर्थबोध में अनेक अपक्वबुद्धि व्यक्तियों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। वे एकबार भावार्थक और फिर अभावार्थक के रूप में काल और अवकाश (देश) को लेकर भ्रान्त होते हैं।

५। हम भाषा-व्यवहार में इस काल और अवकाश-रूप विकल्पज्ञान का सदैव व्यवहार करते हैं। वास्तव और अवास्तव क्रिया-पदों का व्यवहार तीन कालों के साथ योग कर हम करते हैं। काल का भी तीन कालों में ('है, था, रहेगा'–इस प्रकार) व्यवहार करते हैं। स्थानमात्र या अवकाश भी किसी एक स्थान में या सब स्थानों में है, ऐसा हम कहते हैं। इस अवकाश और काल को लेकर ही अधिकरण कारक की कल्पना की जाती है। 'है' कहने से कहाँ और किस काल में है, यह भी वक्तव्य होता है। 'कहाँ' और 'किस काल में' ये दो पदार्थ अन्यान्य अभाव पदार्थों की तरह वास्तव भी होते हैं, अवास्तव भी। जब कहा जाता है 'इस देश में है', तब जहाँ अन्य भाव पदार्थ के साथ पूर्वापरता-सम्बन्ध समझा जाता है, वहाँ वास्तव ज्ञान है, विकल्प ज्ञान नहीं।

पर जहाँ अवास्तव अधिकरण या अधिकरणमात्र वक्तव्य होता है, वहीं वह विकल्प-ज्ञान होता है। सभी द्रव्य अपने आप में हैं, कोई किसी का आधार नहीं है।[१] जल और पात्र का संयोगविशेष रहने पर उसको ही

१. काल और देश वास्तव आधार नहीं हैं, वे विकल्पित आधार हैं। "Time and space are not containers, nor are they contents, they are variants." (Dr. W. Carr's Relativity). Minkowski कहते हैं—"Henceforward space in itself and time in itself as independent things must sink into mere shadows"। जड़ विज्ञान के उच्च सिद्धान्तों का अनुसरण करके ऐसी नई बात कहने पर भी यह प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त है। Zeno of Elea ने जो Paradox या समस्याएँ कही थीं, उनमें एक यह है—यदि यह कहा जाए कि सभी द्रव्य अवकाश में रहते हैं, तो अवकाश भी अवकाश में रहेगा; यह

आधार-आधेय-सम्बन्ध कहा जाता है। शून्यरूप देशाधार और कालाधार ही विकल्प ज्ञान हैं। द्रव्य के परिमाण के साथ उस आधार के परिमाण को समान समझा जाता है; अतएव यह समझा जाता है कि द्रव्य रहने से वह आधार नहीं है या शून्य है। अर्थात् 'क'–परिमाण द्रव्य रहने से यदि वहाँ 'क'—परिमाण अवकाश है, ऐसा कहा जाए तो द्रव्य के अतिरिक्त 'क' परिमाण-शून्य है या 'क' परिमाण-रूप अन्य कुछ नहीं है, ऐसा कहा जाएगा।

६। द्रव्य के परिमाण का नाम अवकाश या Space नहीं है, वह अवयवों की संख्या है। द्रव्य का जो आकार है वह अवकाश या अवसर नहीं है। जब आकार का अर्थ होगा (क) ज्ञायमान वस्तु अथवा (ख) अन्य कोई द्रव्य, तब उसके साथ अवकाश या काल का संबन्ध नहीं है, क्योंकि आकार किसी एक द्रव्य से ही संपृक्त रहता है जब कि अवकाश वैसा नहीं है; काल-ज्ञान का द्योतक परिणामप्रवाह भी आकार में प्रयोजक नहीं होता है। आकार के उपर्युक्त प्रथम (क) लक्षण में गुणों (धर्मों) का निषेध है, क्योंकि धर्म, गुण या लक्षण द्रव्य में रहता है, उसके आकार में नहीं रहता। द्वितीय (ख) लक्षण भी वैसा ही है, क्योंकि यह अन्य द्रव्य से संबन्ध रखता है। जिस अन्य वस्तु या द्रव्य के विषय में आकार की बात कही जाती है, उसमें गुण या लक्षण नहीं है (अर्थात् यहाँ भी गुण का निषेध ही है); साथ ही पूर्वोक्त द्रव्य से पृथक् अन्य द्रव्य के उस आकार में आकारित स्थान में रहने का निषेधमात्र किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि आकार वह है जिसके ज्ञान से किसी वस्तु को तत्-पार्श्ववर्ती अन्यान्य द्रव्यों से पृथक् कर जाना जाता है जिसका फल है उस द्रव्य के परिमाण का ज्ञान। काल और अवकाश (देश) जिस प्रकार का वैकल्पिक पदार्थ है आकार उस प्रकार का पदार्थ नहीं है, पर वह आकारयुक्त वस्तु से पूर्णतः पृथक् अन्य कोई वस्तु भी नहीं है।

अधिकरण कारक का प्रयोग करके भाषा-व्यवहार करने पर अनेक विकल्पों का व्यवहार किया जाता है। चूँकि भाषा-युक्त ज्ञान सविकल्प ज्ञान है, अतएव वह ज्ञान मिथ्यामिश्रित है। जब तक भाषा से चिन्ता की जाती रहेगी तब तक विकल्प रहेगा ही; निर्विकल्प-ज्ञान होने पर ही सत्य ज्ञान

दूसरा अवकाश भी अन्य अवकाश में रहेगा, और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा (If all that is, is in space, space must be in space and so on *ad infinitum*)। आधारभूत शून्यरूप विकल्पज्ञान के विषय को सत् समझने की असंगति इस समस्या से दिखाई गई है।

होता है। वह कैसे होता है, यह योग-शास्त्र में यह विवृत है (१।४८ योगसू० द्र०)।

७। हम वर्त्तमान काल को अतीत और भविष्यत् का मध्यस्थ समझते हैं। अतीत और भविष्यत् जब अवर्त्तमान पदार्थ हैं (या नहीं हैं) तब उन दोनों का 'मध्य' कहाँ से आएगा ? 'अतीत और अनागत हैं' कहने पर (तब तो वे वर्त्तमान हैं, ऐसा कहा गया) यह भी कहना होगा कि अनागत के अव्यवहित बाद में ही अतीत है। दोनों के बीच में यदि व्यवधान नहीं है, तो वर्त्तमान कहाँ रहेगा ?

पुनः सोचना चाहिए कि वर्त्तमान काल का परिमाण कितना है ? यदि कहा जाए,'वह क्षणमात्र है' तो पुनः प्रश्न होगा—क्षण का परिमाण कितना है ? उत्तर में कहना होगा कि यह अत्यन्त क्षुद्र परिमाण है; इसका परिमाण इतना अल्प है कि इसका पुनः विभाग नहीं हो सकता। पर, अविभाज्य परिमाण नहीं है और वह कल्पनीय भी नहीं है; अतः यह कहना होगा कि वह 'अनन्त सूक्ष्म परिमाण' है। परिमाण को यदि अनन्त सूक्ष्म कहा जाए, तो वह शून्य है या नहीं है, अतः वर्त्तमान, अतीत और अनागत काल नहीं हैं। वे (तीन काल) केवल उन-उन शब्दों के द्वारा विकल्पज्ञानमात्र हैं। इसलिए व्यासभाष्यकार ने कहा है—**'स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते'** (३।५२) —अर्थात् यह काल वस्तुशून्य, बुद्धिनिर्माण, शब्दज्ञानानुपाती है और व्युत्थित-दृष्टि लौकिक व्यक्तियों द्वारा वस्तुस्वरूप की तरह वह अवभासित होता है।

८। हम काल और अवकाश का परिमाण अनन्त समझते हैं। इसका प्रकृत अर्थ है–'बाह्य वस्तु किसी स्थान में नहीं है' इस वाक्य का जो अर्थ है तथा 'मनोभाव नहीं था और नहीं रहेगा' इस वाक्य का जो अर्थ है, उन अर्थों की अचिन्तनीयता। बाह्यज्ञान हो रहा है, अथच वह शब्द-स्पर्शादि पाँच ज्ञानों के द्वारा नहीं हो रहा है, ऐसी चिन्ता सम्भव नहीं है। चाहे कितनी ही दूर, कितना ही खाली स्थान, कितना ही शून्य की चिन्ता क्यों न की जाए, किसी न किसी प्रकार का रूप—कम से कम अन्धकार—वहाँ रहेगा ही; अतएव वहाँ व्याप्तिज्ञान भी रहेगा। चूँकि वास्तव धर्म का अभाव कहीं भी नहीं होता (उसकी अचिन्तनीयता के कारण) इसलिए हम बाह्यगुणक द्रव्य को असीम कहते हैं और उसके सहगतरूप में विकल्पित विस्तारमात्र को (या अवकाश को) असीम (जिसमें सीमा का अभाव है) समझते हैं। उसमें सीमा चिन्तनीय पदार्थ है और अभाव अचिन्तनीय पदार्थ

है। इसलिए, असीम पद का अर्थ एक विकल्प ज्ञान है (Infinity is not the affirmation of space but its disappearance) । उसका वास्तव बाह्य विषय नहीं है।

इस प्रकार हम काल को भी अनादि और अनन्त कहते हैं। यदि कोई क्रिया या परिवर्त्तन नहीं होता, तो किसी ज्ञान का भी परिवर्त्तन नहीं होता, ऐसा होने पर जिन पदों से काल का विकल्पज्ञान होता है, वे पद भी नहीं रहते, अतः कालरूप विकल्पज्ञान भी नहीं होता। पर, क्रिया है और जो रहता है उसका अभाव कभी नहीं होता, इसलिए क्रिया का अभाव चिन्तनीय नहीं है। बुद्धि या ज्ञान-शक्ति की क्रिया या परिवर्त्तन का अर्थ है—एक-एक, खण्ड-खण्ड ज्ञान। ज्ञान और सत्ता अविनाभावी हैं। इसलिए हमको यह सोचना और कहना पड़ता है कि ज्ञान वा सत्ता परिवर्त्तमान रूप में या अवस्थान्तरता को प्राप्त करता हुआ विद्यमान है, अर्थात् सत् पदार्थ था और रहेगा, हमलोगों को भाषा-व्यवहार-पूर्वक ऐसा सोचना पड़ता है।

मानस सत्त्व या स्थिर मानस द्रव्य[1] तथा मानस क्रिया का अभाव कल्पनीय नहीं हो सकते, इसलिए हमलोगों को यह कहना पड़ता है कि मानस द्रव्य क्रिया के द्वारा अवस्थान्तरता को प्राप्त करता हुआ 'था' और 'रहेगा'। क्रिया और स्थिर-द्रव्य-सम्बन्धी इन दोनों पदों ('था' और रहेगा') के अर्थ को परिमित करने का हेतु न होने के कारण (अर्थात् कब तक था और रहेगा—इसका निर्धारण नहीं होने के कारण) हम कहते हैं 'काल अनादि और अनन्त है'। दूसरे शब्दों में मनोद्रव्य का और मनःक्रिया का अभाव अचिन्तनीय होने के कारण उसका अधिकरण-रूप वैकल्पिक सत्-पदार्थ जो काल है, उसके भी अभाव की चिन्ता न कर सकने के कारण हम कहते हैं—काल अनादि तथा अनन्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि काल अभाव है तथापि विकल्प के द्वारा उसको एक भावपदार्थ की तरह हम निश्चित करते हैं और कहते हैं कि वह अन्य भाव पदार्थों की तरह चिरकाल से था और चिरकाल तक रहेगा।

९। जैसे ज्यामितिशास्त्र के बिन्दु-रेखा आदि पदार्थ वैकल्पिक हैं, पर उनको लेकर जो युक्ति की जाती है, वह यथार्थ है क्योंकि उससे क्षेत्र-परिमाण-सम्बन्धी व्यवहार सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार वैकल्पिक देश—

---

१. यहाँ के शब्दार्थ ज्ञातव्य हैं। पदार्थ=पद का अर्थमात्र=भाव और अभाव। भाव=वस्तु=द्रव्य। द्रव्य दो प्रकार का है—स्थिर द्रव्य या सत्त्व और क्रिया या प्रवहमाण सत्ता।

और काल पदार्थ से भी अनेक यथार्थ विषयों का ज्ञान सिद्ध होता है। हम उत्पत्ति और लय सदा देखते हैं, परन्तु उसके पीछे जो अनुत्पन्न भाव है या रहेगा, उसको देशकाल-युक्त अभिकल्पना से समझते हैं। शाब्द पद या वाक्य से ही हम पदजात अर्थ-विज्ञान-रूप अभिकल्पना करते हैं; यही कारण है कि उसमें विकल्प मिश्रित रहता है। अनुत्पन्न, निर्विकार, निराधार, अनादि, अनन्त, अमेय आदि पदों का अर्थज्ञान वैकल्पिक है, पर उनसे हम सत्य पदार्थों की अभिकल्पना करते हैं। इसलिए भाषायुक्त सभी सत्यज्ञान विकल्पमिश्रित या व्यावहारिक होते हैं, अर्थात् किसी की तुलना में वे सत्य हैं (अनापेक्षिक नहीं)। जब देश और काल शून्य हैं या वाक्-मात्र हैं, तब उनके आश्रय से जो सत्य प्रतिज्ञात होते हैं, वे अवश्य ही व्यावहारिक सत्य होंगे।

हम अपने अवस्थान-परिमाण आदि के ज्ञान के अनुसार अन्य द्रव्यों के अवस्थान-परिमाण आदि जानते हैं। अतः विभिन्न-अवस्था-सापेक्ष ज्ञान विभिन्न होते हैं। एक अवस्था में अवस्थित व्यक्ति का ज्ञान उसके लिए सत्य प्रतिभात होने पर भी भिन्न अवस्था में अवस्थित व्यक्ति के लिए वह ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति किसी के पूर्व में है, यह सत्य है; पर वह अन्य किसी के पश्चिम में है, यह भी सत्य है। ऐसे आपेक्षिक सत्यों को लेकर व्यवहार चल रहा है। देश और काल को लेकर जो कुछ सत्य भाषण किया जाता है, वह इस प्रकार व्यावहारिक सत्य है। दार्शनिकों के लिए सब परिदृश्यमान और अनुभूयमान आपेक्षिक सत्य हैं[1]।

---

१. दार्शनिकों की दृष्टि में ऐसा होने पर भी वैज्ञानिक उसे वैसा नहीं समझते थे। वैज्ञानिक Space और Time को अनापेक्षिक व्यवहार्य पदार्थ समझकर सत्यभाषण करते थे। आधुनिक आपेक्षिकता-वाद (Theory of Relativity) इस दृष्टि की भ्रान्ति दिखाता है। उसके द्वारा गणित की सहायता से अनेक व्यवहारसत्यों की अलीकता दिखाई जाती है और देश तथा काल-सम्बन्धी साधारण-प्रज्ञा की धारणा कितनी असंगत है, इसको इस रूप से दिखाया जाता है कि वह सहज-ज्ञान के लिए दुश्चिन्त्य हो जाती है; पर एक बार समझ लेने पर वह बहुत उच्च नहीं है, ऐसा परिज्ञात होता है। आकार, गति आदि अवस्था के अनुसार बाह्य वस्तु का ज्ञान प्रत्येक प्रकार के दर्शक के निकट विभिन्न प्रकार का होता है। सभी अपनी दृष्टि को सत्य समझते हैं। विभिन्न दर्शकों की स्वकीय गति आदि अवस्था-भेदों के अनुसार दृष्टि की विभिन्नता होने पर भी, जो सब के लिए सत्य होना चाहिए, तादृश चित्र का अङ्कन आपेक्षिकतावाद गणित से करता है।

१० । पहले कहा गया है कि विस्तार नामक यथार्थ ज्ञान के आश्रय से देश और काल पदार्थ को माना जाता है । अतः विस्तार-ज्ञान का तत्त्व विचार्य है । भाव या वस्तु या द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थिर सत्ता और (२) प्रवहमाण सत्ता या क्रिया । जिन द्रव्यों का परिमाण या अवस्थान्तरता लक्ष्य नहीं होता, वे 'स्थिर सत्ता' हैं । ज्ञानेन्द्रिय के शब्दादि प्रकाश्यविषय यदि वैसे (अर्थात् एक ही प्रकार का) मालूम हों, तो वे स्थिरसत्ता हैं, ऐसा जान पड़ता है । गवाक्ष से आगत एक खण्ड गोलाकार आलोक को हम स्थिर सत्ता समझते हैं । शब्दादि को भी वैसा ही समझते हैं । कर्मेन्द्रिय द्वारा चाल्य द्रव्य को भी वैसी स्थिर सत्ता समझते हैं । चालन करने के लिए शक्ति का व्यय करना पड़ता है । हस्तादि कर्मेन्द्रियों में जो बोध है, उससे उस शक्ति-व्यय का ज्ञान होता है । किसी द्रव्य को चालित करने में यदि शक्ति-व्यय की सम्भावना हो, तो उस चाल्य द्रव्य को स्थिर सत्ता समझते हैं । प्राण या शरीरनिष्ठ जो बोध-शक्ति है, उससे जो उपश्लेष-बोध (कठिन, तरल आदि जड़त्व का बोध) होता है, तादृश बोध्य द्रव्य को भी स्थिर सत्ता समझते हैं । इस त्रिविध बोधशक्ति का मिलित कार्य होने के कारण, वे प्रकाश्य-चाल्य-जाड्य गुण जिस द्रव्य में मिलित रूप से बुद्ध होते हैं, उस द्रव्य को दृढ़ स्थिर सत्ता समझते हैं ।

इस बाह्य स्थिरसत्ता के अतिरिक्त मानसिक स्थिरसत्ता भी है । सुख-दुःख-मोह नामक मन की जो अवस्थावृत्तियाँ हैं—जो शब्दादिज्ञान के साथ मिलित हैं और अपेक्षाकृत स्थायी रूप से रहते हैं, उनको भी स्थिरसत्ता समझते हैं । सबसे अधिक स्थिरसत्ता है—मैंपन, 'अहंभाव' का ज्ञान (सब ज्ञानक्रियादियों की शक्ति को लेकर अहंभाव का जो बोध होता है, वह) । अन्य सब ज्ञानों में यह एक रूप ही ज्ञात होता है, तथा यह उन सबों का ज्ञाता है, ऐसा बोध होता है, इसलिए यह अहंभाव अत्यन्त स्थिर सत्ता है ।

द्वितीय प्रकार का द्रव्य क्रिया है । जिसमें अवस्था-परिवर्त्तन का अत्यन्त स्फुट ज्ञान होता है और जिसका परिवर्त्तन होता है, वह उतना लक्षित नहीं होता, वह क्रिया-रूप द्रव्य है । मूलतः बाह्य क्रिया देश को व्याप्त कर होती है, अर्थात् 'एक स्थान से अन्य स्थान को प्राप्त करती हुई' बाह्य क्रिया है । पर 'एक स्थान से अन्य स्थान'—यह स्थान-परिमाण यदि अलक्ष्य हो, तब एक ही स्थान में पूर्व शब्दादि गुणों की निवृत्ति पूर्वक

अङ्कसमावेश को छोड़कर आपेक्षिकतावाद के सत्य कभी भी द्रव्यरूप में गोचर होने के योग्य नहीं हैं ।

अन्य शब्दादि गुणों के आविर्भाव को भी हम बाह्य क्रिया कहते हैं। जैसे 'एक स्थान में नील गुण था; बाद में लाल हुआ', यहाँ स्थान-परिवर्त्तन न होकर गुण-परिवर्त्तन हुआ। पर, मूलतः यह भी स्थान-परिवर्त्तन से होता है। साधारण क्रिया की तरह शब्दादि की मूलीभूत क्रिया तथा रासायनिक क्रिया भी मूलतः अङ्गभूत द्रव्यों का 'स्थान-परिवर्तन' है, यह जड़विज्ञान की प्रसिद्ध बात है।

११। जिसको हम स्थिर सत्ता समझते हैं, वह भी अलक्ष्य क्रिया ही है।[१] गवाक्षागत जिस आलोक-खण्ड को हम 'एक स्थिर सत्ता' समझते हैं, वस्तुतः वह भी आलोक नामक क्रिया है। वह क्रिया इतनी द्रुत और सूक्ष्म है कि उसका स्थानपरिवर्त्तन लक्ष्य नहीं होता। शास्त्र कहता है— **'नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न दृश्यते॥'** (भागवत ११।२२।४२), अर्थात् सभी द्रव्य या भूत अलक्ष्यवेग से काल या क्रियाशक्ति के द्वारा अथवा अत्यन्त सूक्ष्मकाल में एक बार उद्भूत हो रहे हैं और एक बार लीन हो रहे हैं; सूक्ष्मत्व के कारण उसका दर्शन नहीं होता।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी ऐसा ही कहना चाहिए, क्योंकि रूपादिद्रव्य क्रिया या कम्पनस्वरूप हैं। कम्पन का अर्थ है–एक बार क्रिया की मन्दता और एक बार प्रबलता; एक बार अभिघात, दूसरे बार अनभिघात। अभिघात के समय इन्द्रिय में चाञ्चल्य होता है, बाद में अचाञ्चल्य। चाञ्चल्य में ज्ञान और अचाञ्चल्य में ज्ञानाभाव होता है, अतएव ज्ञान एक बार उत्पन्न हो रहा है, और तत्क्षणात् लीन हो रहा है। रूपज्ञान में एक मुहूर्त्त में बहुकोटि बार वैसा होने से वह लक्षित नहीं होता, इस कारण रूप स्थिर सत्ता की तरह मालूम पड़ता है। अलातचक्र (अर्थात् एक प्रज्वलित अङ्गार) को घुमाने से जो चक्राकार स्थिरसत्ता दृष्ट होती है, वह भी वैसी ही है। काठिन्य, भारवत्ता आदि जिन गुणों से द्रव्य स्थिरसत्त मालूम पड़ता है, वह भी क्रिया या गतिविशेष मात्र है।[२] द्रव्य का आणविक आकर्षण-विशेष या क्रियावर्त्त ही काठिन्य है। भारवत्ता भी पृथिवी के साथ मिलने की गति है, इत्यादि।

---

१. But there are real movements and the immobilities into which we seem able to decompose them are not constituents of the movements they are views of it.

२. "Since, we have found that electrons are constituents of all atoms and that mass is a property of electrical charge"

१२। इस प्रकार यह देखा गया कि जिसको स्थिरसत्ता समझते हैं, वह भी उदीयमान और लीयमान क्रिया-प्रवाह है। साधारण दृष्ट क्रिया या स्थान-परिवर्त्तन का अनुभव कुछ स्थिर सत्ताओं की तुलना से हम करते हैं। इस पुस्तक में इस पृष्ठ के ऊपर से नीचे तक कागज का देश एक स्थिरसत्ता है। उसके सब अवयव भी (जितने परिमाण के जितने संख्यक अवयव-विभाग क्यों न किए जाएँ) स्थिरसत्ता हैं, और पाठक की अङ्गुलि भी स्थिरसत्ता है। अङ्गुलि को पृष्ठ के ऊपर से नीचे तक खींचने से जो क्रिया होगी, वह उन स्थिरसत्ताओं का पूर्वापर-क्रम से संयोग-वियोग-मात्र है। पूर्वापर-अवयवों के संयोग को लेकर क्रिया देशव्यापी कहलाती है और पूर्वापर-क्षणव्यापी को लेकर क्रिया काल-व्यापी कहलाती है।

१३। इस प्रकार स्थिरसत्ता की तुलना में हम दृष्ट क्रिया को समझते हैं। पर ये सब स्थिरसत्ताएँ भी जब क्रिया-विशेष हैं, तब मूल क्रिया को कैसे लक्षित करना युक्तियुक्त होगा ? उसको 'एक स्थान से अन्य स्थान में गति' कहकर लक्षित नहीं कर सकते, क्योंकि 'यह स्थान' और 'वह स्थान' ये दो स्थिर सत्ताएँ हैं। जब हमें स्थिरसत्ता की भी मूलीभूत क्रिया का लक्षण करना है, तब उसको अन्य किसी स्थिसत्ता के द्वारा लक्षित करना युक्तियुक्त नहीं है। अतएव जागतिक मूलक्रिया 'यहाँ से वहाँ तक गति' रूप नहीं है, यह न्याय की दृष्टि से कहना होगा। तब वह क्रिया कैसी है ? 'यदि यहाँ से वहाँ तक गति' रूप क्रिया के अतिरिक्त कोई अन्य क्रिया है, तब यह वही होगी। वैसी क्रिया भी है। वह क्रिया मन की है। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार की क्रिया व्यावहारिक जगत् में नहीं है। अतएव मूल बाह्य क्रिया यदि दैशिक न हो, तो वह क्रिया मानस होगी। मन की क्रिया में स्थान का ज्ञान नहीं होता, परन्तु कालक्रम में परिवर्त्तन का ज्ञान होता है। मूल बाह्य क्रिया को भी न्यायतः तज्जातीय क्रिया कहना होगा।[१]

(Millikan's Electron, p. 187). पर विद्युत् को भी आणविक अवयवयुक्त द्रव्य या क्रिया (atomic nature) कहा जाता है, पर वह किसकी क्रिया है या वह द्रव्य कौन-सा द्रव्य है, इसे अज्ञेय कहा जाता है।

१. रूपादि बाह्य पदार्थ अन्तःकरणजातीय हैं, यह सांख्यीय सिद्धान्त है। प्रजापति का अभिमान-विशेष ही रूपादि-विषयों का मूल है, यह सांख्य कहता है। जो कहते हैं कि ईश्वरीय इच्छा से रूपादि हुए हैं उनके मत से भी यही बात सिद्ध होती है, क्योंकि इच्छा अभिमान-विशेष है। उससे बाह्य विषय उत्पन्न होता है, यह कहने से

१४। वाह्यज्ञान का मूलीभूत पदार्थ इस प्रकार विस्तारहीन है, यह न्याय से सिद्ध होता है। तब विस्तार-ज्ञान कहाँ से आता है? पहले कथित अलातचक्र के उदाहरण में यह देखा गया है कि एक क्षुद्र अङ्गार-खण्ड एक वृहत् चक्ररूप स्थिर सत्ता मालूम पड़ता है। ऐसा क्यों होता है? उत्तर में कहना होगा कि एक स्थान में एक वस्तु के रूपज्ञान होने के लिए उस वस्तु का वहाँ एक निश्चित काल तक रहना आवश्यक होता है; वह यदि उसकी अपेक्षा कम समय तक रहता है, तो चक्षु उसको उस स्थान में स्थित रूप से नहीं देख सकता और पूर्वज्ञान के साथ परक्षणिक ज्ञान मिलकर एक चक्राकार ज्ञान होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय से विषय का ग्रहण करके उसका ज्ञान होने तक जितने समय की आवश्यकता होती है, कोई भी ज्ञानहेतु क्रिया यदि उसकी अपेक्षा अल्पकालस्थायी क्रियाओं का प्रवाहभूत हो, तो हम उन खण्ड-खण्ड प्रवाहांश-भूत क्रियाओं को पृथक्-पृथक् कर नहीं जान सकते, बल्कि बहुसंख्यक क्रियाओं को एकवत् समझते हैं। इस प्रकार बाह्यज्ञानहेतुक बहुसंख्यक क्रियाओं को अपृथक् रूप में ग्रहण करना ही विस्तार-ज्ञान का स्वरूप है। अलातचक्र के उदाहरण में बिन्दुमात्र आलोक (जो स्थिरसत्ता है) का वृहत् चक्र में विवर्तित होना देखा जाता है और उसके पीछे तुलना करने के लिए बाह्य स्थिरसत्ता रहती है; पर प्रश्न यह है कि मूल बाह्य विस्तारज्ञान (जो विस्तारज्ञान का मूल है) के लिए वैसी स्थिरसत्ता कैसे लभ्य हो सकती है?

विषय का उपादान अभिमान है, यह सिद्ध होता है। बाह्यमूल के विषय में Plato कहते हैं–'Ether is the mother and reservoir of visible creation··· and partaking somehow of the nature of mind". Julian Huxley कहते हैं—"There is only one fundamental substance which possesses not only material properties but also properties for which the word 'mental' is the nearest approaach". आपेक्षिकतावाद में भी यही सिद्धान्त आता है। "But there exists in nature an impalpable entity which is not matter but which plays a part at least as real and prominent is a necessary implication of the theory' (Relativity by L. Bolton. p. 175)। बाह्य जगत् का यह अस्पर्श मूल यदि matter न हो, तो mind के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इन दोनों को छोड़कर और कुछ कल्पनीय नहीं है या विद्यमान नहीं है।

१५। वह स्थिरसत्ता लभ्य नहीं है, यह यथार्थ सत्य है। मूल बाह्य ज्ञेय द्रव्य के तुलनामूलक ज्ञान के लिए अन्य एक बाह्य ज्ञेय द्रव्य को स्थिरसत्ता के रूप में ग्रहण करने की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः उस समय अहंभाव रूप आभ्यन्तरिक स्थिरता का ग्रहण करके उसकी तुलना में मूल बाह्य विस्तार ज्ञेय होता है। अहंभाव सर्वज्ञान का ज्ञाता है, उसकी उपमा से सब कुछ ज्ञात या सत्तावान् मालूम पड़ते हैं। अहंभाव का धर्म है अभिमान, या 'मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ' ऐसा बोध। 'मैं' के साथ (ज्ञान से) किसी के योग होने से 'मैं तद्वान्' और वियोग होने से 'मैं तद्हीन' ऐसा जो बोध होता है, वह अभिमान है। अभिमान से अहंभाव लक्षित होता है। अहंभाव अभिमान की समष्टि है। अभिमान त्रिविध है— मैं ज्ञाता, मैं कर्त्ता और मैं (शरीरादि का) धर्त्ता। चूँकि ज्ञान सर्वप्रधान है, अतः 'मैं कर्त्ता', 'मैं धर्त्ता' इन दोनों भावों का भी 'मैं ज्ञाता हूँ'। ज्ञान, चेष्टा और धृति या संस्कार– अन्तःकरण के ये तीन मौलिक भाव हैं। मेरी क्रियाशक्ति है, क्रियाशक्ति का आधार शरीर और इन्द्रियाँ हैं। मेरे स्मार्य विषय मन में ही धृत हैं, इन सब बोधों का या अभिमान का नाम ही 'धर्त्ता मैं' हूँ।

अहंभाव वस्तुतः मनोभाव है, अतः विस्तारहीन है। पर ऐसा होने पर भी अभिमान से वह विस्तारयुक्त या 'मैं विस्तृत हूँ, ऐसे ज्ञान से युक्त' हो सकता है। कारण, जैसा अभिमान किया जाता है, व्यक्ति वैसा हो भी जाता है—ऐसा ज्ञान सर्वदा हो रहा है। हमारे विस्तार-ज्ञान की मूल अवस्था शरीराभिमान है। सर्वशरीरव्यापी जो बोध है, मैं इसका बोद्धा हूँ, अतः मैं शरीरी हूँ–ऐसा धर्तृत्वाभिमान स्थिरसत्ता की तरह अवभात होता है।

१६। पहले कहा गया है कि सभी स्थिरसत्ताएँ भी अलक्ष्य क्रिया हैं। बोध होने के लिए बोधहेतु क्रिया चाहिए, और उस क्रिया को बोद्धा अहंभाव के साथ संयुक्त होना चाहिए। अतः शरीररूप स्थिरसत्ता (जो अलक्ष्य क्रियापुञ्ज ही है) की क्रियाओं के बोद्धा अहंभाव के साथ योग होने से शरीर का बोध हो रहा है। शरीर अनेक क्षुद्र तथा बृहत् यन्त्रों की समष्टि है। वे सब क्रिया कर रहे हैं। बोद्धा उन क्रियाओं को ग्रहण कर रहा है।

पर 'एक क्षण में एक ज्ञान' होना ज्ञान का स्वभाव है। युगपत् मैं दो या बहुसंख्यक ज्ञानों का ज्ञाता हूँ, ऐसा होना असंभव और अचिन्तनीय है[1]

१. कोई भी मनस्तत्त्वविद् कदाचित् Two co-existent thoughts in the same subject नहीं मानता। यह अनुभूतिविरुद्ध है।

अतः शरीररूप युगपत् बहु (बोधहेतु) क्रियाजनित ज्ञान कैसे होता है ? कहना होगा कि वह क्रमशः होता है (शतपत्रभेद की तरह)। पर यह इतना द्रुत होता है कि हम अपनी अपेक्षाकृत जड़ परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति से पृथक् कर उसे जान नहीं सकते।[1] हमारी मनःक्रियाएँ परिदृष्ट या लक्ष्य (Supraliminal) और अपरिदृष्ट या अलक्ष्य (Subliminal) हैं, यह प्रसिद्ध है। अशेष पिण्डीभूत संस्कार, जो बोध की सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं और जो अहंभाव के साथ संसृष्ट हैं, अपरिदृष्ट चित्तकार्य हैं।[2] बोध तो बोद्धा के साथ संयोग के बिना नहीं रह सकता; अतः वे संस्कार-रूप सूक्ष्मबोध भी बोद्धा के साथ संयुक्त होकर वर्त्तमान हैं, अर्थात् अमेय संस्कार-रूप विशेषों से अभिसंस्कृत बोध-रूप अहंभाव का धृत अंश अलक्ष्यवेग से बोद्धा के द्वारा बुद्ध हो रहा है; इसीसे हमलोगों में यह अस्फुट अभिमानज्ञान होता है कि 'मैं संस्कारवान् धर्त्ता हूँ'।

संस्कार किस रूप से रहते हैं, इसकी अच्छी तरह से धारणा करनी चाहिए। चूँकि मन दैशिक-विस्तारहीन है, अतः संस्कार 'एक के बाद दूसरे देश में स्थित' इस प्रकार से नहीं हैं। जब संस्कार हैं, या वर्त्तमान हैं, तब एक क्षण में ही सब हैं। परिदृष्ट अहंभाव के ज्ञान में (चित्तवृत्ति के साथ 'मैं' के ज्ञान में) सभी संस्कार अन्तर्गत हैं। मिट्टी के पिण्ड में यदि बहुत बार छेद किया जाए, तो छेद के चिह्नयुक्त मृत्-पिण्ड के साथ संस्कारयुक्त अहंभाव की तुलना हो सकती है। मिट्टी को

---

१. जैसे आलोक-ज्ञान में एक सेकंड में बहुकोटि बार चक्षु में क्रिया होती है; पर प्रत्येक क्रियाजन्य जो अणु-बोध होता है, उसे हम पृथक् कर नहीं जान सकते। बहु-कोटिक्रियानिर्मित कुछ आलोक को हम स्थूल इन्द्रिय से जान सकते हैं। इस प्रकार परिदृष्ट एक ज्ञान का स्थितिकाल ही हमारे साधारण ज्ञान में अविभाज्य क्षण की तरह प्रतीत होता है।

२. अपरिदृष्ट चित्तकार्य का उदाहरण—प्राण-कार्यों के ऊपर आधिपत्य, संस्कार का अस्फुट बोध, मिडियमों का अज्ञात लेखन (automatic writing) आदि कार्य। शेषोक्त दृष्टान्त में वह व्यक्ति कदाचित् परिदृष्ट भाव से एक प्रकार का कार्य करता है और अपरिदृष्ट भाव से उससे भिन्न प्रकार का कार्य करता है (जैसा दूसरा कोई 'मैं' कर रहा है)। एक 'अहम्' का युगपत् बहुज्ञान सम्भव नहीं होने के कारण इसमें एक बार परिदृष्ट भाव और दूसरी बार अपरिदृष्ट भाव उद्भूत होते हैं; इस प्रकार बोद्धा के साथ अलक्ष्यवेग से संयोग होता रहता है; उसी से मालूम पड़ता है कि मानों दो 'अहम्' युगपत् कार्य कर रहे हैं।

तरल और उसके छिद्र-चिह्नों को असंख्य और विशद (आकारवान्) को तरह कल्पना करने से तुलना और अच्छी होगी। पर, यथार्थतः अहंभाव नामक पिण्ड क्षणस्थायी एक विस्तारहीन बिन्दु है और उसमें स्थित सभी संस्कार अहंभाव के ज्ञान-क्रिया-रूप में परिणत होने के सहज पथमात्र हैं। चूँकि पहले अनुभूति होती है, अतः वह पथ सहज बन जाता है; यही संस्कार है। अन्तर्गत अशेष-विशेष-युक्त एक विद्युद्बिन्दु की कल्पना करने से मन की उपमा और भी अच्छी होगी। विद्युत् की प्रभा मन के ज्ञान की उपमा समझी जाएगी। वैसा अहंभाव बोद्धा पुरुष के संयोग से प्रकाशित हो रहा है ('मैं बोद्धा हूँ', इस प्रकार)।

अहंभाव या अन्तःकरण की वृत्तियाँ एक के बाद दूसरी होती हैं। एक समय दो ज्ञान नहीं होते, अतः संस्कार भी उसी क्रम से होते हैं, अर्थात् एक समय में एक ज्ञान—इस क्रम से ही संस्कार का स्मरण होता है। इसी प्रकार चूँकि संस्कार-स्मृतियाँ असंख्य हो सकती हैं, अतः उस रूप में स्मरण करते रहने से कभी स्मरण-क्रिया का अन्त नहीं होगा; इसीलिए काल के साथ योग कर कहने पर यह कहना होगा कि मैं अनादिकाल से हूँ। इसी प्रकार अहंभाव किसी न किसी रूप से रहेगा—चूँकि यह चिन्ता अपरिहार्य है, अतः यह कहना होता है कि मैं अनन्तकाल तक रहूँगा। विज्ञाता या द्रष्टा की ओर से काल नहीं है (क्योंकि काल-ज्ञान का भी वह ज्ञाता है) और सब संस्कार भी वर्त्तमान हैं, अतः द्रष्टा के साथ संस्कार का योग है ही। पर, प्रत्येक के बोध के समय परम्पराक्रम से एक-एक संस्कार एक-एक क्षण में ज्ञात होता है, ऐसा अनुभव होता है।

यद्यपि असंख्य संस्कार एक दूसरे से पृथक् हैं; तथापि चूँकि उन सबका निष्पादन संहत्यकारी एक-एक समष्टि शक्ति से (दर्शनादि की) होता है, अतः वे असंख्य-जातीय नहीं हैं। एक-एक जातीय संस्कार एक-एक संहत्यकारी मनःशक्ति के अनुगत रूप से रहता है, और द्रष्टा के साथ संयुक्त होकर ज्ञात होता है। तादृश ससंख्यशक्ति के साथ द्रष्टा के संयोग होने में (क्रमशः होने पर भी) अमेय काल नहीं लगता, प्रत्युत मेय काल में ही संयोग होता है; चूँकि वह अतिद्रुत होता है, अतः युगपत् की तरह जान पड़ता है। पहले ही कहा गया है कि युगपत् बहुज्ञान अर्थात् युगपत् की तरह बहुज्ञान विस्तारज्ञान का स्वरूप है। एक बोद्धा के बहु बोध यद्यपि युगपत् असम्भव हैं, तथापि परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति का मन्द वेग और अपरिदृष्ट ज्ञान-शक्ति का भृश वेग, इन दोनों वेगों का पार्थक्य रहने के कारण परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति के पास बहु-संख्यक अपरिदृष्ट ज्ञानहेतुक क्रियाएँ युगपत् की तरह

अविभक्त ज्ञान का उत्पादन करेंगी। तादृश बोध का नाम ही शरीराभिमान बोध है। उसीसे 'मैं शरीरी या शरीरव्यापी हूँ' इस व्यापी शरीरगत बोध-रूप स्थिर सत्ता का बोध होता है।

पहले ही कहा गया है कि शरीर प्रवहमाण सत्ता या क्रियापुञ्ज है। अलातचक्र की तरह पूर्वोक्त रीति से उसमें स्थिरसत्ता-रूप विपर्यय (या illusion) होता है। यदि सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से शरीरनामक क्रियापुञ्ज की प्रत्येक क्रिया को पृथक्-पृथक् रूप से जाना जाए, तो उसका अनुभव प्रवहमाण व्याप्तिहीन क्रियाजन्य सत्ता ही होगा, जैसे अत्यल्प-कालव्यापी उद्घाटन (exposure) से अलातचक्र की फोटो लेने से वह चक्राकार न होकर क्षुद्र अङ्गारखण्ड ही होता है। यह उस विषय की उपमा है। अन्य उपमा—एक द्रुतगामी चक्रको—जिसके अर एकाकार मालूम पड़ते हैं, क्षणप्रभा (विद्युत्) के आलोक से देखने पर प्रत्येक अर स्पष्ट दिखाई पड़ेगा, मानो चक्र स्थिर है।[1]

---

१. आजकल वैज्ञानिकगण Relativly आदि जटिल विषयों को समझाने के लिए ऐसे Super-intelligence की कल्पना करते हैं, जिससे Fourth और Fifth dimension ज्ञात हो सकते हैं। सांख्यसम्मत सुसूक्ष्म ज्ञानशक्ति वैसी काल्पनिक नहीं है। उसके साधन का सविशेष उपाय योगशास्त्र में है। इस सुसूक्ष्म ज्ञान के ज्ञेय का नाम है—तन्मात्रसंज्ञक ज्ञानाणु (यह अत्यन्त क्षुद्र कण या अविभाज्य atom नहीं है)। उस दृष्टि से देखने से विस्तारज्ञान लुप्तप्राय होता है और कालिक धाराक्रम में अत्यन्त वेग के साथ बाह्यज्ञान होता रहता है। तन्मात्र मन और बाह्य का सन्धिस्थल है। क्रिया या प्रवहणशीलता जब प्रबल होती है, तब वह क्रिया जिसकी है, वह लक्ष्य नहीं होता, इसलिए उस समय बाह्यविस्तृत सत्ता लुप्तप्राय होती है। जिस क्रिया-प्रवाह से रूपादि-ज्ञान होता है, उस प्रवाहांशभूत एक-एक क्रिया से जो सुसूक्ष्म ज्ञान होता है, वही तन्मात्र ज्ञान है। योगशास्त्रोक्त निर्विचारा समापत्ति से तन्मात्र का सम्यक् साक्षात्कार करने से उस ज्ञान की हेतुभूत इन्द्रिय-क्रियाओं के जितने समाहार हो सकते हैं (जो समाहार रूपादि के विशेषों का स्वरूप है), वे सब (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) ज्ञानगोचर होते हैं (व्यासभाष्य १।४४ द्रष्टव्य)। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जिस Fourth Dimension की बात करते हैं, (जो कालव्यापी परिमाण है) वह इस तन्मात्रतत्त्व की ओर जा रहा है। Fourth Dimension को जानने से कैसा ज्ञान होगा, यह वैज्ञानिक की दृष्टि से इस प्रकार कहा जाएगा—"Boucher, who tells us that a man who was able to make use of the

१७। इस प्रकार यह जाना गया कि हमलोगों के विस्तारज्ञान का मूल या मौलिक अवस्था है—'शारीर-बोध या प्राणन क्रिया का बोध'। यह विस्तार-ज्ञान अत्यन्त अस्फुट है। इसमें आकारज्ञान अत्यन्त अल्प ही रहता है। यदि केवल शरीर में अवहित होकर स्वास्थ्य या पीड़ा का बोध किया जाए, तो इसका ज्ञान होगा। तब एक प्रकार का व्याप्तिबोध तो रहेगा, पर स्वास्थ्य या पीड़ा का आकारबोध नहीं रहेगा। यह बोध शब्द-रूपादिज्ञान का अधिक सापेक्ष नहीं है, क्योंकि शरीरमध्यस्थ बोध ही इसका स्वरूप है। यदि किसी की चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्त-पद न रहें, तो प्राणनक्रिया के बोध की सहायता से उसका वैसा विस्तार-ज्ञान होता है। बाह्य द्रव्य से बाधा पाने पर जो बोध होता है, वह काठिन्य है। उसके तारतम्य से कोमल, वायवीय आदि बोध होते हैं। इन बोधों के साथ यह व्याप्तिबोध मिलने पर व्यापी बाह्यबोध उत्पन्न होता है।

१८। इस मौलिक विस्तार-बोध के रहने के कारण कर्मेन्द्रियों में व्याप्ति-बोध होता है, और उनसे शरीर या शरीरस्थ द्रव्य चालित होकर बाह्य-विस्तार का बोध होता है। उनमें गमनेन्द्रिय से अच्छी तरह से बाह्य विस्तार का बोध होता है, और हाथ से आकार-बोध बहुलांश में होता है। ज्ञानेन्द्रिय नहीं रहने से केवल कर्मेन्द्रिय से जो हो सकता है, वह सहजतः समझा जा सकता है। प्राणन-बोधजनित स्वगत विस्तारबोध के रहने के कारण ज्ञानेन्द्रिय में भी अस्फुट विस्तार-बोध रहता है। तुलना करने के लिए ज्ञानेन्द्रियों को स्थिरसत्ता के रूप में पाकर रूपादि विषय पूर्वोक्त कारण से विस्तारयुक्त रूप में गृहीत होते हैं, या बहु रूपक्रियाएँ युगपत् की तरह गृहीत होती हैं। जिस प्रकार प्राणों में व्यान की रक्तसंचालनकारी प्राणशक्ति से सर्वोत्तम रूप से शारीरिक विस्तार का बोध होता है, कर्मेन्द्रियों में गमनेन्द्रिय से अच्छी तरह से चलन-जनित विस्तार-ज्ञान होता है, उसी

---

fourth dimension, would see the whole of the interior of the materil bodies, without being arrested by their surfaces......He would be able to emerge from a space, closed in all directions, without passing through its boundaries." अन्यत्र भी "Since in the fourth dimension matter is permeable, reversible and subject to the mind" इत्यादि (M. Maeterlinck कृत Life of Space p. 45). योगदर्शन में भी ऐसी बात है। पर यहाँ यह सम्यक् वैज्ञानिक प्रणाली से प्रतिपादित हुआ है और वैसे ज्ञान का साधन भी प्रदर्शित हुआ है।

प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु से सर्वापेक्षा उत्तम रूप से विस्तार और आकार का ज्ञान होता है। वागिन्द्रिय और कर्ण से कुछ कालिक विस्तार-ज्ञान भी होता है (क्योंकि शब्द में देश-व्याप्ति की अपेक्षा क्रिया-ज्ञान का प्राबल्य रहता है)।

इस प्रकार बाह्य विस्तार-ज्ञान के दृष्टिभ्रम या विपर्यय होने पर भी वह अभाव नहीं है। शब्दादिरूप भावपदार्थों के क्रमभावी अवयवों को युगपद्भावी जानना ही इसका स्वरूप है। युगपद्भाव का ज्ञान ही यहाँ विपर्यय है; न तो अवयव-ज्ञान विपर्यय है और न अभाव ही विपर्यय है। विपर्यय-ज्ञान में भी एक भावपदार्थ का अध्यास अन्य भावपदार्थ में होता है; यह अध्यास ही वहाँ मिथ्या है, पर ये दो भावपदार्थ सत्य हैं। रज्जु भी सत्पदार्थ है, सर्प भी सत्पदार्थ है, पर एक में अन्य का अध्यास मिथ्या है। यहाँ भी अवयव-ज्ञान सत्य है। अतएव विस्तार या देश के अर्थ में जहाँ अवयव-ज्ञान है, वहाँ वह वास्तव है; अथवा जहाँ उसका अर्थ बहुतेरे अवयव हैं, वहाँ भी वह सत्यज्ञान है। पर जहाँ 'देश' कहने से क्रमभावी ज्ञान का सहभावी बोध होता है, वहाँ उतना अंश ही अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान है या एक का अन्य रूप से ज्ञान है (पर यहाँ भी 'एक' और 'अन्य' भाव पदार्थ हैं)।

१९। पर, जहाँ विस्तार शब्द का अर्थ सीखकर यह सोचा जाता है कि ग्राह्य वस्तु से अतिरिक्त कोई विस्तार है, या ग्राह्यवस्तु के अभाव होने से जो रहता है, वही विस्तार या अवकाश है, वहाँ वह विस्तार 'शून्य' है और उस शब्द या वाक्य से उत्पन्न ज्ञान विकल्पज्ञान है। काल के विषय में भी यही जानना चाहिए। जिसको जान रहा हूँ, उसी को वर्त्तमान समझते हैं। जिसको जाना था या जानूँगा, उसको यथाक्रम अतीत और अनागत समझते हैं। पर, भावपदार्थ का अभाव नहीं होता और अभाव का भी भाव नहीं होता; अत: हम जिसको अतीत-अनागत कहते हैं, वह भी है या वर्त्तमान है (**अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्ति—योगसूत्र ४।१२**)।[1] सभी भावपदार्थ

---

१. Maurice Maeterlinck ने अपने एक भविष्यत् स्वप्न के विषय में (जो स्वप्न तीन दिन के बाद असन्दिग्ध रूप से सत्य सिद्ध हुआ था) विचार कर कहा था—'We shall before long be convinced by our personal experience that the future already exists in the present, that what we have not yet done, is to some extent accomplished' (Life of Space, p. 126).

अवस्थान्तर में विद्यमान रहते हैं। अतः सभी वर्त्तमान हैं। वर्त्तमान होने पर भी, जिसको हम नहीं जान रहे हैं, वह अतीत या अनागत काल में स्थित है, ऐसा समझते हैं, क्योंकि हम असत् को सत् नहीं समझ सकते। स्मृति और कल्पना के बल पर 'मैं था और रहूँगा', ऐसा सोचकर अहंभाव को हम त्रिकालव्यापी स्थिरसत्ता समझते हैं।

बोध से संस्कार होता है और संस्कार से स्मृति होती है तथा स्मृति के आश्रय से कल्पना होती है। सभी बोध एक के बाद अन्य काल में होते हैं (क्योंकि एक ही अहंभाव में एक क्षण में दो बोध नहीं होते), अतः बोध-जनित संस्कार भी कालव्यापी हैं। पर वे सूक्ष्म रूप से रहते हैं, अतः अलक्ष्यवत् रहते हैं। जैसा एक शाब्दिक कम्पन क्रमशः सूक्ष्म होकर अलक्ष्य हो जाता है, पर वह सूक्ष्मावस्था उस विशेष शब्द की ही अनुरूप है (घण्टा-ध्वनि की सूक्ष्मावस्था घण्टाध्वनि की अनुरूप ही होगी, मृदङ्गध्वनि की अनुरूप नहीं होगी), उसी प्रकार यादृश स्वभाव का बोध होता है, उसका संस्कार भी उसी के अनुरूप होता है। अतः संस्कार कालव्यापी प्रवहमाण सत्ता के रूप में ही अलक्ष्यवत् रूप में विद्यमान है। पर, संस्कार पूर्णरूप से अलक्ष्य नहीं होता। शरीरगत अस्फुट बोध की तरह उसका भी स्मृति-बोध सामान्य रूप से रहता है। चूँकि वह अलक्ष्य है, अतः वह 'था'—ऐसा समझते हैं, और अस्फुटभाव से उसके उदय होने के कारण वह 'है'—ऐसा समझना पड़ता है। अतः वह 'है' और 'था', इन दोनों का सम्मिश्रण है।

किंच, संस्कार का जो स्मृतिबोध होता है, वह बाह्य विस्तार-बोध की तरह बहुत क्रियाओं का संकीर्ण ग्रहणस्वरूप है, क्योंकि क्रमशः संघटित बोधों के अनुरूप संस्कार क्रमशः ही विद्यमान रहेगा; पर उनकी जो स्मृति उदित होकर परिदृष्ट वर्त्तमान ज्ञान के पीछे आघात करती है, वह स्मृति 'अनेक संस्कार (जो क्रमशः उत्पन्न हैं, अतः क्रमिक मनोभावरूप में स्थित हैं)[१] युगपत् या अक्रम से मानो वर्त्तमान हैं—इस प्रकार का बोध उत्पन्न करा

१. इसकी कल्पना करना कठिन है। बहुसंख्यक मनोभाव पर-पर स्थान में हैं, ऐसे दैशिक भेद की कल्पना करना अयुक्त है। क्रमशः एक के बाद दूसरे का होना ही उनका अवस्थान-भेद है; पर जब यह कहा जाता है कि सब वर्त्तमान हैं, तब 'एक के बाद दूसरा' ऐसा कहना भी अयुक्त होगा। अतः यह कहना होगा कि वे वर्त्तमान हैं, पर 'एक क्षण में एक ज्ञेय है' ऐसा क्रमशः ज्ञेय रूप में और क्रमोत्थाप्य रूप में वर्त्तमान हैं। देशावस्थितिहीनता, बहुता और युगपत् वर्त्तमानता की कल्पना करना कठिन है।

देती है। इसीसे जिसको 'था' समझता हूँ, उसीको पुनः 'है' ऐसा मानना पड़ता है। यही अतीत से वर्त्तमानपर्यन्त कालिक विस्तार है। साथ ही, स्मृति मूलक युक्तियुक्त स्वाभाविक कल्पना से अहंभाव की अलक्ष्य भावी अवस्था का भी निश्चय होता है, अर्थात् जो होगा (या 'मैं किसी न किसी रूप में रहूँगा') उसे भी वर्त्तमान काल में जानता हूँ। 'वर्त्तमान में जानने' या 'वर्त्तमान के रूप में जानने' का अर्थ है 'रहना'। अतः जो भविष्य में होगा, उसको भी 'है', ऐसा समझकर वर्त्तमान और भविष्यत् काल को हम समाहृत करते हैं।

इस प्रकार वस्तु का लक्षित और अलक्षित, इन दो अवस्थाओं के अनुसार कालभेद हम करते हैं। जिस पुरुष का भूत और भविष्यत्-ज्ञान अबाध हैं, उनके पास या ईश्वर के पास सभी वर्त्तमान हैं। इसलिए व्यासभाष्यकार ने कहा है—'वर्त्तमान एक क्षण में विश्व परिणाम का अनुभव कर रहा है' (३।५२)। उस अशेष विश्व-परिणाम का जो जितना अंश ग्रहण कर रहा है, वह उतने अंश को वर्त्तमान समझता है, और अन्य अमेय अंश को अतीतानागत समझता है। मेरे असंख्य परिणाम हुए हैं[१] और असंख्य परिणाम हो सकते हैं—अहंभाव के विषय में यह स्वाभाविक निश्चय ही कालिक विस्तार-ज्ञान है। दैशिक विस्तार-ज्ञान में जैसे अवयवों की संख्या (मेय या अमेय) यथार्थ पदार्थ है, कालिक विस्तार-ज्ञान में भी उसी प्रकार मानस घटनाओं की संख्या (मेय और अमेय) यथार्थ पदार्थ है, अर्थात् असंख्य परिणाम हुए हैं और होंगे—इसलिए 'मैं' (या अन्य कोई वस्तु) था और रहेगा—ऐसा कहते हैं। यह मानसिक-घटना-परम्परारूप विस्तार प्रकृत पदार्थ है। उसके कारण वाक्यविन्यास कर हम यह जो कहते हैं कि जिसमें वह मानस घटना है, थी और रहेगी—वही काल है, यह काल 'शून्य' है और ऐसे अवास्तव पदार्थों का ज्ञान काल नामक विकल्प ज्ञान है।

२०। अब विचार्य यह है कि बाह्य गति कौन-सा पदार्थ है ? किसी

---

१. जो वादी अहंभाव को भौतिक द्रव्य समझते हैं, वे भी इस बात को अन्यथा नहीं कर सकते। वे समझते हैं कि 'मैं भूतनिर्मित हूँ और भूत में मैं मिल जाऊँगा'। वे यह भी कहने में बाध्य हो जाते हैं कि जिस भूत का परिणाम अहंभाव है वह भूत अनादिकाल से असंख्य परिणामों को प्राप्त होता रहा है, और भविष्यत् में भी प्राप्त होता रहेगा। अतएव उनको यह भी मानना होगा कि मैं पहले भी किसी न किसी रूप में था और बाद में भी रहूँगा।

स्थिर सत्ता-रूप द्रव्य का एक स्थान से स्थानान्तर में (अर्थात् किसी एक स्थिर सत्ता का एक अवयव से अन्य अवयव में) संयोग होना ही गति है। पहले ही आपत्ति होगी कि जगत् जब मूलत: मन:पदार्थ है, और मन चूँकि बाह्यविस्तारहीन है, अत: गति कैसे संभव है ?[1] और बाह्यदृष्टि से देखने से जब यह कहना पड़ता है कि जब सब कुछ वस्तुपूर्ण ही हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि एक वस्तु एक स्थान को शून्य कर किसी अन्य शून्य स्थान में जाती है ? कोई-कोई यह कहते हैं कि द्रव्य तरङ्गसदृश या क्रियावर्त्त स्वरूप है। तरङ्गें जिस प्रकार चली जाती हैं पर जल नहीं जाता, द्रव्य की गति भी उसी प्रकार की है। पर, इससे कुछ मीमांसा नहीं होती, क्योंकि तरङ्ग होने के लिए संकोच-प्रसार चाहिए, उसके लिए विशुद्ध शून्य

---

१. ग्रीक दार्शनिक Zeno ने कतिपय युक्तियों से यह दिखाया था कि गति असंभव है। यथा—'एक मुहूर्त में एक द्रव्य यदि एक स्थान में रहता है, तो उसको स्थिर कहा जाता है। एक सचल शर प्रतिमुहूर्त्त में एक स्थान पर रहता है, अत: शर गतिहीन है'। यह न्यायाभास है। द्रव्य यदि पर-पर मुहूर्त्त में भिन्न स्थान में रहता है, तभी वह गतिशील होता है; शर उसी रूप से रहता है; इसलिए शर गतिशील है। यही यथार्थ न्याय है। Zeno का 'प्रतिमुहूर्त्त' शब्द 'पर-पर मुहूर्त्त' होगा। दूसरी युक्ति यह है—'एक शर को एक स्थान से अन्य स्थान में जाने के लिए पहले वह आधी दूरी का अतिक्रमण करेगा, उसके बाद उसकी आधी दूरी और उसके बाद उसकी भी आधी दूरी—इस प्रकार उस शर को 'अनन्त आधी दूरियों' का अतिक्रमण करना होगा, अत: वह कभी गन्तव्यस्थान पर नहीं पहुँच सकेगा'। एक ससीम परिमाण के असंख्य भाग किए जा सकते हैं, इसलिए वह असीम है (अतएव अनतिक्रम्य है), यह न्यायाभास इसमें है। इस न्याय की तरह हमारे देश में भी प्रवाद है कि एक रुपया उधार लेकर आठ आने, चार आने इत्यादि अर्द्धक्रम से लौटाने पर कभी भी उस ऋण का परिशोध नहीं होगा। यह सत्य है। पर इस क्रम से ऋण का प्रत्यर्पण भी नहीं किया जाता और बाण भी नहीं जाता। विस्तार की तरह गति भी यद्यपि एक भ्रम ही है, पर इस सत्य को Zeno ने जिस रीति से समझाने की चेष्टा की है, वह न्याय्य नहीं है या उस रीति से समझा नहीं जा सकता। [Zeno of Elea द्वारा चिन्तित समस्याओं के विवरण के लिए द्र० Bakewell कृत Sourcebook in Ancient Phlilosophy, pp 22-25 p.; इस समस्या के खण्डन के लिए Mill's Logic (II. 453) तथा A Bain कृत Mental and Moral philosophy, p. 400 द्र०। Grote कृत Plato I भी द्र०— [**सम्पादक**]

अपेक्षित है। दार्शनिक दृष्टि में ही शून्य नहीं है ऐसी बात नहीं, वैज्ञानिक दृष्टि में भी शून्य असिद्ध है, क्योंकि सर्वपदार्थहीन शून्य में द्रव्य एक दूसरे पर आकर्षण आदि क्रिया करते हैं, यह कल्पनीय (असंभव होने के कारण) नहीं हो सकता। इस प्रकार साधारण दृष्टि से गति कैसे संभव होती है, यह नहीं समझा जा सकता।

२१। जो कहते हैं कि अपने विज्ञान से ही अन्तर्बाह्य सभी घटनाएँ घटती हैं, वैसे विज्ञानवादी कहेंगे कि स्वप्न में जैसे एक स्थान में रहने पर भी गति का ज्ञान होता है, सभी गति-ज्ञान उसी प्रकार के हैं। इससे प्रकृत बात समझ में नहीं आती; क्योंकि स्वप्न स्मृति (गति-ज्ञान की स्मृति) से होता है, और स्मृति अनुभूत विषय के संस्कार से होती है। विषय-ज्ञान अपने विज्ञानमात्र से ही साध्य नहीं है, उसके लिए स्वविज्ञान-बाह्य अन्य उत्तेजक भी चाहिए। उस बाह्य उत्तेजक की गति कैसे संभव होती है, यही विचार्य है।

विस्तार-ज्ञान अपना करणगत ज्ञान तो है, पर उसके लिए करणबाह्य एक उत्तेजक भी स्वीकार्य होता है। गति के तत्त्वज्ञान के लिए उस उत्तेजक का (जो बाह्य सत्तारूप में प्रतिभात होता है) तत्त्व सम्यक् विचार्य है। हम जैसे इन्द्रियमनोयुक्त देही हैं, उसी प्रकार असंख्य स्थावर-जङ्गम देही हैं, यह हम जानते हैं। यह भी दिखाया गया है कि जिस बाह्य सत्ता से हमारी देह संघटित है, वह भी मूलत: मन है (इसके सिवा दर्शनशास्त्र में और युक्तियुक्त कोई सिद्धान्त नहीं है)। चूँकि रूपादि बाह्य सत्ताएँ अनेक देहियों का साधारण है, इसलिए वह बाह्यमूल मन बहु देहियों के मन के साथ मिलित है। आकार, इङ्गित आदियों से साधारण रूप से एक मन के साथ अन्य मन का मिलन होता है, पर (बाह्यसत्ता का मूल) भूतादि नामक अहंकारद्रव्य (मनोजातीय पदार्थ) का मिलन उस प्रकार का नहीं हो सकता; क्योंकि जिनके द्वारा आकार, इङ्गित आदि संघटित होते हैं, उन शब्दादियों का ज्ञान होने से पहले ही यह मिलन हो जाता है; (शब्दादि-ज्ञान उस मिलन का फलस्वरूप है)। अतएव यह मिलन मन के साथ मन का आभ्यन्तर दिक् से घटित होता है। ऐन्द्रजालिक विवर्द्धमान आम्रवृक्ष आदि से कुछ सोचते हैं, उनके पार्श्वस्थ लोग तादृश आम्रवृक्षादि देख पाते हैं—यह भीतर से मन के साथ मिलन का दृष्टान्त है (यद्यपि बाह्य दिक् से भी ऐन्द्रजालिक और दर्शक का कुछ मिलन भी रहता है)।

जिस भूतादि मन से हम इस भौतिक इन्द्रजाल को देख रहे हैं, वह अव्यर्थ-शक्तियुक्त है। साधारण ऐन्द्रजालिक में जो शक्ति दिखाई पड़ती है, वह भूतादि मन में परमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है। अतः वह अव्यर्थ रूप से बहुत मनों के ऊपर क्रिया करने में समर्थ है। उस भूतादि मन की और भी एक (साधारण मन की अपेक्षा) विशेषता यह रहेगी कि वह बाह्य चाञ्चल्य के बिना भी भूत-भौतिक जगत् को कल्पना से उद्भावित कर सकेगी। और यह जगत् कल्प्य रूप से ही सत्तावान् होगा। साधारण मनों का यह संस्कार है कि वे आलम्बन पाने पर उसका ग्रहण करके शरीरेन्द्रिय का धारण और विषय का ग्रहण कर सकते हैं (यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है)। भूतादि मन के भूतरूप ज्ञान से (जो उसका स्वतः ही होता है) भावित होकर साधारण मन उस बाह्य उत्तेजकरूप आलम्बन को पाकर स्वसंस्कार के अनुसार देहेन्द्रिय का धारण करता है। यह आलम्बन चूँकि साधारण होता है, अतः वे सभी मन उस आलम्बन के माध्यम से परस्पर विज्ञप्ति कर सकते हैं।

भूतादि ऐश मन[1] का कल्पन पूर्व संस्कार से होता है, इसलिए उससे शब्दस्पर्शादियुक्त और कठिन-तरल-वायवीयतादि-धर्मयुक्त गतिशील जगत् कल्पित या संभावित होता है। जगत् चूँकि मूलतः मनोमय है, अतः गति स्वप्न की तरह है, अर्थात् वह विस्तारज्ञानमूलक पार्श्वस्थ-वस्तुज्ञान का परिवर्तन-विशेष ही होता है।[2]

---

१. सांख्यमत में पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ प्रजापति जगत् का स्रष्टा है। पूर्वसर्ग का 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अहं सर्वव्यापी' ऐसा ऐश अभिमान उनमें विद्यमान है, उससे वे चराचर भ्राम्यमाण ब्रह्माण्ड की अधीशता रूप ऐश्वर्य संस्कार से अभिसंस्कृत होते हैं। सर्गकाल में उनका वह अभिमान-संस्कार पूर्ववत् उठता है, अर्थात् उस अभिमान से यह भ्राम्यमाण चराचर ब्रह्माण्ड की सत्ता कल्पित होती है।

२. जगत्-मूल के विषय में दार्शनिक दृष्टि से इस सिद्धान्त के बिना और कोई गति नहीं है, वह निम्नोदधृत वचन से भी समझ में आयगा—"We can reduce matter to motion and what do we know of motion, save that it is a complex perception or a mode of thought. × × × For of motion we know nothing except that it represents a continuous change of certain perceptions in their relations with those of space and time × × × Hence one form of thought—our own minds—runs parallel to and is concomitant

भूतादि के तादृश मौलिक कल्पन (पार्श्वस्थ वस्तुज्ञान का परिवर्तनशीलता-रूप कल्पन) से भावित होकर साधारण मन सभी गतिमान् रूपादि को जानते हैं और उनमें अभिमान कर देहादि का संघटन करते हैं तथा काठिन्यादि के अभिमानी होते हैं। 'सर्वाधिक दुष्प्रवेश्यता' का अभिमान ही काठिन्याभिमान है। तारल्य, वायवीयत्व, रश्मित्व आदि आपेक्षिक प्रवेश्यता का अभिमान है। ताप-आलोकादि का जैसा संचार और क्रिया हैं, भूतादि के रूप-तापादि-कम्पन में प्रत्येक मुहूर्त्त में उतनी बार पार्श्वस्थ सत्ता-ज्ञान की परिवर्तनज्ञान-रूप मानसक्रिया होती है। पार्श्व या विस्तार-ज्ञान भी भूतादि के प्राणाभिमान[1] से होता है; क्योंकि प्राण के बिना मन क्रिया नहीं कर सकता। मन का अधिष्ठान उसके अङ्गभूत प्राण से निर्मित होता है। यह जैसे स्थूल शरीर के सम्बन्ध में सत्य है, वैसे सूक्ष्म या विश्वव्यापी विराट् शरीर के सम्बन्ध में भी सत्य है। सूक्ष्म या विराट् शरीर के लिए भी अधिष्ठान (अतएव तत्प्राण) के बिना मन का कार्य कल्पनीय नहीं है। इस दृष्टि से गति या स्थान-परिवर्त्तन का तत्त्व समझना होगा।

प्राणशक्ति स्थिति या धारणशील तामस अभिमान है। उससे देह का विधारण होता है। भूतादि की विश्व-प्राणशक्ति से यह विश्व विधृत है। विधृत रहने का अर्थ है—सभी अवयवों का एक नियन्त्रण में आबद्ध रहना। अभिमान से अहंभाव के साथ सभी मानस और शरीरेन्द्रिय की क्रियाएँ आबद्ध (चक्र-नाभि में अर की तरह) रहती हैं, यह स्पष्ट है। अतः

---

with another form of thought—perhaps more permanent—though that we cannot say, which we call matter, electricity or ether. And it resolves itself into mind perceiving mind" (J. B. Burke का Origin of Life पृ० ३३७; इसके बाद का अंश भी द्रष्टव्य है)। हमलोगों की चिन्ता के अतिरिक्त जिस another form of thought को स्वीकार किया जाता है, वही सांख्य का भूतादि अभिमान है। यह अभिमान जिसका है, वही प्रजापति है।

१. यही विश्वप्राण है, जिससे सब कुछ विधृत हैं। प्रश्न श्रुति कहती है—'प्राणस्यैव वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्' (२।१३)। उद्भिज्ज आदि स्थावर प्राणियों की तरह धातु-पाषाणादि के भी प्राण हैं। यह केवल वैदिक मत नहीं है। पाश्चात्त्यों में भी जो मूल की चिन्ता करते हैं, वे ऐसा कहते हैं। प्राणी और अप्राणी का भेद कहाँ से है, यह भी वे अनिर्णेय बताते हैं। धातुओं का अवसाद, शर्कराबन्धन आदि से यह विश्वप्राण सिद्ध होता है।

विश्वधृक् ब्रह्मशक्ति मूलतः प्रजापति का भूतादिरूप अभिमान है। उससे सगुण ब्रह्म के अहंभाव रूप केन्द्र में सभी पदार्थ आबद्ध हैं। इसलिए बाह्य की ओर से ब्रह्माण्ड के सभी द्रव्य परस्पर संबद्ध मालूम पड़ते हैं। जैसे मन में कल्पनरूप विक्षेप शक्ति से सब संस्कारादि मानस-वस्तुएँ पृथक् होकर उठती हैं और बाद में 'अहंभाव' में लीन हो जाती हैं, बाह्य में भी उसी प्रकार विक्षेपशक्ति से द्रव्य पृथग्भूत होते हैं (जो पृथिव्यादि की उत्पत्ति का कारण है) और बाद में मिलकर एक हो जाते हैं।[1] यही सृष्टि और लय हैं[2]। आकर्षण और विकर्षण नामक बाह्य गति भी इसी प्रकार भूतादि की मानस-क्रिया का ग्राह्य-संपृक्त भाव है।

क्षुद्र या बृहत् रूप ज्ञान आपेक्षिक है। हम अपनी तुलना से बृहत् या

१. जिस शक्ति से सब कुछ विधृत हैं, उसका नाम संकर्षण नामक ब्रह्मशक्ति है। इसका लक्षण है—'द्रष्टृ-दृश्ययोः संकर्षणमहमित्यभिमानलक्षणम्', (भाग० ५।२५।१)—ग्रहीता और ग्राह्य का जो आभिमानिक आकर्षण है वही संकर्षण है। बाह्य-दिक् से पृथिव्यादि की आकर्षणशक्ति को मानना पड़ता है। द्रव्यपतन को भास्कराचार्य 'पृथ्वी अपनी शक्ति द्वारा अपनी ओर खींचती है' (द्र० गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लोक ६ 'आकृष्टशक्तिश्च मही···क्व पतत्वियं खे) ऐसा कहते हैं।' पाश्चात्यों में ग्रीक दार्शनिकों में से किसी-किसी ने इस आकर्षण की बात कही है। पर न्यूटन ने उसके नियम और सार्वभौमता के विषय में अनेक तथ्यों का आविष्कार किया था। उनके मत में विश्व के सभी द्रव्य नियमविशेष से एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। पर, यह आकर्षण क्या है, इस विषय में वैज्ञानिक कुछ भी नहीं कह सकते और Matter की तरह उसको भी अज्ञेय कहते हैं। बाह्य सभी वस्तुएँ क्यों एक दूसरे की ओर आकृष्ट होती हैं—बाह्य-दिक् से यह एक असाध्य समस्या है। जब दार्शनिक युक्ति से पुरुषविशेष का मन ही जगत् का मूल है, यह स्वीकार्य होता है, तब गुरुत्वाकर्षण का मूल मन में ही है, यह भी मानना होगा। देखा भी जाता है कि अभिमानपदार्थ से उसकी सुन्दर संगति होती है।

२. वैज्ञानिकों के मत में बाह्यशक्ति या Energy अक्षय है, पर अपक्षय (degradation) होने पर वह व्यवहार्य नहीं होती। ताप में परिणत होना ही degradation है; वह क्रमशः हो ही रहा है। जब सभी पदार्थ एकरूप ताप में परिणत होंगे, शीतोष्ण का भेद नहीं रहेगा, तब शक्ति की व्यवहार्यता नहीं रहेगी या कोई प्राणी सक्रिय नहीं रहेगा। तभी शास्त्रोक्त 'अप्रतर्क्य, अविज्ञेय' अवस्था होगी। पुनः जगत् कैसे अभिव्यक्त होगा, इस विषय में सांख्य का उत्तर है—'पुनः प्रजापति के संकल्प से व्यक्तता होगी।'

क्षुद्र परिमाण स्थिर करते हैं। किसी व्यक्ति के लिए हिमालय जैसा है, एक जीवाणु के लिए वह व्यक्ति भी वैसा ही है। किसी मनुष्य की दृष्टि में ब्रह्माण्ड जितना विराट् है, अन्य बोद्धा की दृष्टि में वह मनुष्य भी वैसा ही है। काल के विषय में भी यही बात है। विराट् पुरुष के लिए जो एक मनोवृत्ति के उदय-लय-स्वरूप क्षण है, वह मनुष्य के लिए कोटि-कोटि कल्प हो सकता है। शास्त्रों ने ब्रह्मा के दिन-वत्सरादि के महापरिमाण को दिखाकर इस विषय की संकीर्ण धारणा को प्रसारित कर दिया है। यदि किसी का शरीर शतगुण वर्द्धित हो जाए और उस अवस्था में यदि वह व्यक्ति ऐसे किसी वन में जाए, जहाँ के वृक्षादि भी उनके पूर्वदृष्ट वृक्षादि से शतगुण बृहत् हैं, तो वह व्यक्ति कभी यह निश्चित नहीं कर पायेगा कि उसका शरीर शतगुण बृहत् हो गया है।

२२। एक द्रव्य के कितने भाग हो सकते हैं, इसकी इयत्ता नहीं है। किसी द्रव्य के एक क्षुद्र अंश को यदि उपयुक्त ज्ञानशक्ति से देखा जाए, तो वह ब्रह्माण्ड की तरह बृहत् प्रतीत होगा। तादृश ज्ञान-क्रिया का काल-रूप क्षण भी बहुसंख्यक होने के कारण अत्यन्त दीर्घकाल की तरह प्रतीत होगा। इस प्रकार परिमाण की कुछ भी स्थिरता नहीं है, सभी आपेक्षिक हैं। यह वास्तव द्रव्य के अवयव-क्रम का परिमाण है। इसके सिवा जो अनादि, अनन्त, असंख्य आदि वैकल्पिक परिमाण हैं, वे केवल भाषानिर्मित अवास्तव पदार्थ हैं। यही कारण है कि अनन्तसम्बन्धी अङ्क समस्या-रूप होते हैं, मीमांस्य नहीं होते। ३ × असंख्य = असंख्य; उसी प्रकार ४ × असंख्य = असंख्य, अतएव ३ = ४ ऐसा विरुद्ध फल होता है।

विकल्प को छोड़कर वास्तव रूप से देखने से प्रतीत होगा कि तीन हाथ की यष्टि और चार हाथ की यष्टि से यदि माप की जाए, तो जितने दिनों तक क्यों न नापा जाए, प्रत्येक माप सान्त होगी और दोनों माप कुछ बड़ी-छोटी होती रहेंगी। 'असंख्य' इस शब्द में व्याकरण का 'नञ्' ने ही न्यायाभास की सृष्टि की है। किसी संख्या को अन्य संख्या से योग, वियोग, गुण या भाग करने से जो फल होता है, अनन्त के सम्बन्ध में वह नहीं घटता; क्योंकि उसके सभी फल अनन्त होंगे। वैकल्पिक संख्या को लेकर—असाध्य को साध्य समझ कर—व्यवहार करने पर भी वैसा विरुद्ध फल होता है। अनन्त = जिसका अन्त ढूंढने पर भी नहीं मिलता, पर सर्वदा ज्ञान का एक अन्त अवश्य होगा। उसी प्रकार असंख्य भी है। अतएव असंख्य के साथ यथार्थ साध्य योग-वियोग को करने की संभावना नहीं है। जो कहते हैं कि

एक हाथ जमीन में असंख्य अणुभाग हैं, अतएव वह असंख्य×अणुपरिमाण= अनन्त परिमाण है, और इसलिए उस जमीन को पार करना असंभव है, उनसे यह कहना चाहिए कि एक पदक्षेप के भी असंख्य भाग हैं, अतएव असंख्य से असंख्य काटकर जमीन को पार किया ही जा सकता है।

वैकल्पिक पदार्थ यद्यपि अवस्तु है, तथापि वह व्यवहार्य होता है।[1] जैसे ज्यामितिशास्त्र की बिन्दु-रेखा आदि यद्यपि काल्पनिक हैं, पर उनसे अनेक युक्तियुक्त विषय निश्चित होते हैं; उसी प्रकार, असंख्य, अनन्त आदि वैकल्पिक पदार्थ लेकर गणित-विद्या में अनेक युक्तियुक्त सिद्धान्त होते हैं। काल और अवकाश से सम्बन्धित परिमाण-तत्त्व इस प्रकार से मीमांस्य हैं।

परिमाण-तत्त्व को लेकर और भी अनेक जटिल प्रश्न उठते हैं। यह विश्व सान्त है या अनन्त? साधारण रूप से इसके उत्तर में सपक्ष और विपक्ष में समान युक्ति दी जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हम चूँकि विश्व के अन्त की कल्पना नहीं कर सकते, अतः कहना होगा कि विश्व अन्तहीन है। पुनः यह कहना पड़ता है कि जितना भी देखा जाए, सदा अन्त ही दिखाई पड़ता है। सदैव यदि अन्त ही दिखाई पड़े, तो विश्व सान्त होगा, अनन्त नहीं। भाषा से वैकल्पिक अनन्त पद की सृष्टि करके उसके अर्थ को वास्तव पदार्थ सोच कर विचार करने से विचार अप्रतिष्ठ हो जाता है।

व्यासभाष्य ने ऐसे स्थलों पर सु-मीमांसा कर विचार-दोष दिखाया है। उसके अनुसार वैसा प्रश्न ही संगत नहीं है। यह प्रश्न 'व्याकरणीय' है, अर्थात् विभाग कर उत्तर देने योग्य है (४।३३)। किसी ने भात नहीं खाया और यदि कोई उससे पूछे कि किस चावल का भात तुमने खाया है, तो जैसा उस प्रश्न का कोई एक उत्तर नहीं होता; यहाँ भी वैसा ही जानना चाहिए। 'विश्व अनन्त है या सान्त?' ऐसा प्रश्न करनेवाले से पूछना चाहिए—अनन्त का अर्थ क्या है? उसको कहना होगा—'जिसका अन्त ढूँढने से कभी स्थिर अन्त नहीं मिलता, जितना देखता हूँ, अन्त उतना ही

१. Kant को भी कहना पड़ा है—'The eternal present', अर्थात् शाश्वत वर्त्तमान काल। विकल्प-ज्ञान की व्यवहार्यता का यह उदाहरण है। शाश्वत या eternal का अर्थ है त्रिकालस्थायी; अतएव इसका अर्थ है 'त्रिकालस्थायी वर्त्तमान काल'। यद्यपि इस वाक्य का अर्थ अवास्तव है, तथापि सत्य-निरूपण के लिए यह व्यवहार्य होता है। [Kant के मत के लिए Critique of Pure Reason ग्रन्थान्तर्गत Transcendental Dialectic प्रकरण द्रष्टव्य—[सम्पादक]

दूर चला जाता है (पर सर्वदा अन्त रहता है), वह अनन्त है।' सान्त क्या है ?' यहाँ भी कहना होगा—'जिसका अन्त सदैव विद्यमान है, ऐसा जानता हूँ, वह सान्त है'। अतएव, दोनों पक्ष समान हुए। प्रकृत प्रश्न यह होगा—यदि विश्व का अन्त देखते-देखते चला जाए, तो क्या कभी स्थिर अन्त मिलेगा ? उत्तर—'नहीं'। अनन्त-नामक अवास्तव वैकल्पिक पद को न जानकर यदि कोई प्रत्यक्षतः विश्व का अन्त ढूँढते-ढूँढते चले, तो उसका ऐसा कल्पनाहीन यथार्थ अनुभव होगा। वाक्य-व्यवहार की सुविधा के लिए हम अनन्त आदि अवास्तव शब्दों की रचना करके उनका व्यवहार करते हैं, और वैसे स्थलों पर उनका अपव्यवहार करते हैं।

२३। यहाँ एक और विषय द्रष्टव्य है। विश्व के सभी द्रव्य और क्रिया ससीम हैं। अणु, अणु-प्रचय, पृथिवी, सौर-जगत् आदि ससीम हैं। शास्त्र के अनुसार यह परिदृश्यमान विश्व-ब्रह्माण्ड भी ससीम है। ऐसे असंख्य (गिनकर जिनका अन्त नहीं किया जा सकता) ब्रह्माण्ड हैं। आलोक आदि की क्रियाएँ भी ससीम या स्तोकशः (By Quanta) होती हैं। ब्रह्माण्ड चूँकि ससीम है, अतः तन्मध्यस्थ ससीम क्रियाओं की समष्टि भी ससीम है। एक सकेन्द्र असीम विश्व-जगत् है, ऐसी कल्पना न्यायसंगत नहीं है। गुरुत्वाकर्षण-मत (Gravitation theory) के अनुसार देखने से वैसा सकेन्द्र असीम जगत् असंभव होता है, यह गणितज्ञ दिखाते हैं। दृश्यमान नाक्षत्रिक जगत् भी ससीम है, यह स्वीकार्य होता है। शास्त्र के अनुसार यह भौतिक जगत् ससीम है और यह अव्यक्त द्वारा आवृत है। यह सर्वथा न्याय्य है, क्योंकि ताप, आलोक आदि की क्रियाएँ प्रसरित होने पर अव्यक्तता प्राप्त होगी। इसलिए ब्रह्माण्ड का जो आवरण है, उसमें शब्द और अशब्द (अल्पशब्द), ताप या अताप (अल्पताप या शीत), आलोक या अन्धकार (अल्प या क्षीण आलोक) हैं, ऐसा न सोच कर उसको (अप्रतर्क्यम्, अविज्ञेयम्, नासदासीद् नो सदासीत्, इत्यादि रूप) अव्यक्त कह कर दार्शनिक भाषा में सत्य भाषण किया जाता है। ब्रह्माण्ड की परिधि में जाने से कोई भी ज्ञान नहीं रहेगा, इतना कहना ही संगत होता है। तब दिशा का ज्ञान भी नहीं रहेगा—यह भी इससे सिद्ध होता है। अतएव, यह जो कल्पना होती है कि 'उसके बाद क्या है' और उसके साथ देश की जो कल्पना आती है, वह 'न्यायानुसार कर्त्तव्य नहीं है', ऐसा कहना ही इस विषय में न्याय्य होता है।

पर, यदि यह प्रश्न हो कि ब्रह्माण्ड की संख्या कितनी है, तो यहाँ भी कहना होगा कि वह संख्या गिनकर समाप्त नहीं की जा सकती। वे ब्रह्माण्ड

कहाँ हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यह नहीं कहा जा सकता कि वे पर-पर स्थान में हैं; क्योंकि ब्रह्माण्ड की परिधि का परस्थ स्थान कल्पनीय नहीं है। चूँकि हमारा यह ब्रह्माण्ड एक महामन की रचना है, अतः यही कहना न्याय्य होगा कि असंख्य ब्रह्माण्ड असंख्य महामनों में हैं। चूँकि मन देशव्याप्तिहीन है, अतः सभी ब्रह्माण्ड पर-पर स्थान में हैं, ऐसी कल्पना अन्याय्य है। शास्त्र भी कहता है कि असंख्य ब्रह्मा और ब्रह्माण्ड हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड एक-एक स्वगत (unit) जगत् है। वह एक अन्य बृहत्तर ब्रह्माण्ड का अङ्गभूत है, ऐसी कल्पना न्याय से नहीं की जा सकती; उसमें अनवस्थादोष भी आता है।

२४। प्रसंगतः देश-व्याप्ति और काल-व्याप्ति क्या है, इसका भी स्पष्टीकरण किया जा रहा है। देशव्याप्त द्रव्य अवयव-युक्त होता है। वे अवयव अवकाश को व्याप्त किये रहते हैं। यदि पूरा द्रव्य एक स्थान से अन्य स्थान में रहता है, तो यह देशव्याप्ति नहीं है, पर देशान्तरगति है। काल-व्याप्ति के विषय में यदि कहा जाए कि कोई द्रव्य 'था', 'है', 'रहेगा', तो ऐसा कहना देश-व्याप्ति की सदृश बात नहीं होगी, बल्कि देशान्तर-गति की सदृश बात होगी। वह कालान्तर-प्राप्ति होगी। चाहे विकारी हो या अविकारी, सभी द्रव्यों के विषय में 'है', 'था', 'रहेगा' कहा जाता है या कहा जा सकता है। उसका अर्थ—'सदा वर्त्तमान' है और कुछ नहीं। जिस प्रकार अवयवों से देश को व्याप्त किये रहने को देश-व्याप्ति कहा जाता है, उसी प्रकार सदा वर्त्तमान रहना रूप जो व्याप्ति है, वह उसके अनुरूप काल-व्याप्ति नहीं होगी, बल्कि वह देशान्तर-गति की तरह कालान्तर-गति ही होगी।

तब काल-व्याप्ति क्या है ? अवयवों से त्रिकाल व्याप्त रहना ही देश-व्याप्ति के अनुरूप कालव्याप्ति होगी। धर्म-धर्मी की दृष्टि में तादृश व्याप्ति की धारणा करनी चाहिए। सभी धर्म धर्मी के अवयव हैं; क्योंकि धर्मी धर्मों का समाहार है। धर्म सदा वर्त्तमान हैं, ऐसा बोध होता है और धर्म ही अतीत और अनागतरूप से कल्पित होते हैं। चूँकि सभी धर्म गृह्यमाण नहीं होते, अतः यह कहा जाता है कि कतिपय धर्म सूक्ष्म (अतीत या अनागत) रहते हैं और कुछ धर्म व्यक्त रहते हैं। अतः धर्मरूपी अवयवों से जो त्रिकाल-व्याप्ति होती है, वही देशान्तर-व्याप्ति की अनुरूप काल-व्याप्ति है।

जो पदार्थ धर्म-धर्मी-दृष्टि का अतीत है, वह इसी कारण कालव्याप्त नहीं है। जैसे, कोई पदार्थ 'यहाँ है', 'वहाँ गया'—ऐसा कहने से उस पदार्थ की देश-व्याप्ति नहीं कही जाती, पर गति कही जाती है; उसी प्रकार

त्रिकाल में कोई द्रव्य 'है', 'था', 'रहेगा' कहने से काल-व्याप्ति नहीं कही जाती, बल्कि कालान्तर-गति कही जाती है (पर कोई पदार्थ विकृत होकर रह रहा है, ऐसा कहने से काल-व्याप्ति कही जाती है)। द्रष्टा (निर्गुण पुरुष) और त्रिगुण का कोई धर्म नहीं है, अतएव वे धर्मी नहीं हैं; उनको कालव्यापी कहना संगत नहीं है (जो विकृत होता है, वह कालव्यापी है, पर 'विकार' स्वयं कालव्यापी नहीं है, क्योंकि वह सदैव विकार है, उसका कोई अन्यथा-भाव नहीं होता, अर्थात् विकार में कभी विकार और कभी अविकार ऐसा अवस्थाभेद नहीं होता)।

अवस्था-भेद का एक उदाहरण लीजिए—एक मिट्टी का गोल पिण्ड है; वह पहले पूर्व देश में था, बाद में परदेश में गया; यह देश-व्याप्ति नहीं कहलाएगी, बल्कि यह देशान्तर-गति है। उसी प्रकार कोई द्रव्य 'कल था, आज है, बाद में रहेगा' कहने से काल-व्याप्ति नहीं कहलाएगी, कालान्तर-गति ही कहलाएगी; या वह मृत्तिकापिण्ड 'विद्यमान होकर रह रहा है', अर्थात् 'है, रहेगा' ऐसी गति कही जाती है। मिट्टी का पिण्ड पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—इन चारों दिशाओं में अपने अवयवों से व्याप्त होकर विद्यमान है—ऐसा कहने से देश-व्याप्ति कही जाती है; और मिट्टी के पिण्ड को यद्यपि कृष्णत्व-गोलत्व-धर्म-युक्त देखा जाता है, तथापि वह पहले और बाद में और भी असंख्य धर्मों से युक्त था और रहेगा, इसलिए वे धर्म मिट्टी के पिण्ड में अतीत और अनागत रूप में हैं, ऐसा कहा जाता है। चूँकि वे धर्म व्यक्त या दृष्ट नहीं हैं, अतः वे सूक्ष्म हैं। मिट्टी उन धर्मों का समाहारस्वरूप या धर्मसमष्टि है। चूँकि उनके वे धर्मरूप अवयव दृष्ट और अदृष्ट रूप से विद्यमान हैं और अदृष्ट धर्मों को वर्तमान नहीं कहा जा सकता, ('था' और 'रहेगा' कहने के योग्य होने के कारण, तथा दृष्टधर्म से उनका भेद किए जाने के कारण), अतः हमको यह कहना पड़ता है कि मृत्-पिण्ड-रूप धर्मी के अनेक आकारवर्णादि-रूप धर्म त्रिकाल को व्याप्त कर विद्यमान हैं।

२५। जिसका दैशिक अवयव नहीं है, वैसा जो द्रव्य है (जैसा मन), उसका व्यक्त और सूक्ष्म धर्म केवल काल को व्याप्त करता है, इसलिए मन को केवल काल-व्यापी कहा जाता है। जिसकी देश-व्याप्ति नहीं है और जो सदैव एकरूप या धर्म-धर्मी-दृष्टि का अतीत है, वह देशकालातीत है। इस विषय में निम्नोक्त उदाहरण द्रष्टव्य है—

मिट्टी	'क' देश	'ख' देश	मृत्पिण्ड के क-देश से ख-देश में
O	O	O	जाने से देश-व्याप्ति नहीं होती,
			देशान्तर-गति होती है।

उसी प्रकार—

मिट्टी	'क' काल	'ख' काल	
O	O	O	इस प्रकार, विभिन्न काल में रहने से काल-व्याप्ति नहीं होती, बल्कि कालान्तर में गति होती है।

पर, मिट्टी का पिण्ड जब पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, इस प्रकार चारों ओर अपने चारों अवयवों से व्याप्त कर रहता है, तब वह देश-व्याप्ति होती है। उसी प्रकार गोलाकार मिट्टी के पिण्ड में जो सूक्ष्म या अव्यक्त अनेक धर्म (यथा चतुष्कोण, त्रिकोण आदि) हैं, उनके दर्शन नहीं होने के कारण वे 'थे' और 'रहेंगे'—ऐसा कहना पड़ता है। चूँकि धर्मी उन सभी धर्मों का समाहार है, अतः वे धर्म उस धर्मी के अवयव हैं। तादृश अवयवों द्वारा त्रिकाल में व्याप्त रहना ही सादृश्यमूलक (analogous) कालव्याप्ति है, अर्थात् धर्म-धर्मी-रूप में या उदीयमान और लीयमान धर्मों से विकारी द्रव्य ही कालव्यापी होता है। केवल 'है', 'था', 'रहेगा' कहने से कालव्याप्ति नहीं होती।

देश-व्याप्ति और काल-व्याप्ति के सम्बन्ध में और भी ज्ञातव्य बातें हैं। चूँकि मानस या बाह्य सभी क्रियाएँ स्तोकशः (या सभङ्ग रूप से) होती हैं, एकतान नहीं होतीं और तादृश क्रियाएँ ही काल-परिमाण के हेतु हैं, अतः सभी कालव्यापी पदार्थ उदय-लयशील होंगे। उदय-लयशील कालव्यापी पदार्थ क्या अनादि और अनन्त है? इस प्रश्न का समाधान भी देशव्यापी पदार्थ की तरह करना चाहिए। यदि कालव्यापी पदार्थ की पूर्व-पूर्व या पर-पर अवस्था देखकर चला जाए, तो उस जानने का अन्त कभी नहीं होगा, केवल इतना ही सत्य कहा जा सकता है। अनादि और अनन्त का अर्थ ही यह है। ऐसा न मानकर अनादि-अनन्त को यदि एक वास्तव निर्दिष्ट परिमाण समझ लिया जाए, तो पूर्ववत् समस्यामय अङ्क आपतित होता है। यथा—सादि-सान्त की समष्टि सादि-सान्त ही होगी, वह अनादि-अनन्त कैसे होगी?

जो वस्तु (व्यावहारिक) है, वह किसी-न-किसी अवस्था में अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी, यह न्यायसंगत चिन्ता है। इस तथ्य के अनुसार वस्तुवादी (Mater alist) वस्तु को अनादि-अनन्त-कालस्थायी समझते हैं।

इसी हेतु से मन को भी अनादि-अनन्त कहना न्याय्य होता है। कारण-हीन वस्तु ही यथार्थ अनादि-अनन्त होती है, निमित्तजात वस्तु वैसी नहीं

होती। वे विभिन्न अवस्थाओं में रहकर अनादि-अनन्त होती हैं, अर्थात् असंख्य अवस्थान्तरों को प्राप्त हो चुकी हैं और होती रहेंगी। सभी का जो मूल निमित्त और उपादान है, वही कारणहीन है। मूल उपादान है—प्रकाश-क्रिया-स्थिति (या सत्त्व, रजः, तमः) और मूल निमित्त है उसके द्रष्टा। क्रिया क्रिया से होती है। अतः यह कहना होगा कि क्रिया चिरकाल से है और रहेगी। प्रकाश और जड़ता भी उसी प्रकार का है। प्रकाश का प्रकाशयिता भी उसी प्रकार का है। क्रिया के नित्य होने पर भी कोई एक अवच्छिन्न क्रिया नित्य नहीं है, अतः क्रिया आदि प्रवाह-रूप से नित्य होते हैं। इस नित्यता का नामान्तर है—परिणामी-नित्यता। प्रकाश, क्रिया और स्थिति—इसी प्रकार परिणामी नित्य हैं। उनका जो द्रष्टा हैं, वे सदा ही द्रष्टा होने के कारण परिणामी नहीं हैं, इसलिए वे कूटस्थ-नित्य या अपरिणामी-नित्य हैं।

२६। द्रष्टा-रूप निमित्त और प्रकाश-क्रिया-स्थिति-रूप दृश्य उपादान—इन दो के संयोग से यह ज्ञान-चेष्टा-संस्कारमय आत्मभाव निष्पादित होता है। आत्मभाव या प्राणी कब से है ? उत्तर में कहना होगा कि जब से द्रष्टा और दृश्य का संयोग है। कब से संयोग (मैं ज्ञाता हूँ–यह भाव) है ? उत्तर—जब से संयोग का कारण है। संयोग का कारण क्या है ? 'मैं द्रष्टा या ज्ञाता हूँ,' द्रष्टा और दृश्य की ऐसा एकत्वभ्रान्ति-रूप अविद्या इसका कारण है (क्योंकि मैं और द्रष्टा पृथक् हैं, ऐसी अनुभूति सिद्ध होने से और कोई ज्ञान नहीं रह सकता)। यह भ्रान्ति-ज्ञान कब से है ? अनादिकाल से है, क्योंकि एक भ्रान्ति-ज्ञान का कारण है—पूर्व भ्रान्ति-ज्ञान का संस्कार। इस प्रकार पूर्व-पूर्व भ्रान्तिज्ञान प्रवाह-रूप से आदिहीन है, ऐसा कहना होगा,[1] —अर्थात् 'मैं' के भ्रान्ति-ज्ञान का आदि ढूँढते रहने से कभी आदि में नहीं पहुँचा जा सकता (अन्यान्य असीम पदार्थों की तरह)। प्राणीत्व या संसृति का अन्त क्या कभी होगा ? भ्रान्ति का हेतुभूत जो द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, उसकी विरोधी अविरल विवेक-प्रज्ञा द्वारा उस संयोग का अभाव होने पर जीवत्व का अन्त होगा। जब वस्तु का अभाव नहीं होता, तब संयोग का अभाव कैसे होगा ? संयोग वस्तु नहीं है (द्रष्टा

१. पृथिवी के अधिकांश लोग समझते हैं कि मैं अनन्तकाल तक रहूँगा। पर, मैं अनादिकाल से हूँ, ऐसा सहजतः समझ में नहीं आता। जन्मान्तरवादियों का ऐसा सिद्धान्त है। एकजन्म-वादी एक सृष्टिकर्त्ता के ऊपर भार देकर निश्चिन्त रहने की चेष्टा करते हैं।

और दृश्य ही वस्तु हैं), इसलिए उसका अभाव मानने से कोई दोष नहीं होता।

प्राणियों की संख्या कितनी है ? असंख्य। क्या सभी प्राणियों की संसृति का अन्त होगा ? यह प्रश्न सदोष है, क्योंकि 'सब' का अर्थ है असंख्य, अतः प्रश्न का स्वरूप होगा—असंख्य की क्या समाप्ति होगी ? अर्थात् असंख्य क्या संख्यावच्छिन्न होगा ? यह प्रश्नकारी की विरुद्धोक्ति है; क्योंकि कहा जाता है कि असंख्य का अर्थ है—जिसका अन्त नहीं होता; अतएव प्रश्न का निर्गलितार्थ होगा—जिसका शेष नहीं होता, क्या उसका शेष होगा ? यह स्पष्टतः विरुद्धोक्ति है। यहाँ 'सब' या असंख्यनामक एक वस्तुहीन वैकल्पिक पदार्थ को वस्तु मान लेने से प्रश्न अयथार्थक हो गया है। इस विषय में न्याय्य बात यही है कि अगणित जीवों में जिसमें विवेक-प्रज्ञा होगी, उस जीव की संसृति का अन्त होगा।

२७। अन्त में काल और अवकाश-रूप विकल्प-ज्ञान की निवृत्ति कैसे होती है, यह विचार्य है। योग या चित्तस्थैर्य से निर्विकल्प ज्ञान होता है। अभ्यास से किसी एक विषय का ज्ञान यदि मन में उदित रखा जाए और अन्य सब कुछ विस्मृत हो जाए, तो तादृश स्थैर्य को 'समाधि' कहा जाता है। यह ध्येय विषय बाह्य शब्दादि भी होता है, अभ्यन्तर का आनन्दादि भी होता है। ध्यान भी दो प्रकार का है—'भाषासहित' और 'भाषाहीन'। नील, नील, नील····इस प्रकार नाम के साथ नील-रूप का जो ध्यान होता है, वह सविकल्प है; पर नील नाम छोड़कर केवल नीलरूप-मात्र जब ज्ञान में भासमान रहता है, तब तादृश भाषाहीन ज्ञान ही भाषाश्रित विकल्प-ज्ञान-वर्जित निर्विकल्प ज्ञान है। कर्त्ता, कर्म आदि कारक और अभावादि पदार्थ—जो भाषा से विकल्पित होते हैं—उस ज्ञान से वियुक्त रहते हैं, अतः वह यथार्थ सत्य ज्ञान है। उस स्थिति में नील-मात्र का ज्ञान होता है; 'था, है, रहेगा', या 'शून्य को व्याप्त कर विद्यमान है', इत्यादि काल और देश का विकल्प वहाँ नहीं रहता।

यदि किसी उपयुक्त मानस भाव (जैसे आनन्द) में उसी प्रकार समाहित हुआ जाए, तो बाह्य विस्तार या देश-ज्ञान नहीं रहता, केवल कालिक धाराक्रम से ज्ञान हो रहा है, ऐसा बोध होता है। उस कालिक ज्ञान का भी जो ज्ञाता है, उनकी ओर लक्ष्य कर यदि सभी ज्ञान का निरोध किया जाए, तो देशकालातीत (अर्थात् देश और काल से व्यपदिष्ट होने के अयोग्य) जो पदार्थ है, उसमें स्थिति होती है। यही सांख्य-योग (और अन्यान्य

निर्वाणमोक्षवादियों) का लक्ष्य है । श्रुति कहती है—**'कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि। यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित्' ॥** (मैत्रायणी आरण्यक ६।१५)—अर्थात् काल सभी सत्त्वों को महान् आत्मा या महत्तत्त्वरूप अस्मिमात्र आत्मबोध में पाक करता है और जिनमें उस काल का भी पाक होता है, उनको जो जानता है, वही वेदवित् है; तात्पर्य यह है कि महत्तत्त्व-पर्यन्त ही विकार है, उसके उपरिस्थ पुरुषतत्त्व निर्विकार है। **'यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्'** (माण्डूक्य० १) यह वस्तु ही चरम लक्ष्य है।

———

द्वितीय परिशिष्ट

ज्ञानयोग*

१. साधन संकेत

स्वीय प्रकृति के अनुसार कोई-कोई साधक पहले से ही ग्राह्य-विषय में साधारणतया विरक्त होकर कार्यत: अहंभाव के अभिमुख ध्यानाभ्यास करना प्रारम्भ करते हैं; ये ही शास्त्रोक्त सांख्य या ज्ञानयोगी हैं। और जो लोग तत्त्वनिर्मित ईश्वरादि-विषयों में चित्तस्थैर्य का अभ्यास करके बाद में आत्मतत्त्व में उपनीत होते हैं, वे ही योगी हैं - **"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"** (गीता ३।३)।

वास्तव में प्राय: सभी साधक निर्विशेष रूप से दोनों मार्गों को मिलाकर साधन करते हैं। उनमें जो लोग प्रथम की ओर अधिक पक्षपाती हैं, वे ही सांख्य हैं और जो लोग द्वितीय की ओर अधिक पक्षपाती हैं, वे ही योगी हैं। वस्तुत: दोनों में वास्तव में कोई भेद नहीं है—ऐसा कहना चाहिए, यथा—**"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"** (गीता ५।५)।

सांख्यनिष्ठगण आत्मभाव में धारणा और ध्यान करते हुए क्रमश: अभ्यन्तर से उद्भूत स्थैर्यबल से बाह्य-करणों का भी स्थैर्यलाभ करके समाहित होते हैं। योगनिष्ठगण स्थैर्य को बाह्य से प्रवर्तित करते हैं। तत्त्वसाक्षात्कार दोनों के पक्ष में समान है। योगनिष्ठगण बाह्य से पूर्वोक्त तत्त्वसाक्षात्कार करते रहते हैं; और सांख्यगण आन्तरभाव में समाहित होने पर बाह्य को जैसा देखते हैं, वही सुखशून्य-दु:खशून्य-मोहशून्य एवं बाह्य का चरम-स्वरूप तन्मात्रतत्त्व है। वास्तविक पक्ष में इन दोनों प्रकार के निष्ठाओं में कोई विशेष भेद नहीं है। जो जिस मार्ग में ही क्यों न जाते हों 'तत्त्वसाक्षात्कार' मार्ग का अतिक्रम करने की संभावना किसी में भी नहीं है।

अब यहाँ ज्ञानयोग का विवरण किया जा रहा है। तत्त्वसमूह का श्रवण-मनन करके निश्चय होने पर उनके साक्षात्कार के लिए सर्वदा निदिध्यासन या ध्यान करना ही ज्ञानयोग है।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

---

* स्वामी ओम् प्रकाश आरण्य द्वारा हिन्दी में अनूदित।

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥"

(कठ० उप० १।३।१०–११)

इस श्रुति में तत्त्वसमूह उक्त हुए हैं। सांख्यीय युक्ति के द्वारा उनका मननपूर्वक निश्चय करने पर जब निःसंशय ज्ञान उत्पन्न होता है, तब उनका ध्यान करना चाहिए। तत्त्वध्यान का—विशेषतः इन्द्रिय, मन और अस्मिता-रूप आध्यात्मिक तत्त्वध्यान का—सर्वाधिक सुन्दर और उत्तम कार्यकर प्रणाली निम्नस्थ श्रुति में प्रदर्शित हुई है—

"यच्छेद् वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेद् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि॥"

(कठ० १।३।१३)

अर्थात् प्राज्ञ (श्रवण-मनन-ज्ञानशाली स्मृतिमान्) व्यक्ति वाक्य को मन में संयत करें, मन को ज्ञान-आत्मा में संयत करें, ज्ञान-आत्मा को महदात्मा में एवं महदात्मा को शान्त आत्मा में संयत करें।

सर्वदा वाक्यमय जो चिन्ता चल रही है उसमें ज्ञात या अज्ञातरूप से वाक्यन्त्र सक्रिय हो रहा है। कण्ठ, जिह्वा, प्रभृति अर्थात् मस्तक के ठीक निम्नभाग-स्थित अंश ही वाक्यन्त्र है। वे वाक्य-समूह संकल्प की भाषा हैं, अर्थात् चित्त में जो संकल्प-कल्पनादि उठते हैं वे वाक्य का अवलम्बन करके ही उठते हैं। (गुँगे-बहिरों का आकार-इङ्गित-मूलक संकल्प उठता है)।

वाक्यन्त्र को नियत करने के लिए मन में भी वाक्य बोलने का रोध करना चाहिए; तभी वह इन्द्रियाधीश मन में जाकर रुद्ध होता है। अर्थात् संकल्पक इन्द्रिय जो मन है उसमें, 'मैं संकल्प नहीं करूँगा' इस प्रकार इच्छा करके वाक्यन्त्र का स्पन्दन निवृत्त या रुद्ध करने का नाम ही वाक्य को मन में नियत करना है। 'मैं बाह्य विषय कुछ नहीं चाहता, कोई भी कर्म करना नहीं चाहता, प्रमाद-वश जो व्यर्थ की चिन्ता कर रहा हूँ वह नहीं करूँगा'—इस प्रकार दृढ़संकल्प करने पर तभी वाक्यमय चिन्ता-स्रोत रुद्ध होगा। 'संकल्प' का अर्थ है—कर्म का मानस अंश; संकल्प का रोध करने के लिए स्थूल-सूक्ष्म वाक्य का रोध करना चाहिए, एवं उसके साथ समस्त कर्मेन्द्रियों से कर्माभिमान हट जाने के कारण हस्तादि कर्मेन्द्रियों के अभ्यन्तर में प्रयत्नशून्य शिथिलभाव का बोध होगा। इस प्रकार वाक्य को मन में नियत करना पड़ता है। इससे समस्त इन्द्रियों का ध्यानमूलक रोध भी कथित हुआ। ज्ञानयोग का यह प्रथम सोपान है।

वाक्य का सम्यक् (मन में बोलने का भी) रोध कर सकने पर ही वस्तुतः वाक् मन में जाता है। उसमें सामर्थ्य न हो तो अन्य वाक्य का त्याग करके एकतान प्रणव (अर्धमात्रा) मात्र मन में उच्चारण करते हुए पहले पहल रुद्ध भाव के लाना चाहिए। इसमें वाक्य का स्थान जो जबड़ा है वह मानो स्थिर जड़वत् हो जाये।

मन को ज्ञान-आत्मा में (आत्मा = मैं; ज्ञान = जान रहा हूँ) नियत करना होगा। ज्ञान-आत्मा अर्थात् मैं, 'मुझमें एवं चित्त में जो सब क्रियाएँ हो रही हैं उनको जान रहा हूँ''—इस प्रकार की स्मृति का प्रवाह। इन्द्रियागत शब्दादि विषय भी उस स्मृति को जागरूक करते रहेंगे एवं उसीमें स्थिति करना होगा। इस प्रकार ज्ञान-आत्मा में स्थिति करने का नाम ही मन को ज्ञान-आत्मा में नियत करना है, क्योंकि वाक्य-मूलक संकल्प का रोध होने पर क्रिया के अभाव में मन उस आत्म-स्मृति में ही समाविष्ट हो जाएगा। इस विषय में शास्त्र है—**"तथैवोपोह्य संकल्पान् मनो ह्यात्मनि धारयेत्"** (महाभा०) अर्थात् संकल्प से उपरत होकर या संकल्प को रुद्ध कर मन को आत्मा में (ज्ञान-आत्मा में) धारण करना चाहिए।

जिस प्रकार एक रबर की रस्सी के नीचे भार लटकाने पर रस्सी लंबी हो जाती है, एवं भार को वियुक्त करने पर रस्सी सिकुड़ जाती है, उसी प्रकार वाक्यन्त्र का वाक्यरूप और मन का संकल्प-रूप कार्य (कार्य ही भार-स्वरूप है) रुद्ध होने पर वाक्-यन्त्रस्थ अस्मिता सिकुड़कर मन में जाती है एवं मन सिकुड़-कर ज्ञान-आत्मा में जाता है।

ज्ञान-आत्मा की स्मृति, प्रथम-प्रथम एकतान मन्त्र के सहारे उठाकर अभ्यास करना चाहिए। बाद में उसमें स्थिति-लाभ होने पर अशब्द (उच्चारित वाक्यहीन) चिन्ता के द्वारा आत्म-बोध को स्मरण करते रहना चाहिए ; उस बोध का स्थान ज्योतिर्मय आध्यात्मिक देश है, जो मस्तक के पश्चात्-भाग में अनुभूत होता है।

पहले पहल समस्त इन्द्रियों का केन्द्र-स्वरूप आध्यात्मिक ज्योतिर्मय (या अन्यरूप) देश ध्यान का आलम्बन होने पर भी, ध्यानकाल में केवल आन्तर बोध-पदार्थ को ही लक्ष्य कर अवहित (या सतर्क) होना चाहिए। इन्द्रियागत शब्दादि-विषयों से विक्षिप्त न होकर वे भी मानो उस आत्म-बोध-स्मरण का संकेत हैं—इस प्रकार स्थिर करके आत्मबोध-मात्र की ओर ही अवहित होना चाहिए। क्रमशः समस्त इन्द्रियों के केन्द्र-स्वरूप मस्तिष्क के पश्चात् में प्रदीपकल्प ज्योति के बीच बोध को अशब्द

चिन्ता के द्वारा अनुभव-गोचर कर रखना चाहिए। 'प्रदीपकल्प' का अर्थ दीपशिखा की तरह नहीं, बल्कि प्रदीप का आलोक जिस प्रकार घर को प्रकाशित करता है उसी प्रकार अभ्यन्तरस्थ आत्मस्मृति-रूप ज्ञानालोक ही प्रदीप-स्वरूप है—ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञानात्मा में निःसंकल्प भाव से रहने पर अस्मिता हृदय में उतरती आ रही है—ऐसा बोध होता है[1]। क्रमशः वह अभ्यस्त होने पर हृदयव्यापी अस्मिता का अवलम्बन करके वह बोध उदित होता रहेगा। इस बोध में स्थिति करते रहने से सत्त्वगुण का प्राबल्यवशतः अत्यन्त सुखमय अस्मिज्ञान क्रमशः प्रकटित होता रहेगा, एवं उसके साथ हार्दिक ज्योति भी प्रकटित (अर्थात् विशुद्ध, स्वच्छ और प्रसृत) होती रहेगी। इसमें सम्यक् स्थिति ही विशोका ज्योतिष्मती है। यह ज्योतिर्मयवत् असीम आत्मबोध ही महदात्मा है। उसमें स्थिति करके पूर्वोक्त ज्ञान-आत्मा में जिस प्रकार आत्मस्मृति करना पड़ता है उसी प्रकार आत्मस्मृति का प्रवाह रखना ही ज्ञान-आत्मा को महदात्मा में नियत करना है।

महदात्मा यथार्थ में देशव्याप्तिहीन है, इसलिए अणु है, अतः उसके असीमत्व का अर्थ बृहत्त्व नहीं बल्कि अबाधत्व है, अर्थात् उस ज्ञान का बाधक कोई सीमा न रहना। अस्मिमात्र महदात्मा के स्वरूप में स्थिति होने पर अणुमात्र या देशव्याप्तिहीन या स्थानमानहीन (कहाँ है और कितना है–ऐसे बोध से शून्य) ज्ञान होता है। वही उसका स्वरूप है, अनन्त ज्योतिमय भाव उसका बाह्य ओर है या बाह्य अधिष्ठान मात्र है। इस बाह्य की ओर से क्रमशः अवधान को अपसारित करते हुए भीतर के प्रकृत अणुस्वरूप में प्रकृष्टरूप से स्थिति करनी चाहिए।

विशोका ज्योतिष्मती के ध्यान में निर्मल स्थिर सात्त्विक आनन्द होता है। आनन्द अनेक प्रकार का है। सात्त्विकता भी अनेक प्रकार की है। वैषयिक आनन्द में भी हृदय पूर्ण रूप से भर जाता है। साधन करते रहने से नाना प्रकार का आनन्द-लाभ होता है; किन्तु ये सब विशोका नहीं हैं। निःसंकल्पता-जनित जो आनन्द है और जो आनन्द सूक्ष्म आत्मभाव-मात्र

---

१. इस समय बहुत साधकों के पहले पहल हृदय में एक प्रकार का सुखमय उद्वेलित भाव आता है, मानो अनुभव होता है कि हृदय से सुखमय स्पर्शबोध छलछला कर उठ रहा है। उसमें 'मैं' या 'अहम्' भाव को मिलाकर 'मैं तन्मय होकर स्थिर शान्त हो गया हूँ' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस चञ्चलताहीन स्थिर सुखमय शान्त अहं-बोध में स्थिति करने का अभ्यास करना चाहिए।

या अस्मितामात्र के साथ संश्लिष्ट रहता है, जिसमें समस्त चञ्चलता आत्म-ज्ञान-मात्र में डूबकर अभिभूत हो जाती है, जिस आनन्द के लाभ से स्थिरता-मात्र ही अच्छी लगती है, जिसे बाहर प्रकाश करने की उत्कट इच्छा नहीं होती है—वह हृदयपूर्ण, स्थिर, सात्त्विक, विषयग्रहण-विरोधी आनन्द ही विशोका का आनन्द है।

सर्व-प्रकार द्वेष—जिससे हृदय क्षुब्ध होता है, सर्व प्रकार शोक—जिससे हृदय मानो टूट जाता है, भयादि सर्व प्रकार मलिन भाव जिनसे हृदय मूढ़ और विषण्ण होता है, वे सभी उस सात्त्विक विशोका के आनन्द में अभिभूत हो जाते हैं एवं द्वेष्य, शोच्य तथा भय और विषाद के विषयों से भी केवल वही सात्त्विक प्रीति होती है एवं हृदय की वह पूर्ण-निर्मल सात्त्विक प्रीति समस्त अप्रीतिकारक विषय को भी प्रीतिरस में अवसिक्त करती है। इसीलिए इसका नाम विशोका है।

प्रथम अभ्यास के समय अवश्य ही जिस प्रकार क्रमेण वाक्य को मन में, मन को ज्ञान-आत्मा में, ज्ञान-आत्मा को महदात्मा में नियत करना होता है, वह उस प्रकार क्रमानुसार ही करना चाहिए। महद्-आत्मा अधिगत न होने पर, मन को ज्ञान-आत्मा में ही नियत करने का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान-आत्मा अधिगत न होने पर केवल संकल्पहीनता का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास के द्वारा मन की, ज्ञान-आत्मा की और महदात्मा की उपलब्धि होने पर एक-बारगी बिना-क्रम के ही महदात्मा में स्थिति की जा सकेगी; इससे अन्य सब भी उस महदात्मा में नियत हो जायेंगे ('अधिगत होने पर', अर्थात् धारणा के भीतर आ जाने पर)।

अन्य सभी वाक्यों का त्याग करके केवल मात्र स्मारक मन्त्र (एकतान अर्धमात्रा ही उत्तम है) का मन-ही-मन उच्चारण करने से भी वाक्य मन में नियत होता है, एवं उसके द्वारा मन को एवं ज्ञान-आत्मा को भी महदात्मा में नियत किया जा सकता है। अभ्यास दृढ़ होने पर तभी सम्यक् वाक्य-शून्य भाव से नियत किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वास के प्रयत्न के या इन्द्रियागत विषय के द्वारा भी आत्मस्मृति उत्थापित कर वाक्यहीन भाव से ये सब साधन हो सकते हैं। शब्दादि-ज्ञान जो स्वतः आकर इन्द्रियों में लग रहा है वह मन में जाकर महदात्मा में या ग्रहीता में उपस्थित होकर प्रकाशित हो रहा है, महदात्मा भी द्रष्टा के द्वारा प्रकाशित हो रहा है—विषय-ग्रहण की इस प्रक्रिया की संकल्पशून्य मन से भावना करना और आत्मस्मृति की रक्षा करना ही इस अभ्यास का लक्ष्य है।

महदात्मा-मात्र में ही जब ध्रुवा स्थिति होगी तब 'वह भी दृश्यरूप है' ऐसा जानकर परवैराग्य के द्वारा उसका त्याग करके स्वरूप द्रष्टा या शान्तोपाधिक आत्मा में जाना ही महदात्मा को शान्त आत्मा में नियत करना है।

परमानन्दमय ज्ञान का पराकाष्ठारूप महदात्मा भी प्रकृत द्रष्टा नहीं है—निर्विकार द्रष्टा महत् के भी परे हैं, महदात्मा द्रष्टा की प्रतिच्छाया है—यह सूक्ष्म विचारबल से निश्चय करके, **"न मे, नाहं, नास्मि"** (सांख्यका. ६४) निरन्तर इस प्रकार का विवेक-अभ्यास ही ज्ञानयोग का शेष अभ्यास है। जो 'मेरा' है—ऐसा प्रतिभात होता है वह पुरुष नहीं है, जो 'मैं मैं' (अहंकार)-सा प्रतिभात होता है वह भी पुरुष नहीं है, एवं जो अस्मिमात्र या महान् आत्मा या व्यक्त आत्मभाव का अन्त है—जो परा गति नामक विवेकहीन दृष्टि से प्रतिभात (भ्रान्तिज्ञान) होता है—वह भी पुरुष नहीं है—इस प्रकार विवेक-ज्ञान के अपरिशेष (चरम) ज्ञानमय अभ्यास के द्वारा ही क्लेश-कर्म की निवृत्ति होकर कैवल्य होता है।

विचार करना हो तो यह इस प्रकार करना चाहिए। **'मे'** (मेरा) कहकर विषय, इन्द्रियगत अभिमान और हृदयस्थ शारीर अभिमान इनकी चिन्ता करनी चाहिए। हृदय से शारीराभिमान और इन्द्रियाभिमान (विशेषत: वाक्-इन्द्रियगत) को उपसंहृत करके उसे ज्ञानात्मा-स्थान में ले जाकर स्थापित करना होगा। वहाँ के अहंमात्र बोध (जिसमें संहृत करने का प्रयत्न रहेगा) का आश्रय करके वाक्यादि-शून्य-भाव से केवल बोध को लक्ष्य-कर जब तक हो सके अहंभाव (जिसका स्वरूप है—मैं मुझे जान रहा हूँ) की चिन्ता करनी चाहिए। अहंभाव में रहने के कारण **'मे'** (मेरा) का सब कुछ नहीं रहेगा, वही है **'न मे'** किन्तु अहम् है। इस प्रकार अहंभाव में यथाशक्ति रह कर **'नाहम्** किन्तु 'अस्मि' कहकर जानना-मात्र प्रयत्नहीन 'अस्मि'का अनुभव करना चाहिए। जानना-मात्र होने के कारण उसमें 'अस्मि' अन्तर्गत रहेगा एवं प्रयतनहीन होने के कारण वह अहंभाव के अतीत होगा, अत: वह नाहम् चिन्ता है। इस अस्मिभाव में अपनी शक्ति के अनुसार रहकर अस्मि के लय की ओर चिन्ता करनी चाहिए। उसमें बाहर का अंश यथासंभव ढकेगा और केवल 'अस्मि' की स्मृति-मात्र रहेगी। संपूर्ण निष्क्रियता के द्वारा उसके भी जाने पर केवल द्रष्टा पुरुष रहेंगे। इस प्रकार द्रष्टा के अभिमुख चिन्ता ही नास्मि की चिन्ता है। **"यच्छेद् वाङ् मनसी प्राज्ञः"** इत्यादि श्रुति में ठीक यही साधन उक्त हुआ है।

इस प्रकार साधन के लिए बुद्धितत्त्व और अहंकार का भेद अच्छी तरह जानना चाहिये। बुद्धितत्त्व या महान् विशुद्ध अस्मिज्ञान या अस्मीति-

प्रत्यय है, और अहंकार अभिमान है। अभिमान का अर्थ है—अहंभाव का नाना भाव में संक्रान्त होकर अहंता और ममतारूप में परिणत होना। ममता के द्वारा 'मेरा मेरा' ज्ञान होता है, अहंता के द्वारा 'मैं इस प्रकार, मैं उस प्रकार' इस प्रकार का प्रत्यय होता है। अहंतारूप अभिमान में 'मैं देश-व्यापी हूँ' (शरीराभिमान), 'मैं कर्त्ता हूँ' (शारीर कर्म का और मानस कर्म का), 'मैं ज्ञाता हूँ' (ज्ञेय का), इस प्रकार के भाव रहते हैं।

अहं-बोध देशव्याप्तिहीन है, किन्तु वह शरीरादि-धारण के अभिमान से युक्त होकर देशव्यापी-सा ज्ञात होता है। यह एक प्रकार के अभिमान का उदाहरण है; उसी प्रकार, अहंबोध शारीर-कर्म के और संकल्पादि मानस-कर्म के साथ एकीभूत होकर उस उस अभिमान का अभिमानी होता है।

संकल्परोध एवं शारीरकर्म-रोध करके ज्ञानात्मा में स्थिति करने पर इन्द्रियाधीश ज्ञाताहम् अभिमान रहता है। ये सब अभिमान न रहने पर अर्थात् ये सब भाव विस्मृत होने पर जो शुद्ध अहंबोध रहता है, जो कि 'स्वयं-को-स्वयं द्वारा जानने' के समान है, वही अस्मितामात्र बुद्धितत्त्व है। वह बुद्धितत्त्व या महान् ही आत्मबुद्धि है, क्योंकि उस समय अनात्म-बुद्धि-रूप अभिमान-समूह नहीं रहते या अभिभूत होकर रहते हैं—केवल आत्म-बुद्धि ही प्रख्यात रहती है। जिस आत्मा या द्रष्टा का आश्रय करके यह आत्मबुद्धि प्रकाशित होती है वही प्रकृत आत्मा या पुरुष है।

यहाँ एक विषय द्रष्टव्य है। अभिमानहीन आत्मबुद्धि को महान् आत्मा कहा गया है। किन्तु सम्यक् अभिमानहीन होने पर आत्मबुद्धि तत्क्षणात् अव्यक्त में लीन होगी। विलोम-क्रम से लय के समय में ही मन अहंकार में जाता है, अहम् महत्तत्त्व में जाता है, और महान् अव्यक्त में जाता है। क्षणमात्र में ही यह साधित होता है। इस प्रकार इन तत्त्व-समूहों के स्वरूप में जाना तत्त्वसाक्षात्कार नहीं है। वह निरोध-काल में क्षण-मात्र में ही संघटित होता है।

साक्षात्कार के समय चित्त रहता है एवं चित्त के द्वारा ही साक्षात्कार होता है। अन्य सब अभिमान छोड़कर (अवश्य मन के द्वारा) केवल अहं-ज्ञान-रूप भाव लक्ष्य करते रहने पर—अन्य सब भाव भूल जाने पर—चित्त के अन्तर्गत उस प्रकार की अनुभूति में स्थिति करते रहने पर—चित्त में मैं—पन मात्र का जो ज्ञान होता है, वही महत्तत्त्व का साक्षात्कार है। इस समय चित्त और उसका कार्य सूक्ष्मरूप से व्यक्त रहते हैं किन्तु केवल मात्र स्वमध्यस्थ महदात्मा के स्वरूपानुभव की क्रिया-मात्र में ही वे पर्यवसित होते हैं। इस प्रकार का चित्त-कार्य ही महदात्मा का साक्षात्कार है। निरोध

के समय समस्त चित्तकार्य रुद्ध होते हैं और क्षण मात्र में ही विलोम क्रम से महदादि सभी का लय होता है। अहंतत्त्व-साक्षात्कार में भी इस प्रकार चित्त-कार्य रहता है। सम्यक् अहंस्वरूप में गमन या अहंकार-साक्षात्कार कहने से मन पूर्णतः ही नहीं रहेगा—ऐसा नहीं समझना चाहिए।

कहना अनावश्यक है कि आचार्य के निकट इन सब विषयों का साक्षात् उपदेश न मिलने से प्रस्फुट धारणा और कार्यकर ज्ञान नहीं होते हैं।

२. 'मैं मुझे जान रहा हूँ'—यह मैं कौन है ?

सधारणतया देखा जाता है कि हमलोगों के भीतर 'स्वयं को स्वयं जानना' या 'मैं मुझे जान रहा हूँ' इस प्रकार का भाव है। इसका अर्थ क्या है ?–इसका अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है। जिसका ज्ञान है कि 'शरीरमात्र ही मैं हूँ', वह अनुभव करेगा कि 'मैं शरीर को जान रहा हूँ'। जो मन को 'मैं' समझता है, वह 'मन को जान रहा हूँ' ऐसा समझेगा। जो ज्ञानात्मा अहं को 'मैं' मानता है या वहाँ तक उपलब्धि की है, वह उसे ही 'मैं जान रहा हूँ' ऐसा समझेगा।' जिसमें 'मैं अस्मीतिमात्र हूँ', ऐसा अनुभव है, वह उसको 'मैं' जानेगा।

इनमें ग्राह्य-भाव को या स्वदेह को 'मैं' समझने पर उसे साक्षात् जान रहा हूँ—इस प्रकार का भाव आ सकता है। किन्तु ग्रहण या ग्रहीता को 'मैं' जानने पर अन्य प्रकार का भाव होगा। निम्न अवस्था में ग्रहण साक्षात् ज्ञेयरूप में उपलब्ध हो सकता है किन्तु वह जब ग्रहीतारूप में उपनीत होता है तब स्मरण-मात्र से ही उस ज्ञान का प्रवाह चलता है। स्मरण-ज्ञान में पूर्वानुभूति का उदय होता है, अतः उस समय पूर्व ग्रहीता को वर्त्तमान ग्रहीता स्मरण करता है।

ये सब आपेक्षिक 'स्वयं को स्वयं जानना' हैं, पूर्ण नहीं। इस प्रकार के व्यावहारिक जानने का जो मूल है, वह किस तरह का जानना है ? वह पूर्ण 'स्वयं को स्वयं जानना' है। व्यावहारिक 'स्वयम् को स्वयं जानने' में 'स्वयम्' और 'स्वयम्को' भिन्न हैं, किन्तु एकवत् ज्ञात होते हैं। पूर्ण स्वप्रकाश में सुतरां वैसा नहीं होगा—दोनों-ही एक होंगे। साधारण भाषा जब व्यावहारिक अनुभूति की ज्ञापक है तब उसमें उस पूर्ण स्वप्रकाश भाव का वाचक शब्द पाया नहीं जायेगा, इसीलिए दार्शनिक दृष्टि से वहाँ वैकल्पिक पद के विन्यास के द्वारा वह विषय अभिकल्पनीय होगा। अर्थात् वहाँ पर कहना होगा कि वह स्वप्रकाश है (इसका व्यावहारिक उदाहरण

नहीं है) या जो 'मैं' वही 'मुझे' और वही 'जान रहा हूँ'। न्याय के अनुरोध से इस प्रकार विकल्प कर समझना होगा।

३. ध्यान के विषय

१. विशुद्ध 'मैं' रूप ज्ञान का जो ज्ञाता है, वह द्रष्टा या पुरुष है; वे ध्यान का विषय नहीं हैं। केवल स्मरण रखना होगा कि वे अहं-ज्ञान के भी पीछे हैं। इस अहं-ज्ञान का विषय-संबन्ध के अभाव से रोध होने पर द्रष्टा का स्वरूपावस्थान या कैवल्य होता है।

२. 'मैं मुझे जान रहा हूँ'—इस प्रकार का ध्यान ही ग्रहीता का ध्यान है, अतः यह एक प्रकार 'जान रहा हूँ' का ज्ञाता हुआ। यह द्रष्टा के समान ग्रहण है; द्रष्टा के समान ग्रहण का नाम ही ग्रहीता है। जानने की धारा के बीच इस 'मैं' को स्मरणारूढ़ रखना होगा। यह 'मैं' भी जो है ध्येय ज्ञाता भी वही है, ग्रहीता भी वही है। कर्त्ता-धर्ता 'मैं' को छोड़ कर निष्क्रिय प्रकाशक 'मैं' का स्मरण ही ग्रहीता का विवेकाभिमुख ध्यान है।

३. 'मैं ज्ञाता हूँ' यह स्मरण न करके केवल 'जान-रहा-हूँ' का स्मरण ही ग्रहण का ध्यान है।

४. ग्राह्य-ग्रहण के स्मरण के समय ग्रहीता का स्मरण सुगम नहीं है। ग्रहीता के ध्यान में भी ग्राह्य-ग्रहण को लक्ष्य नहीं करना चाहिए। इन दोनों में पहले विपर्यस्त ज्ञान हो सकता है।

५. 'मन निःसंकल्प रहे',—यह ग्राह्याभिमुख ध्यान है, इस समय ग्रहीता का या 'मैं मुझे जान-रहा-हूँ' इस प्रकार के भाव का स्मरण करने पर भ्रान्ति होगी। इस समय केवल पुनः पुनः इस निःसंकल्प भाव का ही स्मरण करना चाहिए। इसी प्रकार ग्रहण के ध्यान के समय ग्रहण को और ग्रहीता के ध्यान के समय ग्रहीता-मात्र को स्मरण करना चाहिए।

ग्राह्यध्यान में ग्रहीता और ग्रहण रहने पर भी उस विषय में लक्ष्य नहीं करना चाहिए। ग्रहीताध्यान में भी ज्योति आदि ग्राह्य के रहने पर तथा 'जान-रहा हूँ, जान-रहा हूँ' इस प्रकार का ग्रहण रहने पर उसे लक्ष्य न कर केवल स्थिर ज्ञाताहम् का—ज्योति आदि हीन, व्याप्तिहीन अहम्—ऐसे भाव का—स्मरण करना चाहिए। ऊपर का भाव आयत्त होने पर निम्नस्थ ध्यान में भी उस भाव का अनुभाव रहता है।

४. अस्मीति-मात्र की उपलब्धि

१. अस्मिमात्र में साधारणतया तीन प्रकार का वैकल्पिक रूप रहता है—(१) ज्योतिर्मय, (२) शब्दधारा या नादधारा, (३) हृदय-

मस्तिष्कादि केन्द्रस्थ स्पर्श। प्रथम में विस्तार का बोध, द्वितीय में काल-व्यापी क्रियारूप धारा का बोध और तृतीय में केन्द्रस्थता का बोध। इन तीन प्रकार के वैकल्पिक बोधों के साथ अस्मिभाव संकीर्ण रहता है। उस संकीर्णता से अहंभाव को शुद्ध करना अत्यन्त कठिन साधन है। सहस्रों बार उपयुक्त विचार-सहित बोधरूप अस्मिता-मात्र की अभिकल्पना करने की चेष्टा करते रहने से रत्ति-रत्ति भर उसका अधिगम होता है।

उन तीन विकल्पों को ढीला देकर, लक्ष्य न कर, विस्मृत होकर या असतर्क होकर, अस्मि की ओर अवधान को लगाकर प्रयत्नपूर्वक निरोध करना चाहिए—दूसरे उपाय से हटाया नहीं जा सकता है। इसलिए अनुकूल निम्न साधन (द्र० अनुच्छेद २) एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। ज्योतिर्मय विकल्प से अस्मि की अरुद्धता और सर्वव्यापित्व-भाव होते हैं, किन्तु ये अस्मि का स्वरूप नहीं हैं। नाद-धारा के द्वारा व्याप्तिभाव कम होने पर भी उसमें धारारूप क्रिया रहती है; वह भी त्याज्य है। स्पर्शविकल्प के द्वारा (अभ्यास सहज होने पर आनन्द, सुखबोध आदि होते हैं, वे भी वही स्पर्श हैं) केन्द्रभाव रहता है, यद्यपि उससे अरूप, अशब्द अवस्था का अनुभव होता है। इन तीन भावों को लेते हुये (जब जो अनुकूल हो) उनके ज्ञाता की ओर अवहित होकर उपलब्धि के लिए चेष्टा करनी चाहिए। तीनों का ही वहाँ एकत्व है अर्थात् तीनों के ही ज्ञाता एक है। वे तीनों मिश्रभाव में भी रहते हैं।

२. **निम्न का साधन :**—"स्वान्तं प्रसन्नञ्च सदेक्षमाण:" (स्तोत्रसंग्रह) अर्थात् वितर्कजाल छिन्न करके निर्वाक् मन को देखते रहना। यही एकाग्र-भूमिका का प्रधान साधन है। पश्चात् की ओर अशेष संस्काररूप पथ पड़ा है—यह सोचना चाहिए। उसमें ज्ञानशक्ति का विचरण करने के कारण भूत और भविष्यत् कालिक राग, द्वेष अथवा मोह-मूलक ज्ञान (या संकल्प-कल्पनादि, वितर्कस्वरूप) हो रहे हैं। उनका रोध करके (स्मृति, सम्प्रजन्य और सावधानता के द्वारा निरन्तर चेष्टा करते हुए) केवल वर्त्तमान चित्तप्रसाद को देखते रहना चाहिए।

सभी संस्कार हैं ही और रहेंगे, उनका सम्यक् विनाश नहीं है; केवल उस पथ पर ज्ञानशक्ति का न-चलना, 'वर्त्तमान' शान्त भावमात्र में ही चलना—वितर्कसंस्कार की क्षय है। यह एकाग्रता जितनी बढ़ेगी उतनी ही अस्मि की प्रस्फुटता बढ़ेगी और उसमें स्थिति करने की सामर्थ्य बढ़ेगी। उस ज्ञान की स्मृति रखकर अन्य ज्ञान को भूल जाना या न-आने देना ही उद्देश्य है—ऐसा समझकर चलना चाहिए।

संस्कारक्षय के उद्देश्य से वितर्करोध करने के लिए उस ओर सावधानता जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार 'शान्त अहम्' बोध में स्थिति भी आवश्यक है। इसमें ज्ञानवृत्ति रखने पर पुन: संस्कारों का वशीभूत होकर नहीं रहना पड़ेगा।

३. मैं मुझे भूलकर वितर्कण करता हूँ—यह भूलना या आत्मविस्मृतिरूप 'मैं' यदि पकड़ में आता तो उसे हटाना सहज होता; किन्तु वह पकड़ में नहीं आता, क्योंकि जब हम पकड़ने या जानने जाते हैं तब स्मृतिमान् या स्वस्थ 'मैं' होता है। उसके रहते आत्मविस्मृत 'मैं' को पाने का उपाय नहीं है। लेकिन आत्मविस्मृत होकर जो कार्य या चिन्ता की गई थी उसका स्मरण कर उसे पाया जा सकता है। 'उस प्रकार की चिन्ता और नहीं करूँगा, स्वस्थ रहूँगा'–इस प्रकार वीर्य या प्रयत्न के द्वारा आत्मस्मृति को वर्द्धित करना चाहिए। सभी कर्मों को छोड़कर जब वही एक कर्म होता रहेगा तभी शान्ति आसन्न होगी।

४. द्रष्टा के उपदर्शन से किस प्रकार ज्ञान और कर्म होते हैं, इसकी उपलब्धि अपने भीतर साक्षात् (केवल शाब्दिक रूप से नहीं) करनी चाहिए। किसी ज्ञान को देखकर जानना चाहिए कि उसके ऊपर द्रष्टा है। ज्ञान के नीचे संकल्प, संकल्प के नीचे कृति, कृति के नीचे शारीर कर्म। इन सबों का अनुभव करना चाहिए। इसका ऐसा अभ्यास चाहिए जिसमें प्रत्येक कर्म में इस भाव का स्मरण हो सके। इस प्रकार की ज्ञानाग्नि से ही कर्मक्षय होता है। द्रष्टा और कर्म के बीच यह जो मोह है जिसमें कर्म स्वप्रधान होकर द्रष्टा को अन्तर्गत करता है और द्रष्टा के भाव को भूला देता है उसको उसी उपाय से क्षीण करना चाहिए। अवश्य ही द्रष्टा की ख्याति होने पर इसका क्षय आप-से-आप हो आयेगा। किन्तु इस प्रकार द्रष्टृत्व की अनुभूति के द्वारा द्रष्टा की ख्याति का अन्तराय शीघ्र हटता है और ख्याति के प्रकाशन में अनुकूलता होती है। श्वास-प्रश्वासरूप कर्म के द्वारा द्रष्टा का यह स्मरण एकधारा-क्रम से होता है।

५. प्राणायाम से हार्दकेन्द्र में जो स्थिति होती है (शारीराभिमान के संकोचन के कारण) उस अभिमान-केन्द्र को सिमटकर या लेकर उसे अस्मीतिमात्र में स्थापित कर उसी में निश्चल-स्थिति का अभ्यास करना चाहिए। अस्मि की अनुभूति विशुद्धतर न होने पर अग्रगति नहीं होगी, इसलिए वह भी प्रत्यवेक्षा (प्रति=मुड़कर, अव=भीतर में, ईक्षा=देखना) के द्वारा शुद्ध करना चाहिए। प्रत्यवेक्षा के द्वारा ध्रुवा स्मृति भी लानी चाहिए।

५. साधन के लिए पुरुषतत्त्व की अभिकल्पना

"**हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति**" (कठ० २।३।९) इस श्रुति-वाक्य में उक्त भाव का अनुशीलन करने पर यह विषय सम्यक् हृदयङ्गम होगा। साधन के चरम स्तर के सम्बन्ध में इसकी अपेक्षा गम्भीर, सुन्दर एवं संक्षिप्त वाक्य और दूसरा नहीं है। इस वाक्य का प्रत्येक शब्द उत्तमरूप से समझना चाहिए।

'हृदा'=हृदय के द्वारा। हृदय का अर्थ है—वक्ष का अभ्यन्तर प्रदेश। इसके अन्तर्गत बोध शारीरिक अहंभाव का केन्द्र है। 'मैं शरीर में अधिष्ठान कर विद्यमान हूँ'—इस प्रकार शरीर में अधिष्ठान भाव का वह मूल केन्द्र-स्थल है, यथा—'**प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय**' (मुण्डक २।२।७)। 'मैं अधिष्ठाता हूँ' ऐसे बोध का अनुसरण पूर्वक उस बोध में स्थिति की चेष्टा करके बोध-स्वरूप अधिष्ठाता अहंभाव की उपलब्धि करनी चाहिए।

'मनीषा' ('मनीष्' शब्द): इसका अर्थ है—मनीष् के द्वारा या वशीकृत समाहित मन के द्वारा (शंकर)।

'मनसा' अर्थात् मन के द्वारा। मन का कार्य है संकल्पन या वाक्यमय चिन्तन अर्थात् सविचार ध्यानपूर्वक। 'हृदा' पद का अर्थभूत जो अस्मीति-बोध है उसकी कुछ स्थिर भाव से उपलब्धि कर सकने पर बाद में जिस विचार के द्वारा उसकी शुद्धि का साधन करना पड़ता है, वह विवेकरूप विचार जिसका कार्य है वही यह मन है। उस समय वाक्यहीन स्थिर मन को छोड़कर पुनश्च सक्रिय मन से या विचार के द्वारा पुरुष के विषय में शुद्धतर, गम्भीरतर और सूक्ष्मतर भाव की उपलब्धि करने की चेष्टा करनी चाहिए। यह कहना अनावश्यक है कि मन सम्यक् निरुद्ध होने पर ही द्रष्टा के स्वरूप में स्थिति होती है; पर यह चित्त-निरोध विवेक-पूर्वक होना चाहिए। यही शेष विचार या विवेक है।

'अमृत' का अर्थ—जिसका नाश नहीं है अर्थात् निर्विकार। जिन सब भावों के उदय और लय होते हैं वे अमृत नहीं हैं। देशकालव्यापी पदार्थ का ही उस प्रकार का विकार संभव है। द्रष्टा पुरुष अमृत हैं या निर्विकार होने के कारण देशकालातीत हैं। उपर्युक्त उपायों के द्वारा साधन करने पर तभी अमृत हुआ जा सकता है या द्रष्टा का विकारित्वरूप भ्रान्ति की निवृत्ति होकर उनका स्वरूपोपलब्धिरूप कैवल्य होता है [पुरुष की अभिकल्पना के संबन्ध में योगदर्शन ४।३४ (१) एवं 'तत्त्व-प्रकरण'[१] अनुच्छेद ३९ देखिए]।

१. यह बंगला योगदर्शन के अन्तर्गत है। [**सम्पादक**]

अब इसकी साधनप्रणाली कही जा रही है। हृदयस्थ अहंबोध को पकड़कर आरम्भ में उसी में स्थिति करने की चेष्टा करनी चाहिए। 'मैं शरीरव्यापी हूँ या शरीर का अधिष्ठाता हूँ और शरीर का ज्ञाता हूँ' इस प्रकार अधिष्ठातृत्व और ज्ञातृत्व भाव को पकड़कर पहले उसे अधीन करना चाहिए। उसके कुछ अधीन होने पर अहंभाव-संश्लिष्ट सुखमय स्पर्शबोध मानो वक्ष से छलक उठता है (एक साधक की भाषा में 'वक्ष फूल जाता है'); इसको अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझाया नहीं जा सकता है। इस पथ पर चलने से यह अनुभूत होगा और समझा जा सकेगा।

अहंभाव का द्वितीय केन्द्र है—मस्तक का अभ्यन्तर; वह ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र और मन का स्थान है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो शब्दादि-ज्ञान होता है, उस ज्ञान का ज्ञाता जो 'मैं' है वही यह अहंभाव है। यह उच्चस्तरीय 'मैं' संकल्पन का भी संकल्पयिता है। उस अस्मिता की उपलब्धि करने के लिए मन के संकल्प का या मानसिक वाक्य का ज्ञानपूर्वक रोध करके ("यच्छेद् वाङ् मनसी प्राज्ञः"—कठ.) और आत्मस्मृति की रक्षा करके साधन के अभ्यास के द्वारा अत्यन्त धीरे-धीरे उपलब्धि करनी चाहिए। बाद में क्रमशः वे दोनों भाव अर्थात् हृदय में उपलब्ध 'मैं' या अस्मिता और मस्तक में उपलब्ध 'मैं' या अस्मिता एक हो जाते हैं; उस समय मालूम पड़ता है मानो मस्तकस्थ अहंभाव-गत स्थिति-बोध नीचे उतर आता है एवं हृदयस्थ उस प्रकार का स्थितिबोध ऊपर जाता है। उस समय हृदय-मस्तक आदि अधिष्ठानों की ओर लक्ष्य न करके केवल अस्मिता या जानने की ओर लक्ष्य करने का अभ्यास करने से अस्मिता की उपलब्धि विशुद्धतर होती रहती है।

अस्मिता में स्थिति करने के लिए पहले 'मैं-मैं' (या 'जान रहा हूँ—जान रहा हूँ') बोध का स्मरण करने का अभ्यास करके उसको (जानने के बोध को) एकतान करना चाहिए। इसलिए प्रणव के शेष या अर्द्धमात्रा 'म्-म्-म्' कार को भीतर एकतान-भाव में उत्थापित करके (उच्चारण नहीं, मन-मन में) उसी में खूब दृढ़ता से स्थिति करनी चाहिए। कुछ श्वासरोध करके वक्ष से मस्तक पर्यन्त बोध के साथ उसे मिलाकर और दृढ़-प्रयत्न से पकड़कर उसी में स्थिति करने का अभ्यास करना चाहिए। श्वास-ग्रहण में भी वह बोध मानो एकतान भाव में है–ऐसा अनुभव स्थिर रखना होगा। मानसिक प्रयत्न एवं उस आभ्यन्तर शारीरिक प्रयत्न दोनों को मिलाकर इसका साधन करना चाहिए। यह साधन सभी समय यथा—शय्या में, आसन में अथवा चलते चलते (**'शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा'**)—किया जा

सकता है एवं उसी प्रकार से ही करना उचित है। कुछ समय विशेष करके करना भी जरूरी है; इस समय स्थिर होकर आसन में बैठकर करना कर्त्तव्य है।

विशुद्ध अस्मिता भी चरम पद या परा गति नहीं है, क्योंकि उसके भीतर भी विकार का बीज है, जिससे वह विकृत होकर साधारण अस्मिता होती है। युक्ति के द्वारा इसका अनुशीलन करते रहना ही विवेकाभ्यास है एवं इससे पुरुषतत्त्व की अभिकल्पना क्रमशः शुद्धतर होती रहती है।

विवेकरूप अग्र्या बुद्धि के द्वारा (**"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"**—कठ० १।३।१२) विचार करते रहने से ऐसी अवस्था आती है जहाँ सत्त्वप्रसाद या सत्त्वशुद्धि-हेतु निर्मल परमानन्द की अनुभूति होती है। पहले वह क्षणिक होती है, पीछे अभ्यास के द्वारा वह आनन्द वर्द्धित होता है। यह पहले कहे गये निम्नस्तर के 'वक्ष फूलना-रूप' आनन्द की अपेक्षा अन्यरूप है। कहना अनावश्यक है कि यम और नियमरूप (हिंसादि दुःशीलता का त्याग और शौचादि सुशीलता का ग्रहण) योगाङ्गद्वय का निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने पर तभी धारणा-ध्यान-समाधि-क्रम से विवेक निष्पन्न होता है, (**"योगाङ्गानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"**—योगसूत्र २।२८)।

सम्यक् विक्षेपनाश के लिए वैराग्य आवश्यक है। वैराग्य दो प्रकार का है। प्रथम—'मैं दृष्टादृष्ट विषय नहीं चाहता हूँ' इस प्रकार का निःसंकल्प-मनोभाव एवं उसमें स्थिति करने का अभ्यास। द्वितीय—'मन-बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ हो सकता है (सार्वज्ञ्यादि) वह भी नहीं चाहता हूँ' इस प्रकार सोचकर चित्त का जो विराम करते रहना, वह। इस द्वितीय वैराग्य का नाम परवैराग्य है। इसके द्वारा चित्त-लय होने पर तभी पुरुषतत्त्व की सम्यक् उपलब्धि या उसमें स्थिति होती है। साधकगण इसे लक्ष्य करके साधन करते रहने पर ही सम्यक् सत्यपथ में अग्रसर होकर **'यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्'** (मुण्डक ३।१।६) का लाभ करते हैं।

६ समनस्कता या संप्रजन्य का साधन

चित्तस्थैर्य का प्रथम और प्रधान अन्तराय प्रमाद है, द्वितीय अन्तराय अप्रत्याहार है। प्रमाद क्षीण होने पर प्रत्याहार के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ती, वह आप से आप आती है। आत्मविस्मृत होकर चिन्ता-प्रवाह में बह जाना ही प्रमाद है। कल्पना और संकल्प-पूर्वक अतीत और अनागत (या भविष्यत्) विषय का अवलम्बन करके चिन्ता होती है। अतः

अभीष्ट-विषयक स्मृति के द्वारा उस ध्येय-विस्मृति को क्षीण करना ही प्रमाद-नाश का प्रधान साधन है।

स्मृति के लिए समनस्कता-साधन आवश्यक है। समनस्कता (बौद्ध की भाषा में 'संप्रजन्य') एक प्रकार चेष्टा-वृत्ति है, जिसके द्वारा कोई अभीष्ट स्थिर सात्त्विक भाव को या विषय को चित्त में उदित रखने का प्रयत्न या वीर्य करना पड़ता है। श्रुति कहती है—**'समनस्कः सदा शुचिः'** (कठ १।३।८), **सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः** (छान्दोग्य ७।२६।२) अर्थात् समनस्क होकर शुचिता या सात्त्विक भाव मन में उदित रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। चित्त की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल होती है। एवं उसी प्रकार स्मृतिलाभ होने पर अविद्या-ग्रन्थि से मुक्ति होती है। वह अभीष्ट सात्त्विक भाव चित्त से विच्युत न हो, इसलिए पुनः-पुनः सावधान होना ही समनस्कता का स्वरूप है। इस प्रकार चेष्टा करते रहने पर जब अभीष्ट भाव बिना प्रयत्न के चित्त में उदित रह जाता है या भासमान होता है, तभी स्मृतिरूप विज्ञानवृत्ति का (विज्ञान का पुनर्विज्ञानरूप) उपस्थान होता है। अभीष्ट वृत्ति का सर्वदा उदित रहना ही स्मृति है। स्मृति एक विज्ञान-वृत्ति है, और समनस्कता चेष्टा-वृत्ति है। सावधानतारूप साधन के द्वारा स्मृति का उपस्थान होता है।

"योगतारावली" में है, **"प्रसह्य संकल्प-परम्पराणां संछेदने सन्तत-सावधानः," "पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं संकल्पमुन्मूलय सावधानः"** अर्थात् अवधानयुक्त होकर बलपूर्वक संकल्प की परम्परा या धारा का संछेदन करना चाहिए। उदासीन-दृष्टि से समस्त प्रपञ्च को देखते-देखते अवधानयुक्त होकर संकल्प को उन्मूलित करना चाहिए। अवहित होने का निरन्तर प्रयास या चेष्टा जब निरायास होकर स्वाभाविक के समान होती है तभी स्मृति का उपस्थान होता है; अथवा इच्छाकृत (voluntary) अवधान जब स्वतःस्फूर्त (automatic) ज्ञानरूप में परिणत होता है तभी स्मृति का उपस्थान हुआ है—ऐसा कहा जाता है। समनस्कता या सावधानता की चेष्टा से जात अभीष्ट ज्ञानोदय तब स्मृतिरूप निरायास ज्ञान-वृत्ति में समाप्त होता है। सावधानता या समनस्कता एवं स्मृति में यही भेद है।

इस विषय में प्राथमिक सहज साधन इस प्रकार का है–शरीर (शरीर की स्थिति का अन्तर्बोध) किस रूप में है, मन किस रूप में है इत्यादि वर्त्तमान विषय में अवधान रखना एवं अतीत और अनागत विषयों को पूर्णतया परित्याग करके वर्तमान विषयमात्र में मन को रखना एवं जिसमें

कोई अवाञ्छित विषय मन में न आये इस पर लक्ष्य रखना। जिस रूप से जैसी भी सुविधा हो उसी रूप से कौशल-पूर्वक स्मृति-रक्षा का अभ्यास करना चाहिए, जैसे—पथ में चलते समय प्रति-पदक्षेप-रूप देह-क्रिया को नियमित रूप से देखते रहना एवं उसे भी फिर 'मैं जान रहा हूँ' इस प्रकार बोधमात्र उदित रखना। यह बाह्यविषयक समनस्कता का उदाहरण है एवं शारीर-प्रत्यवेक्षा (=मुड़ मुड़ कर भीतर देखना या जानना) है। उसी प्रकार शब्दादि-विषय जो भी आ रहे हैं एवं मन में जो सब भाव आ रहे हैं उनके प्रति अवधान (या मनोयोग) रखना आभ्यन्तर विषयक समनस्कता या करण-प्रत्यवेक्षा है। इस सावधानता या समनस्कता के अभ्यास के फलस्वरूप मन की निःसंकल्पता अभ्यस्त होती है, क्योंकि अतीत और अनागत विषय लेकर ही संकल्प होता है।

निःसंकल्पता थोड़ा-बहुत अनुभूत होने पर तब प्रत्यवेक्षा के द्वारा उसे याद रखना चाहिए। यह मानस प्रत्यवेक्षा की प्रथम अवस्था है। ज्ञानात्मा अधिगत होने पर उसे भी प्रत्यवेक्षा के द्वारा स्मृति-गोचर रखनी चाहिए। उससे उच्च विषय में भी उस प्रकार संप्रजन्य के द्वारा स्थिति या ध्रुवा स्मृति का साधन करना चाहिए। ये सभी मानस प्रत्यवेक्षा के ऊपर की अवस्थाएँ हैं।

इस प्रकार महदादि-विषय में ध्रुवा स्मृति का लाभ होने पर जो प्रत्याहृत ध्यान होता है वही प्रकृत चित्तस्थैर्य है। चित्तस्थैर्य न रहने पर भी शरीर के प्रकृति-विशेष के द्वारा अथवा बलपूर्वक प्रत्याहार हो सकता है। किन्तु उसमें दो प्रकार का दोष हो सकता है। मन स्वप्नावस्था के समान अनियत विषयव्यापार कर सकता है अथवा मन स्तब्धवत् आत्म-स्मृतिहीन-भाव में भी रह सकता है। वह प्रकृत चित्तस्थैर्य का अन्तराय है। श्रद्धा-वीर्य के द्वारा ऊपर कहे गये उपायों से महदादि तत्त्वविषय में ध्रुवा स्मृति का साधन करना ही चित्त-निरोध का प्रकृत मार्ग है।

संक्षेप में इन बातों का स्मरण रखना चाहिए—१. एकभाव में स्थिर नहीं रह सकने पर मन को वर्त्तमान अनेक विषयों में (अतीत-अनागत विषय में नहीं) पुनः पुनः घुमाना चाहिए; जैसे, पाँव से माथे तक शरीर के अन्तर्बोध में या समागत शब्द या स्पर्श में या अन्य विषयों में घुमाना चाहिए। जिन साधकों को अनुभूति प्राप्त हुई है, वे वाक्स्थान में, मन में और आत्मभाव में मन को घुमा सकेंगे अर्थात् उन सब स्थानों में जप के द्वारा मन को रखना चाहिए। किन्तु स्मरण रखें कि एक विषय में ही संप्रजन्य करना श्रेयस्कर है।

२. आत्मविस्मृति या प्रमाद आने पर सतर्कता-पूर्वक उसे पकड़ना चाहिए एवं 'वह कथमपि पुनः न आएँ' इस प्रकार संकल्प करना चाहिए। अतीत और अनागत विषय का संकल्प ही त्याज्य है। 'वर्तमान विषय जान रहा हूँ' इस प्रकार का संकल्प इस साधन में ग्राह्य है। एक अन्य संकेत यह है कि मेरे मन के भीतर अन्य प्रकार का भाव कब आया, या कोई भाव आया या नहीं—इसे देखते या जानते रहना।

३. ग्रहीता में या अहंभाव में संप्रजन्य करने पर प्रत्यवेक्षक और प्रत्यवेक्षा एक हैं, ऐसा बोध होगा; साथ ही अहंभाव का ज्ञान एवं उसका स्मरण अटूट धारा में चलते रहेंगे।

४. अस्मिता का अधिगम दो प्रकार का है (१) शरीरगत अस्मिता, (२) ऊपर की अस्मिता। शरीरगत अस्मिता—हृदय से मस्तक तक जो नाड़ी-मार्ग या मर्मस्थान (सुषुम्ना) है उसके अभ्यन्तरस्थ जो बोध है, जो शारीर-अभिमान का केन्द्रभूत है, वही शारीर अस्मिता है। और ज्ञानात्मा का अधिगम करके उसके ऊपर जो अस्मीतिमात्र का अनुभाव है, वही सर्वोच्च अस्मिता मात्र या ब्रह्मास्मि भाव है। दोनों प्रकार की अस्मिता का अधिगम होने पर शारीर अस्मिता को उस ऊपर की अस्मिता में मिलाकर 'मेरा समस्त अहंभाव ही तादृश ब्रह्मास्मि भाव है' इस प्रकार अनुभव करना चाहिए। यह थोड़ा-बहुत आयत्त और स्वच्छ होने पर तब समनस्कता के द्वारा उसीको एकतान करना चाहिए। इस समय सोचना होगा कि मनोगत और शरीरगत जो चञ्चल अहंभाव है, जो कि विक्षेप-संस्कार से होता है, वह मानो इस स्वच्छ अहंबोध-स्वरूप ब्रह्मास्मि-भाव को आवृत कर कलुषित न कर सके। इस अवस्था में भी उसी प्रकार समनस्कता-साधन करके उसे बढ़ाकर उसी में स्थिति करनी चाहिए। यही संप्रज्ञान के विरोधी संस्कार-समूहों का क्षयकारक प्रकृष्ट उपाय है।

लक्ष्य रखना होगा कि मैं उस प्रकार अस्मीतिमात्र ब्रह्मवत् हो गया हूँ और होऊँगा, और उससे भिन्न मलिन कुछ भी नहीं होऊँगा। किसी भय-संकुल वन में चलते-चलते पीछे से हिंस्र-पशु-आदि के आक्रमण के डर से पथिक जिस प्रकार सतर्क रहता है, यहाँ भी उसी प्रकार हेय संस्कारों के आक्रमण के डर से अतिमात्र सतर्क रहना चाहिए।

तृतीय परिशिष्ट

कर्मप्रकरण*

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(गीता ५।१४)

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।
(सांख्यसूत्र ५।२)

फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किं च विधिना।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति॥
(शान्तिशतकम् १)

पातनिका

शरीर का धारण, उसका स्थितिकाल, अवस्थान्तरता और मृत्यु एवं अन्तःकरण की संकल्प-कल्पना, राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि विक्रियाए जो सर्वदा संघटित हो रही हैं—ये सब हम लोग प्रत्यक्षतः देख पाते हैं। यदि जागतिक बाह्य कारण से ही ये सब संघटित होते तो प्राकृत विज्ञान से ही सब मीमांसित हो सकते थे; किन्तु देह और अन्तःकरण का परिणाम बाह्य कारण से भी जिस प्रकार होता है आन्तर कारण से भी उसी प्रकार होता है—यह प्रत्यक्ष अनुभूत तथ्य है। ये सब कारण कितने प्रकार के हैं, वे कहाँ और कैसे रहते हैं एवं किस प्रकार वे कार्य उत्पादन करते हैं, उनके ऊपर हमलोगों का कर्त्तृत्व है या नहीं है, यदि है तो वह किस तरह प्रयोज्य है—इन सब अत्यावश्यक प्रश्नों की मीमांसा ही कर्मतत्त्व का प्रतिपाद्य विषय है।

केवल घटना को जानने से, घटना के कारण को न जानने से, उसे नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। ज्वर-विकार सभी का प्रत्यक्ष अनुभव-योग्य घटना है, किन्तु उसका कारण न जानने पर ज्वर के प्रतिषेध की व्यवस्था नहीं हो सकती है। कर्मतत्त्व से हम हमलोगों के शारीर और आन्तर विकार के मूल कारण को जान पाते हैं, नरकभोग से निर्वाणलाभ पर्यन्त सभी जीवकर्म-सापेक्ष हैं—इसका भी प्रमाण पाते हैं।

* स्वामी ओम्प्रकाश आरण्य द्वारा हिन्दी में अनूदित।

कारण-कार्य-नियम जिस प्रकार प्राकृत विज्ञान का मूल है, कर्म-विज्ञान के मूल में भी ठीक वही नियम है। इन नियमों को अकाट्य युक्ति के द्वारा संस्थापित करना ही कर्मवाद का विशेषत्व है; इसीलिए कर्मवाद में अन्धविश्वास, नास्तिकता अथवा भाग्यवाद का स्थान नहीं है।

स्मरण रखना होगा कि सभी विज्ञानों में जिस प्रकार साधारण नियम स्थापित किया जाता है, कर्मविज्ञान में भी उसी प्रकार कर्म और उसके विपाक का साधारण नियम ही कहा जाता है। जलीय वाष्प से मेघ होता है एवं मेघ से पानी बरसता है—यह साधारण नियम ही विज्ञान से प्राप्तव्य है। किन्तु किस जगह किस समय कितना वर्षण होगा—यह कहना असाध्य है—अर्थात् इसके लिए इतना अधिक कारण जानना होगा जिनको जानना समय का अपव्यवहार मात्र ही होता। इसी प्रकार कर्म-वाद में भी साधारण नियम ही निर्देशित होता है। लेकिन जीवनपथ पर चलने के लिए उस विषय का जितना ज्ञान आवश्यक है उतना हमलोग कर्मवाद से यथेष्टरूप से पा सकते हैं।

जिन मुमुक्षुओं के हृदय में यह अध्यात्म-कर्म-विज्ञान सुप्रतिष्ठित है, वे ही यथार्थ आत्मनियन्ता होते हैं या उपनिषद् की भाषा में स्वराट् होने की उपयोगिता लाभ करते हैं।

१. लक्षण

१. अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण, इन सब की जो नियत क्रिया हो रही है, (ज्ञान, इच्छा, स्थिति या देह-धारणादि ही यह करणक्रिया है), जिससे उनकी अवस्थान्तरता होती है वह कर्म है। यह क्रिया दो प्रकार की है—(१) प्राणी जो चेष्टा स्वतन्त्र इच्छापूर्वक करता है, अथवा किसी करणवृत्ति की प्ररोचना से करता है; (२) जो क्रिया अविदित भाव से होती है अथवा प्राणी जो क्रिया किसी प्रबल करणों के सम्पूर्ण अधीन होकर करता है अथवा इच्छा-अनधीन बाह्य कारणों के द्वारा प्ररोचित होकर प्राणियों की जो करण-क्रिया होती है। प्ररोचना से करना = प्रवृत्ति को दमन करने की थोड़ी बहुत चेष्टा करना।

२. प्रथम जातीय क्रिया का नाम है—पुरुषकार। द्वितीय जातीय क्रिया का नाम है अदृष्ट-फल कर्म या आरब्ध कर्म एवं यदृच्छा (१० प्रकरण देखिए)। जिस क्रिया को कर भी सकते हैं, न भी कर सकते हैं, वह पुरुषकार है; और जो चेष्टा स्वरसवाही है या जो करना ही पड़ेगा उसका नाम है—आरब्ध या अदृष्टफल कर्म। मानवों की अनेक मानसिक चेष्टाएँ पुरुषकार हैं

एवं पशुओं की अनेक चेष्टाएँ आरब्ध कर्म या भोग है। सहज प्रवृत्ति का अतिक्रम करके जो चेष्टा की जाती है, वही पुरुषकार है।

इच्छा ही प्रधान कर्म है। **"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा"** अर्थात् इच्छा होने के लिए इच्छा के विषय रूप एक ज्ञेय भाव का ज्ञान (स्मरणजनित ज्ञान अथवा नूतन ज्ञान) चाहिए; मानस विषय (कल्पना) से युक्त उस इच्छा का नाम संकल्प है। इच्छा के द्वारा भी पुनः ज्ञान और संकल्प उठ सकते हैं। यह भी देखा जाता है कि इच्छा के द्वारा भी सभी शरीरेन्द्रियों की क्रिया होती है। इनमें ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनःसंयोग का नाम अवधान है। कर्मेन्द्रिय और प्राण के साथ मनःसंयोग का नाम कृति है। प्राण की अपरिदृष्ट चेष्टा भी मनःसंयोग से होती है। श्रुति भी कहती है **"मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।"** (प्रश्न उप० ३।३)।

मन में स्वतः जो चिन्ताप्रवाह (ज्ञान-कल्पनादि) चल रहा है उसका भी जब योगज इच्छा के द्वारा रोध किया जाता है तब कहना होगा कि वह भी इच्छा-मूलक है। कोई भी इच्छा पुनः-पुनः करते रहने से वह अस्वाधीन इच्छा में परिणत होती है। कर्मेन्द्रिय और प्राण की स्वतः चेष्टाओं का भी हठयोग के द्वारा इच्छापूर्वक रोध किया जा सकता है, अतः वे सब अस्वाधीन चेष्टा होने पर भी मूलतः इच्छा के अनधीन नहीं हैं। इस प्रकार इच्छा ही प्रधान कर्म है। वह इच्छा पूर्व-संस्कार-विशेष से जब (या जितनी) हम लोगों के अनधीन होकर कार्य करती रहती है तब वही अदृष्ट या भोगभूत कर्म कहलाता है; और वह इच्छा जब (अथवा जितनी) हम लोगों के अधीन होकर अर्थात् संस्कार का अतिक्रम करके कार्य करती है, तब वह पुरुषकार रूप कर्म है।

फलतः इच्छा ही कर्म का उपादान या कर्म का मूलस्वरूप है, जिस प्रकार मिट्टी घटादि का उपादान है। इच्छा नियत कर्मरूप में परिवर्त्तित होने पर भी प्राणियों की तरह अनादि काल से विद्यमान है।

भोग शब्द दो अर्थों में व्यवहृत होता है; एक—अस्वाधीन चेष्टासमूह, और—सुख-दुःखभोग। पूर्व संस्कार के सम्यक् अधीन चेष्टा ही भोगरूप कर्म है। उसका नाम भी कर्म है, किन्तु पुरुषकार ही मुख्य कर्म के रूप में गृहीत होता है। भोगरूप ये क्रियाएँ (हृत्पिण्ड आदि की क्रियाएँ) जातिनामक आरब्ध कर्मफल के अन्तर्गत हैं, अतः वे सभी कर्मफल के भोगविशेष की सहभावी चेष्टाएँ हैं

३. गुणत्रय के चलत्व-हेतु सभी भूत और करण नियतरूप से परिणत होते जा रहे हैं; यही परिणाम का मूल कारण है। करण-समूह गुणत्रय के विशेष-विशेष संयोगमात्र हैं। 'परिणाम' का अर्थ है—उस संयोग का परिवर्त्तन। उनमें अस्वाधीन स्वारसिक परिणाम ही भोग या अदृष्टफल चेष्टा या पूर्वाधीन आरब्ध कर्म है।

देहधारण के कारण इच्छा-पूर्वक अवश्यकार्य जो चेष्टा-समूह करनी पड़ती हैं, वे भोगभूत आरब्ध कर्म के उदाहरण हैं। हृत्पिण्डादि की क्रिया की तरह स्वतः, इच्छा के अनधीन, शारीर क्रिया-समूह जातिरूप कर्मफल के अन्तर्गत कर्म हैं।

४. पुरुषकार के द्वारा स्वाभाविक परिणाम को द्रुत, नियमित अथवा भिन्न पथ में चलाया जाता है। जिस प्रकार आलोक और अन्धकार का सन्धिस्थल निर्विशेष रूप से मिलित है, उसी प्रकार पुरुषकार एवं स्वारसिक कर्म के भी बीच का व्यवधान अनिर्णय है; मगर दोनों पार्श्व विभिन्न हैं।

५. ये कर्म पुनः दो प्रकार के हैं—दुष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय। यह विभाग फल के समय के अनुयायी है। जो वर्त्तमान जन्म में कृत हुआ है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरूढ़ होता है, वह दृष्टजन्मवेदनीय है। जिसका फल भविष्यत् जन्म में आरूढ़ होगा, वह अदृष्टजन्मवेदनीय है; इस तरह का कर्म वर्तमान जन्म का अथवा पूर्व जन्म का हो सकता है।

६. सुख-दुःख रूप फल के अनुसार कर्म चार भाग में विभक्त है; यथा—शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण एवं अशुक्लाकृष्ण। सुखफल कर्म शुक्ल है, दुःखफल कर्म कृष्ण है, मिश्रफल कर्म शुक्ल-कृष्ण है, एवं अशुक्लाकृष्ण कर्म सुख-दुःख-शून्य शान्तिफल है।

प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित इन तीन प्रकारों से भी कर्म विभक्त होता है। जिसका फल आरब्ध हुआ है, वह प्रारब्ध है; जो वर्तमान जन्म में कृत हो रहा है वह क्रियमाण है एवं जिसका फल वर्तमान जन्म में आरब्ध नहीं हुआ है, वह संचित है।

२. कर्मसंस्कार

७. प्रत्येक कर्म की अनुभूति का छाप अन्तःकरण की धारिणी शक्ति के द्वारा विधृत होकर रहता है। कर्म के इस आहित अवस्था का नाम संस्कार है। मान लो कि किसी ने एक वृक्ष देखा, पीछे आँख मून्दकर वह उस वृक्ष की चिन्ता करने लगा। इससे सिद्ध होता है कि वृक्ष देखने के बाद अन्तःकरण में उस वक्ष का अनुरूप भाव धृत होकर रहता है। हस्तादि की चेष्टा का

भी उसी प्रकार आहित भाव रहता है। साधारणतः कर्म का संस्कार भी कर्म नाम से अभिहित होता है।

८. यह अन्तर्निहित सूक्ष्म भाव ही संस्कार है। सभी अनुभूत विषय संस्काररूप में रहते हैं, इस कारण ही उनका स्मरण होता है। यदि यह कहा जाये कि किसी-किसी विषय का स्मरण नहीं भी होता है तो यह विस्मृत होना उस नियम का अपवाद मात्र है। चित्त की धृतिशक्ति के द्वारा समस्त विषय ही धृत होते हैं; विस्मृति का कारण रहने पर किसी-किसी स्थल पर उस धृत विषय का स्मरण नहीं होता है। विस्मृति के कई कारण हैं, यथा (१) अनुभव की अतीव्रता, (२) दीर्घकाल, (३) अवस्थान्तर-परिणाम, (४) बोध की अनिर्मलता, (५) उपलक्षण का अभाव। विस्मृति का कारण न रहने पर अर्थात् तीव्र अनुभव, स्वल्प काल, सदृश चित्तावस्था[1] निर्मल—विशेषतः समधि-निर्मल बोध तथा उपलक्षण, इन में किसी एक अथवा अनेक कारण विद्यमान रहने पर समस्त अन्तर्निहित विषयों का स्मरण हो सकता है (आगे द्रष्टव्य है)।

९. जीव जिस प्रकार अनादि है उसी प्रकार यह संस्कार भी अनादि है। संस्कार द्विविध है—केवल स्मृतिफलक या स्मृतिहेतु एवं जाति, आयु तथा भोगफल या त्रिविपाक। जिस संस्कार के द्वारा जाति, आयु और भोग की स्मृति कोई भी एक विशेष आकार को प्राप्त करती है अर्थात् जिसके द्वारा आकारित होकर विशेष प्रकार की जाति, आयु और भोग होते हैं, वह स्मृति-हेतु है। और, जो संस्कार अभिसंस्कृत करणशक्ति स्वरूप होकर बहु चेष्टाओं का कारणस्वरूप होता है एवं करणवर्गों की प्रकृति को अल्पाधिक परिवर्तित करता है, वह त्रिविपाक है।

स्मृति-मात्रफल उस संस्कार का नाम वासना है; यह जाति, आयु और भोग—इन त्रिविध कर्मफलों के अनुभव से होता है। त्रिविपाक संस्कार का नाम कर्माशय है। पुरुषकार और भोगभूत अस्वाधीन कर्म, ये दोनों ही त्रिविपाक हैं। (योगदर्शन २।१३ सूत्र देखिए)।

---

१. उत्स्वप्न या somnambulistic अवस्था में लोग जो कार्य करते हैं उस प्रकार की अन्य अवस्था में भी ठीक उसी तरह का कार्य करते हैं। यह सदृश चित्तावस्था में स्मृति उठने का उदाहरण है। सहसा बहुत पहले की किसी घटना का स्मरण होना भी ऐसी सदृश चित्तावस्था से होता है, क्योंकि इसके बिना उपलक्षणादि न रहने पर हठात् स्मृति उठना संभव नहीं है।

३. कर्माशय

१०. कर्मशक्ति समस्त करणों का स्वाभाविक धर्म है। पूर्व कर्म से जो संस्कार होता है, उसके द्वारा बाद में कृत कर्म कुछ परिवर्त्तित भाव से होता है; यह संस्कारयुक्त कर्मशक्ति ही कर्माशय है। वह त्रिविध है—जातिहेतु, आयुहेतु, तथा भोगहेतु। जैसे एक मानव-शरीर; उसके समस्त यन्त्रों के कर्मों से शरीर-धारण होता है। किसी एक जन्म में पूर्वानुरूप अथवा नया कुछ कर्म करने पर उनसे जो कर्मसंस्कार होता है उससे बाद में तदनुरूप कर्म होता रहता है। अतः कर्मशक्ति-मात्र कर्माशय नहीं है, वह स्वाभाविक ही है। प्रत्येक जन्म में आचरित नये संस्कार के द्वारा अभिसंस्कृत कर्मशक्ति ही कर्माशय है। इनके दृष्टान्त ये हैं—जल कर्मशक्ति है; उसे कटोरी, लोटा, कलस आदि में रखने से जो तदाकार होता है उसी प्रकार घटाकार, कलसाकार जल ही कर्माशय है; और लोटा, कलस आदि जिनसे जल आकारित होता है, वे वासना हैं।

११. अनादिकाल से जन्मकाल तक प्रचित वासनाओं के बीच, कई एक वासनाओं के सहारे जो त्रिविपाक कर्मसंस्कार-समूह किसी एक जन्म का कारण होते हैं वे उस जन्म का कर्माशय हैं। कर्माशय एकभविक है अर्थात् प्रधानतः एक-जन्म में—या विशेषतः अव्यवहित पूर्व जन्म में—संचित होता है। किसी एक जन्म में आचरित कर्म के संस्कारसमूह पूर्व-पूर्व-जन्मीय संस्कारापेक्षया स्फुटता के कारण प्रधान रूप से प्रायेण ही तत्परवर्त्ती जन्म का बीजस्वरूप होते हैं; यह बीज ही कर्माशय है। कर्माशय एकभविक है—यह प्रधान नियम है। वस्तुतः पूर्वसंचित संस्कारों का कुछ-अंश कर्माशय के अन्तर्भूत होता है। जिस प्रकार पूर्व-पूर्व जन्मीय संस्कार कर्माशय होता है, उसी प्रकार जो जन्म कर्माशय का प्रधान जनक है, उस जन्म के भी कुछ संस्कार कर्माशय में प्रविष्ट नहीं होते; ये संस्कार संचित रह जाते हैं।

जो लोग बचपन में मृत होते हैं उनका पूर्ण-वयसोचित कर्मों का संस्कार कर्माशयरूप में रह जाता है। वह परजन्म का बीजभूत कर्माशय होता है। इससे भी एकभविकत्व नियम का अपवाद होता है।

१२. कर्माशय पुण्य, अपुण्य तथा मिश्रजातीय बहुसंख्यक संस्कारों की समष्टि है। उन बहुसंख्यक कर्मों में कुछ प्रधान होते हैं और कई अप्रधान या सहकारी होते हैं। जो बलवान् कर्माशय पहले और प्रकृष्ट-रूप से फलवान् होते हैं, वे प्रधान हैं। पुनः-पुनः कृत कर्मों से या तीव्ररूप से अनुभत भावों से प्रधान कर्माशय होता है, अन्यथा अप्रधान

कर्माशय होता है। धर्माधर्म कर्म कहने से साधारणतय । कर्माशय समझना चाहिए ।

१३. समग्र कर्माशय मृत्यु के समय प्रादुर्भूत होता है। मरण के ठीक अव्यवहित पहले उसी जन्म में आचरित कर्मों के संस्कार-समूह चित्त में मानों युगपत् उदित होते हैं। तब प्रधान और अप्रधान संस्कार-समूह यथायोग्य-भाव में सज्जित होकर उठते हैं; और पूर्व-पूर्व जन्मों का कोई-कोई अनुरूप संस्कार आकर इनका सहायक होता है एवं इस जन्म का कोई-कोई विसदृश संस्कार अभिभूत होकर रहता है। बहु संस्कार युगपत् एक ही काल में उदित होने के कारण वे मानो पिण्डीभूत हो जाते हैं। वह पिण्डीभूत संस्कारसमष्टि या कर्माशय मरण के अव्यवहित पहले उदित होकर मरण-साधन-पूर्वक अनुरूप शरीर उत्पन्न करता है; यह एक जन्म है। इस प्रकार कर्माशय जन्म का कारण होता है।

१४. मरणकाल में ज्ञानवृत्ति बाह्य-विषयों से अपसृत होने के कारण केवल मात्र अन्तर्विषयालम्बिनी होकर रहती है। ज्ञानशक्ति विषयान्तर का परित्याग करके केवल-मात्र आन्तर-विषयालम्बिनी होने पर उस विषय का अत्यन्त स्फुटज्ञान होता है। यही कारण है कि मरणकाल में अन्तर्विषय-समूहों का स्फुटज्ञान होता है। अन्तर्विषय के ज्ञान का अर्थ है—संस्काराहित विषयों का अनुभव या पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण। अर्थात् जीवनकाल में ज्ञानशक्ति देहाभिमान के द्वारा नियमित रहती है, किन्तु मरण के समय देहाभिमान के द्वारा असंकीर्ण होने के कारण ज्ञानशक्ति अतीव विशद हो जाती है। उस विशद ज्ञानशक्ति के उस समय बाह्यविषय के साथ सम्पर्क-शून्य होने के कारण अन्तर्विषय समूह स्फुटरूप में अनुभूत होते हैं। मरण-काल में आजीवन की घटनाओं का स्मरण होने का यही कारण है।

मरणकाल में जो होता है, उस विषय में योगभाष्यकार ने कहा है (२।१३) **"तस्मात् जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयः×××प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति।"** इस प्राचीन आर्ष वाक्य के घटना-प्रमाण के रूप में De Quincey ने उनके Confessions of an English Opium Eater नामक ग्रन्थ में कहा है कि उनकी एक आत्मीया पानी में डूबने के बाद उत्तोलित हुई। पानी के बीच मृतवत् होने पर उनके आजीवन के कार्य स्वल्प काल में ही मानो युगपत् स्मृत हुये थे। ("She saw in a moment her whole life, clothed in its forgotten incidents, ×× not successively

but simultaneously")। Night Side of Nature पुस्तक में Seeress of Prevorst नामक एक अत्यन्त उच्चकोटि के क्लेयारभयाण्ट, जो कि लोगों के मृत्युकाल में भी उन लोगों की चैत्तिक घटना ठीक-ठीक देख पाते थे, के दर्शन के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा गया है, यथा—"And this renders comprehensible to us what is said by the Seeress of Prevorst, and other somnambules of the highest order, namely, that the instant the soul is freed from the body, it sees its whole earthly career in a single sign......and pronounces its own sentence" (Chap. X). कर्मतत्त्व में अज्ञ ईसाई दर्शकों की उक्ति के द्वारा उपर्युक्त आर्ष वाक्य का ऐसा सम्यक् पोषण पाठकों के लिए द्रष्टव्य है। सभी को याद रखना आवश्यक है कि वे जो भी कर्म कर रहे हैं वे मरणकाल में यथायथ उदित होंगे, एवं यदि पाशव कर्मों का बाहुल्य उनके कर्माशयों में रहेगा, तो पशुप्रकृति का आपूरण होकर वे बाद में पशु होंगे। यदि दैव-प्रकृति के उपयोगी कर्मों का बाहुल्य रहेगा तो उनको दैव-शरीर एवं नारक कर्मों से नारक शरीर मिलेगा। अतः गीता ८।६ के **"यं यं वापि"** उपदेश का स्मरण करके **"सदा तद्भावभावितः"** रहने की चेष्टा करना उचित है, जिससे मृत्युकाल में कोई परमभाव प्रकृष्टरूप से उदित हो। श्रुति में भी है—**"तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य"** (बृहदा. उप. ४।४।६)।

४. वासना

१५. जिस प्रकार चेष्टारूप कर्म करने पर उसका संस्कार होता है, उसी प्रकार सुखदुःख का अनुभव करने पर उसका भी संस्कार होता है; अथवा देह-धारण करने पर उस देह की प्रकृति एवं उस देह की आयु की प्रकृति के जो संस्कार होते हैं वे ही वासना हैं।

१६. सुखदुःख का स्मरण होता है। जिस संस्कार-विशेष के द्वारा आकारित बोध सुखाकार या दुःखाकार होता है वह उनकी वासना है। शारीर क्रिया-समूहों के द्वारा (अर्थात् प्रत्येक शारीर यन्त्रों के क्रिया-समूहों के द्वारा) भी यन्त्र समूहों की आकृति-प्रकृति का जो अस्फुट बोध होता है उससे भी संस्कार होता है। और, शरीर-धारण का जो काल होता है, तद्व्यापी बोध का भी संस्कार होता है। यह त्रिविध संस्कार ही वासना है।

१७. वासना से केवल उससे आकारित स्मृति उत्पन्न होती है। उस स्मृति का आश्रय करके कर्मानुष्ठान और कर्मफल की अभिव्यक्ति होती हैं, जैसे,

सुखभोग से सुख-वासना होती है पर उससे कोई नया सुख-द्रव्य उत्पन्न नहीं होता; किन्तु उनसे जो नया बोध होता है वह पूर्वानुभूत सुख के अनुरूप होता है। उस सुखस्मृति से राग-पूर्वक कर्मानुष्ठान होता है; और उस सुखमय चित्तप्रकृति का अवलम्बन करके नया सुखरूप कर्मफल भी अभिव्यक्त होता है; अतः वासना केवल स्मृतिफलक है; वह जाति, आयु तथा भोग—इन तीन फलों से युक्त नहीं है।

१८. वासना त्रिविध है—भोग-वासना, जातिवासना तथा आयुवासना। भोगवासना द्विविध है—सुखवासना और दुःखवासना; सुख और दुःखशून्य एक प्रकार की वेदना या अनुभव है, वह इष्ट होने पर सुख के अन्तर्गत है, तथा अनिष्ट होने पर दुःख के अन्तर्गत है—जैसे स्वास्थ्य और मोह। साधारण स्वस्थ अवस्था में स्फुट सुख-दुःखबोध नहीं होता, यद्यपि वह इष्ट है। मोह में सुखदुःखबोध न होने पर भी वह अनिष्ट है। शरीर के सभी विशेषों के या अणु अंशों के समावेश का जो साँचारूप छाप है, वही जातिवासना है। प्रत्येक जाति में जिस देह की जितने दिनों तक स्थिति हुई है उसका साँचारूप छाप आयु की वासना है। सुख-दुःखरूप भोगवासना यह है—सुख-दुःख हम लोगों के शरीर और मन के विशेष प्रकार की क्रिया से होते हैं, वह क्रिया जहाँ जाकर मनोगत जिस साँचारूप संस्कार में निविष्ट होकर सुख या दुःखरूप वेदना में परिणत होती है या अनुभव में परिणत होती है वही सुख-दुःख वासना है (छाप दो प्रकार का है—साँचारूप छाप एवं साधारण छाप; वासना साँचारूप छाप है—यह जानना चाहिए)।

१९. जातिवासना स्थूलत पाँच प्रकार की है—दैव, नारक, मानव, तिर्यक्योनि और औद्भिद। इन सब देहों का धारण होने पर उन देहों की समस्त करण-प्रकृतिगत सब प्रकार विशेषों का जो अनुभव होता है, उसका संस्कार ही जातिवासना है।

२०. आयुवासना कल्पायु से क्षणमात्र शरीर-धारण की अनुभूति से जात है और यह असंख्य प्रकार की है। वासना-समूह अनादि हैं, क्योंकि मन अनादि है; वे इसी कारण से असंख्य हैं। अतः सर्व-प्रकार के जन्मों की (अतः आयु एवं भोग की भी) वासनायें सदा ही सभी व्यक्तियों में विद्यमान हैं।

२१. वासना कर्माशय के द्वारा उद्बुद्ध होती है। उस उद्बुद्ध वासना का आश्रय करके कर्माशय फलवान् होता है। वासना मानों साँचे की तरह है, और कर्माशय द्रवधातु के समान है। वासना मानों खात है, और कर्माशय मानों उसमें प्रवहमाण जल है।

मान लो, कोई मनुष्य कुकर्म-वश पशु हुआ; पशु-शरीर के सभी कर्म

मानव-शरीर के द्वारा नहीं किये जा सकते हैं, लेकिन प्रधान पाशविक कर्म मानव कर सकता है। उस प्रकार के कर्मों के संस्कार से आत्मगत पशु-वासना उद्बुद्ध होती है। उस पाशव वासना का आश्रय करके पशु-जन्म होता है। अन्यथा मानव-शरीर-धारण के संस्कार से कदापि पशुशरीर होना संभव नहीं है। पशुवासना रहने के कारण ही वह संभव होता है। (यो० द० ४।८ टीका देखिए)।

५. कर्मफल

२२. किसी कर्म का संस्कार यदि अलक्षित अवस्था से लक्षित अवस्था में आरब्ध होता है, तो शरीर का जो वैशिष्ट्य होता है एवं शरीरादि में जो संघटित होता है, उनको उस कर्म का फल कहा जाता है। उनमें स्मृतिफल वासना के द्वारा स्मरणबोध तदनुरूप में आकारित होता है, और त्रिविपाक कर्म का संस्कार आरूढ़ अवस्था में आने पर उस कर्म की जैसी प्रकृति है वह तदनुसार जाति या देह, आयु और भोग उत्पादन करता है। स्मृति-हेतु और त्रिविपाक, इन दो प्रकार के संस्कारों में जो दृष्ट-जन्म में ही आरब्ध होता है, वह दृष्ट-जन्म-वेदनीय है; और जो भविष्य जन्म में आरूढ़ होगा, वह अदृष्ट-जन्म-वेदनीय है। चर्म को अत्यधिक रगड़ने पर कड़ा होता है या घर्षणकर्म के द्वारा चर्म की प्रकृति परिवर्त्तित होती है—इस प्रकार का कर्म-फल दृष्टजन्मवेदनीय का उदाहरण हो सकता है। और, वर्तमान आरब्ध कर्मफल के द्वारा बाधा-प्राप्त होने के कारण कर्म का जो फल इह जन्म में आरूढ़ नहीं हो सकता है, वह अदृष्टजन्मवेदनीय है।

२३. इन्द्रियशक्ति से इन्द्रिय उदभूत होती है, बोध से बोधान्तर होता है और सर्व-करणगत प्राणशक्ति से देहधारण होता है। इन होने वाले इन्द्रिय, बोध और शरीर के विभिन्न आकार-प्रकार मात्र कर्म के द्वारा प्राप्त होते हैं। वे मूलतः सृष्ट नहीं होते। जिस प्रकार एक मेघखण्ड वायु के द्वारा मूलतः सृष्ट नहीं होता, पर उसका आकार वायु के द्वारा नियत परिवर्त्तित होता है, उसी प्रकार कर्मरूप वायु के द्वारा भी होने वाले देहेन्द्रियादि का परिवर्त्तन मात्र होता है।

२४. कर्म का फल या संस्कार की व्यक्तता-जनित घटना तीन प्रकार की है—जाति, आयु तथा भोग। संस्कार से करणों का जो विशेष-विशेष प्रकार का विकास होता है, एवं साथ ही विकास के कारण आकृति और प्रकृति में भेद होकर जो देहलाभ होता है वह देह ही **जातिफल** है। संस्कार के बल के अनुसार या अन्य (बाह्य) कारण से जितने काल तक जाति और भोग आरूढ़

रहता है, उसका नाम आयु है। और संस्कार के प्रकृति-विशेष के अनुसार जा सुख, दुःख या मोहरूप बोध होता है, उसका नाम है **भोग**।

२५. पुरुषकार और भोगभूत इन दो प्रकार के कर्मों से ही कर्माशय होता है। प्राणधारण-कर्म, साधारण अवश चिन्ता, स्वप्नावस्था में चिन्ता एवं सूक्ष्म शरीर का कार्य—ये भोगभूत कर्म के उदाहरण हैं। इन सब कर्मों का भी कर्माशय होता है एवं उसके द्वारा वे सभी कर्म चलते रहते हैं; उदाहरणार्थ स्वप्नावस्था के कर्माशय से पुनः स्वप्नावस्था होती है, सूक्ष्म शरीर के कर्माशय से पुनः सूक्ष्म शरीर में कर्म होता है, इत्यादि।

६. जाति या शरीर

२६. जाति या देह प्रधानतः शरीरधारणरूप भोगभूत अपरिदृष्ट कर्म से ही होता है। यदि वह कर्म उस जाति का समगुणक होता है तो उस जाति का देह होता है। और पुरुषकार अथवा पारिपार्श्विक घटना में यदि वह कर्म दूसरे प्रकार का होता है, तो उसके संस्कार से अन्य प्रकार का देह होता है।

२७. जाति के असंख्येयत्व का एक हेतु यह है कि जीवनिवास लोक-समूह असंख्य हैं एवं उनकी भौतिक प्रकृति भी भिन्न-भिन्न है। उन असंख्य भिन्न-भिन्न लोकसमूह में असंख्य-प्रकार के प्राणी का रहना ही संभव है।

जाति स्थूलतः द्विविध है—इहलौकिक और पारलौकिक। उद्भिज्ज[1] से मानव तक प्राणी-गण इहलौकिक हैं। स्वर्ग और निरय-वासीगण पार-

---

१. 'उद्भिज्ज' शब्द पर कुछ ज्ञातव्य है। यह 'उद्भिद्+ज' है। उद्भिद् का अर्थ है—उद्भेदन-रूप क्रिया (उद्+भिद्+क्विप् भावे)। अतः उद्भिज्ज का अर्थ है—उद्भेदन से जात। उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्ताः (भीष्मपर्व ४।१४) की व्याख्या में नीलकण्ठ कहते हैं—उद्भिज्जाः भूमिम् उद्भिद्य जाताः। जीवों के तीन बीजों में अन्यतम उद्भिज्ज है, यह छान्दोग्य उप० ६।३।१ में कहा गया है। यहाँ उद्भिद् शब्द स्थावरवाची है; उससे उत्पन्न उद्भिज्ज (शांकरभाष्य)। उद्भेदन-पूर्वक प्रकटित (जात) होना उद्भिज्ज का लक्षण है—उद्भिज्ज को 'beings springing from germs' समझना गलत है, जैसा कि थीबो समझते हैं (द्र० थीबोकृत शारीरकभाष्यानुवाद ३।१।२०)। उद्भिज्ज शब्द कभी-कभी जङ्गम प्राणी के अर्थ में भी आता है। जरायुज प्राणी को जब उद्भिज्ज कहा जाता है तब 'जरायुम् उद्भिद्य जायन्ते' अर्थ होता है। द्र० 'उद्भिन्दन्ति भूमिमित्युद्भिदः, तादृशाः सन्तो ये जायन्ते ते उद्भिज्जाः पिपीलिकादयः (शिवगीता ३२-३३ की लक्ष्मीनृसिंहकृत टीका)। [सम्पादक]

लौकिक जाति हैं। पार्थिव जाति तीन प्रकार की है; उद्भिद्-जाति, पशु-जाति तथा मानवजाति। उद्भिद्-जाति में तामसिकता का और मानवजाति में सात्त्विकता का अत्यधिक प्रादुर्भाव है। पशुजाति उद्भिद्-ज-सदृश अवनत योनि से शुरू कर मानव-सदृश उन्नत योनि पर्यन्त विस्तृत है।

किसी भी जाति के स्त्री या पुरुष-शरीर का होना विशेष कर्म का फल नहीं है, क्योंकि वह जाति-भेद नहीं है। वह पितृबीज के वैशिष्टच या पारिपार्श्विक संघटन से जात होता है।

२८. अन्तःकरण और त्रिविध बाह्यकरण-शक्ति के विकाश के भेदानुसार जातिभेद होता है। उनसे उद्भिद्जाति में प्राणशक्ति का अधिकतर प्राबल्य है। पशुजाति में किसी किसी कर्मेन्द्रियों का और निम्न ज्ञानेन्द्रियों का अधिकतर विकाश है। मनुष्यजाति में अन्तःकरण और बाह्यकरण की शक्तिसमूह प्रायः तुल्य-विकशित अर्थात् तुल्यबल हैं। पारलौकिक जाति में अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों का अधिकतर प्रावल्य है।

२९. कर्माशय के द्वारा करण-शक्तियाँ जिस प्रकार की प्रकृति से युक्त होकर विकाशोन्मुख होती हैं, जीव उसी प्रकार की जाति में जन्मग्रहण करता है। विशेष विशेष कर्म कर्माशय में परिणत होकर विशेष विशेष करणशक्ति को विशेष विशेष प्रकार में विकसित करने में हेतु होते हैं। इस प्रकार कर्म जात्यन्तर-ग्रहण का हेतु होता हैं।

अनादिकाल से हमलोगों के अन्तःकरण के असंख्य परिणाम हुये हैं, उसी प्रकार उसका असंख्य अनागत परिणाम या अभिनव धर्मोदय की संभावना है। अर्थात् प्रत्येक अन्तःकरण में ही असंख्य प्रकार की करण-प्रकृति या वासना निहित है। उस एक एक प्रकार की करण-प्रकृति का आपूरण या अनुप्रवेश होने पर तदनुरूप जाति की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार एक प्रस्तरखण्ड में असंख्य प्रकार की मूर्त्तियाँ निहित हैं, उपयोगी निमित्त के (अर्थात् बाहुल्यांश को काटने के) द्वारा उससे जिस किसी प्रकार की मूर्त्ति की अभिव्यक्ति हो सकती है उसी प्रकार उपयोगी कर्मरूप निमित्त-वश हमलोगों की आत्मगत कोई भी करण-प्रकृति आपूरित होकर जातिरूप में अभिव्यक्त होती है। "**जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्,**" "**निमित्तम प्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्**" (योगसूत्र ४।२-३)—ये दो योगसूत्र सभाष्य द्रष्टव्य हैं। हमलोगों में असंख्य प्रकार की करण-प्रकृति सूक्ष्म भाव से विराजमान है, उनमें कोई भी प्रकृति उपयुक्त निमित्त पाने पर ही (प्रस्तर-मूर्ति की तरह) अभिव्यक्त हो सकती है। प्रस्तरस्थ मूर्ति का

दृष्टान्त अननुभूत प्रकृति के (जैसे, समाधिसिद्ध प्रकृति के या ऐश प्रकृति के) पक्ष में सम्यक् उपयुक्त होता है, किन्तु वासना के पक्ष में सम्यक् प्रयुक्त नहीं होता है। वासना का सुन्दर दृष्टान्त एक ग्रन्थ है। मान लो कि उसमें हजार पृष्ठ हैं; किन्तु जिस समय वह बन्द रहता है उस समय सब एकत्र पिण्डीभूत होकर एक ठोस द्रव्य के रूप में रहता है; और जब उसे किसी स्थान पर खोला जाता है तब विचित्र-लेखयुक्त पृष्ठद्वय प्रकटित होते हैं; यहाँ पर खोलना-रूप क्रिया निमित्त है। असंख्य वासना भी उसी प्रकार पिण्डीभूत (किन्तु पृथग्भाव से) हैं और वे सभी किसी भी एक उपयोगी कर्माशय के द्वारा प्रकटित होते हैं। अभिव्यक्त वासना में कर्माशय आपूरित होने पर वह वासना जिस जाति में अनुभूत हुई थी उस जाति को वह निष्पन्न करता है। समाधिसिद्ध प्रकृति अननुभूतपूर्व है (यो० द० ४/६ सूत्र); प्रस्तर के बाहुल्यांश-कर्त्तन की तरह क्लेशकर्त्तन करके उसको सिद्ध करना पड़ता है। गो-मनुष्यादि-प्रकृति में जिस प्रकार असंख्य विशेष हैं उसमें वे नहीं हैं। चित्त की निर्मलता ही उसका विशेष है, इसलिए उसके साधन में उपादान (=ग्रहण) नहीं है केवल हान (=त्याग) ही है। अतः वह अननुभूतपूर्व होने पर भी अनुभूयमान भाव के (क्लेश के) हान के द्वारा ही वह साधित हो सकता है, अन्यरूप से नहीं हो सकता है।

३०. यदि किसी एक कर्माशय के आधार-स्वरूप करणशक्ति-समूह पूर्व-जाति के साथ एक प्रकृति की होती है, तो जीव उस जाति में पुनः जन्मग्रहण करता है। पशुओं की जो जो इन्द्रियशक्ति प्रबल है, मनुष्य यदि उस उस इन्द्रियशक्ति का अधिक मात्रा में व्यवहार करता हो और पशुओं की जो जो इन्द्रियाँ अविकशित हैं, मानव यदि उस उस इन्द्रिय-शक्ति का अत्यल्प परिमाण में व्यवहार करता हो, तो वह मानव पशुजाति में जन्म-ग्रहण करता है।

जैसे, यदि कोई मानव जननेन्द्रिय-संबन्धी अत्यधिक कर्म करता है और आकांक्षा करता है, तो मानवशरीर के द्वारा ऐसा करना संभव न होने के कारण उसका मनोदुःख होता है। बाद में मृत्युकाल में जननेन्द्रिय-विषयक प्रबल भाव उदित होकर कर्माशय को अनुरञ्जित करता है, जिससे आत्मगत अनुरूप पाशव वासना उद्बुद्ध होती है। अर्थात्, जिस पाशव जाति में जननेन्द्रिय का अतिप्राबल्य है, तादृश प्रकृति का आपूरण होकर तदनुरूप करण की अभिव्यक्ति होकर मानव का पशुजन्म होता है (सूक्ष्म शरीर में भोग होने के बाद)।

३१. स्थूल शरीर-त्याग के बाद प्रायशः जीव एक सूक्ष्म उपभोग-देह धारण करता है। उसका कारण यह है—हमलोगों का चित्त शरीर-निरपेक्ष होकर जाग्रत और स्वप्नकाल में अनेक चेष्टा करता है। संकल्पनरूप चेष्टा एवं शरीर-चालन की चेष्टा पृथक् हैं, क्योंकि शरीर निश्चेष्ट रहने पर भी चित्तचेष्टा चलती रहती है। मृत्युकाल में इस संकल्पनरूप चेष्टा से ही मनःप्रधान सूक्ष्मदेह होता है, क्योंकि संकल्पन मनःप्रधान क्रिया है। मृत्युकालीन शरीर-निरपेक्ष मन के उस संकल्पन-स्वभाव से संकल्प-प्रधान सूक्ष्म-शरीर होता है। स्वप्न में स्वेच्छया शारीर क्रिया न रहने पर भी पृथक् मानस क्रिया रहती है; यह मानस कार्यद्वय का उदाहरण है।

यह उपभोग-देह दैव और नारक-भेद से द्विविध है। कर्माशय में यदि सात्त्विक संस्कार का प्राबल्य रहे, तो जीव जो सुखमय, सूक्ष्म भोगदेह धारण करता है, वह दैव देह है; और तमोगुण का प्राबल्य रहने पर जो कष्टमय देह धारण करता है, वह नारक देह है। सूक्ष्मदेह का भोगक्षय होने पर जीव पुनः स्थूलदेह में जन्मग्रहण करता है। उस समय उस स्थूलदेह का कर्माशय जिस उपयोगी देहेन्द्रियरूप में अभिव्यक्त होता है वही स्थूल जन्म का पूर्वतन 'बीजजीव' है।

३२. देह-समूह औपपादिक और साधारण भेद से द्विविध हैं। औपपादिक देह माता-पिता के संयोग के बिना अकस्मात् उत्पन्न होता है; और साधारण देह माता-पिता के संयोग से अथवा एक ही जनक के द्वारा उत्पन्न होता है। पितृदेह के अंश में 'बीजप्राणी' अधिष्ठान करके स्वसंस्कारानुरूप देह का निर्माण करता है। साधारणतया जङ्गम प्राणीगण पितृदेह से क्षुद्र एक बीज प्राप्त करता है और स्थावर प्राणीगण तादृश क्षुद्र बीज भी पाते हैं एवं बृहत्तर शरीरांश भी पाकर देह धारण करते हैं। बीज से और शाखा से उद्भिदों का प्रजनन इस विषय का उदाहरण है। उद्भिदों की तरह जङ्गम प्राणियों की कोई-कोई जाति पितृदेह का बृहत् अंश लेकर स्वदेह का निर्माण करती है, जैसे अन्त्रस्थ महीलता (केंचुआ), पुरुभुज (*hydra*) प्रभृति।

३३. उद्भिद-जाति, पशुजाति और पारलौकिक जाति—ये सब उपभोग-शरीरी जातियाँ हैं, मानव जाति कर्म-शरीरी जाति है। उपभोग-शरीरी जातियों में अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण—इन चतुर्विध श्रेणियों में से कोई एक या दो श्रेणियाँ अतिविकशित अथवा प्रबल रहती हैं

एवं अन्य एक या दो श्रेणियाँ अविकशित रहती हैं। अथवा उक्त श्रेणीस्थ पाँच-पाँच इन्द्रियों के बीच कई अतिविकशित रहती हैं एवं अवशिष्ट इन्द्रियाँ अविकशित रहती हैं।

इस नियम का एक अपवाद है। पारलौकिक जातियों के बीच में ऐसे समाधिसिद्ध उच्चश्रेणी के देवगण हैं जिनमें समाधिबल रहने के कारण पुन: स्थूलशरीर-ग्रहण की संभावना नहीं होती है; ये देव अवशिष्ट चित्त-परिकर्म का निष्पादन करके विमुक्त होते हैं। अत: उन लोगों को केवल उपभोग-शरीरी न कहकर 'भोग और कर्म (या पुरुषकार) उभय-शरीरी' कहना संगत है।

३४. करण-विकास के उपर्युक्त प्रकार का असामञ्जस्य ही जाति के उपभोग-शरीरत्व का कारण है, क्योंकि किसी एक श्रेणी की कई एक इन्द्रियाँ यदि अन्यों की अपेक्षा अत्यन्त प्रबल होती हैं, तो जीव की करण-चेष्टा उन प्रबल करणों के संपूर्ण अधीन-भाव में निष्पन्न होती है। इस कारण वह चेष्टा भोगभूत कर्म मात्र होगा। अत: उस प्रकार का असमञ्जस करण-विकासयुक्त शरीर उपभोगशरीर ही होगा।

३५. देवगण अर्थात् स्वर्गवासीगण और नारकगण अन्त:करण-प्रधान हैं। शास्त्र में है कि देवगणों की इच्छामात्र से ही उसी क्षण कार्य सिद्ध होता है। श्रुति में भी है **"यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः"** (ऋग्वेद ९।११३।९) अर्थात् वे लोग यदि सोचे कि सौ कोश दूर में जाऊँगा, तो उसी क्षण उन लोगों का सूक्ष्मशरीर वहाँ उपस्थित होगा (क्योंकि उन लोगों का अन्त:करण—अतएव इच्छा—अतिप्रबल है)। किन्तु मानवों में उस प्रकार नहीं होता है; उन लोगों की इच्छामात्र से ही गमन सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उन लोगों की गमनशक्ति इच्छा के समान तुल्यविकसित होने के कारण इच्छा की उतनी अधीन नहीं है, देवगणों की गमनशक्ति उनकी प्रबलविकसित इच्छा के जितनी अधीन है। अत: मानव मनोरथ के बाद भी कोई कार्य करना उचित है या अनुचित है, ऐसा विचार करके प्रवृत्त या निवृत्त हो सकते हैं। पर देवगणों के मनोरथ मात्र से ही कार्य सिद्ध होने के कारण उससे निवृत्त होने की क्षमता नहीं रहती है, इसलिए उनकी तादृश चेष्टा पूर्वनियमानुसार भोग कहलायेगा, स्वाधीन कर्म नहीं होगा। इस कारण वे लोग उपभोग-शरीरी हैं।

तिर्यक्-जातियों में किसी की शायद गमन-शक्ति अतिविकसित है, किसी की जनन-शक्ति अतिविकसित है (जैसे मधुमक्षिका आदि की

रानी)। यही कारण है कि उन प्रबल करणों के संपूर्ण अधीन होकर उनका कर्म (अर्थात् भोगभूत कर्म) होता है, और इसलिये उनका स्वाधीन कर्म अत्यल्प है, अतः वे उपभोग-शरीरी हैं। देवगणों की तरह नारकगण भी पूर्व के (दुःख-हेतु) संस्कार के सम्यक् अधीन हैं।

३६. सर्वप्रकार के और प्रत्येक प्रकार के अन्तर्गत सभी करणों के विकास के सामञ्जस्य-हेतु मानव-शरीर कर्म-शरीर है। मानव-करणों के विकास का सामञ्जस्य, दैव और तिर्यक्-जातीय करण-विकास के साथ तुलना करने पर जाना जाता है। **"प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः"** (महाभा० अश्व० ४३।२१)।

७. आयु

३७. भोगसहित देहरूप कर्मफल के अवस्थिति-काल का नाम आयु है। फल का काल यदि आयु हुआ, तो उक्त फलद्वय के उल्लेख में आयु भी उक्त हुई; अतः उसे स्वतन्त्र फलरूप में गणना करने का प्रयोजन क्या है? इसका उत्तर यह है कि जाति और भोग की अवस्थिति के समय का हेतुभूत उपयुक्त शारीरिक उपादान के जन्म के साथ ही उद्भूत होने का अवश्य ही कोई कारण होगा।

जैसे, कर्मविशेष से मानव-जाति और तदनुयायी सुख-दुःख भोग प्राप्त हुए; पर उस जाति और भोग के स्वल्पकाल और दीर्घकाल रहने का हेतुभूत स्वल्पजीवी या चिरंजीवी शरीर जिस संस्कारविशेष से होता है, वही आयु है।

कर्म के द्वारा संस्कार संचित होता है और संचित संस्कार से कर्मफल होता है। उसमें जातिहेतु कर्म का फल जाति होगा एवं भोगहेतु कर्म का फल भोगमात्र होगा। किन्तु उस जाति और भोग के दीर्घकाल या स्वल्पकाल रहने का जो कारण है वह संस्कार-विशेष ही आयु रूप कर्मफल का हेतु है। यह जन्मकाल में ही प्रादुर्भूत होता है।

३८. सूक्ष्मदेह की आयु स्थूलदेह की आयु की अपेक्षा बहुत ज्यादा हो सकती है। निद्रा-संस्कार का उद्भव ही उसका पतन है। शीघ्र जन्म-ग्रहण की इच्छा आदि रहने पर शीघ्र जन्म हो सकता है, जिस प्रकार निद्रा-आनयन की चेष्टा करने पर असमय में भी निद्रा-आनयन किया जा सकता है।

३९. जन्मकाल से आयु का प्रादुर्भाव एक साधारण उत्सर्ग या नियम है। फलतः दृष्टजन्मार्जित कर्म के द्वारा आयु का भी परिवर्तन हो सकता है। उसी प्रकार जाति एवं भोग में भी भिन्नता हो सकती है।

प्राणायामादि कर्म करने पर दृष्टजन्म-वेदनीय आयुवृद्धि-रूप फल होता है। उसी प्रकार आयुःक्षयकर कर्म का फल भी इस जीवन में देखा जाता है। चिररुग्न व्यक्तिगण दुःख में पड़े रहकर बहुत आयुष्कर कर्म करते हैं; इस जीवन में वे कर्म यदि फलीभूत न हों तो परजीवन में फलीभूत होते हैं। स्वास्थ्य-विषय में बुद्धि-मोह प्रायः चिररुग्णता का कारण है।

४०. अनेक प्राणियों की एक-ही समय में एक-ही तरह से मृत्यु होते देखकर शङ्का होती है कि किस प्रकार इतने प्राणियों का एक-ही प्रकार घटना से एक-ही काल में आयुःक्षय संघटित हुआ। जैसे भकम्प में अचानक बीस हजार या जहाज-डुबने से दो हजार मर गये। परन्तु प्रलयकाल में (पृथ्वी का पृष्ठ कई बार विध्वस्त होकर पूर्व-पूर्व युग में बहु-संख्यक प्राणी एक-ही काल में मृत हुए हैं) सब प्राणी मृत होते हैं।

इसे समझने के लिए निम्नोक्त विषयों को समझना आवश्यक है। कर्म का फल प्रबल होने पर वह प्राणियों को घटना की (अर्थात् जो विपाक का साधक है उसकी) ओर ले जाता है, किन्तु बाह्य घटना प्रबल होने पर वह हमलोगों के अप्रबल कर्म को उद्‌बुद्ध करके विपक्व कराती है (बौद्धों की अपरापरीय कर्म बहुत कुछ इसी प्रकार की है)। हमलोग सभी ब्रह्माण्डवासी हैं, अतः ब्रह्माण्ड के नियम के भी अधीन हैं। हमलोगों के कर्म भी अतएव कुछ मात्रा में ब्रह्माण्ड के नियम से नियमित हैं। सर्वप्रकार के पीड़ाभोग को और सर्वप्रकार के मृत्यु को संघटित होने का कारण हमलोगों में सर्वदा अप्रबलभाव से वर्तमान है। विशेषतः शरीरादि में अस्मिता, राग, द्वेष आदि विद्यमान हैं; उनमें सर्वविध दुःख को संघटित होने का कारण सर्वदा वर्तमान है। जैसे पुत्र अपने कर्म के फल से नष्टायु होकर मरता है, किन्तु उसमें राग-जनित कर्मसंस्कार उद्‌बुद्ध होकर माता-पिता का दुःखभोग संघटित होता है। ऐसे स्थलों पर प्रबल बाह्य घटनायें अप्रबल कर्म को उद्‌बुद्ध करके उसका फल संघटित कराती हैं। इन स्थलों में भी सुख-दुःख भोग स्वकर्म के फल से ही होता है; केवल वह कर्म अप्रबल होने के कारण स्वतः उद्‌बुद्ध नहीं होता, पर प्रबल बाह्य घटना के द्वारा ही उद्‌बुद्ध होता है।

मृत्यु की हेतु बाह्य घटना (जैसे भूकम्पादि) यदि प्रबल न हो तभी कर्म के नियत विपाक में मृत्यु घटती है, और बाह्य घटना प्रबल होने पर उस उपलक्षण के द्वारा अनुरूप कर्म व्यक्त होकर विपक्व होता है। बाह्य घटना हमलोगों के कर्मों के द्वारा नहीं होते हैं। वह प्रबल होने पर हमलोगों

के मध्यस्थ अप्रबल कर्म को भी उद्‌बुद्ध करती है। और अत्यन्त प्रबल कर्म रहने पर वह प्राणी को ही बाह्य घटना की ओर (अपने विपाक के अनुकल) ले जाता है या स्वतः ही विपक्व होकर आयुः क्षयादि निष्पादित करता है।

पुरुषकार या ज्ञान के द्वारा सर्वकर्म-क्षय होता है। ब्रह्माण्ड की अधीनता भी उसी प्रकार उसके द्वारा अतिक्रम किया जा सकता है। समाधि के द्वारा चित्तनिरोध करने पर ब्रह्माण्ड का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए उस समय ब्रह्माण्ड की अधीनता भी नहीं रहती है; उस समय **"मायामेतां तरन्ति ते"** (गीता ७।१४)।

कई लोग समझते हैं कि कर्म का फलभोग हो जाने पर ही कर्म का क्षय हो गया। किन्तु वे लोग समझते नहीं कि कर्मभोग-काल में पुनः अनेक नये कर्म भी होते हैं, जिनसे कर्माशय और वासना होकर पुनः कर्म-प्रवाह चलता रहता है। केवलमात्र योग या चित्तेन्द्रियों की स्थिरता के द्वारा ही कर्मक्षय संपूर्ण-रूप से हो सकता है **"मुक्ति तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥"** (विष्णुपु० ६।७।३५)।

८. भोगफल

४१. सुख और दुःख का जो भोग है, वह कर्म-संस्कार का भोगफल है। जो अभिमत विषय के अनुकूल है, उस प्रकार की घटना से सुखबोध होता है; जो उस प्रकार के विषय के प्रतिकूल है, उससे दुःखबोध होता है।

सुख ही जीव का इष्ट है, अतः इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की अप्राप्ति सुख का हेतु है। उसी प्रकार इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति दुःख का हेतु है। 'प्राप्ति' का अर्थ है—संयोग। इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति दो प्रकार की है; (१) सांसिद्धिक एवं (२) आभिव्यक्तिक। जो जन्मकाल से आविर्भूत रहता है, वह सांसिद्धिक है; और जो बाद में अभिव्यक्त होता है, वह आभिव्यक्तिक है।

४२. उपर्युक्त द्विविध इष्ट और अनिष्ट-प्राप्ति पुनः दो प्रकार की है—स्वतः और परतः। जो अपनी बुद्धि, विवेचना, उद्यम प्रभृति के वैशारद्य एवं अवैशारद्य से होते हैं, वे स्वतः हैं। जो अपने प्रकृतिगत ईश्वरता (जिस गुण के द्वारा इष्ट विषय की प्राप्ति संघटित होती है) निर्मत्सरता, अहिंस्रता इत्यादि के द्वारा अथवा अनीश्वरता, मत्सरता, हिंस्रता इत्यादि के द्वारा, अन्य व्यक्ति की मैत्री, उपचिकीर्षा इत्यादि अथवा द्वेष, अपचिकीर्षा प्रभृति उत्पादन करके संघटित होती है, वह परतः है। किसी-किसी व्यक्ति से सभी कोई प्रेम करते हैं और किसी को कोई भी देख नहीं सकता। इस प्रकार प्रिय और अप्रिय होना मैत्री आदि कर्मों का फल है।

४३. इष्ट-प्राप्ति का प्रधान हेतु उपयुक्त शक्ति है; अतः शक्ति की वृद्धि से इष्ट-प्राप्ति की भी वृद्धि होती है, अतः सुख की भी वृद्धि होती है। 'शक्ति' का अर्थ है—समस्त करणशक्ति, यथा—अन्तःकरणशक्ति, ज्ञानेन्द्रिय-शक्ति, कर्मेन्द्रियशक्ति तथा प्राणशक्ति। 'शक्ति की वृद्धि' का अर्थ है—प्रकृति और परिमाण—दोनों का उत्कर्ष। जैसे गृध्रों की दृष्टि-शक्ति तीक्ष्ण होने पर भी मनुष्यों के समान उत्कृष्ट नहीं है।

४४. कर्म को करण-चेष्टा कहा गया है। करण-चेष्टा होने पर उसका संस्कार होता है। चेष्टा पुनः-पुनः होने पर उसका संचित संस्कार शक्ति-स्वरूप होकर तादृश चेष्टा को कुशलता के साथ निष्पन्न करता है, जिस प्रकार पुनः-पुनः वर्णमाला-लिखन-चेष्टा का संस्कार संचित होकर लिखनशक्ति को उत्पन्न करता है, अर्थात् उसमें हस्तशक्ति लेखनरूप अधिक गुणविशिष्ट होकर परिणत होता है। कर्म-जनित इस करणशक्ति का परिणाम सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक-भेद से तीन प्रकार का है। सात्त्विक-परिणामकारी चेष्टा का नाम सात्त्विक कर्म है, राजसिक और तामसिक कर्म भी अपने अनुरूप परिणाम के जनक हैं।

४५. बाह्यकरण-समूहों के नियन्तृत्व-हेतु अन्तःकरण बाह्यकरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। बाह्यकरणों में ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय की अपेक्षा तथा कर्मेन्द्रिय प्राण की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

जिस जाति में श्रेष्ठ करणों का जितना अधिक विकास है, वह जाति उतनी ही उत्कृष्ट है। उत्कृष्ट जाति में उत्कृष्ट शक्ति का संयोग होता है, अतः वह संयोग जीव का अत्यधिक उत्कृष्ट, सुखकर और अभीष्ट है।

४६. प्रत्येक जाति में करणशक्ति के विकास की एक सीमा है। अतः सभी शक्तियाँ सुख-साधन में प्रयुक्त होकर निर्दिष्ट परिमाण में सुखोत्पादन कर सकती हैं। अतः यदि निर्दिष्ट परिमाण के अतिरिक्त सुख इष्ट हो, तो उपयोगी करणशक्ति की अत्यधिक चेष्टा होने पर भी (या कर्म के द्वारा) इष्टप्राप्ति की साक्षात् संभावना नहीं होती। गुण-समूहों का अभिभाव्य-अभिभावकत्वस्वभाव हेतु किसी एक गुणीय कर्म के अत्यधिक आचरण होने पर उस गुण का अभिभव होकर साक्षात् फल प्रदान नहीं करता है। इसलिए किसी विषय की अधिक और अयुक्त आकाङ्क्षा या लौल्य करने पर उसकी प्राप्ति संघटित नहीं होती। 'आकाङ्क्षा करने' का अर्थ है—केवल इष्टप्राप्ति की कल्पना करना मात्र। कल्पना में इष्टप्राप्ति या सात्त्विकता का या ईश्वरता का अतिभोग होने पर वास्तविक (बाह्य) इष्ट-

प्राप्ति के समय उपयोगी सात्त्विकता का अभिभव होकर प्राप्ति नहीं होती है। प्रचलित प्रवाद है कि अभीष्ट विषय के लिए अत्यधिक कल्पना नहीं करनी चाहिए। सात्त्विकता का लक्षण है **"इष्टानिष्टवियोगानां कृतानाम-विकत्थना"** (महाभारत) अर्थात् इष्ट-विषय की या अनिष्ट-विषय की या वियुक्त और पूर्वकृत विषय की अविकत्थना अर्थात् सभी विषयों की अत्यधिक चिन्ता का अभाव। इस प्रकार अतिचिन्ता राजसिक है और वह इष्ट-प्राप्ति की विघ्नकारी है।

हमलोगों का जीवन प्रधानतः आकाङ्क्षा-बहुल है। उस आकाङ्क्षा को दमन करने पर उस संयम के द्वारा शक्ति संचित होकर आकाङ्क्षासिद्धि कराता है। जैसे कूदने के लिए पीछे की ओर हटकर वेग का संचय करना पड़ता है, यह नियम भी उसी प्रकार समझना चाहिए। इसलिए हमलोगों के प्रवृत्ति-बहुल जीवन में संयम (दानादि भी एक-प्रकार के संयम हैं) कामना-सिद्धिकर या सुखकर है।

४७. प्रकाश और सत्ता के अनुगत कर्म सात्त्विक कर्म हैं। अतः जिस युक्त-कल्पनावती इच्छा की प्राप्ति सुसंघटित होती है या जो इच्छा फलवती हो, वह सात्त्विक है; उसी प्रकार जो विवेचना यथार्थ हो, वह भी सात्त्विक है। 'प्रकाश के अनुगत' का अर्थ है—यथार्थ-ज्ञानपूर्वक; 'सत्ता के अनुगत' का अर्थ है—इष्टप्राप्ति के लिए उपयुक्त। सभी चेष्टा के विषय में यही नियम है। जो इच्छा कल्पना-बहुल है एवं स्वल्पप्राप्तिकारी है, वह राजसिक है। जो इच्छा अयुक्त-कल्पनावती है, अतः सफल नहीं होती है, वह तामसिक है। विवेचनादि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिये।

४८. सुख और दुःख तीन प्रकार के हैं—(१) सद्व्यवसायजात, (२) अनुव्यवसायजात, (३) रुद्धव्यवसायजात। जो सुख या दुःख प्रत्यक्ष और शारीर-अनुभव-सहगत है, वह सद्व्यवसायजात है। जो अतीतानागत विषयों का चिन्ता-सहगत है (शङ्का-आशादिजनित है) वह आनुव्यवसायिक है। और जो निद्रादि रुद्धावस्था के अनुगत एवं अस्फुट भाव से अनुभूत होता है, वह रुद्धव्यवसायिक है, जैसे सात्त्विक निद्राजात सुख। सात्त्विक-संस्कार-जात स्वच्छन्दतादि भी रुद्धव्यवसायिक सुख हैं। वस्तुतः समस्त बोध ही सुखकर अथवा दुःखकर अथवा मोहकर (मोह कभी-कभी दुःख के अन्तर्गत माना जाता है) होते हैं।

४९. सद्व्यवसायिक सुख जो शारीर और ऐन्द्रियिक बोधसहगत है, वह उपयोगी करणों की सात्त्विक क्रिया से होता है। सत्त्वगुण प्रकाशाधिक

है, अतः जिस शारीर-आदि क्रिया का फल अति-स्फुटबोध है, साथ ही जो स्वल्पक्रियासाध्य और स्वल्पजड़ता-सम्पन्न है, वही सात्त्विक शारीरादि कर्म होगा। सुखकर घटना का पर्यालोचनपूर्वक देखने से जान पड़ता है कि उक्त लक्षणयुक्त कर्म से ही हमलोगों को सुख मिलता है। सभी जानते हैं कि सहज क्रिया से (अर्थात् जो क्रिया करने से हमलोगों को अधिक शक्तिचालना नहीं करनी पड़ती है, उससे) ही सुख होता है। जिस व्यापार में क्रिया अधिक है अर्थात् जिसमें जड़ता का अत्यधिक अभिभव करना पड़ता है, तादृश राजस (अथवा जाड्य और प्रकाश की अल्पता से युक्त) करणकार्य के बोध से दुःख होता है। और जिस क्रिया में जाड्य का आधिक्य है, प्रकाश और क्रिया की स्वल्पता है, वैसे तामस करण-कार्य के बोध से मोह होता है।

व्यायाम जबतक सहजतः किया जाता है तब तक सुखबोध होता है, बाद में क्रिया के आधिक्य से कष्टबोध होता है और उससे निवृत्त होने पर ही सुख होता है। अत्यधिक क्रिया करने पर जो जड़ता का आविर्भाव होता है, वह मोह है।

५०. जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न तथा निद्रा क्रमशः आवर्तित होती हैं, उसी प्रकार सत्त्व, रजः तथा तमः गुणों की वृत्तियाँ भी प्रतिनियत क्रम से आती जाती हैं। अर्थात् नियत रूप से सात्त्विकता, उसके बाद राजसिकता, उसके बाद तामसिकता उसके बाद पुनश्च राजसिकता और सात्त्विकता इत्यादि-क्रम से आवर्त्तन हो रहा है। इसलिए किसी समय चित्त में प्रसादादि, किसी समय विक्षेपादि आते हैं। कहा भी जाता है—"**चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।**" स्वात्त्विक कर्म के अधिक आचरण से सात्त्विकता का भोगकाल बढ़ाकर अधिकतर सुखलाभ किया जा सकता है। राजस और तामस कर्म के भी उसी प्रकार नियम है। केवल सद्व्यवसायिक नहीं, अनुव्यवसायिक और रुद्धव्यवसायिक सुख-दुःख में भी ऊपर कहे गये नियम प्रयोज्य हैं। सात्त्विकादि की वृद्धि नियमित चेष्टा के द्वारा करनी पड़ती है, एक-बारगी वह साध्य नहीं हाती।

५१. दृष्टजन्म-वेदनीय क्रियमाण कर्म से सर्वदा ही शरीरेन्द्रियों के क्रियाजनित सुख-दुःख होते हैं। पूर्वार्जित कर्म से भी तादृश सुख-दुःख होते हैं; मगर पूर्वसंस्कार से प्रायशः गौण उपाय से सुख-दुःख होते हैं। अर्थात् पूर्व संस्कार से ऐश्वर्य (जिस शक्ति के द्वारा इच्छा की प्राप्ति संघटित होती है, वह) या अनैश्वर्य प्रारब्ध (या उदित) होकर संस्कारमूलक क्रियमाण कर्म से सुख-दुःख संघटित कराता है।

५२. किसी घटना से यदि किसी को सुख-वेदना होती हो तभी उससे कर्मफल का भोग हुआ कहा जायेगा। किसी बाह्य घटना में यदि सुख-दुःख-वेदना न होता हो तो उसमें कर्मफल का भोग नहीं होता है। मान लो किसी को किसी ने गाली दी; उसमें कोई यदि निर्विकार रह गया तो उसका कर्मफल-भोग नहीं हुआ। गाली देनेवाले का कुकर्म मात्र आचरित हुआ। लोग ईश्वर को भी कभी-कभी गाली देते हैं; वह ईश्वर के कुकर्म का फल नहीं हैं, बल्कि उस व्यक्ति का ही कुकर्म मात्र है। सुख-दुःख के अतीत हो सकने पर इस प्रकार कर्मक्षय या कर्मफल का भोगाभाव होता है। जाति एवं आयु के फल का भी इसी प्रकार अतिक्रम किया जाता है। समाधि के द्वारा शरीरेन्द्रिय सम्यक् निश्चल कर सकने पर पुनः जन्म नहीं होता है, क्योंकि सम्यक् निश्चलप्राण व्यक्ति जन्मग्रहण नहीं कर सकता है। इस प्रकार जन्म एवं आयु-फल का भी अतिक्रम किया जा सकता है।

९. धर्माधर्म-कर्म

५३. कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण तथा अशुक्लाकृष्ण—इस प्रकार दुःख-सुख-फलानुसार कर्म के चार भेद किये गये हैं। कृष्ण कर्म का नाम पाप या अधर्म-कर्म है; शुक्लादि त्रिविध कर्म साधारणतया धर्म या पुण्यकर्म कहे गये हैं।

जिसका फल अधिक दुःख है, वह कृष्ण कर्म है। जिसका फल सुख-दुःख-मिश्रित है, उसका नाम शुक्ल-कृष्ण है; जैसे हिंसासाध्य यज्ञादि। जिसका फल अधिक परिमाण में सुख है, वह शुक्ल कर्म है। जिसका फल सुख-दुःख-शून्य शान्ति है, जो कि गुणाधिकार-विरोधी है, वही अशुक्ल-अकृष्ण कर्म है।

५४. "जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है," धर्म का यह लक्षण ग्राह्य है। इनमें जिस प्रकार के कर्म के द्वारा अभ्युदय या इह-परलोक में सुख-लाभ होता है, वह अपर-धर्म (शुक्ल वा शुक्ल-कृष्ण) है। एवं जिसके द्वारा निःश्रेयस की सिद्धि होती है, वह परमधर्म (अशुक्लाकृष्ण) है—**"अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्"** (याज्ञ० स्मृति १।८)।

५५. पञ्चपर्वा अविद्या (अविद्या, अस्मिता, या करण में आत्म-ख्याति, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) सर्वविध दुःखों का मूल कारण है (योगदर्शन द्रष्टव्य है), अतएव अविद्या के विरोधी कर्म दुःखनाशक या **धर्मकर्म** हैं एवं अविद्या के पोषक कर्म **अधर्मकर्म** हैं।

सभी धर्मसंप्रदायों के प्रशंसनीय धर्म-कर्म-समूहों का विश्लेषण करके देखने पर जान पड़ता है कि वे सभी इस मूल लक्षण के अन्तर्गत हैं। सभी धर्मों में निम्नोक्त प्रकार के कर्मों को धर्म-कर्म कहा जाता है; (१) ईश्वर या महात्माओं की उपासना, (२) परदुःखमोचन, (३) आत्मसंयम, (४) क्रोधादि का त्याग।

उपासना का फल चित्तस्थैर्य और सद्धर्मोत्पादन है। चित्तस्थैर्य=चञ्चलता या राजसिकता का नाशक=विषयग्रहणविरोधी=आत्मप्रकाशकारक—अनात्माभिमान का (अतः अविद्या का) विरोधी है। सद्धर्मोत्पादन=ईश्वर या महात्मा का सद्गुणों के आधार-स्वरूप में निरन्तर चिन्तन करने से चिन्तनकारी में भी सद्गुण या अविद्या-विरोधी गुण आता है। अतः उपासना धर्मोत्पादक कर्म हुआ। परदुःखमोचन=अविद्याजनित आत्मसुखान्धता का त्याग=(१) दान या धनगत ममता का त्याग, अतः यह अविद्याविरोधी है और (२) सेवा या श्रमदान, अतः यह अविद्याविरोधी है। दान से या सेवा से किस प्रकार सुख होता है, इसके लिए अनुच्छेद ४६ देखिए। आत्मसंयम विषय-व्यवहारविरोधी है, अतः अविद्याविरोधी है। क्रोधादि अविद्याङ्ग हैं, अतः तद्विरोधी क्षमा-अहिंसादि धर्मकर्म हुए।

इस प्रकार समस्त धर्म-कर्मों में ही 'अविद्या का विरोधित्व' रूप लक्षण पाया जाता है। भगवान् मनु ने मूल धर्मसमूह की इस प्रकार गणना की है,—धृति, क्षमा, दम (वाक्, काय तथा मन के द्वारा हिंसा न करना प्रधान दम है), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध। ये धर्म जिनमें हैं वे धार्मिक हैं एवं उन धर्मों को जो लोग अपने में लाने की चेष्टा कर रहे हैं, वे धर्मचारी हैं। धार्मिक वर्त्तमान में सुखी होते हैं, लेकिन धर्मचारी सभी जगह वर्त्तमान में सुखी नहीं होते हैं। ईश्वर की उपासना साक्षात् धर्म नहीं है, पर वह धर्म-समूह को आत्मस्थ करने का प्रकृष्ट उपाय है; इसीलिए मनु ने उसकी गणना नहीं की है। अथवा विद्या के भीतर वह उक्त हुआ है। यम, नियम, दया, दान ये भी धर्म के लक्षण कहे गये हैं (आचार्य गौड़पाद के द्वारा)। (द्र० सांख्यकारिका २३ भाष्य)।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, दया और दान–ये बारह प्रकार के धर्म-कर्म हैं जिनके आचरण से इह-परलोक में सुखी हुआ जा सकता है—यह सुस्पष्ट है। इसलिए वे सभी धर्म हैं, एवं उसके विपरीत कर्म दुःखद होने के कारण अधर्म हैं, इनके द्वारा अविद्या परिपुष्ट होती है। हिंसा, क्रोध, विषयचिन्ता इत्यादि प्रत्येक दुःखद कर्म ही उस लक्षण से युक्त है।

५६. तप, ध्यान, अहिंसा, मैत्री आदि जो सब धर्म बाह्योपकरण-निरपेक्ष हैं या जिनमें दूसरों के अपकारादि की अपेक्षा नहीं है वे शुक्ल कर्म हैं; उनका फल अविमिश्र सुख है। और यज्ञादि जिन कर्मों में परापकार अवश्यंभावी है, उनमें दुःख-फल भी मिश्रित रहता है। यज्ञादि में जो संयम-दानादि अङ्ग रहते हैं उनसे धर्म होता है।

शास्त्र में साधारण कर्म की असाधारण फलश्रुति मिलती है (जैसे गङ्गा में नहाने का फल है "त्रिकोटिकुलमुद्धरेत्")। ऐसा फल कारण-कार्य-घटित नहीं हो सकता है, इसीलिए कोई-कोई ईश्वर को कर्मफलदाता स्वीकार करते हैं। किन्तु इस प्रकार की फलश्रुति को अर्थवाद मात्र के रूप में विज्ञगण ग्रहण करते हैं, क्योंकि, उसको ठीक-ठीक ग्रहण करने पर सभी शास्त्र व्यर्थ होते हैं। जैसे तीर्थ-विशेष में स्थान करने से पुनर्जन्म नहीं होता है, यह यदि अर्थवाद न माना जाये, तो औपनिषद धर्म व्यर्थ होता है। इसलिए इस प्रकार की फलश्रुति का उदाहरण लेकर ईश्वर का स्वरूप-निर्णय या कोई तत्त्व-विचार नहीं किया जा सकता। (वैदिक कर्मकाण्ड की फलश्रुति के सम्बन्ध में गीता का अभिमत २।४२—४६ श्लोकों में द्रष्टव्य है)।

५७. संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग एवं उनके साधक कर्म-समूह अशुक्ल-अकृष्ण हैं। उनके द्वारा सर्वापेक्षा श्रेष्ठ फल शाश्वती शान्ति का लाभ होने के कारण उनका नाम परम धर्म या कर्म की निवृत्ति है।

शुक्लादि त्रिविध कर्मों का संस्कार करण-वर्गों का परिस्पन्दन-कारक है, और अशुक्ल-अकृष्ण कर्मों का संस्कार चित्तेन्द्रियों का निवृत्ति-कारक है। मुमुक्षु योगीगणों के कर्म ही अशुक्ल-अकृष्ण हैं। योग दो प्रकार का है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। साधारणतया चित्त क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त-भूमिक है। किन्तु यदि प्रतिनियत (शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा, द्र० व्यासभाष्य २।३२) एक विषय का स्मरण अभ्यास किया जाये, तो उस चित्त का जो एक-विषय-प्रवणता-स्वभाव होता है, उसे एकाग्रभूमिका कहते हैं। विक्षिप्तादि भूमिका में अनुमान या साक्षात्कार करके जो तत्त्वज्ञान होता है, वह चित्त का विक्षेप-स्वभाव-हेतु सर्व-काल-स्थायी नहीं हो सकता है। जब ज्ञान उदित रहता है तब जीव ज्ञानी की तरह आचरण करता है, पीछे अज्ञानी के समान आचरण करता है। किन्तु एकाग्रभूमिक चित्त में जो तत्त्वज्ञान होता है, वह सर्वकालस्थायी होता है; क्योंकि उस समय चित्त का ऐसा स्वभाव होता है कि वह जिसे पकड़ेगा उसी में अहोरात्र

निरन्तर रह सकेगा। इस प्रकार की ध्रुव-स्मृति से युक्त चित्त के तत्त्वज्ञान का नाम **संप्रज्ञात योग** है। यही क्लेश-मूलक कर्म-संस्कार-नाशकारी प्रज्ञा या 'ज्ञान' है (**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'** गीता ४।३७)। किस प्रकार यह ज्ञान अनादिकर्मसंस्कार का नाश करता है—इसे कहा जा रहा है। मान लो, किसी में क्रोध का संस्कार है। साधारण अवस्था में क्रोध को हेय समझने पर भी, उसमें संस्कार-वश कभी-कभी क्रोध का उदय होता है; किन्तु एकाग्र-भूमिका में यदि क्रोध को हेय समझ कर कोई अक्रोध भाव को उपादेय समझते हैं, तो अक्रोधभाव उसके चित्त में सदैव रहेगा, अथवा क्रोध का हेतु आने पर अक्रोधभाव तत्क्षण स्मरणारूढ़ होकर क्रोध को नहीं आने देगा। अतः क्रोध यदि कभी भी न उठ सके, तो कहना पड़ेगा कि प्रज्ञा या 'ज्ञान' के द्वारा क्रोधसंस्कार का क्षय हुआ। इसी प्रकार समस्त दुष्ट और अनिष्ट कर्मसंस्कार संप्रज्ञात योग के द्वारा नष्ट होते हैं। सभी प्रकार के संप्रज्ञात संस्कार के भी विवेक-ख्याति के द्वारा नष्ट होने पर निरोध-समाधि जब निरन्तर चित्त में उदित रहती है, तब वह अवस्था निरोधभूमिका या **असंप्रज्ञात योग** कहलाती है। इसके द्वारा चित्त प्रलीन होने पर यह अवस्था कैवल्यमुक्ति कही जाती है।

चित्त जब परवैराग्य के द्वारा सम्यक् निरुद्ध या प्रत्ययहीन होता है, तब उसे निरोधसमाधि कहते हैं। एकबार निरोध होने पर ही वह सर्वकाल के लिए रहेगा—ऐसी बात नहीं है। निरोध का भी संस्कार संचित होकर बाद में वह सदास्थायी या निरोधभूमिका होती है। संप्रज्ञात-सिद्धगण यदि एकबार निरोध के द्वारा प्रकृत आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर सकें तो उनको जीवन्मुक्त कहा जाता है। **"यस्मिन् काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्। तस्मात् कालात् समारभ्य जीवन्मुक्तो भवत्यसौ॥"**[1] पीछे निरोध-भूमिका आयत्त होकर उन लोगों का विदेह-कैवल्य होता है। जब चित्तनिरोध सम्यक् आयत्त होता है, तब संचित कर्मवासना की तरह क्रियमाण कर्म का संस्कार भी बाद में फलवान् नहीं हो सकता है। जिस प्रकार चक्र घुमा देने पर वह कुछ-देर तक अपने वेग में घूमता है, उसी प्रकार जिन कर्मों का फल आरब्ध हुआ है, वे क्रमशः क्षीयमाण होकर समाप्त हो जाते हैं। इसे

१. यह वराह उपनिषद् २।४२ है। वाक्यसुधा (३) की ब्रह्मानन्दकृत टीका में यह वाक्य उद्धृत है ('भवेत् सदा' पाठ है)। श्वेताश्वतर उपनिषद् के शांकरभाष्य (१।११) में यह श्लोक 'तथा च ब्राह्मे पुराणे जीवन्मुक्ति गत्यभावं च दर्शयति' कहकर उद्धृत हुआ है। प्रचलित ब्रह्मपुराण में यह श्लोक नहीं है। **[सम्पादक]**

'भोग के द्वारा कर्मक्षय' कहा जाता है। एकाग्रभूमिक और निरोधानुभवकारी योगियों को ही ऐसा होता है, साधारण मानवों को नहीं होता है।

एकाग्रभूमिक चित्त होने पर ही संप्रज्ञात योग होता है, अन्यथा नहीं होता। एकाग्रभूमि में तत्त्वज्ञान सर्वदा उदित रहता है। ऐसे योगी में कभी भी आत्मविस्मृतिरूप अज्ञान नहीं होता, अतः निद्रारूप महती आत्मविस्मृति के ऊपर वे रहते हैं। स्वप्न भी आत्मविस्मृत अवश चिन्ता है, वह भी उनको नहीं होता है। देह-धारण करने पर थोड़ी देर शरीर को विश्राम चाहिए। एकाग्रभूमिक योगीगण एकतान आत्मस्मृतिरूप स्वप्न (जिस विषय का संस्कार प्रबल है, उसीका ही स्वप्न होता है) को स्थिर रखकर देह को विश्राम देते हैं (बुद्धदेव इस भाव में एक घण्टा पर्यन्त रह सकते थे—ऐसा कहा जाता है) एवं इच्छा करने से विनिद्रित अवस्था में बहुत दिनों तक निरोधसमाधि में भी रह सकते हैं।

उपर्युक्त कुछ साधारणतम नियमों के द्वारा कर्मतत्त्व उद्दिष्ट हुआ है। स्थानाभाव से विस्तृत विचार और प्रमाणादि का उद्धरण दिये नहीं गये। केवल कर्म के द्वारा किस प्रकार मानव-जीवन की घटनाएँ संघटित होती हैं, यह इन नियमों का प्रयोग करके स्थूल रूप में समझा जा सकता है। विशेष ज्ञान के लिए योगज प्रज्ञा की आवश्यकता है।

१०. स्वाभाविक और नैमित्तिक कर्मफल

५८. जीव क्यों कर्म करता है और किस प्रकार वह कर्म फलीभूत होता है—इस पर थोड़ा विस्तृतरूप में कुछ कहना आवश्यक है।

कर्म के फल दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और नैमित्तिक। करणकार्य ही कर्म है, उसके फलस्वरूप जाति, आयु तथा भोग होते हैं। वह करणकार्य प्राणी क्यों करता है एवं वह क्यों होता है? उत्तर—ऐसा किया जाता है और होता है आध्यात्मिक एवं बाह्य कारणों के द्वारा। हिताहित विवेचनापूर्वक एवं स्वगत (करणगत) संस्कार से जो प्रवर्तन-निवर्तन होते हैं तथा जो देहधारणरूप कर्म हैं, वे स्वाभाविक कर्म है एवं उनका फल स्वाभाविक कर्मफल है। अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य घटना एवं पारिपार्श्विक अवस्था से प्राणी के जो कर्म होते हैं एवं उसके परिणाम में सुख-दुःखादि जो फल होते हैं उनको हमलोग बाह्य निमित्त के फल मानते हैं, अतः वे नैमित्तिक कर्मफल हैं। प्रायः सभी कर्मों के मूल में स्वाभाविक और नैमित्तिक कारण रहते हैं।

ऊपर कहे गये नियमों को उदाहरण देकर समझाया जा रहा है। जैसे, किसी व्यक्ति को क्रोध हुआ; पूर्व-संस्कार से मन के भीतर क्रुद्धभाव उदित

होना स्वाभाविक कर्मफल है। उससे उस व्यक्ति ने दूसरे का अनिष्ट किया—यह भी स्वाभाविक कर्मफल है, किन्तु उसके अनिष्ट करने के कारण दूसरे ने जो उसे गाली दिया या मारा—यह नैमित्तिक कर्मफल है। नैमित्तिक फल बाह्य होने के कारण वह कर्म का साक्षात् फल नहीं है एवं वह अनियमित है। सामाजिक नियम के कारण भी उस प्रकार का नैमित्तिक फल होता है। सामाजिक नियम विभिन्न देशों में और विभिन्न कालों में नाना प्रकार के होते हैं; जैसे, चोरी करने पर देश-काल-भेद के अनुसार जेल होना, हाथ-काटना प्रभृति विभिन्न प्रकार की सजा का विधान देखा जाता है, अतः इस प्रकार का कर्मफल अनियमित है—यह कर्म का स्वाभाविक फल नहीं है। क्रोध-वश किसी व्यक्ति का अनिष्ट करने पर वह लाठी भी मार सकता है, गाली भी दे सकता है, अस्त्रद्वारा हनन भी कर सकता है, क्षमा भी कर सकता है। अतः यह स्वगत कर्म-संस्कार का स्वाभाविक फल नहीं है, किन्तु बाह्य-संभव अनियमित फल है। कर्मवाद में प्रधानतः स्वाभाविक फल ही विचार्य होता है। उस स्वाभाविक फल का मूल कर्म-संस्कार या अदृष्ट एवं शरीरेन्द्रियों की दृष्ट क्रिया है। संस्कार से प्रत्यय उठता है, यह देखा जाता है। और, वह प्रत्यय सुखद, दुःखद या सुख-दुःख का गौण हेतु होकर रहता है—यह भी जान पड़ता है। दृष्टकर्म भी उसी प्रकार उसी क्षण फल देता है अथवा संस्कारभूत होकर बाद में सुखादिप्रद फल देता है। स्वगत संस्कार और देहेन्द्रियादि की क्रिया स्वतः अथवा बाह्यकारण से उद्बुद्ध और फलोन्मुख होती है। उससे प्राणी की जाति, आयु तथा सुख-दुःख संघटित होते हैं। बाह्यकारण से शरीरेन्द्रियों की क्रिया का उद्बुद्ध और उन्मुख होना अनियमित है, उस पर प्राणियों का कर्त्तृत्व न भी रह सकता है, जैसे आँधी, भूकम्प, अनावृष्टि इत्यादि में देखा जाता है। झंझा या वायु की प्रबलता से आघातादिरूप शारीरिक कर्म उत्पन्न होकर हमलोगों को दुःख प्रदान करते हैं।

कहा जाता है, काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा तथा (आजीवकों की) संगति इन्हीं से सब कुछ संघटित होते हैं। इसमें आंशिक सत्य है। इनमें 'काल' का अर्थ है—परिणाम की संख्या; यह प्रकृत कारण नहीं है, क्योंकि परिणामरूप कर्म किससे होता है, यही विचार्य है। स्वभाव से जो कर्म होता है (जिसका फल 'स्वाभाविक' है) वह अवश्य ही सत्य है। विश्वकारण का अन्यतम मूल स्वभाव रज या क्रियाशीलता है; प्राणीगत उस क्रिया का विश्लेषण करके दिखलाना ही कर्मतत्त्व है। 'नियति' का अर्थ वे सभी अन्तर्गत हेतु हैं जिनके वशीभूत होकर हमलोगों को कर्म करना पड़ता है अर्थात् प्रबल संस्कार। 'यदृच्छा' का अर्थ है—कर्म करने के

अथवा कर्म होने के कुछेक बाह्य हेतुओं का स्व-स्व मार्ग में समावेश (chance या fortuitous assemblage of causes)। सङ्गति का अर्थ भी वही है। इनमें स्वभाव और नियति को छोड़कर यदृच्छा या सङ्गतिरूप आधिदैविक और आधिभौतिक (बाह्य) निमित्त से शरीरेन्द्रियों में जो कर्म होता रहता है उसका जो फल है, वह नैमित्तिक कर्मफल है। नियति और सङ्गति कर्मतत्त्व के 'अदृष्ट' जातीय कारण के अन्तर्गत हैं (क्योंकि वे 'दृष्ट' कर्म के द्वारा संघटित नहीं होते हैं)।

५९. कारण-कार्य-नियम से शरीर के कर्म से जो जाति, आयु तथा भोग संघटित होते हैं, वे वास्तविक व सुस्पष्ट कर्मफल हैं। और बाह्यकारण से शरीरेन्द्रियों की क्रिया होकर उस क्रिया का जो फल होता है, यह एक सुस्पष्ट प्रमाणित सत्य है। किसी-किसी क्षेत्र में बाह्यकारण हमलोगों के कर्मरूप निमित्त से हमलोगों के देहेन्द्रियों पर क्रिया करके फल देता है—यह भी एक सत्य नियम है। किन्तु सभी बाह्य घटनाएँ जो हमलोगों को फल देती हैं वे हमारे कर्मरूप निमित्त से ही संघटित होती हैं एवं फल देने के लिए ही वे संघटित होती हैं—ऐसा मानना कर्मवाद का अपव्यवहार है। इसका कोई दार्शनिक मूल नहीं है। कर्मवाद समझने के लिए इस मत को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

यह जो कर्म का 'फल' शब्द है, उसको गम्भीरता से न समझने पर भ्रम होता है। वृक्ष का फल जिस प्रकार स्वगत शक्ति से होता है, उसी प्रकार अदृष्ट या शक्तिरूप संस्कार से जो संघटित होता है वही कर्मतत्त्व का विपाक नामक परिभाषित फल है। 'फल' का अर्थ (१) हेतु या निमित्त होता है और (२) स्वगत शक्ति से किसी का विकास—ऐसा अर्थ भी होता है, जैसे वृक्ष का फल, अदृष्ट संस्कार की जाति, आयु और भोगरूप फल।

एक आम्रवृक्ष के मूल में पानी देने पर उसके 'फल' से आम का पेड़ 'फलता' है। मूल में पानी देना रूप हेतु से (प्रथम 'फल' शब्द का अर्थ है) आम्रवृक्ष की स्वगत शक्ति से आम फलीभूत होता है। यह शेषोक्त 'फलना' ही कर्म का फलीभाव है।

६०. कर्म का नैमित्तिक फल क्यों अनियमित है—यह विश्लेषण करके दिखाया जा रहा है। सुख-दुःखादि फल भोग करता है 'मैं'; इस 'मैं' का एक अंश देहात्मबोध-मूलक शरीर है, अन्य अंश आभ्यन्तरिक अन्तःकरण है। 'मैं दुबला हूँ, मोटा हूँ' ऐसा भी कहा जाता है; 'मैं राग-द्वेषयुक्त हूँ', 'शान्त-अशान्त हूँ' ऐसा भी बोध होता है एवं कहा जाता है।

शरीर का निर्माण करता है—यथायोग्य संस्कारयुक्त अन्तःकरण, किन्तु उसका उपादान बाह्य वस्तु पञ्चभूत है। इस कारण से अधिष्ठाता मन जिस प्रकार शरीर पर कर्त्तृत्व करके उसे थोड़ा-बहुत परिवर्तित कर सकता है, उसी प्रकार शरीर भूत-निर्मित होने के कारण बाह्य भौतिक पदार्थ-समूह भी उस पर क्रिया करके परिणत करने में समर्थ होते हैं, एवं देहात्मबोध के फलस्वरूप यह बाह्योद्भूत क्रिया भी देह के अधिष्ठाता अन्तःकरण को तदनुरूप सक्रिय करती है। संस्कारगत आचरण के या चरित्र के द्वारा यह संपूर्ण नियमित नहीं है, इसलिए इस नैमित्तिक फल को अनियमित कहा जाता है।

यहाँ पर 'अनियमित' शब्द का अर्थ है—कर्मसंस्कार की ओर से अनियमित, अर्थात् यह स्वगत संस्कार का सम्यक् अभिव्यक्ति-रूप फल नहीं है; किन्तु जिस बाह्य क्रिया से वह संघटित होता है वह यथायथ कारणकार्य नियम से ही होता रहता है। पानी से मिट्टी धुल जाने के कारण पहाड़ का एक पत्थर अलग होकर खसक कर गिर पड़ा, यह यथायथ नियम से या कारण से संघटित हुआ। किन्तु एक व्यक्ति ठीक उसी समय उस पत्थर के नीचे जाने के कारण वह दब गया—यह फल-भोग कर्म-संस्कार की ओर से अनियमित है। उस आघात के फलस्वरूप सम्भवतः उसे आजीवन शय्यागत रहना हो सकता है एवं क्रमशः उसके चरित्र का भी परिवर्त्तन हो सकता है। दीर्घकालस्थायी दुरारोग्य व्याधि में भी ऐसा होना संभव है। इस प्रकार के बाह्य कारण से जो फल होता है वह अनियमित है।

रोगादि-जनित भोग भी उसी कारण से प्रायेण अनियमित है। स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने के कारण शरीर में जो उद्भूत होता है वह कर्म का स्वाभाविक फल है; किन्तु ऐसे कई रोग हैं जो साक्षात्-रूप से अपने से बहिर्भूत बाह्य कारण से होते हैं। धर्मिष्ठ लोगों के शरीर में भी इस प्रकार नाना प्रकार की व्याधियों की सृष्टि हो सकती है। शरीर स्वभावतः जराव्याधि-प्रवण है एवं शरीर-धारण अस्मितावलेश का फल है; अहिंसा-सत्यादि पालन करने पर भी कोई भी शरीरी रोग से संपूर्ण निष्कृति नहीं पा सकता है, यद्यपि सात्त्विक मनोबलयुक्त धर्मिष्ठ व्यक्ति साधारण जनों की तरह विचलित नहीं होंगे।

बाह्य कारण से उत्पीड़ित न होने के लिए विचार-पूर्वक जो चेष्टा की जाती है वह भी सतर्कतारूप एक प्रकार का कर्म है; उस कर्म से बाह्य नैमित्तिक फल थोड़ा-बहुत नियमित हो सकता है। हमलोग सर्वदा ही थोड़ा-बहुत वैसा किया करते हैं।

६१. प्रसंगतः यहाँ कर्म के फलत्याग और फलदान-संबन्ध में कुछ कहा जा रहा है। पहले ही समझाया जा चुका है कि दो तरह के कारण से कर्म फलीभूत हो सकता है—बाह्य और आन्तर। कोई अर्थोपार्जन-रूप कर्म के फलस्वरूप बहुत लोगों पर प्रभुत्व कर सकता है अथवा भोग के लिए पण्य-द्रव्य क्रय आदि कर सकता है। इस प्रकार का जो बाह्य फल है उसका त्याग करना अथवा दान करना संभव है अर्थात् लोगों से सेवा, पण्य-द्रव्य इत्यादि न लेकर भी अर्थ दिया जा सकता है। किन्तु कर्म का जो आन्तर फल है, जैसे—अर्थदान के फलस्वरूप प्रभुत्व करने का और भोग की लिप्सा का क्षय, चित्त की उदारता, विशुद्धिता इत्यादि, इन सबों का त्याग या दान संभव नहीं है—अधिक दान के कारण ये बढ़ते ही रहेंगे। पाप-कर्म के फल का त्याग या दान नहीं किया जा सकता, यह सभी समझते हैं, किन्तु कई लोग यह सोचते हैं कि पुण्य कर्म का फल अनुग्रह करके दूसरे को दिया जा सकता है। यह केवल पुण्य के बाह्य फल के संबन्ध में ही संभव हो सकता है। पाप के भी बाह्य फल (सामाजिक और राष्ट्रीय शासन आदि) से निष्कृति पाना या उसे धोखा देना संभव है, यह भी अनियमित है।

समुद्र में तरङ्ग किसी के कर्म के फल से नहीं होता है, किन्तु समुद्र-पथ का यात्री होना या न-होना जैसे अपना कर्म है, वैसे ही बाह्य-कारणोद्भूत नैमित्तिक फल किसी के कर्म के द्वारा नियमित न होने पर भी देहधारण कर इस प्रकार के 'अनियत' जगत् में आना या न-आना हमलोगों के स्वकीय कर्म के ऊपर निर्भर करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थात् बाह्य और आन्तर सभी भोग साक्षात् भाव में अथवा गौण भाव में अपने ही कर्मों के फल हैं एवं उनसे चिरनिष्कृतिलाभ भी स्वकर्म का ही फल है; अति-प्रबल पुरुषकार-पूर्वक आध्यात्मिक साधन ही वह कर्म है।

११. कर्मफल में नियमों का प्रयोग

६२. पूर्वोक्त नियम-समूहों के प्रयोग के विषय में और भी बहुत कुछ ज्ञातव्य है। साधारणतया बहुत लोग सोचते हैं कि 'जिस प्रकार के कर्म हैं ठीक उसी प्रकार के फल होते हैं' अर्थात् प्राणनाश, चोरी आदि करने पर कर्मकर्ता का प्राणनाश, द्रव्यचोरी इत्यादि फल संघटित होते हैं। यह कर्म के स्वाभाविक नियम का फल नहीं है। धर्म और अधर्म कर्म में से प्रत्येक के आचरण और फल के संबन्ध में विचार कर देखने पर यह बोधगम्य होगा। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय,

ईश्वर-प्रणिधान, दया तथा दान—ये बारह प्रकार के कर्म धर्मकर्म हैं। उनके विपरीत कर्म अधर्म-कर्म हैं; वे यथा—हिंसा, मिथ्या, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अशुचिता, असंतोष, अतपस्या, अस्वाध्याय, अनीश्वरगुणों की भावना, निर्दयता तथा कृपणता। अब प्रत्येक के आचरण और फल क्या हैं—यह देखना चाहिए। अहिंसा और हिंसा इनमें प्रधान हैं। 'अहिंसा' का अर्थ है–किसी प्राणी को पीड़ा न देना। दूसरों को पीड़ा न देना कोई कर्म नहीं है किन्तु कर्म-विशेष न करना है। इस 'न करने' के मूल में जो भाव रहता है उससे फल होता है। अहिंसा के मूल में क्या रहता है? रहते हैं—अक्रोध, अलोभ तथा अमोह अर्थात् मैत्री, समवेदना, आत्मसंयम आदि उन्नत ज्ञान के कार्य; इन सबों का फल ही अहिंसा का फल है। मैत्री-आदि के आचरण से अहिंसक के भीतर उन सब सद्‌गुणों का संस्कार उद्‌भूत होता है और उससे दूसरों के मैत्र्यादि उसके प्रति उद्‌बुद्ध होते हैं और वह शुभफल पाता है।

६३. निहत, हिंसित, अपकृत आदि होने के लिए ठीक अनुरूप पूर्व कर्म ही एकमात्र कारण है—ऐसा नहीं। कबूतर बाज-पक्षी के द्वारा निहत होता है; यहाँ पर कबूतर ने पूर्वजन्म में हनन किया था—ऐसा नहीं; उसकी दुर्बलता और आत्मरक्षा की असामर्थ्य ही उसका प्रधान कारण है। किसी के मकान में डकैती होने पर 'उसने पूर्वजन्म में डकैती की थी'—ऐसा नहीं; यहाँ अर्थ-संचय, आत्मरक्षा की असामर्थ्य प्रभृति ही इसके कारण हैं। चोरी भी अनेक स्थलों में असावधानता से घटित होती है, पूर्व चोरी के फलस्वरूप नहीं। अनेक 'भले आदमी' जो अपने पक्ष का अच्छी तरह समर्थन नहीं कर पाते हैं, वे कई बार दूसरों के द्वारा अपमानित और असत्कृत होने पर कष्ट पाते हैं। उक्त असामर्थ्य ही इसका प्रधान कारण है। बुद्धदेव ने कहा है—"लज्जाहीन, काकशूर (गँवार), ध्वंसी (परगुणध्वंसी), प्रस्कन्धी (दुर्वृत्त) और प्रगल्भ व्यक्तिगण सुख से रहते हैं और ह्रीयुक्त, अनासक्त, ज्ञानी व्यक्तिगण दुःख से रहते हैं" (धर्मपद १८।१०-११)। यहाँ शङ्का हो सकती है कि पापीगण क्यों सुख से रहते हैं और पुण्यकारीगण दुःख में क्यों रहते हैं? इसे समझने के लिए कई बातें समझनी पड़ती हैं। धर्म कहने पर उसके साथ ज्ञान, ऐश्वर्य एवं वैराग्य भी समझने चाहिए। अधर्म कहने पर उसी प्रकार अज्ञान, अनैश्वर्य तथा अवैराग्य भी समझने चाहिए। धर्म=अहिंसादि बारह। ज्ञान=सत्य विषय का और सत्य-नियम का ज्ञान। ऐश्वर्य=जिससे इच्छा की सिद्धि होती है ऐसी उपयुक्त शक्ति। वैराग्य=अनासक्ति। इन सभी से जो सुख होता है, यह सहज-बोध्य है।

किन्तु समस्त व्यक्तियों में ये सभी नहीं रहते। चोर का शारीरिक बलरूप ऐश्वर्य और चौर्य विषय में सम्यक् ज्ञान रहते हैं। गृहस्थों की दुर्बलतारूप अनैश्वर्य और असावधानतारूप अज्ञान रहते हैं; इसीलिए चोर गृहस्थ को पराभूत कर सकता है। मन में हिंसा है; उसे जो हटाने की चेष्टा कर रहा है वह उस हिंसा का फलभोग करेगा; हिंसा का क्षय हो जाने पर तभी वह सुखी होगा।

धर्मचारी और धर्मस्थ यह दोनों पृथक् अवस्थाएँ हैं। जो धन उपार्जन कर रहा है वह एवं धनी, ये दो जिस प्रकार भिन्नावस्थाएँ हैं—पहला धन-जनित सुख में सुखी नहीं होता किन्तु द्वितीय सुखी होता है, इस प्रकार समझना चाहिए। ज्ञान-ऐश्वर्यादि सर्वतोमुखी हो सकते हैं। किन्तु सभी में सभी ओर वे सब उत्कृष्टरूप में नहीं रहते हैं। जिसका जिस ओर रहता है, वह उसी ओर फल-लाभ करता है। किसी का मानस-बल है, शारीर बल नहीं है; किसी का एक ओर किसी गुण और शक्ति का उत्कर्ष है तो अन्य ओर नहीं है। इसीलिए सभी सब ओर सुखी नहीं होते हैं।

६४. ऊपर कहा गया है कि कर्म के नैमित्तिक या बाह्य फल में धर्मचारीगण अनेक स्थलों पर दुःखी होते हैं एवं कोई-कोई अधार्मिक संभवतः सुखी होते हैं, तथापि "धर्म की जय होती है" यह जो प्रवाद प्रसिद्ध है, इसकी परीक्षा यहाँ की जा रही है। "धर्म की जय" का अर्थ है—आध्यात्मिक जय अर्थात् दुःख-मूलक अधर्म की या अविद्या की पराजय, यद्यपि बाह्य अनेक विषयों में (स्थूलदृष्टि से) पराजय है। धर्मचारी के लिए शत्रु-हनन करके राष्ट्रिक जय संभव नहीं है। वे पैतृक राज्य का लाभ करने पर भी दूसरे लोग उस पर अधिकार कर सकते हैं, किन्तु धर्मिष्ठ उसमें अविचलित ही रहेंगे, क्योंकि ऐश्वर्यलाभ करना या दूसरों पर प्रभुत्व करना उनके आदर्श का प्रतिकूल है, ऐश्वर्य-त्याग ही उनका अभीष्ट है। अतः साधारणों की दृष्टि से उस विषय में उनका पराजय होने पर भी वे वस्तुतः अजेय ही रहेंगे, क्योंकि 'जय' का अर्थ है—किसी की अभीष्ट वस्तु पर प्रभुत्व करना, जो यहाँ नहीं घट रहा है।

यथायोग्य ज्ञान, शक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा, निर्भयता इत्यादि धर्मों के साथ भोगलिप्सा, यशोलिप्सा, क्षुद्र अथवा व्यापक स्वार्थपरता (जैसे स्वजाति के लिए या स्वदेश के लिए) इत्यादि अधर्मों का मिश्रण रहने पर ही व्यावहारिक जगत् में जय-लाभ होता है एवं जागतिक भोगसुख भी सामयिक रूप से मिल सकता है, जैसे उपरोक्त काकशूर-गणों को होता है। विशुद्ध

शुक्ल-धर्म के द्वारा उस प्रकार की जय संभव नहीं है, किन्तु उसमें त्रिविध दुःख के मूल कारण पर जय-लाभ होता है, जिसका फल शाश्वतिक दुःख-निवृत्ति है, जो धार्मिक-अधार्मिक सभी का चरम अभीष्ट है। अतएव धर्म की ही यथार्थ में जय होती है।

[कर्मतत्त्व के विषय में विशद रूप से जानने के लिए 'कापिल मठ' द्वारा प्रकाशित 'कर्मतत्त्व' नामक बंगला ग्रन्थ द्रष्टव्य है]।

योगदर्शन की विषयसूची

आकरस्थलनिर्देश में जो प्रथम अङ्क हैं, वह पाद का सूचक है (योगदर्शन में चार पाद हैं—समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य)। द्वितीय अङ्क सूत्रसंख्या का (सूत्रीय भाष्य का भी) सूचक है तथा तृतीय अङ्क (जो कोष्ठक में है) टीका का सूचक है; जैसे—१।५ (३) का तात्पर्य है—प्रथम पाद के पञ्चम सूत्र अर्थात् सूत्रगत भाष्य की तृतीय टीका।

अ

अकुसीद ४।२९ (१)
अक्रम ३।५४
अक्लिष्टा १।५ (३)
अख्याति-वाद २।५ (२)
अङ्गमेजयत्व १।३१
अज्ञातवाद ३।१४ (१)
अज्ञेयवाद ३।१४ (१)
अणिमादि ३।४५
अतद्रूप-प्रतिष्ठ १।८ (१)
अतिप्रसङ्ग ४।२१ (१)
अतीतानागतज्ञान ३।१६ (१)
अतीतानागतव्यवहार ४।१२ (१)
अदर्शन २।२३ (३)
अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म २।१२ (२), २।१३
अधिकार १।१९ (४), १।५० (२) २।२७ (१)
अधिकारसमाप्तिहेतु ४।२८ (१)
अधिमात्रोपाय १।२२ (१)
अध्यात्मप्रसाद १।४७ (१)
अध्वभेद (धर्मों का) ४।१२ (१) (२)
अनन्त-समापत्ति २।४७ (१)
अनवस्थितत्व १।३० (१)
अनादिसंयोग २।२२ (१)
अनाभोग १।१५ (२)
अनाशय (सिद्धचित्त) ४।६ (१)
अनाहतनाद १।२८ (१), ३।१ (१)
अनित्य २।५
अनियतविपाक २।१३ (२)
अनिर्वचनीय-वाद २।५ (२), ३।१३ (६), ३।१४ (१)
अनिष्टप्रसङ्ग ३।५१
अनुगुणवासनाभिव्यक्ति ४।८
अनुमान १।७ (६), १।४९, १।२५,
अनुव्यवसाय १।७ (४), २।१८ (७)
अनुशासन १।१ (२)
अन्तःकरण धर्म १।२ (२), २।१८
अन्तराय १।३० (१)
अन्तरङ्ग (सम्प्रज्ञात का) ३।७ (१)
अन्तर्द्धान ३।२१ (१)
अन्यतानवच्छेद ३।५३
अन्वय (इन्द्रियरूप) ३।४७ (१)
अन्वय (भूतरूप) ३।४४ (२)
अपरान्तज्ञान ३।२२
अपरान्तनिर्ग्राह्य ४।३३ (१)
अपरिग्रह २।३० (५)
अपरिग्रह-प्रतिष्ठा २।३९ (१)
अपरिणामिनी चित् १।२ (७)
अपरिदृष्ट चित्तधर्म ३।१५ (२), ३।१८
अपवर्ग २।१८ (६) (७), २।२१ (२), २।२३ (१)

अपवाद २।१३ (२)
अपान ३।३९
अपुण्य २।१४ (१)
अपोह २।१८ (७)
अप्रतिसंक्रम १।२(७),२।२०(६),४।२२(१)
अप्-भूत २।१९ (२)
अभाव १।७ (१), ४।२१ (२)
अभाव-प्रत्यय १।१० (१)
अभावित-स्मर्तव्य १।११ (३)
अभिध्यान १।२३ (२)
अभिनिवेश (क्लेश) २।९ (१)
,, (चित्त-शक्ति) २।१८ (७)
अभिव्यक्ति ३।१४ (२)
अभिव्यक्ति (वासना की) ४।८ (१)
अभिभाव्य-अभिभावकत्व (गुणों का) २।१५ (१)
अभ्यास १।१२ (१),१।१३,१।१४,
अयुतसिद्धावयव ३।४४, ३।४७
अयोगियों का कर्म ४।७ (१)
अरिष्ट ३।२२
अर्थ १।४२, ३।१७ (१)
अर्थवत्त्व (इन्द्रियरूप) ३।४७ (१)
अर्थवत्त्व (भूतरूप) ३।४४ (२)
अर्थमात्रनिर्भासि १।४३, ३।३ (१)
अलब्धभूमिकत्व १।३० (१)
अलिङ्ग १।४५ (१), २।१९ (१),(६)
अवयवी १।४३ (५)
अवस्थापरिणाम ३।१३(२), ३।१५ (१)
अविद्या (क्लेश) २।४, २।५ (२), २।२४
अविद्या (संयोगहेतु) २।२४ ( )
अविप्लव २।२६ (१)
अविरति १।३० (१)
अविशेष २।१९ (१), (३)
अवीचि ३।२६ (३)
अव्यक्त २।१९ (६)
अव्यपदेश्य धर्म ३।१४ (१)
अशुक्लाकृष्ण ४।७ (१)
अशुचि २।५ (१)
अशुद्धि २।२ (१)
अष्ट योगाङ्ग २।२९
असंख्यत्व २।२२ (१), ४।३३ (४)
असत्कारण-वाद ३।१३ (६),३।१४(१)
असत्कार्य-वाद ३।१३ (६), ३।१४ (१)
असम्प्रज्ञात १।१; १।२ (९), १।१८,१२० (५), १।५१ (२)
असम्प्रमोष १।११ (१)
असहभाव १।७ (६)
अस्तेय २।३० (३)
अस्तेय-प्रतिष्ठा २।३७ (१)
अस्मिता (इन्द्रियरूप) ३।४७ (१)
अस्मिता क्लेश २।६ (१)
अस्मिता तत्त्व १।१७ (५),२।१९ (४)
अस्मितामात्र २।१९ (४); ४।४ (१)
अस्मितामात्र विशोका १।३६ (२)
अहंकार १।१७ (५-५८), २।१९ (४)
अहंभात्र १।४ (४), ४।२४ (१)
अहिंसा २।३० (१)
अहिंसा-फल २।३५ (१)

आ

आकारमौन २।३२ (३)
आकाशगमन ३।४२ (१)
आकाशभूत २।१९ (२), ३।४१ (१), ३।४२
आगम १।७ (७)
आत्मभावभावना ४।२५
आत्मदर्शनयोग्यत्व २।४१ (१)
आदर्श-सिद्धि ३।३६
आनन्दसमाधि १।१७ (४), ३।२६

आवटय-जैगीषव्य संवाद ३।१८
आभोग १।१९ (२)
आभ्यन्तरवृत्ति (प्राणायाम) २।५० (१), २।५१
आभ्यन्तर शौच २।३२, २।४१
आयु २।१३ (१)
आरम्भवाद (विवर्त्तवाद और परिणामवाद) ३।१३ (६), ३।१४ (१)
आलम्बन १।१७ (६)
आलम्बन (वासना) ४।११ (१)
आलस्य १।३० (१)
आवापगमन २।१३
आशय १।२४, ४।६
आशीः २।९, ४।१० (१)
आसन २।२९, २।४६ (१)
आसनसिद्धि ४।२७
आसनफल २।४८(१)
आस्वाद-सिद्धि ३।३६

इ

इड़ा ३।१ (१)
इन्द्रियजय (सिद्धि) ३।४७ (१)
इन्द्रियतत्त्व २।१९ (२)
इन्द्रियवश्यता २।५५ (१)
इन्द्रियसिद्धि २।४३
इन्द्रिय-स्वरूप ३।४७ (१)

ई

ईशितृत्व ३।४५
ईश्वर १।२४
ईश्वर-अनुमान १।२५ (१)
ईश्वर-प्रणिधान १।२३, १।२८ (१), १।२९ (२) २।१, २।३२ (५)
ईश्वर-प्रणिधान-फल १।२९ (९), १।३०, २।४५ (१)
ईश्वरप्रसाद ३।६(२)
ईश्वर का जीवानुग्रह १।२५ (२)
ईश्वर-वाचक १।२७ (१)

उ

उच्छेद-वाद २।१५ (४)
उत्क्रान्ति ३।३९ (१)
उदानजय ३।३९ (१)
उदार-क्लेश २।४ (१)
उपरागापेक्षित्व ४।१७ (१)
उपसर्ग (समाधि का) ३।३७ (१)
उपसर्जन १।१ (७)
उपादान ३।१३ (६)
उपाय-प्रत्यय १।२०
उपेक्षा १।३३ (१), ३।२३

ऊ

ऊह २।१८ (७)

ऋ

ऋत १।९ (१), १।४३ (१)
ऋतम्भरा प्रज्ञा ११।४८ (१)

ए

एकतत्त्वाभ्यास १।३२ (१)
एकभविकत्व २।१३ (२), ३।२२
एकसमयानवधारण(द्रष्टृ-दृश्यता)४।२० (१)
एकाग्रतापरिणाम ३।१२ (१)
एकाग्रभूमि १।१ (५), ३।१२ (१)
एकान्तनित्य ३।१३
एकेन्द्रियवैराग्य १।१५ (३)

क

कण्ठकूप ३।३० (१)
कफ ३।२९
करुणा १।३३ (१)
कर्म १।२४, ४।७ (१)
कर्मतत्त्व २।१२, २।१३ (२), ४।७, ४।८, ४।९
कर्मनिवृत्ति ४।३०

कर्मयोग १।२९ (२), २।१
कर्मवासना ४।८ (१)
कर्माशय २।१२(१),२।१३(२),३।१८
कर्मविपाक २।१३ (१)
कर्मेन्द्रिय २।१९(२)
काठिन्य ३।४४, ४।१२ (१)
कायधर्मानभिघात ३।४५
कायरूप ३।२१
कायव्यूह ३।२९ (१)
कायसम्पद् ३।४५, ३।४६
कायसिद्धि २।४३
कायाकाशसम्बन्ध ३।४२ (१)
कारण २।२८
कार्यविमुक्ति (प्रज्ञा की) २।२७
काल ३।५२ (२), ४।१२ (१)
काष्ठमौन २।३२ (३)
कुण्डलिनी ३।१ (१)
कूर्मनाड़ी ३।३१ (१)
कृतार्थ २।२२, ४।३२
कृष्णकर्म ४।७ (१)
कैवल्य २।२५,३।५०(१),३।५५(१),४।३४
कैवल्य-प्राग्भार ४।२६ (१)
क्रम ३।१५ (१), ३।५२, ४।३३ (१)
क्रमान्यत्व ३।१५
क्रियाफलाश्रयत्व १।३६ (१)
क्रियाशील २।१८ (१)
क्रियायोग १।२९ (२), २।१ (१)
क्रियायोगफल २।२ (१)
क्लिष्टावृत्ति १।५ (१) (२)
क्लेश २।३ (१)
क्लेशकर्मनिवृत्ति ४।३० (१)
क्लेशतनूकरण २।२ (१)
क्लेश (विपाक) २।१३
क्लेशवृत्ति २।११ (१)
क्लेशक्षेत्र २।४
क्षण ३।५२ (१)
क्षणक्रम ३।५२ (१)
क्षणप्रतियोगी ४।३३ (१)
क्षणिकविज्ञानवाद १।१८(३),१।३२(२),
क्षितिभूत २।१९ (२)
क्षिप्तभूमि १।१ (५)
क्षुत्पिपासानिवृत्ति ३।३० (१)

ख

खेचरीमुद्रा २।५० (१)
ख्याति १।४ (२), २ २।२६ (१)

ग

गति २।२३ (३)
गति वा अवगति १।४९
गुणात्मा (धर्म्म) ४।१३
गुणपर्व २।१९
गुणवृत्ति २।१५ (१)
गुणवृत्ति-विरोध २।१५ (१)
गुरु १।२६
गोमय-पायसीय न्याय १।३२ (३)
ग्रहण (चैत्तिक) २।१८ (७)
ग्रहण (इन्द्रिय का रूप) ३।४७ (१)
ग्रहण-समापत्ति १।४१ (२)
ग्रहीता १।१७(५),१।४१(२)२।२० (२)
ग्राह्य १।४१, ३।४७

च

चतुर्थ प्राणायाम २।५१ (१)
चन्द्र ३।२७ (१)
चरमदेह ४।७
चरमविशेष ३।५३ (२)
चितिशक्ति १।२ (७), ४।२२ (१)
चित्त १।४ (४), १।५, १।६ (१), १।३२ (२), ४।१० (२), ४।१७ (१)

चित्त का द्रष्टा अन्य चित्त नहीं है ४।२१
चित्त का धर्म ३।५ (२)
चित्त का मूल धर्म १।६(१),२।१८(७)
चित्त का वशीकार १।४० (१)
चित्त का विभक्त पन्था ४।१५ (१)
चित्त का परिमाण ४।१० (२)
चित्त की सर्वार्थता ४।२३
चित्तनिरोध १।२, १।१२, १।५१
चित्तनिवृत्ति २।२४ (२)
चित्तपरार्थत्व ४।२४ (१)
चित्तप्रसादन १।३३ (१)
चित्तभूमि १।१ (५)
चित्तविक्षेप १।३० (१)
चित्तविभुत्व ४।१० (२)
चित्तविमुक्ति (प्रज्ञा की) २।२७ (१)
चित्तवृत्ति १।५, १।६ (१)
चित्तसंविद् ३।३४ (१)
चित्तसत्त्व १।२ (३)
चित्त स्वाभास नहीं है ४।१९
चित्तान्वय ३।९ (१)

ज

जन्मकथन्ता-सम्बोध २।३९ (१)
जन्मज सिद्धि ४।१ (१)
जप १।२८ (१), २।४४ (१)
जाति २।१३ (१), ३।५३, ४।९
जात्यन्तरपरिणाम ४।२
जीवन ३।३९
जीवन्मुक्त २।४ (२), ४।३० (१),
जैगीषव्य २।५५, ३।१८
जैन मत ४।१० (२)
ज्ञाताज्ञात ४।१७ (१)
ज्ञानदीप्ति २।२८ (१)
ज्ञानप्रसाद १।१६ (४)
ज्ञानाग्नि २।४ (१)
ज्ञानानन्त्य ४।३१ (१
ज्ञानेन्द्रिय २।१९ (२)
ज्ञेयाल्पत्व ४।३१ (१)
ज्योतिष्मती १।३६, २।२५, ३।२६ (१)
ज्वलन ३।४० (१)

त

तत्त्वज्ञान २।१८ (१)
तत्स्थत्व १।४१
तदञ्जनता १।४१
तदाकारापत्ति (चैतन्य का) ४।२२ (१)
तनुक्लेश २।२, २।४ (१)
तन्मात्र १।४५ (२), २।१९ (३)
तपः २।१ (१), २।३२
तपःफल २।४३ (१)
तमः २।१८ (१)
तापदुःख २।१५ (१)
तारक ३।५४
तारागतिज्ञान ३।२८ (१)
ताराव्यूहज्ञान ३।२७ (१)
तीव्रसंवेग १।२१ (१), २।१२
तुल्यप्रत्यय ३।१२ (१)
तेजोभूत २।१९ (२)
त्रिगुण २।१५ (१), २।१८ (५)

द

दग्धबीजकल्प क्लेश २।२ (१), २।४(१)
(२), २।१० (१), २।११ (१)
दर्शन १।४ (२)
दर्शनवर्जित धर्म ३।१५ (२), ३।१८
दर्शनशक्ति २।६ (१), २।२३ (२)
दर्शितविषयत्व १।२ (७), १।४ (१),
२।२७ (४), २।२३ (३)
दिव्यश्रोत्र ३।४१ (१)
दीर्घ प्राणायाम २।५० (१)

दुःख १।३१ (१), २।८, २।१५, २।१६, २।१७ (४)
दुःखानुशयी २।८ (१)
दृक्शक्ति २।६ (१)
दृशिमात्र २।२० (१)
दृश्य १।४ (४), २।१८, २।१९
दृश्यत्व और द्रष्टृत्व १।४ (४)
दृश्य-प्रतिलब्धि २।१७ (२)
दृश्यस्यात्मा २।२१
दृष्टजन्मवेदनीय २।१२ (२)
देश-परिदृष्टि (प्राणायाम की) २।५०(१)
दोषबीजक्षय ३।५० (१)
दौर्मनस्य १।३१
द्रव्य ३।४४ (१), ४।१२ (१)
द्रष्टा १।३, १।४ (४), १।७ (५), २।२० (१), ४।१८
द्रष्टृत्व और दृश्यत्व १।४ (४)
द्रष्टृदृश्यभेद २।२० (२)
द्रष्टृदृश्योपरक्त ४।२३ (१)
द्वन्द्व २।४८
द्वेष २।८ (१), २।१५ (१)

ध

धर्म ३।२३ (५), ३।१४ (१), ४।३, ४।१२ (२)
धर्मपरिणाम ३।१३ (२), ३।१४
धर्ममेघ-समाधि १।२ (६), १।५ (७),
धर्मानुपाती ३।१४ (१)
धर्म्मी ३।१३ (५), ३।१४ (१)
धारण २।१८ (७)
धारणा ३।१ (१)
ध्यान ३।२ (१)
ध्रुव ३।२८

न

नन्दीश्वर २।१२, २।१३, ४।३
नरक ३।२६ (३)
नष्ट (दृश्य) २।२१ (१)
नहुष २।१२, २।१३, ४।३
नाद १।२८ (१), ३।१ (१)
नाड़ीचक्र ३।१ (१)
नाभिचक्र ३।२९ (१)
निःसत्तासत्त (निःसदसत्) २।१९ (६)
नित्यत्व ४।३३ (३)
निद्रा १।१०
निद्रा (क्लिष्टा और अक्लिष्टा) १।५(६)
निद्राज्ञान १।३८ (१)
निमित्त ४।३ (१), ४।१० (३)
नियतविपाक २।१३ (२)
नियम २।३२
निरतिशय १।२५ (१)
निरयलोक ३।२६ (३)
निरसत् २।१९ (६)
निराकार-वाद १।२८ (१)
निरुपक्रम कर्म ३।२२ (१)
निरुद्धभूमि १।१ (५)
निरोध (समाधि) १।१८(१),१।५१
निरोधपरिणाम ३।९(१)
निरोधक्षण ३।९ (१)
निरोध-संस्कार १।१८ (१), १।५१ (१)
निरोध-स्वरूप १।१८(३)
निर्माणचित्त १।२५(२), ४।४(१)
निर्विचारसमापत्ति १।४१(२),१।४४(२)(३)
निर्विचार-वैशारद्य १।४७
निर्वितर्का समापत्ति १।४१(२),१।४३, १।४४(३)
निर्बीज समाधि १।२,१।१८(३),१।५१(२)

प

पञ्चशिख १।४ (२)
पञ्चस्कन्ध ४।२१(२)(३)
पद ३।१७ (२)
परचित्तज्ञान ३।१९(१)
परमप्रसंख्यान १।२(६)
परममहत्त्व १।४०(१)
परमाणु १।४०(१),३।५२ (१)
परमार्थ ३।५५(२)
परमा वश्यता (इन्द्रिय की) २।५५
परमार्थदृष्टि और परमार्थसिद्धि १।५(७), ४।१४(२)
परवैराग्य १।१६, १।१८ (१)
परशरीरावेश ३।३८ (१)
परस्परोपरक्त प्रविभाग २।१८(२)
परिणाम ३।१३(१)(२)
परिणामक्रम ४।३३(१)
परिणामक्रमसमाप्ति ४।३२(१)
परिणामदुःख २।१५(१)
परिणामवाद (आरम्भवाद और विवर्त्तवाद) १।३२(२),३।१३ (६)
परिणामान्यत्वहेतु ३।१५
परिणामैकत्व ४।१४(१)
परिदृष्टचित्तधर्म ३।१५ (२)
पर्युदास २।२३(३)
पाताललोक ३।२६(३)
पाश्चात्यमत २।९(२), ३।१४(१), ३।१६(१),३।२६ (१), ३।४० (१), ४।१० (१)
पिङ्गला (नाड़ी) ३।१(१)
पिण्डब्रह्माण्डमार्ग ३।१(१)
पित्त ३।२९
पुण्य कर्म २।१४(१)
पुनरनिष्टप्रसङ्ग ३।५१
पुरुष का अपरिणामित्व ४।१८
पुरुष का सदाज्ञातृत्व २।२०(२), ४।१८
पुरुषख्याति १।१६ (१)
पुरुषज्ञान ३।३५(१)
पुरुष-बहुत्व २।२२(१)
पुरुषार्थ २।१८(१),२।२१(२)
पुण्य २।१२, २।१४
पूर्वजन्मानुमान २।९(२)
पूर्वजातिज्ञान ३।१८(१)
पूर्वसिद्ध वा सगुण ब्रह्म ३।४५ (१)
पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध १।७(४)
प्रकाशशील २।१८(१)
प्रकाशावरणक्षय ३।४३(१)
प्रकृति (करणों की) ४।२,४।३ (१)
प्रकृति(मूला) २।१८(५),२।१९(५)
प्रकृति का एकत्व २।२२ (१)
प्रकृतिलय १।१९ (३), ३।२६ (३)
प्रकुत्यापूरण ४।२(१)०४।३
प्रख्या १।२ (३)
प्रचारसंवेदन ३।३८(१)
प्रच्छर्दन १।३४(१)
प्रज्ञा १।२० (४)
प्रज्ञालोक ३।५ (१)
प्रणव १।२७(१)
प्रणवजप १।२७(१)०१।२८ (१)
प्रणिधान १।२३(१), २।१
प्रतिपक्षभावन २।३४
प्रतिप्रसव (गुणों का) ४।३४ (१)
प्रतियोगी १।७(५),२।२०
प्रतीत्य ४।२१ (१)
प्रतीत्यसमुत्पाद (बौद्धों का) ३।१३(६)
प्रत्यक्-चेतनाधिगम १।२९(१), २।२४
प्रत्यक्ष १।७ (२)
प्रत्यय (वृत्ति) १।६(१), ३।१७

प्रत्यय (बौद्धों का) ३।१३ (६), ३।१४ (१) ४।२१ (१)
प्रत्ययानुपश्य २।२० (६)
प्रत्ययाविशेष ३।३५ (१)
प्रत्ययैकतानता ३।२ (१)
प्रत्याहार २।५४ (१)
प्रत्याहारफल २।५५ (१)
प्रत्यवमर्श १।१०
प्रत्यवेक्षा १।२० (३)
प्रत्यभिमान ३।१४ (१)
प्रथमकल्पिक ३।५१
प्रधान २।१९ (६), २।२१ (१)
प्रधानजय ३।४८ (१)
प्रमा १।७ (१)
प्रमाण १।७ (१)
प्रमाण (क्लिष्ट और अक्लिष्ट) १।५ (६)
प्रमाद १।३० (१)
प्रयत्न-शैथिल्य २।४७ (१)
प्रवाहचित्त (बौद्धों का) १।३२ (२)
प्रविवेक १।१६ (१)
प्रवृत्ति १।३५ (१)
प्रवृत्तिभेद (निर्माणचित्त का) ४।५ (१)
प्रवृत्त्यालोकन्यास ३।२५ (१)
प्रश्वास १।३१
प्रशान्तवाहिता १।१३ (१), ३।१० (१)
प्रश्न-द्वैविध्य ४।३३ (४)
प्रसंख्यान १।२ (६), २।२ (१), २।४, ४।२९ (१)
प्रसज्य-प्रतिषेध २।२३ (३)
प्रसुप्त क्लेश २।४ (१)
प्रसुप्ति २।४ (१)
प्राकाम्य २।४५
प्राण २।१९ (२), ३।३९
प्राणायाम १।३४, २।४९ (१), २।५०, २।५१
प्राणायाम-फल २।५२ (१), २।५३ (१)
प्राणायाम (वैदिक और तान्त्रिक) २।५० (१)
प्रातिभ-सिद्धि ३।३६
प्रातिभसंयम-फल ३।३३ (१)
प्रान्तभूमि-प्रज्ञा २।२७ (१)
प्राप्ति १।४९
प्राप्ति-सिद्धि ३।४५

फ

फल (कर्म का) २।१३
फल (वासना का) ४।११ (१)
फल (वृत्तिबोधरूप) १।७ (४)

ब

बन्धकारण ३।३८ (१)
बन्धन (प्राकृतिक आदि) १।२४ (२)
बल (मैत्र्यादि) ३।२३ (१)
बल (हस्त्यादि) ३।२४ (१)
बाह्यवृत्ति (प्राणायाम) २।५० (१)
बुद्धितत्त्व २।२० (२)
बुद्धि (पुरुषविषया) २।२० (२)
बुद्धिरूप २।१५
बुद्धि-बुद्धि ४।२१ (१)
बुद्धि-बोधात्मक १।३ (१)
बुद्धिसत्त्व (चित्तसत्त्व) १।२ (३) (४), ३।३५, ३।५५
बहिरकल्पिता वृत्ति ३।४३ (१)
बहिरङ्ग (निर्बीज) ३।८ (१)
बुद्धि-संविद् १-३६ (२)
बुद्धिस्वरूप १।३३ (८)
बौद्धमत १।१८ (१), १।२० (३), १।३२ (२), १।४३ (४) (६), ३।१ (१), ३।१३ (६), ३।१४ (१), ४।१४ (२), ४।१६ (१), ४।२० (१), ४।२१ (२) (३), ४।२३ (२), ४।२४ (१)

ब्रह्मचर्य २।३० (४)
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा २।३८ (१)
ब्रह्मविहार १।३३ (१)
ब्रह्माण्ड के रचयिता १।२५ (२), ३।४५

भ

भक्ति १।२८ (१)
भव १।१९ (१)
भवप्रत्यय १।१९ (१)
भार ३।४२ (१)
भावपदार्थ ४।१२ (१)
भावितस्मर्त्तव्य १।११ (३)
भुवनज्ञान ३।२६
भूः-आदि लोक ३।२६ (२)
भूतजय ३।४४
भूततत्त्व २।१९ (२)
भूतेन्द्रियात्मक २।१८
भूमि (चित्त की) १।१ (५)
भूमि (योग की) ३।५१
भोक्ता १।२४, २।१८ (६)
भोक्तृशक्ति २।६
भोग २।६, २।१८, २।१३ (१), २।२१ (२), २।२३ (१), ३।३५ (१)
भोगाभ्यास २।१५
भोग्यशक्ति २।६
भ्रान्तिदर्शन १।३० (१)

म

मधुप्रतीका (सिद्धि) ३।४८
मधुभूमिक ३।५१
मधुमती ३।५१, ३।५४
मन १।६ (१), २।१९ (२)
मन्त्रचैतन्य १।२८ (१)
मनोजवित्व ३।४८ (१)
मरण २।१३
महत्तत्त्व १।१७(५), १।२०(५), २।१९(५)
महाविदेहा धारणा ३।४३ (१)
महाव्रत २।३१ (१)
महिमा ३।४५
मादक सेवन का फल २।३२ (१)
मुदिता १।३३ (१)
मूढ़भूमि १।१ (५)
मूर्ति १।७ (३), ३।५३ (२)
मूर्द्धज्योतिः ३।३२ (१)
मैत्री १।३३ (१)
मैत्रीफल ३।२३
मोक्षकारण (योग) २।२८ (२)
मोक्षप्रवृत्ति ४।२१ (२)
मोह १।११ (५), २।३४ (१)

य

यतमानसंज्ञा (वैराग्य) १।१५ (३)
यत्रकामावसायित्व ३।४५ (१)
यथाभिमत ध्यान १।३९ (१)
यम २।३०
युतसिद्धावयव ३।४४
योग १।१ (४), १।२ (१)
योगप्रदीप ३।५४ (१)
योगसिद्धि का याथार्थ्य १।३० (१)
योगसिद्ध का लक्षण ३।२६ (२)
योगाङ्ग २।२९ (१)
योगी का आहार २।५१ (१)
योगी का कर्म ४।७ (२)
योनिमुद्रा १।२८ (१)

र

रजः २।१८ (१)
राग २।७ (१)
रूद्धव्यवसाय २।१८ (७)
रेचन १।३४(१), २।५०(१), २।५१(१)

ल

लक्षणपरिणाम ३।१३ (२)

लघिमा ३।४५
लघुता ३।४२ (१)
लिङ्ग २।१९ (१)
लिङ्गमात्र २।१९ (१)
लोकसंस्थान ३।२४

व

वर्ण (उच्चरित) ३।१७ (२) क
वशित्व ३।४५
वशीकार (चित्त का) १।४० (१)
वशीकारसंज्ञा वैराग्य १।१५
वस्तु ४।१४ (२), ४।१५ (१)
वस्तुतत्त्व का एकत्व ४।१४ (१) (२)
वस्तुपतित ३।५२ (३)
वस्तु का एकचित्ततन्त्रता-निषेध ४।१६ (१)
वस्तुसाम्य ४।१५ (१)
वाक्यवृत्ति ३।१७ (२) ट
वाच्य-वाचकत्व १।२८ (१)
वात ३।२९ (१)
वायुभूत २।१९ (२)
वार्त्ता-सिद्धि ३।३६
वार्षगण्य ३।५३ (२)
वासना १।२४, २।१२ (१), २।१५ (३) ३।१८, ४।८
वासना का अभाव ४।११ (१)
वासना-अनादित्व २।१३, ४।१० (१), ४।२४
वासना-आनन्तर्य ४।९ (१)
वासना-फल ४।११ (१)
वासना-अभिव्यक्ति ४।८ (१)
वासना-आलम्बन ४।११ (१)
वासना-आश्रय ४।११ (१)
वासना-हेतु ४।११ (१)
विकरणभाव ३।४८ (१)
विकल्प १।९ (१), १।४२ (१), १।४३ (१)
विकल्प (क्लिष्ट और अक्लिष्ट) १।५ (६)
विकार और विकारी २।१७ (१)
विक्षिप्त भूमि १।१ (५)
विक्षेपसहभू १।३१
विचार १।१७ (३)
विच्छिन्न क्लेश २।४ (१)
विज्ञान (चैत्तिक) १।६ (१)
विज्ञानवाद १।१८ (२), १।३२ (२), ४।१४ (२), ४।१६ (१), ४।२१ (२), ४।२३ (२) ४।२४ (१)
वितर्क (समाधि) १।१७ ( )
वितर्क क्लेश २।३४
वितर्कबाधन २।३३
विदेह-धारणा (कल्पिता) ३।४३ (१)
विदेह-लय १।१९ (२), ३।२६
विद्या १।१४ ( )
विधारण १।३४ (१)
विपर्यय १।८ (१)
विपर्यय (क्लिष्टाक्लिष्ट) १।५ (६)
विपाक १।२४, २।१३ (१)
विभक्त पन्था (चित्त और बाह्य वस्तु का) ४।१५ (१)
विवर्त्तवाद ३।१३ (६), ३।१४ ( )
विवेक-ख्याति १।२ (८), २।२३ (२), २।२६ (१)
विवेकछिद्र ४।२७ (१)
विवेकज ज्ञान ३।४९, ३।५२, ३।५४
विवेकनिम्न ४।२६ (१)
विराम १।१८ (१)
विशेष (तत्त्व) २।१९ (१)
विशेष (धर्म) १।७ (३), १।४९, ३।४४ ३।४७
विशेषदर्शी ४।२५ (२)
विशोका १।३६ (१)
विशोका (सिद्धि) ३।४९

विषयवती १।३५(१)
विषयवती विशोका १।३६(२)
वीतराग-विषय चित्त १।३७(१)
वीर्य १।२० (२), २।३८
वृत्ति १।६(१)
वृत्ति का सदाज्ञातत्व ४।१८
वृत्ति-निरोध १।२( )
वृत्ति-संस्कारचक्र १।५(६)
वृत्ति-सारूप्य १।२, १।४
वेदन (सिद्धि) ३।३६
वैराग्य १।१२(१)
वैशारद्य १।४७
व्यक्त (धर्म) ४।१३ (१)
व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य १।१५(३)
व्यवधि १।७(३), ३।५३ (२)
व्यवसाय १।७(४), २।१८(१)(७)
व्यवसेय २।१८(१)
व्याधि १।३० (१)
व्यान ३।३९
व्युत्थान १।५०
व्युत्थानकालीन सिद्धि ३।३७ (१)

श

शब्द (उच्चारित) १।४२(१), १।४१(१) (२), ३।१७ (१)(२)
शब्दतत्त्व ३।४१(१)
शान्त ३।१२ (१), ३।१४
शाश्वत-वाद २।१५ (४)
शिवयोगमार्ग ३।१
शुक्लकर्म ४।७(१)
शुद्धसन्तान-वाद ३।१४ (१), ४।२१
शुद्धा (चिति) १।२(७)
शुद्धि (बुद्धि और पुरुष का) ३।५५ (१)
शून्यतावाद (बौद्धों का) ३।१३ (६)
शून्यवाद १।३२ (२), १।४३ (४)(६), ३।१३ (६), ४।२१(२) (३)
शौच २।३२(१)
शौच प्रतिष्ठा २।४०(१), २।४१(१)
श्रद्धा १।२० (१)
श्रोत्र ३।४१(१)
श्रोत्राकाश-सम्बन्ध ३।४१(१)
श्रवण-मनन-निदिध्यासन १।१(२)
श्रावण (सिद्धि) ३।३६
श्रोत्र ३।४१(१)
श्रोत्राकाशसम्बन्ध १।३१, २।४१, ३।४१(१)
श्वास ३।४१(१)

ष

षट्चक्र ३।१(३)

स

संयम ३।४(१)
संयम-फल ३।५ (१)
संयम-विनियोग ३।६ (१)
संयोग २।१७(१), २।२२, २।२३, ४।२१ (२)
संयोग का अभाव २।२५
संयोग का हेतु २।२४
संवेग १।२१(१)
संशय १।३०(१)
संसारचक्र (षड़र) ४।११
संस्कार १।५(६), १।१८(३), १।५० (१), २।१२(१)
संस्कार-दुःख २।१५(३)
संस्कारशेष १।१८(१)
संस्कार-साक्षात्कार ३।१८
संहत्यकारित्व ४।२४(१)
सगुण-ईश्वर-प्रणिधान १।२९ (२)
सङ्कर (शब्दार्थज्ञान का) ३।१७(१)
सङ्केत (पदार्थों का) ३।१७(२) (ज्ञ)

सङ्ग (स्थानी के साथ) ३।५१
सत्कार्यवाद १।३२(२), ३।१३(६), ३।१४(१), ४।१२, ४।१६
सत्प्रतिपक्ष ४।३३(१)
सत्तामात्र आत्मा २।१९(५)
सत्त्व २।१८(१), ३।३५
सत्त्व-तप्यता २।१७(४)
सत्त्व-शुद्धि २।४१(१)
सत्य २।३०(२)
सत्यप्रतिष्ठा २।३६(१)
सदाज्ञाता २।२०(२), ४।१८(१)
सन्तोष २।३२(२)
सन्तोष-फल २।४२
सन्निधिमात्रोपकारित्व १।४(३), २।१७(१)
सबीजसमाधि १।४६ (१)
समनस्कता या सम्प्रजन्य १।२० (३)
समय २।३१ (१)
समाधि का उपसर्ग ३।३७ (१)
समाधि-परिणाम ३।११ (१)
समाधिलक्षण ३।३ (१)
समाधिविषय में भ्रान्ति १।३० (१)
समान ३।३९, ३।४०
समानजय ३।४० (१)
समापत्ति १।४१(२) (३)
समापत्ति के उदाहरण १।४४ (२)
सम्प्रजन्य या समनस्कता १।२० (३)
सम्प्रज्ञातभेद १।१७
सम्प्रज्ञातयोग १।१(१२)
सम्प्रतिपत्ति १।२७ (२), ३।१७ (२)
सम्प्रयोग २।४४
सम्यग् दर्शन २।१५ (४)
सम्बन्ध १।७ (६)
सर्वज्ञबीज १।२५ (१)
सर्वज्ञातृत्व ३।४९ (१)
सर्वथाविषय ३।५४
सर्वभावाधिष्ठातृत्व ३।४९ (१)
सर्वभूतरुतज्ञान ३।१७
सर्वार्थ (चित्त) ४।२३ (१)
सर्वार्थता ३।११ (१)
सविचार समापत्ति १।४१ (१), १।४२ (१)
सवितर्क समापत्ति १।४१ (१), १।४२ (१), १।४३ (३)
सहभावसम्बन्ध १।७ (६)
साकार-निराकार-वाद १।२८ (१)
सामान्य १।७ (३), १।४९, ३।१४ (२), ३।४४ (१), ३।४७ (१)
साम्य (सत्त्व-पुरुषों का) ३।५५ (१)
सार्वभौम महाव्रत २।३१ (१)
सिद्धदर्शन ३।३२ (१)
सिद्धि-कारण ४।१ (१)
सुख २।७, २।१५ (२), २।१७(४)
सुखानुशयी २।७ (१)
सुषुम्ना ३।१ (१), ३।२६ (१)
सूक्ष्म (भूतरूप) ३।४४ (२)
सूक्ष्मक्लेश २।१० (१)
सूक्ष्म (धर्म) ४।१३ (१)
सूक्ष्म (प्राणायाम) २।५० (१)
सूक्ष्मविषय १।४५ (२)
सूक्ष्मावस्था (क्लेश की) २।१०(१)
सूर्यद्वार ३।२६ (१)
सृष्टिकर्ता १।१५ (२) ३।४५
सोपक्रम कर्म ३।२२ (१)
सौमनस्य २।४१ (१)
स्तम्भवृत्ति २।५० (१)
स्त्यान १।१०, १।३० (१)
स्थान्युपनिमन्त्रण ३।५१
स्थिति १।१३ (१) २।२३ (३)
स्थितिप्राप्त चित्त १।४१ (१)

स्थितिशील २।१८ (१)
स्थूल (भूतरूप) ३।४४ (१)
स्थूला वृत्ति (क्लेशों की) २।११ (१)
स्थैर्य (प्रतिष्ठा) २।३५ (१)
स्फोट (पद) ३।१७ (२)
स्मय ३।५१
स्मृति १।११, १।२० (३)
स्मृति (क्लिष्टाक्लिष्ट) १।५ (६)
स्मृति-सङ्कर ४।२१ (१)
स्मृतिसाधन १।२० (३)
स्वप्न-ज्ञान १।३८ (१)
स्वरसवाही २।९ (१)
स्वरूप (भूतों का) ३।४४ (१)
स्वरूप (इन्द्रियों का) ३।४७ (१)
स्वर्लोक ३।२६
स्वरूपावस्थान (पुरुष का) १।३
स्वबुद्धि संवेदन ४।२२ (१)
स्वशक्ति २।२३
स्वाङ्गजुगुप्सा २।४० (१)
स्वाध्याय २।१ (१), २।३२ (४)
स्वाध्यायफल २।४४
स्वाभास ४।१९ (१)
स्वामि-शक्ति २।२३
स्वार्थ २।२० (३), ३।३५, ४।२४
स्वार्थसंयम ३।३५ (१)

ह

हठयोग १।१९ (८)
हान २।२५
हानोपाय २।२६
हातृस्वरूप २।१५ (३)
हिरण्यगर्भ १।२५(२), १।२९(२), ३।४५(१)
हृदय १।२८(१), ३।२६(१), ३।३४
हृदय-पुण्डरीक १।३६ (२)
हेतु (वासना का) ४।११ (१)
हेतु (हेय का) २।१७
हेतु (संयोग का) २।२४ (१)
हेतुवाद २।१५
हेय २।१६ (१)
हेयहेतु २।१७

पातञ्जल योगदर्शन का शुद्धिपत्र

[जिन मुद्रणाशुद्धियों के कारण अर्थबोध में कठिनता होने की संभावना है, केवल उन अशुद्धियों को यहाँ शुद्ध करके दिखाया गया है]।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		[संपादकीय मे]	
VII	१०	योगस्वरूपसंबन्धा	योगस्वरूपसंबन्धी
XI	३१	तत्कालीनज्ञ	तत्कालीन
		[भूमिका में]	
XV	२१	Hisory	History
XVIII	१४	काव्य	काप्य
XXVII	२	अनीश्चर	अनीश्वर
XXIII	२१	गीतावाद्य	गीतवाद्य
XXXI	११	thit	this
XXXII	२१	यमादुः	यमाहुः
XXXIII	३०	सांक्य	सांख्य
XXXV	१	व्याज	व्यास
		[मूलग्रन्थ में]	
१६	१	एव	एवं
२४	२१	क	कि
४१	११	चुके हैं	चुका है
४५	४	अस्मिता क	अस्मिता का
७०	२	काष्टा	काष्ठा
७८	८	प्रस्फुटिक	प्रस्फुटित
८६	८	चिक्ष	चित्त
८७	३१	शौर	और
८९	२७	परात्मा	परमात्मा
९०	९	वह	यह
१०३	२	बोध	बाध
१११	२५	मत्री	मैत्री
११८	२८	महामूत	महाभूत
१२४	८	विदित	निश्चित
१२७	१२	सामान	समान
१३१	१५	तद्भतसूक्ष्मम्	तद्भूतसूक्ष्मम्
१४०	२८	विषम विशेष रूप से	विशेष रूप विषय
१४३	२२	संस्काराश्रित्तस्या	संस्काराश्चित्तस्या
१७१	१	फल में	फल से
२७५	२२-२३	ओम् भूर्भुवः स्वः…तत् सवितुर्	ओम् भूः ओम् भुवः ओम् स्वः ओम् महः ओम् जनः ओम् तपः

			ओम् सत्यम् ओम् तत्सवितुर्
२९१	२५	नादधारण	नादधारणा
३५५	७	अक्तभन	अक्तभवन
३६०	२८	तुषियाद्या	तुषिताद्या
३६१	२७	रहने से जैसी	रहने से लेकिन उनके पूरण की शक्ति न रहने से जैसी
३६१	३१	स्थल	स्थूल
३७१	१६	अद्भूत	उद्भूत
३७२	३०	भाव चित्त	भाव विक्षिप्तचित्त
४००	२	स्भैर्यमर्थस्य	स्थैर्यमर्थस्य
४००	२१	तयोरीश्वरस्थ	तयोरीश्वरस्य
४०७	१८-१९	पुण्यकर्मफल से दैवशरीरसंबधी	पुण्यकर्मफल से दैव शरीर ग्रहण करने पर दैवशरीरसंबन्धी
४२६	२	होतो	होती
४३२	२२	treate	treat
४३७	१५	वस्तुस्वरूपमेवा पह्नुवते	वस्तुस्वरूपमेवापह्नुवते
४४९	२५	व	वह
४६४	२८	अष्टसाहसिका	अष्टसाहस्रिका
४७९	३१	sphjloophy	philosophy
४८१	२७	Mjnkowski	Minkoswski
४८७	२६	स्थिरसत्त	स्थिरसत्ता
४९५	३१	lot	not
५१४	४	के	को
५३२	१४	दुष्टजन्म	दृष्टजन्म
५३२	३३	वक्ष	वृक्ष
५३४	३०	प्रधान हैं। पुनः पुनः	प्रधान है। जो कर्माशय अपने अनुरूप एक प्रधान कर्माशय के सहकारी के रूप से फलवान् होता है, वह अप्रधान है। पुनः पुनः
५३५	३२	t	its
५३९	२	जा	जो
५४५	८	भकम्प	भूकम्प
५५०	१	सुखवेदना	सुखदुःखवेदना
५५२	११	स्नान	स्थान
५५७	११	कारणकाय	कारणकार्य